अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे द्वादशं प्रसूनम्

आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

पञ्चमो भागः

[निर्वाणप्रकरणोत्तरार्द्धद्वितीय-खण्डरूपः]

अच्युतग्रन्थमालाश्रीविश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण सा० आ० पं० श्रीकृष्णपन्तशास्त्रिणा

विरचितेन भाषानुवादेन

समलंकृतः

तेनैव

सम्पादितश्च

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,

काशी ।

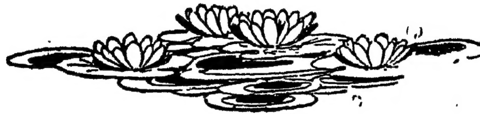
प्रथमावृत्तिः १५००] संवत् २००६ [मूल्यम् १५)

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

मुद्रक—
अच्युतमुद्रणालय ललिताघाट, काशी ।

योगवासिष्ठके पञ्चम भागकी विषय-सूची

[निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध ५४५५—६२९८]



श्रीगणेशाय नमः

योगवासिष्ठ

[भाषानुवादसहित]

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

चतुर्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

एकसंविन्मयाः सर्वे एवैकवपुषोऽपि ते ।
विविधेच्छाः कथं ब्रह्मन् संपन्ना एकदेहिनः ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एकसंविद्घनाकाशमप्यनानैव सर्वगम् ।
स्वयं नानेव संपन्नं सुप्ते चित्तमिवाऽऽत्मनि ॥ २ ॥

एक सौ चौबीस सर्ग

[एक जीवका देहभेदोंसे विभिन्न व्यवहारका समर्थनपूर्वक चारोंमें विभिन्न शैलोंमें विपश्चितोंके विहारका वर्णन]

चारों विपश्चितोंकी एक ही देह थी और एक ही जीव था ऐसी अवस्थामें उनमें भिन्न-भिन्न इच्छाएँ कैसे हुईं ? श्रीरामचन्द्रजी ऐसी शङ्का करते हैं—'एक:' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, एकसाक्षिचैतन्यमय तथा एक ही शरीरके चार विभाग होनेसे एकशरीरवाले वे सब विपश्चित, जिनका एक ही जीव था, जीवभेदके बिना एक ही समय विविध इच्छावाले कैसे हो गये ? ॥ १ ॥

एक जीवकी भी अविद्यावश स्वप्नमें नाना शरीरकल्पना देखी जाती है और

तस्याऽच्छत्वात्तथाभूतमात्मैवाऽऽत्मनि बिम्बति ।
तादृशस्य तथाभूतौ मुकुरस्येव निर्मला ॥ ३ ॥
एकलोहमया एव यथाऽऽदर्शाः परस्परम् ।
तथैते प्रतिबिम्बन्ति पदार्थाः पारमार्थिकाः ॥ ४ ॥
तेन यस्य यदा यद्यत्पुरो भवति वस्त्वसौ ।
यदर्थं युज्यते तेन चिद्घनैकस्वभावतः ॥ ५ ॥

उनमें शत्रुता, मित्रता और उदासीनताकी कल्पना होनेपर विभिन्न इच्छाएँ दिखाई देती हैं तथा सर्गके आदिमें ब्रह्मरूप जीवमें जाग्रत् अवस्थामें भी नाना शरीर कल्पना-रूप कर्म है ही, अतः सब कुछ सम्भव है इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'एकसंवित्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे स्वप्नावस्थामें चित्त अपनेमें ही गिरि, समुद्र, नदी आदिके रूपसे नाना-सा होता है वैसे ही केवल साक्षिचैतन्य घनाकाश सर्वव्यापी अनाना (अखण्ड) ब्रह्म ही मायावश नाना-सा (भिन्न-सा) बन गया है ॥ २ ॥

जैसे अतिस्वच्छ दर्पणके उदराकाशमें गिरि, नदी आदिके साथ महाकाश प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही संविन्मयाकाशके (साक्षिचैतन्यके) दर्पणके समान अति-स्वच्छ होनेके कारण, नानात्मताको जैसा प्राप्त हुआ आत्मा स्वयं ही अपनेमें प्रति-बिम्बित होता है । उस प्रकार अतिस्वच्छ संविन्मयाकाशके जगदाकार होनेमें दर्पणकी सी अतिनिर्मल स्वच्छता ही कारण है ॥ ३ ॥

जगत् भी वस्तुतः चित् ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है । ऐसी स्थितिमें चित्का ही चित्में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो उसपर दृष्टान्त सुनो, ऐसा कहते हैं—**'एक०'** इत्यादिसे ।

जैसे एकमात्र लोहेके बने हुए दर्पणोंका आपसमें एक दूसरेपर प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही परमार्थतः चिद्रूप भी ये पदार्थ आपसमें प्रतिबिम्बित होते हैं । मायारूप उपाधिकी शक्ति अचिन्तनीय (विचारसीमाके परे) है, अतः गन्धर्वनगर स्फटिक-भित्तिरूप आकाशमें चन्द्रमा, सूर्य और मेघ सहित महाकाशका भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, यह भाव है ॥ ४ ॥

अतएव अध्यस्त भोग्यजगदाकार ब्रह्म विषय और इन्द्रियोंका संयोग होनेपर

इत्यनानैव नानेदं नानानाना च वस्तुतः ।
न च नाना न चाऽनाना नानानानात्मकं ततः ॥ ६ ॥
तेन यस्य यदा यातं पुरो वस्तु विपश्चितः ।
स तेन संविन्मयतामेत्य तद्वशमागतः ॥ ७ ॥
एकदेशगता विष्वग्व्याप्य कर्माणि कुर्वते ।
योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाण्यनुभवन्त्यपि ॥ ८ ॥

बुद्ध्यवच्छिन्न जीवके प्रति प्रिय अप्रिय विषय भोगके आकारसे प्रतिबिम्बित होता है, ऐसा कहते हैं—**'तेन'** इत्यादिसे ।

इसलिए जब जिसकी जो-जो भोग्यवस्तु, एकमात्र चिद्घनस्वभाव होनेसे, इन्द्रिय-सन्निकर्षको प्राप्त होती है—बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होती है—उस वस्तुसे वह उसके भोगके लिए समर्थ होता है । यदि भोग्यवस्तु बुद्धिमें प्रतिबिम्बित न हो तो भान ही न हो, यह भाव है ॥ ५ ॥

एक ही वस्तु नाना और अनाना दोनों हो यह विरुद्ध है, माया द्वारा भी वह नाना और अनाना कैसे होगी ? इसपर युक्ति कहनी चाहिये, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे ।

यदि नानात्वमात्रका निषेध किया जाय तो यह अनाना (नियत एकरूप) ही है । यदि नानात्वका निषेध न किया जाय तो नाना भी है और अनाना भी है । वास्तवमें तो न नाना है, और अनानात्व धर्मका भी निषेध होनेके कारण न अनाना ही है । तथा अनानात्व धर्मका निषेध होनेसे नाना भी हो सकता है । यही नाना और अनानाके अविरोधमें युक्ति है ॥ ६ ॥

इसी कारण विपश्चितोंके नाना दिशाओंमें भोगयोग्य पदार्थोंके एक ही समय भोग देनेवाले कर्मका परिपाक होनेपर एक ही देह चार प्रकारकी हो गई तथा तत्-तत् देशके विषयोंका तत्-तत् बुद्धिमें प्रतिबिम्ब भी पड़ गया, इस आशयसे कहते हैं—**'तेन'** इत्यादिसे ।

इस कारण जिस विपश्चित्के सामने जो वस्तु आई उससे वह संविन्मयताको प्राप्त होकर उसके वशमें हो गया ॥ ७ ॥

जब अगस्त्य आदि योगियोंका भी, जो मलय आदि नियत प्रदेशमें नित्य रहते हैं, नाना देशोंमें अतीत, अनागत आदि कालोंमें योगबलसे संन्निधान द्वारा सब वस्तुओं-का अनुभव करना प्रसिद्ध है तब भिन्न देशोंके प्रति चले हुए विपश्चितोंका वह हुआ

अब्दोऽपि व्याप्तिमानेकस्तुल्यकालं पृथक् क्रियाः ।
आह्लादस्तेन पादेन करोत्यनुभवत्यपि ॥ ९ ॥
तुल्यकालमसंख्यातमीश्वरप्रतियोगिनः ।
कर्मजालं जगज्जातं कुर्वन्त्यनुभवन्ति च ॥ १० ॥
एको विष्णुश्चतुर्भिः स्वैर्बाहुभिर्वा शरीरकैः ।
पृथक्कुर्वन् क्रियाः पाति जगद्भुङ्क्ते वराङ्गनाः ॥ ११ ॥
बहुबाहुर्यदा द्वाभ्यां हस्ताभ्यां द्व्यर्थसंग्रहम् ।
करोति बहुभिर्भूयः संग्रामं सततं करैः ॥ १२ ॥

इसमें क्या आश्चर्य है ? इस आशयसे कहते हैं—'**एकदेश०**' इत्यादिसे ।

एक देशमें स्थित योगी तीनों कालोंमें सर्वत्र व्याप्त होकर एक ही समयमें सब काम करते हैं, सबका अनुभव भी करते हैं ॥ ८ ॥

विभिन्न-विभिन्न प्रदेशोंमें एक ही समयमें एककी भिन्न क्रियाकारितामें तत्-तत् देशोंमें व्याप्ति ही उपयोगी है, जीवभेदका कोई उपयोग नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**अब्दो**' इत्यादिसे ।

जैसे घामसे पीड़ित लोगोंको सुख पहुँचानेवाला मेघ भी महान् होनेके कारण ही नाना नगर, पर्वत, नदी, खेत आदिमें व्याप्त होकर एक ही कालमें महलोंको धोना, तटोंको तोड़ना, नदीका जल बढ़ाना, धानोंको पुष्ट करना आदि विभिन्न व्यापार तत्-तत् भागसे करता है । तदभिमानी जीव (मेघका अधिष्ठाता जीव) भी मैंने ये क्रियाएँ कीं ऐसा अनुभव करता है वैसी ही यहाँपर भी उपपत्ति समझनी चाहिये, यह भाव है ॥ ९ ॥

अणिमा आदि ऐश्वर्यकी प्राप्तिसे ईश्वरतुल्य हुए योगी एक ही समयमें असंख्य कर्मपूर्ण जगतोंका निर्माण करते हैं और उनका अनुभव भी करते हैं ॥ १० ॥

एक ही विष्णु भगवान् अपनी चार भुजाओंसे अथवा अपने विभिन्न शरीरोंसे कहींपर योगनिद्रा, कहींपर तपस्या, कहींपर इन्द्रके अनुज होनेसे उनकी सहायता, कहींपर (वैकुण्ठमें) विविध भोग—यों विविध क्रियाएँ करते हुए जगत्की रक्षा करते हैं, वराङ्गनाओंका उपभोग करते हैं एवं उनका अनुभव भी करते हैं ॥ ११ ॥

अनेक भुजाओंवाला पुरुष दो हाथोंसे जब दो वस्तुओंका ग्रहण करता है, तब फिर अवशिष्ट अनेक बाहुओंसे उसे सदा संग्राम करना पड़ता है ॥ १२ ॥

तथैव तैर्विपश्चिद्भिः सर्वदिक्कं तथा स्थितैः ।
तथा व्यवहृतं प्राप्तमेकसंविन्मयैरपि ॥ १३ ॥
सुप्तं तैर्भूमिशय्यासु भुक्तं द्वीपान्तरेषु च ।
विहृतं वनलेखासु प्रक्रान्तं मरुभूमिषु ॥ १४ ॥
उषितं गिरिमालासु भ्रान्तं सागरकुक्षिषु ।
विश्रान्तं द्वीपलेखासु निलीनं घनमालिषु ॥ १५ ॥
रूढमर्णवमालासु वात्यासु जलवीचिषु ।
क्रीडितं भूभृदब्धीनां तटीषु नगरीषु च ॥ १६ ॥
शाकद्वीपोदयगिरितटे सप्तवर्षाणि सुप्तं
पूर्वेणाऽन्तर्विदलगहने यक्षसंमोहितेन ।
पाषाणाम्बु प्रसभममुनैवाऽत्र पीत्वा दृषत्ता-
मागत्याऽन्तः स्थितमथ समाः सप्त जात्येन भूमेः ॥ १७ ॥
शाकद्वीपेऽस्तशैलस्य शिरस्यभ्रगुहागृहे ।
पिशाचाप्सरसा मासं पाश्चात्यः कामुकीकृतः ॥ १८ ॥

दसों दिशाओंमें स्थित वे विपश्चित् यद्यपि एकसाक्षिचैतन्यवाले थे, फिर भी उन्होंने वैसे ही व्यवहार किया और सुख, दुःख आदि प्राप्त किया ॥ १३ ॥

उन्होंने भूमिशय्याओंमें शयन किया, विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरोंमें सुख-दुःखका उपभोग किया, वनश्रेणियोंमें विहार किया और मरुभूमिमें भ्रमण किया ॥ १४ ॥

पर्वतपङ्क्तियोंमें निवास किया, सागरोंके गर्भमें भ्रमण किया, विविध द्वीपोंमें विश्राम लिया और मेघमालासे भरे हुए पर्वतशृङ्गोंपर छिपकर रहे ॥ १५ ॥

वे सागर पङ्क्तियोंमें आविर्भूत हुए एवं उन्होंने आँधियोंमें, सागरकी तरङ्गोंमें, पर्वत और समुद्रोंके तटोंमें तथा नगरियोंमें क्रीड़ा की ॥ १६ ॥

पूर्व दिशाको प्रस्थित विपश्चित् शाकद्वीपमें प्रख्यात उदयपर्वतके तटपर दल रहित स्नुहीवृक्षके वनके अन्दर यक्ष द्वारा मोहिनी विद्यासे मोहित होकर सात वर्ष तक सोया रहा। पूर्व विपश्चित् ही इस पर्वतपर कहीं पत्थर बना देनेवाला जल पीकर जबर्दस्ती पत्थर बनकर भूमिके अन्दर सात वर्ष तक रहा ॥ १७ ॥

पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थित विपश्चितको शाकद्वीपमें अस्ताचल पर्वतके शिखरपर मेघपूर्ण गुहारूपी गृहमें पिशाचरूपी अप्सराने एक महीने तक अपना कामुक बना डाला ॥ १८ ॥

यत्र शान्तभये वर्षे जलधारे महागिरौ ।
हरीतकीवने वर्षं पूर्वोऽन्तर्द्धानमाययौ ॥ १९ ॥
अत्र रैवतके शैले वर्षे शिशरनामनि ।
दशरात्रमभूत् सिंहः पूर्वो यक्षवशीकृतः ॥ २० ॥
अत्र काञ्चनशैलाद्रिदरीदर्दुरतां गतः ।
पिशाचमायाछलितो दशवर्षाण्युवास सः ॥ २१ ॥
कौमारं वर्षमासाद्य श्यामाद्रेरुत्तरस्तटम् ।
शाकद्वीपेऽन्धकूपेऽन्धो न्यवसच्छरदां शतम् ॥ २२ ॥
मरीबकेऽकरोद्वर्षे वर्षाण्यत्र चतुर्दश ।
विद्याधरत्वं पाश्चात्यः स विद्याधरविद्यया ॥ २३ ॥
रतक्रमक्रान्तपुरारिलक्ष्मीचलाङ्गलेखाक्रमसीकराक्तम् ।
एलालतालिङ्गनलब्धगन्धमालम्ब्यवेलावनगन्धवाहम् ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते
मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि०
चतुर्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

पूर्व विपश्चित् शान्तभय नामके वर्षमें जलधार नामके महापर्वतपर किसी मुनिके शापसे हरीतकीके वनमें हरीतकीवृक्षताको प्राप्त होकर लोगोंकी दृष्टिमें अदृश्य बनकर रहा ॥ १९ ॥

शिशिर नामके वर्षमें रैवत नामक पर्वतपर पूर्व विपश्चित् यक्षके वशमें पड़कर दस रात्रियों तक सिंह हुआ ॥ २० ॥

यहाँपर पिशाचोंकी मायासे छलित होकर सुवर्णपर्वत (सुमेरु) आदिकी गुफाओंमें मेढ़क बना हुआ वह दस वर्ष तक रहा ॥ २१ ॥

उत्तरकी ओरको प्रस्थित हुआ विपश्चित् कौमार वर्षमें पहुँचकर शाकद्वीपमें नीलगिरिके तटपर अन्धे कूपमें अन्धा मेढक बनकर सौ वर्ष तक रहा ॥ २२ ॥

पश्चिमकी ओर चले हुए विपश्चित्ने मरीबक वर्षमें विद्याधरता प्राप्त करानेवाली विद्यासे चौदह वर्ष तक विद्याधरता प्राप्त की ॥ २३ ॥

जिस वस्तुका अवलम्बन कर उसने विद्याधरता प्राप्त की, उसे कहते हैं—'रत०' इत्यादिसे ।

सुरतमें होनेवाले परिश्रमसे श्रान्त भगवान् शिवजीकी अत्यधिक शोभासे चञ्चल अङ्गोंके—क्रमसे उत्पन्न हुए—स्वेदबिन्दुओंसे संमिश्रित तथा इलायचीकी लताओंके आलिङ्गनोंसे सुगन्धित तटवनकी वायुका अवलम्बन कर उक्त विपश्चित्ने विद्याधरता सम्पादित की ॥ २४ ॥

—:०:—

पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

वर्षे शान्तभयाभिख्ये जलधारे गिरौ तरौ ।
तादृक्कर्तरि पानीयं शाकद्वीपे पिबन् स्थितः ॥ १ ॥
पूर्वोऽथ वर्षसप्तत्या पाश्चात्येनैत्य मोक्षितः ।
विद्यया क्रकचेनेव छित्वा वृक्षत्वमक्षतः ॥ २ ॥
पाश्चात्यः शिशिरे वर्षे पाषाणत्वमुपागतः ।
मोचितो दक्षिणेनाऽऽशु गोमांसादिप्रयोगतः ॥ ३ ॥

एक सौ पचीस सर्ग

[इस विपत्तिमें विपश्चितोंका आपसमें एक दूसरेका उपकार करना तथा जीवन्मुक्तोंकी सर्वत्र अर्थक्रियाका वर्णन]

विभिन्न दिशाओंमें भ्रमण कर रहे विपश्चितोंकी आपसमें एक दूसरेकी खोज और विपत्तियोंमें परस्पर सहायता करता है या नहीं इस प्रकारकी श्रीरामचन्द्रजीकी आशङ्काको इङ्गितसे ताड़कर उसका निराकरण करनेकी इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले पूर्व विपश्चित्की शान्तभय वर्षमें हरीतकीवृक्षतारूप आपत्तिमें पश्चिम विपश्चित् द्वारा अनुग्रह किया गया, यह कहते हैं—'वर्षे' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—शान्तभय नामसे प्रसिद्ध वर्षमें जलधारावाले पर्वतपर हरीतकीके वनमें हरीतकी-वृक्ष बने हुए कैंचीरूप यन्त्रके सदृश भूमिके अन्दरके पाषाण-सम्बन्धी जलको जड़ोंसे पीते हुए पूर्व विपश्चित्को पश्चिमी विपश्चित्ने उसके वृत्तान्तको जानकर, वहाँ आकर, शाप देनेवाले मुनिको प्रसन्न कर उससे दी गई विद्यारूपी आरीसे वृक्षताका मानो छेदन कर सत्तर वर्षोंमें वृक्षतासे मुक्त किया ॥ १,२ ॥

पश्चिम दिशाको प्रस्थित विपश्चित्को, जो शिशिर वर्षमें पिशाचपतिके शापसे पाषा-

शिवेऽस्ताचलपारस्थे वर्षे वर्षेण पश्चिमः ।
मोचितो दक्षिणेनेत्य गोपिशाच्या वृषीकृतः ॥ ४ ॥
अत्रैव क्षेमके वर्षे आम्बिकेयगिरौ तरौ ।
दक्षिणो यक्षतां यातो मोक्षं यक्षेण लब्धवान् ॥ ५ ॥
अत्रैव वृषके वर्षे शैले केसरनामनि ।
केसरित्वं गतः पूर्वः पाश्चात्येनैव मोचितः ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

एकदेशगता विश्वग्व्याप्य कर्माणि कुर्वते ।
योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाणि भगवन् कथम् ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इह रामाऽप्रबुद्धानां यदस्त्यस्त्वलमेव नः ।
तेन यत्तु प्रबुद्धानां तदिदं शृणु कथ्यते ॥ ८ ॥

णताको प्राप्त हुआ था, दक्षिण दिशाको प्रस्थित हुए विपश्चिन्‌ने वहाँ पहुँचकर गोमांस आदिके प्रयोगसे पिशाचपतिको प्रसन्न कर शीघ्र मुक्त किया ॥ ३ ॥

अस्ताचल पर्वतके परले पार स्थित शिवनामक वर्षमें गोरूप पिशाचों द्वारा वृषरूप पिशाच बनाये गये पश्चिम विपश्चिन्‌को दक्षिणने वहाँ पहुँचकर मुक्त किया ॥४॥

यहींपर (शाकद्वीपमें) क्षेमक वर्षमें आम्बिकेय पर्वतपर दक्षिण विपश्चिन् यक्षता-को प्राप्त हुआ पश्चिम विपश्चिन्‌से प्रसादित यक्षपतिने उसे मुक्त किया ॥ ५ ॥

शाकद्वीपमें ही वृषक वर्षमें केसर नामक पर्वतपर पूर्व विपश्चिन् सिंहताको प्राप्त हुआ, पश्चिम विपश्चिन्‌ने आकर उसे छुड़ाया ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, एक देशमें स्थित योगी तीनों कालोंमें चारों ओर व्याप्त होकर सब कर्म (अनुग्रह, निग्रह आदि) कैसे करते हैं, इसमें कृपया उपपत्ति आपको कहनी चाहिये ॥ ७ ॥

योगियोंकी दृष्टिसे सारा प्रपञ्च मनोमात्र है और मानस कर्मोंमें मनका सर्वत्र एक साथ व्यवहार होनेमें भी निरंकुश स्वातन्त्र्यकी हानि नहीं देखी जाती अतः सब क्रियाओंकी उपपत्ति है इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'इह' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत्‌में अज्ञानियोंकी दृष्टिमें जो भूत, भौतिकादि स्थूलवस्तु है उससे हम ज्ञानियोंका कोई वास्ता नहीं है । हम उसकी

चिन्मात्रसत्तासामान्यादृतेऽन्यन्नात्म तद्विदाम् ।
दृश्यात्यन्ताभावबोधे सर्गासर्गदृशोः क्षये ॥ ९ ॥
चिन्मात्रसत्तासामान्ये विश्रान्तस्य निरन्तरम् ।
सर्वेशस्येह सर्वत्वं सर्वात्मत्वं च सर्वदा ॥ १० ॥
वद केन कथं कुत्र कदा किमिव रोध्यते ।
सर्वगस्त्वथ सर्वात्मा यत्र भाति यदा यथा ॥ ११ ॥
तथा भाति तदा तत्र सर्वात्मनि किमस्ति नो ।
अतीतं वर्तमानं च भविष्यत्स्थूलमप्यणु ॥ १२ ॥
तथा दूरमदूरं च निमेषः कल्प एव च ।
स्वरूपमजहत्येव सामान्ये तानि सर्वदा ॥ १३ ॥
सर्वात्मनि स्थितान्येव पश्य मायाविजृम्भितम् ।
अजातमनिरुद्धं च यथास्थितमवस्थितम् ॥ १४ ॥
विज्ञानघनसेवेदमत एव जगत्त्रयम् ।
नभस्त्वमत्यजंश्चैव सर्वात्मैव नभः स्थितम् ॥ १५ ॥

उपपत्तिकी चिन्ता क्यों करें ? ज्ञानियोंकी दृष्टिसे जो मनोमात्र वस्तु है, वह सर्वत्र अर्थक्रियाकारी जैसे हो सकती है वैसा कहता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

चिन्मात्र ही वस्तु है, इस मुख्य पक्षमें सर्वेश्वरकी ही सर्वत्र सर्वार्थक्रियोपपत्ति है, ऐसा कहते हैं—'**चिन्मात्र०**' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिसे चिन्मात्रसत्तासामान्यके बिना दूसरा जगद्रूप निःस्वरूप है । दृश्यके अत्यन्ताभावका ज्ञान होनेपर सृष्टि और प्रलयकी दृष्टिका क्षय होनेके पश्चात् चिन्मात्रसत्तासामान्यमें निरन्तर विश्रान्त हुए सर्वेश्वरकी यहाँपर सदा सर्वता सर्वात्मता ही है । भला बतलाइये तो उसका कौन कैसे कहाँपर क्योंकर निरोध कर सकता है ? सर्वगामी और सर्वात्माका जब जहाँपर जैसे भान होता है तब वहाँपर वैसा भान होता है । सर्वात्मामें क्या वस्तु नहीं है । अतीत, वर्तमान और भविष्यत्, स्थूल तथा अणु, दूर और अदूर (निकट), निमेष और कल्प ये सबके सब स्वरूपका त्याग न कर रहे सत्तासामान्यस्वरूप सर्वात्मामें सदा स्थित ही हैं, ऐसा आप जानें । मायासे विजृम्भित (उल्लासको प्राप्त हुआ) प्रपञ्च न तो उत्पन्न हुआ और न विनष्ट हुआ, विज्ञानघन ही ज्योंका त्यों स्थित है ॥ ९-१४ ॥

इसलिए ये तीनों जगत् विज्ञानघनरूप ही हैं । आकाशताका त्याग न करता

जगदात्मा जगद्रूपं द्रष्टृदृश्यतयोदितम् ।
विश्वात्मदृग्वपुर्यत्स्यात्तत्किं केन कथं कदा ॥ १६ ॥
दुःसाध्यं ब्रूहि तत्त्वज्ञ साध्यासाध्यस्वरूपिणः ।
तस्मादस्याः सदैकस्या विपश्चिद्राजसंविदः ॥ १७ ॥
प्रबोधमनुगच्छन्त्या अप्राप्तायाः परं पदम् ।
एकस्या अप्यनेकस्याः सर्वं सर्वत्र युज्यते ॥ १८ ॥
बोधाबोधात्मरूपे हि किंनामाऽस्ति परात्मनि ।
अप्राप्तायाः परं बोधं पदार्थाकुलतोचिता ॥ १९ ॥
किंचिद्बोधं प्रविष्टायाः सिद्धताऽप्युचितैव सा ।
एवं ते सर्वदिक्संस्थाः सर्वमेव परस्परम् ।
पश्यन्त्यनुभवन्त्याशु चिकित्सन्ते च संकटम् ॥ २० ॥

हुआ (अपनी सत्तासे उसपर अनुग्रह करता हुआ) सर्वात्मा ही आकाशरूपसे स्थित है । भाव यह कि अविकृत सच्चिदात्माकी ही आकाश आदिरूपसे स्थिति है ॥ १५ ॥

मायाशबल ही जगदात्मक है, वही द्रष्टा और दृश्यके रूपसे जगद्रूपमें उदित हुआ है । जो वस्तु विश्वात्माका (मायाशबलका) दृङ्मात्ररूपशरीरवाली है उसका किससे, कैसे कब क्या होगा ? शुद्धमें परिणाम, विवर्त आदि नहीं हो सकते, यह भाव है ॥ १६ ॥

हे तत्त्वज्ञानिन्, साध्य और असाध्यरूपी मायाशबलकी कौन वस्तु दुःसाध्य है जरा बतलाइये तो, कुछ भी दुःसाध्य नहीं है, इसलिए सदा सब जगह सर्वार्थक्रियाकी उपपत्ति है, यह भाव है । इसलिए सदा एकरूप इस विपश्चित्-राजसंवित्का, जो प्रबोधकी ओर अग्रसर है और परमपदको प्राप्त नहीं हुई तथा एक होती हुई भी अनेकरूप है, सब जगह सब कुछ सम्भव है ॥ १७,१८ ॥

बोध और अबोधरूप शबल परमात्मामें क्या असाध्य है । परमबोधको प्राप्त न हुई संवित्की पदार्थाकुलता उचित है ॥ १९ ॥

योगियोंको ऐच्छिक अर्थक्रियासामर्थ्यरूप सिद्धि होनेपर भी उपपत्ति कहते हैं—**'किञ्चित्'** इत्यादिसे ।

किञ्चित् बोधको प्राप्त हुई संवित्की वह सिद्धता भी उचित ही है । कारण कि जैसे-जैसे बोधमें उत्कर्ष होता है वैसे-वैसे अकामहतत्वप्रयुक्त आनन्दके उत्कर्षसे होनेवाले ऐश्वर्यप्रकर्षक्रमकी भी उपपत्ति होती है, यह भाव है ।

इस तरह सम्पूर्ण दिशाओंमें स्थित वे (विपश्चित्) आपसमें सब कुछ देखते

बोधाकाशः स्वकाद्रूपादीषच्च्युत इवाऽऽशु चेत् ।
तदन्यतामिवाऽऽदत्ते सुस्थितोऽपि यथास्थितम् ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

विपश्चितः प्रबुद्धाश्चेत्कथं सिंहवृषादिताम् ।
दिक्षु यान्तीति मे ब्रह्मन् बोधाय कथयाऽऽश्वलम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रबुद्धाः कथिता ये ते योगिनस्ते मयाऽनघ ।
प्रसंगरूपान्तरतो न प्रबुद्धा विपश्चितः ॥ २३ ॥

हैं, अनुभव करते हैं और शीघ्र विपत्तिरूपी रोगकी चिकित्सा करते हैं ॥ २० ॥

प्रबुद्ध लोगोंके प्रति सब वस्तुएँ मनोमात्र ही हैं, इस पक्षमें तो सब जगह सर्वार्थ-क्रिया मनोराज्यकी भाँति अत्यन्त उपपन्न है, इस आशयसे कहते हैं—'**बोधाकाशः**' इत्यादिसे ।

बोधाकाश (चिदाकाश) जब अपने स्वरूपसे थोड़ा च्युतसा होता है तब शीघ्र ही मनोभावलक्षण किञ्चित् च्युतिरूप दोषसे ज्योंका त्यों सुस्थित होता हुआ भी अन्यताको (जगद्रूपताको) ग्रहण करता है ॥ २१ ॥

विपश्चितोंके प्रसङ्गमें योगियों और ज्ञानियोंकी एक साथ सर्वार्थक्रियोपपत्तिका वर्णन होनेपर विपश्चित् भी ज्ञानी थे, यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'**विपश्चितः**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्र जीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, यदि विपश्चित् ज्ञानी थे, तो वे दिशाओंमें सिंह, बैल आदि कैसे बने, कृपया मेरे बोधके लिए यह शीघ्र कहिये । भाव यह है कि ज्ञानी जन सर्वार्थक्रियामें स्वतन्त्र होते हैं, अतः विपश्चितोंको परतन्त्रतावश होने-वाले सिंह, बैल आदिके शरीररूप संकट प्राप्त नहीं हो सकते, अतः उन लोगोंने परस्पर एक दूसरेपर अनुग्रह किया, यह कथन असंगत है ॥ २२ ॥

श्रीरामजी, आपने मुझसे पूछा कि योगी व्याप्त होकर कैसे विविध काम करते हैं ? मैंने यहाँपर प्रबुद्ध योगियोंका वर्णन किया है, विपश्चित् तो प्रबुद्ध योगी नहीं थे, यों वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'**प्रबुद्धाः**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामजी, मैंने आपके प्रश्नके समाधानके

विपश्चितो महाबाहो प्रबुद्धा निपुणं न ते ।
बोधाबोधदृशोर्मध्ये ते हि दोलायिताः स्थिताः ॥ २४ ॥
मोक्षचिह्नानि दृश्यन्ते बन्धचिह्नानि चाऽभितः ।
नित्यमर्धप्रबुद्धानां तथाभूततया तया ॥ २५ ॥
विपश्चितो धारणया योगिनो न परं गताः ।
धारणायोगिनस्ते हि धारणाप्राप्तसिद्धयः ॥ २६ ॥
ये परं बोधमायाता येष्वविद्या न विद्यते ।
किमविद्यामवेक्षन्ते ते तामरसलोचन ॥ २७ ॥
धारणायोगिनो ह्येते वरेण प्राप्तसिद्धयः ।
अविद्या विद्यते तेषां तेन तेऽतद्विचारिणः ॥२८ ॥
अन्यच्च शृणु हे राम जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ।
भवेद्व्यवहृतावेव पदार्थान्तरवेदनम् ॥ २९ ॥

लिये विपश्चितोंके सिलसिलेमें जिन योगियोंका वर्णन आपसे किया है, वे प्रबुद्ध थे, किन्तु विपश्चित् प्रबुद्ध नहीं थे ॥ २३ ॥

हे महाबाहो, वे विपश्चित् अत्यन्त प्रबुद्ध न थे, वे बोध और अबोधके बीच में दोलायमान-से स्थित थे। अर्धप्रबुद्ध उनमें मोक्षके चिह्न भी और चारों ओर बन्धनके चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं । पूर्वोक्त दोलायित धारणासे विपश्चित् परम ब्रह्मको प्राप्त योगी न थे, किन्तु अग्निकी प्रसन्नतासे सिद्धि प्राप्त होनेके कारण धारणायोगी थे, जिनमें अविद्या का विनाश हो गया, ऐसे ज्ञानयोगी न थे ॥ २४–२६ ॥

हे कमलनेत्र श्रीरामजी, जो परम ज्ञान को प्राप्त हो चुके और जिनमें अविद्याका नाम-निशान नहीं है ऐसे ज्ञानयोगी वे विपश्चित् होते तो वे अविद्याको क्यों देखते ? अविद्या दर्शनकी इच्छा ही इनके अविद्याके अनुच्छेदमें हेतु है । धारणाके पुष्ट होने-पर अग्निदेवके प्रसादसे जन्य वरसे प्राप्त सिद्धिवाले वे विपश्चित् धारणायोगी थे । उनमें अविद्या विद्यमान थी, अतएव वे आत्मविचारविहीन थे ॥ २७–२८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, और भी सुनिये, जीवन्मुक्तशरीरवाले ज्ञानयोगियोंको व्युत्थानकालमें ही अन्य पदार्थकी प्रतीति होती है । भाव यह कि जीवन्मुक्तोंको व्यवहार कालमें ही देहादिभान होता है, समाधिमें तो विदेहकैवल्यसमता ही रहती है, यह विपश्चितोंसे उनमें विलक्षणता है । मोक्ष भी चित्तका धर्म है, वह चित्तमें ही रहता है, देहमें नहीं रहता । जो बँधा रहता है, उसके बन्धनकी निवृत्ति मोक्ष है । चित्त ही

मोक्षोऽपि चेतसो धर्मश्चेतस्येव स तिष्ठति ।
न देहे देहधर्मस्तु न देहाद्विनिवर्त्तते ॥ ३० ॥
न कदाचन निर्मुक्तं चेतो भूयो निबद्ध्यते ।
यत्नेनाऽपि पुनर्बद्धं केन वृन्तच्युतं फलम् ॥ ३१ ॥
देहस्तु देहधर्मेण जीवन्मुक्तिमतामपि ।
गृह्यते तद्गतं तेषां चेतस्त्वचलमेव तत् ॥ ३२ ॥
मोक्षो हि न परज्ञेयो धारणादिप्रयोगवत् ।
आत्मसंवेद्य एवाऽसौ मध्वाद्यास्वादसौख्यवत् ॥ ३३ ॥

बद्ध रहता है आत्मा नहीं, अतः मोक्ष भी चित्तका ही धर्म है, अतः समाहितचित्तमें ही वह मोक्ष रहता है देहभावापन्न व्युत्थित पुरुषमें मोक्ष नहीं रहता। जो देहधर्म है—देहाधीन व्यवहार है वह जीवन्मुक्तके भी शरीरसे नहीं हटता, अतः अन्यपदार्थ-की प्रतीतिकी उपपत्ति होती है। तब तो जीवन्मुक्तका चित्त भी देहभाव प्राप्त होनेपर बन्धनको प्राप्त हो जायगा, नहीं सो बात नहीं है। निर्मुक्त चित्त (भलीभाँति मुक्त हुआ चित्त) फिर कभी भी बन्धनमें नहीं पड़ता। वृन्तसे गिरे हुए फलको प्रयत्नसे भी कौन बाँध सका ?॥ २६–३१ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषोंका भी शरीर शरीरधर्मोंसे अनुगत रहता है, किन्तु शरीरगत उनका चित्त अविचल रहता है उसमें देहधर्म व्याप्त नहीं होते। भाव यह कि मुक्त और अमुक्त पुरुषोंमें देह धर्मानुवृत्तिसमान है चित्तधर्मानुवृत्ति उनकी एकसी नहीं है ॥ ३२ ॥

इसी कारण उन्हें अन्य लोग ये जीवन्मुक्त हैं यों नहीं पहिचान पाते हैं, किन्तु धारणासे सिद्ध हुए योगियोंकी तो उन्हें पहचान होती ही है यह जीवन्मुक्त ज्ञानियों और योगियोंमें दूसरी विलक्षणता है, ऐसा कहते हैं—'**मोक्षः**' इत्यादिसे।

धारणा आदि वश प्राप्त योगकी तरह मोक्ष अन्य पुरुषों द्वारा ज्ञातव्य नहीं है यानी जैसे अन्य लोग धारणावश प्राप्त योगको पहचान लेते हैं वैसे वे मोक्षकी पह-चान नहीं कर सकते जैसे शहद आदिकी मिठाससे उत्पन्न सुखका वर्णन कोई नहीं कर सकता उसका सुख केवल आत्मसंवेद्य है वैसे ही मोक्ष भी केवल आत्मसंवेद्य ही है। शङ्का—मनका धर्म मोक्ष आत्मसंवेद्य कैसे है ? समाधान—बन्धके समान मनोगत मोक्षकी साक्षिरूप स्वानुभवसे ही सिद्धि है ॥ ३३ ॥

सुखदुःखैर्युतो योऽसौ स्वयं बन्धानुभूतिमान् ।
तन्मुक्तौ मुक्त इत्युक्तः स्वानुभूतिप्रदस्त्वसौ ॥ ३४ ॥
अन्तः शीतलचित्तो हि मुक्त इत्यभिधीयते ।
बन्धः संतप्तचित्तेति देहादेस्तन्न दृश्यते ॥ ३५ ॥
शरीरे कणशः कृत्ते राज्ये वा विनियोजिते ।
रुदतो हसतश्चैव जीवन्मुक्तमतेरिह ॥ ३६ ॥
न दुःखं न सुखं किंचिदन्तर्भवति तत्स्थितम् ।
गृह्णतोऽप्यनुभूतिस्तु तत्रैवैषाऽस्ति नाऽपरे ॥ ३७ ॥

यदि बन्ध और मोक्ष मनके धर्म हैं, तो 'आत्मा बद्ध है आत्मा मुक्त हुआ' यों शास्त्रमें कैसे व्यवहार होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'सुखदुःखै०' इत्यादिसे ।

स्वानुभवप्रदान करनेवाला आत्मा मनके धर्म सुखदुःखोंसे युक्त होकर जीव-रूपसे बन्धनकी अनुभूति करता है, वही उसकी (मनकी) मुक्ति होनेपर शास्त्रमें मुक्त कहा गया है ॥ ३४ ॥

यदि यही बात है तो देह आदि भी मनके धर्म सुख-दुःखोंसे बद्ध और मुक्त माने जायँगे ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'अन्तः०' इत्यादिसे ।

जिसका अन्तरात्मा आह्लादयुक्त हो वही मुक्त कहा जाता है और जिसका अन्तरात्मा सन्तप्त हो वह बद्ध कहलाता है, अतः मनके धर्म सुखदुःखवश देहके बन्धन और मोक्ष नहीं हैं । भाव यह कि आभ्यन्तर आनन्द और सन्तापका आन्तर ही चिदात्मामें अध्यास अनुभवसिद्ध है, अतः उसीमें उसे मानना उचित है, बाह्य देह आदिमें उसे मानना ठीक नहीं है ॥ ३५ ॥

जैसे शरीरसंयोगी मनमें शरीरके धर्मोंकी प्राप्ति होती है वैसे ही मनोधर्म मोक्षकी भी शरीरमें प्रतीतिप्रसक्ति हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'शरीरे' इत्यादिसे ।

शरीरके टुकड़े-टुकड़े किये जायँ अथवा उसे राज्यसिंहासनपर बैठाया जाय दोनों अवस्थाओंमें रो रहे अथवा हँस रहे जीवन्मुक्त पुरुषके अन्दर न तो कुछ शरीर-स्थित दुःख होता है और न सुख होता है ।

यदि किसीको शङ्का हो कि काँटा चुभनेसे पैरमें मुझे कष्ट है और देहमें मेरे चन्दनलेप प्रयुक्त सुख हैं, यों लोग मनके धर्म सुख-दुःख आदिका देहमें ग्रहण करते हैं । इसलिए मनोधर्मोंका आत्मामें ही अध्यास कैसे ? तो इसपर कहते हैं—'गृह्णतः' इत्यादिसे ।

दृश्यन्ते पण्डिता भग्ना रूपान्तरमुपागताः ।
देहादि जीवन्मुक्तानां स्वभावान्न कदाचन ॥ ३८ ॥
मृतोऽपि नैव म्रियते रुदन्नपि न रोदिति ।
विहसन्न हसत्येव जीवन्मुक्तो महोदयः ॥ ३९ ॥
वीतरागाः सरागाभा अकोपाः कोपसंयुताः ।
अमोहा मोहवलिता दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥ ४० ॥

अवच्छेदकता सम्बन्धसे देहमें सुख-दुःख आदिका अनुभव कर रहे मनुष्यको 'अहं सुखी अहं दुःखी' यों आत्मामें ही उसका पर्यवसान है, अतः आत्मामें ही यह सुख-दुःख आदिकी कल्पना है, बाह्य देह आदिमें नहीं है। इसीलिए आत्मामें अध्यासका अङ्गीकार न करनेवाले देहादिमें आत्माका अभिमान करनेसे रूपान्तरको प्राप्त हुए चार्वाक, नैयायिक, साङ्ख्य, बौद्ध, कणाद आदि पण्डित मोक्षके उपायकी प्राप्ति न होनेसे पराभूत दिखाई देते हैं अथवा जल्पकथामें वेदान्तियों द्वारा पराजित दिखाई देते हैं।

सुख-दुःख आदि रूप बन्धका भले ही देहमें भी कथंचित् अनुभव हो, किन्तु मोक्षका तो देहमें कथमपि अनुभव नहीं होता। जीवन्मुक्त पुरुषोंको समाधिमें और देहभानावस्थामें इस बातका स्पष्ट अनुभव तथा मन्द और मध्यम ज्ञानियोंको भी व्युत्थान कालमें देहभान होनेपर उसका अनुभव होता है, इस आशयसे कहते हैं—'देहादि' इत्यादिसे।

जीवन्मुक्त पुरुषोंके देह आदि नित्य अशरीर आत्मस्वभावसे कदापि पृथक् नहीं है, जीवन्मुक्त महोदय मरकर भी नहीं मरता, रोता हुआ भी नहीं रोता और हँसता हुआ भी नहीं ही हँसता है। भगवती श्रुति भी है—'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥' इसलिए वह मरणादि धर्मोंसे युक्त नहीं होता है ॥ ॥ ३८-३९ ॥

मानस धर्मोंसे भी उनका सम्बन्ध नहीं है, यह कहते हैं—'वीतरागा०' इत्यादिसे।

तत्त्वदर्शी लोग वीतराग होनेपर भी अनुरक्त जैसे, कोपविहीन होनेपर भी कोपयुक्त जैसे तथा मोहरहित होनेपर भी मोहयुक्त जैसे दीखते हैं ॥ ४० ॥

इदं सुखमिदं दुःखमित्यादिकलनास्तु ताः ।
अलं दूरगतास्तेषामङ्कुरा नभसो यथा ॥ ४१ ॥
जगदात्मा च नाऽस्त्येव यस्यैकं सर्वमस्ति च ।
सुखदुःखादि तस्येति वाग्व्योमविटपोपमा ॥ ४२ ॥
अशोका एव शोचन्ते जीवन्मुक्ता जयान्विताः ।
अच्छिन्ना एकतद्भावा दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥ ४३ ॥
शिरः कमलजस्योच्चैः सामगायनतत्परम् ।
हरो नखेन चिच्छेद सुकुमारमिवाऽम्बुजम् ॥ ४४ ॥
शक्तोऽपि न पुनर्ब्रह्मा जनयामास तच्छिरः ।
व्योमैकताऽस्य चिद्व्योम्नो मुधा मूर्धेतरेण किम् ॥ ४५ ॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम् ॥ ४६ ॥

यह सुख है यह दुःख है, ऐसी कल्पनाएँ तो उनसे इस प्रकार अत्यन्त दूर रहती हैं ? जैसे कि आकाशसे अङ्कुर दूर रहते हैं अर्थात् जैसे आकाशमें अङ्कुरोंका संभव नहीं है वैसे ही उनमें सुख दुःख कल्पनाओंका संभव नहीं है ॥ ४१ ॥

जगत्‌का स्वरूप और तन्मूलक अज्ञान जिसकी दृष्टिमें है ही नहीं केवल एक आनन्द स्वरूप (सत्) ही, जिसकी दृष्टिमें सब कुछ है उस जीवन्मुक्त पुरुषको भी सुख दुःखादि होते हैं, यह कहना आकाशकी भी शाखाएँ होती हैं यह कहनेकी तरह व्यर्थ है ॥ ४२ ॥

'सर्वत्र एकत्वकी प्रतीतिवाले उस जीवन्मुक्तको शोक मोह कहाँ हो सकते हैं ? इस श्रुतिवाक्यके अनुसार शोकमोहको जीतनेवाले अतएव शोकमोहविहीन ही जीवन्मुक्त शोक करते हैं। तत्त्वदर्शी लोग शिर आदि अङ्गोंका छेदन होनेपर भी अच्छिन्न हो अद्वितीय आत्मामें परायण देखे जाते हैं ॥ ४३ ॥

ऊँचे स्वरसे सामगायनमें तत्पर ब्रह्माजीके शिरको भगवान् शङ्करने अपने नखसे कोमल कमलके समान काट डाला। समर्थ होनेपर भी ब्रह्माजीने उस सिरको (पञ्चम सिरको) फिर उत्पन्न नहीं किया। ब्रह्मा तो आकाशसम है, अतः मिथ्यारूप पाँचवें सिरसे उनको क्या प्रयोजन है ॥ ४४, ४५ ॥

तो उनका चार मुखोंसे वेदोपदेश करनेका क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'नैव' इत्यादिसे ।

हरो हरिणशावाक्षीमक्षीणशरतोऽश्रु च ।
धत्ते वपुषि दुग्धाब्धिर्गुप्तामृतकलामिव ॥ ४७ ॥
शक्तोऽपि रागितामेष न त्यजत्युत्तमाशयः ।
पञ्चेषुदाहसमये दृष्टा नीरागतागुणाः ॥ ४८ ॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ४९ ॥
रागितैषाऽस्तु मा वाऽस्य किमरागितयाऽन्यया ।
यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम् ॥ ५० ॥
करोति कारयत्युच्चैर्म्रियते मार्यतेऽपि च ।
जायते वर्धतेऽजस्रं जीवन्मुक्तो जनार्दनः ॥ ५१ ॥

न तो उनका यहाँ कर्मसे कोई प्रयोजन है और न अकर्मसे कोई प्रयोजन है। जो वस्तु प्राणियोंके कर्मवश जैसे सम्पन्न हो गई वह वैसे ही रहे अन्यसे क्या प्रयोजन है ? देखिये न, ईश्वरका भी प्राणियोंके कर्मानुसार ही व्यवहार है अपने लिए नहीं। भगवान् श्रीशङ्करजी, अनुगृहीत कामदेवसे हरिणाक्षी देवीको अपने अर्धाङ्गमें ऐसे ही धारण करते हैं जैसे क्षीरसागर अपने अन्दर गुप्त चन्द्रमाकी कलाको धारण करता है; कामदेवका निग्रह होनेसे उपद्रवविहीन समाधिमें प्रवृत्ति होनेके कारण अपने शरीरमें वैसे आनन्दाश्रु धारण करते हैं जैसे समुद्र अपने अन्दर चन्द्रकलाको धारण करता है ॥ ४६-४७ ॥

उत्तम आशयवाले ये भगवान शङ्करजी समर्थ होते हुए भी रागिताका त्याग नहीं करते हैं, कामदहनके समय उनके नीरागता आदि गुण देखनेमें आये हैं ॥ ४८ ॥

न तो उनका कर्मसे कोई प्रयोजन है और न अकर्मसे ही कोई प्रयोजन है। उनका सकल भूतोंमें कोई भी प्रयोजनलाभ नहीं है ॥ ४९ ॥

उनकी यह रागिता ही रहे अथवा यह रागिता मत रहे। अरागितासे उनका कौन लाभ है या कौन क्षति है ॥ ५० ॥

जीवन्मुक्त भगवान् श्रीविष्णु असुरनिग्रह आदि काम स्वयं जोरशोरसे करते हैं और इन्द्र आदि द्वारा कराते हैं। अवतारकी समाप्ति होनेपर मृत्यु स्वीकार करते हैं, मृत्यु स्वीकारके अनुकूल शरभ लुब्धक आदि द्वारा मारे जाते हैं। समय-समयपर रामादिरूपसे उत्पन्न होते हैं और अभिवृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

न चाजवं जवीभावं त्यक्तुं शक्तोऽप्यसौ न तम् ।
तेन त्यक्तेन नैवाऽर्थस्तस्य नैवाऽऽश्रितेन च ॥ ५२ ॥
तद्यथास्थितमेवाऽस्तु इह इत्यस्तवासनम् ।
हरिर्निरिच्छ एवाऽऽस्ते शुद्धचिन्मात्ररूपभृत् ॥ ५३ ॥
आत्मानमान्दोलयति कालकन्दुकतां गतम् ।
अजस्रं नित्यमादित्यो जगद्गृहनभोङ्गणे ॥ ५४ ॥
न च रोधयितुं देहं न समर्थो दिनेश्वरः ।
निरिच्छ एव निर्वाणस्तथाप्यास्ते यथास्थितम् ॥ ५५ ॥
चन्द्रोऽनुभवति व्यर्थमाकल्पं क्षयमक्षयम् ।
जीवन्मुक्ततया खिन्नो यथास्थितमवस्थितः ॥ ५६ ॥
मरुत्तहव्यगौरीशवीर्यग्रासादिखेदिताम् ।
जीवन्मुक्तो वहत्यग्निर्यथा स्थित्या समस्थितिः ॥ ५७ ॥

सर्वथा समर्थ होते हुए भी भगवान् श्रीहरि प्राणियोंके कर्मवश प्राप्त व्यवहार-व्यग्रताका त्याग नहीं कर सकते । उनका प्राणिकर्मवश प्राप्त व्यवहारव्यग्रताके त्याग-से न किसी प्रयोजनकी सिद्धि है और न उसके ग्रहणसे ही किसी प्रयोजनकी सिद्धि है ॥ ५२ ॥

वह यहाँ यथास्थित ही रहे, ज्यों-का-त्यों ही रहे । शुद्धचिन्मात्ररूपधारी इच्छा-रहित (निष्काम) हरि भगवान् वासनाविहीन ही रहते हैं ॥ ५३ ॥

इच्छाविहीन सूर्य आदि भी प्राणियोंके कर्मानुसार ही अपने-अपने अधिकार-का पालन करते हैं, ऐसा कहते हैं—'आत्मानम्' इत्यादिसे ।

भगवान् श्रीसूर्य जगत्‌रूपी घरके आकाशरूपी आँगनमें कालकी गेंद बनी हुई अपनी देहको नित्य निरन्तर घुमाते रहते हैं ॥ ५४ ॥

दिननायक सूर्य अपने शरीरको रोकनेके लिए समर्थ नहीं हैं सो बात नहीं है । फिर भी निष्काम जीवन्मुक्त सूर्य पूर्वसे बँधी हुई अपनी मर्यादाके अनुसार ही रहते हैं, सदा भ्रमण करते रहते हैं ॥ ५५ ॥

चन्द्रमा कल्पान्त तक रहनेवाले राजयक्ष्माका, जो कभी नष्ट नहीं होता, व्यर्थ ही अनुभव करता है । जीवन्मुक्त होनेके कारण बिना किसी दुःख-पीड़ाके जैसी मर्यादा बँध गई वैसे ही स्थित है, उसकी निवृत्तिके लिए किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करता है ॥५६॥

राजा मरुत्तके यज्ञमें लगातार बारह वर्ष तक हाथीकी सूँडसी मोटी निरन्तर

बह्वीभिर्विजिगीषाभिः कृपणाविव तिष्ठतः ।
जीवन्मुक्तावपि गुरू लोके शुक्रबृहस्पती ॥ ५८ ॥
करोति जनको राज्यं जीवन्मुक्तमना मुनिः ।
जगत्यामाजिषूग्रासु देहं जर्जरतां नयन् ॥ ५९ ॥
नलमान्धातृसगरदिलीपनहुषादयः ।
जीवन्मुक्ताश्चिरं राज्यं चक्रुराकुलिता इव ॥ ६० ॥
व्यवहारे यथैवाऽज्ञस्तथैव खलु पण्डितः ।
वासनावासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ ६१ ॥
बलिप्रह्लादनमुचिवृत्रान्धकमुरादयः ।
जीवन्मुक्ताः स्थितिं चक्रुर्वीतरागाः सरागवत् ॥ ६२ ॥
तस्मादसत्त्वे सत्त्वे च रागद्वेषक्षयोदये ।
न मनागपि भेदोऽस्ति ज्ञस्वं प्रति स्वरूपिणि ॥ ६३ ॥

गिर रही घीकी धारा आदिरूप हविषके भक्षणसे उत्पन्न हुए अजीर्णसे तथा स्वामी स्कन्दकी उत्पत्तिके सिलसिलेमें भगवान् शङ्करका भगवती पार्वतीजीके समागमके समय देवताओं द्वारा विघ्न करनेपर अपने स्थानसे विचलित हुए वीर्यको ब्रह्माके कहने-सुननेसे निगलनेके कारण हुए अन्तर्दाह आदिसे अग्नि खिन्नताको धारण करता है । पूर्व बँधी हुई स्थितिका (मर्यादाका) कदापि त्याग नहीं करता ॥ ५७ ॥

देवगुरु और असुरगुरु बृहस्पति तथा शुक्राचार्य यद्यपि जीवन्मुक्त हैं तथापि भाँति-भाँतिकी परस्पर विजयेच्छाओंसे कृपण ऐसे (अज्ञानी ऐसे) रहते हैं ॥ ५८ ॥

जीवन्मुक्त मुनि ऐसे राजा जनक जगत्में भीषण-भीषण युद्धोंमें अपने शरीरको क्षत-विक्षत करते हुए राज्य करते हैं ॥ ५९ ॥

महाराज नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि यद्यपि जीवन्मुक्त थे, फिर भी उन्होंने आकुलित ऐसे हो चिरकाल तक राज्य किया ॥ ६० ॥

व्यवहारमें जैसा ही अज्ञानी है हूबहू वैसा ही पण्डित भी है । वासना और अवासना ही बन्धन और मोक्षमें कारण हैं ॥ ६१ ॥

राजा बलि, प्रह्लाद, नमुचि, वृत्रासुर, अन्धकासुर, मुर आदि जीवन्मुक्त थे, वीतराग थे फिर भी उन्होंने रागियोंका-सा व्यवहार किया था ॥ ६२ ॥

इससे जीवन्मुक्त लोगोंमें राग, द्वेष आदिके आभासका दर्शन होनेपर भी

ज्ञानेनाऽऽकाशशुद्धेन धर्मान्ये गगनोपमान् ।
विन्दन्ति जीवन्मुक्तानां तेषां भेदमतिः कुतः ॥ ६४ ॥
भास्वरं शक्रकोदण्डं यथा नानेव शून्यकम् ।
आभासमात्रमेवाऽयं तथा दृश्यात्मको भ्रमः ॥ ६५ ॥
शक्रचापे यथा भान्ति नानावर्णा नभोऽङ्गणे ।
तथा शून्यात्मका एव ब्रह्माण्डपरमाणवः ॥ ६६ ॥
इदं जगदसद्भाति सदिव व्यक्तिमागतम् ।
अजातमनिरुद्धं च यथा शून्यत्वमम्बरे ॥ ६७ ॥

मुक्तिके सन्देहका खण्डन किया गया, यह दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त चिदाकाशके प्रति राग और द्वेषका क्षय या उदय होनेपर सुचरित्रताकी सत्ता और दुश्चरित्रताका अभाव होनेपर आविर्भूत स्वरूपवाले मोक्षमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ६३ ॥

मैं ब्रह्म नहीं हूँ ऐसी भेदबुद्धि रहनेपर ही मुक्तिमें संशय होगा, वही उनको नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**ज्ञानेन**' इत्यादिसे ।

ब्रह्माकाशके तुल्य शुद्ध चरम साक्षात्कार वृत्तिरूप ज्ञानसे जो असङ्ग, अद्वितीय पूर्ण ब्रह्मभावसे आकाश सदृश धर्मोंको (देह, मन, प्राण आदिको धारण करनेवाले जीवोंको) प्राप्त करते हैं उन जीवन्मुक्तोंमें भेदभ्रान्तिमें हेतुभूत अज्ञानके नष्ट होनेसे फिर भेदबुद्धि कैसे हो सकती है ? ॥ ६४ ॥

तत्त्वसाक्षात्कारसे जीवजगद्भेद कैसे बाधित होता है, ऐसी यदि किसीको आशङ्का हो तो वह केवल भ्रान्तिसे सिद्ध है इस आशयसे उसकी अवास्तविकताको दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—'**भास्वरम्**' इत्यादिसे ।

जैसे शून्य* इन्द्रधनुष नानासा प्रतीत होता है वैसे ही यह दृश्यरूप भ्रम आभास मात्र है, वास्तविक नहीं है ॥ ६५ ॥

जैसे निस्स्वरूप इन्द्रधनुषमें भाँति भाँतिके रंग प्रतीत होते हैं वैसे ही आकाशरूपी आँगनमें शून्यभूत ही ब्रह्माण्डरूपी परमाणु भासित होते हैं ॥ ६६ ॥

आकाशमें शून्यत्वकी तरह प्रकटताको प्राप्त हुआ, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट हुआ यह असत् जगत् सत्सा प्रतीत होता है ॥ ६७ ॥

* मेघघटामें स्थित सूर्यकिरण ही इन्द्रधनुषके रूपमें दृष्टिगोचर होती है, यह प्रसिद्ध है ।

साद्यन्तमप्यनाद्यन्तमशून्यमपि शून्यकम् ।
जगज्जातं तथाऽजातमरुद्धं रुद्धमेव च ॥ ६८ ॥
जातं निरुद्धमस्त्येव ब्रह्म व्योमैव भासते ।
यथा दारुमयस्तम्भस्तथा तच्छालभञ्जिका ॥ ६९ ॥
समस्तकलनोन्मुक्तं समं निर्निद्रमासनम् ।
यदेकान्तचिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥ ७० ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
अनुन्मेषं चिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥ ७१ ॥
तत्र यद्द्वैतमैक्यं तन्मन्ये तदपि नैव च ।
तद्व्योम केवलं भाति मन्ये तदपि नैव वा ॥ ७२ ॥

जगत् सादि और सान्त होनेपर भी अनादि और अनन्त, अशून्य होनेपर भी शून्य, उत्पन्न होनेपर भी अनुत्पन्न और नष्ट होनेपर भी अनष्ट ही है। नित्यकूटस्थ असङ्ग अद्वितीय वस्तुके जगत्‌रूप ग्रहण करनेपर उसमें आदि-अन्तकी (जन्म-नाश आदिकी) प्रसक्ति नहीं है, यह भाव है ॥ ६८ ॥

जगद्भावके समान जगत्‌के जन्मनिरोधभावकी भी ब्रह्ममें कल्पनासे ही उपपत्ति है, ऐसा यदि कहो तो इष्टापत्ति है, क्योंकि कल्पनामात्रसे उसकी कूटस्थताकी क्षति नहीं हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'जातम्' इत्यादिसे ।

उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ, है, यों ब्रह्माकाश ही प्रतीत होता है जैसे काष्ठमयस्तम्भ काष्ठ ही है और जैसे स्तम्भके एक हिस्सेमें बनाई गई प्रतिमा भी काष्ठ ही है वैसे ही ब्रह्ममें कल्पित यह ब्रह्म ही है ॥ ६९ ॥

समस्त कल्पनाओंसे रहित, निद्राशून्य, सम केवल आत्मरूपसे अवस्थितिरूप जो चिदाकाश है, समाधिदृष्टिसे तन्मात्र ही जगत्‌को जाने। यानी समाधिदृष्टिसे कल्पना विहीन जगत् ब्रह्म ही है यों अनुभवमें बैठावे ॥ ७० ॥

असमाधिकालमें भी शाखाचन्द्रदर्शनमें बुद्धिवृत्तिके शाखाप्रदेशसे चन्द्रदेश-प्राप्तिमें बीचमें जो निर्विषय वृत्त्यभिव्यक्त संवित्‌का स्वरूप है तन्मय जगत्‌को जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

एक प्रदेशसे अन्य प्रदेशकी प्राप्ति होनेपर मध्यमें निर्विषय चिदाकाशरूप जो संवित्‌का स्वरूप है तन्मय जगत्‌को जानना चाहिये ॥ ७१ ॥

उक्त प्रकारके चिदात्मामें जो विशेषरूप द्वैत और सामान्यरूप ऐक्य प्रतीत

जगदाकाशमेवेदमात्मैवाऽऽत्मनि वा स्थितम् ।
भविष्यत्पुरवद्दृष्टमपि स्फारमपि स्फुटम् ॥ ७३ ॥
आकाशकोशविशदाशय दृश्यजातं
मौनात्म तिष्ठति शिलाघनमेव शान्तम् ।
यन्नाम तस्य जगदित्यभिधां विधाय
स्वात्मैव मोहित इवाऽयमहो नु माया ॥ ७४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपाख्याने जीवन्मुक्तकलनं नाम पञ्चविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

होता है वह भी उक्त चिदाकाशस्वभावसे ही नहीं ही है ऐसा मैं मननसे निश्चय करता हूँ । वह केवल शून्य है ऐसी जो प्रतीति होती है वह भी नहीं ही है, क्योंकि उस पूर्णानन्दैकरसमें शून्यताका भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ७२ ॥

शून्यता और पूर्णता जैसी सप्रतियोगिक लोकमें प्रसिद्ध हैं, जैसे कि जलसे शून्य घड़ा या जलसे पूर्ण घड़ा, उसका आत्मामें सम्भव नहीं है, किन्तु यह जगत्, जगत्भावके अन्यत्र अप्रसिद्ध होनेसे, आकाशरूप ही है । इस प्रकार आत्मा ही आत्मामें स्थित है, यों अन्यनिरपेक्ष पूर्णता है । जैसे भावी नगर वर्तमान कालमें प्रतियोगि-निरपेक्ष शून्यरूपसे दृष्ट होता है जैसे विशाल दिशा, काल आदि प्रतियोगिनिरपेक्ष पूर्णरूपसे देखे जाते हैं वैसे ही यह भी है ॥ ७३ ॥

हे आकाशके कोषके सदृश निर्मल आशयवाले श्रीरामचन्द्रजी, जो सम्पूर्ण दृश्य-समूह शिलाघनरूप शान्त मौनरूप स्थित है, उसका आत्मा ही जगत् यह नाम धारण कर मोहितसा स्थित है, अहो माया आश्चर्यभूत है ॥ ७४ ॥

एक सौ पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त

षड्विंशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं मुनिश्रेष्ठ कुर्वन्तः किं विपश्चितः ।
आसंस्तेषु दिगन्तेषु सद्वीपाब्धिवनाद्रिषु ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु किंवृत्तमेतेषां तात तत्र विपश्चिताम् ।
तालीतमालमालाढ्यद्वीपाद्रिवनचारिणाम् ॥ २ ॥
क्रौञ्चद्वीपगिरेरेको विपश्चित्पश्चिमे तटे ।
कटेनाऽद्रितटे पिष्टः करिणा कमलं यथा ॥ ३ ॥
द्वितीयो नभसा नीतो रक्षसा विक्षताङ्गकः ।
निक्षिप्तो वाडवे वह्नौ तत्र भस्मत्वमागतः ॥ ४ ॥
तृतीयस्त्रैदशं देशं नीतो विद्याधरेण वै ।
गतोऽप्रणामकुपितशक्रशापेन भस्मताम् ॥ ५ ॥

एक सौ छब्बीस सर्ग

[मरे हुए सब विपश्चितोंका अपने अन्दर संसारभ्रमका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, इसके बाद पूर्वोक्त पूर्व आदि दिगन्तोंमें सात द्वीप, सागर, वन और पर्वतोंमें गये हुए वे विपश्चित् क्या करते रहे ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, ताड़ और तमालके वृक्षोंकी पङ्क्तियोंसे पूर्ण द्वीप पर्वत, और वनोंमें विचरनेवाले उन विपश्चितोंका वहाँ क्या हाल हुआ, उसे आप सुनिये ॥ २ ॥

उन विपश्चितोंमें से एक विपश्चित् क्रौञ्च द्वीपमें प्रसिद्ध वर्षके सीमारूप पर्वतके पश्चिम किनारेपर हाथी द्वारा पर्वततटवर्ती वप्रशिलापर गण्डस्थल तथा दाँतोंसे चूर-चूर किये जानेसे मर गया* ॥ ३ ॥

दूसरे विपश्चित्को राक्षसने युद्धमें क्षतविक्षत देहकर आकाश मार्गसे ले जाकर समुद्रवर्ती वड़वाग्निमें झोंक दिया वहाँ उसमें भस्म हो गया ॥ ४ ॥

तीसरे विपश्चित्को कोई विद्याधर इन्द्र सभामें ले गया, वहाँ प्रणाम न करनेसे

* वर माँगनेके समय सिद्धों द्वारा गम्य (गमनयोग्य) मार्ग तक हमारी मृत्यु न हो यों सीमा बाँधी थी, उसके आगेका मार्ग सिद्धों द्वारा अगम्य था, यह बात यद्यपि कहींपर कही नहीं गई है तथापि अनुमानतः ज्ञात होती है । ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये ।

चतुर्थश्चतुरं गच्छन् कुशद्वीपगिरेस्तटे ।
दुर्वारेण नदीकच्छे मकरेणाऽष्टधा कृतः ॥ ६ ॥
इति ते पञ्चतां प्राप्ता दिङ्मुखेष्वाकुलाशयाः ।
क्षये चतुर्षु चत्वारो भूपाला लोकपालवत् ॥ ७ ॥
अथ तेषां ददर्शाऽसौ व्योम्न्येव व्योमरूपिणाम् ।
संवित्प्राक्तनसंस्काराद्व्योमात्माऽवनिमण्डलम् ॥ ८ ॥
सप्तद्वीपाब्धिवलयं पुरपत्तनभूषणम् ।
सुरशैलशिरःपीठं ब्रह्मलोकशिरोमणिम् ॥ ९ ॥
चन्द्रार्कबिम्बनयनं तारामुक्ताकलापकम् ।
विलोलमेघवसनं नानावनतनूरुहम् ॥ १० ॥
देहान्विपश्चितां संविद्दर्श चतुरोऽपि सा ।
प्राग्वत्कल्पपरावृत्तौ द्यौर्दिगन्तानिवाऽऽततान् ॥ ११ ॥

क्रुद्ध हुए देवराज इन्द्रके शापसे वह भस्म बन गया ॥ ५ ॥

चौथा विपश्चित्‌के, जो कुशद्वीप पर्वतवर्ती नदीके दलदलमें सतर्कतासे चल रहा था, जबर्दस्त मगरने आठ टुकड़ेकर दिये अतएव बेचारा मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

इस प्रकार दिगन्तोंमें व्याकुलबुद्धिवाले वे चारों राजा (विपश्चित्) ऐसे ही मृत्युको प्राप्त हुए जैसे कि कल्पान्तमें चारों दिशाओंमें आकुलबुद्धिवाले लोकपाल विनाशको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

मरनेके अनन्तर आकाशरूपी उन विपश्चितोंकी संवित्‌ने आकाशात्मा बनकर पूर्वजन्मके संस्कारसे आकाशमें पृथ्वीमण्डल पूर्वजन्मकी भाँति देखा ॥ ८ ॥

जैसा भूमिमण्डल उन्होंने देखा उसीका वर्णन करते हैं—'सप्तद्वीप०' इत्यादिसे ।

सातों द्वीपोंके समुद्र ही उसके कङ्कण थे, नगर और उपनगर उसके विविध आभूषण थे, सुमेरुपर्वत उसका शिर था, सुमेरुपर्वतपर स्थित ब्रह्मलोक उसका शिरोरत्न था, चन्द्रमा और सूर्यके बिम्ब उसके दो नेत्र थे, तारे मोतियोंकी लड़ थे, चञ्चल मेघ उसके वस्त्र थे, भाँति-भाँतिके (विविध) वन उसके रोंगटे थे, प्रलयकी समाप्ति तथा सृष्टिके आरम्भमें जैसे प्रथम सर्जे गये प्रजापति विशाल दिगन्तोंको पूर्वकल्पके सदृश ही देखते हैं वैसे ही उक्त संवित्‌ने विपश्चितोंके चारों शरीरोंको पूर्ववत् देखा ॥ ९-११ ॥

आतिवाहिकसंवित्तेस्तेऽव्योम्नि व्योमतात्मकाः ।
आधिभौतिकदेहत्वभावान् ददृशुरग्रतः ॥ १२ ॥
अस्यात्मकत्वे विद्येयं कियती स्यादितीक्षितुम् ।
चत्वारोऽपि प्रवृत्तास्ते संस्कारवशतः पुरः ॥ १३ ॥
दृश्यदर्शनयोरुर्वीमण्डलानुभवाकृतेः ।
निष्ठां द्रष्टुमविद्याया भ्रेमुर्द्वीपान्तराणि ते ॥ १४ ॥
द्वीपसप्तकमुल्लङ्घ्य स महार्णवसप्तकम् ।
विपश्चित्पश्चिमः प्राप घनभूमौ जनार्दनम् ॥ १५ ॥
तस्मादनुपमं ज्ञानं समासाद्य दिगन्तरे ।
तस्मिन्नेव समाधाने सोऽतिष्ठद्वर्षपञ्चकम् ॥ १६ ॥
ततो देहं परित्यज्य चित्ते सत्तामुपागते ।
स तत्प्राण इवाऽऽकाशं परं निर्वाणमाययौ ॥ १७ ॥

चिदात्मामें ही आकाशताप्रतीतिरूप आकाशात्मकताको प्राप्त हुए उन विपश्चितोंने मानसिक प्रतिभासमात्रके विषय प्रातिभासिक देहमें आधिभौतिक देहताप्रयुक्त स्थूलता, जड़ता आदि भावोंको सामने देखा ॥ १२ ॥

इस तरह निश्चित देहके अज्ञातात्मक होनेपर यह दृश्य पृथिवी आदिरूप अविद्या कितनी बड़ी होगी यह देखनेके लिए पूर्वसंस्कारवश वे प्रस्तुत हुए ॥ १३ ॥

दृश्य और दर्शनमेंसे पृथिवीमण्डलरूप अनुभवाकार अविद्याका इतनी बड़ी है यों परिच्छेदको (परिमाणको) देखनेके लिए द्वीपद्वीपान्तरोंमें भटके ॥ १४ ॥

पश्चिम विपश्चित्को सात महासमुद्रोंके साथ सात द्वीपोंको लाँघकर भाग्योदय-वश पूर्व-वर्णित स्वर्णमय भूमिमें क्रीड़ाकर रहे भगवान् श्रीविष्णुके दर्शन हुए ॥१५॥

भगवान् श्रीविष्णुसे अनुपम ज्ञान (ब्रह्मविद्या) प्राप्तकर उसी स्वर्णभूमिमें पाँच वर्ष तक वह समाधिमें रहा ॥ १६ ॥

देहभावका परित्यागकर वीतहव्यके उपाख्यानमें वर्णित रीतिसे चित्तके सन्मात्ररूपताको प्राप्त होनेपर (असत्ता ऐसा छेद करनेपर चित्तके विलीन होनेपर यों अर्थ करना चाहिये) वह विपश्चित् वैसे ही परम निर्वाणको (कैवल्य मोक्षको) प्राप्त हुआ जैसे कि उसका प्राण आकाशताको (शून्यताको) प्राप्त हुआ । यह षोडश कलाओंका उपलक्षण है, क्योंकि 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाम्' ऐसी श्रुति है ॥१७॥

पूर्वः पर्वणि शीतांशुबिम्बपार्श्वे स्थितं वपुः ।
चिन्तयंश्चिरमुन्नष्टदेहश्चन्द्रपुरे स्थितः ॥ १८ ॥

पूर्व दिशाकी ओर चला हुआ विपश्चित् पर्वमें (पूर्णिमाके दिन) पूर्ण चन्द्रमाके बिम्बके पास अपने शरीरका चिरकालतक (जबतक उसमें चन्द्रत्वकी प्राप्ति नहीं हुई तबतक) चन्द्रमाके समान ध्यान कर पूर्वशरीरके नष्ट हो जानेसे चन्द्रलोकमें स्थित हुआ ।

शङ्का—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चारों शरीरोंमें एक ही विपश्चित्-जीव जैसे योगीका एक ही जीव कायव्यूहोंमें विभक्त होकर रहता है वैसे ही विभक्त होकर स्थित था, उसकी पश्चिमविपश्चित्-शरीरमें विष्णु भगवान्‌की प्रसन्नतासे मुक्ति होनेपर कौन दूसरा पूर्वविपश्चित् शरीरमें चन्द्रको उपासना द्वारा चन्द्रलोकको जायगा, एक ही जीवको कहीं-पर मुक्ति और कहींपर बन्धन एक ही साथ किसी प्रकार सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे मुक्तिरूप फल पाक्षिक और परिच्छिन्न हो जायगा । यह भी सम्भव नहीं है कि एक जीव यदि चार शरीर धारण करे तो उसके चार जीव हो जायेंगे अथवा अन्य जीवोंकी उत्पत्ति हो जायगी, क्योंकि प्रथम पक्षमें यानी चार विभाग माननेपर पूर्व जीव-के नाशकी आपत्ति आवेगी । दूसरे पक्षमें नये उत्पन्न हुए जीवोंको काम, कर्म, वासना आदि बीजके अभावमें संसारप्राप्ति नहीं होगी । यदि कहो कि जैसे भोगवैचित्र्यका कर्मों द्वारा या मायासे बिना किसी विरोधके निर्वाह होता है वैसे ही बन्ध-मोक्ष-वैचित्र्यका भी कर्मों द्वारा या मायासे निर्वाह हो सकता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम तो मोक्ष कर्माधीन नहीं है, दूसरे मोक्षमें सकलमायानिवृत्तिका प्रति-पादन करनेवाली श्रुतिसे विरोध आवेगा ।

ठीक है, यहाँपर भगवान् श्रीवसिष्ठजीका ऐसा आशय प्रतीत होता है कि जीव ब्रह्माकाशसे अतिरिक्त कुछ नहीं है । ब्रह्म ही अन्तःकरणरूप उपाधियोंमें माया द्वारा विभक्त होकर अन्तःकरणगत काम, कर्म और वासनाके अनुसार संसारी-सा मालूम पड़ता हुआ जीव कहा जाता है । अन्तःकरण दीपककी तरह बहुतोंको मिलानेसे एक और विशाल होता है । एक ही अन्तःकरण योग, देवता आदिके अनुग्रह आदि निमित्तसे एक ही कालमें विरुद्ध अनेक प्रदेशोंमें भोगने योग्य कर्मोंका उद्गम होनेके कारण अनेक भी हो सकता है । जब बहुतसे जीवोंका समान देश और कालमें भोगने योग्य एक समान काम, कर्म और वासनाका उदय होता है तब भोगके लिए मेलन होनेपर एकजीवत्व ही होता है जबतक विरुद्ध देशमें भोगके कारण कर्मका

उदय न हो तब तक लाघवसे भोगायतन (भोगस्थान) एक ही शरीर रहता है। जैसे युधिष्ठिर-जीव धर्म और इन्द्रके मेलसे एक जीव रहा, जैसे भीमजीव वायु और इन्द्रके मेलनसे एक जीव रहा, जैसे अर्जुन-जीव इन्द्र और नरके मेलनसे एक जीव हुआ, जैसे नकुल-सहदेवका इन्द्र और अश्विनीकुमारोंके मेलनसे एक जीव हुआ तथा जैसे द्रौपदीका नारायणी, लक्ष्मी और गौरीके अंशोंके मेलनसे एक जीव हुआ यह बात पञ्चेन्द्रोपाख्यान आदिके पर्यालोचनसे प्रसिद्ध है। अथवा जैसे अग्नि और वायुका इन्द्रके शापवश अगस्त्यावतारमें मेलनसे एक जीव हुआ इत्यादि और भी अनेक घटनाएँ हैं।

एक जीवकी, अनेक उपाधियोंमें विभाग होनेसे, अनेकजीवता भी सम्भव है। कश्यपसे अपने गर्भमें इन्द्रविनाशक पुत्रको पाकर अपवित्रताके साथ सोई हुई दितिके एकजीववाले एकशरीरके गर्भके पहले सात टुकड़े करनेपर सात जीव हुए तदुपरान्त एक-एक टुकड़ेके सात-सात खण्ड करनेपर उत्पन्न हुए उनचास मारुतोंके उनचास जीव हो गये। बरगद, ईख, दूब आदिके काण्ड, शाखा और टहनियोंमेंसे प्रतिशाखा और प्रतिकाण्ड पनप उठते हैं, इससे ज्ञात होता है कि एक जीवका नाना जीवरूपसे औपाधिक विभाग खूब प्रसिद्ध है ही। इस प्रकार प्रकृतमें भी चार जीवोंके जबतक समान (एकसे) काम, कर्म और वासना आदि रहे तबतक उन्होंने एक देहसे राज्यका पालन किया जब विरुद्ध भिन्न देशमें भोगने योग्य काम, कर्म आदिका उद्भव हुआ तब उनका देह आदिके विभागपूर्वक भिन्न-भिन्न दिगन्तोंमें भ्रमण हुआ ऐसी कल्पना करनेमें अथवा एक ही विपश्चिन्‌जीवके उपाधिविभागसे उनचास मरुतोंकी भाँति चार जीव हुए ऐसी कल्पनामें भी एककी मुक्ति होनेपर सबोंकी मुक्तिका प्रसङ्ग नहीं होगा।

यदि कोई कहे कि बहुतसे जीवोंके मेलनसे एक जीवका आरम्भ होनेपर उस नवीन जीवको कर्मोंके अभावमें संसारप्राप्ति न होगी यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आरम्भवादसे नवीन जीवकी उत्पत्ति नहीं मानी जाता है। गङ्गा और यमुनाके जल-को मिलानेसे दोनोंके एक होनेपर नूतन गङ्गाकी बुद्धि न होनेसे वही यह गङ्गा है ऐसी प्रत्यभिज्ञामें कोई बाधा नहीं आती। इसी प्रकार एक जीवके चार जीव बन जानेपर प्रत्यभिज्ञासे दो उपाधियोंके मिलकर एक हो जानेपर उपहितोंका भी मिलकर एक हो जाना सकलप्रतीति सिद्ध है। एक होनेसे भी प्राक्तन कर्मभोग हो सकता है।

इस प्रकार एक जीवके चार जीव बन जानेपर प्रत्यभिज्ञासे चारोंका प्राक्तन जीवके साथ अभेद होनेसे उसके काम, कर्म और वासनाओंका चार प्रकारसे विभागसे

व्यवस्था होनेके कारण उनके संसारकी उपपत्ति तथा एककी मुक्ति होनेपर भी दूसरेको ज्ञान न होनेसे संसार-प्राप्ति होती है। इस प्रकार मुक्तिरूप फल वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न न ठहरेगा। जैसे व्यष्टि जीवोंकी मुक्ति होनेपर भी समष्टि हिरण्यगर्भरूप जीवकी अधिकारकी समाप्तिमें मुक्ति होती है वैसे ही यहाँपरभी व्यवस्था उपपन्न है। समष्टि जीवरूप हिरण्यगर्भका तत्त्वज्ञान व्यष्टि जीवोंकी मुक्ति न होनेपर वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न मोक्षरूप फलवाला नहीं माना जाता है। जहाँपर व्यष्टि और समष्टिके अभेदके रहते भी मुक्तिसङ्कर नहीं है वहाँपर बर्तमान जीवभेद होनेपर केवल प्राचीन जीवके अभेदमात्रसे मुक्तिसंकरकी आपत्तिका अवसर ही कहाँ है। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (स्वात्मज्ञानप्राप्तिकालमें सुख, दुःख मोहरूप सकल प्रपञ्चरूप मायाकी निवृत्ति हो जाती है) यह श्रुति भी तत्-तत् जीवोंकी उपाधिभूत सकल बीजोंकी निवृत्तिका प्रतिपादन करती है। अन्यथा एककी मुक्तिसे ज्ञानविहीन सकल जीवोंकी मुक्तिका प्रसङ्ग प्राप्त होगा और 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (देवताओंमें जो जो आत्मज्ञानी हुआ वह ब्रह्म (मुक्त) हुआ, ऋषियोंमें जो जो प्रबुद्ध हुआ वह मुक्त हुआ और मनुष्योंमें जो जो आत्मज्ञानी हुआ वह मुक्त हुआ), 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (बहुतसे लोग ज्ञानरूपी तपस्यासे पवित्र होकर मत्स्वरूपताको प्राप्त हुए हैं) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायँगी। यदि कोई कहे कि तब तो आधुनिक मन्द अधिकारी भावी अनेक जन्मोंसे प्राप्त होनेवाले मोक्षकी आशासे साधनोंका अनुष्ठान नहीं करेगा, क्योंकि उसे यह आशङ्का रहेगी कि मुझ एक जीवके अनेक जीव होनेसे कहींपर मोक्ष होनेपर भी कहींपर बन्धनानुवृत्तिकी निवृत्ति न होगी ऐसी स्थितिमें अनिर्मोक्ष शङ्काकी निवृत्ति न होगी। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षसाधनके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति होती है, 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (इस धर्मका थोड़ा भी अंश महान् भयसे रक्षा करता है), 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति', 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (अनेक जन्मोंमें सिद्धिको प्राप्त होकर तब परम गतिको (मुक्तिको) प्राप्त होता है) इस स्मृतिरूप प्रमाणके अनुरोधसे आनेवाले जन्मोंमें नाना जीव रूपसे अविभागका, अथवा विभाग होनेपरभी साधन संस्कारोंके साथ ही विभागसे सर्वत्र क्रमशः अवश्यमेव ज्ञानोदयका अनुमान होनेसे साधनोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति होती है। उसी प्रकार भिक्षुजीवटोपाख्यानके साधनानुष्ठानवाले भिक्षुके प्रामादवश हुए सङ्कल्पोंसे प्राप्त नाना जीवताके अन्तमें शांतरुद्रभाव होनेपर उसके विभागरूप सब जीवोंकी ज्ञानप्राप्ति और मुक्तिका वर्णन है। यदि कोई कहे इस प्रकार सर्वजीवोंकी

दक्षिणः शाल्मलिद्वीपे राजन्नुत्सन्नशात्रवः ।
करोत्यद्याऽपि न सतो विस्मृतान्यविनिश्चयः ॥ १९ ॥
उत्तरस्तरलास्फालकल्लोले सप्तमाम्बुधौ ।
सहस्रमेकं वर्षाणामुवास मकरोदरे ॥ २० ॥
मकरोदरमांसाशी मृते मकरनायके ।
मकरोदरतोऽब्धेश्च निर्गतो मकरो यथा ॥ २१ ॥
ततोऽशीतिसहस्राणि योजनानां घनावनिम् ।
हिमकल्पजलाम्भोधेरुल्लङ्घ्य सुघनोदरीम् ॥ २२ ॥

मुक्तिकी अनापत्ति हो जायगी, यह इष्टापत्ति ही है; क्योंकि मायादृष्टिसे मायाकी अनन्तताकी 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।' इत्यादि स्मृतियोंसे सिद्ध है । तत्त्वदृष्टिसे तो जीव ही नहीं है, ऐसी अवस्थामें किसकी मुक्तिकी अनापत्ति होगी । यदि कहो कि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुतिसे विरोध आवेगा सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस श्रुतिकी केवल एक व्यक्तिकी आर्तिसे भी उपपत्ति हो जायगी । प्रवाहकी अनन्ततामें भी कोई विरोध नहीं आवेगा चरम व्यक्तिका नाश ही प्रवाहनाश है । सर्व जीव रूप संसारका चरम व्यक्ति ही प्रसिद्ध नहीं है, उसके नाशकी प्रसिद्धि कहाँसे होगी । प्रस्तुतमें एक ही पश्चिम विपश्चित्को भगवान्की भक्तिके परिपाकसे उत्पन्न हुए भगवान्के प्रसादसे ज्ञानप्राप्ति हुई औरोंको नहीं हुई, इस कारण केवल उसीकी मुक्ति हुई । इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है ॥ १८ ॥

तदुपरान्त दक्षिण विपश्चित्ने क्या किया ? इस संशयके उत्तरमें कहते हैं—'दक्षिणः' इत्यादिसे ।

राजन्, दक्षिण दिशाको प्रस्थित विपश्चित् अपने शत्रुओंको मटियामेटकर आज भी शाल्मली द्वीपमें राज्य करता है, कारण कि परमार्थ सत् वस्तुके लाभसे बाह्य पदार्थोंका निश्चय उसे विस्मृत नहीं हुआ । उत्तरकी ओर प्रस्थित विपश्चित्ने चञ्चल तथा आकाशकी ओर उछलनेवाली कल्लोलोंसे पूर्ण स्वादूदक सागरमें एक हजार वर्ष तक मगरके पेटमें निवास किया । मगरके पेटके मांससे अपनी गुजर करनेवाला वह मगरके मरनेके बाद सागरसे और मगरके पेटसे मगरके समान बाहर निकला ॥१९–२१॥

तदनन्तर हिमके समान स्वच्छ जलवाले स्वादूदक सागरके अवशिष्ट अस्सी हजार योजन पारकर विशाल उदरवाली दस हजार योजनकी सुवर्णमय महाभूमिमें

प्राप्तो दशसहस्राणि योजनानां महामहीम् ।
सौवर्णीं सुरसंचारसरणिं मृतवानसौ ॥ २३ ॥
तस्यां भूमौ च मध्ये च विपश्चिन्नाकितामगात् ।
उत्तमामग्निमध्यस्थं क्षणात्काष्ठमिवाऽग्निताम् ॥ २४ ॥
प्रधानदेवो भूत्वाऽसौ लोकालोकगिरिं गतः ।
अस्य भूमण्डलतरोरालवालमिव स्थितम् ॥ २५ ॥
स पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां समुन्नतः ।
आलोकलोकाचाराढ्यो भाग एकोऽस्य नेतरः ॥ २६ ॥
लोकालोकशिरः प्राप्तं तारकामार्गसंस्थितम् ।
अधःस्थिता अपश्यंस्तमुच्चनक्षत्रशङ्कया ॥ २७ ॥
तस्मात्प्रदेशात्तत्पारे तमस्तस्य महागिरेः ।
चतुर्दिकं महाखातं नभः शून्यमनन्तकम् ॥ २८ ॥

जहाँ देवता लोग विहार करते हैं, प्राप्त हुआ वहींपर उसकी मृत्यु हो गई ॥ २२,२३ ॥

उस भूमिके बीचमें मरकर वह विपश्चित् वैसे ही देवत्वको प्राप्त हुआ जैसे कि अग्निके मध्यमें पड़ा हुआ काठ क्षण भरमें अग्निताको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

उक्त विपश्चित् देवश्रेष्ठ बनकर पूर्वजन्मकी दिगन्तभ्रमणकी वासनासे वहाँसे लोकालोक पर्वतको, जो इस भूमण्डलरूपी वृक्षका* आलबाल-सा (थाला-सा) है, गया ॥ २५ ॥

उक्त लोकालोक पर्वत पचास हजार योजन ऊँचा है, इसका एक हिस्सा सूर्यके प्रकाशसे लोगोंके व्यवहारसे परिपूर्ण रहता है और दूसरा हिस्सा लोकव्यवहारसे शून्य रहता है ॥ २६ ॥

लोकालोक पर्वतपर चढ़कर उसकी चोटीपर पहुँचे हुए तारोंके लोकमें स्थित उस देवभूत विपश्चित्को नीचेके लोगोंने ऊँचे नक्षत्रकी आशङ्कासे देखा ॥ २७ ॥

उस जगहसे वह लोकालोक महापर्वतके दूसरे भागमें, जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है चारों ओर परिखाकार बड़ा भारी गड्ढा है जो आकाशके समान सब प्राणियोंसे शून्य तथा अनेक योजन विस्तृत है, गया ॥ २८ ॥

---

* सुमेरु पर्वतके शिखरों तक ऊँचा होनेके कारण भूमण्डल वृक्षरूप कहा गया है ।

ततो भूगोलकोऽयं हि समाप्तो वर्त्तुलाकृतिः ।
नभः शून्यं महाखातं ततस्तिमिरपूरितम् ॥ २९ ॥
तत्राऽलिकज्जलतमालनभोन्तराल-
नीलं तमो न च मही न च जंगमादि ।
नाऽलम्बनं न च मनागपि वस्तुजातं
किंचित्कदाचिदपि संभवतीति विद्धि ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिज्जन्मान्तराचरणं नाम षड्विंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

उसके बाद यह कन्दुकाकार भूगोल समाप्त हो गया। उसके बाद अन्धकारसे परिपूर्ण महापरिखाकार प्राणियोंसे शून्य आकाश है ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस परिखामें भँवरेके समान, काजलके समान और तमालके समान आकाशके बीचमें अन्धकार ही अन्धकार है। न पृथिवी है, न स्थावर-जंगम प्राणी हैं और न आश्रय है। और न कभी किसी भी वस्तुका सम्भव ही है, ऐसा आप समझिए ॥ ३० ॥

एक सौ छब्बीस सर्ग समाप्त

सप्तविंशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् कथयैतन्मे कथं भूगोलकं स्थितम् ।
कथमृक्षगणो याति लोकालोकः कथं गिरिः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथा संकल्परचिता शिशोर्व्योमनि तिष्ठति ।
वीटा चिन्मात्रबालेन कल्पिता भूस्तथाऽम्बरे ॥ २ ॥
यथा तिमिरकाक्षाणां केशचन्द्रादिदर्शनम् ।
चिदाकाशस्य सर्गादौ तथा पृथ्व्यादिदर्शनम् ॥ ३ ॥
यथा संकल्पनगरं धार्यमाणं न दृश्यते ।
धार्यतेऽधार्यते मा च तथोर्व्यनुभवश्रितेः ॥ ४ ॥

एक सौ सत्ताईस सर्ग

[भूमि, नक्षत्रमण्डल आदिकी स्थिति उसके पश्चात् आकाश तदनन्तर ब्रह्माण्डके दो खप्परोंका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यह निराधार भूगोल कैसे स्थित है, नक्षत्र-मण्डल, जिसका कोई अधार नहीं है, कैसे भ्रमण करता है तथा आपने जिस लोका-लोक पर्वतका वर्णन किया वह कैसा है यानी उसकी उक्त संज्ञाका क्या कारण है ॥१॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, जैसे बालकके संकल्पसे परिकल्पित कन्दुक आकाशमें रहता है वैसे ही हिरण्यगर्भरूपी बालक द्वारा परिकल्पित भूमि भी आकाशमें टिकती है गिरती नहीं है ॥ २ ॥

अथवा मिथ्या होनेसे ही उसके पतनकी शङ्का नहीं है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे तिमिर रोगसे पीड़ित नेत्रवाले रोगीको आकाशमें केशचन्द्र आदिका (केशोंके गोलोंका-सा) दर्शन होता है वैसे ही चिदाकाशको सृष्टिके आदिमें पृथिवी आदिका दर्शन होता है ॥ ३ ॥

जैसे संकल्पनगर किसी आधारसे धार्यमाण नहीं दिखाई देता। यद्यपि संकल्प नगर काल्पनिक स्तम्भ, भीत आदिके आधारमें रहता है तथापि काल्पनिक स्तम्भ आदिके अवास्तविक होनेसे उनसे धृत नहीं है, वही दशा पृथिवी आदिकी भी है ॥ ४ ॥

यद्यथा यावदाभाति चिति चित्त्वात्स्वभावतः ।
तत्तथा तावदाभाति तत्र तत्र तदात्मकम् ॥ ५ ॥
तिमिराक्रान्तनेत्रस्य केशोण्ड्रकमिवाऽम्बरे ।
चिन्मात्रस्य महीगोलो यो भातः स तथा स्थितः ॥ ६ ॥
ऊर्ध्वं वहन्त्यः सरितस्तदधस्ताद्धुताशनः ।
चिति चेत्स्वप्नवद्भानि तत्तथा तत्स्थितं भवेत् ॥ ७ ॥
तस्मात्पतन्ती भूर्भाता पतत्येवाऽनिशं जगत् ।
उत्पतन्ती तु चिद्भाता तथा नानात्मिका भवेत् ॥ ८ ॥

अथवा सब वस्तुओंके स्वभावकी सिद्धि चित्के अधीन है किसीसे धारण न की गई गोल आकारवाली भूमिका, जो चित्से सिद्ध है, वैसे ही स्वभावका अनुमान करना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'**यद्यथा**' इत्यादिसे ।

चित् होनेसे स्वभावतः चित्में जिस वस्तुका जिस प्रकारसे जबतक भान होता है सर्वत्र उस वस्तुका उस प्रकारका स्वभाव उतने समय तक प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

'केशचन्द्र आदिका दर्शन' यहाँपर केशदर्शनका स्पष्टीकरण करते हैं—'**तिमिरा०**' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषके नेत्रोंमें तिमिर रोग होता है उसे जिस प्रकार आकाशमें केशोंका वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है वैसे ही चिन्मात्रको जो भूगोलकी (पृथ्वीरूपी गेंदकी) प्रतीति हुई वह भ्रान्तिरूपसे ही स्थित है ॥ ६ ॥

नदी आदिका नीचेकी ओर बहना आदि स्वभावसे विपरीत स्वभावका भी यदि कहीं चित् द्वारा अवभास होता तो उसके भी अस्तित्वकी ही प्रतीति होती असत्त्वकी प्रतीति नहीं होती जैसे कि स्वप्नमें जाग्रत्से विपरीत स्वभावकी प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं—'**ऊर्ध्वम्**' इत्यादिसे ।

यदि सृष्टिके आदिमें चित्में ऊपरको प्रवाहित होनेवाली नदियोंकी तथा नीचेकी ओर ज्वालावाले अग्निकी प्रतीति होती जैसे कि स्वप्नमें प्रतीति होती है तो वह विपरीत प्रतीति आज भी वैसे ही स्थित रहती ॥ ७ ॥

इसी कारण तत्-तत् वादियोंकी भूमिका निरन्तर नीचे गिरना, ऊपर जाना, घूमना, तैरना आदि कल्पनाएँ भी तत्-तत् वादियोंकी बुद्धिमें अवच्छिन्न चित्सत्तासे सत्य ही हैं, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

कोई वादी मानते हैं पृथ्वी गुरु होनेसे निरन्तर महाकाशमें गिरती है ।

स्तब्धभाता स्थिता स्तब्धा सालोका तु प्रकाशिनी।
निरालोका निरालोकलोकानामात्मनि स्थिता ॥ ९ ॥

आकाशके अधःप्रदेशकी अवधि न होनेसे इसका गिरना कहींपर भी नहीं रुकता, बहुत बड़ी होनेसे उसका पतन हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता है। ज्योतिश्चक्र (ज्योतिर्मण्डल), जो दोनों ओरसे मेरुपर्वतपर जुड़े हुए दक्षिण और उत्तर ध्रुवमें बँधा है, पृथ्वीके साथ ही गिरता है। वह अत्यन्त हलका होनेके कारण गिरनेसे ही अनादिकालसे घूमता है। कोई लोग यह मानते हैं कि 'योऽप्सु नावं प्रतिष्ठितां वेद प्रत्येव तिष्ठति' इस श्रुतिके अनुसार भूमिका आधार सागर है यानी भूमि सागरपर आधारित है। उसमें कहींपर न बँधी हुई भूमि नावकी नाईं घूमती रहती है और प्रलयकालमें सागरमें डूब जाती है एवं सृष्टिके समय जलमें फेंकी हुई तुम्बीकी तरह ऊपर आ जाती है। दूसरे लोग यह मानते हैं कि भूमिके ऊपर, नीचे और अगल-बगल अगाध जल ही जल है। उसके अन्दर छिद्रोंमें भूमिके सात लोक हैं, जिनका कि मध्यभाग वायुसे पूर्ण है। उनके मध्यभागमें स्थित वायुके अतीव हलका होनेके कारण जलमग्न तुम्बीके समान सातों लोक सदा ऊपरकी ओर जाते हैं। और लोग मानते हैं कि भूगोलके चारों ओर आकाश ही आकाश है। उसके असीम और गुरु होनेके कारण मेरुपर्वतपर स्थित देवताओंकी दृष्टिसे दक्षिण भाग ही अधोभाग है, अतः दक्षिणसे ही वह सदा गिरता है। दूसरे असुरपक्षीय वादी पातालदेशको ही ऊर्ध्वप्रदेश मानते हैं। देवता जिसे ऊर्ध्वदिशा मानते हैं, उसको वे अपनी कपोल-कल्पनासे अधोभाग मानकर गुरुतर भूमिका उत्तरसे ही गिरना निश्चित करते हैं। इसी रीतिसे पूर्व और पश्चिम दिशाओंके निवासी भी अपने-अपने देशको ऊर्ध्वदिशा मानकर पूर्व और पश्चिमसे भूमिके गिरनेकी कल्पना करते हैं। कोई वादी कहते हैं ज्योतिर्मण्डल (सौरपरिवार) नहीं घूमता, किन्तु पृथिवी ही अपनी जगहपर घूमती है। भूमिका चलना हम लोग नहीं देख पाते। जैसे नावमें सवार हुए लोग पेड़ोंका चलना देखते हैं वैसे ही हम ज्योतिर्मण्डलका घूमना देखते हैं। अन्य लोग कहते हैं भूमि ही सबकी अपेक्षा नीची है। उसके चारों ओर स्थित लोगोंकी दृष्टिसे उनके शिरःप्रदेशसे उपलक्षित सकल दिशाएँ ऊर्ध्व दिशाएँ हैं। उन दिशाओं में गुरुतावश जिस दिशामें पृथिवीके पतनकी संभावना की जाय वह दिशा ही निश्चित नहीं है, विनिगमक कोई न होनेसे पृथ्वी कहींपर भी नहीं गिरती है, अपनी जगहपर ही निश्चल रहती है। पूर्वोक्त सभी वादियोंकी स्वबुद्धिमें अवच्छिन्न चित्‌की सत्तासे सब कुछ सत्य है। वास्तविक में कुछ भी सत्य नहीं हैं, यह अभिप्राय है ॥८॥

यदि पृथ्वीका बुद्ध्यवच्छिन्न चैतन्यमें यह निश्चल है, यों भान हो तो वह

चिद्भानैकानुसारेण ताराचक्रं तथा मही ।
असदेव सदैवेदं भातीदमविखण्डितम् ॥ १० ॥
आलोकालोकमेवाऽथ नभःखातं ततो महत् ।
तम एकार्णवाकारं स्थितं तत्र क्वचित्क्वचित् ॥ ११ ॥
दूरत्वादृक्षचक्रस्य करालत्वान्महागिरेः ।
क्वचित्तमः क्वचित्तेजस्तत्रैवाऽचत्वरेऽपि च ॥ १२ ॥
लोकालोकगिरेः पारे स्थितादाकाशमण्डलात् ।
दशदिक्कं सुदूरेण ऋक्षचक्रं विवर्तते ॥ १३ ॥

निश्चल ही प्रतीत होगी । जो प्राणी रात-दिन अप्रतिहत नेत्र हैं, उनकी दृष्टिमें यह सदा प्रकाशवाली है तथा जात्यन्ध (जन्मान्ध) लोगोंकी दृष्टिमें सदा ही प्रकाशशून्य है ॥९॥

इसी प्रकार सत्वादी तथा असत्वादियोंका चिद्भानके अनुसार सौरपरिवार तथा महीमण्डल वैसा ही (सत् अथवा असत्) है, ऐसा कहते हैं—'**चिद्भान०**' इत्यादिसे ।

केवल चिद्भानके अनुसार यह साराका सारा नक्षत्र-मण्डल तथा पृथिवी असत् ही अथवा सत् ही प्रतीत होती है ॥ १० ॥

दो प्रश्नोंका उत्तर हो चुकनेपर तृतीय प्रश्नका उत्तर देते हैं—'**आलोकालोकम्**' इत्यादिसे ।

यह पृथिवी लोकालोक पर्वत तक व्याप्त है । बस इतना ही इसका परिमाण है। उसके अनन्तर वलयाकार (गोल) गड्ढा है और उसमें एकमात्र समुद्राकार महान् अन्धकार स्थित है । कहीं-कहीं पर (लोकालोक पर्वतके दो शिखरोंके मध्यमें) थोड़ा-बहुत धूपका भी प्रवेश है ॥ ११ ॥

उस पर्वतका लोकालोक नाम पड़नेमें निमित्त कहते हैं—'**दूरत्वात्**' इत्यादिसे ।

परिखाके चारों ओर रहनेवाले नक्षत्रमण्डलके अतिदूरवर्ती होने तथा पर्वतके (लोकालोक गिरिके) विशालकाय होनेके कारण उसीमें अधित्यका (ऊर्ध्वभूमि) पर्यन्त किसी भागमें अन्धकार रहता है और किसी भागमें प्रकाश रहता है, इसलिए वह लोकालोक (लोक+अलोक) है ॥ १२ ॥

लोकालोक पर्वतके परले पार स्थित आकाशमण्डलसे अतिदूर चारों ओर नक्षत्रमण्डल परिभ्रमण करता है ॥ १३ ॥

आपातालदिवो नद्धमृक्षचक्रं तदम्बरे ।
दशदिक्कं प्रसरति पतदूर्ध्वाहतेऽभितः ॥ १४ ॥
भूलोकमेव पातालयुतं नक्षत्रमण्डलम् ।
पर्येति लोकालोकान्ते नाऽन्यचित्कल्पनाच्च तत् ॥ १५ ॥
सलोकालोकभूलोकद्विगुणात् खादनन्तरम् ।
पक्काक्षोटस्य भिस्सेव स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ॥ १६ ॥
द्विगुणा नभसस्तस्माहक्षचक्रस्य पुष्टता ।
दशदिक्कं विसरतो बिल्वत्वक्सदृशास्थितेः ॥ १७ ॥
संविद्धनस्य कचनं यादृशं कल्पनात्मकम् ।
यदित्थं संनिवेशेन नन्वियं जागती स्थितिः ॥ १८ ॥
नक्षत्रचक्राद् द्विगुणं ततोऽन्यद्विद्यते नभः ।
तच्च क्वचित्प्रकाशाढ्यं क्वचित्सान्द्रतमोमयम् ॥ १९ ॥

नक्षत्रमण्डल नीचे और ऊपर कहाँतक विस्तृत है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—**'आपातालदिवः'** इत्यादिसे।

पातालसे लेकर द्युलोक तक विस्तृत वह नक्षत्रमण्डल आकाशमें बँधा है। सबसे ऊँचे स्थित ध्रुवको छोड़कर और सारा नक्षत्रमण्डल चारों ओर भ्रमण करता हुआ दशों दिशाओंमें संचार करता है ॥ १४ ॥

यह नक्षत्रमण्डल लोकालोक पर्वतके शिखरपर पाताल सहित सारी पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करता है और वह चित्की कल्पनासे अतिरिक्त नहीं है ॥ १५ ॥

लोकालोक पर्वत सहित भूलोकसे दुगुने आकाशमण्डलके अनन्तर पके हुए अखरोटके कड़े छिलकेके समान नक्षत्रमण्डल स्थित है ॥ १६ ॥

भूलोकसे दुगुने आकाशसे नक्षत्रमण्डलका अन्तर्दलविस्तार दुगुना है। दशों दिशाओंमें घूमनेवाले नक्षत्रमण्डलकी स्थिति बेलके छिलकेके समान है ॥ १७ ॥

शबल ब्रह्मका सत्य सङ्कल्पात्मक जिस प्रकारका कचन है, वही इस प्रकारके संनिवेशसे यानी ब्रह्माण्ड और उसके अवयवरूपसे जगत्की स्थिति है ॥ १८ ॥

उसके बाद नक्षत्रमण्डलसे दुगुना पूर्वोक्त आकाशसे दूसरा आकाश है और वह कहींपर प्रकाशसे जगमगाता है और कहींपर गाढ़ अन्धकारसे व्याप्त है ॥ १९ ॥

पर्यन्ते तस्य नभसः स्थितं ब्रह्माण्डखर्परम् ।
एकमूर्ध्वं परमधो गगनं मध्यमेतयोः ॥ २० ॥
योजनानां कोटिशतं पुष्टं वज्रदृढं च तत् ।
स्थितं संवेदनमयं व्योम्नि व्योममयात्मकम् ॥ २१ ॥
सर्वदिक्कं महागोले नभसि स्वर्कतारकम् ।
किमत्रोर्ध्वमधः किं स्यात्सर्वमूर्ध्वमधश्च वा ॥ २२ ॥
पतनमुत्पतनं गमनं स्थितं
चित इति स्फुरितं न तु वस्तु तत् ।
पतनमस्ति न चोत्पतनं न वा
गमनमागमनं स्थितमित्यपि ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० विप० भूगोलकनिर्णयो नाम सप्तविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

उस आकाशके आखिरी छोरपर ब्रह्माण्डकपाल है । उनमें एक कपाल ऊपर है और एक नीचे है । इन दोनोंके बीचमें आकाश है ॥ २० ॥

एक अरब योजन विस्तीर्ण वज्रके समान कड़ा और मजबूत कल्पनामात्र-स्वरूप परमार्थरूपमें आकाशका विकार पञ्चीकृत भूतकार्यरूप आकाश चिदाकाश ही है, उससे पृथक् नहीं है, वह आकाशमें स्थित है ॥ २१ ॥

महागोलाकार आकाशमें ज्योतिर्मण्डल सभी ओर व्याप्त रहता है । ऐसी परिस्थितिमें इस ज्योतिश्चक्रमें क्या ऊपर है, क्या नीचे है, क्या पूर्व है, क्या पश्चिम है ? यदि है तो सभी ऊपर है, सभी नीचे है और सभी पूर्व तथा पश्चिम है ॥ २२ ॥

सब वस्तुओंका गिरना, उड़ना, तिरछे चलना तथा एक जगह खड़ा रहना जो प्रतीत होता है वह सब प्रत्यगात्माका अवभासन ही है, वह वास्तविक नहीं है यानी वस्तुतः वस्तुओंका न गिरना है, न उड़ना है, न गमन है, न आगमन है, न स्थिति है कुछ भी नहीं है, पतनादि होनेमें अद्वैतविरोध होगा, यह भाव है ॥ २३ ॥

एक सौ सत्ताईस सर्ग समाप्त

अष्टविंशाधिकशततमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्मदादेर्जनस्यैतत्प्रत्यक्षं नाऽऽनुमानिकम् ।
शुद्धबोधशरीरेण नाऽऽधिभौतिकरूपिणा ॥ १ ॥
एतदस्मज्जगत्स्वप्ने नाऽन्येषु कथितं मया ।
अन्येष्वस्ति जगत्स्वप्नेष्वेवमन्याऽपि च स्थितिः ॥ २ ॥
जगत्स्वप्नेषु चाऽन्येषु संस्थानकथनेन किम् ।
नह्योपयोगिकादन्या कथा भवति धीमताम् ॥ ३ ॥
सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणे ।
येषामित्यनुमाऽशेषभूतौघे तेन पण्डिताः ॥ ४ ॥

एक सौ अट्ठाईस सर्ग

[अन्धकारपूर्ण गड्ढे को तथा ब्रह्माण्डके आवरणोंको पारकर विपश्चितोंका अविद्यामें भ्रमणका वर्णन]

यदि श्री रामजीकी ओरसे यह आशङ्का हो कि ज्योतिश्चक्र तथा उसके विस्तार आदिका परिज्ञान आपको किस प्रमाणसे हुआ तो इसपर कहते हैं—'अस्मदादे०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, हमारे सदृश योगी जनोंको योगज्ञानाभ्याससे शोधित जो शुद्ध तत्त्वबोध यानी सर्वजगत्तत्त्वसाक्षात्कार है, तद्रूप आतिवाहिक शरीरसे इस सबका प्रत्यक्ष होता है । आधिभौतिक स्थूलरूपसे प्रत्यक्ष या अनुमान नहीं होता है ॥ १ ॥

यह जो मैंने लोका-लोक, ज्योतिश्चक्र आदिका अवयवसंगठन आपसे कहा, वह स्वयं दृष्ट जगत्स्वप्नमें प्रसिद्ध है अन्य लोगों द्वारा दृष्ट जगत्स्वप्नोंमें प्रसिद्ध मैंने नहीं कहा । अन्यान्य ब्रह्माण्डान्तरोंके जगत्स्वप्नोंमें भी ऐसी ही स्वभावतः स्थिति (अवयवसंघटना) है और कहींपर इससे विलक्षण भी है ॥ २ ॥

यदि श्रीरामजी कहें कि यदि अन्यान्य ब्रह्माण्डोंका स्वरूपगठन विलक्षण है, तो उसे भी कहनेकी कृपा कीजिये, इसपर कहते हैं—'जगत्०' इत्यादिसे ।

अन्यान्य जगत्स्वप्नोंके अवयवसंगठनके वर्णनसे यहाँ क्या प्रयोजन है ? बुद्धिमान् पुरुषोंको उपयोगी बातोंके सिवा और बातें नहीं रुचतीं ॥ ३ ॥

हे पण्डित लोगो, उस उत्सर्गसे सब ब्रह्माण्डोंके मध्यमें सब द्वीप और सागरोंकी उत्तर दिशामें मेरु पर्वत है, लोकालोक पर्वत दक्षिण दिशामें है इस प्रकार समस्त भूतसमूहके विषयमें जिनकी जिज्ञासा है, उनका अनुमान हो ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षमेतदन्येषां यत्र तेऽन्ये जगद्भ्रमाः ।
नाऽस्माकं विषये ते हि तथा संस्थानशोभिनः ॥ ५ ॥
सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणे ।
सप्तद्वीपनिवासानां नाऽन्येषामिति निश्चयः ॥ ६ ॥
प्रकृतं शृणु हे राम तद्ब्रह्माण्डकवाटकम् ।
यत्प्रमाणं ततो वारि बाह्ये दशगुणं स्थितम् ॥ ७ ॥
तद्ब्रह्माण्डकवाटं तु तृणं तृणमणिर्यथा ।
धत्ते वारि स्वभावेन नित्यं कल्पकरत्नवत् ॥ ८ ॥
सर्वेषामेव भावानां स्थितः कल्पकरत्नवत् ।
सर्वदा पार्थिवो भागस्तेनाऽत्रैते पतन्त्यलम् ॥ ९ ॥

जो अवान्तर विशेष हैं, उनका वहांके रहनेवाले लोग ही प्रत्यक्ष करते हैं यहाँके रहनेवालोंको उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'प्रत्यक्षम्' इत्यादिसे।

वहांपर जो और और जगद्भ्रम हैं, उनका वहाँके निवासियोंको प्रत्यक्ष होता है। उस तरहकी अपनी अवयवरचनासे शोभित होनेवाले वे हम लोगोंके प्रत्यक्षके विषय नहीं हैं ॥ ५ ॥

सब द्वीप और सागरोंके उत्तरमें मेरु पर्वत है और दक्षिणमें लोकालोक पर्वत है, ऐसा निश्चय सात द्वीपोंमें रहनेवालोंका ही है, ब्रह्माण्डसे बाहर रहनेवालोंका ऐसा निश्चय नहीं है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अब आप प्रस्तुत विषयको सुनिये। ब्रह्माण्डके दो खप्पर-जिनका कि विस्तार पूर्वोक्त एक अरब योजन है, उनसे बाहर दसगुना जल (जलावरण) स्थित है ॥ ७ ॥

वे ब्रह्माण्डके खप्पर ही पार्थिवभाग होनेसे अपनी आकर्षणशक्तिसे जलको ऐसे ही नित्य धारण करते हैं जैसे कि तृणचुम्बकमणि अपनी आकर्षणशक्तिके स्वभावसे तृणोंको धारण करती है अथवा जैसे कल्पवृक्ष अर्थियोंसे वाञ्छित रत्नोंको धारण करता है ॥ ८ ॥

तब तो मेघोंसे गिरे हुए जलबिन्दु, ओले आदि समुद्र, नदी आदिमें नहीं गिरेंगे, कारण कि जलमें आकर्षणशक्तिका अभाव है, किन्तु दूरसे भी तीरभूमिमें आकर वहीं गिरेंगे, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'सर्वेषामेव' इत्यादिसे।

जैसे कल्पवृक्ष रत्नोंका आधार है, वैसे ही सदा सभी पदार्थोंका आश्रय पार्थिव

जलाद्दशगुणं बाह्ये स्थितं तेजो निरिन्धनम् ।
आकाशविशदं शान्तस्वच्छज्वालोदरोपमम् ॥ १० ॥
तस्माद्दशगुणो बाह्ये संस्थितो वायुरायतः ।
वायोर्दशगुणं बाह्ये व्योम तिष्ठति निर्मलम् ॥ ११ ॥
ततः परतरं शान्तं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ।
न प्रकाशं न च तमो महाचिद्घनमव्ययम् ॥ १२ ॥
अनादिमध्यपर्यन्ते तस्मिन् ब्रह्ममहाम्बरे ।
महाचिन्नाम्नि सर्वात्मन्ययोनिर्वाणरूपिणि ॥ १३ ॥
ब्रह्माण्डानां तादृशानां दूरे दूरे पुनः पुनः ।
मिथो लक्षाणि लक्षाणि कचन्त्युपरमन्ति च ॥ १४ ॥
न किञ्चित्कचयत्यत्र समे कचनरूपिणि ।
तादृङ्मयं तथारूपं तदात्मन्येव संस्थितम् ॥ १५ ॥

भाग ही है, इसलिए ये जलवृष्टि आदि पृथिवीपर प्रचुरमात्रामें गिरते हैं ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त ब्रह्माण्डके आवरणभूत जलसे बाहर जलसे दसगुना आकाशके समान देदीप्यमान इन्धनशून्य तेज स्थित है ॥ १० ॥

ब्रह्माण्डावरणभूत तेजसे बाहर दसगुना विस्तारयुक्त वायु स्थित है, वायुसे बाहर दसगुना निर्मल आकाश स्थित है। उसके बाद परमशान्त असीम ब्रह्माकाश (अविद्याशबलित ब्रह्माकाश) है, वह अविनाशी न प्रकाश है और न अन्धकार है महाविज्ञानघन सुषुप्तितुल्य है ॥ ११, १२ ॥

आदि, मध्य और अन्तसे (जन्म, स्थिति और विनाशसे) शून्य महाचित् नामवाले, सर्वात्मक लोहघनके समान छिद्रशून्य निर्वाणरूपी उस ब्रह्ममहाकाशमें दूर-दूर वैसे करोड़ों ब्रह्माण्ड बार-बार उत्पन्न होते हैं और विलीन होते हैं ॥ १३,१४ ॥

वह कौन कारण है, जो करोड़ों ब्रह्माण्डोंको विकसित करता है? इस प्रश्नपर कहते हैं—'**न किञ्चित्**' इत्यादिसे।

कचनरूपी सम ब्रह्ममें करोड़ों ब्रह्माण्डोंको विकसित करनेवाला कोई भी नहीं है, किन्तु कचनस्वभाव वह ब्रह्म ही अपनेमें अविद्यावश तादृशरूपसे स्थित है ॥ १५ ॥

एष ते कथितः सर्वो दृश्यानुभवनक्रमः ।
अधुना शृणु किं वृत्तं लोकालोके विपश्चितः ॥ १६ ॥
स्वभ्यस्तपूर्वसंस्कारो विलसन्निश्चयेरितः ।
लोकालोकगिरेर्मूर्ध्नस्तमःश्वभ्रं पपात सः ॥ १७ ॥
ददर्श तत्र शिखरप्रतिमैर्विहगैर्वपुः ।
विकर्त्तितं मनोदेहं प्रसृतं च स्वचिन्तिते ॥ १८ ॥
देशस्य तस्य पुण्यत्वाद्देहं यच्चाऽऽतिवाहिकम् ।
आधिभौतिकताबोधं नाऽनयन्निर्मलाशयः ॥ १९ ॥
तावन्मात्रप्रबोधोऽसौ नाऽधिकं बोधमागतः ।
चिन्तयित्वाऽसितं कार्यं बभूव प्रकृतेर्हितः ॥ २० ॥

प्रश्नोंके उत्तरका उपसंहारकर अब प्रस्तुत विषय सुनाते हैं—'एष' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह दृश्यानुभवन क्रम आदिसे अन्ततक साराका सारा मैंने आपसे कहा अब आप लोकालोक पर्वतपर विपश्चित्का जो हाल हुआ उसे सुनिये ॥ १६ ॥

खूब अभ्यस्त पूर्व संस्कारसे (दिगन्तदर्शनोद्योगके संस्कारसे) सम्पन्न उस प्रकारके सजीव निश्चयसे प्रेरित विपश्चित् लोकालोक पर्वतके शिखरसे परे पूर्वोक्त अन्धकार गर्तमें प्रविष्ट हुआ ॥ १७ ॥

वहाँपर उसने अपने देवशरीरको पर्वतशिखरके सदृश अत्यन्त महान् गृध्र आदि द्वारा नोच-नोचकर खाया गया देखा । तदुपरान्त अपने पूर्वचिन्तित दिगन्त-दर्शनमें अपने मनोमयदेहको ही प्रवृत्त देखा ॥ १८ ॥

जहाँपर उसको मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश पुण्यमय था यानी स्थूल देहके विषय संस्कारोंके उद्बोधक चार प्रकारके प्राणिसमूहोंसे शून्य था, उस देशकी महिमासे निर्मल आशयवाले विपश्चित्को आतिवाहिक शरीरमें आधिभौतिकता प्रतीति नहीं हुई अर्थात् उसे आतिवाहिकताका विस्मरण नहीं हुआ ॥ १६ ॥

उक्त विपश्चित् जिसका ज्ञान स्थूलदेहसे अतिरिक्त केवल आत्माको विषय करता था, उससे अधिक स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे अतिरिक्त शुद्ध चिन्मात्र आत्मा-को विषय करनेवाले बोधको प्राप्त नहीं हुआ था, इससे दिगन्तदर्शनरूप कार्यको अस-माप्त समझकर गमन स्वभावके अनुकूल हुआ यानी दिगन्तदर्शनरूप कार्यसे विरत नहीं हुआ ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

अदेहं प्रसरत्येतच्चित्तं कार्ये कथं मुने।
आतिवाहिकसंवित्तेर्बोधः स्यात्कीदृशोऽधिकः ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

सङ्कल्पपथिकत्वेन यथाऽन्तःपुरवासिनः।
इदं मनः प्रसरति तथाऽस्य प्रसृतं मनः ॥ २२ ॥
भ्रमे स्वप्ने मनोराज्ये मिथ्याज्ञाने कथाश्रुतौ।
यथा मनः प्रसरति तथा तत्प्रसृतं मनः ॥ २३ ॥
पतन्ति तु शरीरं तदातिवाहिकमुच्यते।
आधिभौतिकधीर्भाति विस्मृत्याऽत्रैव कालतः ॥ २४ ॥

देहविहीन चित्त बाहर कैसे जाता है। देहके बिना चित्तका बाहर संचार स्वीकार करनेपर भी पहले विपश्चित्की देवताके शरीरसे भी आकाशमार्गमें अप्रतिहत-गति रही देवशरीरका नाश होनेपर भी मनोमय देहसे आकाशमार्गमें चल रहे उस विपश्चित्का पूर्व देवशरीरसे मनोमात्रमय देहमें क्या विशेष हुआ ऐसा श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अदेहम्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, यह चित्त शरीरके बिना कार्यमें कैसे गमन करता है, यदि शरीरके बिना भी गमन मान लिया जाय तो भी आतिवाहिक देहसे मनोमय देहमें अधिक बोध कैसा होता है? ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजी उक्त प्रश्नोंमें से पहले प्रथम प्रश्नका उत्तर देते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे।

जैसे अन्तःपुरमें निवास करनेवालेका यह मन सङ्कल्परूपी पथिकके रूपमें बाहर गमन करता है वैसे ही इसका मन बाहर प्रसृत हुआ। भाव यह कि संकल्पको मार्गगमनमें देहकी अपेक्षा नहीं होती है ॥ २२ ॥

भ्रान्तिमें, स्वप्नमें, मनोरथमें, मिथ्या ज्ञानमें तथा औपन्यासिक कथाओंके श्रवण-में जैसे मनका संचार होता है वैसे ही उस मनका प्रसार हुआ ॥ २३ ॥

दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—'पतन्ति' इत्यादिसे।

जिस शरीरमें भ्रम, स्वप्न, मनोराज्य आदिका प्रसार होता है, वह शरीर आतिवाहिक है। उस आतिवाहिक देहमें ही कालवश आतिवाहिकताके विस्मरणसे आपकी आधिभौतिकता बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ २४ ॥

ते तदाऽन्तर्धिमायाते सर्परज्जुभ्रमोपमे ।
आधिभौतिकदेहेऽस्मिञ्छिष्यते त्वातिवाहिकः ॥ २५ ॥
आतिवाहिक एषोऽङ्ग निपुणं प्रविचार्यताम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण यावत्त्रान्यदस्ति नो ॥ २६ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
चिन्मात्रस्याऽस्य तद्रूपमनन्तस्यैकरूपिणः ॥ २७ ॥
क्व द्वैतं क्व च वा द्वेषः क्व रागादि तु कथ्यताम् ।
सर्वं शिवमनाद्यन्तं परो बोध इति स्मृतः ॥ २८ ॥
निर्मनोमननं शान्तमासितं बोध उत्तमः ।
आतिवाहिकदेहस्थो न तं बोधमुपागतः ॥ २९ ॥

कब आधिभौतिकताकी निवृत्तिसे आतिवाहिकताका शेष होता है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'ते' इत्यादिसे ।

विचारसे सर्परज्जु-भ्रान्तिके तुल्य यह आधिभौतिक शरीर जब अन्तर्हित हो जाता है तब आतिवाहिक शरीर अवशिष्ट रहता है ॥ २५ ॥

आतिवाहिक शरीरकी निवृत्तिसे चिन्मात्रका शेष होनेमें भी विचार ही साधन है, इस आशयसे कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, इस आतिवाहिक देहका 'तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, तेजरूपी मूलसे सन्मूलकी खोज करो) इस श्रुति द्वारा प्रदर्शित तत्त्वज्ञानके उपायसे भली-भाँति तबतक विचार कीजिये जब तक कि इसमें चिन्मात्रसे अतिरिक्त कुछ नहीं है यह प्रतीति न हो ॥ २६ ॥

निर्विषय चिन्मात्र प्रसिद्धिका तो पहले अनेक बार वारण किया ही जा चुका है, इस आशयसे पहले अनेक बार उक्त आधे श्लोकको पुनः कहते हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्ति होनेमें मध्यमें जो संवित्का शरीर है एकरूपी असीम इस चिन्मात्रका वह रूप प्रसिद्ध ही है ॥ २७ ॥

उसमें द्वैतरूपी विषय और विषयप्रयुक्त राग, द्वेष आदिका प्रसंग ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—'क्व' इत्यादिसे ।

भला बतलाइये तो सही उसमें कहाँ द्वैत है, और कहाँ द्वेष है कहाँ राग आदि है सब कुछ शिव आदि अन्तविहीन परम बोधरूप ही है ॥ २८ ॥

मनके मननसे शून्य शान्त जो अवस्थिति है वही उत्तम बोध है, आतिवाहिक

विपश्चित्तद्विबोधोऽसौ ददर्श विसरन्मनः ।
आतिवाहिकबोधेन गर्भवासोपमं तमः ॥ ३० ॥
तमसोऽन्ते विरिञ्चाण्डकवाटच्छेदभूतलम् ।
वज्रसारं हेममयं कोटियोजनविस्तृतम् ॥ ३१ ॥
तदन्ते प्राप सलिलं तस्मादष्टगुणं ततः ।
कपाटभूम्यैव समं स्थितमर्णवपृष्ठवत् ॥ ३२ ॥
तमतीत्य ततः प्राप तेजोऽर्कगणभीषणम् ।
प्रलयाग्निघनज्वालापिण्डकोटरभास्वरम् ॥ ३३ ॥
दाहशोकादिमुक्तेन वपुषा मानसेन तत् ।
तत्र गच्छन्स बुबुधे वहनं पूर्ववासितम् ॥ ३४ ॥
उह्यमानो विवेदाऽसावात्मानं त्वातिवाहिकम् ।
चित्तमात्रात्मनः स्वस्य किमिवोह्यत इत्यपि ॥ ३५ ॥

देहमें स्थित विपश्चित् उस बोधको प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु उसे केवल आतिवाहिक देहमें आत्मप्रतीति हुई थी अतएव उसने अपने मनको आगे चलते हुए देखा। आतिवाहिक देहसे उसने गर्भवासके तुल्य अन्धकार देखा। तमके अन्तमें उसने ब्रह्माण्ड-खप्पररूप भूमिके खण्डको (दो खप्परोंके सम्पुट भागोंके सन्धिभूत भूखण्डको) पाया। जो वज्रके समान दृढ़, सुवर्णमय और करोड़ों योजन विस्तीर्ण था ॥ २९-३१ ॥

उसके अन्तमें उसे उस भूखण्डसे अठगुना जल मिला। वह द्वीपके अन्तमें ब्रह्माण्डखप्पर भूमिके ही समानान्तरमें सागरके पृष्ठके समान स्थित था। जलका निराधार रहना सम्भव नहीं है, अतः वह ब्रह्माण्डकपालखण्डका अवलम्बन कर उसीके समान विभक्त होकर स्थित था, यह भाव है ॥ ३२ ॥

उक्त जलको लाँघकर उसके बाद वह सूर्योंके समूहकी नाईं भीषण प्रलयाग्निकी घनघोर ज्वालाओंके पिण्डीभूत कोटरके समान चमकीले तेजको प्राप्त हुआ। आशय यह कि तैजस आदि आवरणोंको जलकी तरह आधारकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए सन्धिका विभाग न होनेसे पिण्डकोटरके तुल्य देदीप्यमान यह कथन है ॥ ३३ ॥

तैजस आवरणमें भ्रमण कर रहे उस विपश्चित्ने दाह, शोक आदिसे मुक्त मनोमय देहसे उसके उत्तरवर्ती वायुरूप आवरणमें गमन जाना ॥ ३४ ॥

उसका उक्त गमन प्रायः स्वप्नकी कल्पनाके तुल्य रहा वास्तविक नहीं रहा यह 'बुबुधे' पदका तात्पर्य बतलाते हैं—'उह्यमानः' इत्यादिसे।

इति बोधेन धीरात्मा तं ततारानिलार्णवम् ।
प्राप तद्वितते व्योम तस्माद्दशगुणं स्थितम् ॥ ३६ ॥
तदतिक्रम्य स प्राप ब्रह्माकाशमनन्तकम् ।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यन्न किञ्चिच्च किञ्चन ॥ ३७ ॥
मनसा प्रभ्रमंस्तत्र दूराद्दूरतरं ययौ ।
तेन दृष्टं च पृथ्व्यापस्तेजो वायुस्तथा जगत् ॥ ३८ ॥
पुनः संसाररचनाः पुनः सर्गाः पुनर्दिशः ।
पुनर्महीधरा व्योम पुनर्देवाः पुनर्नराः ॥ ३९ ॥
पुनः पञ्चमहाभूतपर्यन्ते ब्रह्म निर्घनम् ।
पुनस्तत्र जगत्युच्चैः पुनः पुनर्दिशः ॥ ४० ॥
ब्रह्माकाशस्ततः सर्गाः पुनरन्ये त्वनिष्ठिताः ।
इत्यसौ विहरन् दीर्घकालमद्याऽपि संस्थितः ॥ ४१ ॥
स्वनिश्चयाच्चिराभ्यस्तान्नाऽसौ विरतिमेति हि ।
अन्तो नैवाऽस्त्यविद्यायाः सा हि ब्रह्मैव सत्यता ॥ ४२ ॥

पहुँचाये जा रहे उस विपश्चित्ने आतिवाहिक आत्माको जाना और चित्त-मात्ररूप मेरा कौन-सा वहन होगा यह भी जाना ॥ ३५ ॥

इस बोधसे उक्त धीरात्माने उस वायुसागरको पार किया और उसके बाद वह उससे दस गुने विस्तृत आकाशमें पहुँचा ॥ ३६ ॥

आकाशको लाँघकर वह असीम अविद्याशबल ब्रह्माकाशमें पहुँचा । जिसमें सब कुछ विलीन होता है, सब कुछ जिससे आविर्भूत होता है जो कुछ भी नहीं है । वहाँपर मनोमय देहसे भ्रमण करता हुआ वह संस्कारवश अत्यन्त दूर तक गया । उसने उसमें पृथिवी, जल, तेज वायु और जगत् देखा । फिर संसारकी रचनाएँ देखीं, फिर सृष्टियाँ देखीं और दिशाएँ देखीं । फिर पर्वत देखे, फिर आकाश देखा, फिर देवता देखे, फिर मनुष्य देखे, फिर पञ्चमहाभूतोंके पर्यन्तमें अत्यन्त घन ब्रह्म देखा, फिर उसमें खूब जगत् देखे, फिर सृष्टियाँ देखीं, फिर दिशाएँ देखीं, मायाशबल ब्रह्माकाश देखा । उसके बाद फिर दूसरी अव्यवस्थित सृष्टियाँ देखीं । इस प्रकार दीर्घकाल तक विहार करता हुआ वह आज भी विहार कर रहा है ॥ ३७-४१ ॥

चिरकालसे अभ्यस्त अपने जगत्सत्यतानिश्चयसे वह विरत नहीं होता है । अविद्याका अन्त नहीं ही है, सत्य स्वभावकी आलोचना की जाय, तो वह ब्रह्म ही है ॥४२॥

अवस्तुतो नाऽस्त्यविद्येह ब्रह्मण्यविकलात्मनि ।
इदं दृश्यमविद्येयमित्यात्मैष विकासितः ॥ ४३ ॥
यद्यथा जाग्रति स्वप्ने दृष्टं द्रक्ष्यसि पश्यसि ।
तत्तथा ब्रह्म सच्छान्तमासीदस्ति भविष्यति ॥ ४४ ॥
घनतमःप्रविलोकनचक्रकं
क्रमजगत्प्रतिभानमिदं महत् ।
परतया प्रतिभात्मतयाऽनया
न च सदङ्ग न वाऽप्यसदाकृति ॥ ४५ ॥
तेष्वेव तेष्विव च तेषु तनूतरेषु
ब्रह्मोदरेषु चिरदूरतरं जगत्सु ।
सोऽद्याऽप्यसंविदिततत्त्वतया तयोच्चैः
खण्डेषु रङ्कुरिव राघव बम्भ्रमीति ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाण-प्रकरणे उ० अ० त्रि० ब्रह्मगीतासु ब्रह्माकाशविपश्चिज्जगच्चन्द्रदर्शनं नामाऽष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

वस्तुतः परिपूर्ण ब्रह्ममें अविद्या नहीं है । यह दृश्य है यह अविद्या है यह विकासित आत्मा है ॥ ४३ ॥

जो ब्रह्म आपने जाग्रत्‌में और स्वप्नमें जैसी वासनाके आविर्भावसे पहले देखा इस समय देखते हैं और आगे भी देखेंगे वह ब्रह्म वैसा ही था, है और रहेगा ॥४४॥

इसीलिए यह जगत् सत् और असत्‌से विलक्षण अनिर्वचनीय ही है, ऐसा कहते हैं—**'घनतमः'** इत्यादिसे ।

यह था, है और होगा इस प्रकारका क्रमयुक्त जगतका भान अविद्यामात्र ही है बन्द किये गये नेत्रोंमें तैमिरिक चक्रकके समान महान् प्रतीत होता है । वह केवल चिन्मात्ररूपसे सत् नहीं है, प्रतिभास्वरूप इस अज्ञदृष्टि प्रसिद्धिसे तो असदाकार नहीं है, इसलिए दोनों दृष्टिके प्रमाण होनेपर अनिर्वचनीय ही है ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह विपश्चित् आज भी तत्त्वज्ञान न होनेके कारण उन पूर्व दृष्टोंमें ही और उनके सदृश अन्य वासनामात्र होनेसे अत्यन्त सूक्ष्म विराटोंके अन्दर प्रसिद्ध जगतोंसे वनभागोंमें मृगके समान अपनी वासनाकी उत्कटतासे बार-बार घूमता है ॥ ४६ ॥

एक सौ अट्ठाईस सर्ग समाप्त

एकोनत्रिंशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

तयोर्द्वयोर्मुनिश्रेष्ठ संपन्नं किमतः परम् ।
पश्चाद्विपश्चितोस्तस्य रुद्धयोर्वै विपश्चितोः ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

तयोरेकश्चिराभ्यस्तवासनाविवशीकृतः ।
भ्रमन् द्वीपेषु देहौघैस्तामेव पदवीं गतः ॥ २ ॥
तथैवाऽऽवरणांस्त्यक्त्वा परमाकाशकोटरे ।
पश्यन्संसारलक्षाणि तथैवाऽद्याऽपि संस्थितः ॥ ३ ॥
तयोर्द्वितीयः स्वाभ्यस्तादादावासंगतेर्वशात् ।
त्यक्तवान् प्रभ्रमदेहैरद्य शैले मृगः स्थितः ॥ ४ ॥

एक सौ उन्तीसवाँ सर्ग

[बचे हुए दो विपश्चितोंके वृत्तान्तका वर्णन तथा उनमें से एककी मृगताके अन्तमें श्रीरामचन्द्रजीसे भेंटका वर्णन]

एक विपश्चित् भगवान् श्रीविष्णुके अनुग्रहसे ज्ञान पाकर मुक्त हो गया और दूसरा आज भी अविद्यामें भ्रमण कर रहा है यह सुनकर बचे हुए दो विपश्चितोंका समाचार श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजीसे पूछते हैं—'तयो:' इत्यादिसे ।

चन्द्रलोकमें और शाल्मली द्वीपके राज्यमें रोके हुए तथा भोगोंकी असारताको जाननेवाले उन दो विपश्चितोंके (पूर्व और दक्षिण दिशाको प्रस्थित विपश्चितोंके) पीछे पूर्वोक्त वृत्तके अनन्तर आगे दिगन्तदर्शन वरका क्या हाल हुआ ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—उनमें से एक विपश्चित् चिरकालसे अभ्यस्त वासनासे विवश होकर विविध शरीरोंसे भिन्न-भिन्न द्वीपोंमें भ्रमण करता हुआ उत्तर विपश्चित्की पद्धतिको (ब्रह्माण्डोंके जलादि आवरणोंके लङ्घन द्वारा शबल ब्रह्ममें करोड़ों संसारोंमें भ्रमणरूप पदवीको) प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

परमाकाशरूपी खोखलेमें उसी प्रकार (उत्तर विपश्चित्की ही तरह) ब्रह्माण्डके आवरणोंको एक के बाद एक छोड़कर करोड़ों संसारोंको देखता हुआ आज भी उसी अवस्थामें स्थित है ॥ ३ ॥

इनमें से 'दूसरा यानी पूर्वको प्रस्थित विपश्चित् चन्द्रमाके समीपमें स्वयं अभ्यस्त

श्रीराम उवाच

एकैव वासना ब्रह्मन् या चतुर्णां सदोचिता ।
नानातां सा कथं प्राप्ता हीनोत्तमफलप्रदाम् ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वभ्यस्ता वासना जन्तोर्देशकालक्रियावशात् ।
तनुदार्ढ्यान्यतामेति घनदार्ढ्यैति नाऽन्यताम् ॥ ६ ॥
देशकालक्रियाद्येतदेकता वासनैकता ।
तयोर्यदेव बलवत्तदेव जयति क्षणात् ॥ ७ ॥

चन्द्रमृगमें अतिशय प्रेमरूप आसक्तिके कारण चन्द्रमाके साथ प्रतिमास अत्यन्त भ्रमण कर रहे अपने शरीरोंसे युक्त होकर उनका त्यागकर चुकनेके बाद आज मृग बनकर पर्वतपर स्थित है ॥ ४ ॥

राजा विपश्चित्के अन्तःकरण और शरीरका चार प्रकारसे विभाग होनेपर भी एकरूप वासनाका विभाग अथवा अधम और उत्तम फलका भेद संभव नहीं है, यों श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'एकैव' इत्यादिसे ।

हे गुरुवर, चारों विपश्चितोंकी एक ही वासना जो सदा उचित थी, वह अधम और उत्तम फल देनेवाले भेदको कैसे प्राप्त हुई । दिगन्तदर्शनरूप उत्कट अभिलाषा सबकी एक ही थी फिर भी किसीकी मुक्ति हो गई, कोई अविद्यामें लगातार चक्कर लगा रहे हैं, तथा कोई मृग बन गया ऐसा भेद कैसे हुआ ? यह आशय है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी प्राणीकी खूब अभ्यासको प्राप्त हुई वासना देश, काल और कर्म वश कोमल और अत्यन्त परिपाकसे बद्धमूल होती है । कोमल वासना भेदको प्राप्त होती है पर परिपाकवश बद्धमूल वासना भिन्न नहीं होती है ॥ ६ ॥

वासनाकी एकता और विभागमें क्या हेतु है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

देश, काल, कर्म आदिकी एकता वासनाकी एकता है यानी जब भोग्य फलके अनुकूल देश, काल, कर्म, प्रयत्न रूप सामग्रियोंकी एकता होती है, तब उनके अनुकूल समान विषय वासनाएँ भी एक होती हैं जब पूर्वोक्त सामग्रियोंमें भेद होता है, तब वासनाएँ भी भिन्न होती हैं । लेकिन जब समान देश, काल, कर्म और फलवाली

एवं विभागेनैतेऽत्र चत्वारः समवस्थिताः ।
कृष्यन्ते द्वावविद्यार्थमन्यो मुक्तो मृगोऽपरः ॥ ८ ॥
नाऽद्याऽपि तैरविद्याया लब्धोऽन्तो भ्रान्तिबुद्धिभिः ।
अनन्तेयमविद्येयमज्ञानपरिबृंहिता ॥ ९ ॥
क्षिप्रेण शान्ता भवति विज्ञानालोक आगते ।
अमूलमेव गलति तिमिरश्रीरिवोदये ॥ १० ॥
कालेनाऽन्यज्जगज्जातं शृणु वृत्तं विपश्चितः ।
तस्मिन् दूरतरे देशे कस्मिंश्चित्संसृतिभ्रमे ॥ ११ ॥
कश्चिद् ब्रह्ममहाव्योम्नि कस्मिंश्चिद्दृश्यमण्डले ।
तस्य दृश्यात्मना प्राप्ते वस्तुतो ब्रह्मरूपिणि ॥ १२ ॥
स एकः शुभसंगत्या विदुषां मध्यमागतः ।
दृश्यं यथावद्विज्ञाय ब्रह्मतामलमागतः ॥ १३ ॥

कोई वासना और भिन्न देश, काल, कर्म और फलवाली दूसरी वासना हो यों दो वासनाएँ उद्भूत हों तब उनके बीचमें जो बलवती होती है, उसीकी जीत होती है ॥७॥

इस रीतिसे ये विपश्चित् एक साथ उत्पन्न विरुद्ध देश, काल आदिमें भोग्य वासनाके विभागसे उत्पन्न शरीर-भेदसे चार होकर रहे। उनमेंसे आदि दो अविद्याके लिए वासनाओंसे आकृष्ट हुए, एक मृग बनकर वासनाका शिकार बना और एककी मुक्ति हो गई ॥ ८ ॥

भ्रान्तिपूर्ण बुद्धिवाले उन तीन विपश्चितोंको आज भी अविद्याका अन्त प्राप्त नहीं हुआ। हजारों अज्ञानोंसे वृद्धिको प्राप्त हुई यह अविद्या निस्सीम है। इसका अन्त पा जाना कोई खेलवाड़ नहीं है ॥ ९ ॥

ज्ञानरूपी उजियाला प्राप्त होनेपर वह थोड़ेसे समयमें शान्त हो जाती है, सूर्योदय होनेपर अन्धकारशोभाकी नाईं निश्शेष नष्ट हो जाती है ॥ १० ॥

इस समय पश्चिम विपश्चित्की जिस वृत्तान्तसे मुक्ति हुई, उसको पुनः सुनाते हैं—**'कालेन'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, अब विपश्चित्का अपनी वासनासे कल्पित ब्रह्माण्डमें हुए वृत्तान्त-का श्रवण कीजिये, ब्रह्माण्डमें अत्यन्त दूरवर्ती स्वादूदक सागरके परले पार स्थित स्वर्णभूमि प्रदेशमें, किसी संसारभ्रान्तिमें, ब्रह्मरूपी महाकाशमें अध्यस्त किसी दृश्यमण्डलमें, जो दृश्य रूपसे प्राप्त हुआ था, वास्तवमें ब्रह्मरूपी ही था, वह पश्चिम

तत्रैवाऽऽशु परिज्ञानात्साऽविद्या स च देहकः ।
मृगतृष्णाम्बुवाऽऽशान्तिमागतौ रागतन्त्रितौ ॥ १४ ॥
इति ते सर्वमाख्यातं विपश्चिच्चेष्टितं स्फुटम् ।
अनन्तैवमविद्येयं ब्रह्मवत्तन्मयी यतः ॥ १५ ॥
येन यत्रैव वर्षाणां लक्षलक्षाणि गम्यते ।
तत्र तत्र स्वभावेन चिता किमपि लक्ष्यते ॥ १६ ॥
तदेवाऽऽश्वपरिज्ञातं मिथ्याऽविद्येति कथ्यते ।
परिज्ञातं तु तच्छान्तं तथा ब्रह्मेति कथ्यते ॥ १७ ॥

दिशाको प्रस्थित एक विपश्चित् शान्ति, दान्ति भगवद्भक्ति आदि गुणगणोंकी प्राप्तिसे जीवन्मुक्तोंके बीचमें जा पहुँचा, वहाँपर दृश्यको यथार्थ रूपसे पहचानकर पूर्णरूपसे ब्रह्मत्वको प्राप्त हो गया (मुक्तिको प्राप्त हो गया) ॥ ११-१३ ॥

उसकी वह जगदाकारा अविद्या और वह क्षुद्र शरीर दोनों ही ज्ञान होनेसे वहीं-पर मृगतृष्णाजलके समान शीघ्र ही बाधित हो गये, कारण कि वे दोनों रागमूलक थे, ज्ञानवश रागके नष्ट होनेपर वे विलीन हो गये । भगवती श्रुतिने कहा है—जब इसके हृदयमें स्थित सभी काम मुक्त हो जाते हैं, छूट जाते हैं, उसके बाद मनुष्य अमर हो जाता है, यहींपर मुक्तिरूप सुखका अनुभव करता है ॥ १४ ॥

प्रस्तुत कथाका उपसंहार करते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

इस प्रकार विपश्चितोंका चरित्र आदिसे अन्ततक साराका सारा स्पष्ट रीतिसे मैंने आपसे कहा । इस प्रकार यह अविद्या कारणब्रह्मके तुल्य—सकल दिशाओंमें विप-श्चितोंको इसका अन्त न मिलनेके कारण—अनन्त है, कारण कि यह कारण-ब्रह्ममयी है ॥ १५ ॥

अविद्याकी कल्पना करनेवाले अज्ञातचित्की अनन्ततासे अविद्याकी अनन्तता है, यों ब्रह्मवत् (कारणब्रह्मकी तरह) इस दृष्टान्तके कथनका तात्पर्य कहते हैं—'येन' इत्यादिसे ।

जो चित् करोड़ों वर्षों तक जहाँपर जाता है वहाँ वहाँ स्वभावतः कुछ न कुछ उसे दिखाई देता है ॥ १६ ॥

'तन्मयी' इस कथनका भी तात्पर्य कहते हैं—"तदेव" इत्यादिसे ।

वह ब्रह्म ही अपरिज्ञात होकर शीघ्र मिथ्या, अविद्या आदि शब्दोंसे कहा जाता है, परिज्ञात होकर शान्त और ब्रह्म कहा जाता है ॥ १७ ॥

भेदो न भेदस्तत्राऽयं भेदोऽयं यन्मयः किल ।
तद् ब्रह्मैव चिदाभासं चिद्रूपैव हि भिन्नता ॥ १८ ॥
ब्रह्माण्डमण्डपस्याऽस्य भ्रमतेत्यविपश्चिता ।
लब्धो युगशतैरन्तो नाऽविद्याया विपश्चिता ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

स ब्रह्माण्डकपाटः किं न संप्राप्तो विपश्चिता ।
त्वयैतत्कथितं ब्रह्मन् कथं वदतां वर ॥ २० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

जातेनैव विरिञ्चेन पुरा ब्रह्माण्डमण्डलम् ।
द्वाभ्यामधस्तादूर्ध्वात्स्वभुजाभ्यां प्रविदारितम् ॥ २१ ॥

यदि शङ्का हो कि 'अविद्या' और 'ब्रह्म' यों भेद होनेपर वही है, यों अभेद कैसे ? इसपर कहते हैं—'**भेदः**' इत्यादिसे ।

यह भेद भेद नहीं है, क्योंकि यह भेद अविद्यामय ही है और अविद्या ब्रह्मरूप ही है। चिद्भास्य होनेके कारण भी भेद चित्‌से पृथक् नहीं है। वह ब्रह्म ही चिदाभास है, भिन्नता चिद्रूप ही है ॥ १८ ॥

ज्ञानविहीन उत्तर विपश्चित्‌को सैकड़ों युगोंमें भी अविद्याका अन्त नहीं मिला, ऐसा कहते हैं—'**ब्रह्माण्ड०**' इत्यादिसे ।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड मण्डपके अन्दर भटक रहे अज्ञानी विपश्चितोंको सैकड़ों युगोंमें भी अविद्याका अन्त नहीं मिला ॥ १९ ॥

उत्तर विपश्चित्‌का ब्रह्माण्डखप्परके जोड़के आकाशमार्गसे बाहर निकलना कैसे हुआ ? ब्रह्माण्डभङ्गका कोई हेतु कहा नहीं है, ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्माण्डाकाशका ही सम्भव नहीं है, इस अभिप्रायसे श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'**स**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, क्या विपश्चित्‌को ब्रह्माण्डकपाट ही नहीं मिला। हे वाग्मिवर, उसे तोड़कर जैसे वह बाहर निकला यह आपने मुझसे क्यों नहीं कहा ? ॥ २० ॥

श्रीवसिष्ठजी ब्रह्माण्डके दो खप्परोंके विभागमें पाषाणोपाख्यानोक्त कारणकी याद दिलाते हैं—'**जातेन**' इत्यादिसे ।

पुराने जमानेमें उत्पन्न होते ही श्रीब्रह्माजीने अपनी दोनों भुजाओंसे ऊपर और नीचेकी ओर ब्रह्माण्डमण्डलको विदीर्ण किया ॥ २१ ॥

भागस्तेनोर्ध्वतस्तस्माददतिदूरतरं गतः ।
अन्यो भागो गतोऽधस्तादतिदूरतरान्तरम् ॥ २२ ॥
ताविवाऽऽश्रित्य तिष्ठन्ति जलाद्यावरणास्ततः ।
त एव च तदाधारा लम्बन्ते संस्थितास्तयोः ॥ २३ ॥
एतयोर्मध्यमाकाशं विदुरण्डकपाटयोः ।
अपारावारमानीलमिदमालक्ष्यते तु यत् ॥ २४ ॥
जलाद्यावरणास्तत्र न लगन्ति न सन्ति च ।
तद्धि निर्मलमाशून्यमालानं कल्पक्रमिभिः ॥ २५ ॥
तेन मार्गेण यातोऽसौ विपश्चिद्दक्षचक्रवत् ।
अविद्यायाः परीक्षार्थमामोक्षमतिदीक्षितः ॥ २६ ॥
ब्रह्मैवाऽनन्तरूपेयमविद्या तन्मयी यतः ।
अतोऽस्ति साऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न विद्यते ॥ २७ ॥

उससे ऊपरका एक भाग ऊपरकी ओर बहुत दूर तक चला गया और नीचे-वाला भाग नीचेकी ओर अत्यन्त दूर तक चला गया ॥ २२ ॥

जल आदि ब्रह्माण्डावरण ब्रह्माण्डखप्परोंकी तरह विभक्त होकर उन्हींके आधारमें स्थित हैं। खप्पररूप आधारवाले वे जल आदि आवरण उनमें स्थित होकर लटकते हैं। अवलम्बनकर स्थिति तो सबकी समान है, विभाग केवल जलावरणका ही है, ऐसा पहले उपपादन कर चुके हैं ॥ २३ ॥

इन ब्रह्माण्डखप्परोंके मध्यमें अपार (पारवाररहित) नीला-नीलासा जो यह दिखाई देता है उसे आकाश कहते हैं। आकाशको अपार कहना अन्य भूतोंकी अपेक्षा विशालताके प्रतिपादनके लिए है। अन्यथा बाह्याकाशावरणके पूर्वावरणकी अपेक्षा दसगुने परिमाणकी उक्तिकी अनुपपत्ति हो जायगी। उसके आगे ब्रह्माकाशका वर्णन भी न हो सकेगा ॥ २४ ॥

उक्त आकाशमें जल आदि आवरणोंका स्पर्श नहीं होता है और वे उसमें हैं भी नहीं। वह निर्मल जीवशून्य प्रलयपर्यन्त अन्य भूतोंका आधार है ॥ २५ ॥

अविद्याका आर पार देखनेके लिये मोक्ष होनेतक उक्त विपश्चित् नक्षत्रमण्डल-की तरह आकाशमार्गसे गया ॥ २६ ॥

तब तो दृढ़तर पुरुष प्रयत्नके अटूट रहनेसे अविद्याका अन्त उसने क्यों नहीं

विपश्चित इति प्राप्य दूराद्दूरं परेऽम्बरे ।
जगद्रूपेष्वविद्याया भ्रमन्त्यन्येषु केषुचित् ॥ २८ ॥
कश्चिन्मुक्तो मृगः कश्चित्कौचिद्द्वाऽपि तौ क्वचित् ।
भ्रमतः प्राक्तनानल्पसंस्कारविवशीकृतौ ॥ २९ ॥

श्रीराम उवाच

कीदृशेषु क्व दूरेषु ते जगत्सु विपश्चितः ।
भ्रमन्तीति मुने ब्रूहि मयि चेज्जायते कृपा ॥ ३० ॥
कियत्यध्वनि संसारास्ते जाता येषु ते मुने ।
महदेतदिहाऽऽश्चर्यमस्माकं कथितं त्वया ॥ ३१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्थितौ विपश्चितौ राम तावुभौ जगतोर्ययोः ।
तेऽस्माकं गोचरं याते जगती यत्नतोऽपि नो ॥ ३२ ॥

देखा ? ऐसी यदि किसीको आशङ्का हो तो अविद्याके अवास्तविक अनन्त ब्रह्मरूप होनेसे ही नहीं देखा, ऐसा कहते हैं—'ब्रह्मैवा०' इत्यादिसे ।

अनन्तरूपा यह अविद्या ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्ममयी है। जब तक उसके तत्त्वका परिज्ञान नहीं होता तभी तक उसकी सत्ता है। तत्त्वज्ञान होनेपर उसका अस्तित्व नहीं रहता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार वे विपश्चित् ब्रह्माकाशमें अत्यन्त दूर पहुँचकर अविद्याके जगत् रूप कतिपय अन्यान्य स्वरूपोंमें भ्रमण करते हैं ॥ २८ ॥

एक तो उनमें मुक्ति पा गया, एक मृग बना है, कोई दो प्राक्तन दृढ प्रबल संस्कारसे विवश होकर आज भी कहींपर भ्रमण करते हैं ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो वे विपश्चित् किस प्रकारके कितने दूरवर्ती जगतोंमें भ्रमण करते हैं, यह मुझे बतलानेका अनुग्रह कीजिये ।

हे मुनिवर, कितने मार्गमें वे संसार हैं, जिनमें वे उत्पन्न हुए, यह महान् आश्चर्यमय वृत्तान्त है, जो कि आपने हमसे कहा ॥ ३१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जिन जगतोंमें वे दोनों विपश्चित् स्थित हैं वे जगत् प्रयत्नसे विचार करनेपर भी हमारे बुद्धिविषय नहीं हुए ॥ ३२ ॥

तृतीयो मृगतां यातो विपश्चिद्यत्र तिष्ठति ।
स कदाचित्ससंसारो गोचरे नोऽवतिष्ठते ॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच

विपश्चिन्मृगतां यातो यस्मिन् जगति संस्थितः ।
तज्जगत्क महाबुद्धे यथावत्कथयेति मे ॥ ३४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

दूराद्दूरतरं गत्वा परब्रह्ममहाम्बरे ।
मृगो विपश्चिज्जगति स यस्मिंस्तज्जगच्छृणु ॥ ३५ ॥
तदिदं विद्धि त्रिजगदिहाऽसौ संस्थितो मृगः ।
इदं तत्परमाकाशं दूराद्दूरे जगत्स्थितम् ॥ ३६ ॥

श्रीराम उवाच

विपश्चिदस्मादेवाऽसौ जगतस्तां गतिं गतः ।
इहैवाऽद्य मृगो जातः कथमेतत्समञ्जसम् ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अवयवानवयवी नित्यं वेत्ति यथाऽखिलान् ।
तथा सर्वानहं वेद्मि ब्रह्मण्यात्मन्यवस्थितान् ॥ ३८ ॥

हाँ, तीसरा विपश्चित् जहाँपर मृग योनिको प्राप्त होकर स्थित है, वह ब्रह्माण्डके अन्तर्गत अनन्त संसारोंके साथ संभवतः हमारी बुद्धिके विषयमें स्थित है ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे महामते, मृगताको प्राप्त हुआ विपश्चित् जिस जगत्में स्थित है, वह जगत् कहाँ है ? यथार्थरूपसे मुझसे उसका वर्णन करनेकी कृपा कीजिये ॥ ३४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—परब्रह्माकाशमें अत्यन्त दूर जाकर मृग बना विपश्चित् जिस जगत्में रहता है, उस जगत्को आप सुनिये ॥ ३५ ॥

वही यह जगत् आप जानिये जिसमें वह मृग विपश्चित् स्थित है, वही यह परमाकाश है जिसमें अत्यन्त दूर तक जगत् स्थित है ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, वह विपश्चित् इसी जगत्से उस दिगन्त-दर्शनरूप गतिको गया । यहींपर आज वह मृग बना है, यह कैसे युक्तियुक्त है ? जब तक वह लौट कर आवे नहीं, तब तक उसका यहाँ मृगजन्म संभव नहीं है, यह भाव है ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे अवयवी सदा सकल अवयवोंको जानता है वैसे ही

अनिष्ठितान्ससंहारान्नानाकारांस्तु तान् बहून् ।
मिथः प्रोतान्मिथोऽदृश्यान्स्वरूपानिव पार्थिवान्॥ ३९ ॥
तत्र कस्मिंश्चिदन्यस्मिन्मार्गेऽस्मिन्निव तिष्ठति ।
यद्वृत्तं कथितं राम तदेतद्भवते मया ॥ ४० ॥
विपश्चितोऽन्यसंसारे देहैर्भ्रान्ता दिगन्तरान् ।
ताननन्ताम्बरे व्योम्नि तावत्कालमखिन्नधीः ॥ ४१ ॥
इहैव हरिणो जातः कस्मिंश्चिद्गिरिकन्दरे ।
काकतालीययोगेन भ्रान्त्या भूरिजगद्भ्रमम् ॥ ४२ ॥

ब्रह्मात्मामें स्थित सकल ब्रह्माण्डोंको मैं जानता हूँ। भाव यह कि यह दूर है, यह अत्यन्त दूर है, यह सब विचार आत्माको परिच्छिन्न माननेवालोंमें ही सम्भव है। आत्माको अपरिच्छिन्न जाननेवालोंकी दृष्टिमें अवयवीकी दृष्टिमें अवयवोंकी भाँति सब कुछ अति समीपमें ही है, यह मैं अपने अनुभवसे कहता हूँ, यह सारांश है ॥ ३८ ॥

अन्य लोकोंकी दृष्टिमें जो अत्यन्त अतीत है वह भी ब्रह्मदृष्टिसे अत्यन्त समीपवर्ती ही है कालतः भी किसीकी दूरता नहीं है, इस आशयसे वसिष्ठजी ब्रह्माण्डोंको विशेषण विशिष्ट करते हैं—'अतिष्ठितान्' इत्यादिसे।

आगे चिरकालमें उत्पन्न होनेवाले होनेसे इस समय अनुत्पन्न, पूर्व कालमें प्राप्त हुए संहारसे युक्त विविध आकार वाले (अत्यन्त विलक्षण) परस्पर एक दूसरेसे अदृश्य होते हुए भी एक चित्में अध्यस्त होनेके कारण परस्पर अनुस्यूत अतएव पृथ्वी विकाररूप वस्त्र, तन्तु आदिके समान स्थित बहुतसे ब्रह्माण्डोंको मैं देखता हूँ ॥३९॥

उन ब्रह्माण्डोंमें से किसीके अन्य मार्गमें इस ब्रह्माण्डके मार्गके समान स्थित होनेपर जो घटना हुई उसको मैंने आपके लिए इस ब्रह्माण्डकी-सी बनाकर यहींपर विपश्चित्के जन्म, राज्य आदि थे, यों वर्णन किया है क्योंकि तत्त्वतः और प्रकारतः अन्य ब्रह्माण्ड और यहाँकी घटनाओंमें कोई विभेद नहीं है ॥ ४० ॥

विपश्चित् लोग अनन्ताकाशमें अपनी-अपनी वासनासे कल्पित अन्यान्य संसारोंमें उसी तरहके शरीरोंसे पूर्वोक्त उन उन दिगन्तरोंमें घूमे, एकमें ही नहीं। उनमेंसे पूर्व विपश्चित्, जिसकी मति संसारभ्रमणसे तब तक खिन्न नहीं हुई थी, अनेकानेक जगद् भ्रान्तिका भ्रमण कर काकतालीयन्यायसे इसी ब्रह्माण्डमें किसी एक पर्वतगुफामें मृग हो गया ॥ ४१-४२ ॥

स जगन्ति भ्रमन्दूरे यस्मिन् सर्गे मृगः स्थितः ।
स सर्गोऽयमिति व्योम्नि काकतालीयवत् स्थितम् ॥ ४३ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन् कस्यां ककुभि मण्डले ।
कस्मिन्कस्मिंश्च शैलेऽसौ वने कस्मिन्मृगः स्थितः ॥ ४४ ॥
किं करोति कथं दूर्वाश्चर्वयत्युर्वरास्पदः ।
जातिं तां जरठज्ञानी कदोदारां स्मरिष्यति ॥ ४५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

योऽसौ त्रिगर्तनाथेन दत्तः क्रीड़ामृगस्तव ।
स्थितः क्रीड़ामृगागारे विद्धितं त्वं विपश्चितम् ॥ ४६ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

श्रुत्वेति राघवस्तस्यां सभायां विस्मयान्वितः ।
बालकान्मृगमानेतुं प्रेषयामास भूरिशः ॥ ४७ ॥
अथाऽऽनीतो मृगो मुग्धः सभां स्फारां विवेश सः ।
सर्वैः सभ्यगणैर्दृष्टः पुष्टिमांस्तुष्टिमानपि ॥ ४८ ॥

वह जगतोंमें भ्रमण करता हुआ जिस दूरवर्ती सृष्टिमें विद्यमान है, वह यह सर्ग काकतालीयन्यायसे ब्रह्माकाशमें स्थित है ॥ ४३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—भगवन्, यदि ऐसी बात है, तो वह किस दिशामें, किस मण्डलमें, किस पर्वतपर और किस वनमें मृग बनकर स्थित है ? क्या करता है, सस्य-श्यामला भूमिमें निवास करनेवाला वह किस प्रकार दूब चरता है ? बुढापेके समान शिथिल ज्ञानवाला वह कब अपने पूर्व विपश्चिद्-जन्मका स्मरण करेगा ? ॥ ४४–४५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—त्रिगर्त देशाधीश्वरने जो मृग भेटमें आपको दिया है और आपके अजायब घरमें विद्यमान है उसे ही आप विपश्चित् जानिये ॥ ४६ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—उस सभामें यह बात सुनकर रामचन्द्रजीके आश्चर्यकी सीमा न रही । उन्होंने मृगको लानेके लिए झुण्डके झुण्ड बालकोंको भेजा ॥ ४७ ॥

इसके बाद बालकों द्वारा लाया गया वह भोला-भाला मृग विशाल सभामें प्रविष्ट हुआ । उस तगड़े और प्रसन्न मृगको सब सदस्योंने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा । वह अपने काले शरीरमें सफेद बिन्दुओंसे तारा रूपी बिन्दुओंसे युक्त आकाशकी शोभा मात कर रहा था, दृष्टिपातरूपी नील कमलोंकी लगातार वृष्टिसे सुन्दरियोंका भी

तारबिन्दुयुतं देहबिन्दुभिः खं विडम्बयन् ।
दृष्टिपातोत्पलासारैः सुन्दरोः परितर्जयन् ॥ ४९ ॥
आदृतानादृतसभैर्नीला मरकतत्विषः ।
धावंस्तृणेच्छया लोलं मुग्धैश्चकितवीक्षितैः ॥ ५० ॥
उत्कर्णोन्नियनोद्ग्रीवं क्षणं भङ्गावलस्थितैः ।
उत्कर्णनयनोद्ग्रीवैः सभ्यानाकुलयञ्जवैः ॥ ५१ ॥
मृगमालोक्य तं लोकाः सराजमुनिमन्त्रिणः ।
अनन्ता बत मायेति चिरमासन् स्मयाकुलाः ॥ ५२ ॥
आश्चर्यचर्वणसुविस्मितसर्वलोका
सर्वावलोकनघनोत्पलवर्षकृष्णाम् ।
रत्नांशुजालकचितं मृगमीक्षमाणा
साऽऽसीत् सभा कमलिनी लिपिनिर्मितेव ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिन्मृगलाभो नामैकोन-त्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२९ ॥

तिरस्कार कर रहा था तथा उसके दर्शनोंके लिए लालायित सभाका भी अनादर करनेवाले सुन्दर सभय कटाक्षवीक्षणोंसे सभाके खम्भोंपर जड़े हुए मरकतोंकी हरे रंगकी कान्तियोंको हरे तिनके समझ कर खानेके लिए इधर उधर चञ्चलतासे दौड़ रहा था। कान, नेत्र और गर्दन ऊपर उठाकर अपने अस्थिर अनिवार्य चञ्चल वेगोंसे सभी सभासदोंको देखनेकी उत्सुकतासे या भागनेकी आशङ्कासे व्याकुल कर रहा था ॥ ४८–५० ॥

उस मृगको देखकर राजा, मुनि और मन्त्रियोंके साथ सभी लोग भगवान्की माया अनन्त है, यों कहते हुए आश्चर्यसागरमें डूब गये ॥ ५२ ॥

सब सभासदोंके अवलोकनरूपी घनी नीलकमलोंकी वर्षासे नीलसे रँगे हुएसे और सभाभवनके खम्भोंमें जड़े हुए रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त मृगको देख रही वह भरी सभा, जिसके सबके सब सदस्य आश्चर्यमय वृत्तान्तके पुनः पुनः अस्वादनसे अति विस्मययुक्त थे, चित्रलिखित कमलिनी-सी (कमलसे पूर्ण तालाब-सी) हो गई थी ॥ ५३ ॥

एक सौ उन्तीस सर्ग समाप्त

त्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

अथ राम उवाचाऽस्य मुने केन विपश्चितः ।
स्यादुपायेन दुःखान्तः प्राक्तनात्मोदयादिति ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

येनैवाऽभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः ।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥ २ ॥
विपश्चितोऽग्निः शरणं तत्प्रवेशादयं मृगः ।
पूर्वरूपमवाप्नोति निर्मलं कनकं यथा ॥ ३ ॥

एक सौ तीस सर्ग

[मृगका श्रीवसिष्ठजीके ध्यानसे उत्पन्न अग्निमें प्रवेश तथा विपश्चित्-शरीरकी प्राप्तिसे पूर्वजन्मकी स्मृतिका वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे मुनिवृन्द, इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी श्रीवसिष्ठजीसे बोले—हे मुनिवर, किस उपायसे विपश्चित्-देहके पुनः आविर्भाववश और ज्ञान द्वारा वास्तविक आत्माके आविर्भाववश इस विपश्चित्का दुःखान्त होगा ? ॥१॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जिस पुरुषकी जिस चिरकाल उपासित देवतासे बार-बार अभिलाषसिद्धि पहले कही गई है, उस पुरुषकी उस देवताके बिना अभिलषित सिद्धि नहीं होती। यदि घुणाक्षरन्यायसे कदाचित् हो भी जाय तो वह शोभा नहीं पाती, कथंचित् शोभा भी पा जाय पर सुखदायी नहीं होती, कदाचित् सुखदायी भी हो जाय पर परलोक हितकारी सत्फलप्रद कदापि नहीं होती। इस विषयमें भगवती श्रुति भी है—'यः स्वां देवतामतियजति प्रस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति' (जो अपने इष्टदेवका अतिक्रमण करके यज्ञ करता है वह च्युत होता है, परम गति नहीं पाता अत्यन्त पापिष्ठ होता है)। वृद्धोंका भी कथन है—'त्वामतियजेत भगवन्यः कुलदैवं द्विजातिकुलजातः। उभयभ्रष्टो नश्येदभ्युदयोपांशुयाजवत्स जड़ः॥' अर्थात् भगवन्, द्विजातिकुलमें उत्पन्न हुआ जो पुरुष कुलके इष्टदेव आपका उल्लंघनकर यज्ञ करता है वह जड़ इस लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है॥२॥

अग्नि ही विपश्चित्की इष्टार्थ प्रदान द्वारा रक्षा करनेवाला है, उसमें प्रवेश करनेसे यह मृग निर्मल सुवर्ण ऐसे पूर्व जन्मके विपश्चित्-शरीरको प्राप्त होगा ॥ ३ ॥

करोम्येतदहं सर्वं दृश्यतां दर्शयामि वः ।
अग्निप्रवेशं हरिणः करोत्येषोऽधुना पुरः ॥ ४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्टितः ।
उपस्पृश्य यथान्यायं स्वकमण्डलुवारिणा ॥ ५ ॥
दध्यावनिन्धनं वह्निं ज्वालापुञ्जमयात्मकम् ।
तद्ध्यानेन सभामध्याज्ज्वालाजालं समुद्ययौ ॥ ६ ॥
अङ्गाररहिताकारमिन्धनेन विवर्जितम् ।
स्वच्छं धमधमायन्तमधूममपकज्जलम् ॥ ७ ॥
मुग्धमुग्धकचत्कान्ति हेमन्दिरसुन्दरम् ।
उत्फुल्लकिंशुकाकारं सन्ध्याम्बुदवदुत्थितम् ॥ ८ ॥
दूरापसृतसभ्यं तज्ज्वालाजालं विलोकयन् ।
मृगः प्राग्भक्तिभावेन प्रोल्ललास विलोकितैः ॥ ९ ॥
तं समालोकयन्वह्निं विविक्षुः क्षीणदुष्कृतः ।
पश्चादुपससाराऽऽशु दूरं सिंह इवोत्पतन् ॥ १० ॥

यह सब मैं अभी करता हूँ। आप लोगोंको तमाशा दिखलाता हूँ। यह मृग अभी अभी आप लोगोंके सामने अग्निमें प्रवेश करता है ॥ ४ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—पुण्यकर्मा मुनिवर श्रीवसिष्ठजीने यह कहकर, वहाँपर अपने कमण्डलके जलसे विधिपूर्वक आचमन कर इन्धनहीन ज्वालापुञ्जस्वरूप अग्निका ध्यान किया। श्रीवसिष्ठजीके ध्यान करनेसे सभाके बीचसे अग्निकी ज्वालाएँ धधक उठीं। उन ज्वालाओंमें अँगारोंका नाम निशान न था, लकड़ियोंका उनसे कोई सम्पर्क न था, न धुआँ था और न कारिख ही थी। वे सोने सी स्वच्छ ज्वालाएँ धप-धप दहक रही थीं। उनकी अति सुन्दर कान्ति निखर रही थी, उनका पुञ्ज सोनेके मन्दिरके सदृश दर्शनीय था, फूले हुए पलाशकी-सी आकृतिवाली वह ज्वालाराशि सन्ध्या समयके मेघके समान उदित हुई थी ॥ ५–८ ॥

सभासद ज्वालाराशिसे दूर हट गये थे, उस ज्वालाराशिको पूर्व जन्मके भक्ति-भावसे आदर सहित देख रहे मृगको उसके दर्शनोंसे बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ९ ॥

उस वह्निको देख रहा वह निष्पाप मृग प्रवेश करनेकी इच्छासे छलाँगे भरता हुआ सिंहकी नाईं पीछेकी ओर दूर तक हटा ॥ १० ॥

एतस्मिन्नन्तरे ध्याने विचार्य मुनिपुङ्गवः ।
मृगं विलोकितैः क्षीणपापं कुर्वन्नुवाच ह ॥ ११ ॥
संस्मृत्य प्राक्तनीं भक्तिं भगवन् हव्यवाहन ।
कुरु कारुण्यतः कान्तं मृगमेनं विपश्चितम् ॥ १२ ॥
वदत्येवं मुनौ दूराद्धावित्वा नृपसंसदि ।
मृगोऽग्निं वेगनिर्मुक्तः शरो लक्ष्यमिवाऽविशत् ॥ १३ ॥
ज्वालाजालं प्रविष्टोऽसावादर्श इव बिम्बितः ।
सन्ध्याभ्र इव विश्रान्तो दृष्टस्पष्टशरीरकः ॥ १४ ॥
स पश्यत्स्वेव सभ्येषु मृगोऽथ नरतामगात् ।
ज्वालोदरे नभस्यभ्रलवोरूपान्तरं यथा ॥ १५ ॥
अदृश्यताऽथ ज्वालायामन्तः कनककान्तिमान् ।
पुरुषः पावनाकारः कान्तावयवसुन्दरः ॥ १६ ॥
अर्कबिम्ब इवाऽऽदित्यश्चन्द्रबिम्ब इवोडुपः ।
महाम्भसीव वरुणः सन्ध्याभ्र इव वा शशी ॥ १७ ॥

इसके बीचमें मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजीने ध्यानमें विचार कर अपने दृष्टिपातोंसे मृगको क्षीणपाप करते हुए वह्निके प्रति कहा ॥ ११ ॥

भगवन् अग्निदेव, इसकी पूर्व जन्मकी भक्तिका स्मरण कर इस मनोहर मृगको दयावश विपश्चित् बना दीजिये ॥ १२ ॥

राजसभामें मुनि महाराजके ऐसा कहते ही जैसे वेगसे छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्यमें प्रविष्ट होता है वैसे ही मृग दूरसे दौड़कर अग्निमें प्रविष्ट हो गया ॥ १३ ॥

ज्वालाओंके मध्यमें प्रविष्ट हुआ वह दर्पणमें प्रतिबिम्बित-सा तथा सन्ध्या-कालके मेघमें विश्रान्त हुआ-सा लोगोंको साफ साफ दिखलाई पड़ा ॥ १४ ॥

वह मृग सभासद् लोगोंके देखते देखते जैसे आकाशमें हरिण-सा बादलका टुकड़ा दूसरी शक्लका (मनुष्यकी शक्लका) बन जाता है वैसे ही ज्वालाओंके मध्यमें मनुष्यके आकारको प्राप्त हो गया ॥ १५ ॥

इसके उपरान्त ज्वालाओंके अन्दर सुवर्णकी-सी कान्तिवाला, रमणीय अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे मनोहर पुण्याकृति पुरुष दिखलाई दिया। सूर्यबिम्बमें सूर्यकी तरह, चन्द्र-बिम्बमें चन्द्रमाकी तरह, महान् जलराशिमें वरुणकी तरह अथवा सान्ध्यकालीन मेघखण्डमें चन्द्रमाकी तरह, आँखोंकी पुतलीके मध्यमें, दर्पणमें, जलमें और मणिमें

चक्षुःकनीनिकाकोशे मुकुरे सलिले मणौ ।
प्रतिबिम्ब इवाऽर्काभो भक्तिनाधारपावकः ॥ १८ ॥
अनन्तरं सभामध्याद्वातैर्दीप इवाऽऽहतः ।
ज्वालाजालं ययौ क्काऽपि सन्ध्याम्बुद इवाऽम्बरात् ॥ १९ ॥
कुटीकुड्येषु भग्नेषु प्रतिबिम्ब इवाऽमरः ।
अतिष्ठत्पुरुषस्तत्र पटान्नट इवोद्गतः ॥ २० ॥
अक्षमालाधरः शान्तो हेमयज्ञोपवीतवान् ।
अग्निशौचाम्बरच्छन्नः सद्यश्चन्द्र इवोदितः ॥ २१ ॥
अहो भा इति सभ्योक्त्या तस्य वेषस्य भासनात् ।
भास्वानिव विशालाभो भास इत्येष शब्दितः ॥ २२ ॥
असौ मूर्त इवाऽऽभासो भासनाम्ना भविष्यति ।
सभास्थैः कैश्चिदित्युक्तं तेन भासः स उच्यते ॥ २३ ॥
अथोपविश्य तत्रैव स भासो ध्यानसंस्थितः ।
आत्मोदन्तमशेषेण सस्मार प्राक्तनं तनौ ॥ २४ ॥

प्रतिबिम्बितके समान अग्न्याधार भक्ति ही मानो पुरुषरूप हो सूर्यके समान कान्तिवाला पुरुष दिखाई दिया ॥ १६–१८ ॥

तदनन्तर वायुसे बुते हुए दीपकके समान वह ज्वालापुञ्ज सभाके बीचसे कहीं ऐसे ही विलीन हो गया जैसे कि आकाशसे सन्ध्याकालका मेघ कहीं विलीन हो जाता है ।

देवालय कुटीकी भीतोंके टूट-फूटकर धराशायी होनेपर उनके मध्यमें स्थित भगवान् विष्णु आदि देवताकी प्रतिमाकी तरह तथा पर्देके अन्दरसे बाहर निकले हुए नटकी तरह वहाँ वह पुरुष खड़ा रह गया ॥ २० ॥

उसने रुद्राक्षकी माला ले रक्खी थी, सुवर्णमय यज्ञोपवीत पहना था और अग्निदाहसे निर्मल हुए वस्त्र धारण कर रक्खे थे । वह शान्त और तुरन्त उदित हुए चन्द्रमाके समान कान्तिमान् था ॥ २१ ॥

अहा इसकी भा (छवि) ! इस प्रकार सभासदोंकी उक्ति द्वारा उसके वेषके प्रकाशनसे सूर्यके तुल्य महाकान्ति वह भास नामसे प्रख्यात हुआ ॥ २२ ॥

मूर्तिमान् आभास-सा यह भास नामसे प्रसिद्ध होगा, कतिपय सदस्योंने ऐसा कहा, इस कारण वह भास कहलाता है ॥ २३ ॥

इसके उपरान्त ध्यानमग्न उस भासने वहींपर बैठकर अपने शरीरमें अपने पूर्वजन्मके संपूर्ण वृत्तान्तका स्मरण किया ॥ २४ ॥

सभालोके गतस्पन्दे स्मयेनाऽऽत्मनि तिष्ठति ।
भासो मुहूर्तमात्रेण दृष्ट्वा स्वोदन्तमक्षतम् ॥ २५ ॥
आययौ पूर्वजन्मभ्यो ध्यानालोकाद्व्यबुद्ध्यत ।
सभामालोकयामास समुत्थाय यथाक्रमम् ॥ २६ ॥
स चाऽऽगत्य वसिष्ठाय प्रणाममकरोन्मुदा ।
ज्ञानार्कप्राणद ब्रह्मन्नमस्तेऽस्त्वित्युदाहरत् ॥ २७ ॥
तमुवाच वसिष्ठोऽपि हस्तेन शिरसि स्पृशन् ।
अद्य ते सुचिराद्राजन्नविद्यायाः क्षयोऽस्त्विति ॥ २८ ॥
रामं जयेति जल्पन्तं नतं दशरथोऽथ तम् ।
आसनात्किञ्चिदुत्तिष्ठन्समुवाच हसन्निव ॥ २९ ॥

श्रीदशरथ उवाच

स्वागतं तेऽस्तु भो राजन्निदमासनमास्यताम् ।
अनेकभवसंसारभ्रान्त विश्रम्यतामिह ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

वदत्येवं दशरथे विपश्चिद्भासनामभृत् ।
विवेश विष्टरे विश्वामित्रादीन्प्रणमन्मुनीन् ॥ ३१ ॥

जब कि सभासद जन अपने अन्दर उत्पन्न हुए आश्चर्यसे निश्चल बैठे थे, भास मुहूर्त भरमें अपना साराका सारा वृत्तान्त देखकर पूर्व जन्मोंसे लौट आया, ध्यानलोकसे जाग गया। उसने उठकर मुनि, राजा, सामन्त आदिके क्रमसे सभापर दृष्टिपात किया ॥ २५-२६ ॥

उसने श्रीवसिष्ठजीके निकट जाकर प्रसन्नताके साथ उन्हें प्रणाम किया और हे ज्ञानसूर्यरूपी प्राण देनेवाले ब्रह्मन्, आपके लिए नमस्कार है, यह कहा ॥ २७ ॥

वसिष्ठजीने उसके सिरपर अपना हाथ फेरते हुए उससे कहा—हे राजन्, आज चिरकालसे दृश्यमान तुम्हारी अविद्याका क्षय हो ॥ २८ ॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजीके प्रति जय जयकार करते हुए प्रणाम कर रहे उससे श्रीदशरथजीने आसनसे कुछ उठकर हँसते हुए कहा ॥ २९ ॥

राजा श्रीदशरथजीने कहा—हे राजन्, आपका स्वागत हो, आप इस आसनपर बैठिये। हे अनेक जन्म जन्मान्तरोंसे भ्रमणशील, यहाँपर विश्राम कीजिये ॥३०॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—महाराज दशरथके यों कहनेपर भास नामधारी विपश्चित् विश्वामित्र प्रभृति मुनियोंको प्रणाम कर आसनपर बैठ गया ॥ ३१ ॥

श्रीदशरथ उवाच

अहो बत चिरं कालमालानेनेव दन्तिना ।
वन्येनाऽविद्यया दुःखमनुभूतं विपश्चिता ॥ ३२ ॥
असम्यग्बोधदुर्दृष्टेरहो नु विषमा गतिः ।
व्योम्न्येव दर्शयत्येषा सर्गाडम्बरसम्भ्रमम् ॥ ३३ ॥
कियन्त्याश्चर्यमेतानि जगन्ति विततात्मनि ।
संततानि चिरं तानि विभ्रान्तानि विपश्चिता ॥ ३४ ॥
व्योमात्मनोऽऽपि महिमाऽयमहो नु कीदृ-
गस्य स्वभावविभवस्य-चिदात्मवृत्तेः ।
यः शून्य एव परमात्मघनेऽम्बरेन्त
रेवं विधानि विविधानि जगन्ति भाति ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० मृगवह्निप्रवेशो नाम त्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः ।१३०।

श्रीदशरथने कहा—खेद है, जैसे जंगली हाथी चिरकाल तक बाँधनेके खूँटेसे दुःख पाता है वैसे ही विपश्चित्‌ने अविद्यासे चिरकाल तक दुःख पाया है ॥ ३२ ॥

अहा, असमीचीन बोधसे उत्पन्न हुई दुर्दृष्टिकी बड़ी विषमगति है। उक्त दुर्दृष्टि आकाशमें ही सृष्टिका आडम्बर भ्रम दिखलाती है ॥ ३३ ॥

यह कम आश्चर्यका विषय नहीं है कि सर्वव्यापक आत्मामें इन समस्त बिखेर हुए कितने ही जगतोंका चिरकाल तक विपश्चित्‌ने भ्रमण किया ॥ ३४ ॥

आश्चर्य है चिदात्माका आवरण करनेवाले मायास्वभावरूप विभवकी, जो कि वस्तुतः शून्य है, कैसी महिमा है। जो महिमा शून्य होती हुई भी परमात्मघनके अन्दर इस तरहके विविध विचित्र जगत् बनकर प्रतीत होती है ॥ ३५ ॥

एक सौ तीस सर्ग समाप्त

एकत्रिंशाधिकशततमः सर्गः

श्रीदशरथ उवाच

क्लिष्टोऽयं यदविद्यार्थं विपश्चिदविपश्चितः ।
तदहं चेष्टितं मन्ये कष्टोऽवस्तुनि किंग्रहः ॥ १ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

अस्मिन्नवसरे तत्र राज्ञः पार्श्वे व्यवस्थितः ;
प्रसंगपतितं वाक्यं विश्वामित्रोऽभ्युवाच ह ॥ २ ॥
अप्राप्तोत्तमबोधानां बोधवेद्या विलक्षणाः ।
भवन्त्येवंविधा राजन् बहूनां बहवो भृशम् ॥ ३ ॥
अद्य सप्तदशं वर्षलक्षमक्षीणनिश्चयाः ।
एवमेव भ्रमन्तोऽस्यां वटधाना भुवि स्थिताः ॥ ४ ॥

एक सौ एकतीस सर्ग

[वटधाना राजपुत्रकी कथा सुनाकर श्रीविश्वामित्रजी द्वारा प्रेरित विपश्चित्का अपनी भ्रान्तिका विस्तारसे वर्णन]

श्रीदशरथने कहा—इस विपश्चित्ने दिगन्त भ्रमणरूप अपुरुषार्थभूत अविद्याके उद्देश्यसे जो अनेक कष्ट झेले, इस सबको मैं आत्मज्ञानविहीन इसकी भ्रान्तिरूप निरर्थक चेष्टा समझता हूँ, क्योंकि मिथ्यारूप दिगन्तदर्शन आदि कौतुकमें इसे मैं अवश्य करूँगा इस प्रकारका दुराग्रह क्लेशप्रद होता ही है ॥ १ ॥

महाराज दशरथके वचन सुननेसे श्रीविश्वामित्रजीको वटधाना राजपुत्रोंका वृत्तान्त संस्कार उद्बुद्ध हो गया प्रस्तुत विपश्चिद्वृत्तान्तवर्णन प्रयोजनको दृढ़ करनेमें हेतुभूत होनेसे उक्त वृत्तान्तको अनुपेक्षणीय समझकर वाल्मीकिजी कहते हैं—'**अस्मिन्**' इत्यादिसे ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—उस अवसरमें वहाँ राजा दशरथके समीप बैठे हुए श्रीविश्वामित्रजीने प्रसङ्गप्राप्त वाक्य कहा ॥ २ ॥

राजन्, आपने बहुत ठीक कहा, कारण कि जिन्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे बहुतसे लोग हैं, जिनकी दृष्टिमें इस प्रकारके विचित्र भ्रान्तिज्ञानसे वेद्य वासनामय अनन्त कोटि जगत् रूप बहुतसे पदार्थ उत्पन्न होते ही रहते हैं ॥ ३ ॥

आगे कही जानेवाली भूमिमें वटधाना नामके राजकुमार विपश्चित्के समान ही आज तक लगातार सत्रह लाख वर्षसे घूम रहे हैं ।

भूमेरन्तावलोकार्थमद्याऽप्युद्वेगवर्जितम् ।
प्रवृत्ता न निवर्तन्ते वहनात्सरितो यथा ॥ ५ ॥
अयं खलु महालोको वर्तुलो व्योम्नि संस्थितः ।
बालसङ्कल्पतरुवद् ब्रह्मसङ्कल्पनिश्चयः ॥ ६ ॥
कन्दुके व्योम्नि संरुद्धे दशदिक्कं पिपीलिकाः ।
इत्थं भ्रमन्ति भूतानि तदाधाराणि नित्यदा ॥ ७ ॥
भूगोलकाधोभागानि तदङ्गान्यूर्द्ध्ववन्ति च ।
तदा भूतानि तिष्ठन्ति तान्याविश्य भ्रमन्ति च ॥ ८ ॥
तमेवाऽऽविश्य दूरेण सरितश्चर्क्षमण्डलम् ।
असंस्पर्शा भ्रमन्त्युच्चैः सचन्द्रार्कादि सन्ततम् ॥ ९ ॥

आज भी वे भूमिका अन्त देखनेके लिए किसी प्रकारके उद्वेगसे रहित होकर प्रवृत्त हैं, वे वैसे ही उससे निवृत्त नहीं होते, जैसे कि नदियाँ बहनेसे निवृत्त नहीं होतीं ॥ ५ ॥

यह पाताल, भूमि आदि चौदह लोकोंसे बना हुआ महान् लोक (भुवनोंकी समष्टि) भूलोकके समान ही गोल अन्तरिक्ष लोकोंसे गोलाकार होकर भूमिके चारों ओर आकाशमें स्थित है। यह हिरण्यगर्भका निश्चय संकल्प ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। यह ज्योतिषशास्त्रमें प्रसिद्ध भूगोल, चोदह भुवनके लोग जिसके आधारपर रहते हैं, बालकके संकल्प-वृक्षके समान आकाशमें निराधार स्थित है कारण कि यह भी ब्रह्माका संकल्प निश्चय ही है ॥ ६ ॥

यह निराधार महान् लोक जनाधार कैसे है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'कन्दुके'** इत्यादिसे।

जैसे आकाशमें टिके शहदसे सने हुए गेंदमें चारों ओर चींटियाँ घूमती हैं वैसे ही उसमें तदाश्रित प्राणी नित्य चारों ओर घूमते हैं ॥ ७ ॥

भूगोलके नीचेकी ओरके जो अङ्ग हैं और ऊपरकी ओरके जो अङ्ग हैं, उनमें प्रवेश कर जहाँपर जो जीव जब रहते हैं, तब वे वहाँपर भ्रमण करते हैं ॥ ८ ॥

अन्तरिक्ष लोकमें बहनेवाली मन्दाकिनी आदि नदियाँ सौरपरिवाररूपी चन्द्र, सूर्य आदि युक्त नक्षत्रमण्डलका और उस भूगोलका दूरसे वायु बन्धनवश अवलम्बन कर, उनका स्पर्श किये बिना ही सदा खूब भ्रमण करती हैं ॥ ९ ॥

ज्योतिश्चक्र सहित (नक्षत्रमण्डल सहित) पृथ्वीको चारों ओरसे घेरकर

इहैव सर्वदिक्कं द्यौस्तामावेष्ट्य व्यवस्थिता ।
सर्वदिक्कं खमत्यूर्ध्वं तस्याऽधस्तान्महीतलम् ॥१०॥
भावाः पतन्तो धावन्ति तस्याऽधः सर्वतोऽङ्कम् ।
यत्रोत्पतन्तो गच्छन्ति तदूर्ध्वमिति शब्दितम् ॥११॥
तत्रैकदेशे विद्यन्ते वटधानाभिधानकाः ।
जातास्तेषां त्रयो राजन्राजपुत्राः पुराऽभवन् ॥१२॥
ते ह्येवमेकसङ्कल्पा भूम्यादेर्दृश्यवर्त्मनः ।
कोऽन्तः स्यादिति निर्याता विहर्तुं दृढनिश्चयाः ॥१३॥
पुनर्वारि पुनर्भूमिस्तेषामाक्रमतां चिरम् ।
नवलब्धशरीराणां दीर्घकालो व्यवर्तत ॥१४॥
स्वच्छकन्दुकवम्रीकन्यायेनाऽनिशमत्र ते ।
भ्रमन्तो नाऽप्नुवन्त्यन्तमन्यत्वं संविदन्ति च ॥१५॥

द्युलोक इसी भूलोकमें स्थित है आकाश उसके सब ओर ऊपरको ही है और पृथ्वीतल सबके नीचेकी ओर है ॥ १० ॥

यदि किसीको शङ्का हो कि भूगोलके नीचे स्थित आकाश ऊपर कैसे और नीचेके आकाशकी अपेक्षा पृथिवीतल नीचेकी ओर कैसे ? इसपर कहते हैं—'भावाः' इत्यादिसे ।

उस पृथिवीतलके नीचे जो पदार्थ घूमते हैं वे उसके चौतर्फा तत्-तत प्रदेशोंमें पहुँचते हुए संचार करते हैं जिस आकाशमें पक्षी आदि उड़ते हुए जाते हैं वह उसके ऊपर कहा जाता है नीचे अथवा तिरछा नहीं कहा जाता ॥ ११ ॥

हे राजन्, उस भूगोलके किसी एक भागमें वटधाना नामके देश अथवा उनके अधिपति हैं। उनके वंशमें तीन राजकुमार प्राचीन कालमें उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

वे राजकुमार विपश्चित्के समान ही दृश्य भूमि आदि जगत्का अन्त कौन होगा ? उसको हम देखेंगे, यों दृढ़ निश्चयकर उसके दर्शनके लिए घरसे निकले ॥१३॥

द्वीप और समुद्रके विभागसे फिर जल फिर भूमि इस क्रमसे द्वीप और समुद्रको चिरकाल तक लाँघ रहे मर कर फिर नये शरीरको प्राप्त हुए उनका दीर्घ काल बीत गया ॥ १४ ॥

स्वच्छ गेंदमें लगे हुए दीमकोंकी भाँति भूगोलमें निरन्तर घूम रहे वे जगत्के अन्तको न पा सके, बल्कि उन्हें दूसरे दूसरे देश प्राप्त होते गये ॥ १५ ॥

व्योमस्थकन्दुकभ्रान्तपिपीलिकवदाकुलम् ।
अद्याऽपि संस्थिता राजन्न च खेदं व्रजन्ति ते ॥१६॥
देशं भूगोलकस्याऽस्य यं यमासादयन्ति च ।
इहेव तत्र तत्रोच्चैरधश्चोर्ध्वन्तथा दिशः ॥१७॥
ते वदन्ति महाराज यद्यस्माभिरितोद्यतैः ।
न तावदन्तः सम्प्राप्तः संचराम इतः परम् ॥१८॥
इत्थं न किञ्चिदेवेदं ब्रह्मसङ्कल्पडम्बरम् ।
किञ्चित्सङ्कल्पमज्ञानमनन्तं स्वप्नदृश्यवत् ॥१९॥
कल्पनं तत्परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव कल्पनम् ।
चिद्रूपं नाऽनयोर्भेदः शून्यत्वाकाशयोरिव ॥२०॥
चिन्मात्रं यद्यदाभातं जलवाहविवर्तवत् ।
तत्तादृक्कथमन्याभमन्यस्याऽसंभवाद् भवेत् ॥२१॥

हे राजन्, आकाशमें रुके हुए गेंदमें घूम रही चींटियोंकी नाईं आज भी वे घूमनेमें व्याकुल हैं और थकते भी नहीं हैं ॥ १६ ॥

इस भूगोलके नीचेके ऊपरके अथवा अगल बगलके जिस किसी प्रदेशमें वे पहुँचते हैं। वहाँ यहींकी तरह अच्छी तरह ऊपर, नीचे और दिशाओंको देखते हैं॥१७॥

हे महाराज, तब वे कहते हैं कि हम लोगोंको उद्योग करनेपर भी भूमिका अन्त प्राप्त नहीं हुआ। इसके बाद हम आगे बढ़ें ॥ १८ ॥

कथाका उपसंहार कर उसकी प्रकृतमें योजना करते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे।

यह ब्रह्माका संकल्पाडम्बर वास्तवमें कुछ भी नहीं है। चित्संकल्प स्वप्न-दृश्यके समान असीम और अज्ञान है ॥ १९ ॥

संकल्प-कल्पनाका अधिष्ठान चित् ही है इसलिए केवल चित् ही तत्त्व है, यह दूसरे ढङ्गसे दृढ़ करते हैं—'कल्पनम्' इत्यादिसे।

संकल्प-कल्पना परम ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है। संकल्प-कल्पना ही परम ब्रह्म है। इन दोनोंमें वैसे ही कोई अन्तर नहीं है जैसे कि शून्यत्व और आकाशमें कोई भेद नहीं है ॥ २० ॥

जैसे जलके प्रवाहमें हुए आवर्त, तरङ्ग और बुद्बुद जल ही हैं वैसे ही यहाँ जो कुछ प्रतीत होता है वह सब चिन्मात्र ही है। अन्य वस्तुका अत्यन्त असम्भव होनेसे असदृश वह अन्यसदृश कैसे होगा। आवर्त आदिमें नाभिगर्त आदिका

अभावः खे च खमिदं सर्गादौ परमाम्बरम् ।
स्वयं जगदिवाऽऽभाति नाऽन्यत्प्रलयसर्गकौ ॥२२॥
यथा कषति चिद्रूपं तथैव रतिमेत्य तत् ।
दृष्टादृष्टैः स्वसंसारैश्चिरमास्ते यथाचिरम् ॥२३॥
दृश्यात्मकं रूपमेकमेकमस्यैवमद्वयम् ।
स्वयमेवमजं भाति यन्न भातीव किञ्चन ॥२४॥
चिदणोरुदरे सन्ति समस्तानुभवाणवः ।
शिलाः शैलोदर इव स्वच्छाः खात्मनि खात्मिकाः ॥२५॥
स्वभावनिष्ठास्तिष्ठन्ति ते यदव्याकृतात्मनि ।
मा तिष्ठन्ति तु वै ते यदव्यावृत्ताः परे पदे ॥२६॥

सादृश्य होनेसे कथंचित् उसमें अन्य-तुल्यता हो सकती है, किन्तु इसमें तो सदृश और असदृश अन्य वस्तुका अत्यन्त असम्भव होनेसे अन्यतुल्यता कैसे होगी, यह भाव है ॥ २१ ॥

यह जगत् सृष्टिके आदिमें अभावरूप था अतः शून्य ही था, अतः उस समय परमाकाश (ब्रह्माकाश) ही था यह बात तो बिलकुल निर्विवाद है। और वही स्वयं ब्रह्माकाश इस समय जगत्सा मालूम पड़ता है। इस दृष्टिमें प्रलय और सर्ग भिन्न नहीं है ॥ २२ ॥

वह चिद्रूप काम, कर्म और वासनाके अनुसार जैसे-जैसे कल्पना करता है वैसे ही वहाँपर आसक्त होकर दृष्टादृष्ट—वेद्यावेद्य—जडचिद्रूप अन्योन्यमें तादात्म्याध्यासवाले स्व-संसारोंसे पहले था, वैसे ही आगे भी चिरकाल तक रहेगा ॥ २३ ॥

उनकी दृष्टादृष्टरूपताका विवरण करते हैं—दूसरेकी अद्वयता दिखलाते हैं—'दृश्यात्मकम्' इत्यादिसे ।

आकाशात्मक (शून्यरूप) शिलामध्यमें आकाशात्मक स्वच्छ शिलाओंकी तरह चित्-अणुके मध्यमें तत्-तत् आकारवाली वासनाओंसे अवच्छिन्न सकल जगदनुभव हैं ।

किन्तु शुद्ध चिदणुके मध्यमें जगदनुभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—'स्वभाव०' इत्यादिसे ॥ २५ ॥

आवृत आत्मस्वरूपभूत उक्त जगदनुभव अव्याकृतात्मामें ही स्थित है, किन्तु अविद्याविहीन चैतन्यमें तो वे नहीं ही रहते हैं, क्योंकि उसमें व्यावर्त्य अन्यरूपोंके प्रसिद्ध न होनेसे उक्त जगदनुभव अत्यन्त अभिन्न ही रहते हैं ॥ २६ ॥

तदेव जगदित्युक्तं ब्रह्म भारूपमाततम् ।
पूर्वापरपरामर्शान्निपुणं निपुणाशयाः ॥२७॥
अत्याश्चर्यमनष्टोऽयं परमात्सदनात्स्वयम् ।
नानात्वबुद्ध्या नानैव जीवोऽहमिति ताम्यति ॥२८॥
उच्यतां भास भो राजन् विपश्चिदपराख्य हे ।
कियद् दृष्टं कियद् भ्रान्तं दृश्यं स्मरसि किंच वा ॥२९॥

भास उवाच

बहु दृष्टं मया दृश्यं बहु भ्रान्तमखेदिना ।
बह्वेव बहुधा नूनमनुभूतं स्मराम्यहम् ॥३०॥
मयाऽनुभूतानि महान्ति राजं-
श्चिरं सुदूरे विविधैः शरीरैः ।
सुखानि दुःखानि जगन्त्यनन्ता-
न्यनन्तमासाद्य महाम्बरं तत् ॥३१॥

हे सुनिपुण आशयवाले श्रोताओ, चूँकि परम पदमें सकल जगदनुभव—व्यावर्त्य अन्यरूपोंके अप्रसिद्ध होनेके कारण—अत्यन्त अभिन्न हैं, इसलिए मैंने पूर्वापरका भली-भाँति विचारकर वही सर्वव्यापक ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म जगत् है, यह कहा ॥ २७ ॥

इस प्रकार शुद्ध चित्के एक होनेपर अपने परमपदसे च्युत हुए बिना भी यह जीव द्वैतबुद्धिसे 'मैं जीव हूँ' यों भिन्न होकर जो मलिन होता है, दुःखी होता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ २८ ॥

इस प्रकार वसिष्ठजी द्वारा वर्णित विपश्चित्के चरितकी अपनी उक्ति द्वारा पुष्टि कर भासके मुखसे भी उसकी पुष्टि करानेके लिए विश्वामित्रजीने कहा—'उच्यताम्' इत्यादिसे ।

हे राजन्, हे विपश्चित् अपर नामक भास, तुमने कितना दृश्य देखा, कितना भ्रमण किया उसमें कितनेकी तुम्हें याद है संक्षेपमें थोड़ा-बहुत कहो ॥ २९ ॥

भासने कहा—हे मुनिवर, मैंने बहुत दृश्य देखे, बिना थकावटके बहुत भ्रमण किया तथा बहुत बार बहुत-सा अनुभूत वृत्त मुझे खूब याद भी है ॥ ३० ॥

हे राजन्, उस असीम महाकाशमें पहुँचकर विविध शरीरोंसे बड़े-बड़े सुखों और दुःखोंका चिरकाल तक मैंने अनुभव किया और दूर-दूरके बड़े-बड़े जगत् देखे ॥ ३१ ॥

क्षीरोद्वेलावनगन्धवाह-
विलोलनीलालकवल्लरीणाम् ।
समाः शतं शोकजरापहारि
गीतं श्रुतं माधवसुन्दरीणाम् ॥३९॥
कालञ्जरे मञ्जरिते करञ्ज-
गुञ्जावने जम्बुकतां गतोऽहम् ।
गजेन पिष्टे हरिणा हतोऽसौ
हस्ती मयाऽत्रार्द्धमृतेन दृष्टः ॥४०॥
संतानकप्रकरहासिनि सह्यसानौ
कस्मिंश्चिदन्यजगतीन्दुमुखी सुरस्त्री ।
एकाकिनी कृतयुगार्द्धमथाऽहमासं
कल्पद्रुमस्तबकसद्मनि सिद्धशापात् ॥४१॥
अद्रीन्द्रकच्छकरवीरलतालयेषु
नीतं समाशतमशङ्कधिया मयाऽन्यत् ।
अन्यत्र दूरजगतीन्द्रगिरौ विरावि-
वाल्मीकपक्षिवपुषाऽनिशमेककेन ॥४२॥

सौ वर्ष तक मैंने क्षीरसागरके तीरस्थित वनके मन्द सुगन्ध शीतल वायुसे चञ्चल नील अलकावलीवाली माधव (कृष्ण) भगवान्‌की दिव्य रमणियोंके शोक और बुढ़ापेको हरनेवाले मधुर गीत सुने ॥ ३९ ॥

उसके बाद मैं कालञ्जर पर्वतपर फूले हुए कञ्जे और घुँघचीके वनमें सियार-की योनिको प्राप्त हुआ । वहाँपर किसी हाथीने अपने पञ्जेसे मुझे चूर-चूर कर दिया उस अधमरी दशामें मैंने मुझे कुचलनेवाले हाथीको सिंहके हाथ मरा देखा ॥४०॥

सियारकी योनिसे छुटकारा पानेके पश्चात् किसी दूसरे लोकमें सन्तानकके (कल्पवृक्ष भेदके) झुरमुटसे सुशोभित सह्याचलके शिखरपर कल्पवृक्षके निकुञ्जगृहमें सिद्धके शापसे एकाकिनी (अकेली) चन्द्रमुखी अप्सराके रूपमें आधे सत्ययुग तक मैं रहा ॥ ४१ ॥

उसके उपरान्त मैंने सह्याचलके जलप्राय (दलदल) प्रदेशमें उगे हुए कनइल-की शाखाके मध्यवर्ती घोंसलोंमें सदा शब्द करनेवाले वाल्मीक नामक पक्षीके रूपमें निश्शङ्क होकर सौ वर्ष बिताये । जब मेरे स्त्री-पुत्र आदिके साथ ही कनइलका पेड़

अन्यत्र सानुनि मया परिलम्बमानाः
सच्छायचन्दनवनावलिते लतानाम् ।
दृष्टाः स्त्रियः फलमिवाऽऽवलिता विलासै-
र्भुक्ताश्च ता अपहृता अपि सिद्धपान्थैः ॥४३॥
अन्यत्र पर्वतनितम्बकदम्बकच्छे
नीतानि तापसतयोत्तमया दिनानि ।
प्राप्यैकवस्त्वभिनिवेशविषूचिकात्त-
चित्तेन तान्तमतिनाऽमतिना मयाऽन्तः ॥४४॥
ब्रह्माण्डसम्पूरितमन्यदस्ति जलेचराशेषदिगन्तभूतम् ।
संदिग्धतेजोम्बरवातसत्त्वं जलस्थभूताकृतिमात्रभूमि ॥४५॥

नष्ट हो गया तब दूरवर्ती लोकमें महेन्द्रपर्वतपर वियोगजन्य दुःखसे अत्यन्त पीड़ित हुए मैंने अपनी आयुके शेष दिन अकेले बिताये ॥ ४२ ॥

इस प्रकार उक्त दो जन्मोंके बाद सिद्धके शापसे छुटकारा पानेपर सिद्धके ही अनुग्रहसे सिद्धिको प्राप्त हुए मैंने महेन्द्रपर्वतके ही छायायुक्त चन्दनवनोंसे वेष्टित अन्य शिखरपर लताओंके मूलोंपर फलोंकी नाईं लटक रहीं एकसे एक बढ़कर विलासवाली स्त्रियाँ देखीं। यद्यपि उनका हृदय सिद्ध पथिकों द्वारा हर लिया गया था, तथापि मैंने उनका उपभोग भी किया ॥ ४३ ॥

तदनन्तर विवेकविहीन होनेसे मेरा चित्त अविद्याके अन्तदर्शनके लिए उत्पन्न हुई दुराग्रहरूपी महामारीसे विवश था, अतएव मेरी बुद्धिको ग्लानि हो गई थी, इस कारण मैंने अन्दर विरक्ति प्राप्तकर महेन्द्र पर्वतके मध्यवर्ती जलप्राय प्रदेशमें तपस्वी बनकर दिन बिताये ॥ ४४ ॥

इस प्रकार अपनी जन्मपरम्पराओंके वर्णनके बीचमें उसे अकस्मात् आश्चर्यमय कतिपय अन्य वृत्तोंका स्मरण हो आया। उन्हें वह बड़ी उत्सुकतासे कहना आरंभ करता है—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे।

हे मुनिवर, दूसरी एक अत्यन्त आश्चर्यमय वस्तु है, उसे सुनिये। वह अनन्त ब्रह्माण्डोंसे भरी है, उसके निखिल दिशाओंमें रहनेवाले प्राणी जलचरोंके तुल्य हैं, अतएव उसमें तेज, आकाश और वायुके अस्तित्वमें सन्देह है। उसकी भूमिकी आकृति जलमें प्रतिबिम्बित भूतकी-सी है। उक्त आश्चर्यमय वस्तु थोड़ा-बहुत व्याकृत नामरूपवाला ब्रह्म ही है ॥ ४५ ॥

एकत्र दृष्टा वनिता मयैका तस्याः शरीरे त्रिजगन्ति भान्ति ।
प्रतिबिम्बितानीव सुदर्पणेऽन्तराकाशशैलादिदिगादिमन्ति ॥४६॥
पृष्टा मयाऽसौ वरगात्रि काऽसि शरीरमेतच्च किमीदृशं ते ।
तयोक्तमङ्गेह चिदस्मि शुद्धा ममाऽङ्गमेतानि महाजगन्ति ॥४७॥
यथाऽहमेवं स्मयदेहिकेयं सर्वं तथैवाऽङ्ग न चित्रमेतत् ।
अन्यैः स्वभावो विदितो न शुद्धो यदा न पश्यन्ति तदेत्थमङ्ग ॥४८॥
अवेदशास्त्रेण जगत्यशेषैर्भूतैः स्वदेहालयभित्तिभागात् ।
एतद्विधेयं न विधेयमेतद् ध्वनिः स्वतः श्रूयत एव नित्यम् ॥४९॥

वह आश्चर्य और चाँदीकी शिलाके अनुसार स्त्री-शरीर आदि सकल पदार्थोंमें भी सकल जगत् रूप गर्भ प्रत्येकमें है ऐसा एक दूसरा आश्चर्य मैंने वहाँ देखा यह कहनेके लिए किसी स्त्रीका उदाहरण देता है—'एकत्र' इत्यादिसे ।

एक जगह मैंने एक स्त्री देखी। उसके शरीरमें सुन्दर शीशेके अन्दर प्रतिबिम्बित हुए जैसे आकाश, पर्वत आदि सहित दिशा, काल, प्राणी आदिसे पूर्ण तीनों जगत् शोभित होते हैं, यह अत्यन्त आश्चर्य है ॥ ४६ ॥

तदुपरान्त मैंने उससे पूछा—हे सुन्दरी, तुम कौन हो, तुम्हारा यह शरीर त्रिजगद्घटित कैसे है ? तब उसने मुझसे कहा, हे जीव, इस वस्तुसमूहमें जो शुद्ध-सर्वावभासिका चित् है, वह मैं ही हूँ। ये महा जगत् मेरे अंग हैं, मूर्त-अमूर्त शरीर हैं, क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (ब्रह्मके दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त) 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' (जिसके सब भूत शरीर हैं) इत्यादि श्रुतियाँ है ॥४७॥

हे जीव, जैसे मैं जगद्घटित होनेके कारण तुम्हारे लिए विस्मयावह हूँ वैसे ही यह सब स्तम्भ, घट आदि वस्तुएं भी सर्वजगद्घटित होनेसे अति आश्चर्यमय ही हैं।

शङ्का—यदि सभी वस्तुएं जगद्घटित हैं यानी प्रत्येक वस्तुके अन्दर सकल जगत् विद्यमान हैं तो अन्य लोगोंको भी ऐसा क्यों नहीं दिखाई देता ?

समाधान—जब तक प्रत्येक वस्तुका ऐसा स्वभाव ज्ञात नहीं होता, तब तक वे नहीं देखते जब एकमात्र आतिवाहिकभावके बद्धमूल (दृढ़) हो जानेपर प्रत्येक वस्तुका ऐसा स्वभाव ज्ञात हो जायगा तब वे भी अवश्य ही जानेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ४८ ॥

यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मुझे अपने देह का सर्वजगत्घटित रूपसे अनुभव नहीं होता। यदि कहो कि देहके अन्दर चक्षु आदिका प्रवेश न होनेसे उसमें

ईदृक्स्वभावैव पदार्थसत्ता
सा तेऽत्र यद्भित्त्यचलादयोऽपि ।
स्वप्नादिमायास्विव मे वदन्ति
वाचं न युष्मास्वसमञ्जसं तत् ॥५०॥

तुम्हें जगत्का दर्शन नहीं होता तो उसमें स्थित वेद, शास्त्र आदिका कानोंसे श्रवण भी नहीं होगा ऐसी मेरी असंभावनाका अनुमान कर उसको संभव बतलानेके लिए उसने मुझसे कहा—'अवेद०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

तुम और तुम्हारे सरीखे अन्य प्राणी जिसे अवेद-शास्त्र मानते हैं देहान्तर्गत जगत्में स्वदेहभवनरूप भित्तिके एकदेशरूप कर्णशष्कुलीप्रदेशसे नित्य अनाहत नाद, जो सकल वेद शास्त्रादि शब्दसामान्य ध्वनि है, स्वतः सुनाई देता ही है । उसीके गर्भमें नित्य नैमित्तिक कर्मका तथा शम, दम आदि ज्ञानके साधनोंका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये ये सब विधियां निहित हैं तथा कलञ्जका भक्षण नहीं करना चाहिये यह सकल निषेधक वेदशास्त्र उसके अन्दर निहित हैं। उसके श्रवणसे ही उसके अन्तर्गत विधि निषेध शास्त्रके समान उसका अर्थभूत जगत् भी देहमें है, ऐसी आप संभावना कीजिये, यह भाव है ॥ ४९ ॥

उक्त न्यायसे खम्भे, घड़े आदि में भी सकल जगत्का अस्तित्व है ऐसी संभावना करनी चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'ईदृग्' इत्यादिसे ।

जैसे अनाहत नाद शब्दसामान्यस्वभाव है वैसे ही सकल पदार्थोंमें अनुगत पदार्थसत्ता भी सर्वजगद्घटितसामान्यस्वभाववाली ही है, क्योंकि इस जगत्में प्रसिद्ध दीवार, पर्वत आदि भी ब्रह्मसत्ता रूप ही हैं। दीवार आदि बोलते नहीं अतः अचेतन हैं, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वे जैसे स्वप्न आदिमें प्रसिद्ध भाषामें बोलते हैं वैसे ही मेरे सम्मुख भी बोलते हैं। जब अत्यन्त जड़ रूपसे प्रख्यात दीवार आदिमें सर्वजगद्घटितचेतनता असमञ्जस (अयुक्त) नहीं है तब प्रायः चेतनरूप आप लोगोंके शरीरोंमें तो सुतरां असमञ्जस नहीं है ॥ ५० ॥

स्त्रीसंवादरूप आश्चर्यका आँखों देखा वर्णन कर भास वैसा ही दूसरा आश्चर्य कहता है—'अस्त्रीक०' इत्यादिसे ।

एक समय मैं ऐसे लोकमें जा पहुँचा जहाँ स्त्रियोंका नामनिशान भी न था । मैंने वहाँके सब प्राणियोंको स्त्रीसम्बन्धके अभिलापसे रहित देखा ।

शङ्का—तब वहाँ पुत्र-पौत्र आदि सन्तति-विस्तार और पूर्वजोंका मरण कैसे होता है ?

अनीकसंसारगतेन दृष्टं
मया क्वचिद्यावदनन्यकामम् ।
भूतानि निर्यान्ति बहूनि भूताद्
विशन्ति भूतानि बहूनि भूतम् ॥ ५१ ॥
एकानि दृष्टानि मयाऽञ्जसानि
खेऽभ्राण्यदभ्राङ्ग झणज्झणानि ।
वृष्ट्या समन्तान्निपतन्ति खण्डै-
र्भवन्ति तीक्ष्णानि जनायुधानि ॥ ५२ ॥
अन्यत्र दृष्टं गगनेन याव-
दिहाऽन्धया ग्रामगृहाणि यान्ति ।
विशन्त्यमुत्राऽन्त इहाऽभवद्यो
ग्रामः स एवाऽन्यत एव लब्धः ॥ ५३ ॥
नरामराहिप्रविभागमुक्ता-
न्यन्यत्र भूतानि समानि सन्ति ।
खादेव सर्वाणि समुद्भवन्ति
तत्रैव कालेन लयं प्रयान्ति ॥ ५४ ॥

समाधान—वहाँपर बहुतसे प्राणी एक भूतसे निकलते हैं, प्रकट होते हैं और बहुतसे प्राणी एक भूतमें प्रविष्ट होते हैं, विलीन होते हैं, इस प्रकार वहाँ नवीन सृष्टिका आविर्भाव और प्राचीन सृष्टिका तिरोभाव होता है, यह तात्पर्य है ॥ ५१ ॥

मैंने उत्पात आदिसे कोई वास्ता न रखनेवाले दूसरे बादल आकाशमें देखे। गर्जनवश शस्त्रास्त्रोंके आपसमें टकरानेकीसी ध्वनिसे उनमें झंझनाहट होती है, उनसे वृष्टि द्वारा जो बिजली आदि जलके समान गिरते हैं वे अपने टुकड़ों द्वारा लोगोंके आयुध (हथियार) होते हैं ॥ ५२ ॥

दूसरी जगह मैंने दूसरा आश्चर्य देखा, वह है इस जगत्‌में जितने ग्राम-गृह हैं वे सबके सब अन्धकारसे बेकाम हुई दृष्टिसे ही आकाशमार्गसे जाते हैं, दूरवर्ती दिगन्तमें प्रविष्ट होते हैं। वह आपका गाँव जो यहाँ था वही मुझे अन्यत्र मिला यह आश्चर्य है ॥ ५३ ॥

एक जगह मैंने ऐसा आश्चर्य देखा कि स्वर्ग, भूमि और पाताल लोकोंके जीवोंमें ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये नाग हैं इस तरहका अवान्तर विभाग नहीं है

अचन्द्रतारार्कमनन्धकारं
स्वयंप्रकाशाखिलभूतजातम् ।
स्मरामि किंचिज्जगदेककान्तं
ज्वालोदराभं दिनरात्रिमुक्तम् ॥ ५५ ॥
अपूर्वदैत्याहिनरामरादि-
भूतान्यपूर्वद्रुमपत्तनानि ।
अपूर्वलोकान्तरकार्यवन्ति
स्मराम्यनन्तानि महाजगन्ति ॥ ५६ ॥
दिगस्ति सा नो विहृतं न यस्यां
न सोऽस्ति देशः खलु यो न दृष्टः ।
यन्नाऽनुभूतं न तदस्ति कार्य-
मन्याश्रयं नाऽपरमस्ति मर्शात् ॥ ५७ ॥
क्षीरोदकभ्रमितमन्दररत्नशृङ्ग-
धाराग्रनिर्दलनजातझणज्झणानाम् ।

अतएव सब एक-से हैं। आकाशसे ही सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है और आकाशमें ही वे लीन होते हैं ॥ ५४ ॥

दूसरी जगह मैंने जो बड़ा अचम्भा देखा वह यह है—न उस लोकमें चन्द्रमा है और न तारे ही हैं फिर भी वहाँ अन्धकारका नामनिशान नहीं है, कारण कि वहाँके निवासी सभी प्राणी स्वयंप्रकाश है। अत्यन्त रमणीय उस अलौकिक जगत्का जो ज्वालाके मध्यके समान प्रकाशमय और दिन-रात्रिसे रहित है मुझे फिर-फिर स्मरण हो आता है ॥ ५५ ॥

एक दो नहीं असंख्य महा जगतोंका मुझे स्मरण होता है, जिनमें दैत्य-दानव, नाग, नर, सुर आदि जीव विलक्षण हैं, पेड़, नगर अपूर्व हैं, उनमें अन्य लोकोंके व्यवहारोंसे विलक्षण व्यवहार होते हैं ॥ ५६ ॥

जिसमें मैंने विहार नहीं किया वह दिशा नहीं है, जो देश मैंने नहीं देखा वह देश नहीं है, जिस कौतुकका मैंने अनुभव नहीं किया वह कौतुक नहीं है और मेरे विमर्शसे (अनुभवरूप सर्वसाक्षीसे) अतिरिक्त अन्यमें रहनेवाला कोई विमर्श भी नहीं है ॥ ५७ ॥

एकत्र संश्रुतमुपेन्द्रभुजाङ्गदानां
शब्दं स्मरामि घनगर्जितशङ्कितेन ॥ ५८ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० भाससंसारवर्णनं नाम एकत्रिंशाधिक-शततमः सर्गः ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशोत्तरशततमः सर्गः

भास उवाच

मन्दरे मृदुमन्दारमन्दिरे मन्दाराभिधाम् ।
आलिङ्ग्याऽप्सरसं सुप्तं सरित्तृणमिवाऽनयत् ॥ १ ॥
मामथाऽसौ मया पृष्टा समाश्वास्य जलाकुला ।
बाले किमिदमित्युक्तं तया चपलनेत्रया ॥ २ ॥

अमृतमथनके लिए क्षीर सागरमें घुमाये गये मन्दराचलके रत्नमय शिखरोंकी तीखी धारोंके अग्रभागोंसे छिलने पर झनझन शब्दवाले भगवान् श्री हरिके बाजूबंदोंकी ध्वनिका, जिसे सुनकर लोगोंको मेघकी गर्जनाकी आशङ्का हुई थी, मुझे स्मरण हो रहा है ॥ ५८ ॥

एक सौ एकतीस सर्ग समाप्त

एक सौ बत्तीस सर्ग

[भास द्वारा पुनः अपनी विविध जन्मभ्रान्तियोंका, महान् आश्चर्योंका तथा संसारकी असारताका वर्णन]

भास आश्चर्यमय घटनाओंसे व्यवहित अपने जन्मोंकी परम्पराओंके वर्णनकी कथाका पुनः अनुसन्धान करता है—'मन्दरे' इत्यादिसे ।

पर्वतके मध्यभागके कदम्बोंके झुरमुटमें तपस्विताके अनुभवसे बहुत दिन बितानेके कारण मुझे सिद्धि प्राप्त हो गई, अतएव मन्दराचलमें मनोहर मन्दारके निकुञ्जरूपी मन्दिरके अन्दर मन्दरा नामकी अप्सराका आलिङ्गन कर मैं सोया था। मुझे अपने वेगमें गिरे हुए तिनकेके समान आगे कहीं जानेवाली नदी बहा ले गई ॥ १ ॥

इसके उपरान्त जलमें घबड़ाई हुई मन्दराको आश्वासन देकर मैंने उससे पूछा—'प्रिये यह क्यों हुआ ?' यानो हम दोनों अकस्मात् नदीमें क्यों बह गये ।

इह चन्द्रोदयेष्वेताश्चन्द्रकान्तकटप्रजाः ।
नद्यो माद्यन्ति वनिताः सेष्टा इव निशागमे ॥ ३ ॥
त्वत्सङ्गमरसावेशवशात्तन्ननु विस्मृतम् ।
इत्युक्त्वा मामुपादाय सोड्डीना विहगीव खे ॥ ४ ॥
भृङ्गं भृङ्गवतः भृङ्गे गङ्गाकनकपङ्कजे ।
अहमासं समाः सप्त तत्क्लिन्नोऽकर्दमाप्लुते ॥ ५ ॥
अन्यन्मया जगद्दृष्टमृक्षचक्रविवर्जितम् ।
गर्भगर्भस्थैकजातिस्वप्रकाशजनावृतम् ॥ ६ ॥
न दिग्विभागो न दिनानि यत्र
न चैव शास्त्राणि न वेदवादाः ।
न चैव दैत्यादिसुरादिभेदो
जगन्मया तादृगथाऽऽत्मदीप्तम् ॥ ७ ॥

उस चञ्चलनयनाने मुझसे कहा—प्रियवर, इस प्रदेशमें चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रकान्त-मणिमय पर्वतके मध्यभागोंसे निकली हुई ये नदियाँ चन्द्रकान्त मणियोंसे निकले हुए जलस्रोतोंसे वैसे ही मतवाली हो जाती हैं जैसे कि रात्रिके समय अपने प्रियतमके साथ स्त्रियाँ कामवासनासे मतवाली हो जाती हैं ॥ २-३ ॥

तो नींद आनेके पूर्व ही यह बात तुमने मुझको क्यों नहीं बतला दी, इसपर वह कहती है—'त्वत्संगम०' इत्यादिसे।

आपके समागमजनित आनन्दातिरेकसे मैं आपसे यह कहना भूल गई। यह कह कर जैसे पर्वतके शिखरपर गङ्गाके स्वर्णकमलमें बैठी हुई भँवरी अपने सहचर भ्रमरको लेकर उड़ती है वैसे ही वह मुझे लेकर आकाशमें उड़ गई। उस जलसे पीड़ित हुआ मैं तदनन्तर सात वर्षतक उसके साथ कीचड़के स्पर्शसे रहित निर्मल मन्दराचलके शिखरपर रहा ॥ ४-५ ॥

उसके बाद दूसरे जन्ममें आश्चर्यपूर्ण जगदन्तदर्शनका वर्णन करता है—'अन्यत्' इत्यादिसे।

दूसरे जन्ममें मैंने दूसरा जगत् देखा, जो ज्योतिश्चक्रसे (सौरपरिवारसे) शून्य था तथा केलेके छिलकेके समान गर्भके गर्भमें स्थित एकसे स्वप्रकाश लोगोंसे आकीर्ण था ॥ ६ ॥

तो वहाँपर लौकिक और वैदिक व्यवहार कैसे चलता था ? इस प्रश्नपर कहता है—'न' इत्यादिसे।

विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
वभ्रंलिहाचलनितम्बकदम्बकच्छे ।
आसं समाः समरसोऽमरसोमनामा
सप्ताऽन्यसप्त स समुद्रतटे तपस्वी ॥ ८ ॥

पवनवहनसंनिवेशनाना-
सुहयपयोधरदेहकैरनेकैः ।
गजहरिणमृगेन्द्रवृक्षवल्ली-
मृगनगपन्नगपक्षिभिः परीतम् ॥ ९ ॥

गगनमवनितः समेत्य वह्ने-
र्वरविभवेन जगत्यनन्तकोशम् ।
क्वचिदहमभितो दिदृक्षुरग्रे
सृत उरगाशनवद्बलादविद्याम् ॥ १० ॥

क्वचिदहं जगतः परिनिर्गतः
पतित एक महार्णवविस्तृते ।
नभसि तत्र निवासिनि मे सितः
समयमन्वभवं पतनं तथा ॥ ११ ॥

उसके बाद मैंने अपनेसे ही प्रकाशमान वैसा जगत् देखा, जहाँपर न तो पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंका भेद था, न दिन थे, न मर्यादास्थापक शास्त्र ही थे, न वेदवाद थे और न दैत्य आदि, सुर आदि विभेद ही था ॥ ७ ॥

तदनन्तर दूसरे जन्मका वृत्त कहता है—'विद्या०' इत्यादिसे ।

समुद्र तीरके निकटवर्ती विद्याधर और देवताओंके विहारके लिए विमानोंकी भूमिरूप गगनचुम्बी पर्वतोंके मध्यभागमें अमरसोम नामका निर्द्वन्द्व गन्धर्व मैं चौदह वर्ष तक तपस्वी हुआ ॥ ८ ॥

तदुपरान्त मैं अग्निदेवके वरके प्रभावसे जगत्‌में चारों ओर अविद्याको देखनेकी इच्छा कर पवनके समान लगातार गमन युक्त क्रम और संन्निवेशवाले रंग-बिरंगे अच्छी जातिके घोड़े और मेघोंके समान आकारवाले लोगोंसे तथा हाथी, मृग, सिंह, वृक्ष और लताओंसे एवं अन्यान्य मृग, पर्वत, सर्प और पक्षियोंसे व्याप्त अनन्तकोशवाले आकाशमें पृथ्वीसे जाकर गरुड़के समान वेगसे आगे बढ़ा ॥ ९,१० ॥

कहींपर मैं जगत्‌से निकलकर एकमात्र महार्णवके समान विस्तृत आकाशमें

आकाशकोशपतनानुभवैकवृत्तेः
श्रान्तस्य मे पदमकार्यथ निद्रयाऽन्तः ।
तादृक्सुषुप्तवपुषाऽथ मयोपलब्धं
स्वप्नात्मजाग्रति तदात्मनि तत्र विश्वम् ॥ १२ ॥
भूयो दिगन्तभुवनाभरमन्दराद्रि-
संसारचञ्चलतया लतयेव पक्षी ।
अक्षीणवातवलया परिचाल्यमान-
स्तन्मासु तासु पतितो हि जगद्गुहासु ॥ १३ ॥
विषयाशादृशो यावत्तावद्यातः क्षणादहम् ।
पुनस्तथैव पश्यंस्तु दृश्यं यातः पुनः पुनः ॥ १४ ॥
इति दृश्यमदृश्यं च गम्यं चाऽगम्यमेव च ।
वेगाल्लङ्घयतो देशं मम वर्षगणा गताः ॥ १५ ॥

गिरा, वहाँपर निवास करनेवालोंके तुल्य नक्षत्रसमूहमें बँधकर मैंने दिन, रात, मास, ऋतु आदि समयका अनुभव किया तथा दिशाओंमें पतनका (गमनका) भी अनुभव किया ॥ ११ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे आकाशकोशमें गमनका अनुभव करना ही मेरी एकमात्र वृत्ति थी तथा चिरकालके गमनसे मैं थक कर चूर हो गया था, अतएव इसके बाद निद्रा देवीने मेरे हृदयपर अड्डा जमाया। उस प्रकारके यानी सब लोगोंमें प्रसिद्ध सुषुप्त शरीरको लेकर स्थित हुए मुझे इसके बाद स्वप्नात्मक जाग्रत्में अपने अन्दर ही सारा विश्व प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥

वहाँपर भी पुनः दिगन्त, भुवन आदि गमनवश प्राप्त हुई चञ्चलतासे मैं वैसे ही चञ्चल बनाया गया जैसे कि उस लता द्वारा; जिसमें वायुका वेग क्षीण न हुआ हो, पक्षी चञ्चल बनाया जाता है। उक्त चञ्चलताको प्राप्त हुआ मैं पूर्व संकल्पित दृश्य-परिच्छेदरूप जगद्गुफाओंमें गिरा ॥ १३ ॥

चक्षुकी जहाँतक विषयाशा विस्तृत है वहाँतक मैं एक क्षणमें चला गया। फिर उसी प्रकार देखता हुआ विषयदर्शनके कौतुकसे फिर फिर दृश्यको प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

इस प्रकार जागरणावस्थामें और स्वप्नावस्थामें दृश्य और अदृश्य विषयके उद्देश्यसे गम्य और अगम्य देशको वेगसे लांघ रहे मेरे बहुत वर्ष बीत गये ॥ १५ ॥

दृश्याख्याया अविद्याया न त्वन्तं प्राप्तवानहम् ।
मिथ्यैव हृदि रूढायाः पिशाच्या इव बालकः ॥ १६ ॥
नेदं नेदं सदित्येव विचारानुभवे स्थितम् ।
तथाऽपीदमिदं चेति दुर्दृष्टिर्न निवर्त्तते ॥ १७ ॥
प्रतिक्षणं सुखैर्दुःखैर्देशकालैः समागमैः ।
सरिद्वारिवदालोला नवमायान्ति यान्ति च ॥ १८ ॥
तालीतमालवकुलातुलतुङ्गशृङ्ग-
मुन्नादवातजवमेकमहं स्मरामि ।
सूर्यादिभिर्विरहितं प्रकटं स्वकान्त्या
सस्थावराद्रितटजङ्गममेव विश्वम् ॥ १९ ॥
यदेतदेकान्तविहारहारि
स्वच्छन्दमेकामितमस्तशङ्कम् ।
क्वचिन्मया चारुजगत्सु दृष्टं
तुल्या न तस्याऽमरराजलक्ष्मीः ॥ २० ॥

किन्तु दृश्यनामक अविद्याका अन्त मुझे वैसे ही नहीं मिला जैसे कि मिथ्या ही हृदयमें जमी हुई पिशाचीका अन्त बालकको प्राप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

यद्यपि यह सत् नहीं है, यह सत् नहीं है इस प्रकारके विचारानुभवमें मैं स्थिर रहा तथापि यह सत्य है, यह असत्य है, यों प्रत्येक विषयमें मेरी दुर्दृष्टि निवृत्त नहीं हुई, क्योंकि चिरकालसे अभ्यस्त द्वैतसत्यताका मेरा संस्कार प्रबल था ॥ १७ ॥

यद्यपि मैं विचारसे दुर्दृष्टियोंका निवारण करनेका यत्न करता था फिर भी वे प्रतिक्षण प्राप्त हुए सुख, दुख, भिन्न देश, भिन्न काल तथा इष्ट और अनिष्ट लोगोंके समागमोंसे नदियोंके जलकी भाँति नई नई आ जाती हैं और चली जाती हैं ॥१८॥

ताड़, तमाल, मौलसिरी आदिसे अनुपम उन्नत एक शिखरकी मुझे याद आ रही है, उसमें वायुका वेग खूब साँय-साँय शब्द करता है, यद्यपि वह सूर्य आदिसे रहित है तथापि अपनी कान्ति से जगमगाता है। साराका सारा विश्व उस शृङ्गके स्थावर और जंगम पर्वत तटोंसे युक्त चोटी स्थानीय है यानी सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही यहाँपर आश्चर्य शृङ्ग कहा गया है ॥ १९ ॥

जो यह शिखर एकान्तमें विहार करनेवाले तत्त्वज्ञानियोंके मनको हरनेवाला, स्वच्छन्द एक तथा विकारकी शङ्कासे परे है, त्रिविध परिच्छेदसे शून्य है, उसे मैंने

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अवि० वि० भासवर्णित-
स्वजन्मपरम्परा नाम द्वात्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशाधिकशततमः सर्गः

विपश्चिदुवाच

कस्मिंश्चिदन्यत्र जगत्यपूर्वे
दृष्टं मयेदं शृणु किं विचित्रम् ।
महाघवृत्तान्तदशासमान-
मविद्ययाऽन्धेन बलात्कृतं यत् ॥ १ ॥
अस्ति क्वचित्खे भवतामगम्ये
जगज्ज्वलद्दीप्तिविचित्रसर्गः ।
एतादृगप्यम्बरतस्तदन्यत्
स्वाम्रं पुरं जाग्रति चेतसीव ॥ २ ॥

वहीं सुन्दर जगतोंमें (ब्रह्मविन्मण्डलियोंमें) देखा । देवराज इन्द्रकी और ब्रह्माकी लक्ष्मी भी उसकी बराबरी नहीं कर सकती ॥ २० ॥

एक सौ बत्तीस सर्ग समाप्त

एक सौ तेंतीस सर्ग

[कहींपर भासने जो अत्यन्त अचम्भा आकाशसे सारे ब्रह्माण्डके बराबर शवका गिरना देखा, उसका वर्णन]

इस अविद्योपाख्यानमें अत्यन्त अचम्भोंके वर्णनके सिलसिलेमें शवोपाख्यान-का भासके मुखसे वर्णन करानेके लिये भूमिका बाँधते हैं—'कस्मिंश्चित्' इत्यादिसे ।

विपश्चित् ने कहा—हे मुनिवर, इस जगत्से भिन्न किसी दूसरे अपूर्व जगत्में मैंने आगे कहा जानेवाला क्या अचम्भा देखा, उसे आप सुननेकी कृपा कीजिये । वह ब्रह्महत्या आदि महापातकोंके कारण प्राप्त होनेवाले रौरव आदि नरकोंके वृत्तान्त-वर्णनके समान अत्यन्त ही बीभत्स था फिर भी अविद्यासे अन्धे बने हुए मुझे वह्निदेवकी वरप्राप्तिवश उसका अनुभव करना पड़ा ॥ १ ॥

कहीं आकाशमें, जहाँ आप लोगोंकी पहुँच नहीं है, एक जगत् है । वहाँ जग-मगा रही सूर्य और चन्द्रकी कान्तिसे विचित्र सृष्टि है । यद्यपि वह जगत् रूप-रेखासे

तस्मिन्मया विहरता हृदयस्थमर्थ-
मन्वेष्टुमक्षि निहितं ककुभां मुखेषु ।
पश्यामि यावदचलप्रतिमा धरायां
छायालिजालमलिना परिबंभ्रमीति ॥ ३ ॥
आश्चर्यमात्रमुचितं किमिदं निमेषा-
दित्यक्षि वै जगति यावदहं त्यजामि ।
खात्तावदद्रिमतुलं पुरुषाकृतिं द्राग-
गावर्तवृत्तिभिरपश्यमहं पतन्तम् ॥ ४ ॥
कः स्यादयं गिरिगुरुः पुरुषो विराड् वा
पर्यस्तपर्वतवदाशु पतच्छरीरः ।
आकाशपूरकवपुः परमाम्बरोऽपि
यो नैव भाति पिहिताखिलवासरश्रीः ॥ ५ ॥

इस ब्रह्माण्डके सदृश ही है तथापि इस ब्रह्माण्डकी दृष्टिसे शून्य होनेके कारण इससे भिन्न ही है। जैसे कि स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुआ नगर यद्यपि रूपरेखासे जाग्रत्-अवस्थामें दृष्ट नगरके समान ही रहता है तथापि जाग्रत्‌की दृष्टिसे शून्य होनेके कारण चित्तमें जाग्रद् दृष्ट नगरसे भिन्न ही प्रतीत होता है ॥ २ ॥

उस जगत्‌में निवास कर रहे मैंने अपनी अभिलषित वस्तु (अविद्याका अन्त) दिगन्तोंमें खोजनेके लिए दिशाओंकी ओर आँखें फेरीं। दिशाओंमें कौतुक देखनेके लिए ज्योंही मैं प्रवृत्त हुआ त्योंही मैंने पृथ्वीपर भँवरोंके झुण्डकी नाईं काली-काली पहाड़सी बड़ी छाया खूब घूमती देखी ॥ ३ ॥

उसके बाद अति विशाल होनेके कारण अति आश्चर्यरूप यह छाया करनेवाला क्या हो सकता है यों विचार करते हुए मैंने ज्योंही ऊपर की ओर दृष्टि डाली त्योंही झटपट आकाशसे चक्कर काटकर नीचे गिर रही पर्वतसी पुरुषाकृति मुझे दिखाई दी ॥ ४ ॥

पर्वतके तुल्य महान् यह पुरुष ब्रह्मा है अथवा ब्रह्माण्डशरीर विराट् पुरुष है ? ऊपरसे फेंके हुए पर्वतके समान इसका शरीर गिर रहा है। महान् तो यह इतना है कि इसने अपने शरीरसे तमाम आकाशको ढक दिया है। प्रसिद्ध भगवान् सूर्य भी, इससे दिनशोभाके सर्वथा लुप्त होनेके कारण, शोभा नहीं पा रहे हैं ॥ ५ ॥

एवंविधा हृदि मनाक्कलयामि याव-
त्तावत्पपात सहसा नभसो विवस्वान् ।
कल्पान्तवातपरिघूर्णपितामहाण्ड-
पृष्ठावपातघनघोषजुषा जवेन ॥ ६ ॥
तस्मिन्पतति भीमात्मन्यपारावारदेहिनि ।
सप्तद्वीपां वसुमतीं परिपूरयति क्षणात् ॥ ७ ॥
स्वात्मनो नाशमाशङ्क्य सद्वीपभुवनैः सह ।
अवश्यभाविपार्श्वस्थमहमग्निमथाऽविशम् ॥ ८ ॥
स जातवेदा भगवान् जन्मान्तरशतार्चितः ।
मा भैषीरिति देहेन मामुवाचेन्दुशीतलः ॥ ९ ॥
जय देव त्वमस्माकं प्रतिजन्म परायणम् ।
अकाल एव कल्पान्तो जातोऽतः पाहि मां प्रभो ॥ १० ॥
इत्युक्तेनाऽग्निना प्रोक्तं मा भैषीरिति तत्पुनः ।
उत्तिष्ठाऽऽगच्छ गच्छावो मल्लोकमिति चाऽनघ ॥ ११ ॥

मैं अपने मनमें इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि अकस्मात् आकाशसे भगवान् सूर्य—प्रलय कालीन वायुओंसे उखाड़े हुए ब्रह्माण्डके ऊर्ध्व कपालके गिरनेमें जैसा घनघोर शब्द हो वैसे घनघोर शब्दवाले वेगके साथ—पृथ्वीपर गिरे ॥ ६ ॥

भयानक स्वरूपवाली पुरुषाकार वस्तुके, जिसकी देहका पारावार नहीं था, गिरने और सातद्वीपवाली पृथिवीको एक क्षणमें ढक लेनेपर मुझे उसके दबावसे द्वीप और लोकोंके साथ अपने शरीरके अवश्यम्भावी विनाशकी आशङ्का हुई। तदनन्तर मैं पासमें स्थित अग्निमें प्रविष्ट हो गया ॥ ७-८ ॥

सैकड़ों जन्म जन्मान्तरोंमें मैंने भगवान् अग्निकी पूजाकर रक्खी थी, अतएव उन्होंने चन्द्रमाके समान शीतल शरीर बनकर मुझको ढाढस दिया, मत डरो कहा ॥९॥

हे देव, आपका जय जयकार हो, आप हमारे प्रत्येक जन्ममें परम आश्रय हैं। हे प्रभो, अनवसरमें ही यह प्रलय प्राप्त है, अतः आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

इस प्रकार अग्निकी प्रार्थना करनेपर अग्निने पुनः मुझे ढाढस देते हुए मत डरो कहा और यह भी कहा हे अनघ ! उठो हम दोनों अपने अग्निलोकको जाते हैं, तुम आओ किसी प्रकारका सोच मत करो ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा शुकपृष्ठेऽसावारोप्य भगवांस्ततः ।
देहैकदेशे तत्पाति भूतं दग्ध्वा नभः सुतः ॥ १२ ॥
अनन्तरं नभः प्राप्य दृष्टः कष्टाकृतिर्मया ।
स तादृग्भूतसंपातमहोत्पातो भयप्रदः ॥ १३ ॥
तस्मिन् जवेन पतिते वसुधा चचाल
साम्भोधिशैलवनपत्तनजङ्गलौघा ।
चक्रे भृगुद्वयमयानजलस्रवन्ती
भीमाकृतीन् व्यधुरदेहविभेदगर्तान् ॥ १४ ॥
उर्वी ररास ककुबुत्तरतो ररास
पूर्वा ररास विरराम च दक्षिणा दिक् ।
द्यौरारराम विरराम सशैलभूतं
सर्वं जगत्प्रलयसंभ्रमभीतमुच्चैः ॥ १५ ॥

यह कहकर तदनन्तर भगवान् अग्नि अपने वाहन सुग्गेकी पीठपर मुझे बैठा कर पूर्वोक्त गिरे हुए शवके शरीरका एक हिस्सा जलाकर उसमें से निकलनेके लिए एक छिद्र बनाकर आकाशमें उड़ गये ॥ १२ ॥

तदुपरान्त आकाशमें पहुँचकर मैंने वह पूर्वोक्त शवपतनरूपी महोत्पात, जो अतिभयानक कष्टप्रद आकृतिवाला था, देखा ॥ १३ ॥

उक्त महाशब्द जब पृथिवीपर गिरा तब सारी पृथिवी सागर, पर्वत, वन, नगर और जङ्गलोंके साथ कांप उठी, उससे बह रही नदियोंका प्रवाह रुक गया, अतएव उसने गिरिनदियोंके दोनों तटोंपर मार्गान्तरमें जल बहनेके कारण दो जलप्रपात बना डाले। वेगसे गिर रही जलराशिने भीषण गर्त, जो मनुष्य विरचित बावड़ी, कुएं और तालावोंसे विलक्षण थे, बना डाले ॥ १४ ॥

उसके गिरनेपर भूमिमें चीत्कार हुआ, उत्तर दिशा, पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा और पश्चिम दिशाओंमें हाहाकार मचा, आकाशमें तुमुल ध्वनि हुई। पर्वत और प्राणियोंके साथ सारे जगत्ने प्रलयकी भ्रान्तिसे भयभीत होकर विविध प्रकारके चीत्कार रोदन, हाहाकार आदि किये। गिरे हुए शवके धारण करनेमें पृथिवीसे कोलाहलपूर्ण ध्वनि निकली। उसके कोलाहलपूर्ण वेगके आटोपसे समस्त दिगन्तोंका कोलाहल दब गया। आकाशसे भी अत्यन्त तेज होनेके कारण अन्य ध्वनियोंसे न दब सकनेवाली

उर्वी ररास धरणे सविरावरंहः-
संरम्भतर्जितसमस्तदिगन्तरासा ।
व्योमाऽपि घुंघुममलङ्घ्यमलं चकार
नागारिवृन्दभयविद्रवणप्रचण्डम् ॥ १६ ॥
निर्घातशब्द उदभूदभितो भयाय
भीमाय भूधरदरीदृढदारणोत्थः ।
उत्पातभीमजवजालयुगान्तवात-
संरब्धकल्पघनघोषवितीर्णतर्जः ॥ १७ ॥
तस्मिञ्जवेन पतिते वसुधा ररास
सारावदिङ्मुखतया शतवेधमागात् ।
तत्राऽस्फुटन्कुलगिरीन्द्रमहातटानि
पातालदेशमविशन् हिमवच्छिरांसि ॥१८॥
आसीत्तत्पतनं तस्य मेरुशैलशिलाकृतेः ।
दलनं शैलशृङ्गाणां विदारणकरं भुवः ॥ १९ ॥
क्षोभणं जलराशीनामद्रीणां भूतलार्पणम् ।
पीडनं सर्वभूतानां क्रीडनं प्रलयार्थिनाम् ॥ २० ॥

घुंघुम ध्वनि निकली। यदि अनेक गरुड़ भयसे भागें तो उनके भयपूर्वक तेजीसे भागनेमें जैसी प्रचण्ड ध्वनि होती है ठीक वैसी ही वह ध्वनि थी ॥ १६ ॥

पर्वतोंकी गुफाओंको खूब तोड़ने फोड़नेसे पैदा हुआ घनघोर शब्द, भीषण भयके लिए तथा कान, हृदय आदिका भेदन करनेके लिए चारों ओरसे पैदा हुआ। उक्त शब्द उत्पातोंके कारण भयङ्कर वेगवाले अतएव जालोंकी नाईं अपनी ओर खींचनेवाले प्रलय-वायुओंमे कुपित हुए प्रलयकालीन मेघोंके निर्घोषको अपनी तीक्ष्णताके सामने मात करता था ॥ १७ ॥

उस शवके वेगसे गिरनेपर पृथ्वी कोलाहलपूर्ण हुई, दिशाओंके मारे कोलाहलके गूंज उठनेसे पृथिवीमें सौगुना अभिघात हुआ। पृथिवीपर अभिघात होनेपर कुलपर्वतोंके महातट मटियामेट हो गये और हिमालयके शिखर पातालको चले गये ॥१८॥

मेरुपर्वतकी शिलाके समान रूपरेखावाले शवके गिरनेसे पर्वतोंके शिखर तहसनहस हो गये, पृथिवीके टुकड़े टुकड़े हो गये, समुद्रोंमें ज्वारभाटा आ गया, पहाड़ रसातल चले गये, सकल प्राणियोंको क्लेश हुआ, प्रलय चाहनेवाले रुद्र आदि गणोंका

पातनं भूतले भानोः स्थगनं द्वीपपद्धतेः ।
चूर्णीकरणमद्रीणां दलनं मण्डलावनेः ॥ २१ ॥
द्वितीयमिव भूपीठं ब्रह्माण्डार्धमिवाऽपरम् ।
पतितं खमिवाऽऽकृत्या तदपश्यन्नभश्चराः ॥ २२ ॥
अथ पश्याम्यहं यावद्भूमौ मांसमयोऽचलः ।
न माति सप्तद्वीपायां भुवि तस्याऽङ्गमेककम् ॥ २३ ॥
तमालोक्य मया देवः प्रसादे समवस्थितः ।
संपृष्टो भगवान्वह्निः प्रभो किमिदमित्यथ ॥ २४ ॥
कथं मांसमयः सार्धं स चाऽर्कः पतितो दिवः ।
स न माति हि भूपीठे सपर्वतवनाम्बुधौ ॥ २५ ॥

अग्निरुवाच ।

प्रतिपालय पुत्र त्वं क्षणमेकं गतत्वरः ।
यावच्छाम्यति दोषोऽयं कथयिष्यामि ते ततः ॥ २६ ॥
अथ तस्मिन्वदत्येवं समाजग्मुर्नभश्चराः ।
तज्जगज्जालजातीया दिग्भ्यो गगनजाखिलाः ॥ २७ ॥

खिलवाड़ हुआ, सूर्य पृथिवीपर गिर पड़ा, द्वीपसमूह आच्छन्न हो गये, पहाड़ोंका चूरा-चूरा हो गया और पृथ्वीमण्डल छिन्न-भिन्न हो गया। उस शवको आकाशचारी देव, गंधर्व आदिने महान् आकारसे दूसरा भूतल-सा, ब्रह्माण्डका दूसरा अर्ध भाग-सा, गिरा हुआ आकाश-सा देखा ॥ १६,२२ ॥

इसके पश्चात् जब मैंने गौरसे उसे देखा, तो वह मांसमय पर्वत निकला। उसका एक अङ्ग भी सप्तद्वीपा पृथिवीपर नहीं समा सकता था ॥ २३ ॥

उसे देखकर मैंने अपने ऊपर सदा अनुग्रह करनेवाले भगवान् अग्निदेवसे पूछा—"भगवन्, यह क्या है?" ॥ २४ ॥

वह मांसमय शरीर कैसे गिरा, उसके साथ आकाशसे सूर्य कैसे गिरा और पर्वत, बन और जलधिसहित भूमितलमें यह क्यों नहीं अमाता है? ॥ २५ ॥

भगवान् अग्निने कहा—वत्स, जबतक शवके गिरनेसे उत्पन्न हुआ उत्पात पूर्णरूपसे शान्त नहीं हो जाता तबतक त्वराका त्याग कर तुम क्षणभर प्रतीक्षा करो उसके बाद में तुमसे सब कहूँगा ॥ २६ ॥

इसके पश्चात् अग्निदेव ऐसा कह ही रहे थे कि दसों दिशाओंसे उन जगतोंकी

सिद्धसाध्याप्सरोदैत्यगन्धर्वोरगकिन्नराः ।
ऋषयो मुनयो यक्षाः पितरो मातरोऽमराः ॥ २८ ॥
अथ सर्वेश्वरीं देवीं शरण्यां ते नभश्चराः ।
भक्तिनम्रशिरःकायाः कालरात्रिं प्रतुष्टुवुः ॥ २९ ॥

नभश्चरा ऊचुः

बद्ध्वा खट्वाङ्गशृङ्गे कपिलमुरुजटामण्डलं पद्मयोनेः
कृत्वा दैत्योत्तमाङ्गैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यपक्षैः ।
या देवी भुक्तविश्वा पिबति जगदिदं साद्रिभूपीठभूतं
सा देवी निष्कलङ्का कलिततनुलता पातु नः पालनीयान् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अ० वि० शवोपाख्याने महाशववर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १३३ ॥

जातिवाले आकाशचारी सिद्ध, साध्य, अप्सराएं, दैत्य, गन्धर्व, नाग, किन्नर, ऋषि, मुनि, षोडश मातर, यक्ष, पितर, देवता आदि आ गये। उन सबकी वेष-भूषा आकाशोत्पन्न थी ॥ २७,२८ ॥

उन आकाशचारी सिद्ध आदिने भक्तिसे सिर नवाकर, शरीर झुकाकर रक्षा करनेमें समर्थ सर्वेश्वरी कालरात्रि देवीकी स्तुति की ॥ २९ ॥

आकाशचारियोंने कहा—जो देवी महाप्रलयमें संहारको प्राप्त भगवान् ब्रह्माजीकी कपिल जटाओंको अपने खट्वाङ्गकी चोटीपर बाँधकर, अपने वक्षस्थलमें दैत्योंके मस्तकोंकी माला बनाकर, गरुड़के परोंसे मुकुट बनाकर तथा समस्त प्राणियोंका संहार कर पर्वतभूतलरूप इस जगत्का पान करती है। इस प्रकार सारे जगत्का ध्वंस करनेपर भी जिसे तनिक भी दोषोंसे स्पर्श नहीं होता अतएव ज्योंकी त्यों शुद्ध चिन्मात्रस्वभाव है, हम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए शरीर धारण करनेवाली वह देवी अवश्य पालन करने योग्य हम लोगोंका पालन करे ॥ ३० ॥

एक सौ तैंतीस सर्ग समाप्त

चतुस्त्रिंशाधिकशततमः सर्गः

एतस्मिन्नन्तरे व्योम्नः स पतन् पुरुषो मया ।
स्थगिताखिलभूपीठः शवरूपो विलोकितः ॥ १ ॥
स यावदुदराभिख्यो देहभागोऽस्य येन भूः ।
सप्तद्वीपाऽपि पिहिता मातुः शैलोपमो महान् ॥ २ ॥
वह्निनोक्तमनन्तं तत्तद्भुजोरुशिरश्च मे ।
लोकालोकात्परं पारं प्राप्तं ह्यविषये नृणाम् ॥ ३ ॥
व्योमवासिचये देवीमथ स्तुवति सादरम् ।
व्योम्नः प्रकटतामागाच्छुष्का नु भवति स्वयम् ॥ ४ ॥
प्रेतवृन्दैरनुगता मातृमण्डललालिता ।
कूष्माण्डयक्षवेतालजालतारकिताम्बरा ॥ ५ ॥

एक सौ चौतीस सर्ग

[आविर्भूत हुई देवी कालरात्रिके शरीरका वर्णन तथा गणों द्वारा उस शवका भक्षण, जिसका कि रक्त श्रीदेवी पी चुकी थी]

इस बीचमें जब कि देवगण देवीकी स्तुति कर रहे थे, उस पूर्वोक्त गिर रहे पुरुषको, जिसने अपने शरीरसे सारे भूतलको आच्छादित कर दिया था, मैंने शवरूप (निर्जीव) जाना ॥ १ ॥

जिस शवभागने सप्तद्वीपा भूमिको पूर्णतया आच्छादित कर दिया था, सम्पूर्ण भूमिमें न समा रहे शवके उसी शैलोपम महान् उदरभागको मैंने देखा ॥ २ ॥

वह शव इतना महान् था तो दूर स्थित उसकी भुजाएँ, जङ्घाएँ और सिर तुमने कैसे जाने ? ऐसी आशङ्का होनेपर वह कहता है—'**वह्निनोक्तम्**' इत्यादिसे ।

भगवान् अग्निने उसकी अनन्त भुजाओं, जङ्घाओं और सिरके विषयमें मुझसे कहा था, जो कि उसके भुजा आदि अवयव मनुष्योंकी पहुँचके परे लोकालोक पर्वतके परले पार गिरे थे ॥ ३ ॥

इसके बाद आकाशचारी सिद्धादिवृन्दके आदरपूर्वक, देवीकी स्तुति करनेपर देवी आकाशसे प्रकट हुई, चूँकि वह आकाशसे प्रकट हुई थी, अतएव स्वयं शुष्का (रक्तहीना) थी ॥ ४ ॥

भूत-प्रेतोंके दलके दल उसके पीछे पीछे चल रहे थे, षोडश मातर उसकी

शिरालदीर्घदोर्दण्डवनीकृतनभस्तला ।
किरन्ती कीर्णदिग्दाहैर्दृष्टिपातैर्दिवाकरान् ॥ ६ ॥
स्फुरन्नानायुधाकारकचज्झणझणध्वनि ।
शतखण्डं खगानीकं कुर्वाणा व्योमकोटरे ॥ ७ ॥
देहज्वालेक्षणोष्माढ्यैः शरीरावयवैस्त्विषः ।
दीर्घवेणुवनाकाराः किरन्ती कोटियोजनाः ॥ ८ ॥
दन्तकान्तीन्दुविद्योतदुग्धस्नापितदिङ्मुखा ।
कृशातिदीर्घविस्तीर्णशरीरापूरिताम्बरा ॥ ९ ॥
निरालम्बास्पदा सान्ध्या वितते वाऽभ्रमालिका ।
प्रेतासनसमारूढा सुरूढा परमे पदे ॥ १० ॥
स्फुरन्ती प्रज्वलद्रूपा सन्ध्याजलधरारुणा ।
दधाना गगनाम्भोधौ वाडवज्वलनश्रियम् ॥ ११ ॥

आवभगतमें (सेवा-शुश्रूषामें) संलग्न थीं, कूष्माण्ड, यक्ष, वेतालोंके झुण्डोंसे उसने आकाशको तारामण्डलसे मण्डित-सा बना दिया था तथा नसोंके जालसे पूर्ण बड़े-बड़े भुजदण्डोंसे आकाशतलको वन बना दिया था, दिशाओंमें दाहकी वृष्टि करनेवाले अपने दृष्टिपातोंसे वह सूर्योंको बखेर रही थी, चमचमा रहे विविध हथियारोंके आकारोंसे हो रही झण झण ध्वनिके साथ आकाशरूपी खोड़रेमें पक्षियोंके झुण्डको सैकड़ों हिस्सोंमें बाँट रही थी ॥ ५-७ ॥

शरीरकी ज्वालाओं और नेत्रवर्ती अग्निकी उष्णतासे परिपूर्ण शरीरावयवोंसे बहुत लम्बे बाँसोंके वनके आकारवाली करोड़ों योजनकी कान्तियाँ बखेर रही थी ॥८॥

चाँदनी ऐसी दन्तकान्तिरूपी दूधसे उसने दिशाओंको धो डाला था, अपने (दुबले) पर अतिविस्तृत शरीरसे आकाशको आच्छन्न कर दिया था, उसका न तो कोई आधार था और न स्थान ही था, अतएव वह निराधार आकाशमें फैली हुई सन्ध्याकालकी मेघपंक्ति-सी थी। परम ब्रह्ममें आविर्भूत हुई वह प्रेतासनपर बैठी थी ॥ ९,१० ॥

जगमगा रही, उज्ज्वल रूपवाली वह सन्ध्याकालके मेघके समान लाल थी, अतएव आकाशरूपी सागरमें बडवानलकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ११ ॥

शवैः शवाङ्गैर्मुसलैः प्रासतोमरमुद्गरैः ।
बृसिकोलूखलहलैः किरन्ती चञ्चलाः स्रजः ॥ १२ ॥
प्रजां कटकटाटोपैर्वहन्ती गगनाङ्गणे ।
दृषदां घर्घरारावैः प्रावृड्गिरिरिवाऽचले ॥ १३ ॥
देवा ऊचुरयं देवि उपहारोकृतोऽम्बिके ।
सार्धं स्वपरिवारेण शीघ्रमाह्रियतामिति ॥ १४ ॥
वदत्येवं सुरानीके तं शवं प्राणवायुना ।
देवी प्रववृते रक्तसारमाक्रष्टुमञ्जसा ॥ १५ ॥
प्राणेनाऽऽकृष्यमाणं तद्रक्तं भगवतीमुखे ।
आविशत् सान्ध्यमेघौघ इव मेरोर्गुहान्तरम् ॥ १६ ॥
तावद् रक्तं तया पीतं प्राणाकृष्टं नभःस्थया ।
यावच्छुष्का सती तृप्ता पीना सा चण्डिका स्थिता ॥१७॥

पूरे शवोंसे, शवोंके अवयवोंसे, मूसल, प्रास, तोमर, मुद्गर, आसन, ऊखल और हलोंसे बनी चञ्चल मालाओंको इधर उधर बखेर रही थी ॥ १२ ॥

जैसे वर्षा ऋतुका पर्वत पत्थरोंकी मालाको झर-झर ध्वनिवाले झरनोंसे अपने शरीरमें धारण करता है वैसे ही वह दाँतोंके कट-कट शब्दके आडम्बरसे युक्त प्रजाओं-के शरीरकी मालाको आकाशरूपी आँगनमें धारण कर रही थी ॥ १३ ॥

देवताओंने उस देवीसे कहा—हे देवि ! हे अम्बिके ! इसे हमने आपको भेंट कर दिया है, कृपया अपने परिवारके साथ शीघ्र इसका भोग लगाइये ॥ १४ ॥

देववृन्दके यों प्रार्थना करनेपर देवी, स्वयं सर्वप्राणशक्ति रूप होनेसे तथा प्राणोंके रक्तपर आश्रित होनेसे, प्राणवायुसे ही उसका रक्तरूपी सार अनायास खींचने लगी ॥ १५ ॥

जैसे सन्ध्याकालका मेघवृन्द मेरुकी गुफाके अन्दर प्रविष्ट होता है वैसे ही प्राणवायु द्वारा खींचा जा रहा उस शवका रक्त भगवतीके मुँहमें प्रविष्ट हुआ ॥१६॥

आकाशमें स्थित भगवती कालरात्रिने प्राणवायु द्वारा खींचा गया रुधिर तब तक पीया जब तक कि पहले सूखी लकड़ीसी वह चण्डिका तृप्त होकर मोटी तगड़ी न हो गई ॥ १७ ॥

ततो बभूव सा रक्तपरिपीनशरीरिणी ।
रक्ता वर्षाभ्रमालेव तडित्तरललोचना ॥ १८ ॥
लम्बोदरा भगवती विषमाहिविभूषणा ।
रक्तासवमदक्षीवा समस्तायुधधारिणी ॥ १९ ॥
व्योम्नि नर्तनमारेभे स्वशरीरार्धपूरिते ।
पर्यन्तगिरिमालाग्रस्थितामरनिरीक्षिता ॥ २० ॥
ततः पिशाचकूष्माण्डरूपिकादिमहागणाः ।
शवमावारयांचक्रुर्महाचलमिवाऽम्बुदाः ॥ २१ ॥
शवशैलो गृहीतोऽसौ कूष्माण्डैः कटिभागतः ।
उदराद् रूपिकावृन्दैर्यक्षैः कुञ्जरविक्षतैः ॥ २२ ॥
भुजोरुकन्धराद्यास्ते तस्याऽन्येऽवयवा यतः ।
ब्रह्माण्डस्य परं पारं प्राप्ताः परमविस्तृताः ॥ २३ ॥

तदुपरान्त रुधिरसे मोटे तगड़े शरीरवाली वह जैसे वर्षा ऋतुमें बिजली रूपी चञ्चल नेत्रवाली मेघमाला रक्तवर्णा होती है वैसे ही बिजलीकी तरह चञ्चलनयना और लाल हो उठी ॥ १८ ॥

रक्त पीनेसे भगवतीकी तोंद बाहर निकल आई । लम्बी तोंदवाली वह विषैले साँपरूपी आभूषणोंसे विभूषित थी, रक्तरूपी मदिराके नशेमें चूर थी तथा सब हथियार उसने धारण कर रक्खे थे ॥ १९ ॥

पूर्वोक्त देवीने अपने आधे शरीरसे आच्छन्न आकाशमें नाचना आरंभ किया। आस-पासके लोकालोकपर्वतकी श्रेणीके शिखरोंपर बैठे हुए देवगण उसका नाच देखने लगे ॥ २० ॥

उसके पश्चात् पिशाच, कूष्माण्ड, रूपिका आदि महागणोंने उक्त शवको चारों ओरसे ऐसे घेर डाला जैसे कि मेघमाला हिमालय पर्वतको घेर डालती है ॥२१॥

कूष्माण्डोंने उक्त शवरूपी शैलको कमरकी ओरसे पकड़ा, रूपिकागणोंने पेटकी तरफसे उसे पकड़ा और यक्षोंने हाथीके से अपने दाँतोंसे क्षतविक्षत अवशिष्ट पीठ और अगल-बगलकी ओरसे उसे पकड़ा ॥ २२ ॥

चूँकि उसके जो भुजा, जङ्घा, कन्धे आदि अन्य अवयव थे, वे बहुत बड़े थे और ब्रह्माण्डके परले पार जा पड़े थे, अतएव पूर्वोक्त भूत, प्रेत, पिशाच आदि दूर

ततस्तैर्भूतसंघातैः स्थिता दूरे दिगन्तरे ।
न प्राप्ता वै हि तत्रैव कालेन कलिता स्वयम् ॥ २४ ॥
नृत्यन्त्यां चण्डिकायां खे भूतवृन्दे शवाकुले ।
देवेष्वद्रिषु तिष्ठत्सु बभूव भुवनं तदा ॥ २५ ॥
पिण्डाहार्यामदुर्गन्धिगुण्ठीकृतककुब्गणम् ।
रक्तगर्भाभ्रनिर्व्यूहैः खादिरज्वलनोज्ज्वलम् ॥ २६ ॥
मांसचर्वणसंरम्भप्रोद्यच्छवशवस्वनम् ।
लतास्थिखण्डनोड्डीनबृहत्कटकटारवम् ॥ २७ ॥
भूतसंघट्टविश्लेषवशाद्भीषणनिःस्वनम् ।
हिमवद्विन्ध्यशैलाद्रिप्रमाणास्थ्यचलावृतम् ॥ २८ ॥
देवीमुखानलज्वालापक्वमांसाक्तभूतलम् ।
रक्तसीकरनीहारसिन्दूरितककुब्गणम् ॥ २९ ॥

दिगन्तरमें पड़े हुए उन्हें नहीं पा सके, किन्तु वे वहींपर कालसे अपनेआप गल गये ॥ २३,२४ ॥

जब कि चण्डिका आकाशमें नाच रही थीं, सबके सब भूत-प्रेत शवपर लपटे थे, देव-वृन्द पर्वतके शिखरपर बैठकर देवीका नृत्य देख रहा था, उस समय सारे भुवनकी जो स्थिति हुई वह बड़ी दयनीय थी। उसकी सब दिशाएँ खण्ड-खण्ड करके खाये जा रहे, ले जाये जा रहे दुर्गन्धिपूर्ण मांस, वसा आदिसे व्याप्त थीं, रक्तसे सने हुए मेघ-खण्डोंसे खैर और अग्निके समान सारा भुवन लाल दिखाई देता था ॥२५,२६॥

माँस चबानेकी जल्दीसे चारों ओर चब् चब् शब्द हो रहा था, लता ऐसी लम्बी-लम्बी नसों और हड्डियोंके टुकड़े करनेसे आकाशमें कट-कट शब्द फैला था, भूतोंके एक जगह इकट्ठा होने और अलग-अलग होनेके कारण चारों ओर भीषण ध्वनि हो रही थी, सारा भुवन हिमालय और विन्ध्य पर्वत ऐसे बड़े-बड़े हड्डियोंके पहाड़ोंसे भरा था ॥ २७,२८ ॥

देवीके मुँहसे निकल रही अग्निकी ज्वालामें खूब पके हुए माँससे साराका सारा भूतल व्याप्त था और रुधिर-कणरूपी ओसकी बूँदोंसे सभी दिशाएँ सिन्दूरसे सनी हुई सी हो गई थीं ॥ २९ ॥

सर्वतः प्रेक्षकैर्देवैः सप्राकारदिगन्तरम् ।
रुधिरैकार्णवीभूतसप्तद्वीपवसुन्धरम् ॥ ३० ॥
अत्यन्तान्तर्हिताशेषसमस्ताचलमण्डलम् ।
रक्तप्रभाभ्रसंभारवस्त्रावृतदिगङ्गनम् ॥ ३१ ॥
वृत्तालोलभुजभ्रान्तहेतिच्छन्ननभस्तलम् ।
दूरस्मृतिपथप्राप्तपुरपत्तनमण्डलम् ॥ ३२ ॥
अत्यन्तासंभवद्रूपसर्वस्थावरजंगमम् ।
संपन्नानन्तकूष्माण्डरूपिकाद्येकसंगमम् ॥ ३३ ॥
नृत्तलोककराकारखगावलनजालकैः ।
मानसूत्रैरिव विधेरन्यद्रचयतो जगत् ॥ ३४ ॥
भूमेरार्कगतं नीतैः पिशाचैरान्त्रतन्तुभिः ।
विमानमिव दिक्कुञ्जैस्तिर्यगूर्ध्वमधो जगत् ॥ ३५ ॥

चारों ओरसे देखनेवाले देवताओंसे दिगन्तर चहारदिवारीसे घिरा-सा हो गया था ॥ ३० ॥

कतिपय पहाड़ तो चोटी तक पृथ्वीके अन्दर धँस गये थे और बचे खुचे शेष सबके सब हड्डियोंसे चोटियों तक छिप गये थे, अतएव भुवनोंके सभी पर्वत अत्यन्त तिरोहित हो गये थे। दिशारूपी नायिकाएँ रुधिरसे सने हुए मेघमण्डलसे रक्तवस्त्रसे ढकी हुई-सी माल्म पड़ती थी ॥ ३१ ॥

गोल-मटोल और चञ्चल भुजाओंसे घुमाये गये विविध हथियारोंसे आकाश साराका सारा पट गया, नगर गाँव और कसबे सबके सब ध्वस्त हो गये थे, केवल उनकी स्मृति ही शेष रह गई थी ॥ ३२ ॥

भुवनमें सारे चराचर जगत्का रूप ही अत्यन्त असंभव हो गया था, सारे जगत्में सर्वत्र कूष्माण्ड और पिशाचिनियोंका ही एकमात्र समाज हो गया था ॥३३॥

पिशाचों द्वारा ताने बाने बनाये गये आँतड़ीरूपी तन्तुओंसे, जो नाचनेमें जीजानसे लगे हुए भूत, प्रेत और पिशाचोंके अभिनयशील हाथोंके आकारके (अभिनयशील हस्तरूपी) पक्षियोंको फँसानेके लिए फैलाए हुए जालके समान और आकाशमें द्वितीय जगत्की रचना कर रहे ब्रह्माके नापनेके सूतोंके ऐसे भूमिसे लेकर सूर्य मार्ग तक ऊपर नीचे और दस दिशारूपी झाड़ियोंसे तिरछे लगे थे, ब्रह्माण्डोदरगत विमानके समान त्रैलोक्य हो गया था ॥ ३४,३५ ॥

जगदालोक्य तत्ताद्दगुदक्तोपप्लवाप्लुतम् ।
भूतपूर्वमहीपीठस्थितिरक्तार्णवीकृतम् ॥ ३६ ॥
द्वीपसप्तकपर्यन्ते लोकालोकाद्रिमूर्धनि ।
तदङ्गकैरनाक्रान्ते स्थिता खिन्नतराः सुराः ॥ ३७ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्माण्डादपि निर्गत्य यस्य तेऽवयवा गताः ।
लोकालोकाचलस्तेन ब्रह्मन्न स्थगितः कथम् ॥ ३८ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्वीपसप्तकमध्येऽस्मिन् राम तस्योदरं स्थितम् ।
शिरःखुरभुजाद्यङ्गं ब्रह्माण्डात्परतः स्थितम् ॥ ३९ ॥
पार्श्वाभ्यामूरुमध्याच्च कटिपार्श्वद्वयात्तथा ।
शिरोंसद्वयमध्याभ्यां लोकालोकः स लक्ष्यते ॥ ४० ॥
तत्रोपविष्टास्ते देवा लक्ष्यन्ते शृङ्गमूर्धसु ।
सुशुद्धकान्तयस्तापादजला जलदा इव ॥ ४१ ॥

भूतपूर्व पृथ्वीतलपर जमी हुई रुधिरधाराओंसे समुद्राकार बने हुए अतएव पूर्वोक्त उपद्रवसे विक्षुब्ध जगत्‌की वैसी हालत देखकर सात द्वीपोंके छोरपर उक्त शवके कुत्सित अङ्गोंसे अस्पृष्ट लोकालोक पर्वतके शिखरपर बैठे हुए देवगण अति खिन्न हुए ॥ ३६,३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जिस शवके अतिविशाल हस्तपाद आदि अवयव ब्रह्माण्डसे भी बाहर पहुँच गये, उसने लोकालोक पर्वतको कैसे नहीं ढका ? ॥३८॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, उस शवका उदरोपलक्षित मध्यशरीर सात द्वीपोंके बीचमें रहा है । सिर, खुरोपलक्षित पैर और बाहु आदि अवयव ब्रह्माण्डके बाहर रहे । हाँ, यह जो भासने कहा वह सत्य ही है तथापि शवके दोनों बगल, जङ्घाओंके मध्यसे, कमरके दो भागोंसे और सिर और कन्धोंके दो मध्य भागोंसे शिखरोंके न ढकनेके कारण वह लोकालोक पर्वत ऊपर दिखाई देता ही है ॥ ३९,४० ॥

इस तरह प्रश्नका उत्तर कहकर कथाका अवशिष्ट अंश भी, जो कि भासको ज्ञात न था, श्रीवसिष्ठजी ही कहते हैं—'तत्रो०' इत्यादिसे ।

वहाँ शिखरोंकी चोटियोंपर बैठे हुए अत्यन्त शुद्ध कान्तिवाले देवता शरदृतुके सूर्यकी धूपसे निर्जल हुए शुभ्र मेघोंके समान दिखाई देते हैं ॥ ४१ ॥

प्रसारिताङ्गकमधोवक्त्रं तत्पतितं शवम् ।
संभक्षयति भूतौघे प्रनृत्यन्तीषु मातृषु ॥ ४२ ॥
वहत्स्वसृक्प्रवाहेषु मेदोगन्धे विजृम्भिते ।
दुःखिताश्चिन्तयामासुः प्रत्येकममरा इदम् ॥ ४३ ॥
हा कष्टं क्व गता पृथ्वी क्व गता जलराशयः ।
क्व गता जनसंघाताः क्व गता धरणीधराः ॥ ४४ ॥
तादृक्चन्दनमन्दारकदम्बवनमण्डितः ।
मण्डपः पुष्पराशीनां कष्टं क्व मलयो गतः ॥ ४५ ॥
उच्चावदाता विपुला हिमवद्भूमयोऽपि ताः ।
नीताः शौक्ल्यरुषेवाऽऽशु रुधिरेणाऽऽत्मपङ्कताम् ॥ ४६ ॥
क्रौञ्चद्वीपतले क्रौञ्चे योऽभूत्कल्पद्रुमो महान् ।
ब्रह्मलोकलसच्छाखः सोऽपि चूर्णत्वमागतः ॥ ४७ ॥
हा क्षीरार्णव पारिजातकमलाचन्द्रामृतानां पते
हा दध्यर्णव नावनीतशिखरिप्रोद्भूतवेलावन ।

जब भूतप्रेतोंका दल सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग छोड़कर (फैलाकर) मुँहके बल गिरे हुए उस शवको खा रहा था और सोलहों मातृकाएँ खूब नाच रही थीं, रुधिरके पनाले बह रहे थे, वसाकी दुर्गन्ध फैल रही थी, प्रत्येक देवताने दुःखी होकर यह विचार किया ॥ ४२,४३ ॥

हा खेद है, पृथिवी कहाँ चली गई, सागर कहाँ चले गये, जनता कहाँ चली गई और पर्वतराशि कहाँ चली गई ॥ ४४ ॥

हाय, चन्दन और मन्दार और कदम्बके वृक्षोंके वनोंसे अलङ्कृत तथा विविध पुष्पोंकी राशियोंका मण्डपसा वह सुन्दर मलयाचल कहाँ चला गया ? ॥ ४५ ॥

रुधिरने हिमसे सम्पादित शुक्लताके प्रति मानो द्वेषवश उसको नष्ट करनेके लिए हिमालयके ऊँचे स्वच्छ विशाल भूभागोंको अपने कीचड़से शीघ्र लथपथ कर रँग डाला ॥ ४६ ॥

क्रौञ्चद्वीपमें क्रौञ्चनामक पर्वतपर जो विशाल कल्पवृक्ष था, जिसकी शाखाएँ ब्रह्मलोक तक फैली हुई थीं, उसका भी चूरा-चूरा हो गया है ॥ ४७ ॥

हे कल्पवृक्ष, लक्ष्मी, चन्द्रमा और अमृतको पैदा करनेवाले, हे क्षीरसागर, हे दधिसागर, जिसके कि नवनीतसे भरे हुए पर्वतोंपर वेलावन उगा है, जिसके

हा मध्वर्णव नालिकेरगिरिके योगेश्वरीसेवित
क्वेदानीं समुपैष्यथ क्व वनितादिग्दर्पणत्वं गताः ॥ ४८ ॥
हा कल्पद्रुमकाञ्चनामललतानिःसन्धिबन्धाचल
क्रौञ्चद्वीपविरिञ्चिहंसनलिनीनीरन्ध्रदिग्जालक ।
यातः क्वेह कदम्बकाननदरीविश्रान्तविद्याधरी-
क्रीडाकोविदनागरामरगृह त्वं पुष्करद्वीपक ॥ ४९ ॥
स्वादूदोदग्रतापावलकुसुममहीपावनानां वनानां
गोमेधद्वीपकल्पद्रुमकनकलतासुन्दरीणां दरीणाम् ।
शाकद्वीपाचलानाममरतरुवनैर्दंशितानां सितानां
स्मृत्यैवोदेति पुण्यं सुरपदसुखदं मानवानां नवानाम् ॥
मन्दानिलावलितपल्लवबालवल्ली-
संतानभासितसमस्तदिगन्तराणि ।
ध्वस्तानि तानि सकलानि बनानि कष्ट-
माश्वासमेष्यति कथं जनता न जाने ॥ ५१ ॥

तीरस्थित नारियलके वृक्षोंकी बहुतायतवाले सुन्दर दयनीय पर्वतपर योगेश्वरियाँ निवास करती हैं, ऐसे हे मधुसागर आप सब शोचनीय हैं। आप लोग इस समय कहाँ चले गये, अथवा स्फटिक आदि रत्नशिलाओंसे देवांगनाओं और दिशाओंकी दर्पणताको कहाँ प्राप्त हुए ? ॥ ४८ ॥

हे क्रौञ्चद्वीप, जिसमें कल्पवृक्ष और निर्मल काञ्चनलताओंसे निरवच्छिन्न घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला क्रौञ्चाचल है, हे पुष्कर द्वीप, जिसका चौगिर्द ब्रह्माजीके वाहनभूत हंसों और नलिनियोंसे ठसाठस भरा है और जो कदम्बके वनोंकी गुफाओंमें विश्राम करनेवाले विद्याधरियोंकी रतिक्रीड़ाओंके जानकार नागरिकों और देवताओंका अड्डा है, तुम दोनों यहाँसे कहाँ चले गये ? ॥ ४९ ॥

स्वादुजलवाले समुद्रके तथा उसके वनोंके, जो कि उग्र तापको हटानेवाले तथा पुष्पोंसे आच्छन्न हैं और पृथ्वीको पवित्र करनेवाले हैं, गोमेध द्वीप, उसके कल्पवृक्षोंके और वहाँकी सुवर्णलताओंके तथा उनसे सुन्दर गुफाओंके और कल्पवृक्षोंके वनोंसे वेष्टित तथा कल्पवृक्षोंके फूलोंसे सफेद शाकद्वीपके साथ उसके पर्वतोंके स्मरणसे ही मनुष्योंको स्वर्ग सुखप्रद पुण्य होता है ॥५०॥

जिनको दसों दिशाएँ मन्द-मन्द वायुके हिलोरोंसे चञ्चल पत्तोंवाली लताओंसे

कदा नु तानीक्षुरसाब्धितीरे
वनानि खण्डाचलभूमिकासु ।
द्रक्ष्येम भूयो गुडमोदकानि
तथा कुमाराण्यपि शर्करायाः ॥ ५२ ॥
कदम्बकल्पद्रुमशीतलेषु
तालीतमालीसवनाचलस्य ।
कदा नु तच्चन्दनसुन्दरीणां
पश्येम नृत्तं कनकालयेषु ॥ ५३ ॥
गतानि कष्टं स्मरणीयरूपतां
जम्बुद्रुमस्याऽग्रफलानि तान्यपि ।
येषां नदीं द्वीपसमुद्रमेखला
वहत्यसौ जम्बुमती रसाम्बुभिः ॥ ५४ ॥
शिलीन्ध्रनीरन्ध्रमहीध्ररन्ध्र-
क्षीबामरस्त्रीकृतगीतनृत्यम् ।

वेष्टित कल्पवृक्षोंसे लहलहाती थीं वे सबके सब वन हाय ध्वस्त हो गये मेरी समझमें नहीं आता अब हमारे सदृश लोग कैसे विश्राम लेंगे ॥ ५१ ॥

इक्षुसागरके किनारे मिश्रीके चट्टानवाले पहाड़ोंसे विभूषित पृथ्वीपर उन घने जंगलोंको तथा उन अतिमधुर मोदकोंको फिर कब देखेंगे । खांडके बने हुए खिलौनोंको भी कब देखेंगे ॥ ५२ ॥

ताड़ और तमालोंके वनोंसे युक्त उस पर्वतके कदम्ब और कल्पवृक्षोंसे शीतल सुवर्णमय गृहोंमें बैठकर पहले अनेक बार अनुभूत चन्दनलिप्तसर्वाङ्गवाली सुन्दरियों का (या चन्दनलतारूपी सुन्दरियोंका) नृत्य कब देखेंगे ॥ ५३ ॥

हा, जम्बूद्वीपवर्ती जम्बूवृक्षके हाथीके बराबर तथा जाम्बूनद सुवर्णकी उत्पत्तिके हेतु होनेसे अति प्रसिद्ध अग्रफल स्मरणीय हो गये हैं उन्हीं फलोंके रसोंसे बनी नदीको यह जम्बूद्वीपरूप पृथ्वी, अन्यान्य द्वीप और समुद्र जिसकी मेखला रूप है, धारण करती है ॥ ५४ ॥

कुकुरमुत्तासे चारों ओर भरे हुए पहाड़ोंकी गुफाओंमें मदिराके मदसे मतवाली स्त्रियों द्वारा किये गये सगीत नृत्यकी चहलपहलवाले सुरासागरके तीरका स्मरण

संस्मृत्य संस्मृत्य सुरोदतीरं
प्रागब्जमुर्वीव हृदाऽवदीर्ये ॥ ५५ ॥

पश्याऽसृगम्भसि नवार्णवमूर्ध्नि भासा
सौवर्णपर्वतशताग्रशिखाः कचन्ति ।
संध्यारुणा उदयनास्तमयावनीनां
स्तोकोदितेन्दुकलिका इव दिङ्मुखेषु ॥ ५६ ॥

तादृक्सागरवारिराशिवलया द्वीपान्तरालंकृता
प्रोच्चाद्रीन्द्रनिविष्टवारिदघटानीलोत्पलानां स्थली ।
स्रोतोजङ्गलकाननोग्रनगरग्रामाग्रहाराम्बरा
नो जाने तरुपल्लवाङ्कुरवती कष्टं क्व याता मही ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० विप० शवोपाख्याने देवपरिदेवनवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३४ ॥

कर प्रातःकालमें जैसे कमलकी पँखुरियाँ दूर दूर एकके बाद एक विदीर्ण होती हैं तथा जैसे इस समय पृथ्वी विदीर्ण हुई है वैसे ही मेरा हृदय विदीर्ण होता है ॥५५॥

हे मित्र, जरा आकाशकी ओर देखो, लाल जलवाले नूतन सागरके ऊपर सुवर्णमय मेरु आदि सैकड़ों पर्वतोंके शिखरोंकी चोटियाँ उत्तर आदि दिशाओंमें सूर्योदय और सूर्यास्तके निकटकी भूमियोंकी प्रातः और सायं संध्यासे लाल हुई कुछ कुछ उदित चन्द्रकलाओंकी तरह अपनी कान्तिसे शोभित हो रही हैं ॥ ५६ ॥

हाय हमारी प्यारी भूमि, जिसके पूर्व वर्णित सागररूप जलराशि कंकणके तुल्य है, जो विभिन्न द्वीपों से अलंकृत है तथा स्तनसदृश उन्नत पर्वतोंपर बैठे हुए मेघरूपी नील कमलोंकी मालासे सुशोभित है, जो वृक्ष, पल्लव, अङ्कुर आदि भूषणोंसे युक्त है, जिसके सोते, नदियाँ, जंगल, भटोंसे भयानक नगर, ग्राम, अग्रहार (ब्राह्मणोंको दानमें दिये गये ग्राम) वस्त्र हैं, इस समय न मालूम कहाँ चली गई है ॥ ५७ ॥

एक सौ चौंतीस सर्ग समाप्त

पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मत्तेन भूतवृन्देन किंचिच्छेषीकृते शवे।
इदमूचुः पुनर्दिक्षु गिरौ देवाः सवासवाः ॥ १ ॥
विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
वप्यास्तृतान्यशिशिरीकरणाय भूतैः।
मेदोमयानि पवनप्रसृतामलाभ्र-
खण्डाश्रिताम्बरसमान्युरुजालकानि ॥ २ ॥
द्वीपेषु सप्तस्वपि पश्य मेदो-
जलानि भूतैः प्रविसारितानि।
भुक्तं च मांसं रुधिरं च पीतं
किंचिद्गता संप्रति दृश्यतां भूः ॥ ३ ॥
मेदःपटैरावलिताखिलाङ्गी
कष्टं स्थिता संप्रति मोदना भूः।

एक सौ पैंतीस सर्ग

[भूत, प्रेतोंके झुण्ड द्वारा शवका मास खा लेने और रुधिर पी लेनेके अनन्तर बसासे पृथिवीकी रचना हुई और बचे हुए रुधिरसे मदिराका सागर बनाया गया]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—उन्मत्त भूत-प्रेतोंके झुण्डने खानेके बाद शवको जब थोड़ा-बहुत बचा दिया तब दिशाओंमें स्थित लोकालोकपर्वतपर बैठे हुए देवराज सहित देवताओंने यह कहा ॥ १ ॥

देवीके गणोंने वसासे सनी हुई अतएव वायुवश उड़े हुए निर्मल मेघखण्डोंसे व्याप्त आकाशके समान बड़ी बड़ी आँतडियाँ विद्याधर और देवताओंके विहारके साधन विमानोंकी संचारभूमिमें (आकाश में) भी सुखानेके लिए फैलाई हैं ॥ २ ॥

देखिये, भूतोंने सातों द्वीपोंमें वसाका जल बहाया है, मांस खा डाला है और रक्त पी लिया है, इसलिए इस समय भूमि कुछ दर्शनीय हो गई है ॥ ३ ॥

सब प्राणियोंको आनन्द प्रदान करनेवाली पृथिवी हाय इस समय वसा रूपी वस्त्रोंसे सारी ढकी है और सबके सब वन वसाके बने हुए शरत्कालिक मेघसमूहोंसे धूसर कम्बलोंसे ढके हुएसे मालूम पड़ते हैं ॥ ४ ॥

मेदोमयैः शारदमेघजालैः
सकम्बलानीव वनानि भान्ति ॥ ४ ॥
पश्यैतानि तदस्थीनि संपन्नानि महाद्रयः ।
हिमाद्रिशिखराणीव स्थितान्यावार्य दिक्तटम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

देवेषु कथयत्स्वेवं कृत्वेमां मेदिनीं धराम् ।
मेदोजालैः स भूतौघो मत्तो व्योम्नि ननर्त ह ॥ ६ ॥
नृत्यत्सु भूतवृन्देषु शिष्टं रक्तं सुरैर्भुवः ।
एकप्रवाहेणैकस्मिन्निक्षिप्तं मकरालये ॥ ७ ॥
सुरार्णवं तमेवैनं संकल्पं विदधुः सुराः ।
ततःप्रभृति सोऽद्याऽपि संपन्नो मदिरार्णवः ॥ ८ ॥
भूतानि नृत्तमाकाशे तानि कृत्वा पिबन्ति ताम् ।
मदिरां पुनराकाशे नृत्यन्त्यानन्दमन्दिरे ॥ ९ ॥
पिबन्त्यद्याऽपि तानीव मदिरां मदिरार्णवात् ।
खे नृत्यन्ति च भूतानि सह योगेश्वरीगणैः ॥ १० ॥

देखिये, उस शवकी इन हड्डियोंने महापर्वतोंका रूप धारण कर लिया है । ये दिशा-तटको ढककर हिमालयकी चोटियोंके समान खड़े हैं ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भास, जब कि देवगण आपसमें उक्त वार्तालाप कर रहे थे वे देवीके गण तृप्त होकर खाने पीनेसे बचे हुए वसासे पृथिवीको लीप-पोतकर उन्मत्त हो आकाशमें नाचने लगे ॥ ६ ॥

भूतोंके झुण्डके आकाशमें नाचनेपर देवताओंने पृथिवीका अवशिष्ट रुधिर अपने संकल्पसे रचित एक नालेसे एक सागरमें भर दिया ॥ ७ ॥

देवताओंने निश्चय कर उसी सागरको मदिराका सागर बनाया । तबसे लेकर आज तक वह मदिराका सागर बना है ॥ ८ ॥

वे भूत आकाशमें नाचकर उस सागरकी मदिराका पान करते हैं और आनन्द-मन्दिर आकाशमें फिर नाचते हैं ॥ ९ ॥

उन भूतोंकी भाँति आज कलके भूत भी उस मदिरासागरसे मदिरा पीते हैं और योगेश्वरीके गणोंके साथ आकाशमें नाचते हैं ॥ १० ॥

तेषां तान्यथ भूतानां मेदोजालानि भूतले ।
विस्तृतान्यवशुष्काणि स्थिताऽतो मेदिनी मही ॥ ११ ॥
इति क्रमाच्छान्तिमुपागते शवे
पुनः प्रवृत्ते दिनयामिनीक्रमे ।
प्रजाः ससर्जाऽथ नवाः प्रजापतिः
पुनः स सर्गोऽभवदत्र पूर्ववत् ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० शवोपाख्याने शवोपशमो नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः

भास उवाच

अथाऽहं तं महादेवं पावकं पृष्टवानिदम् ।
शुकपक्षतिकोणस्थः श्रूयतामवनीश्वर ॥ १ ॥

उन भूतोंके पीनेसे शेष रही वह वसाराशि पृथिवीमें फैलकर सूख गई है, इसी कारण पृथिवीका मेदिनी नाम पड़ा है ॥ ११ ॥

इसी तरह देवताओंने सूर्यको भी पहलेकी नाईं अपने पदपर प्रतिष्ठित कर दिया, पर्वत आदिकी रचना भी पहलेकी तरह कर डाली यह सूचित करते हुए कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

इस प्रकारके क्रमसे शवके क्षीण होनेपर सूर्यके अपने पदपर प्रतिष्ठित करने और मेरु आदि पर्वतोंका उद्धार करनेके कारण दिन और रात्रिके क्रमके पुनः चालू होनेपर फिर प्रजापतिने नई-नई प्रजाओंकी सृष्टि की । इस भूमिमें वह सृष्टि पूर्ववत् हुई ॥ १२ ॥

एक सौ पैंतीस सर्ग समाप्त

एक सौ छत्तीस सर्ग

[भासके पूछनेपर अग्नि द्वारा आदिसे लेकर शवके वृत्तान्तका—उसकी असुर, मच्छर, मृग और व्याध योनियोंका—वर्णन]

भासने कहा—राजन्, इसके बाद सुग्गेके परोंकी जड़के कोनेपर बैठे हुए मैंने देवाधिदेव भगवान् अग्निसे यह पूछा, सुनिये ॥ १ ॥

भगवन्सर्वयज्ञेश स्वाहाधिप हुताशन ।
किमिदं नाम संपन्नं कथ्यतां किमिदं शवम् ॥ २ ॥

वह्निरुवाच

श्रूयतामखिलं राजन्यथावद्वर्णयामि ते ।
त्रैलोक्यभासुरानन्तशववृत्तान्तमद्भुतम् ॥ ३ ॥
अस्त्यनन्तमनाकारं परमं व्योम चिन्मयम् ।
यत्रेमान्यपसंख्यानि जगन्ति परमाणवः ॥ ४ ॥
शुद्धचिन्मात्रनभसि तस्मिन्सर्वगते क्वचित् ।
सर्वात्मन्युदभूत्संवित्संवेदनमयी स्वयम् ॥ ५ ॥
सा तेजःपरमाणुत्वममपश्यद्वेदनावशात् ।
भावितोर्थात्मकतया स्वप्ने त्वमिव पान्थताम् ॥ ६ ॥
परमाणुरसंवित्त्वादपश्यदणुतां स्वयम् ।
भास्वतीं पद्मजरजस्तुल्यां संकल्पनात्मिकाम् ॥ ७ ॥
सोच्छूनतां भावयन्ती पुनरप्यभवत्स्वयम् ।
चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वपुष्यन्वभवत्स्वतः ॥ ८ ॥

हे भगवन्, हे सकल यज्ञोंके ईश्वर, हे स्वाहादेवीके अधिपति, हे अग्निदेव, जिसका इस समय 'शव' नाम पड़ा है वह पहले किस कारणसे हुआ ? ॥ २ ॥

अग्निने कहा—हे राजन् सुनो, मैं त्रैलोक्यमें प्रकाशमान असीम शवका सारा-का सारा वृत्तान्त आदिसे अन्त तक तुमसे कहता हूँ ॥ ३ ॥

सर्वव्यापक, निराकार चिन्मय परमाकाश है, जिसमें ये असंख्य जगत्‌रूप परमाणु हैं ॥ ४ ॥

उस सर्वव्यापक, सर्वात्मक, शुद्ध, चिन्मात्राकाशमें कहीं पर अपने आप विषयाकारमय संवित् उद्भूत हुई ॥ ५ ॥

वेदनारूप स्वभाव होनेके कारण ही उसने अपनेमें तेजःपरमाणुभाव वैसे ही देखा जैसे कि तुम पथिककी भावना करते हुए सोकर स्वप्नमें अपनेको ही पथिक रूपसे देखते हो ॥ ६ ॥

अज्ञानावृतचैतन्य होनेके कारण परमाणुने कमलमें उत्पन्न परागके कणके समान खूब चमक रही संकल्परूप अपनी अणुता स्वयं देखी ॥ ७ ॥

चमक रही उस अणुताने बढ़कर अपनी उच्छूनताकी (फुलावकी) भावना

अपश्यदग्रे च जगच्चक्षुरादिस्वभावतः ।
आधाराधेयवद्भूतमयं स्वप्नपुरं यथा ॥ ९ ॥
असुरो नाम तत्राऽऽसीत्प्राणी मानी बभूव ह ।
असत्यप्रतिभासात्मपितृमातृपितामहः ॥ १० ॥
दर्पोत्सिक्ततया तत्र कस्यचित्स महामुनेः ।
यदा मृदितवानासीदाश्रमं शर्मभाजनम् ॥ ११ ॥
मुनिः शापमदात्तस्य महाकारतयाऽऽश्रमः ।
त्वया यन्नाशितो मृत्वा भव त्वं मशकोऽधमः ॥ १२ ॥
स तच्छापहुताशोऽथ तस्मिन्नेव तदा क्षणे ।
असुरं भस्मसाचक्रे जलमौर्व इवाऽनलः ॥ १३ ॥
निराकारं निराधारमाकाशवलयोपमम् ।
चित्तं किंचिदिवाऽचेत्यमासीच्चेतनमासुरम् ॥ १४ ॥

करते हुए चक्षु आदि इन्द्रियोंका अनुभव किया फिर वे इन्द्रियाँ शरीरमें संलग्न हैं, ऐसा अनुभव किया ॥ ८ ॥

आगे चक्षु आदिने अपने स्वभावसे शब्द, स्पर्श आदि गुणोंका आधाराधेय सम्बन्धवाला भूतमय जगत्, स्वप्नके नगरके समान, देखा ॥ ९ ॥

वेदनसे लेकर विषयपर्यन्त अध्यारोपरूप कार्य-करणोंके मध्यमें असुर नामका कोई प्राणी था, वह असुर स्वभावसे ही बड़ा अभिमानी हुआ। शंका—क्या उसके माता, पिता और पितामह नहीं थे ? उत्तर—थे, किन्तु विदूरथके पिता, माता आदिके समान असत्यप्रतिभास-स्वरूप थे ॥ १० ॥

वह मारे घमण्डके फूला न समाता था, अतएव उसने वहाँपर किसी महामुनिका सुखशान्तिमय आश्रम मटियामेट कर डाला । तब मुनिने उसे शाप दिया—अरे अधम, विशालकाय होनेके कारण तूने मेरा यह आश्रम तहस-नहस कर डाला है, इस कारण तू मरकर अतिक्षुद्र मच्छर हो ॥ ११, १२ ॥

इसके उपरान्त मुनिके शापरूपी अग्निने उसी क्षणमें उस असुरको जैसे वड़वानल जलको भस्म कर देता है वैसे ही वहाँ भस्म कर दिया ॥ १३ ॥

उस समय वह आसुर चेतन कैसा था, इसपर कहते हैं—**'निराकारम्'** इत्यादिसे ।

आकाशमण्डलके तुल्य निराकार निराधार चेत्यभिन्न आसुर चेतन सुषुप्त मूर्च्छित चित्तके समान था ॥ १४ ॥

तदेकत्वं ययौ साम्याद्भूताकाशेन चेतनम् ।
तदास्पदेन तत्राऽथ वायुना चैकतां ययौ ॥ १५ ॥
आसीच्चेतनवानात्मा भविष्यत्प्राणिनामकः ।
रजसा पयसा व्याप्तस्तेजसा नभसाऽणुना ॥ १६ ॥
स पञ्चतन्मात्रमयश्चिन्मात्रलवकोऽणुकः ।
स्पन्दमाप स्वभावेन व्योम्नि वातलवो यथा ॥ १७ ॥
अथ तस्याऽनिलान्तस्थं चेतनं तद्व्यबुध्यत ।
कालानिलजलैर्भूमौ बीजमङ्कुरकृद्यथा ॥ १८ ॥
शुद्धशापविदन्तस्था मशकत्वविदाऽस्य चित् ।
वेधिता मशकाङ्गानि विदित्वा मशकोऽभवत् ॥ १९ ॥
स्वेदजस्याऽल्पदेहस्य निःश्वासनिपतत्तनोः ।
द्वे तस्य मशकस्येह दिने भवति जीवितम् ॥ २० ॥

वह अव्याकृतस्वरूप आसुर चेतन, समानता होनेके कारण, भूताकाशके साथ एकताको प्राप्त हुआ और तदनन्तर वह भूताकाश अपनेमें प्रतिष्ठित वायुके साथ एकताको प्राप्त हुआ ॥ १५ ॥

चेतनवायुरूप (प्राण रूप) वही, जिसका कि देहप्राप्ति होनेपर 'प्राणी' नाम पड़ेगा, अणुरूप पार्थिव भाग, अणुरूप जल भाग, अणुरूप तेज भाग और अणुरूप आकाश भागसे व्याप्त हुआ ॥ १६ ॥

उस पञ्चतन्मात्रमय अणुरूप चिन्मात्र-लेशमें आकाशमें वायुलेशके समान स्वभावतः क्रियाशक्तिका आविर्भाव हुआ ॥ १७ ॥

क्रियाशक्तिसे लिङ्गदेहमें ज्ञानशक्तिके आविर्भावको कहते हैं-'अथ' इत्यादिसे ।

तदुपरान्त जैसे वर्षा ऋतु, पूर्वी वायु, वर्षा आदिका जल—इन सबसे अङ्कुर पैदा करनेमें सक्षम भूमिमें बोया हुआ बीज फूलकर जाग्रत् होता है वैसे ही उसका वायुके अन्दर स्थित वह चेतन उद्बुद्ध हुआ ॥ १८ ॥

महामुनिके शापको जाननेवाली, मच्छरकी योनिको प्राप्त होनेवाली उक्त अन्तःकरणमें स्थित असुरकी चित् उक्त संस्कारोंसे विद्ध होकर मच्छरके पर, पैर आदि अङ्गोंको जानकर स्वयं मच्छर हो गई ॥ १९ ॥

स्वेदज आदि चतुर्विध भूतयोनियोंमें उसने कौन योनि पाई और कितने

श्रीराम उवाच

प्राणिनामिह सर्वेषां योन्यन्तरज एव किम् ।
समुद्भवः संभवति किमुताऽन्योऽपि वा प्रभो ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्मादीनां तृणान्तानां द्विधा भवति संभवः ।
एको ब्रह्ममयोऽन्यस्तु भ्रान्तिजस्ताविमौ शृणु ॥ २२ ॥
पूर्वरूढजगद्भ्रान्तिभूततन्मात्ररञ्जनात् ।
भूतानां संभवः प्रोक्तो भ्रान्तिजो दृश्यसङ्गतः ॥ २३ ॥
अभातायां जगद्भ्रान्तौ भूतभावः स्वयं भवन् ।
यः स ब्रह्ममयः प्रोक्तः संभवो न स योनिजः ॥ २४ ॥

काल तककी उसकी आयु हुई ? इसपर कहते हैं—'स्वेदजस्या०' इत्यादिसे ।

अतिक्षुद्र शरीरवाले उस स्वेदज मच्छरकी, जिसका शरीर अति हलका होनेसे फूँक मारनेसे उड़ जाता था, केवल दो दिनकी परमायु हुई ॥ २० ॥

आपने स्वप्नसंसारके समान ही जाग्रत्संसार भी है, यह एक दो बार नहीं, सैकड़ों बार कहा है । स्वप्न-देहका तो योनिसे जन्म नहीं दिखाई देता, जाग्रत्देहका योनिसे जन्म दिखाई देता है, उसके दृष्टान्तसे जाग्रत्-देहके समान ही स्वप्नदेहका भी जन्म सर्वत्र योनिसे ही है अथवा दूसरे प्रकारसे भी हो सकता है यों संशयमें पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रसंगतः श्रीवसिष्ठजीसे पूछते हैं—'प्राणिनाम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा-प्रभुवर, यहाँ सभी प्राणियोंका योनिसे ही जन्म होता है अथवा अन्य प्रकारसे भी हो सकता है ॥ २१ ॥

श्रीवशिष्ठजीने कहा—वत्स, ब्रह्माजीसे लेकर तिनके पर्यन्त सब भूतोंकी दो प्रकारकी उत्पत्ति होती है—एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज । इन दोनोंको आप सुनिये ॥ २२ ॥

पहलेकी योनिके अनुभवसे बद्धमूल पहलेके शरीरतादात्म्यकी दृढ़ भ्रान्तिसे तत्-तत् भूत और भूततन्मात्रोंके अनुराग वश तदाकारसे प्राणियोंका जो जन्म होता है वह भ्रान्तिज जन्म कहा गया है, क्योंकि वह दृश्यके संगसे होता है । इस विषयमें 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु-विनश्यन्ति' 'यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति' इत्यादि भगवती श्रुतियाँ हैं ॥ २३ ॥

नित्यमुक्त ब्रह्माको पहले कभी भी ध्यानमें न आई हुई जगद्भ्रान्ति होनेपर

एवं स्थिते स मशको जगद्भ्रान्तिवशोत्थितः ।
न तु ब्राह्मोत्थितस्तस्य राम चेष्टाक्रमं शृणु ॥ २५ ॥
क्ष्मेक्षुशष्पकक्षादिपुञ्जगुञ्जेषु गुञ्जता ।
स्वायुषोऽर्धं दिनं तेन सर्वं भुक्तं विवल्गता ॥ २६ ॥
शाद्वलोदरदोलायां दोलनं बाललीलया ।
चिरमारब्धमेतेन सार्धं मशिकया स्वयम् ॥ २७ ॥
दोलाश्रमार्तस्तत्राऽसौ यावद्विश्राम्यति क्वचित् ।
तावद्धरिणपादाग्रगिरिपातेन चूर्णितः ॥ २८ ॥
हरिणाननसंदर्शत्यक्तप्राणतया तया ।
पूर्वक्रमगृहीताक्षः स जातो हरिणस्ततः ॥ २९ ॥

सृष्टिके आरम्भमें विवर्तवश हो रहा चतुर्विध जीव रूपसे ब्रह्मका जो जन्म है वह ब्रह्ममय जन्म कहा गया है, वह योनिज जन्म नहीं है ॥ २४ ॥

ब्रह्ममय जन्मका अनुभव जन्मतः सिद्ध कपिल, सनक आदि महामुनियोंको ही होता है, अज्ञानी मच्छर आदिका ब्रह्ममय जन्म नहीं हो सकता अतएव प्रस्तुत मच्छर-जन्म भ्रान्तिज ही था, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**एवम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी परिस्थितिमें वह मच्छर जगद्भ्रान्तिवश जन्मा था, ब्रह्म विवर्तवश नहीं जन्मा था । अब आप उसकी क्रमिक चेष्टाओंको सुनिये ॥ २५ ॥

पृथ्वीपर ईखके झुरमुटों, घनी घासके तिनकों, काश, मूँज आदिके अम्बारमें गूँजनेवाले मच्छरोंमें स्वयं भी गूँज रहे और क्रीड़ा कर रहे उस मच्छरने दो दिनकी अपनी पूर्णायुका आधा हिस्सा (एक दिन) भोग लिया ॥ २६ ॥

आधी आयु (एक दिन) बीतनेके उपरान्त दूसरे दिनकी उसकी चेष्टाका वर्णन करते हैं—'**शाद्वल०**' इत्यादिसे ।

उस मच्छरने बाल-क्रीड़ावश स्वयं हरीघासके मध्यरूप झूलेमें चिरकालतक अपनी पत्नी मच्छरीके साथ झूलना आरम्भ किया ॥ २७ ॥

झूलनेकी थकानसे थका हुआ वह ज्योंही कहीं विश्राम करने लगा त्योंही ऊपर हरिणके खुराग्रभागरूप पर्वतके गिरनेसे चूर हो गया ॥ २८ ॥

उसने हरिणकी आकृतिके दर्शनसे प्राण त्यागे थे इस कारण पहले मच्छरकी देह ग्रहण करनेमें जो क्रम कहा गया है उसी क्रमसे बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों-का ग्रहणकर तदनन्तर वह हरिण हो गया ॥ २९ ॥

विहरन् हरिणोऽरण्ये व्याधेन धनुषा हतः ।
व्याधाननगदृष्टित्वात्संजातो व्याध एव सः ॥ ३० ॥
व्याधो वनेषु विहरन्संयातो मुनिकाननम् ।
तत्र विश्रान्तवान् सङ्गान्मुनिना प्रतिबोधितः ॥ ३१ ॥
भ्रान्तः किमिदमादीर्घदुःखाय धनुषा मृगान् ।
हंसि पासि न कस्मात्त्वं तन्त्रं जगति भङ्गुरे ॥ ३२ ॥
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरं
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनीचञ्चलाः ।
लोला यौवनलालना जलरयः कायः क्षणापायवा-
न्पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० निर्वा० उ० अ० वि० शवोपाख्याने मशकव्याधबोधनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३६ ॥

अरण्यमें इधर उधर भटक रहे हरिणको व्याधने धनुषसे मार डाला । मरते समय उसकी दृष्टि व्याधके मुखपर पड़ी, अतएव अगले जन्ममें वह व्याध ही हुआ ॥ ३० ॥

विविध वनोंमें भटक रहा व्याध अकस्मात् मुनिके वनमें जा पहुँचा । वहाँपर उसने विश्राम किया । उसके सत्संगलाभरूप सौभाग्यसे मुनिने उसे ज्ञानोपदेश दिया ॥ ३१ ॥

अरे व्याध, तुम भ्रममें पड़े हो । इस क्षणभङ्गुर जगत्में दीर्घ दुःखके लिए मृगोंको धनुषबाणसे क्यों मारते हो ? महा फल देनेवाली अहिंसा, अभयदान आदि शास्त्रमर्यादाका क्यों पालन नहीं करते ॥ ३२ ॥

देखो न इस संसारकी असारता । आयु वायुसे टकराए हुए मेघमण्डलमें लटक रहे जलके समान क्षणमें नष्ट होनेवाली है, भोग मेघराशिके मध्यमें कौंध रही बिजलीके समान चञ्चल हैं । यौवनविलास जलके वेगके सदृश चञ्चल है । शरीर क्षणभङ्गुर है । हे पुत्र, इसलिए पारलौकिक अनर्थरूप संसार वश त्रासको प्राप्त होकर अभयदान, अहिंसा आदि उपायोंसे आत्यन्तिक अनर्थनिवृत्तिसे युक्त नित्य निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मकी गुरु तथा शास्त्ररूप उपाय द्वारा खोज करो ॥ ३३ ॥

एक सौ छत्तीस सर्ग समाप्त

सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः

व्याध उवाच

एवं चेत्तन्मुने ब्रूहि कीदृग्दुःखपरिक्षये।
न कर्कशो न च मृदुर्व्यवहारक्रमो भवेत् ॥ १ ॥

मुनिरुवाच

इदानीमेव संत्यज्य धनुषा सह सायकान्।
मौनमाचारमाश्रित्य शान्तदुःखमिहोष्यताम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति संबोधितस्तेन परित्यज्य धनुःशरान्।
आसीन्मुनिसमाचारस्तत्रैवाऽयाचिताशनः ॥ ३ ॥
विवेश मनसा मौनी ततः शास्त्रविवेकिताम्।
दिनैरेव यथा पुष्पमामोदेन नराशयम् ॥ ४ ॥

एक सौ सैंतीस सर्ग

[व्याधके पूछनेपर मुनिका धारणाके अभ्याससे परकायप्रवेश द्वारा देखे गये उसके स्वप्नका वर्णन]

व्याधने कहा—हे मुनिजी महाराज, यदि हिंसादि कार्य दुःखका हेतु है तो दुःखके विनाशमें कारणभूत व्यवहार, जो न कठोर है और न कोमल है, कैसा है ? कृपया उसे मुझसे कहिये ॥ १ ॥

मुनिजीने कहा—इसी समय बाणोंके साथ धनुषका सर्वदाके लिए त्यागकर मुनिजनोंके यम, नियम, विचार आदि आचरणकी दीक्षा लेकर निर्द्वन्द्व हो यहाँपर निवास करो ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—उक्त मुनिके यों उपदेश देनेपर धनुष और बाणोंका परित्याग कर वहींपर उसने मुनिजनोंके से आचरण अपनाये और अयाचित जो कुछ मिल जाता था उससे अपनी गुजर करने लगा ॥ ३ ॥

तदुपरान्त मुनियोंके से आचरणवाले उसके हृदयमें थोड़े ही दिनोंमें सारासार-विवेकशीलताने वैसे ही प्रवेश किया जैसे फूल अपनी कलीके विकास आदि क्रमसे होनेवाली मनोमोहिनी सुगन्धसे लोगोंके हृदयमें प्रवेश करता है ॥ ४ ॥

अपृच्छन्मुनिशार्दूलं कदाचित्तमरिन्दम ।
भगवन्दृश्यते स्वप्नः कथमन्तर्बहिः स्थितः ॥ ५ ॥
मुनिरुवाच
ममाऽपि साधो प्रथममेष एव विवेकिनः ।
पुरा चित्ते वितर्कोऽभूत्कुतोऽप्यभ्रमिवाऽम्बरे ॥ ६ ॥
तत एतद्विदित्वार्थमहमभ्यस्तधारणः ।
बद्धपद्मासनस्तस्यां संविद्येवाऽभवं स्थिरः ॥ ७ ॥
तत्रस्थो दूरविक्षिप्तं तयैवाऽऽहृतवानहम् ।
चेतः स्वहृदयं सायं रुचेव रविरातपम् ॥ ८ ॥

हे शत्रुतापन महाराज दशरथजी, इस प्रकार हृदयमें विवेकाङ्कुर पैदा हो जानेके बाद एक दिन उस व्याधने महामुनिसे पूछा—भगवन्, प्राणियोंके अन्दर स्थित स्वप्न जाग्रत्की तरह बाहर कैसे दिखाई देता है ? बाहर स्थित यह जगत्-प्रपञ्च स्वप्न बनकर प्राणियोंके अन्दर कैसे दिखाई देता है ? प्राणियोंके अन्दर स्थित स्वप्न किस साधनसे दिखलाई पड़ता है ? इस तरह बाहर और भीतर स्थित स्वप्नरूप प्रपञ्च कैसे दिखाई देता है और यदि प्रपञ्च स्वप्न ही है तो भीतर बाहर दो प्रकारसे स्थित कैसे दिखाई देता है ? इस प्रकार अनेक संशयोंसे गुँथे हुए एक-साथ पाँच प्रश्न किये ॥५॥

प्रचुर तर्कोंसे गर्भित प्रश्नको सुनकर प्रारम्भिक भूमिकाकी अवस्थामें जब कि मेरा विवेक प्रौढ़ नहीं हुआ था, मेरे मनमें भी ऐसे ही अनेक वितर्क उठे थे। मैंने योगधारणाके अभ्याससे स्वयं परकायप्रवेश द्वारा उसके स्वप्न आदिका पुनः पुनः अवलोकनकर अन्वय-व्यतिरेकसे वार-वार परीक्षा करके तथ्य तक पहुँचकर उनका समाधान किया था, यह विस्तारपूर्वक कहनेके लिए तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए मुनि उपक्रम करते हैं—'ममाऽपि' इत्यादिसे।

मुनि महाराजने कहा—हे साधो, पहले आरम्भावस्थामें जबकि मेरा विवेक कोमल था मेरे मनमें भी अपने-आप न जाने कहाँसे ऐसा ही वितर्क आकाशमें बादलके टुकड़े तुल्य उठा ॥ ६ ॥

उसके बाद उसका पता लगानेकी इच्छासे मैंने योग-क्रियाका, जिससे मैं अनायास परकाय प्रवेश कर सकूँ, खूब अभ्यास किया। पद्मासन बाँधकर सब प्राणियोंकी आत्मभूत सर्वप्रसिद्ध संवित्में ही स्थिर हुआ यानी चित्तसमाधि लगाई ॥ ७ ॥

जैसे सूर्य सायंकालके समय बिखरे हुए अपने घामको अपने मण्डलकी

वेदनेरणया प्राणस्ततश्चित्तान्वितो मया ।
शरीराद्रेचितो बाह्ये सौरभं कुसुमादिव ॥ ९ ॥
व्योमस्थचित्तवलितः स प्राणपवनो मया ।
अग्रस्थस्य मुखाग्रस्थे जन्तोः प्राणे नियोजितः ॥ १० ॥
यः प्राणवलितः प्राणस्तेन नीतो हृदन्तरम् ।
स्वेहया स्वं स्वकः सर्पः करभेणेव हिंसितः ॥ ११ ॥
ततोऽहं हृदयं तस्य प्रविष्टः प्राणवाजिना ।
संकटस्थः स्वया बुद्ध्या तावेवाऽनुसरोऽन्तरम् ॥ १२ ॥
चरद्रसाभिर्बह्वीभिर्नाडीभिरभितो वृतम् ।
कुल्याभिः स्थूलतन्वीभिर्बाह्यदेशमिवाऽखिलम् ॥ १३ ॥
पर्शुकापञ्जरप्लीहयकृद्रक्तादिडिम्बकैः ।
संकटं जीवसदनं भाण्डोपस्करणैरिव ॥ १४ ॥

कान्तिसे बटोरता है वैसे ही उक्त संवित्में समाधिस्थ हुआ मैं उसी संवित्से दूर विक्षिप्त अपने चित्तको अपने हृदयमें लौटा लाया ॥ ८ ॥

मैंने प्राणके अन्तर्गत चित्की प्रेरणासे योगशास्त्रमें प्रसिद्ध प्रयत्नसे, जो प्राणके साथ जीवके बाहर निकलनेमें सहायक है, जीवोपाधि चित्तके साथ प्राणको शरीरसे बाहर रेचक द्वारा निकाला ॥ ९ ॥

बाहर आकाशमें स्थित जीवोपाधि चित्तसे युक्त बाहर रेचित अपने प्राण-वायुको मैंने अपने सामने स्थित किसी जीवके (छात्रके) मुखके अग्रभागमें स्थित प्राणमें मिला दिया ॥ १० ॥

मेरे प्राणसे संमिश्रित उस प्राणीका जो प्राण था, उसने मुझे उसके हृदयके भीतर वैसे ही पहुँचाया जैसे कि भालू बिलमें मुँह डालकर मुँहके वायुसे अपने आहार भूत साँपको जबर्दस्ती बाहर खींच मुँहमें डाल मार मूरकर अपने पेटमें पहुँचाता है ॥ ११ ॥

उसके हृदयमें प्रविष्ट होनेके बाद प्राणरूपी घोड़ेसे परस्पर मिले हुए उक्त दोनों प्राणोंका अनुगमन कर मैं उसके देहमध्यमें प्रविष्ट हो अपनी बुद्धिसे संकटमें फँस गया ॥ १२ ॥

जैसे बाह्य प्रदेशमें सिंचाईके लिए छोटी बड़ी बहुतसी नहरोंका जाल बिछा रहता है वैसे जीवगृहमें रसवाहिनी बहुतसी नाड़ियोंका जाल फैला हुआ था ॥ १३ ॥

उक्त जीवगृहरूपी शरीर पसली रूपी पिंजड़े, लीहा, यकृत्, रुधिर आदिके

गर्वैः शलशलायद्भिरुष्णैरवयवैर्वृतम् ।
निदाघतापसंतप्तैरुर्मिजालैरिवाऽर्णवम् ॥ १५ ॥
नवं नवं बहिःशैत्यं नासाग्राच्चेतनात्मकम् ।
जीवनायाऽनिशं चेतोवातोन्नीतमनारतम् ॥ १६ ॥
रक्तकुट्टरसश्लेष्मवसानिःस्रावपिच्छिलम् ।
घनान्धकारमुष्णं च संकटं नरकोपमम् ॥ १७ ॥
उदयाव्ययवाश्लेषस्पष्टास्पष्टमरुद्रतैः ।
स्थिरयन्तानां तु वैषम्यादागामिगदसूचकम् ॥ १८ ॥
दरत्सरभसच्छिद्रावातवातेन शब्दितम् ।
पद्मनालप्रणालान्तर्ज्वलदर्णववाडवम् ॥ १९ ॥

पिण्डोंसे ठीक वैसे ही संकटाकीर्ण था जैसे कि भाँड़े, बर्तन आदिके अम्बारोंसे घर संकटाकीर्ण होता है ॥ १४ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें तपी हुई लहरोंसे सागर व्याप्त रहता है वैसे ही उदराग्निमें उबलनेसे शल् शल् शब्द कर रहे गरम गरम सब अवयवोंसे जीवगृह शरीर घिरा था ॥ १५ ॥

जीवनके लिए चित्त और प्राण आदि वायुओं द्वारा निरन्तर खींचे गये बाहरके नूतन नूतन शैत्यके नासिकाके अग्रभागसे भीतर प्रवेश होनेके कारण वह जीवगृह चेतनामय था ॥ १६ ॥

रुधिरको नाड़ियों द्वारा बाँटनेवाले अन्नरस, कफ आदिके बहावसे वह अत्यन्त पिच्छिल था, उसमें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था, गर्मी भी कम न थी, अतएव नरकके तुल्य महान् संकटाकुल था ॥ १७ ॥

बहत्तर हजार नाड़ियोंमें कहींपर रुधिर, रस, कफ और पित्तके उदयसे कहींपर विभिन्न अङ्गोंमें चिपकनेसे तथा कहींपर संचारके सौकर्यसे व्यक्त और कहींपर मार्गमें रुकावट होनेसे व्यक्त न हुए प्राण आदि वायुओंकी लीलाओंसे सात धातुओंकी सत्ता और विनाशकी विषमतावश वह जीवमन्दिररूप शरीर आनेवाले रोगोंकी स्वप्न आदिमें सूचना देता था ॥ १८ ॥

वेगके साथ खुल रहे अपान आदि वायुओंके छिद्रोंमें निकले हुए वायुसे उसमें शब्द होता था तथा हृदयकमलनालके छेदके अन्दर सागरमें वाडवाग्निकी तरह जठराग्नि निरन्तर जल रही थी। महोपनिषद्में कहा है—'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं

मिलत्पदार्थनीरन्ध्रं सितमच्छं सवायुभिः ।
क्वचित्सौम्यं क्वचित्क्षुब्धं चोरैरिव पुरं निशि ॥ २० ॥
रसनादपरैर्नाडीमार्गविद्याधराध्वगैः ।
संचरद्भिर्वृतं वातैराकाराधार्धगीतिभिः ॥ २१ ॥
तदहं हृदयं जन्तोराविशं विषमान्तरम् ।
नरोऽवयवसंबाधं नरवृन्दमिवाऽधिकः ॥ २२ ॥
अनन्तरमहं प्राप्तस्तेजोधातुं हृदन्तरे ।
दूरस्थमिव यत्नेन रात्राविन्दुमिवाऽर्करुक् ॥ २३ ॥
यस्मात्त्रिभुवनादर्शो दीपस्त्रैलोक्यवस्तुषु ।
सत्ता सर्वपदार्थानां जीवस्तत्राऽवतिष्ठते ॥ २४ ॥

चाप्यधोमुखम् 'इत्युक्रम्य 'तस्याग्रे सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥'—कमलके कोषके तुल्य हृदयका मुँह नीचेको होता है। इस प्रकार आरम्भ कर उसके अन्तमें छोटा-सा छेद है। उसमें सब-कुछ प्रतिष्ठित है। उसके बीचमें अग्निकी छोटीसी लूर स्थित है ॥१९॥

चारों ओरसे एकत्र हो रहे वासनामय पदार्थोंसे वह ऐसा ठसाठस भरा था कि तिल रखनेको भी ठौर नहीं थी, वायुसे भरी हुई इन्द्रियोंसे चारों तरफसे बँधा था, साक्षीभूत आत्माके स्वभावसे अत्यन्त विशद भी था, चित्तवृत्तिके भेदोंसे तथा प्रदेश भेदोंसे कहींपर वैसे ही क्षुब्ध था जैसे कि रातमें चोरों द्वारा नगर क्षुब्ध होता है और कहींपर अत्यन्त शान्त था ॥ २० ॥

कोष्ठगत अन्नरसमें गुड़-गुड़ शब्द पैदा करनेमें तत्पर अतएव नाड़ी मार्गोंमें गा रहे विद्याधर पथिकके सदृश इधर उधर सञ्चार कर रहे तथा द्विमात्र एकमात्र और अर्धमात्र युक्त गीतिवाले वायुओंसे घिरा था ॥ २१ ॥

मैं प्राणीके अत्यन्त उबड़ खाबड़ तथा भीड़-भाड़वाले उस हृदयमें वैसे ही प्रविष्ट हुआ जैसे कि श्रेष्ठ पुरुष पुरुषोंके अवयवोंसे ठसाठस भरे नर-समूहमें प्रविष्ट होता है ॥ २२ ॥

उसके बाद तेजःस्वरूप मैं उसके हृदयके मध्यमें उदराग्निरूप तेजके सारको, जो समीपस्थ होनेपर भी विविध नाड़ीमार्गसे प्राप्य होनेके कारण दूर स्थितसा था, प्रयाससे वैसे ही प्राप्त हुआ जैसे कि रात्रिमें सूर्यप्रभा चन्द्रमाको प्रयत्नसे प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

यदि कोई कहे कि वह ओज तेजःसार कैसे है? तो इसपर कहते हैं—'यस्मात्' इत्यादिसे ।

काये सर्वगतो जीवः स्वामोदः कुसुमे यथा ।
तथाऽप्योजसि किञ्जल्कैर्मुखे शैत्यं विवस्वता ॥ २५ ॥
तज्जीवाधारमोजस्तु प्रविष्टोऽहमलक्षितम् ।
रक्षितं परितः प्राणैर्वातैः प्रच्छादनं यथा ॥ २६ ॥
ततोऽङ्गः संप्रविष्टोऽहमामोद इव मारुतम् ।
उष्णांशुरिव शीतांशुं मृत्पात्रमिव वा पयः ॥ २७ ॥

चूँकि उसके अन्दर त्रैलोक्यका भान होता है, अतः वह त्रैलोक्यका आदर्शभूत है, त्रैलोक्यस्थित पदार्थोंका वह दीपकके समान प्रकाशक है सब पदार्थोंके अस्तित्वका (सत्ताका) सम्पादक है तथा जीव (जीववेशधारी परमात्मा) उस तेजमें रहता है। भगवती श्रुतिने भी कहा है—उसके मध्यमें उत्पन्न सूक्ष्म अग्निकी लूर है उस लूरके बीचमें परमात्मा बैठा हैं, वह ब्रह्म है, वह शिव है, वह अविनाशी है, वह परम स्वराट् है ॥ २४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यादि श्रुतियोंमें जीवकी सकलदेह व्यापकता सुननेमें आती है, ऐसी स्थितिमें वह तेजोधातुमें (ओजमें) ही कैसे स्थित है ? इसपर कहते हैं—'काये' इत्यादिसे ।

जैसे यद्यपि सूर्य द्वारा विकासित पुष्पमें उसकी सुगन्धि और शीतलता सर्वत्र विद्यमान है फिर भी केसरसे युक्त उसके मुँहमें सुगन्धि और शीतलता विशेषरूपसे रहती है वैसे ही यद्यपि सर्वव्यापी आत्मा जीव बनकर नखसे लेकर शिखा तक सर्वत्र प्रविष्ट हुआ तथापि तेजोधातुमें (ओजमें) वह विशेष रूपसे स्थित है ॥ २५ ॥

जैसे घड़े आदिसे ढकी हुई दीपज्योतिकी घड़ेके छोटे छोटे छेदोंसे प्रविष्ठ हुए वायुओंसे रक्षा होती है क्योंकि यदि छेद बिलकुल बन्द कर दिये जायँ तो दीपक बुत जाय, वैसे ही चारों ओर इन्द्रियाभिमानी देवताओं द्वारा चारों द्वारोंपर सुरक्षित उक्त जीवाधार ओजमें (तेजोधातुमें) मैं चुपचाप बिना किसीके जाने बूझे प्रविष्ट हो गया ॥ २६ ॥

उसके उपरान्त मैं साक्षात् उक्त जीवके उपाधिभूत मनोमय विज्ञानकोशसे परिवृत आनन्दमय कोशमें जो आनन्दमय कोश द्वितीयाके चन्द्रमाके किरणोंके (चाँदनीके) सदृश स्वच्छ था, सफेद बादलके टुकड़ेके समान मनोहर था, मक्खनके गोलेके समान कोमल और दूधके बुद्बुदके समान सुन्दर था ऐसा प्रविष्ठ हुआ जैसे कि अमोद

द्वितीयेन्द्वंशुसंकाशे शुक्लाभ्रलवपेलवे ।
नवनीतगुडप्रख्ये क्षीरबुद्बुदसुन्दरे ॥ २८ ॥
तत्र पश्याम्यहं तिष्ठन्प्रवेशव्यग्रयोज्झितः ।
स्वौजसीव वसन्स्वप्न इव विश्वमखण्डितम् ॥ २९ ॥
सार्कं सपर्वतं साब्धि ससुरासुरमानवम् ।
सपत्तनवनाभोगं सलोकान्तरदिङ्मुखम् ॥ ३० ॥
सद्वीपसागराम्भोधि सकालकरणक्रमम् ।
सकल्पक्षणसर्वर्तु सहस्थावरजंगमम् ॥ ३१ ॥
तत्स्वप्नदर्शनं तत्र स्थिरमेव समं स्थितम् ।
वसाम्यत्येव निद्रान्ते निद्राऽन्ते नाऽऽगता यतः ॥ ३२ ॥
अनिद्र एव किं स्वप्नं पश्यामीति मया ततः ।
परिचिन्तयता ज्ञातमिदं व्याध विबोधिना ॥ ३३ ॥

(मनोहर गन्ध) वायुमें प्रविष्ट होता है, जैसे सूर्य चन्द्रमामें प्रविष्ट होता है अथवा जैसे दूध मिट्टीके पात्रमें प्रविष्ट होता है ॥ २७,२८ ॥

पूर्व स्थानोंमें प्रवेशवश जो थकान मुझे हुई थी वह यहाँ बिलकुल नहीं हुई, जैसे अपने हृदयमें स्थित ओजमें मैं स्वस्थ रहता था वैसे ही वहाँपर भी स्वस्थताके साथ रहते हुए मैंने अपने स्वप्न जगत्की भाँति उसका स्वप्नरूप जगत् भी पूराका पूरा देखा ॥ २६ ॥

उसके स्वप्न जगत्में भी सूर्य थे, पर्वत थे, सागर थे, देवता, राक्षस और मनुष्य थे, नगर थे, विशाल जंगल थे, अन्यान्य लोक थे, दिशाएँ थीं, सातों द्वीप, सातों सागर, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल और इन्द्रियोंके क्रम सब विद्यमान थे, प्रलय, क्षण सब ऋतुएँ-स्थावर-जङ्गम सब कुछ विद्यमान था ॥ ३०,३१ ॥

वहाँपर वह स्वप्नदर्शन अनादि प्रवाह स्थित तथा प्रसिद्ध जगत्के तुल्य रहा। मैं निद्राके बाद जागरणावस्थामें अतिशयेन स्थित ही रहा, क्योंकि जाग्रत्के अन्तमें निद्रा आई ही नहीं ॥ ३२ ॥

हे व्याध, मुझे नींद नहीं है तथापि मैं क्या स्वप्न देखता हूँ यों विचार कर रहे तदनन्तर प्रबोधको प्राप्त हुए मैंने यह जाना। वह यह कि इस चिद्धातुरूप प्रत्यगात्माका यह ऐश्वर स्वरूप है। यह ईश्वर आकाशरूप अपना घट रूपसे पट रूपसे अथवा

ननु नामाऽस्य चिद्धातोः स्वरूपमिदमैश्वरम् ।
स्वं यद्व्यपदिशत्येष जगन्नाम्नाऽम्बरात्मकम् ॥ ३४ ॥
चिद्धातुर्यत्र यत्राऽऽस्ते तत्र तत्र निजं वपुः ।
पश्यत्येष जगद्रूपं व्योमतामेव चाऽत्यजत् ॥ ३५ ॥
अहो त्वद्येदमाज्ञातं यदित्थं दृश्यते जगत् ।
तत्कथ्यते स्वप्न इति स्वचित्कचनमात्रकम् ॥ ३६ ॥
चिद्धातोर्यत्स्वकचनं तत्किंचित्स्वप्न उच्यते ।
किंचिच्च जाग्रदित्युक्तं जाग्रत्स्वप्नौ तु न द्विधा ॥ ३७ ॥
स्वप्नः स्वप्नो जागरायामेष स्वप्ने तु जागरा ।
स्वप्नस्तु जागरैवेति जागरैव स्थिता द्विधा ॥ ३८ ॥
चेतनं नाम पुरुषः स मृतेषु शतेष्वपि ।
शरीरेषु महाबुद्धे कथं कस्य कदा मृतः ॥ ३९ ॥

जगत्-रूपसे या जीवरूपसे जैसा ही नाम या रूप रखता है स्वयं तत्-तत् स्वरूप धारण कर जगत् नाम रख लेता है ॥ ३३-३४ ॥

यह चिद्धातुरूप प्रत्यगात्मा जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ सर्वत्र अपने वास्तविक रूपका त्याग किये बिना ही जगद्रूप अपने शरीरको देखता है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार स्वचित् विकासमात्र जो यह जगत् दिखलाई देता है, इसीको लोग स्वप्न कहते हैं, हाय यह आज मेरी समझमें आया ॥ ३६ ॥

यदि वास्तविक विचार किया जाय तो जाग्रत् भी स्वचिद्विकासमात्र ही ठहरता है उससे अतिरिक्त नहीं, ऐसा कहते हैं—'**चिद्धातोः**' इत्यादिसे।

चिद्धातुका जो स्वविकास है वही कुछ तो स्वप्न कहलाता हैं और कुछ जाग्रत्, और स्वप्न कोई भिन्न पदार्थ नहीं है ॥ ३७ ॥

परस्परकी दृष्टिसे ये दोनों स्वप्न ही हैं और अपनी अपनी दृष्टिसे दोनों जागरण ही हैं, ऐसा कहते हैं—'**स्वप्नः**' इत्यादिसे।

स्वप्नमें जागरण तो स्वप्न ही है। जागरणमें स्वप्न स्वप्न ही है। स्वप्न तो अपनी दृष्टिसे जागरण ही है जब इस प्रकार स्वदृष्टिसे दिखाई देता है तब जागरण ही दो तरहसे स्थित है ॥ ३८ ॥

तब मृत्यु, स्वप्न और जागरणसे अतिरिक्त क्या है? इसपर कहते हैं-'**चेतनम्**' इत्यादिसे।

तच्चेतनं खमेवाऽस्ति स्थितं तद्देहवत्कचत् ।
अनन्तमविभागात्म प्रतिघाप्रतिघात्मकम् ॥ ४० ॥
स्वभावस्याऽप्रतिघस्य नित्यानन्तोदितात्मनः ।
परमाणोश्चिदाख्यस्य मज्जा जगदिति स्मृतः ॥ ४१ ॥
चिद्व्योम्न उदरे भान्ति समस्तानुभवाणवः ।
तथा यथाऽवयविनो विचित्रावयवाणवः ॥ ४२ ॥
निवृत्तो बाह्यतो जीवो जीवाधारो हृदि स्थितः ।
रूपं स्वं स्वप्नसर्गोऽयमिति वेत्ति चिदाकचान् ॥ ४३ ॥
बाह्योन्मुखं बहिर्जाग्रच्छब्दितं कचितं स्वकम् ।
रूपं पश्यति जीवोऽयमन्तस्थं स्वप्न इत्यपि ॥ ४४ ॥

हे महामते, मृत्यु नामकी कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि पुरुष चिन्मात्र है। वह हजारों शरीरोंके मरनेपर भी कब मरा, किसका मरा, कैसे मरा ? यों तीनों प्रकारसे वह प्रसिद्ध नहीं है ॥ ३९ ॥

कल्पना करके शरीर और उसके मरनेकी बात कही, वास्तवमें न शरीर है और उसका मरण ही है, ऐसा कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

वह चिन्मात्र आकाश ही है। असीम और अखण्ड वह भ्रान्तिवश देहवत विकासको प्राप्त होकर मूर्तामूर्ताकारसे स्थित है ॥ ४० ॥

अमूर्ताकारस्वभाव नित्य अनन्त उदित चिद्रूप परमाणुका सार ही भ्रान्तिवश जगत् कहा गया है ॥ ४१ ॥

चिदाकाशके उदरमें सकल अनुभवाणु वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे कि अवयवीके विचित्र रूप-रेखावाले अवयव प्रतीत होते हैं ॥ ४२ ॥

जाग्रत्का भोग करानेवाले कर्मके क्षीण होनेपर बाह्यसे (जागरणसे) निवृत्त होकर जीवाधार हृदयमें स्थित हुआ जीव बाह्य संस्कारके अनुरोधसे अपने स्वरूपको ही यह बाह्य स्वप्नसृष्टि है, ऐसा समझता है ॥ ४३ ॥

जिस समय चित्त बाह्योन्मुख होता है उस समय यह जीव अपने जाग्रत् संज्ञक विकसित रूपको देखता है जब चित्त अन्तस्थ (अन्तर उन्मुख) होता है तब यह जीव अपने रूपको स्वप्नरूपसे देखता है ॥ ४४ ॥

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
प्रसृतो जीव इत्यन्तर्बहिश्चैकात्मकः स्थितः ॥ ४५ ॥
अर्कोऽर्कबिम्बसंस्थोऽपि यथेहाऽपि स्थितस्त्विषा ।
तथा जीवो जगद्रूपो बहिरन्तश्च संस्थितः ॥ ४६ ॥
अन्तःस्वप्नो बहिर्जाग्रदहमेवेति वेत्ति चेत् ।
चिदात्मको यथाभूतं मुच्यते तदवासनः ॥ ४७ ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमपि जीवोऽन्यथा वदन् ।
द्वैतसंकल्पयक्षेण मुह्यत्येव शिशुर्यथा ॥ ४८ ॥
अन्तर्मुखोऽन्तरात्मानं बहिः पश्यन्बहिर्मुखः ।
आस्ते जीवो जगद्रूपं यत्स्वं ते स्वप्नजाग्रती ॥ ४९ ॥
इति चिन्तयतः किं स्यात्सुषुप्तमिति मे मतिः ।
जाता तेन सुषुप्तांशमन्वेष्टुमहमुद्यतः ॥ ५० ॥

एकात्मक ही जीव बाहर और भीतर अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियों और दिशाके रूपसे व्याप्त होकर स्थित है ॥ ४५ ॥

जैसे सूर्य सूर्यमण्डलमें स्थित होकर भी अपनी आभासे यहाँ भी स्थित है, वैसे ही जगद्रूप जीव बाहर और भीतर स्थित है ॥ ४६ ॥

अतएव सर्वात्मताके वास्तविक होनेके कारण उसीके परिज्ञानसे ही यानी 'मैं सर्वात्मक हूँ' इस प्रकारके ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**'अन्तः'**,

चिदात्मक मैं ही भीतर स्वप्न और बाहर जाग्रत् हूँ, यदि ऐसा यथार्थ बोध हो जाय, तो क्रमशः प्रथम, द्वितीय आदि भूमिकाओंके परिपाकसे वासनाविहीन होकर मुक्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

यद्यपि यह जीव अच्छेद्य है (छेदन-भेदनके योग्य नहीं है) और अदाह्य है (जलानेके योग्य नहीं है) तथापि अपनेको अन्यथा जानता हुआ द्वैतसंकल्परूपी यक्षसे बालकके समान मोहको प्राप्त होता ही है ॥ ४८ ॥

अन्तर्मुख जीव अन्तरात्म रूप अपनेको अन्तर्जगत्‌रूपमें देखता हुआ स्वप्न और बहिर्मुख जीव आत्माको बाहर जगत्‌रूपमें देखता हुआ स्वयं ही जाग्रत् होता है। वे ही इसके स्वप्न और जाग्रत् हैं ॥ ४९ ॥

प्रसंगतः सुषुप्ति और तुरीयका तत्त्व, जो पूछा नहीं गया था, कहते हैं—**'इति'** इत्यादिसे ।

यावत्किं दृश्यदृष्ट्याऽन्तस्तूष्णीं तिष्ठाम्यहं चिरम् ।
निश्चित्त इति संवित्तिः शमा नाऽन्यत्सुषुप्तकम् ॥ ५१ ॥
नखकेशादि देहेऽस्मिन् विदिताविदितं यथा ।
न जडं च जडं चैव सुषुप्तं चेतनात्मनि ॥ ५२ ॥
संवित्त्या किं श्रमार्तोऽस्मि शान्तमासे विमानसम् ।
इत्येकपरिणामत्वान्नाऽन्यदस्ति सुषुप्तकम् ॥ ५३ ॥
एतन्निद्राघनं जाग्रत्यपि संभवति स्वतः ।
न किंचिच्चिन्तयाम्यासे शान्त इत्येकरूपकम् ॥ ५४ ॥

इस तरह जाग्रत् और स्वप्नके तात्त्विक स्वरूपका विचार कर रहे मेरे मनमें सुषुप्तिका क्या स्वरूप होगा? ऐसी मति उदित हुई। इसलिए मैं सुषुप्तिकी खोजमें प्रवृत्त हुआ ॥ ५० ॥

दृश्यके दर्शनसे मेरा क्या मतलब, मैं चिरकाल तक चुपचाप चित्तव्यापाररहित होकर स्थित रहूँ, अन्दर इस तरहकी शान्तिरूप संवित् जब तक रहती है तबतक सुषुप्ति है। सुषुप्तिका इससे अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है ॥ ५१ ॥

सुषुप्तिमें चित्तकी व्याप्ति न होनेसे चित्की अभिव्यक्ति न होनेपर घट आदिके समान जड़ताकी आशङ्का कर विशेषरूपसे अहन्त्वेन विदित न होनेपर भी नख, केश आदिके समान सामान्यतः विदित होनेसे विदिताविदितात्मक उक्त सुषुप्ति जो कि जड़ भी है और जड़ नहीं भी है, चेतनात्मक सुषुप्ति-साक्षीमें स्फुरित होती है, ऐसा कहते हैं—'नख०' इत्यादिसे।

जैसे इस शरीरमें विशेषतः अहन्त्वेन अविदित होने सामान्यतः विदित होनेसे विदिताविदितस्वरूप जड़ और अजड़ नख, केश आदि इस शरीरमें स्फुरित होते हैं वैसे ही चेतनरूप सुषुप्ति-साक्षीमें सुषुप्ति स्फुरित होती है ॥ ५२ ॥

जाग्रत् और स्वप्नोंके भ्रमणसे मैं बहुत थक गया हूँ। मुझे विशेष संवित्से क्या करना है। मैं कुछ कालतक मनके व्यापारसे रहित शान्त रहूँ, इस प्रकारका संकल्प होनेपर एकमात्र गाढ निद्राकार परिणाम ही सुषुप्ति है, उससे अतिरिक्त सुषुप्ति नहीं है ॥५३॥

यदि चिन्ताका सर्वथा परित्याग किया जाय तो जाग्रत् पुरुषमें भी सुषुप्ति हो सकती है, ऐसा कहते हैं—'एतत्' इत्यादिसे।

मैं कुछ भी चिन्तन न करूँ, शान्त होकर बैठा रहूँ इत्याकारक गाढ़ निद्रारूप सुषुप्ति जाग्रत् अवस्थामें भी अपने आप हो सकती है ॥ ५४ ॥

एषाऽवस्था यदा याति घनतामुच्यते तदा ।
निद्राशब्देन तन्वी तु स्वप्नशब्देन कथ्यते ॥ ५५ ॥
सुषुप्तमिति निश्चित्य तुरीयान्वेषणामहम् ।
प्रवृत्तः कर्तुमुद्युक्तो युक्तः परमया धिया ॥ ५६ ॥
यावद्रूपं तुरीयस्य किंचनाऽपि न लभ्यते ।
सम्यग्बोधादृते शुद्धात्प्रकाशस्तमसो यथा ॥ ५७ ॥
यथास्थितमिदं विश्वं सम्यग्बोधाद्विलीयते ।
यथास्थितं च भवति न च किंचिद्विलीयते ॥ ५८ ॥
अतः स्वप्नो जागरा च सुषुप्तं च तुरीयके ।
सयथास्थितमस्तीदं नूनं नाऽस्ति च किंचन ॥ ५९ ॥
कारणाज्जगदुत्पन्नं न ब्रह्मेत्थमवस्थितम् ।
जगत्तया शान्तमजं बोध इत्येव तुर्यता ॥ ६० ॥
असंभवात्संभवकारणानां
न जायते किंचन नाम सर्गः ।

यह अवस्था जब खूब घन (गाढ़) हो जाती है तब सुषुप्ति शब्दसे पुकारी जाती है जब शिथिल रहती है तब तो स्वप्न शब्दसे पुकारी जाती है ॥ ५५ ॥

इस तरह सुषुप्तिके स्वरूपका निश्चय कर परम बुद्धिसे युक्त उद्योगशील मैं तुरीयके स्वरूपकी खोज करनेके लिए तत्पर हुआ ॥ ५६ ॥

जैसे अन्धकारके बिना प्रकाशका स्वरूप नहीं पहिचाना जा सकता, वैसे ही शुद्ध सम्यक् ज्ञानके बिना तुरीयका पूर्णरूप तनिक भी समझमें नहीं आता ॥ ५७ ॥

यह यथास्थित विश्व सम्यक् ज्ञानसे विलीन हो जाता है, अतः सम्यक् ज्ञान ही तुरीय है, सम्यक् ज्ञानमें विलीन हुए विश्वकी आत्यन्तिक अविलीनता यथास्थित रहती है यानी विश्व अपने यथार्थ रूपमें हो जाता है कुछ विलीन भी नहीं होता ॥ ५८ ॥

इसलिए यथास्थित जगत्के साथ स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ तुरीयमें अन्तर्भूत हैं, वास्तवमें ये कुछ भी नहीं हैं ॥ ५९ ॥

जगत् कारणसे उत्पन्न नहीं है, किन्तु शान्त अजन्मा ब्रह्म ही इस प्रकार जगद्रूपसे स्थित है, यह बोध ही तुरीयता है ६० ॥

उक्तका ही पुनः वर्णन करते हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं—'असंभवात्' इत्यादिसे।

चिच्चेतनेनैव हि सर्गसंवित्
स्वयं गृहीता द्रवताऽम्बुनेव ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अ० वि० जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त-तुरीयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३७ ॥

अष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः

तापस उवाच

गन्तुमेवं विचार्याऽहं ततस्तत्संविदेकताम् ।
प्रवृत्तश्चौतमाब्जेन सौरभेणेव सौरभम् ॥ १ ॥
यावत्तच्चेतनं तस्य तमोजोधातुमत्यजम् ।
प्रवृत्तं बाह्यसंवित्तौ समस्तेन्द्रियसंविदा ॥ २ ॥

अद्वितीय ब्रह्ममें सृष्टिके जन्मकारणोंका संभव न होनेसे सृष्टि अतिरिक्तरूपसे उत्पन्न नहीं होती, किन्तु चित्के जगताकार चेतनने ही स्वभावतः स्वयं सर्गसंवित् वैसे ग्रहण की है जैसे कि जल द्रवता ग्रहण करता है ॥ ६१ ॥

एक सौ सैंतीस सर्ग समाप्त

एक सौ अड़तीस सर्ग

[प्राणीके जीवका और मेरे जीवका संमेलन होनेपर मैंने दुगुना विश्व देखा और एकता होनेपर एक विश्व देखा, यों मुनि द्वारा वर्णन]

महामुनिने कहा—इस प्रकार जाग्रत्से लेकर तुरीयपर्यन्त अवस्थाओंका रहस्य विचार कर मैं उस प्राणीके चिदाभासरूप जीवके साथ एकीभावको प्राप्त करनेके लिए वैसे ही प्रवृत्त हुआ जैसे कि फूले हुए आम्र-वृक्षकी सुगन्धि वायु द्वारा कमलके तालाबमें पहुँचकर वायुस्थित कमलकी सुगन्धके साथ एकताको प्राप्त होनेके लिए प्रवृत्त होती है ॥ १ ॥

मैंने उस प्राणीके चिदाभासमें प्रवेश करनेके लिए ज्योंही पूर्वोक्त तेजाधातुका (ओजका) परित्याग किया, त्योंही मेरी सकल इन्द्रियरूप संवित् बहिर्मुख व्यापारमें बलात् प्रवृत्त हो गई ॥ २ ॥

संविदः संविदा गृह्णंस्ता बाह्येऽन्तरपि क्षणात् ।
अहं प्रसृतवांस्तत्र तैलबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥ ३ ॥
तत्संविदि तथैवाऽथ यावत्परिणमाम्यहम् ।
भुवनं दृष्टवांस्तावत्सर्वं द्विगुणितं स्थितम् ॥ ४ ॥
दिशो द्विगुणतां यातास्तपतस्तपनावुभौ ।
भूमण्डले द्वे संपन्ने द्वे वै द्यावौ समुत्थिते ॥ ५ ॥
वदनप्रतिबिम्बे द्वे दर्पणप्रतिबिम्बिते ।
यथा भातस्तथा भाते मिश्रिते ते जगच्चितम् ॥ ६ ॥
तैलवद्भाति कोशस्थं यच्चेतनतिलद्वये ।
तस्मिञ्जगद्द्वयं तत्तथा भाति विमिश्रितम् ॥ ७ ॥
संविद्द्वितयकोशस्थे मिश्रिते अप्यमिश्रिते ।
ते उभे जगती भाते समे क्षीरजले यथा ॥ ८ ॥

तदुपरान्त बहिर्मुख व्यापारमें प्रवृत्त हुई सकल इन्द्रियोंका अन्तः व्यापारमें उन्मुख प्रयत्नसे जबर्दस्ती निग्रह कर रहा मैं एक क्षणमें वैसे ही भीतर भी फैल गया जैसे कि तैल-बिन्दु जलमें फैलता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार उपाधिमें व्याप्त होकर मैं ज्योंही उस प्राणीके चिदाभास संवित्में मिलनेसे परिणत हुआ उसी समय उसकी वासना और मेरी वासना—दोनोंके अन्दर भासनेसे सारा भुवन मुझे दुगुना दिखाई पड़ा ॥ ४ ॥

सब दिशाएँ दुगुनी हो गईं, दो सूर्य तपने लगे, दो भूमण्डल बन गये और द्युलोक भी दो हो गये, जैसे दर्पणके अन्दर प्रतिबिम्बित मुखके दो प्रतिबिम्ब भासते हैं वैसे ही मिश्रित (मिले हुए) वे भासे उससे जगत् द्विगुण हो गया ॥ ५,६ ॥

दो चेतनरूपी तिलोंमें तेलकी नाईं विज्ञानकोशमें जो भान होते हैं उन संमिश्रित उपाधियोंमें स्थित दो चिदाभासोंमें द्विगुणभूत तत्-तत् जगत् उस प्रकार मिश्रित प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

चिदाभासरूप दो जीवोंके विज्ञानमय कोषमें स्थित तथा मिश्रित होनेपर भी वासनाओंके मिश्रित न होनेके कारण अमिश्रित वे दोनों जगत् दूध और जलके समान एकसे प्रतीत हुए ॥ ८ ॥

निमेषाद् दृष्टमात्रेण सा तत्संविन्मया ततः ।
सकलैवाऽऽत्मतां नीता परिमित्येव संविदा ॥ ९ ॥
ऋतुऋत्वन्तरेणेव सरितेवाऽल्पिका सरित् ।
वातेनाऽऽमोदलेखेव धूमलेखेव वार्मुचा ॥ १० ॥
एकत्वेनाऽऽशु संवित्तेर्ययौ मे जगदेकताम् ।
दुर्दृष्टेर्द्विवपुश्चन्द्रः सुदृष्टेरेकतामिव ॥ ११ ॥
ततो मे तच्चितिस्थस्य स्वं विवेकमनुज्झतः ।
अल्पीभूतः स्वसंकल्पस्तत्संकल्पस्थितिं गतः ॥ १२ ॥
तच्चित्तवृत्त्यैव ततो बाह्यमालोकयंस्ततः ।
अभुञ्जि तद्दिनाचारं तत्तद्धृदयमत्यजन् ॥ १३ ॥

मैंने देखते ही उस प्राणीके चिदाभासरूप जीवको अपने जीवसे परिच्छिन्न कर दो उपाधियोंमें एकताके स्थापन द्वारा वैसे ही अपनेमें मिला लिया जैसे कि दूसरी ऋतु पहलेकी ऋतुको अपनेमें मिला लेती है, जैसे बड़ी नदी छोटी नदीको आत्मसात् कर लेती है, जैसे वायु सुगन्धिको अपनेमें मिला लेता है और जैसे मेघ धूमपङ्क्तिको अपनेमें मिला लेता है ॥ ९, १० ॥

जैसे नेत्रमें विकार होनेसे दुर्दृष्टिवश दो स्वरूपोंमें दिखाई देनेवाला चन्द्रमा विकारकी निवृत्ति होनेसे सुदृष्टिवश एक हो जाता है वैसे ही पहले वासनाओंके अमिश्रणवश जो जगत् मुझे द्विगुण दिखाई पड़ता था वासनाओंके भी मिश्रण द्वारा एकीकरणसे संवित्के अत्यन्त अभिन्न (एक) होनेपर वह भी आज एकताको प्राप्त हो गया ॥ ११ ॥

उसके पश्चात् जब कि मैं उस प्राणीके चिदाभासमें स्थित हो चुका था और अपना निजका पूर्वापर विचार भी मैंने छोड़ा न था, उस अवस्थामें उस प्राणीकी संकल्पानुसारिणी स्थितिको पहुँचा हुआ मेरा संकल्प स्वल्प हो गया यानी घटते घटते नाममात्र रह गया ॥ १२ ॥

उसके अनन्तर वहाँपर उस प्राणीकी चित्तवृत्तिसे ही उसके भोग्य शब्द आदि विषयोंका अवलोकन कर रहे मैंने उसके हृदयका परित्याग न करते हुए उस प्राणीके जाग्रद्व्यवहाररूप दिनचर्याका अनुभव किया ॥ १३ ॥

ततो यदृच्छयैवाऽसौ शनैर्निद्राकुलोऽभवत् ।
पद्मः सायमिवाऽऽपीय पयो भुक्त्वाऽन्नमुच्छ्रमः ॥ १४ ॥
प्रसृतं दिग्निकुञ्जेषु रूपालोकक्रियाकरम् ।
संजहार बहिश्चित्तं सायमर्को रुचिं यथा ॥ १५ ॥
सह चित्तेन तास्तस्य समस्तेन्द्रियवृत्तयः ।
हृत्कोशमविशञ्छन्नाः कूर्मस्येवाऽङ्गसंधयः ॥ १६ ॥
मुद्रिता हृदयाकारास्त आसंश्चक्षुरादयः ।
लोष्टरूपा मृतावेव लिपिकर्मार्पिता इव ॥ १७ ॥
अहं तच्चित्तवृत्त्यैव सहसोन्नम्य तत्स्थितः ।
तच्चित्तानुविधायित्वात्तत्तद्धृदयमाविशम् ॥ १८ ॥
संहृत्य बाह्यानुभवमन्तरेव तदोजसि ।
क्षणमन्वभवं शून्यं सुषुप्तं तल्पकोमले ॥ १९ ॥

तदनन्तर सायंकालके समय जैसे कमल संकोचको प्राप्त होता है वैसे ही वह प्राणी अन्न खाकर, जल पीकर तथा दिनके कार्योंसे थककर स्वेच्छासे ही धीरे धीरे निद्रादेवीकी गोदमें चला गया ॥ १४ ॥

निद्राके आरम्भमें उसके प्राणने बाहर दसों दिशाओंमें फैले हुए रूपादि विषयोंके दर्शनमें संलग्न अपने चित्तको जैसे सूर्य सायंकालके समय अपनी आभाको बटोर लेते हैं वैसे ही बटोर लिया ॥ १५ ॥

उसके बाद चित्तके साथ सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ संकुचित होकर कछुएके अङ्गोंकी नाईं हृत्कोशमें प्रविष्ट हो गईं ॥ १६ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियाँ संकोचको प्राप्त होकर हृदयपद्माकार हो गईं । मृत्यु होनेपर पथराई हुई-सी वे चित्रलिखित की तरह व्यापारशून्य हो गईं ॥ १७ ॥

उसमें स्थित मैं उसके चित्तका अनुगामी था, अतएव उसकी चित्तवृत्तिके साथ ही उसकी इन्द्रियोंका सहसा त्यागकर उसकी नाड़ियों द्वारा उसके हृदयमें प्रविष्ट हो गया ॥ १८ ॥

बाहरी अनुभवको हटाकर भीतर ही शय्याके समान कोमल उसके ओजमें (पूर्वोक्त तेजके अन्दर स्थित आनन्दमय कोशमें) शून्यरूप सुषुप्तिका मैंने क्षणभर अनुभव किया ॥ १९ ॥

क्लमान्नपानबहुलैर्निबिडास्वपि नाडिषु ।
सुषिरास्वेव वा वायुर्न निर्यात्येव याति च ॥ २० ॥
यदा तदात्मकात्मैकपरो हृदि सहस्थितम् ।
अप्रधानीकरोत्येतच्चित्तं स्वार्थस्वभावतः ॥ २१ ॥
स्वार्थमात्रोऽद्य तस्याऽन्तः परकृत्यं न कस्यचित् ।
कचति स्वार्थसत्तायामेतदेव वपुर्यतः ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

मनः प्राणवशादेव मनुते किं महामुने ।
स्वरूपं मनसो नाऽस्ति तस्मात्तत्केवलं च किम् ॥ २३ ॥

उस समय समान नामका वायु छिद्रयुक्त अत्यन्त घनी नाड़ियोंमें श्रान्तिसे तथा बहुतसे अन्नजलरसके विकारोंसे यत्र तत्र रुकावट पड़नेसे बाहर तो निकलता ही नहीं, फिर भी अतिमन्द गतिसे संचार करता है ॥ २० ॥

जब इस प्रकारकी सुषुप्ति होती है तब यह प्राण इन्द्रिय सहित चित्तको क्या करता है ? इसपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब इस प्रकारकी सुषुप्ति होती है तब प्राण प्राणरूप अद्वितीय संप्रसन्न जो आत्मा केवल उसमें परायण होकर पुरीतत् नाड़ीमें प्रवेशकर अपने साथ स्थित चित्तको ग्रसकर अपने आयत्त कर लेता है, क्योंकि प्रत्यगात्मरूप परमार्थ या पुरुषार्थका ऐसा ही स्वभाव है। उक्त स्वभाववश परिशेषरूप सुखविश्रान्तिमें वह आसक्त रहता है, यह भाव है ॥ २१ ॥

वह स्वार्थमें आसक्त रहे, फिर भी उसे मन, इन्द्रिय आदि दूसरोंका कार्य भी करना चाहिये, सो क्यों नहीं करता, इसपर कहते हैं—'स्वार्थ०' इत्यादिसे ।

चूँकि निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वार्थसत्तामें (सुषुप्तिमें) यही निरतिशयानन्दस्वरूप विकसित होता है, विक्षेपदुःखका लेश भी उस समय नहीं रहता, इसलिए उसके अन्दर स्वार्थमात्र परकृत्य नहीं करता है ॥ २२ ॥

प्राण चित्तको ग्रस कर अपने आयत्त कर लेता है, ऐसा जो कहा, उसपर श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'मनः'इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे महामुने, मन इस समयमें भी प्राणवश ही मनन आदि व्यापार करता है। यदि प्राण द्वारा स्वायत्तीकृत होकर मनन आदि व्यापार

वसिष्ठ उवाच

देह एवेह नाऽस्त्येव स्वानुभूतोऽप्ययं निजः ।
मनसः कल्पनात्मेदं वपुः स्वप्ने गिरिर्यथा ॥ २४ ॥
तच्चित्तमपि नाऽस्त्येव चेत्यार्थाभावयोगतः ।
सर्गादौ कारणाभावाद् दृश्यानुत्पत्तिहेतुतः ॥ २५ ॥
अतः सर्वमिदं ब्रह्म तच्च सर्वात्मकं यदा ।
तदा विश्वमिदं विष्वगस्त्येव च यथास्थितम् ॥ २६ ॥
अस्ति चित्तादि देहादि तद् ब्रह्मैव च तद्विदाम् ।
यादृक्तत्तद्विदामेतदस्माकं विषये न तत् ॥ २७ ॥

नहीं करता है तो इस समयमें भी क्यों नहीं करता, क्योंकि प्राणसे पृथक् किये हुए मनका कुछ स्वरूप नहीं है, इसलिए प्राणविनिर्मुक्त मन क्या है ? यानी कुछ नहीं है ॥२३॥

अधिष्ठानमात्रसे पृथक् करनेपर देह, प्राण आदि जगत्का कुछ भी स्वरूप नहीं टिकता, उससे अपृथक् करनेपर तो उसकी सत्तासे सब कुछ है ही। ऐसी स्थितिमें प्राणसे पृथक्कृत अकेले मनका अस्तित्व नहीं है, ऐसी आपने जो शङ्का की, वह छोटी शङ्का है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर करते हैं—'देहः' इत्यादिसे ।

स्वानुभूत भी यह अपना शरीर वास्तवमें नहीं ही है, क्योंकि जैसे स्वप्नमें मन अपने अन्दर ही पर्वतकी कल्पना करता है वैसे ही यह शरीर भी मनकी कोरी कल्पना है । इसलिए मनसे पृथक्कृत शरीर का अस्तित्व नहीं ॥ २४ ॥

इसी प्रकार चित्त भी चेत्य पदार्थोंसे निरूपणीय है, अतः चेत्य पदार्थोंका अभाव होनेपर चेत्यपृथक्कृत चित्तका स्वरूप नहीं है, यह भी सुखेन कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

चेत्य पदार्थोंका अभाव होनेके कारण उक्त चित्तका भी अस्तित्व नहीं ही है । यदि कहो कि पूर्व पूर्व चेत्य चित्त-निरूपक होगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टिके आरम्भमें कारणका अभाव होनेसे दृश्यकी उत्पत्ति ही नहीं हैं ॥ २५ ॥

ब्रह्म सर्वात्मक है इस कारण यदि उसकी सत्तासे मन आदिका अस्तित्व कहिये, तो मन आदि सब वस्तुएँ हैं ही, ऐसा कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

अतः यह सब ब्रह्म है, जब ब्रह्म सर्वात्मक है तब यह विश्व चारों ओर यथार्थतः है ही ॥ २६ ॥

चित्त, देह आदि सब कुछ है ही ब्रह्मज्ञोंकी दृष्टिसे वह सब ब्रह्म ही है जो

यथेदं त्रिजगद् ब्रह्म यथेति विविधात्मकम् ।
अग्रेमं राजपुत्र त्वं वर्ण्यमानं क्रमं शृणु ॥ २८ ॥
अस्ति चिन्मात्रममलमनन्ताकाशरूपि यत् ।
सर्वदा सर्वरूपात्म न जगन्न च दृश्यता ॥ २९ ॥
सर्ववित्त्वात्तु तेनेदं मनस्त्वं चेतितं स्वतः ।
रूपमत्यजता शुद्धं बुद्धमाधिविवर्जितम् ॥ ३० ॥
मनसा कल्पितं तेन यद्वै सरणमात्मनः ।
तदेतत्प्राणपवनं विद्धि वेद्यविदांवर ॥ ३१ ॥
प्राणतैषा यथा तेन कल्पितेवाऽनुभूयते ।
तथैवेन्द्रियदेहादि दिक्कालकलनादि च ॥ ३२ ॥
इति विश्वमिदं विष्वक् चित्तमात्रमखण्डितम् ।
चित्तं तु चित्परं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मेदमाततम् ॥ ३३ ॥

ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं, उनकी दृष्टिमें यह चित्त, देह आदि जैसा है वह हम तत्त्वज्ञानियों-की समझके बाहरकी बात है ॥ २७ ॥

हे राजकुमार श्रीरामजी, जैसे यह त्रिजगत् ब्रह्म ही है और जैसे यह विविध रूप है इस विषयमें आगे कहा जा रहा अध्यारोप-क्रम आप सुनिये ॥ २८ ॥

पहले अधिष्ठानका निर्देश करते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे ।

निर्मल, अनन्ताकाशस्वरूप, सनातन और सर्वस्वरूप चिन्मात्र ही है, न जगत् है और दृश्यता है ॥ २९ ॥

सर्वज्ञ होनेके कारण उक्त चिन्मात्रने मानसिक पीड़ासे शून्य अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूपका त्याग किये बिना ही* स्वमें मनस्त्वका अध्यारोप किया ॥ ३० ॥

मनसे उसने जो अपने संचरणकी कल्पना की, हे श्रेष्ठतम वेदज्ञ, उसे आप प्राणवायु जानिये ॥ ३१ ॥

जैसे इस प्राणताको वह कल्पितसी जानता है, वैसे ही इन्द्रिय, देह आदि और दिशा, काल आदिको भी कल्पितसे ही जानता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार यह साराका सारा विश्व चारों ओर केवल चित्त ही ठहरता है, उससे अतिरिक्त नहीं, चिदधिष्ठित चित्त तो ब्रह्म ही है, इससे सिद्ध हुआ कि यह विस्तृत जगत् ब्रह्म ही है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ ३३ ॥

* इससे अधिष्ठानका अन्यथाभाव नहीं हुआ, यह बतलाया ।

अनाकारमनाद्यन्तमनाभासमनामयम् ।
शान्तं चिन्मात्रसन्मात्रं ब्रह्मैवेदं जगद्वपुः ॥ ३४ ॥
सर्वशक्ति परं ब्रह्म मनःशक्त्या यथास्थितम् ।
यत्र तत्र तथारूपं स्वमेवाऽनुभवत्यलम् ॥ ३५ ॥
संकल्पात्म मनो ब्रह्म संकल्पयति यद्यथा ।
तत्तथैवाऽनुभवति सिद्धमाबालमीदृशम् ॥ ३६ ॥
प्राणीकृतः स्वयमयं ननु चेतसाऽऽत्मा
देहीकृतस्त्रिभुवनीकृत एव नाऽऽद्यः ।
देहीकृतः खवपुरेव गिरीकृतश्च
स्वप्नेषु कल्पितपुरीष्वनुभूतमेतत् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादनं नामाऽष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३८ ॥

निराकार, अनादि, अनन्त, निर्दोष शान्त सन्मात्र, चिन्मात्र ब्रह्म ही जगद्रूपसे स्थित है ॥ ३४ ॥

चूंकि ब्रह्म सर्वसक्ति है, अतः वह प्राथमिक मनःशक्तिसे पूर्वसिद्ध अपने स्वरूपका ही यत्र तत्र जागरण या स्वप्नमें जगत्‌के रूपसे अनुभव करता है ॥ ३५ ॥

संकल्पात्मक मन ही कार्य ब्रह्म है वह जैसे भू आदि लोकोंकी और अन्यान्य वस्तुओंकी कल्पना करता है वैसा ही अनुभव करता है, यह बात बालकों तकको ज्ञात है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, आकाशस्वरूप चेतनात्मा आदि पुरुषने अपने स्वरूपको पहले चित्तसे ही प्राणी बनाया, उसी तरह उसे देही बनाया, पर्वत बनाया और त्रिभुवनरूप किया, स्वप्नोंमें कल्पित अपने अपने शरीरोंमें यह बात सबको अनुभूत है, इसे ही उक्त अर्थमें उदाहरण समझना चाहिये ॥ ३७ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्तमेव जगत्कर्तृ सङ्कल्पयति यद्यथा ।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥ १ ॥
तेन सङ्कल्पितः प्राणः प्राणो मे गतिरित्यपि ।
न भवामि विनाऽनेन तेन तत्तत्परायणम् ॥ २ ॥
अहं कतिपयं कालं ननु प्राणविनाकृतः ।
न भवामि पुनर्नूनं भवाम्येवेति कल्पितम् ॥ ३ ॥

एक सौ उन्तालीस सर्ग

[प्राणकी अपेक्षा चित्तकी प्रधानताका वर्णन और सुषुप्ति अवस्थासे स्वप्नावस्थामें आनेपर मुनिका विस्तारपूर्वक प्रलय-दर्शन वर्णन]

चित्त सदा ही प्राणके अधीन है यह स्वीकार कर अध्यारोपक्रमसे चित्तकी प्रथमोत्पत्तिमात्रसे जाग्रत् और स्वप्नअवस्थामें चित्त और प्राण दोनोंकी प्रधानता है, किन्तु सुषुप्ति अवस्थामें प्राणकी ही प्रधानता है, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्न-का समाधान पहले किया जा चुका। इस समय प्राण आदि सकलजगत्के निर्माणमें चित्तकी ही, स्वतन्त्रता होनेसे, चित्त ही प्रधान है; लेकिन सुषुप्तिके आरम्भकालमें चित्त श्रान्त होनेके कारण चेष्टा करनेमें असमर्थ रहता है, एतावता अपनी विश्रान्ति-के लिए ही वह प्राणकी प्रधानता स्वीकार करता है, इस आशयसे उसका समाधान करते हैं—'**चित्त०**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, वास्तवमें चित्त ही जगत्का रचयिता है। वह जिसका—चाहे वह असत् (मिथ्या) हो, चाहे सत् (व्यावहारिक सत्) हो, चाहे सदसत् (प्रातिभासिक) हो—जैसा संकल्प करता है, वह उसके सामने वैसे ही खड़ा होता है ॥ १ ॥

चित्तने प्राणका संकल्प किया, प्राण ही मेरी गति (मेरे सकल व्यवहारोंका निर्वाहक) है और उसके बिना मैं नहीं टिक सकता, यह भी उसने कल्पना की; इसी-कारण चित्त प्राणाधीन कहलाता है ॥ २ ॥

स्वप्न, मनोरथ आदिके शरीरोंमें प्राणके अभावमें भी मनका व्यापार दृष्टि-

यत्र तेनाऽङ्ग तत्रैतत्प्राणेनाऽऽशु क्षणाद्वपुः ।
उदितं पश्यति मनो मायापुरमिवाऽऽततम् ॥ ४ ॥
न भवाम्येव भूयोऽहं प्राणदेहविनाकृतः ।
दृढनिश्चयभागित्थं चितो भवति नो पुनः ॥ ५ ॥
दोलायितं तु संदेहाद् दुःखमास्ते कुनिश्चयम् ।
विकल्पेनैवमस्यैतज्ज्ञानान्नाऽल्पेन यास्यति ॥ ६ ॥
यस्याऽयमहमित्यस्ति तस्य तन्नोपशाम्यति ।
वर्जयित्वाऽऽत्मविज्ञानं केनचिन्नाम हेतुना ॥ ७ ॥

गोचर होता है, अतः 'उसके बिना मैं नहीं टिक सकता, यह संकल्प व्यभिचरित हो गया, ऐसी शङ्का कर कहते हैं—'**अहम्**' इत्यादिसे।

सचमुच मैं प्राणके बिना टिक नहीं सकता हूँ, किन्तु स्वप्न, मनोराज्य आदिकी देहोंमें कुछ कालके लिए प्राणके विना भी अवश्य रह सकता हूँ, ऐसी भी उसने कल्पना की ॥ ३ ॥

हे रामजी, जहाँ जहाँ मनने प्राणके साथ शरीरकी कल्पना की,वहाँ वहाँ सर्वत्र तुरन्त मायासे कल्पित नगरके समान विस्तृत इस जगज्जालको क्षणभरमें उदित हुआ वह देखता है ॥ ४ ॥

देह और प्राणकी कल्पना करनेके वाद मैं फिर कभी भी देह और प्राणसे बियुक्त होकर नहीं टिक सकता, अन्दर ऐसा दृढ निश्चयवाला वह जीव हो जाता है किन्तु मैं चिन्मात्र स्वभाव हूँ, ऐसा दृढ निश्चयवान् फिर नहीं होता ॥ ५ ॥

इसलिए अल्प विचार वश उत्पन्न हुए संशयप्राय अज्ञानसे निस्तार पाना कठिन हो जाता है, क्योंकि विपरीत दृढ निश्चयकी यथार्थ दृढ निश्चयके बिना निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'**दोलायितम्**' इत्यादिसे।

सन्देहवश झूलेकी भाँति कभी एक पक्षमें कभी दूसरे असत्पक्षमें डोलने-वाला कुत्सित निश्चयोंसे दूषित चित्त दुःखी रहता है। इस तरहका इसका अत्यन्त दृढ यह भ्रान्तिज्ञान तत्त्वज्ञानसे सिवा विकल्पसे कदापि नहीं हटेगा ॥ ६ ॥

जिस पुरुषका यह मैं हूँ इस प्रकारका भ्रान्तिज्ञान है, उसका वह भ्रान्तिज्ञान आत्मज्ञानके सिवा अन्य किसी साधनसे शान्त नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

नाऽन्यत्र प्रथते ज्ञानं मोक्षोपायविचारणात् ।
ऋते तस्मात्प्रयत्नेन मोक्षोपायो विचार्यताम् ॥ ८ ॥
किलाऽहमिदमित्येव नाऽविद्या विद्यते क्वचित् ।
मोक्षोपायादृते नैतत्कुतश्चिदयतेऽन्यतः ॥ ९ ॥
एवं यन्मनसाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत् ।
तेन मे जीवितं प्राणा इति प्राणे मनः स्थितम् ॥ १० ॥
देहे सौम्ये स्थिते प्राणे मनो मननवद्भवेत् ।
क्षुब्धे प्राणगतं क्षोभं पश्यन्नाऽन्यत्प्रपश्यति ॥ ११ ॥
यदा स्वकर्मणि स्पन्दे व्यग्रः प्राणो भृशं भवेत् ।
तदा तदीहितव्यग्रः प्राणो नाऽऽत्मोद्यमी भवेत् ॥ १२ ॥

दृढतर तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए यह ग्रन्थ ही उत्तम उपाय है, ऐसा कहते हैं—'नाऽन्यत्र' इत्यादिसे ।

मोक्ष-प्राप्तिके उपायभूत शास्त्रके विचारके बिना अन्यसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए यत्नपूर्वक मोक्षोपायभूत इस शास्त्रका निरन्तर विचार करना चाहिये ॥ ८ ॥

'अहम्' (मैं) 'इदम्' (यह) यह दुविधा (द्वैत) ही अविद्या है, इससे अन्य अविद्या कहीं-भी नहीं है, उक्त अज्ञान (अविद्या) मोक्षोपायके सिवा अन्य किसी भी साधनसे नहीं हटता (नहीं विनष्ट होता) ॥ ९ ॥

मनने जैसा अभ्यास किया वैसा ही उसको प्राप्त हुआ । प्राण ही मेरा जीवन है परम प्रिय है इस तरह मनने खूब अभ्यास किया था, इसलिये मन प्राणकी अधीनतामें स्थित है ॥ १० ॥

इसी तरह मन देहके अधीन भी है ऐसा कहते हैं—'देह' इत्यादिसे ।

देहके सौम्य रहनेपर देहगत सौम्यताको प्राणमें देख रहा मन मनन करता है। देहमें क्षोभ होनेपर देहगत क्षोभको प्राणमें देख रहे मनको अन्य कुछ या आत्मतत्त्वविवेक नहीं दिखाई देता ॥ ११ ॥

अतएव प्राण निरोधाभ्यासके बिना कदापि आत्मज्ञानोन्मुख नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब प्राण स्पन्दरूप अपने कार्यमें खूब व्यग्र रहता है तब मनके ईहितों (इतस्ततः संचारोंमें) व्याकुल हुआ प्राण आत्मज्ञानके लिए उद्योगशील नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

एते हि प्राणमनसी त्वन्योन्यं रथसारथी ।
के नाम नाऽनुवर्तन्ते रथसारथिनौ मिथः ॥ १३ ॥
इत्यादिसर्गे स्वात्मैव चेतितः परमात्मना ।
तेनैषाऽद्याऽपि नियतिर्नाऽबुधानां निवर्तते ॥ १४ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यैर्मनःप्राणशरीरिणाम् ।
प्रयान्त्यधिगता देहेष्वरूढानां परे पदे ॥ १५ ॥
स्वं प्राणमनसी साम्यात्कुर्वती कर्म तिष्ठतः ।
वैषम्याद्विषमं चैकं शान्ते शान्ता सुषुप्तता ॥ १६ ॥
यदाहारादिरुद्धासु नाडीषु क्वाऽपि पिण्डितः ।
शान्तमास्ते जडः प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥ १७ ॥

ये प्राण और मन परस्पर रथ और सारथी हैं। कौन ऐसे रथ और सारथी हैं जो कि परस्पर एक दूसरेका अनुसरण नहीं करते अर्थात् जैसे रथ और सारथी एक दूसरेका अनुसरण करते हैं वैसे ही मन और प्राण भी आपसमें अनुसरण करते हैं ॥ १३ ॥

मन और प्राण एक दूसरेका अनुसरण क्यों करते हैं? इस प्रश्नपर कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

यों परस्पर एक दूसरेका स्वभावतः अनुसरण करनेवाले प्राण और मनका रूप धारण किये हुए परमात्माने सृष्टिके आदिमें इसी तरह आत्माका संकल्प किया । इस कारण अज्ञानियोंकी यह प्रकृति आज भी निवृत्त नहीं होती है ॥ १४ ॥

परम पदमें आरूढ़ न हुए यानी अव्युत्पन्न मन, प्राण और जीवोंके देहोंमें देश, काल, कर्म और द्रव्योंसे प्राप्त हुए विविध व्यवहार प्रवृत्त होते हैं ॥ १५ ॥

प्राण और मन जब तक समानरूपसे अपना कार्य करते रहते हैं तबतक समान व्यवहाररूप जाग्रत् चलता है, जब प्राण इन्द्रियोंको प्रेरित करनेसे विरत होकर विषमताको प्राप्त होता है तब विषम स्वप्न नामका केवल मानस व्यवहार चलता है और मनके शान्त होनेपर सकल विक्षेपोंकी शान्तिरूप सुषुप्ति चलती है ॥ १६ ॥

कब मन शान्त होता है? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उसपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

नाडियोंके अन्नरस, पित्त आदि द्वारा रुद्ध होनेपर संकुचित प्राण जब मन्दगति होकर कहींपर शान्त होकर रहता है तब मनकी शान्तिसे सुषुप्तिका उदय होता है ॥१७॥

नाडीष्वन्नावपूर्णासु तथा क्षीणासु वा क्रमात् ।
निःस्पन्दस्तिष्ठति प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥ १८ ॥
नाडीनां मृदुरूपत्वात्पूर्णत्वाद्वा व्रणोदरे ।
क्वाऽपि प्राणे स्थिते लीने निःस्पन्दाऽऽस्ते सुषुप्तता ॥ १९ ॥

तापस उवाच

अथ यस्य प्रविष्टोऽहं हृदये सोऽभवन्निशि ।
सुषुप्तघननिद्रालुराहारपरितृप्तिमान् ॥ २० ॥
तेन सार्धमहं तत्र तच्चित्तेनैकतां गतः ।
सुषुप्तनिद्रां सुघनां गुणीभूतोऽनुभूतवान् ॥ २१ ॥
ततोऽन्धस्यस्य जीर्णेऽन्तर्नाडीमार्गे स्फुटे स्थिते ।
प्राकृते स्पन्दिते प्राणे सषुप्तं तनुतां ययौ ॥ २२ ॥
सुषुप्ते तनुतां याते हृदयादिव निर्गतम् ।
अपश्यमहमत्रैव भुवनं भास्करादिमत् ॥ २३ ॥

नाडियोंके अन्नरस आदिसे पूर्ण होने अथवा श्रमवश कनजोर हो जानेपर जब प्राण गतिरहित हो जाता है तब सुषुप्तिका उदय होता है ॥ १८ ॥

मर्दनवश नाडियोंमें मृदुता आने एवं बाणके घाव, व्रण आदिसे पूर्ण होनेसे भी सुषुप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'**नाडीनाम्**' इत्यादिसे ।

मर्दनवश नाडियोंके कोमल होनेसे अथवा बाणकी चोट, घाव, व्रण, रुधिर आदिसे भर जानेसे प्राणके कहीं विलीन होनेपर निस्पन्द सुषुप्ति होती है ॥ १९ ॥

महामुनिने कहा—तदुपरान्त जिसके हृदयमें मैं प्रविष्ट हुआ था, वह रात्रिके समय आहारसे खूब तृप्त होकर सुषुप्तिके समान घनी निद्रासे सम्पन्न हुआ ॥ २० ॥

वहाँपर मैं उसके चित्तके साथ अभेदको प्राप्त हो गया था, अतएव मैंने अपनी स्वतन्त्रताका त्यागकर उस प्राणीके साथ सुषुप्तिकी खूब गाढ़ी नीदका अनुभव किया ॥ २१ ॥

इसके पश्चात् उस प्राणीके उदरस्थ अन्नके पच जानेपर नैसर्गिक नाडीमार्गमें स्पष्ट हुए प्राणका जब संचार होने लगा तब सुषुप्ति (गाढ़ी नीद) कुछ हलकी हुई ॥२२॥

सुषुप्तिके हलकी होनेपर मैंने सूर्य आदिसे युक्त भुवनको, जो हृदयसे प्रादुर्भूत हुआ-सा था, वहींपर देखा ॥ २३ ॥

तच्च क्षुब्धार्णवोत्थेन पूर्यमाणं महाम्भसा ।
विमुक्तेनेव कल्पाभ्रैरभ्रङ्कषतरङ्गिणा ॥ २४ ॥
प्रोह्यत्पर्वतपूरेण महावर्तविराविणा ।
वहद्वनालीतृणयाढ्यै र्व्याप्तेनोन्मूलितागया ॥ २५ ॥
पूर्वमेवाऽवदग्धायास्त्रिलोक्याः खण्डखण्डकैः ।
पूर्णेन परितः प्रौढैः खपुराद्रिमहीमयैः ॥ २६ ॥
अहं तत्रैव पश्यामि यावत्कस्मिंश्चिदास्पदे ।
कस्यांचित्पुरि कस्मिंश्चिद् गृहे वध्वा पुरे स्थितः ॥ २७ ॥
सदारः सहभृत्योऽहं सपुत्रः सहबान्धवः ।
सहभाण्डोपस्करणः सगृहोऽपहृतोऽम्भसा ॥ २८ ॥
उह्यमानं त्वयाम्भोभिस्तद् गृहं तच्च पत्तनम् ।
लङ्घ्यमानं द्रुमाकारैः पूर्यमाणं च वारिभिः ॥ २९ ॥
बृहत्कलकलारावं जेतुमब्धिमिवोद्यतम् ।
अतिक्षुभितवास्तव्यमनपेक्षितपुत्रकम् ॥ ३० ॥

उस भुवनको मैंने प्रलय कालमें क्षुब्ध हुए महासागरसे निकली हुई जलराशिसे पूर्यमाण देखा। वह जलराशि ऐसी वैसी न थी, प्रलय कालके मेघों द्वारा मूसलाधार वृष्टिसे छोड़ी हुई-सी थी, उसमें आकाश छूनेवाली बड़ी-बड़ी तरङ्गें उठ रही थीं, उसके प्रवाहमें पर्वत बहे जा रहे थे, बड़े बड़े आवर्तों (भँवरोंसे) महान् कोलाहल हो रहा था, बही जा रही वनराजिरूप तृणराशिसे पूर्ण पर्वत चारों ओर बिखरे थे, वृक्ष और पर्वतोंको तक उखाड़कर फेक देनेवाली आँधीसे तथा अग्निकी ज्वालासे पहले ही जलकर खाक हुई त्रिलोकीके बड़े बड़े खण्डोंसे, जो आकाशमें स्थित देवताओं के नगरों, पर्वतों और भूमिके भग्नावशेष थे, वह चारों ओर भरी हुई थी ॥२४,२६॥

वहींपर मैं क्या देखता हूँ कि मैं किसी एक देशमें किसी नगरीमें किसी घरमें बहूके साथ बैठा हूँ, उक्त जलने मुझे स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, नौकर-चाकर, साज-सामान, घर-बारके साथ बहा दिया। वह घर और वह नगर प्रलय कालकी जलराशि द्वारा बहाया जा रहा था, पेड़के आकारकी ऊँची-ऊँची लहरें उसे लांघ रही थीं, जलराशि उसे चारों ओरसे भर रही थी, उसमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था। अतएव वह (घर और नगर) सागरको जीतनेके लिए कटिबद्ध-सा मालूम पड़ता था। उस घरके निवासी लोग अत्यन्त उत्पीड़ित थे, और तो और

आवर्ततरलाढ्याभिर्वृत्तिभिर्व्यूढमाकुलम् ।
साक्रन्दोरस्ताडनोत्कजनजम्बालभीषणम् ॥ ३१ ॥
स्फुटत्कुड्यत्रुटत्काष्ठरटच्छङ्कुकृतोद्रटम् ।
प्रपतच्छादनच्छत्रगवाक्षस्थाङ्गनामुखम् ॥ ३२ ॥
इति यावत्क्षणं पश्यन्नहं तद्भावमागतः ।
परिरोदिमि दीनात्मा तावत्तत्सकलं गृहम् ॥ ३३ ॥
चतुर्धा भित्तिभेदेन वृद्धबालाङ्गनान्वितम् ।
जगाम शतधा वीच्यां शिलायामिव निर्झरः ॥ ३४ ॥
उह्यमानोऽहमभवं ततः प्रलयवारिणि ।
त्यक्तसर्वकलत्रादिचित्तः प्राणपरायणः ॥ ३५ ॥
क्षिप्तस्तरङ्गजालेन योजनाद्योजनव्रजे ।
उह्यमानद्रुमशिखाग्निज्वालान्तर्गतिजर्जरः ॥ ३६ ॥
काष्ठकुड्यतटीपीठकटुसंघट्टघट्टितः ।
आवर्तनृत्यपातालतले गत्वोत्थितश्चिरात् ॥ ३७ ॥

अपने बाल-बच्चोंकी भी किसीको सुधि न थी। आवर्तोंसे वह बहाया गया था, रोने-चिल्लानेके साथ-साथ छाती कूटनेमें संलग्न लोगोंसे तथा कीचड़से वह बड़ा भयावना लगता था। ढह रही दीवारों, फूट रहे काठों और टूट रही कीलोंका उसमें घोर शब्द हो रहा था, छत, छप्पर और खिड़कियोंपर बैठी हुई स्त्रियोंके मुँह इतस्ततः गिर रहे थे ॥ २७–३२ ॥

इस प्रकारका तमाशा क्षणभर देख रहा, बहावके चपेटेमें पड़ा हुआ मैं ज्योंही दीनहीन होकर रोने लगा त्योंही घरकी दीवारोंके चारों ओरसे ढहनेके कारण बालक, बूढ़े और स्त्रियोंसे पूर्ण वह साराका सारा घर पत्थरपर गिरे हुए झरनेके समान तरङ्गोंमें पड़कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। तदनन्तर प्रलयकी जलराशिमें मैं उतराने लगा। स्त्री आदि किसीका भी मुझे स्मरण तक न रहा, अपने प्राण बचानेकी ही मुझे चिन्ता थी ॥ ३३–३५ ॥

तरङ्गोंने एक योजनसे सैकड़ों योजन दूर मुझे फेंक दिया। जलमें तैर रहे वृक्षोंकी चोटियोंमें धधक रही अग्निज्वालाओंके भीतर पड़नेसे मेरा शरीर जर्जर हो गया। काठ, दीवार, तट, तख्ते आदिकी असह्य टक्कर लगनेसे मेरा शरीर क्षत-विक्षत

चलाचलागमापायवलद्गुलुगुलारवे ।
जले बहुलकल्लोले मग्नोन्मग्नः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥
संघट्टभग्नशैलेन्द्रपङ्किले सलिले क्षणम् ।
पल्वले वारण इव मग्नः सत्पयसोद्धृतः ॥ ३९ ॥
यावदाश्वसिमि क्षिप्रं डिण्डीरे चाऽद्रिखण्डके ।
तावदेत्य हतो वेगाद्वैरिणेवाऽतिवारिणा ॥ ४० ॥
नानावलनकल्लोलजलजालजुषा तदा ।
न तदस्ति न यद्दृष्टं दुःखं दुःखात्मना मया ॥ ४१ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र तदा तत्तामसेक्षण ।
यावज्जीवचिराभ्यासाद्विषादित्वात्सचेतसः ॥ ४२ ॥
प्राक्तनं संस्मृतं रूपं स्वं समाधिमयं मया ।
आ अहो नु जगत्यन्यरूपेऽहं तापसः स्थितः ॥ ४३ ॥

हो गया। मैं कभी आवर्तोंके भ्रमणोंमें पड़कर पाताल पहुँचकर बहुत देर बाद ऊपर उतराया ॥ ३६,३७ ॥

प्रचुर तरङ्गवाली जलराशिमें, जिसके चलने, रुकने, आने और हटनेसे खूब गुड़-गुड़ ध्वनि होती थी, मैं बार-बार डूबता और उतराता था ॥ ३८ ॥

मैं जलके आघातसे ढहे हुए ऊँचे पर्वतसे कीच-कीच हुए जलमें, दल-दलवाले पोखरेमें हाथीके समान, क्षणभर डूबा, किन्तु दैववश प्राप्त हुए स्वच्छ जलने मेरा निस्तार कर दिया ॥ ३९ ॥

समुद्रके गाज और पहाड़के ढोंकेपर बैठकर ज्योंही मैं सुसताने लगा त्योंही बैरीकी तरह महाजलराशिने आकर मुझे लथेड़ दिया ॥ ४० ॥

चढ़ना, उतरना, आना, जाना, घूमना आदि विविध क्रियाएँ करनेवाली तरङ्गोंसे पूर्ण उक्त जलराशिके चक्करमें फँसे हुए अतएव दुःखित चित्तवाले मैंने जो दुःख नहीं झेला वह दुःख ही नहीं है यानी सभी दुःख मुझे झेलने पड़े ॥ ४१ ॥

हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी*, इतनेमें उस समय वहाँपर जन्मभरका चिर-कालिक अभ्यास होने और चित्तके अत्यन्त खिन्न होनेके कारण मुझे समा-धिमय अपने पूर्वस्वरूपका स्मरण हो आया। अरे अन्य जगत्में मैं तपस्वी था।

*'तामरसेक्षण' इस पाठमें महामुनि (तापस) के वाक्यका अनुवाद कर रहे श्रीवसिष्ठजी-का रामचन्द्रजीके लिए सम्बोधन है। 'तामसेक्षण' इस पाठमें साक्षात् महामुनिका व्याधके लिए सम्बोधन है।

अहं कस्यचिदन्यस्य स्वप्नदृष्टिदिदृक्षया ।
प्रविष्टोऽहमयं स्वप्ने पश्यामीमं भ्रमं त्विति ॥ ४४ ॥
वर्तमानदृढाभ्यासमिथ्याज्ञानमयात्मनि ।
कल्लोलैरुह्यमानोऽपि ततोऽहं सुखितः स्थितः ॥ ४५ ॥
इदं वारितयाऽपश्यं प्रलयाब्धिविवर्तनाः ।
उह्यमानाद्रिनगरग्रामोर्वीखण्डपादपाः ॥ ४६ ॥
उह्यमानामराहीन्द्रनारीनरनभश्चरा ।
उह्यमानमहारम्भलोकपालपुरालयाः ॥ ४७ ॥
अथाऽहमद्रिमिश्राम्बुकल्लोलाद्रिविघट्टनाः ।
मुहुः पश्यञ्जगन्नाशमनन्तरमचिन्तयम् ॥ ४८ ॥
चित्रमेष त्रिनेत्रोऽपि जीर्णं तृणमिवाऽर्णवे ।
उह्यते हा हतविधेर्नाऽकार्यं नाम विद्यते ॥ ४९ ॥
चतुर्धा भित्तिभेदेन प्रकटाशयतामहम् ।
पद्मानीव गृहाण्यप्सु दर्शयन्ति रवेः प्रभाः ॥ ५० ॥

किसी दूसरे प्राणीका स्वप्न देखनेकी इच्छासे उसके हृदयमें प्रविष्ट होकर मैं स्वप्नमें यह भ्रम देख रहा हूँ ॥ ४२–४४ ॥

उसके बाद स्वप्न-प्रपञ्चके दृढ़ अभ्यासके कारण पैदा हुए मिथ्या-ज्ञानमय देहमें तरङ्गों द्वारा बहाये जाते हुए भी मैंने सुखकी साँस ली ॥ ४५ ॥

प्रलय-कालके समुद्रकी यह चहल-पहल, जिसमें पर्वत, नगर, गाँव, भूभाग और पेड़ बह रहे थे, देवता, सर्पराज, नर-नारी तथा आकाशचारी बह रहे थे तथा महान् आरम्भवाले लोकपालोंके नगर और गृह बह रहे थे, सब मैंने मिथ्या ही देखी ॥ ४६,४७ ॥

इसके बाद पहाड़ोंसे मिश्रित जलकल्लोलोंकी पहाड़ोंसे बार-बार टक्करोंका निरीक्षण कर रहे मैंने यह विचार किया ॥ ४८ ॥

आश्चर्य है यह भगवान् त्रिनयन भी समुद्रमें जीर्णशीर्ण पत्तेकी तरह बहाये जा रहे हैं। हाय, दुष्ट दैवका कुछ भी अकर्तव्य नहीं है, वह सब कुछ कर सकता है ॥ ४९ ॥

जैसे प्रातःकाल जलमें सूर्यकिरणें विकसित (खिले हुए) कमल दिखलाती हैं

चित्रं तरङ्गवलनासु समुल्लसन्ति
　　गन्धर्वकिन्नरनरामरनागनार्यः　।
भूरिभ्रमैर्भ्रमरहारमिव ह्रदिन्यः
　　पद्मिन्य एव सकलामलजङ्गमाख्याः ॥ ५१ ॥
विद्याधरीभुजलतावलितेन्दुकान्त-
　　कक्ष्याविभागमणिजालगवाक्षलक्ष्म्यः ।
देवासुरोरगमहागृहभित्तिभागाः
　　सौवर्णनौगणवदम्बुभरे　भ्रमन्ति ॥ ५२ ॥
मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमाङ्के
　　शच्याः पयोधरभरे रतिखेदखिन्नः ।
लग्नः सुखादिव करोति तरङ्गदोलाः
　　संशीर्यमाणमणिगेहगतोऽत्र शक्रः ॥ ५३ ॥

वैसे ही ये घर भी चारों तरफकी दीवारोंके ढह जानेसे प्रकटाशयताकी शोभाको दिखा रहे हैं ॥ ५० ॥

विविध विलासोंसे विभूषित परागोंसे सफेद बने हुए भँवरोंकी पंक्ति ऐसे हार धारण कर रहीं तथा मुख, हाथ, चरण आदि रूप कमलवाली ये गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य देवता और नागोंकी नारियाँ बहुतसे आवर्तोंसे युक्त, परागधवल भ्रमरपंक्ति-रूपी हार धारण कर रही तथा कमलवती नदियाँ ही हैं । प्रसिद्ध नदियाँ न तो सारीकी सारी निर्मल ही हैं और न जङ्गम ही हैं, ये तो उनसे विलक्षण हैं, अतएव तरंग-राशियोंमें विचित्ररूपसे उल्लसित होती हैं ॥ ५१ ॥

प्रलय-कालकी जलराशिमें देवता, दानव, और नागोंके प्रासादोंकी दीवारोंके हिस्से, जिनके मणिनिर्मित झरहरे झरोखोंकी शोभाएँ विद्याधरोंकी रमणियोंकी भुज-लताओंसे परिवेष्टित चन्द्रकान्त मणियोंमें मञ्जिल विभाग ऐसी मालूम पड़ रही हैं, स्वर्णमय नौकाओंके समूहकी नाईं घूम रहे हैं ॥ ५२ ॥

ढह रहे मणिमय महलके अन्दर बैठे हुए ये देवराज इन्द्र इस प्रलय-कालकी जलराशिमें फँसकर कुङ्कुम-केसरसे अङ्कित मदोन्मत्त हाथीके कुम्भके समान विशाल इन्द्राणीके स्तनमण्डलमें रतिजनित खेदसे थककर रतिखेदको दूर करनेके लिए मानों जलक्रीडा-सुखके लिए तरङ्गरूपी झूलेमें झूलते हैं ॥ ५३ ॥

हा वान्ति वारिवलनावलितान्तरिक्ष-
मृक्षावधूतकुसुमप्रकरान्किरन्तः ।
वाताः पतद्विबुधमन्दिररत्नसाना-
वुद्यानकोटरगता इव साक्षतेन ॥ ५४ ॥
यन्त्रोत्थहेमदृषदा सदृशाम्बुरूपं
क्षुब्धाद्रिभीमजलवीचिशिखेरितं खे ।
व्यावर्तते दिवि दलावृतकर्णिकास्थ-
ध्यानैकनिष्ठपरमेष्ठिसरोजमेतत् ॥ ५५ ॥
मेघा इवाऽतिघनघुंघुमघोषभीमा
वीचीचयाः कनकपत्तनविद्युतोऽमी ।
व्योम्नि भ्रमन्ति गजवाजिमृगेन्द्रनाग-
वृक्षाद्रिकाननमहीतलतुल्यदेहाः ॥ ५६ ॥
उह्यमानोद्भूवीच्यामतसीकुसुमश्रियाम् ।
यमोऽप्ययं यमेनेव वारिपूरेण नीयते ॥ ५७ ॥

खेद है, नक्षत्ररूपी कम्पितकुसुमोंको बखेर रहे ये वायु, जलोंके वेष्टनसे आकाशको वेष्टितकर जिसमें देवताओंके विमान गिर रहे हों ऐसे सुमेरु पर्वतके उद्यानकी खोहमें बैठे हुए और मङ्गलके लिए अक्षत सहित फूलोंकी वृष्टि कर रहे जनोंकी भाँति बह रहे हैं ॥ ५४ ॥

पर्वतके समान भयानक उमड़ी हुई लहरोंकी चोटियों द्वारा ऊपर आकाशमें फेंका गया, यन्त्रसे आकाशमें फेंके गये सोनेके ढेलेके तुल्य यह जलका रूप ब्रह्मलोकमें पंखुरियोंसे वेष्ठित ब्रह्माके आसनभूत कमलतक, जिसके बीचमें ब्रह्मा समाधिस्थ हैं, पहुँचकर लौटता है, बीचसे नहीं लौटता ॥ ५५ ॥

ये भयानक लहरें, जिनका रूप हाथी, घोड़े, सिंह, सर्प, वृक्ष, पर्वत, बन और खेतोंके तुल्य है, आकाशमें मेघोंकी तरह घूमती हैं। ये अत्यन्त कठोर घुम्-घुम शब्द रूपी गर्जनसे भयानक हैं और बह रहे सुवर्णमय नगर ही इनमें बिजली-से कौंध रहे हैं ॥ ५६ ॥

इधरसे उधर बह रहे प्रलय-सागरमें पैदा हुई अलसीके फूलके सदृश काली लहरोंमें यह यम भी जलवेगरूपी दूसरे यमसे मानो ले जाया जाता है ॥ ५७ ॥

एते ब्रुडन्ति सलिलेऽखिललोकपाला
नागा नगैश्च नगरैः सह लक्षसंख्याः ।
लक्ष्म्याकरोदरगुहागतवारिपूर-
व्यावर्तनागुडगुडैरभिलक्ष्यपूराः ॥ ५८ ॥
दुर्वारवारिवलनापरिपूरितेषु
पातालभूतलनभस्तलदिक्तटेषु ।
मत्स्या इवेन्द्रयमयक्षसुरासुरौघाः
सग्रामपत्तनविमाननगा भ्रमन्ति ॥ ५९ ॥
उह्यमानस्य कृष्णस्य तनुरेवाऽम्बुरूपिणी ।
मातृजङ्घेव वत्सस्य कष्टं बन्धनतां गता ॥ ६० ॥
अन्योन्यमावलयतामहो बुडबुडारवः ।
श्रूयते देवदैत्यानां स्वस्त्रीहलहलाकुलः ॥ ६१ ॥
कोलाहलाकुलपुरोत्तमवेगपात-
विक्षुब्धवारिपटलीवलितान्तरासु ।
दिक्षु भ्रमज्जलदजालघनास्विवैष
संलक्ष्यते जलमयः स्फुटकुड्यबन्धः ॥ ६२ ॥

ये लाखों सकल लोकपाल और दिग्गज अपने-अपने आश्रय मेरु आदि पर्वतों और नगरोंके साथ जलमें डूबते हैं। निधि-आदि लक्ष्मीके आकाररूप पर्वतमध्यवर्ती गुफाओंमें पैठे हुए जलप्रवाहको लौटानेके लिए निकल रहे, वायुकी बुड़-बुड़ ध्वनियों-से उनके स्थानोंकी पूर्तिकी प्रतीति हो रही है ॥ ५८ ॥

पाताल, भूतल, आकाश और दिगन्तोंमें अपार दुर्निवार जलराशिके व्याप्त हो जानेपर इन्द्र, यम, यक्ष, देवता और दानवोंके झुण्डके झुण्ड अपने ग्राम, नगर, विमान और पर्वतोंके साथ मछलियोंकी तरह घूमते हैं ॥ ५९ ॥

हाय, प्रलय-जल द्वारा इधर उधर बहाये जा रहे, भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रका जलरूपी शरीर ही उसी प्रकार बन्धन बन गया है जैसे कि दुहनेके समय प्यारी माता-की जङ्घा बछड़ोंके लिए बन्धन बन जाती है ॥ ६० ॥

हा, परस्पर एक दूसरेपर लिपट रहे दैत्य और दानवोंका अपने लिए या अपनी स्त्रियोंके लिए किये गये हल्लेसे भरा हुआ बुड़-बुड़ शब्द सुनाई देता है ॥६१॥

हाहाकार चीत्कारसे पूर्ण देवता और दानवोंके उत्तम-उत्तम नगरोंके वेगके

हा कष्टमेष तरसा पयसाऽपनीत
आवर्तवृत्तिपरिवर्तनया स्वधस्तात् ।
एते कुबेरयमनारदवासवाद्याः
प्राणान्पयोभ्रपटलैर्विधुरास्त्यजन्ति ॥ ६३ ॥
प्राज्ञाः प्रशान्तजडदेहमिहोह्यमानं
मानोज्झिताः शवतयैव च तद्वहन्ति ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुपुरखण्डकसंकटाम्बु-
संघट्टनेन कटुकुट्टनदक्षु तेन ॥ ६४ ॥
स्त्रीणां गणोऽर्धपरिपिष्ट इहैति कष्टं
कस्त्रातुमेनमपरः कुजडं समर्थः ।
नह्यन्तकस्य दशनैरभिचर्व्यमाणा
त्रातुं परस्परमियं जनता समर्था ॥ ६५ ॥

साथ गिरनेके कारण क्षुब्ध हुई जलराशिसे चारों ओर परिवेष्टित दसों दिशाओंमें, जो मानो घूम रही मेघराशिसे आच्छन्न सी हो गई हैं, जलकी साफ दीवार खड़ी दिखाई देती है ॥ ६२ ॥

हाय, खेद है, सर्वजनप्रसिद्ध सूर्यको जलराशि भँवरोंके चक्करमें लपेटकर वेगसे बहुत नीचे ले गई है । ये कुबेर, यम, नारद, इन्द्र आदि जलराशि और मेघ-मण्डलसे पीड़ित (जीवनके अयोग्य) होकर प्राण-त्याग रहे हैं ॥ ६३ ॥

पूर्व वर्णित प्रकारके ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु भगवान्के नगरोंके खंडहरोंसे संकटपूर्ण जलकी टक्कर लगनेसे कठोर आघातका प्रत्यक्ष करनेवाले लोगोंमें जो तत्त्व-वेत्ता हैं वे जलमें बह रहे मृत अतएव जड़ अपने शरीरको अहंभावसे विरहित होकर धारण करते हैं । इसलिए शरीरके छेदन-भेदन, आघात आदिका दुःख उन्हें नहीं होता है ॥ ६४ ॥

हाय ! खेद है, अधकुचला हुआ स्त्रियोंका झुण्ड यहाँपर आता है । पृथिवीमें अतिमूर्ख रूपसे प्रख्यात इसे (स्त्रीसमूहको) बचानेकी सामर्थ्य दूसरे किसमें है । यह जनसमूह, जो यमराजकी (कालकी) दाढोंसे चबाया जा रहा है, आपसमें एक दूसरेको बचानेमें समर्थ नहीं है ॥ ६५ ॥

पर्वतप्रतिघसर्पसर्पणाः
संसरन्ति विपुला जलोच्चयाः ।
तेषु नाव इव देवपत्तना-
न्युन्नमय्य वपुराशु यान्त्यधः ॥ ६६ ॥
द्वीपाद्रीन्द्रसुरासुरोरगनरैर्नागाप्सरश्चारणै-
र्व्याप्तं वारिविलोलितैः सरसिजैराळूनमूलैरिव ।
एकाम्भोधिसरःस्थितं त्रिभुवनं कालेन निर्मूलितं
कष्टं ते क्व गता महर्द्धिविभवा देवा जगन्नायकाः ॥ ६७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो०निर्वा०उ० अवि० वि० श०
जगन्नाशवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३९ ॥

पर्वतोंको मटियामेट करनेवाले तथा साँपोंकी तरह सरकनेवाले ये विशाल जलकल्लोल इधरसे उधर बहते हैं। इनमें देवताओंके नगर पहले अपने स्वरूपको नावकी तरह ऊपर उतराकर फिर नीचे डूब जाते हैं ॥ ६६ ॥

खेद है, जलराशिसे खूब लथेड़े हुए आलूनमूल कमलोंकी तरह द्वीप, महापर्वत, देवता, दैत्य, सर्प, मनुष्य, नाग, अप्सराएँ और चारणोंसे व्याप्त काल द्वारा उखाड़कर मिट्टीमें मिलाया हुआ त्रिभुवन एकमात्र सागररूपी तालाबके रूपमें स्थित है। हाय! प्रचुर समृद्धिवाले जगतोंके अधिपति इन्द्र आदि देवता न मालूम कहाँ चले गये ॥ ६७ ॥

एक सौ उन्तालीस सर्ग समाप्त

चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

व्याध उवाच

भगवंस्त्वादृशस्तां तामवस्थां च कथं गतः ।
कथं ध्यानप्रयोगेण तदा नोपशमं गतः ॥ १ ॥

मुनिरुवाच

कल्पान्तेषु विनश्यन्ति नाशैर्नानाविधात्मभिः ।
जगन्ति भ्रान्तिरूपाणि नभस्याभासरूपिभिः ॥ २ ॥
कदाचित्क्रमशो नाशः कल्पान्ते संप्रवर्तते ।
अशङ्कितं कदाचिद् द्रागेकधादिविकारतः ॥ ३ ॥
तदा द्रागित्येव यदा विकृतं वारि तत्तथा ।
तेन यावत्सरन्त्याद्यं तावन्नीता जलैः सुराः ॥ ४ ॥

एक सौ चालीस सर्ग

[प्रलय-सागरका हटना, गाँवमें मुनिकी ब्राह्मणरूपसे स्थिति, प्राणीके शरीरसे बाहर निकलना आदिका वर्णन]

व्याधने कहा—महामुने, ज्ञानयोग सिद्ध आपके सदृश पुरुष भी पूर्ववर्णित नाना प्रकारकी प्रलयजल-स्रवन आदि विविध भ्रान्त्यवस्थाको कैसे प्राप्त हुए? अतीत और अनागत सकल वस्तुओंके दर्शनमें उपायभूत ध्यानरूप योगाङ्गके प्रयोगसे आपकी सकल भ्रान्तियोंकी निवृत्ति क्यों नहीं हुई ? ॥ १ ॥

महामुनिने कहा—हे व्याध, आकाशमें भ्रान्तिज्ञानरूप ये सकल जगत् कल्पान्तोंमें भ्रान्तिरूप नाना प्रकारके विनाशोंसे विनष्ट होते हैं ॥ २ ॥

क्रमिक प्रलयमें योग द्वारा भूत और भावी पदार्थोंके पर्यालोचनका अवसर रहता है, किन्तु आकस्मिक प्रलयमें तो मुझे इसका मौका ही नहीं मिला, यों उत्तर देनेके लिए प्रलय द्विविध होता है, ऐसा कहते हैं—'**कदाचित्**' इत्यादिसे ।

कभी कल्पान्तमें क्रमशः नाश होता है, कभी सातों समुद्रोंकी सहसा एकाकारतारूप विकृति हो जानेसे अकस्मात् विनाश होता है ॥ ३ ॥

उक्त जल जब इस प्रकार झटपट विकृत हुआ, तब तो जबतक ब्रह्माजीसे निवेदन करनेके लिए देवगणोंने ब्रह्माजीके पास जाना चाहा, इतनेमें ही उन्हें जलराशिने

अन्यच्च विपिनाधीश कालः सर्वंकषो ह्ययम् ।
यत्र काले ततस्तस्मिंस्त्ववश्यं भावि तत्तथा ॥ ५ ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च क्षयकाल उपस्थिते ।
विपर्यस्यति सर्वत्र सर्वथा महतामपि ॥ ६ ॥
अन्यच्च विपिनाधीश मयैतत्तव वर्णितम् ।
स्वप्नदृष्टं किल स्वप्ने किं न संभवतीह किम् ॥ ७ ॥

व्याध उवाच

असदेतद्यदि विभो स्वप्नसंभ्रममात्रकम् ।
कथितेन तदेतेन कोऽर्थः कल्याणकोविद ॥ ८ ॥

बहा डाला। जिस सहसा हुए प्रलयके विषयमें देवता भी चूक जाते हैं उसके विषयमें मेरा चूकना कौन बड़ी बात है ? ॥ ४ ॥

अथवा कालकी प्रबलतावश उस समय मेरी ध्यान-धारणा फुरित नहीं हुई, ऐसा कहते हैं—'अन्यच्च' इत्यादिसे।

हे वनाधिपति व्याध, यह काल सर्वविनाशक है, किसीको भी नहीं छोड़ता। जिस समयमें जो अवश्यम्भावी होता है उस समयमें वह हो कर ही रहता है चाहे कोटि उपाय क्यों न किए जायँ ॥ ५ ॥

विनाशका समय आनेपर महान् लोगोंके भी बल, बुद्धि और तेज सर्वत्र सर्वथा विपरीत हो जाते हैं ॥ ६ ॥

दूसरी बात यह भी है कि स्वप्नमें अन्यके चित्तका अनुगमन करते मैंने यह सब देखा था, स्वप्नमें तो महात्माओंका भी विवेक कुण्ठित हो जाता है यह सर्वविदित है, यों परिहारान्तर कहते हैं—'अन्यच्च' इत्यादिसे।

हे वनाधीश, मैंने आपसे यह स्वप्नमें देखा वृत्तान्त कहा है। स्वप्नमें क्या संभव नहीं है ? क्या यह बात सब लोगोंको विदित नहीं है ॥ ७ ॥

व्याधने कहा—प्रभो, यह यदि असत् है, केवल स्वप्नदृष्ट भ्रान्तिरूप ही है तो हे कल्याणोंके वेत्ता महामुने, इसके वर्णनसे क्या लाभ है। कल्याणोंके विशेषज्ञ आपमें निरर्थकवाक्यवक्तृताका सम्भव नहीं है, यह सूचित करनेके लिए 'कल्याणकोविद' सम्बोधन दिया है ॥ ८ ॥

मुनिरुवाच

त्वद्बोधनात्मकं कार्यं महदस्त्यत्र बुद्धिमन् ।
एतद्भ्रमात्मकं वेत्ति भवान्सत्यं तु मे शृणु ॥ ९ ॥
अनन्तरमहं तस्मिन्मत्तैकार्णवरंहसि ।
जन्तोरोजःस्थितः स्वप्ने भ्रान्तं भ्रान्तो व्यलोकयम् ॥ १० ॥
यावत्ससकलं वारि क्वाऽपि निर्गन्तुमुद्यतम् ।
विक्षुब्धवज्रवित्रस्तसपक्षाद्रीन्द्रवृन्दवत् ॥ ११ ॥
लब्धवानुह्यमानोऽहं कंचिद्दैववशात्तटम् ।
अवसं तमवष्टभ्य शिखरप्रान्तसंनिभम् ॥ १२ ॥
अथ क्षणेन सलिलं तदशेषेण निर्ययौ ।
वीच्यग्रस्फुटिताकारैर्दैवैस्तारकिताम्बरम् ॥ १३ ॥

अपनी कल्याण विशेषज्ञता प्रकट करते हुए मुनि उत्तर देते हैं–'**तद्बोधन०**' इत्यादिसे ।

हे मतिमन्, यह मेरा स्वप्नदृष्ट-वर्णन निष्फल नहीं है, इसमें तुमको बोधित करना महान् प्रयोजन है । जिससे कि वर्णित स्वप्नप्रपञ्चकी तुलनासे तुम परिदृश्यमान प्रपञ्चको भी केवल भ्रममात्र समझो । दृश्यमात्रमें भ्रमत्व सिद्ध हो जानेपर दृक्स्वरूप सत्य तुम्हीं शेष रहते हो । इसलिए अन्वयव्यतिरेकसे द्वैतके शोधनके उपायभूत इस कथांशको तुम मुझसे सुनो ॥ ९ ॥

इसके बाद पागल ऐसे उस एकमात्र सागरके वेगमें उक्त प्राणीके ओजमें पैठे हुए भ्रम-परम्पराओंसे परिपूर्ण मैंने स्वप्नमें भ्रान्ति देखी ॥ १० ॥

जब वह साराका सारा प्रलयजल कुपित वज्रसे भयभीत हुए परवाले महापर्वतोंके समूहकी तरह कहीं जानेके लिए तयार हुआ तब प्रलयजलराशिमें उतरा रहे मुझे भाग्यवश पर्वतशिखरके छोरकी तरह एक तट मिला । मैं उसके सहारे ठहर गया ॥ ११-१२ ॥

इसके उपरान्त एक क्षणमें वह सारी प्रलयजलराशि, जिसने लहरोंकी चोटियोंके छितराये हुए जलकणोंके सदृश नक्षत्र आदि देवताओंसे आकाशको तारकित (तारोंसे पटा हुआ) बना डाला था, जो प्रवाहवश पातालमें पहुँचे हुए कुछ तारोंसे मणिमय-गर्भवालीसी लगती थी, भँवरोंमें पड़कर अधोमुख हुए पर्वतीय पुराने तृणोंसे प्रचु-

तारागणैश्च पातालगतैर्मणिमयोदरम् ।
आवर्तेषु परावृत्तैः स्फारमद्रिजरत्तृणैः ॥ १४ ॥
हेमद्वीपोपमैर्व्यामं गीर्वाणपुरमन्दिरैः ।
भ्रमत्सुराङ्गनालीननलिनीजालमालितम् ॥ १५ ॥
मध्योह्यमानकल्पाभ्रनीलशैवालजालकम् ।
विद्युद्गोरोचनाम्भोदनीलनीरजनिर्भरम् ॥ १६ ॥
स्फुरत्सीकरनीहारमेघाद्रिकृतदिक्तटम् ।
उल्लोलद्वीचिसंदिग्धवहत्कल्पद्रुमव्रजम् ॥ १७ ॥
अथैकार्णवखातोऽसावभवच्छुष्ककोटरः ।
क्वचिद्गलितसह्याद्रिः क्वचित्संशीकमन्दरः ॥ १८ ॥
क्वचित्पङ्कनिमग्नेन्दुयमवासवतक्षकः ।
क्वचित्पङ्कनिमग्नाधःशाखकल्पद्रुमोत्करः ॥ १९ ॥
क्वचित्कमलवत्कीर्णलोकपालशिरःकरः ।
क्वचित्पङ्कजविश्रान्तरुधिरह्रदपाटलः ॥ २० ॥

रताको प्राप्त हुई थी, सुवर्णद्वीपके तुल्य विशाल देवनगर और मन्दिरोंसे व्याप्त थी, इतस्तत उतरा रही देवाङ्गनारूप छिपी हुई कमलराशिसे मालायुक्त थी, जिसके बीचमें प्रलय-कालीन मेघके समान काला सेवारका अम्बार इधरसे उधर चक्कर लगा रहा था, जो बिजलीरूपी गोरोचनासदृश परागवाले प्रलयकालीन मेघरूप नीलकमलोंसे भरी-पुरी थी, जिसके चौगिर्द जलकणोंकी झड़ी लगा रहे कुहरे, मेघ और पहाड़ोंने तट बना डाला था, जिसमें आकाशका स्पर्श करनेवाली चञ्चल ऊँची ऊँची लहरोंमें कल्पवृक्षोंके बहनेका सन्देह होता था, सम्पूर्णतया कहीं चली गई ॥ १३--१७ ॥

इसके पश्चात् वह एकमात्र सागरका साँचा केवल सूखा गड्ढा रह गया। उसमें कहींपर सह्याचल गला पड़ा हुआ था, कहींपर जीर्णशीर्ण हो जानेके कारण यह मन्दराचल है या अन्य कोई दूसरा पर्वत है, यों मन्दराद्रि संशययोग्य अवस्थामें पड़ा था, कहींपर चन्द्रमा, यम, इन्द्र और तक्षक कीचड़में आकण्ठ डूबे थे, कहींपर कल्पवृक्षोंके समूहकी नीचेकी शाखाएँ कीचड़में डूबी थीं, कहींपर लोकपालोंके सिर और हाथ कमलोंकी तरह बिखरे थे, कहींपर कमलोंकी तरह विश्राम ले रहे खूनके तालाबोंसे वह लाल था, कहींपर आकण्ठ कीचड़में डूबी हुई विद्याधारियाँ कराह रही थीं, कहींपर मानों स्वप्नमें

क्वचिदाकण्ठनिर्मग्नकण्ठविद्याधरीगणः ।
क्वचित्स्वप्नमृतेभाभयाम्योग्रमहिषावृतः ॥ २१ ॥
क्वचित्सन्नमहाकायगरुडामरपर्वतः ।
क्वचिन्मत्तमहासेतुर्यमदण्डेन भूजुषा ॥ २२ ॥
क्वचित्प्रमृतवैरिश्चिहंससस्मितपङ्कभूः ।
क्वचित्पङ्कविनिर्मग्नदेहार्धामरवारणः ॥ २३ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र सानुं प्राप्याऽऽश्रमे श्रमात् ।
विश्रान्तोऽस्मि यदा तेन भृशं निद्राऽऽजगाम माम् ॥ २४ ॥
ततः सुषुप्तनिद्रान्तस्तया वासनयाऽन्वितः ।
तं तादृगेव कल्पान्तमपश्यं स्वौजसि स्थितः ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा तद्द्विगुणं दुःखं चिरेणाऽत्राऽहमाकुलः ।
प्रबुद्धो दृष्टवान्सानुं तमेवाऽस्य हृदि स्थितम् ॥ २६ ॥
अथ तत्र द्वितीयेऽह्नि भास्करोदयसुन्दरम् ।
सलोकाकाशभूशैलं भुवनं दृष्टवानहम् ॥ २७ ॥

मरे हुए हाथी जैसे विशालकाय यमवाहनरूप भीषण भैंसोंसे घिरा था, कहींपर महाकाय गरुड़रूप सुमेरु पर्वत अवसादको प्राप्त होकर पड़ा था, कहींपर उसमें भूमिपर पड़े हुए यमके दण्डसे अकिञ्चित्कर (मत्तकी नाई जलके निरोधमें असमर्थ) महासेतु बना था, कहींपर मरे हुए ब्रह्माके वाहनभूत हंससे पङ्कमय भूमि मन्दहास युक्त-सी लगती थी, कहींपर देवराज इन्द्रके ऐरावतका आधा शरीर कीचड़में फँसा था ॥ १८–२३ ॥

इसके पश्चात् तटवर्ती पर्वतके शिखरपर पहुँचकर थक जानेके कारण किसी मुनिके आश्रममें जब मैंने विश्राम लिया तब मुझे खूब नींद आई ॥ २४ ॥

उसके अनन्तर उस वासनासे युक्त हुए मैंने अपने ओजमें स्थित होकर भी सुषुप्तिके बाद प्राप्त हुई निद्राके अन्दर उस कल्पान्तको जैसा उक्त प्राणीके ओजमें स्थित होकर देखा था वैसा ही देखा ॥ २५ ॥

चिरकाल तक उस दुगुने दुःखका अनुभव कर व्याकुल हुआ मैं जब जागा तो मैंने उस प्राणीके हृदयमें स्थित उसी पर्वत शिखरको देखा ॥ २६ ॥

इसके बाद दूसरे दिन मैंने वहाँपर भगवान् भास्करके उदयसे मनोहर भुवनको लोक, आकाश, भूमि और पर्वतोंके साथ देखा ॥ २७ ॥

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इति मे चेतसो जातं पत्त्रादि विटपादिव ॥ २८ ॥
ततस्तस्मिंस्तथा दृष्टे भूतले तैः पदार्थकैः ।
व्यवहारं प्रवृत्तोऽहं किंचिद्विस्मृतधीरितः ॥ २९ ॥
जातस्य मेऽद्य वर्षाणि षोडशैष पिता मम ।
इयं माताऽऽस्पदं चेदमिति मे प्रतिभोदभूत् ॥ ३० ॥
अपश्यं ग्रामकं कंचित्कंचिच्च ब्राह्मणाश्रमम् ।
किंचिद्गेहं तथा कश्चिद्बन्धुः कस्मिंश्चिदाश्रमे ॥ ३१ ॥
अथ मे तिष्ठतः सार्धं बन्धुभिर्ग्राममन्दिरे ।
अहोरात्रेषु गच्छत्सु जाग्रदादींस्तदेव सत् ॥ ३२ ॥
ततः कालवशात्तत्र प्राक्तनी बोधधीर्मम ।
विस्मृता तादृशाभ्यासादहो तस्येव मत्स्यता ॥ ३३ ॥

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब जैसे शाखासे पत्ते उत्पन्न होते हैं वैसे ही मेरे चित्तसे उत्पन्न हुए ॥ २८ ॥

इसके पश्चात् पूर्वानुभूत विषयको भूलकर पूर्वोक्त प्रकारसे दृष्टिगत हुए भूलोकमें तत्-तत् पदार्थोंसे व्यवहार करनेके लिए मैं प्रवृत्त हुआ ॥ २९ ॥

आज मुझे पैदा हुए सोलह वर्ष हो गये हैं, ये मेरे पिता हैं, यह मेरी माँ है, यह मेरा घर है, ऐसी मेरी व्यवहारप्रतिभा उत्पन्न हुई ॥ ३० ॥

मैंने एक छोटा-सा गाँव देखा, उसमें एक ब्राह्मणाश्रम देखा, एक घर देखा, वहाँपर किसी आश्रममें मेरा कोई बन्धु हुआ ॥ ३१ ॥

इसके बाद ग्राम्य घरमें बन्धु-बान्धवोंके साथ निवास कर रहे मेरे एकके बाद एक दिन-रात बीतने लगे। वहाँ जाग्रत् आदि अवस्थाओंका अनुभव कर रहे मेरा वही ग्राम आदि बाह्य विकास यथार्थ-सा हो गया ॥ ३२ ॥

उसके बाद समय बीतनेपर धीरे-धीरे मेरी पूर्वजन्मकी बोधबुद्धि विस्मृत हो गई। जैसे पूर्ववर्णित दामव्यालकटाख्यानमें वासनाशून्य कटकी—मछलियोंके साथ सहवासका अभ्यास होनेसे—पूर्वबोधविस्मृति द्वारा मत्स्यता हो गई थी वैसे ही मेरी भी ग्रामवास्तव्यता सम्पन्न हो गई ॥ ३३ ॥

इत्यहं ग्रामवास्तव्यः संपन्नो ब्राह्मणस्तदा ।
देहमात्रकबद्धास्थो दूरीकृतविवेकभूः ॥ ३४ ॥
शरीरमात्रात्मवपुर्दारमात्रानुरञ्जितः ।
वासनामात्रसारात्मा धनमात्रैकतत्परः ॥ ३५ ॥
जीर्णगोमात्रकधनः संरोपितलताबृतिः ।
संचिताग्न्यवनिप्राणिरुपार्जितकमण्डलुः ॥ ३६ ॥
चलवृत्तकबद्धास्थो लोकाचाररतः सदा ।
गृहपार्श्वगतानीलशाद्वलस्थलिकास्थितिः ॥ ३७ ॥
शाकशाकायतारामरचनानीतवासरः ।
सरिद्ध्रदनदीतीर्थसरसि स्नानतत्परः ॥ ३८ ॥
गोमयान्नजलाम्ब्वग्निकाष्ठेष्टाकष्टसंचयी ।
इदं कार्यमिदं नेति पाशाभ्यां विवशीकृतः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार उस समय मैं ग्रामवासी ब्राह्मण बन गया । मेरी एकमात्र शरीरमें आसक्ति बद्धमूल हो गई । विवेक-भूमि मुझसे कोसों दूर चली गई ॥ ३४ ॥

मैं केवल शरीरको आत्मा समझता था, केवल स्त्री ही मेरे मनोरञ्जनकी सामग्री थी, केवल वासना ही मेरा स्वभाव था और केवल धनके उपार्जनमें ही मैं जीजानसे लगा रहता था ॥ ३५ ॥

एकमात्र बूढ़ी गाय ही मेरी सम्पत्ति थी, घरके आँगनमें छायाके लिए मैंने सेमकी लता लगा रक्खी थी, अग्निहोत्रार्थ अग्नि, जीविकार्थ दो एक बीघा खेत और गौ आदि पशु मैंने जोड़ रक्खे थे, धातुओंकी वस्तुओंमें एकमात्र कमण्डलुका मैंने उपार्जन किया था, स्वल्प काल तक रहनेवाले तुलसी आदिके पेड़-पौधोंमें मेरा बड़ा प्रेम था । मैं सदा लोकाचारमें (नगर-ग्रामके आचार-विचारोंमें) निरत रहता था । घरके निकटवर्ती हरे-भरे मैदानमें अक्सर उठा-बैठा करता था । प्रायः शाक और शाकसे भरे बागोंको सजाने-सँवारनेमें मेरे दिन बीतते थे । छोटी-मोटी नदियों, झीलों, गङ्गा आदि पुण्यनदियों, तीर्थों और तालाबोंमें स्नान करनेके लिए मैं सदा तत्पर रहता था। गोहरी, अन्न, जल, आग-लकड़ी और ईटा-पत्थरका क्लेशसे संचय करता था । यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इस प्रकारके जालोंसे जकड़ा था । इस प्रकार वहाँ जीवननिर्वाह कररहे मेरे सौ वर्ष बीत गये । एक समय दूरसे कोई आत्मज्ञानी अतिथि मेरे घर आया ।

इति मे जीवतस्तत्र संवत्सरशतं गतम् ।
एकदाऽभ्यागतो दूरात्तापसोऽतिथिरात्मवान् ॥ ४० ॥
पूजितोऽसौ विशश्राम मद्गृहे स्नानपूर्वकम् ।
भुक्त्वाऽऽच्छयने स्थित्वा रात्रौ वर्णितवान्कथाम् ॥ ४१ ॥
नानादिग्देशशैलोर्वीव्यवहारमनोहरे ।
कथाप्रसङ्गे कस्मिंश्चिन्नानाविधरसाश्रये ॥ ४२ ॥
सर्वं चिन्मात्रमेवेदमनन्तमविकारि च ।
जगत्तयेव कचति यथास्थितमपि स्थितम् ॥ ४३ ॥
इत्यहं बोधितस्तेन बोधैकघनतां गतः ।
स्मृतवांस्तमशेषेण वृत्तान्तं धारणावशात् ॥ ४४ ॥
स्मृतवानात्मवृत्तान्तं यस्याऽहमुदरे स्थितः ।
तं विराड्रूपमाशङ्क्य तस्मान्निर्गन्तुमुद्यतः ॥ ४५ ॥
तदास्यं निर्गमद्वारमथ जानामि नो यदा ।
विस्तीर्णे भुवने यस्मिन्भूम्यब्ध्यद्रिसरिद्वृते ॥ ४६ ॥

मैंने बड़े भक्तिभावसे उसका सत्कार किया। उसने स्नानकर मेरे घरमें विश्राम किया और भोजन किया, रात्रिके समय शय्यापर बैठकर उसने कथा कही। किसी कथा-प्रसंगमें, जो अनेक दिशाओं, देशों, पर्वतोंके रीति-रवाजोंसे बड़ा मनोहर था तथा जिसमें शृङ्गार, वीर, करुण आदि नाना रसोंका पुट था, उसने मुझे यह सब निर्विकार असीम अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्म ही यथास्थित रहकर भी जगत्के रूपसे विकसित है, यों समझाया। इससे केवल एकमात्र बोधमयताको प्राप्त हुए मुझे अपनी धारणा-शक्तिसे प्राणीके शरीरमें प्रवेश करना आदि अपना पहलेका सारा वृत्तान्त याद हो आया ॥ ३६-४४ ॥

अपने पूर्व वृत्तकी याद आनेके पश्चात् जिसके पेटमें मैं पैठा था, उस प्राणीको सकल जगत्की अपेक्षा वृद्ध होनेके कारण विराट्रूप समझकर मैंने उसके उदरसे बाहर निकलनेका उद्योग किया ॥ ४५ ॥

प्राणीके उदरमें भूमि, सागर, पर्वत और नदियोंसे पूर्ण विस्तीर्ण भुवनमें जब मुझे बाहर निकलनेके लिए द्वारभूत उसके मुँहका पता नहीं लगा, तब तो मैं बन्धु-

तदा तमत्यजन्नेव देशं बन्धुजनावृतम् ।
तस्य प्राणं प्रविष्टोऽहं निर्गन्तुं पवनं बहिः ॥ ४७ ॥
इहस्थस्य विराजोऽस्य बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
अन्यजं सर्वमीक्षेऽहमिति निर्णीय तादृशम् ॥ ४८ ॥
धारणां संविदा बद्ध्वा प्रदेशं स्वं तमत्यजम् ।
तत्प्राणैः सह निर्यात आमोदः कुसुमादिव ॥ ४९ ॥
पवनस्कन्धमासाद्य प्राप्य तन्मुखकोटरम् ।
बहिर्वातरथेनाऽहं निर्गतो दृष्टवान्पुरः ॥ ५० ॥
यावत्तथैव मद्देहो बद्धपद्मासनः स्थितः ।
क्वाऽपि मुन्याश्रमः शिष्यैः पालितो गिरिकन्दरे ॥ ५१ ॥
पुरो मे तिष्ठतां तेषां मत्संरक्षणकर्मणाम् ।
मुहूर्तमात्रं च गतः कालश्चाऽन्ते निवासिनाम् ॥ ५२ ॥
हृदयं संप्रविष्टोऽसौ यस्याऽहं स पुमानपि ।
पृष्ठेनोत्सवलब्धेन शेते तृप्तोऽन्धसा सुखम् ॥ ५३ ॥

बान्धवोंसे पूर्ण उस प्रदेशका परित्याग न करते हुए बाहर निकलनेके लिए उसके प्राण-वायुमें प्रविष्ट हुआ ॥ ४६,४७ ॥

यहाँपर स्थित विराड्रूप इस प्राणीका बाह्य दृश्य और अन्य विराट्में उत्पन्न आभ्यन्तर दृश्य सब मैं देखूँ, इस बुद्धिसे तदनुकूल उसके प्राणोंमें अहंभाव धारणा बाँधकर मैंने उस देशका त्याग किया जैसे फूलोंसे सुगन्धि वायुके साथ बाहर निकलती है वैसे ही मैं उसके प्राणोंके साथ बाहर निकला, पवनके कन्धेपर सवार होकर उसके मुख द्वारपर आकर वायुरूपी रथसे बाहर आया, बाहर आकर मैंने यह बातें देखीं। कहीं पर्वत-गुफामें शिष्योंसे संरक्षित मुनिका आश्रम है, वहाँपर पद्मासन लगाया हुआ मेरा शरीर पहलेकी तरह ही ज्योंका त्यों बैठा है ॥ ४८-५१ ॥

मेरी रक्षा करनेमें तत्पर मेरे सामने बैठे हुए शिष्योंका केवल एक मुहूर्त ही समय बीता था ॥ ५२ ॥

जिस प्राणीके हृदयमें मैं प्रविष्ट हुआ था वह भी किसी उत्सवमें प्राप्त हुए अन्नसे तृप्त होकर पीठके बल सुखसे सोया था ॥ ५३ ॥

तदाश्चर्यं मया दृष्ट्वा नोक्तं किंच न कस्यचित् ।
पुनस्तस्यैव हृदयं प्रविष्टः कौतुकादहम् ॥ ५४ ॥
प्राप्तोऽस्म्योजःप्रदेशं तं तस्य तस्मिन्हृदन्तरे ।
अवेक्षितुं स्वबन्धूंस्तान्व्याप्तो वासनया तया ॥ ५५ ॥
यावत्तत्र युगस्याऽन्तः संप्रवृत्तोऽतिदारुणः ।
भुवनं तद्विपर्यासमागतं सह संस्थया ॥ ५६ ॥
अन्य एवाऽचलास्तत्र वसुधाऽन्या च संस्थिता ।
अन्य एव ककुब्भेदस्तथाऽन्या भुवनस्थितिः ॥ ५७ ॥
ते बन्धवः स च ग्रामः स भूभागः स दिक्तटः ।
न जाने क्व गतं सर्वं व्यूह्य नीतमिवाऽनिलैः ॥ ५८ ॥
तदा पश्यामि भुवनं यावदन्यदवस्थितम् ।
अपूर्वसंनिवेशं तज्जगदन्यदिवोदितम् ॥ ५९ ॥
तपन्ति द्वादशाऽऽदित्याः प्रज्वलन्ति दिशो दश ।
शीताश्यानाम्बुवच्छैलाः प्रवृत्ता गलितुं बलात् ॥ ६० ॥

वह आश्चर्य देखकर मैंने किसीसे कुछ नहीं कहा । कौतुकवश मैं पुनः उसीके हृदयमें प्रविष्ट हो गया ॥ ५४ ॥

मैं पूर्व वासनासे युक्त होकर उन स्वबन्धुओंके देखनेके लिए उस प्राणीके हृदय-के अन्दर पूर्व अनुभूत ओजःप्रदेशमें जब पहुँचा, तब तक वहाँ अति भीषण युगान्त (प्रलय) हो चुका था, उक्त भुवन धर्माधर्ममर्यादाके साथ सर्वथा बदल गया था। अब वहाँपर पहलेसे विलक्षण ही पर्वत खड़े थे, पहलेसे विलक्षण पृथिवी थी, दिशाएँ भी दूसरी थीं, लोककी बनावटमें भी अन्तर हो गया था ॥ ५५-५७ ॥

वे मेरे बन्धु-बान्धव, वह गाँव, वह भूमिखण्ड, वे दिक्तट, सबके सब वायु द्वारा बटोर कर उड़ाये गयेसे न मालूम कहाँ लीन हो गये थे ॥ ५८ ॥

मैंने उस समय सारे भुवनको पहलेसे विलक्षण स्थितिमें देखा, उसके सब अवयव अपूर्व थे मानो वहाँपर वह पूर्व जगत्के स्थानमें दूसरा ही जगत् उदित हुआ था ॥ ५९ ॥

वहाँपर बारह सूर्य तपते थे, दसों दिशाएँ जलती थीं, ठण्डकसे जमे हुए जलकी तरह सबके सब पर्वत बलात् गलनेकी तैयारीमें थे ॥ ६० ॥

अद्रावद्रौ दिशि दिशि ज्वलन्ति वनपङ्क्तयः ।
दग्धाः स्मृतिपदं याताः समस्ता रत्नभूतयः ॥ ६१ ॥
सर्व एवाऽब्धयः शुष्का महावाताः पुरःस्थिताः ।
अङ्गारराशितां यातं भूमण्डलमशेषतः ॥ ६२ ॥
पातालतो भूतलतोऽथ दिग्भ्यो
ज्वाला विनिर्गन्तुमनुप्रवृत्ताः ।
संध्याभ्रवच्चाऽऽशु बभूव विश्वं
ज्वालामयं मण्डलमेकमेव ॥ ६३ ॥
ज्वालामये सद्मनि हेमपद्म-
कोशे भ्रमद्भृङ्ग इव प्रविष्टः ।
ततोऽहमाराच्छलभक्रमेण
न चाऽऽप्तवान् दाहविकारदुःखम् ॥ ६४ ॥
ज्वालामये साधुमहाम्बुवाहे
भ्रमाम्यहं विद्युदिवाऽनिलात्मा ।
ज्वालापरिस्पन्दविलोलवर्ष्मा
स्थलाब्जखण्डभ्रमरोपमश्रीः ॥ ६५ ॥

प्रत्येक पहाड़पर प्रत्येक दिशामें वनपङ्क्तियाँ जलती थीं, समस्त मणि, रत्न आदि सम्पत्तियाँ जलकर राख हो गई थीं। उनकी केवल स्मृति ही शेष रह गई थी ॥ ६१ ॥

सभी सागर सूख गये थे, आँधियाँ सामनेकी ओर उठीं थीं, सम्पूर्ण भूमि-मण्डल अँगारोंका ढेर बन गया था ॥ ६२ ॥

पहले पातालसे, उसके बाद भूमिमण्डलसे, फिर दिशाओंसे ज्वालाएँ निकलने लगीं, शीघ्र ही सारा विश्व एक ही ज्वालामय मण्डल बनकर सन्ध्या समयके मेघोंकी तरह लाल हो गया ॥ ६३ ॥

सुवर्ण-कमलके अन्दर प्रविष्ट हुए भृङ्गके समान उस ज्वालामय घरके अन्दर प्रविष्ट हुए मुझे फतींगेकी तरह यद्यपि दाह प्राप्त था, फिर भी दाह विकार दुःख नहीं हुआ, क्योंकि मेरा शरीर केवल आतिवाहिक है ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय था ॥ ६४ ॥

वायुकी धारणासे वायुरूप बना हुआ मैं उस ज्वालामय प्रलयजलप्रवाहमें

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० अ० वि० हृदयकल्पनावर्णनं नाम चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

तत्र दंदह्यमानोऽपि नाऽभवं दुःखभागहम् ।
स्वप्ने स्वप्नोऽयमित्येष जानन्नग्नावपि च्युतः ॥ १ ॥
ज्वालाजालनवोड्डीतिमण्डलैरखिलैर्नभः ।
अलातचक्रवच्चारु केवलं भ्रान्तवानहम् ॥ २ ॥
तं दवाग्निमहं यावत्तत्त्ववित्त्वादखिन्नधीः ।
विचारयाम्यखिन्नात्मा मारुतस्तावदाययौ ॥ ३ ॥
सीत्कारमतिगम्भीरं दधन्मेघरवोपमम् ।
जगत्पदार्थैरावृत्तैरुह्यमानैः परावृतः ॥ ४ ॥

बिजलीकी तरह बखूबी घूमता था। ज्वालाओंकी धधकोंमें चञ्चल शरीर होकर मैंने स्थल कमलोंपर घूम रहे भँवरोंके तुल्य शोभा धारण की ॥ ६५ ॥

एक सौ चालीस सर्ग समाप्त ।

एक सौ एकतालीस सर्ग

[वह्निज्वालासे व्याकुल लोकमें प्रचण्ड आँधीका उठना तथा अँगारोंकी वर्षा करनेवाले ज्वालामय मेघका वर्णन]

मुनिने कहा—हे व्याध, स्वप्नमें मुझे यह स्वप्न है यह भली भाँति ज्ञात था, अतएव अग्निकी ज्वालाओंमें गिरकर खूब झुलसनेपर भी मुझे कष्ट नहीं हुआ ॥ १ ॥

ज्वालाओंके नये उड़नेके तरीकोंसे सारे आकाशमें अलातचक्रके समान मैंने सुन्दरताके साथ भ्रमण किया ॥ २ ॥

आकाश-भ्रमणसे मैं कुछ-कुछ श्रान्त हो गया, किन्तु तत्त्वज्ञानी होनेके कारण मेरी बुद्धिमें तनिक भी खेद नहीं हुआ था। मैंने ज्योंही उक्त दावाग्निका विचार करनेकी ठानी त्योंही आँधी आ गई ॥ ३ ॥

उसमें आगको फूँकनेमें जैसा शब्द होता है वैसी ही साँय-साँय तथा अति

बृहद्भिर्घुंघुमावेगैर्वने द्विगुणिताम्बुदः ।
सूर्यैरावृत्तिभिर्व्यूढैर्विमिश्रालातचक्रकः ॥ ५ ॥
ज्वालासंध्याभ्रनिवहैर्बृहदग्निनदीशतः ।
शैलद्विगुणभूखण्डदानवामरपत्तनः ॥ ६ ॥
भूतैर्द्विगुणपात्रौघो भ्रान्तैरम्बरकुक्षिषु ।
दग्धादग्धाभिरप्यर्धदग्धाभिरितरेतरम् ॥ ७ ॥
पतन्तीभिः सुरस्त्रीभिर्द्विगुणाग्निशिखालवः ।
पतदङ्गारधारौघकणसीकरदन्तुरः ॥ ८ ॥
अलातविद्युतो धुन्वन्पूताङ्गारोग्रमण्डलीः ।
धूमान्धकारैः स्थगयन्म्लानमूर्ध्वदिशोमुखम् ॥ ९ ॥
भूमेर्व्योम्नो दिङ्मुखेभ्यः समन्ता-
ज्ज्वालासंध्यावारिदा निर्गतास्ते ।

गंभीर मेघके कड़कनेकी-सी ध्वनि हो रही थी और उड़ रहे पत्थर, लुआठी, धूलि, राख, पत्ती आदि जगत्‌के सब पदार्थोंसे वह भरी थी ॥ ४ ॥

उक्त आँधीने प्रबल सरसराहट और गड़गड़ाहटके वेगसे बनमें मेघोंको दुगुना बना दिया था, जल-प्रवाहमें बह रहे और लौट रहे बारह सूर्योंके साथ अलातचक्रोंको मिश्रित कर दिया था ॥ ५ ॥

ज्वालारूप सान्ध्य मेघोंकी राशियोंने उस आँधीमें सैकड़ों बड़ी-बड़ी अग्नि-नदियाँ बहा रक्खी थीं, उस आँधीमें पहाड़ोंसे भी दूने भूभाग (ढेले) और देव-दानवोंके नगर उड़ते थे ॥ ६ ॥

उस आँधीने आकाशमें घुमाये जा रहे भूतोंसे पूर्वोक्त सैकड़ों अग्निनदियोंके पत्तोंके अम्बारको दुगुना बना दिया था। खूब जली हुई, कुछ जली हुई तथा आधी जली एक दूसरेके ऊपर आकाशसे नीचे गिर रहीं देवाङ्गनाओंसे उसमें अग्निकी ज्वाला दुगुनी हो रही थीं। नीचे गिर रहे अङ्गाररूप उसके मूसलाधारोंसे तथा आगकी चिनगारी रूपी जलकणोंसे वह दँतुला-सी मालूम पड़ती थी ॥ ७ ८ ॥

उक्त आँधी बिना राखके अङ्गारोंकी भीषण राशिवाली अपनी अलातरूपी बिजलियोंको कँपा रही थी तथा धूमरूपी अन्धकारोंसे मलिन हुए ऊपरकी दिशाके मुँहको आच्छादित करती थी ॥ ९ ॥

यैस्तैर्ज्वालाशैलसंपिण्डमात्रं
सव्योमौकाः संस्थिता सप्तलोकी ॥ १० ॥
क्वाऽपि प्रोत्फालकीर्णानलकणकपिल-
प्रोल्लसन्मूर्धजालिः
क्वाऽपि प्रोड्डीनकुड्यः कटुरटनपटु-
भस्मसंपिण्डपाण्डुः
क्वाऽपि ज्वालापटालीं परिदधदभितः-
संपतन्तीं गृहीतां
रौद्रः कर्तुं प्रवृत्तो हर इव स तदा
मारुतो नृत्यलीलाः ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० अ० वि० श०
कल्पान्तवर्णनं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४१ ॥

भूमिसे, आकाशसे और दिशाओंसे वे पूर्वोक्त ज्वालारूप सान्ध्य मेघ उमड़े, जिन मेघोंसे देवमण्डलीके साथ सातों लोक केवल ज्वालामय पर्वतपिण्ड बन गये ॥ १० ॥

उक्त प्रचण्ड आँधीने तब तो कालाग्निरुद्रके समान नाचना शुरू कर दिया। ऊपर उछलनेसे फैले हुए अग्निकण ही उसकी कपिल रङ्गकी सुन्दर केशराशि थी, नीचे पादाघातसे मानो उसने दीवारोंको उड़ा डाला था, उससे बार-बार कर्णकटु शब्द हो रहा था, उसके सबके सब अङ्ग भस्मसे लथपथ होनेसे शुभ्र थे, मध्यभागमें चारों ओर गिर रही ज्वालारूपी वस्त्रराशिको मजबूतीसे पकड़कर वह धारण किये थी। कालरुद्रमें भी इन विशेषणोंकी योजना समानरूपसे कर लेनी चाहिये ॥ ११ ॥

एक सौ एकतालीस सर्ग समाप्त

द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

वर्तमानो तदा तस्मिन्कष्टे संभ्रान्तसंभ्रमे ।
उह्यमानोऽहमत्यन्तं खेदमभ्यागतोऽभवम् ॥ १ ॥
अचिन्तयं तत्स्वप्नोऽयं परस्य हृदये मम ।
तदतः परिनिर्वामि दुःखं पश्यामि किं मुधा ॥ २ ॥

व्याध उवाच

किंस्वित्स्यात्स्वप्न इत्येव किल संदेहशान्तये ।
प्रविष्टो हृदयं तस्य किं तं निर्णीतवानसि ॥ ३ ॥
किमेतद्भवता दृष्टं हृदये क्व महार्णवः ।
जठरे कल्पवातः किं हृदि कल्पानलः कथम् ॥ ४ ॥
द्यौः क्ष्मा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
कथं हृदि जगन्नाम कथयेति यथास्थितम् ॥ ५ ॥

एक सौ बयालीस सर्ग

[स्वप्नादि जगत्का तत्त्व ब्रह्म है यह वर्णन करते हुए तत्त्वदृष्टिसे जगद्बीज कर्मके अभावका साधन]

मुनि महाराजने कहा—हे व्याध, संभ्रान्त लोगोंको भी भ्रममें डालनेवाले वर्तमान उस महान् कष्टमें आँधी द्वारा इधर उधर बहाया जा रहा मैं अत्यन्त खेदको प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

तदुपरान्त खेदसे मैंने सोचा कि दूसरे प्राणीके हृदयमें निवास कर रहे मेरा यह स्वप्न है, इसलिए मैं व्यर्थमें दुःस्वप्नदुःख क्यों देखूँ, दुःस्वप्नप्रदर्शनका त्याग कर जागरण द्वारा आनन्द क्यों न लूँ ॥ २ ॥

स्वप्नका क्या रहस्य है यह निश्चय करनेके लिए परकायमें प्रविष्ट हुए आप क्या निश्चय करके निवृत्त हुए, यों व्याध प्रश्न करता है—'किंस्वित्' इत्यादिसे ।

व्याधने कहा—हे मुने, स्वप्नका तत्त्व क्या होगा इस प्रकारके सन्देहकी निवृत्तिके लिए आप उसके हृदयमें प्रविष्ट हुए थे, सो क्या आपने स्वप्नका निश्चय कर लिया था ॥ ३ ॥

भगवन्, यह आपने क्या देखा ? हृदयमें महासागर कहाँ रह सकता है, पेटमें

मुनिरुवाच

अकारणत्वात्सर्गादावेवाऽनुत्पादतः स्फुटात् ।
अज्ञातौ सर्गशब्दार्थावेव न स्तो मनागपि ॥ ६ ॥

प्रलयकालका वायु कैसे और हृदयमें प्रलयकालकी अग्निका कैसे संभव है ? द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ दिशाएँ आदि रूप जगत्का हृदयमें कैसे संभव है, इस सबका यथार्थ तत्त्व, जो आपने निर्णय किया है, मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ४,५ ॥

इस प्रकार अपने और दूसरेके स्वप्नोंको देखनेसे अन्वय-व्यतिरेकतः परीक्षित शब्दार्थरूप जगत्का बाधदृष्टिसे त्रैकालिक असत्ता ही तत्त्व है, और परिशिष्ट अधिष्ठानभूत ब्रह्म दृष्टिसे ब्रह्म ही तत्त्व है इस आशयसे श्रीमुनि उत्तर देते हैं— 'अकारण०' इत्यादिसे ।

मुनिने कहा—हे व्याध, सृष्टिके आदिमें सृष्टिका कोई कारण न होनेसे उसकी अनुत्पत्ति दिनके समान स्पष्ट है, अतएव अज्ञात सृष्टि शब्द और अर्थ बिलकुल भी नहीं ही हैं ।

भाव यह है कि सृष्टिका कारण कूटस्थ है या विकारी है ? कूटस्थ तो कारण हो नहीं सकता, कारण कि व्यापार न कर रहे कूटस्थमें क्रियाजनकत्वरूप कर्तृत्वका सम्भव नहीं है, कार्यसम्बन्धयोग्य भी वह नहीं है, उसके उदासीनसे अतिरिक्त रूपका निरूपण कहीं नहीं है और उसमें उदासीनातिरिक्त स्वभावकी उत्पत्ति भी श्रुत या दृष्ट नहीं है, अतएव उसका कारण होना तो किसी प्रकार संभव नहीं है । विकारी अनिर्णीत नाना अंशोंसे घटित होता है । उसका कौन-सा अंश कारण है । घटादि विकारयुक्त मिट्टीके पिण्डसे हट रहा पिण्डाकार कारण है या आ रहा घटाकार कारण है, अथवा दोनों आकारोंसे अनुगत मृदाद्याकार कारण है ? प्रथम तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि जो अपनी भी रक्षा करनेमें असमर्थ हो, कार्यकालमें रह न सके और कार्यके अर्थ हुए व्यापारका जो आधार न हो उसके कारण होनेकी सम्भावना तक नहीं है । दूसरा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घटसे अन्य कार्यका निर्देश नहीं है, अतः स्वमें स्वकारणताका प्रसंग हो जायगा । तीसरा भी कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मृदादिरूप अनुगताकारको अक्रियाशील मानो तो कूटस्थतावश उसमें कारणता नहीं है, क्रियाशील मानो तो घटोंकी अनन्तताका प्रसङ्ग प्राप्त होगा अर्थात् सदा घटोत्पत्ति होगी, क्योंकि मृदाकारमात्रका सदा अस्तित्व है । कार्योत्पादनमें समर्थको

तच्चैतौ सर्गशब्दार्थौ त्वज्ञातौ परमात्मनि ।
यतस्तत्पदमज्ञानज्ञानात्मकमनामयम् ॥ ७ ॥

सहकारीकी आवश्यकता न होनेसे एक साथ सब कार्योंकी प्राप्ति होगी, पिण्ड, घड़ा, कपाल, चूर्ण आदिकी युगपत् प्राप्ति होगी। अन्य सहकारीके सम्बन्धकी व्यवस्थासे व्यवस्था हो जायगी, ऐसा यदि कहो तो बताओ कि अन्य सहकारीका संबंध मृद्-जन्य है या अन्यजन्य है? यदि मृज्जन्य मानो तो घट आदिके समान वह भी मृदाकार-मात्रसे ही उसी समय उपपाद्य होगा। ऐसी स्थितिमें जैसे मृदाकारमात्रको कारण माननेपर घटादिकी उत्पत्ति युगपत् होगी, यह दोष दिया था सहकारिसम्बन्धके भी मृदाकारमात्रजन्य माननेमें घटादिकी उत्पत्ति युगपत् ही होगी, क्योंकि मृदाकारमात्र-जन्य सहकारिसम्बन्धके सदा रहनेसे घटादिकी युगपत् उत्पत्तिका प्रसङ्ग ज्योंका त्यों रहा। इसलिए सहकारीके सम्बन्धसे कोई व्यवस्था न हुई। यदि अन्यसहकारिसम्बन्ध मृद्भिन्नसे जन्य है, तो मृद्भिन्न भी 'समर्थस्य कालक्षेपायोगः' इस न्यायसे युगपत् सर्वकार्यजनक है, इसलिए प्रस्तुत सहकारिसम्बन्धको भी उसने अपनी उत्पत्तिके बाद ही पैदा किया, अतः घटादिकी युगपत् उत्पत्तिप्रसक्ति ज्योंकी त्यों ही रही। यदि कहो मृद्भिन्न भी अन्यसहकारिसम्बन्धको उत्पन्न करनेके लिए सहकारि-विशेषकी अपेक्षा करता है, ऐसी स्थितिमें अन्य सहकारिसम्बन्ध कादाचित्क ही होगा, अतः वह व्यवस्थापक हो सकेगा। तब भी मृद्भिन्नमें सहकारिविशेषसम्बन्ध जिससे उत्पादनीय है, उससे वह 'समर्थस्य कालक्षेपायोगः' इस न्यायसे अपनी उत्पत्तिके बाद ही पैदा किया गया, अतः प्रस्तुत अपेक्षित उपार्जनसम्पत्तिसे घटादिकी युगपत् उत्पत्तिका निवारण होना असम्भव है। पिण्ड, कपाल, घट, चूर्ण आदि बहुतसे कार्योत्पादनमें समर्थ मृदाद्याकारके किसी एक कार्यकी जनकतामें कोई विनिगमक नहीं है, सहकारिसम्बन्धकी विनिगमकताका खण्डन तो हो ही चुका है, इसलिए सब कार्योंकी युगपत् प्रसक्ति होगी। यदि इसके परिहारके लिए एक कार्यो-त्पत्तिको दूसरी कार्योत्पत्तिमें प्रतिबन्धक मानो तो परस्पर प्रतिबन्धक-प्रतिबध्यतासे कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा, इससे सर्ग आदि निष्कारण हैं, यह पक्ष ही अवशिष्ट रहा। अतः सर्ग शब्द और अर्थ सर्वथा नहीं ही हैं, यह तत्त्व निर्णीत हुआ ॥ ६ ॥

तब लोकमें सर्ग शब्द और अर्थ कैसे प्रसिद्ध हैं? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'तच्चैतौ'** इत्यादिसे।

अतः सुभग सिद्धान्ते त्वत्पक्षे बोधमागते ।
मौर्ख्यशान्तावनाद्यन्ते पदे परमपावने ॥ ८ ॥
वच्मीदं मूढसंवित्तौ यदिदं तन्न वेद्म्यहम् ।
वस्त्ववस्तुजमाभातं बोधमात्रमिदं ततम् ॥ ९ ॥
क्व शरीरं क्व हृदयं क्व स्वप्नः क्व जलादि च ।
क्व बोधो बोधविच्छित्तिः क्व जन्ममरणादि च ॥ १० ॥
स्वच्छं चिन्मात्रमस्तीह तन्नाम यदपेक्षया ।
स्थूलमेव खमप्यद्रिरणूनां निकटे यथा ॥ ११ ॥

ये सर्ग शब्द और अर्थ परमात्मामें यथार्थरूपसे अज्ञात होकर ही प्रसिद्ध हैं अर्थात् अज्ञात परमात्मरूप ही सर्ग शब्द और अर्थ हैं ।

शङ्का—अज्ञात यदि होते तो अप्रसिद्ध ही होते, न कि प्रसिद्ध ।

समाधान—हाँ, ऐसा ही होता जब कि जगत् अज्ञानमात्र होता, किन्तु वह अज्ञात आत्मपद शबल होनेके कारण अज्ञान-ज्ञानरूप है । अज्ञानांशको लेकर सर्ग शब्द और अर्थ अज्ञात हैं और ज्ञानांशको लेकर प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहना समुचित है ॥ ७ ॥

यदि सर्ग शब्द और अर्थ प्रसिद्ध हैं तो सर्ग शब्द और अर्थ हैं ही नहीं यह आप कैसे कहते हैं, ऐसा व्याधकी ओरसे प्रश्न उठनेपर कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

हे सौम्य, जिस स्वप्न आदि जगत्के यथार्थरूपको तुम जानना चाहते हो, उसके यथार्थरूपसे समझमें आ जानेपर अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर परमसिद्धान्त रूप परम पवित्र ब्रह्मरूप पदमें आरूढ़ होकर मैं यह (सर्ग शब्द और अर्थ ही नहीं हैं यह वाक्य) कहता हूँ । मूर्ख लोगोंकी बुद्धिमें जो सर्ग शब्द और अर्थका अस्तित्व बद्धमूल है, उसका किसी प्रकार भी संभव न होनेसे मुझे कुछ भी पता नहीं है, ज्ञानांश और अज्ञानांशसे उत्पन्न प्रतीत हो रहा यह जगत् केवल चिन्मात्रका ही विकास है ॥ ८,९ ॥

सिद्धान्तपक्षमें शरीर आदिकी प्रसिद्धि ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—'क्व' इत्यादिसे ।

कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ जल आदि है, कहाँ बोध है, कहाँ बोधविनाश है और कहाँ जन्म, मरण आदि हैं ॥ १० ॥

तब सिद्धान्तमें क्या है, ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं—'स्वच्छम्' इत्यादिसे ।

स्वभावात्स चिदाकाशः किंचिच्चेतति चिन्तया।
खमेव वपुराकाशं यत्तद्वेत्ति जगत्तया॥ १२॥
यथा स्वप्ने पुरतया चिदेवाऽऽभाति केवला।
न तु किंचित्पुराद्येवं जगच्चिन्मात्रमेव खे॥ १३॥
इदं शान्तमनाभातमनन्यत्नैतदात्मनि।
चिति दृशौ तमसि खे चक्रकादीव भाति ते॥ १४॥
अस्माकं तु न चाऽऽभानं न चाऽसन्न च सन्न खम्।
अनाकारमनाद्यन्तमेकं चिद्व्योम केवलम्॥ १५॥
भात्यकारणकं स्वप्ने शुद्धो द्रष्टेव केवलः।
तेनाऽत्र कारणाभावो न द्रष्टाऽस्ति न दर्शनम्॥ १६॥

सिद्धान्त-पक्षमें वह अति निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसके सामने अत्यन्त सूक्ष्म भी आकाश वैसा ही स्थूल लगता है जैसा कि परमाणुओंके सामने पर्वत॥ ११॥

ईश्वरका और तत्त्वज्ञानियोंका जगद्दर्शन कैसा है? इस प्रश्नपर कहते हैं— **'स्वभावात्'** इत्यदिसे।

वह चिदाकाश (चिन्मात्र) स्वभावतः आकाशरूप अपने शरीरका कुछ विचारसे जो चिन्तन करता है उस आकाशको ही जगद्रूपसे जानता है॥ १२॥

जैसे स्वप्नमें एकमात्र चित्का ही नगररूपसे भान होता है वहाँपर वास्तवमें नगर आदि कुछ भी नहीं है वैसे ही आत्माकाशमें शान्त अखण्ड अभात इस चिन्मात्रका ही जगत-रूपसे भान होता है।

शङ्का—तब मेरे सदृश अल्पज्ञों या अज्ञानियोंकी दृष्टिमें जगत्का भान कैसे होता है?

समाधान—जैसे दृष्टिमें तिमिर रोग होनेपर प्रकाशमय आकाशमें बालोंका-सा गोला दृष्टिगत होता है वैसे ही तुम्हारी चिद्रूप दृष्टिमें अज्ञानरूप तिमिर रोग होनेपर यह जगद्-भान होता है॥ १३, १४॥

हमारी दृष्टिमें तो न भान है, न प्रातिभासिक जगत् है, न व्यावहारिक जगत् है और न भूताकाश है केवल निराकार अनादि अनन्त (अविनाशी) चिदाकाश ही है॥ १५॥

जिस कारणसे केवल त्रिपुटी रहित (द्रष्टा, दर्शन, दृश्य रहित) शुद्ध द्रष्टाका

शुद्धं किमपि तद्भाति स्वानुभूतमपि स्फुटम् ।
यदवाच्यमनाद्यन्तमेकं द्वैतैक्यवर्जितम् ॥ १७ ॥
एकः कालो यथा कल्पः प्रकाशश्चोभयात्मकः ।
बीजं वा फलपुष्पान्तं ब्रह्म सर्वात्मकं तथा ॥ १८ ॥
यदन्यस्य महत्कुड्यं तदन्यस्याऽमलं नभः ।
दृष्टमेतत्स्थिरस्वप्नसंकल्पभ्रमभूमिषु ॥ १९ ॥
स्वच्छं तदा तदात्मैकं भाति चिन्मात्रखं यथा ।
स्वप्ने जागृतिवत्तद्वज्जाग्रत्स्वप्नेऽपि नाऽन्यथा ॥ २० ॥

ही बिना किसी कारणके नगर आदिके रूपसे स्वप्नमें भान होता है, यह स्वप्नमें निर्णय किया गया है, उस कारणसे जाग्रत्‌में भी कारणके अभावका पहले उपपादन किया गया है, अतः जाग्रत्‌में भी न द्रष्टा है और न दर्शन है यानी द्रष्टादि त्रिपुटी नहीं ही है ॥ १६ ॥

स्वयं स्पष्टरूपसे अनुभूत होनेपर भी कुमारीके सुखकी तरह जिसका वर्णन करना असंभव है, अनादि अनन्त एक (अद्वितीय) द्वैत और ऐक्यसे शून्य उस शुद्ध चिन्मात्रका ही जगत्‌रूपसे भान होता ॥ १७ ॥

द्वैत और ऐक्यसे शून्यकी द्वैत और ऐक्यसे स्थिति क्या कहीं देखी गई है ? ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं—'एकः' इत्यादिसे ।

जैसे एक काल प्रलय और सृष्टि दोनोंरूप है अथवा जैसे बीज अङ्कुर, पौधा, पेड़, डाली, पत्ती, पल्लव और फलस्वरूपसे स्वयं ही स्थित होता है वैसे ही ब्रह्म भी सर्वात्मक—द्वैत-ऐक्यसे युक्त है ॥ १८ ॥

तब तो ब्रह्म द्वैत और ऐक्य युक्त ही है, द्वैत और ऐक्यसे वर्जित नहीं, इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

जो एककी दृष्टिमें महान् दीवाररूप है, वह दूसरेकी दृष्टिमें निर्मल आकाशरूप है यह बात चिरस्थायी स्वप्न, मनोरथ, भ्रान्ति आदिमें देखी गई है । यदि ब्रह्म परमार्थरूपसे द्वैत और ऐक्य युक्त होता तो सबके प्रति वैसा दिखाई देता, किन्तु सब उसको वैसा देखते नहीं, यह भाव है ॥ १९ ॥

जैसे आत्मा एक स्वच्छ चिन्मात्राकाश होकर भी स्वप्नमें जाग्रत्‌के समान प्रतीत होता है वैसे ही जाग्रन्मय स्वप्नमें भी प्रतीत होता है, अणुमात्र भी स्वप्नसे जाग्रत्‌में अन्यथा नहीं प्रतीत होता, उसी तरह इस समयमें भी उसकी अद्वितीयता ही है ॥२०॥

अदृश्ये पवने यद्वदृश्यं सौरभं स्थितम् ।
चिन्मात्रेऽप्रतिघे तद्वज्जगदप्रतिघं स्थितम् ।। २१ ।।
समस्तमननत्यागे योऽसि सोऽसि निरामयः ।
बहिरन्तरनन्तात्मा सुस्थितोऽपि निरन्तरम् ।। २२ ५

व्याध उवाच

भगवन् प्राक्तनं कर्म केषामिह हि विद्यते ।
केषां न विद्यते तद्वद्विनाऽपि भवतः कथम् ।। २३ ।।

यदि प्रश्न हो कि प्रलय और सुषुप्तिमें इसका जगत् स्थित नहीं रहता, इसलिए यह सदा एकस्वभाव है, यह कैसे ? केवल अदर्शनमात्रसे जगत् उस समय नहीं रहता यह निर्णय नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं—'**अदृश्ये**' इत्यादिसे ।

जैसे नेत्रोंसे अदृश्य वायुमें अदृश्य सुगन्धि स्थित है, यह घ्राणज अनुभूतिसे प्रतीत होता है वैसे ही अमूर्त होनेसे प्रतिघातके अयोग्य चिन्मात्रमें अमूर्त जगत् स्थित है अर्थात् सुषुप्ति और प्रलयका अनुभव करनेवाले पुरुष द्वारा अदृश्य भी जगत् अन्य पुरुषोंकी दृष्टिसे दृश्य ही है ।। २१ ।।

मन द्वारा मननका त्यागकर यदि देखा जाय तो कहींपर कभी भी न जगत् था, न है और न होगा इस प्रकार निरन्तर ही आत्मा अद्वितीय सुस्थिर है, ऐसा कहते हैं—'**समस्त०**' इत्यादिसे ।

समस्त मननका (मनोव्यापारका) त्याग करनेपर तो तुम वस्तुतः जो निरामय सन्मात्र हो, वही हो । बाहर भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मरूपसे निरन्तर स्थित हो ।। २२ ।।

तब तो प्राक्तन कर्मोंके अनुसार ही मन मनन कराता है, अन्यथा नहीं करता, इसलिए अनन्तोगत्वा कर्म ही संसारका बीज ठहरता है, जिनका कर्म निश्शेषरूपसे नष्ट हो चुका हो उनका समस्त मननत्याग सिद्ध होता है ऐसा समझ रहा व्याध उक्त कर्म किनका है, किनका नहीं है, यों पूछता है—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

भगवन्, यहाँ प्राक्तन कर्म किनका है और किनका नहीं है । जिनका प्राक्तन कर्म नहीं है, उनके प्राक्तन कर्मके बिना भी मनन और मननत्याग कैसे होते हैं ? ।। २३ ।।

मुनिरुवाच

सर्गादिषु स्वयं भान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयंभुवः ।
विज्ञप्तिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी ॥ २४ ॥
तेषामस्ति न संसारो न द्वैतं न च कल्पनाः ।
विशुद्धज्ञानदेहास्ते सर्वात्मानः सदा स्थिताः ॥ २५ ॥
सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित् ।
सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ॥ २६ ॥
यथा ब्रह्मादयो भान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः ।
भान्ति जीवास्तथाऽन्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥
किन्तु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते सात्त्विकोद्भवाः ।
अबोधा ये त्वचिदाख्यं बुद्ध्वा द्वैतमिदं स्वयम् ॥ २८ ॥

जिनका अधिकार दिलानेवाले उपासना फलके अन्तर्गत ही 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस न्यायसे तत्त्वज्ञान स्वाभाविक (उत्पत्तिकालिक) ही है उनका कर्म नहीं है, ऐसा मुनि उत्तर देते हैं—'सर्गादिषु' इत्यादिसे ।

ब्रह्मा, सनक, कपिल आदि जो स्वयम्भू (अपने-आप उत्पन्न होनेवाले) सृष्टिके आदिमें स्वयं भासित होते हैं वे ज्ञानमात्रदेहवाले हैं, उनके जन्म और कर्म नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

उन महात्माओंका न संसार है, न द्वैत है और न उनमें विविध कल्पनाएँ ही हैं। विशुद्ध ज्ञानरूपदेहवाले वे आत्मा होनेके कारण ही सर्वात्मा हैं और सदा ज्यों के त्यों बने रहते हैं ॥ २५ ॥

कर्मशून्य वे महात्मा ब्रह्मा आदि कर्मवानोंके आत्मा कैसे हैं, ऐसी आशङ्का उपस्थित होनेपर उस समय किसीका भी कर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं-'सर्गादौ' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें यहाँ किसीका भी प्राक्तन कर्म नहीं रहता। सृष्टिके आरंभमें ब्रह्म ही इस तरह सृष्टिरूपसे विकासको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

जैसे सृष्टिके आरम्भमें परब्रह्मरूपी ब्रह्मा आदि भासित होते हैं वैसे ही सैकड़ों और हजारों अन्यान्य जीव भी भानको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

जिनकी दृष्टिसे कर्म रहता है, उनको कहते हैं—'किन्तु' इत्यादिसे ।

जो लोग अज्ञानावृत होकर अपना ब्रह्मत्व नहीं जानते यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं जानते किन्तु 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यों ब्रह्मसे अपनेको भिन्न समझते हैं वे असात्त्विक

तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभिर्जन्म दृश्यते ।
स्वयमेव तथाभूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम् ॥ २९ ॥
यैस्तु न ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुद्धं बोधमहात्मनि ।
निरवद्यास्त एतेऽत्र ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ ३० ॥
सर्वात्म संविदोऽच्छत्वं ब्रह्माऽऽत्मन्येव संस्थितम् ।
तत्क्वचिज्जीववद्भानं स्वयमात्मनि पश्यति ॥ ३१ ॥
यत्र वेत्ति तु जीवत्वं तत्राऽविद्येति तिष्ठति ।
तत्र संसृतिनाम्नाऽऽत्मा धत्ते रूपं तथास्थितम् ॥ ३२ ॥
स्वयमेव हि कालेन बुद्ध्वा स्वं रूपमात्मनः ।
स्वयमेव स्वरूपस्थं ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ३३ ॥

(केवल सत्त्व गुणके परिणामसे विलक्षण रजोगुण तमोगुण मिश्रित सत्त्वके परिणामसे उत्पन्न हुए) जीव अचित् (अचेतन) नामक द्वैतको सत्य जानकर उस वासनासे वासितान्तःकरण होकर ही पहले मरे उनका कर्म सहित जन्म उत्तर कालमें दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन देहात्मरूप होकर परमार्थ वस्तुको भूलकर अवस्तुको अपनाया ॥ २८, २९ ॥

जिन महापुरुषोंको बोधरूप महान् आत्मामें ब्रह्मसे भेदका कदापि बोध नहीं हुआ, कर्मबन्धनरूप दोषसे रहित वे ये ब्रह्मा, विष्णु, हर आदि हैं ॥ ३० ॥

सर्वात्मरूप संवित्की स्वच्छता स्वाभाविक है, सर्वात्म ब्रह्म स्वस्वभावमें ही स्थित है। वह कहीं मलिन उपाधिमें स्वयं अपना जीववत् भान देखता है ॥३१॥

ब्रह्ममें अविद्या भी जीवोपाध्यवच्छेदसे ही है, शुद्धमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जहाँपर उसे अपनेमें जीवत्वका भान होता है वहीं अविद्या रहती है, वहींपर आत्मा अपने यथास्थित स्वरूपको संसार नामसे धारण करता है ॥ ३२ ॥

काल पाकर स्वयं ही अपने असली स्वरूपको जानकर स्वयं स्वरूपस्थ ब्रह्म ही हो जाता है, कारण कि 'ब्रह्म वा इदमग्र०' (यह पहले ब्रह्म ही था, उसने आत्माको 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जाना इससे वह सर्वात्मा हो गया) और 'ब्रह्म वेद' (जिसे ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥ ३३ ॥

यथा द्रवत्वादम्ब्वन्तरेति चाऽऽवर्ततामिव ।
ब्रह्म चित्त्वात्तथैतीव सर्गतामस्य सर्गकम् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मभानमयं सर्गो न स्वप्नो न च जागरः ।
कस्य कान्यत्र कर्माणि कीदृशानि कियन्ति वा ॥ ३५ ॥
वस्तुतः कर्म नाऽस्त्येव नाऽविद्याऽस्ति न सर्गधीः ।
स्वसंवेदनतः सर्वमसदेव प्रवर्तते ॥ ३६ ॥
ब्रह्मैव सर्गो भूतात्मा कर्म जन्मेति कल्पनाः ।
स्वयं कुर्वदिदं भाति विभुत्वात्कल्पितार्थभाक् ॥ ३७ ॥
न संभवति जीवस्य सर्गादौ कर्म कस्यचित् ।
पश्चात्स्वकर्म निर्माय भुङ्क्ते कल्पनया स चित् ॥ ३८ ॥
जलावर्तस्य को देहः कानि कर्माणि चोच्यताम् ।
यथाऽम्बुमात्रमावर्तो ब्रह्ममात्रं तथा जगत् ॥ ३९ ॥

जैसे द्रवरूप होनेसे जल अपने अन्दर आवर्तरूपताको (भँवररूपताको) मानो प्राप्त होता है वैसे ही ब्रह्म भी चित् होनेसे सर्गरूपताको मानो प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्मका सर्ग स्वभाव है ॥ ३४ ॥

यह सर्ग (सृष्टि) ब्रह्मभान है । न स्वप्न है और न जागरण है । किसकी कौन सर्गता है तथा कौन किस प्रकारसे अथवा कितने कर्म ही हैं ॥ ३५ ॥

वास्तवमें कर्म है ही नहीं, न अविद्या है और न सृष्टिबुद्धि ही है, किन्तु स्वसंकल्पवश यह असत् ही यों प्रथित होता है ॥ ३५ ॥

सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प होनेके कारण ब्रह्म ही सृष्टि, भूतस्वरूप, कर्म और जन्म ऐसी कल्पनाएँ करता हुआ स्वयं ही कल्पित पदार्थोंके रूपसे भासित होता है ॥ ३६ ॥

सृष्टिके आरम्भमें किसी जीवके कर्मका सम्भव ही नहीं है । पीछे अविद्यामें स्थितिकी कल्पनाके बाद चिद्रूप वह जीव देह आदि द्वारा स्वकर्मको स्वयं निष्पन्न कर उसका भोग करता है ॥ ३८ ॥

भला बताइए तो जलावर्तका (जलके भँवरका) क्या शरीर है, क्या कर्म हैं । जैसे भँवर केवल जल ही है वैसे ही जगत् केवल ब्रह्ममात्र ही है ॥३६॥

यथा स्वप्नेषु दृष्टानां न प्राक्कर्म नृणां भवेत् ।
आदिसर्गेषु जीवानां तथा चिन्मात्ररूपिणाम् ॥ ४० ॥
सर्गे सर्गतया रूढे भवेत्प्राक्कर्मकल्पना ।
पश्चाज्जीवा भ्रमन्तीमे कर्मपाशवशीकृताः ॥ ४१ ॥
सर्ग एव न सर्गोऽयं ब्रह्मेत्थं किल तिष्ठति ।
यत्र तत्र क्व कर्माणि कानि वा कस्य तानि वा ॥ ४२ ॥
अपरिज्ञानमात्रं यत्स्वयं वै परमात्मनः ।
तदेतत्कर्म बन्धाय तत्तज्ज्ञस्योपशाम्यति ॥ ४३ ॥
यावद्यावत्परिज्ञानं पण्डितस्य प्रवर्तते ।
तावत्तावत्तदैवाऽस्य कर्म शाम्यति बन्धनम् ॥ ४४ ॥

जैसे स्वप्नमें देखे गये मनुष्योंका प्राक्तन कर्म नहीं होता है वैसे ही सृष्टिके आदिमें शुद्ध सात्त्विक शरीरमें चिन्मात्र स्वरूपवाले जीवोंके कर्म नहीं रहते ॥ ४० ॥

क्यों नहीं होते ? इसपर कहते हैं—'सर्ग' इत्यादिसे ।

सृष्टिके सृष्टिरूपसे बद्धमूल होनेपर प्राक्तन कर्मोंकी कल्पना होती है । उसके बाद ये जीव कर्मपाशसे विवश होकर नाना योनियोंमें भ्रमण करते हैं अर्थात् शुद्ध सात्त्विक शरीरोंमें कर्म इसलिए नहीं रहते कि उनकी सर्गता बद्धमूल नहीं होती ॥ ४१ ॥

जहाँ यह सृष्टि सृष्टि ही नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही इस प्रकार सृष्टिके रूपसे स्थित है वहाँ कर्म कहाँ ? वे क्या अथवा किसके कहे जा सकते हैं ॥४२॥

कर्म जब है ही नहीं तब कर्मप्रयुक्त बन्धन कहां अर्थात् नहीं है, किन्तु अज्ञान-प्रयुक्त ही बन्ध है, भले ही आप उसे कर्मबीज कहें पर वह अज्ञानसे अतिरिक्त नहीं हैं ऐसा कहते हैं—'अपरिज्ञानमात्रम्' इत्यादिसे ।

परमात्माका जो स्वयम् अपने स्वरूपका अपरिज्ञान है वही यह कर्म बन्धन-का कारण है अपना परमात्मस्वरूप जिसे ज्ञात है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि कर्म भी अविद्यारूप ही है इसलिए ज्यों ज्यों ज्ञानप्रकर्ष होता है त्यों त्यों कर्मका क्षय होता है, ऐसा कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

ज्यों ज्यों पण्डितका ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों उसका बन्धनमें डालनेवाला कर्म बराबर क्षीण होता है ॥ ४४ ॥

यन्नाम किल नाऽस्त्येव तच्छान्तौ का कदर्थना ।
परमार्थादृते बन्धः किंचिन्नाम न विद्यते ॥ ४५ ॥
तावन्माया भवभयकरी पण्डितत्वं न याव-
त्तत्पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे ।
यत्नं कुर्यादविरतमतः पण्डितत्वेऽमलात्म-
ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव वः शान्तिमेति ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० अ० वि० शवो० कर्मनिर्णयो नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४२ ॥

केवल ज्ञानसे वस्तु (कर्म) का नाश कैसे संभव है ऐसी शङ्का उठनेपर कर्म वस्तु ही नहीं है, यों परिहार करते हैं—**'यन्नाम'** इत्यादिसे ।

जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके नाशमें कौन-सी कठिनाई है बन्ध परमार्थके सिवा कुछ है ही नहीं अर्थात् अज्ञानवश परमार्थमें वह कल्पित है ॥४५॥

जब तक पाण्डित्य प्राप्त न हो जाय तभी तक माया संसाररूप बन्धनका भय उत्पन्न करती है, वास्तवमें पाण्डित्य भी वही है, जिससे फिर भवसागरमें पतन नहीं होता । शुष्कतर्कादि पाण्डित्यका यहाँपर कुछ भी उपयोग नहीं है । इसलिये निरन्तर निर्मल ज्ञानसे परिपूर्ण पाण्डित्यके लिए श्रवण, मनन आदि प्रयत्न करना चाहिये । इसके सिवा दूसरे उपायसे आपका संसारभय कदापि शान्त नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

एक सौ बयालीस सर्ग समाप्त

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

सर्वेषामेव धर्माणां कर्मणां शर्मणामपि ।
पण्डितः पुण्डरीकाणां मार्तण्ड इव मण्डनम् ॥ १ ॥
आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः ।
पण्डितास्तत्र शक्रश्रीजरत्तृणलवायते ॥ २ ॥
पाताले भूतले स्वर्गे सुखमैश्वर्यमेव वा ।
न तत्पश्यामि यन्नाम पाण्डित्यादतिरिच्यते ॥ ३ ॥
पण्डितस्य यथाभूता वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ।
दृगिवेन्दौ निरम्भोदे सकलामलमण्डले ॥ ४ ॥

एक सौ तैंतालीस सर्ग

[पाण्डित्यकी प्रशंसा तथा चिन्मात्रदर्शन ही पाण्डित्य है यह कथन-पूर्वक चित् ही जगत् है, इसका युक्ति द्वारा पुनः समर्थन]

श्रीमुनिने कहा—हे व्याध, कमलोंको खिलानेके निमित्त जैसे सूर्य आकाशका अलङ्कार है वैसे ही सम्पूर्ण धर्मोंके निर्णयमें, धर्मसे अविरुद्ध लौकिक कर्मोंके निर्णय-में तथा धर्म और सत्कर्मोंके फलभूत ऐहिक और पारलौकिक सुखोंके तारतम्यके निरूपणमें सन्देहरूपी ग्रन्थिको सुलझा कर श्रोताकी बुद्धिको विकसित करनेवाला पण्डित ही सभाका अलङ्कार है ॥ १ ॥

सकल पारलौकिक सुख भी पण्डितको प्राप्त होनेवाले आत्मसुखरूपी महा-सागरमें जलकणसे भी लघु है, ऐसा कहते हैं—'आत्मज्ञान०' इत्यादिसे ।

गन्तव्य परम धामरूपी ब्रह्मको जाननेवाले आत्मज्ञानी पण्डित जिस परम गतिको प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्रका महान् ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण पत्तेके टुकड़ेकी तरह नगण्य है ॥ २ ॥

पातालमें, भूतलमें और स्वर्गमें जो कुछ सुख अथवा ऐश्वर्य मैं देखता हूँ, वह सब मिलकर भी पाण्डित्यकी बराबरी नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

सत्-शास्त्रके विचारसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे परिपूर्ण पाण्डित्यकी परमार्थ वस्तुरूप दृष्टि स्वात्मामें वैसे ही आह्लादका अनुभव करती है जैसे कि शरत् कालकी पूर्णिमाके

इदं दृश्यमविद्यात्म ब्रह्म संपद्यते क्षणात् ।
बुधस्य बोधात् स्त्रग्दाम सर्पत्वमिव शाम्यति ॥ ५ ॥
यत्स्थितं ब्रह्मणि ब्रह्म कृतास्तेनैव सत्यता ।
स्वभावैकात्मिकाः संज्ञा देहसर्गक्षयादिकाः ॥ ६ ॥
सर्गो विद्यत एवाऽयं न यत्र किल किंचन ।
तस्य धर्माणि कर्माणि न दैवाऽक्षरमालिका ॥ ७ ॥
पृथ्व्यादि संभवति चेत्तत्सकारणमस्तु तत् ।
तदेव यत्र नाऽस्त्येव तत्र किं तस्य कारणम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मणः प्रतिभातं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
तेनैव कुत एतानि पृथ्व्यादीनि क्व कारणम् ॥ ९ ॥

अखण्ड निर्मल मण्डलवाले चन्द्रमामें, जिससे बादलोंका कोई सम्पर्क न हो, लोगोंकी दृष्टि आह्लादित होती है ॥ ४ ॥

जैसे ज्ञान होनेपर मालामें कल्पित सर्पता तुरन्त शान्त हो जाती है वैसे ही विद्वान्की दृष्टिमें यह अज्ञानरूप सर्गादि दृश्य क्षणभरमें ब्रह्म बन जाता है ॥ ५ ॥

तो क्या देहसर्गादि-शान्ति ब्रह्म स्वभावसे अतिरिक्त उत्पन्न होती है, इसपर नहीं ऐसा कहते हैं—'**यद्**' इत्यादिसे ।

ब्रह्म स्वतत्त्वज्ञानसे ही ब्रह्मरूप स्वभावमें जो स्थित है उसीकी स्वयं उसीने स्वस्वभावरूप देह-सर्ग-क्षयादि संज्ञाएँ की हैं, यह परमार्थ है ॥ ६ ॥

ऐसा क्यों होता है ? इस शङ्कापर चूंकि परिशिष्ट ब्रह्म दृश्यक्षय नामका धर्म-कर्मसे शून्य है, ऐसा कहते हैं—'**सर्गः**' इत्यादिसे ।

जिसमें यह सृष्टि नाममात्रको भी नहीं है उसमें सृष्टिके धर्म, कर्म और उनके बोधक पद, वाक्य आदिरूप अक्षरमालिका कहाँसे होगी, अर्थात् नहीं है ॥ ७ ॥

दृश्यका न तो भूतकालमें अस्तित्व था, न वर्तमानमें है और न भविष्यमें रहेगा, यों त्रैकालिक असत्ता होनेसे ही उसकी सकारणकताका निरास हो गया, ऐसा कहते हैं—'**पृथ्व्यादि०**' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदिके अस्तित्वका संभव होता तो उसका कारण भी होता, जहाँपर पृथिवी आदिका अस्तित्व ही नहीं है, वहाँपर उसका कारण क्या होगा ? ॥ ८ ॥

ब्रह्मका जो प्रतिभास (झलक) है, वह यह जगत् कहलाता है। इसीसे समझ

स्वप्नद्रष्टुर्दृश्यनृणामस्ति काल्पनिकं यथा ।
न वास्तवं पूर्वकामं जाग्रत्स्वप्ने तथा नृणाम् ॥ १० ॥
यथा प्राक्कर्म पुंस्त्वे च स्वप्ने पुंसां न विद्यते ।
इह जागत्स्वप्ननृणां भातानामपि नो तथा ॥ ११ ॥
जीवः सर्वेषु सर्गेषु स्वप्नार्थान्निखिलान्मिथः ।
प्राक्कर्मसत्त्वं मिथ्यात्म यथावासनमेषु च ॥ १२ ॥
सर्गादावथ देहान्ते भान्ति स्वप्नार्थवन्मिथः ।
यथासंवेदनं जीवाः सन्तोऽसन्तश्च तेन ते ॥ १३ ॥
यथासंवेदनं सर्वे भान्ति भावयतस्ततः ।
ते सन्त्यात्मन्यपि स्वप्ने जाग्रतीवाऽर्थदा मिथः ॥ १४ ॥

लीजिये कि वे पृथिवी आदि कहाँ हैं और इनका कारण कहाँ। क्या कहीं प्रातिभासिक घटके लिए दण्ड, चक्र आदि कारणकलापकी आवश्यकता पड़ती है, यह भाव है ॥ ९ ॥

जैसे स्वप्न देखनेवालेको दिखाई देनेवाले स्वप्नलोकके मनुष्योंके पिता आदि कारण काल्पनिक हैं वास्तविक नहीं हैं, वैसे ही जाग्रत्रूप स्वप्नमें भी दृश्य लोगोंके पिता आदि कारण काल्पनिक ही हैं, वास्तविक नहीं हैं ॥ १० ॥

पिता आदिकी तरह उनके कर्म आदि भी अवास्तविक ही हैं, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नलोकके पुरुषोंके पुरुषादि रूपमें उत्पन्न होनेमें निमित्तभूत प्राक्तन कर्म नहीं हैं, वैसे ही यहाँ भासित हो रहे जाग्रत्रूप स्वप्नके मनुष्योंके भी प्राक्तन कर्म नहीं हैं ॥ ११ ॥

जीव जैसे सृष्टियोंमें सकल स्वप्नार्थोंको परस्पर देखता है, वैसे ही अपनी वासनाके अनुसार मिथ्याभूत सकल व्यवहारमें प्राक्तन कर्मके अस्तित्वको, जो सर्वथा मिथ्या है, अपनी वासनाके अनुसार ही देखता है ॥ १२ ॥

जीव भूत, भुवन आदिकी सृष्टिसे लेकर देहसिद्धि पर्यन्त संसारमें स्वप्नपदार्थोंकी तरह ही अपने संकल्पके अनुसार परस्पर प्रतीत होते हैं, इसलिए स्वप्नपदार्थोंकी तरह संवेदनांशमें विद्यमान भी वे अन्य अंशमें अविद्यमान ही हैं ॥ १३ ॥

भावना कर रहे पुरुषको सब पदार्थ अपने संकल्पके अनुसार अपनी आत्मामें प्रतीत होते हैं और जाग्रत्‌के समान स्वप्नमें भी परस्पर अर्थक्रियामें समर्थ होते हैं ॥ १४ ॥

संकल्पसंविदग्रस्थवस्तुनिष्ठतयाऽस्फुटम् ।
फलं चाऽऽप्नोति ते स्वप्ने लोकनिष्ठतयाऽस्फुटः ॥ १५ ॥
शुद्धा संवित्स्वभावस्था यत्स्वयं भाति भास्वरा ।
तस्या भानस्य तस्याऽस्य जाग्रत्स्वप्नाभिधाः कृताः ॥ १६ ॥
सर्गादावथ देहान्ते भातं यद्वेदनं यथा ।
तत्तथाऽऽमोक्षमेवाऽऽस्ते तदिदं सर्ग उच्यते ॥ १७ ॥
जाग्रत्स्वप्नार्थसार्थस्य संविदश्च न भिन्नता ।
अस्त्यप्रतिघरूपायाः प्रकाशालोकयोरिव ॥ १८ ॥
अग्न्यौष्ण्ययोरिव तथा वातस्पन्दनयोरिव ।
द्रवाम्भसोरिवाऽऽवीचि वा शैत्यानिलयोरिव ॥ १९ ॥
सर्वमप्रतिघं शान्तं जगज्जातमसन्मयम् ।
इत्थं सन्मयमेवाऽस्ति नाऽस्त्यर्थेन च संयुतम् ॥ २० ॥

जैसे स्वप्नमें बाह्य पदार्थोंके अभावमें भी आपकी भोजन आदिकी संकल्प संवित् ही पाक आदि संवित्के क्रमसे मुँहमें कौर डालनेके रूपसे तृप्तिरूप फल प्राप्त कराती है वैसे ही जाग्रत्-संवित् भी है। स्वप्न अस्फुट है लोकनिष्ठतासे जाग्रत् स्फुट है, यही जाग्रत् और स्वप्नमें अन्तर है ॥ १५ ॥

स्वभावमें स्थित भास्वर शुद्ध संवित् स्फुट हो चाहे अस्फुट जो भी होकर स्वयं भासित होती है उसके उस भानके जाग्रत् और स्वप्न दो नाम लोकमें रखे गये हैं॥१६॥

भूत, भुवन आदिकी सृष्टिसे लेकर देहसिद्धि पर्यन्त जिस वेदनका जैसे भान होता है वह मोक्षपर्यन्त प्रवाहरूपसे जैसाका तैसा रहता है। वही यह सर्ग कहलाता है ॥ १७ ॥

जाग्रत् और स्वप्नमें प्रसिद्ध पदार्थोंकी और अमूर्त होनेके कारण अप्रतिघातरूप उनकी संवित्की वैसे ही भिन्नता नहीं है, जैसे कि प्रकाश और आलोककी भिन्नता नहीं है, जैसे अग्नि और उष्णताकी भिन्नता नहीं है और जैसे तरङ्गके साथ द्रव और जलकी भिन्नता नहीं है अथवा जैसे शीतलता और वायुकी भिन्नता नहीं है ॥ १८, १९ ॥

'नेति नेति' इस श्रुति द्वारा निषिद्ध्यमान होनेके कारण निषेधार्थक नञ् (न) से और उसके अर्थ प्रतियोगितासे युक्त असद्रूप सम्पूर्ण जगज्जाल अधिष्ठानभूत

ब्रह्म प्रोद्भूय मृत्वा च दृश्यानुभवरूपि च।
चिन्मात्रमजरं शान्तमेकमेवाऽमलं स्थितम् ॥ २१ ॥
कार्यकारणतार्थानां या यथा हृदि कल्पिता।
ब्रह्मणा पुरुषेणेव नगर्यन्तस्तथैव सा ॥ २२ ॥
ब्रह्मणो हृदि सर्गोऽयं हृदि ते स्वप्नपूर्यथा।
कार्यकारणता तत्र तथाऽऽस्तेऽभिहिता यथा ॥ २३ ॥
संविद्घनोदरे सर्गे कार्यकारणता स्थिता।
तथा यथोहिता तेन त्वया वा कल्पनापुरम् ॥ २४ ॥
चिता संकल्परूपिण्या सर्गे संकल्पपत्तने।
त्वयैव स्थापिता संस्था कार्यकारणरूपिणी ॥ २५ ॥

चित्स्वभावतावश अमूर्त चिन्मय होनेके कारण प्रतिघातासह शान्त सन्मय ही है ॥ २० ॥

ब्रह्म जगद्रूपसे उत्पन्न होकर और प्रलयरूपसे मरकर दृश्यानुभवरूपी होनेसे सार्वात्म्य व्यवहारमें दृश्यानुभवरूप है, किन्तु परमार्थमें अजर, अमल, शान्त, एक चिन्मात्र ही स्थित है ॥ २१ ॥

जैसे पुरुषने नगरीके अन्दर मृत्, कुड्य आदि पदार्थोंकी कार्य-कारणताकी कल्पना कर रक्खी है वैसे ही ब्रह्माने आकाश, वायु आदि पदार्थोंकी हृदयमें जो कल्पना कर रक्खी है वह वैसे ही रहे। यह शास्त्र नियमभङ्गके लिए नहीं है, किन्तु उसकी सत्यता, भिन्नता आदिके विनाशके लिए है, यह भाव है ॥ २२ ॥

जगत्‌की सत्यताका भङ्ग होनेपर स्वाप्न वस्तुओंकी प्रकृतिके समान जगत्‌का चिन्मात्रमें ही पर्यवसान होता है, ऐसा कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे।

जैसे तुम्हारे हृदयमें स्वप्न-नगरी है वैसे ही ब्रह्मके हृदयमें यह सृष्टि है जैसे स्वाप्नी कार्यकारणता मैंने तुमसे कही है वैसी ही कार्यकारणता उसमें है ॥ २३ ॥

जैसे तुम अपने स्वप्ननगरकी कल्पना करते हो वैसे ही ब्रह्माने सृष्टिके आरम्भमें कार्यकारणताका संकल्प किया था। संकल्पमय इस सृष्टिमें वैसी कार्य-कारणता आज भी स्थित है ॥ २४ ॥

तुमने भी अपने संकल्पनगरमें स्वेच्छानुसार कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था कर रक्खी है, यों सिद्धवत् मानकर कहते हैं—'चिता' इत्यादिसे।

आकाश एव कचनं यच्चित्ते स्वात्मरूपिणी ।
नियतं संनिवेशत्वात्तदन्तः सर्ग उच्यते ॥ २६ ॥
या संविद्व्यवस्थाऽऽस्ते हृदि संकल्पपत्तने ।
सैषा स्वभावसंसिद्धिः कार्यकारणतार्थजा ॥ २७ ॥
प्रथमं यद्यथा भाति चित्त्वमस्ति तथेह तत् ।
तस्यैव नियतिः कालो देशादीत्यभिधा कृता ॥ २८ ॥
या नामाऽऽशु यथा भाति चेतनाकाशशून्यता ।
तया तथा वस्तुतया कार्यकारणताऽऽश्रिता ॥ २९ ॥

तुमने अपने स्वप्ननगरमें जैसी कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था स्थापित कर रक्खी है सृष्टिरूपी स्वप्ननगरमें संकल्परूपिणी चितिने भी वैसी ही कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था बाँध रक्खी है ॥ २५ ॥

संकल्पनगर और उसकी अन्दरूनी व्यवस्था केवल चिदाकाशका विकास ही तो है, यह बात अपने अनुभवसे सिद्ध है। यह परिदृश्यमान सृष्टि भी हिरण्यगर्भके संकल्पसे उद्भूत होनेके कारण संकल्प-सृष्टिके अन्तर्भूत ही श्रुति, पुराण आदिमें कही जाती है, उससे पृथक् नहीं है ॥ २६ ॥

हृदयमें स्थित संकल्प-नगरमें चिदादित्यकी (चित्सूर्यकी) स्वप्रकाशतारूप अवस्था सदैव रहती है वही यह कार्यकारणता सृष्टिके पदार्थों में उत्पन्न स्वभावसिद्ध है ॥२७॥

'स भूरिति व्याहरत्' (उसने 'भू' उच्चारण किया और भुवनकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार हिरण्यगर्भके (ब्रह्माके) हृदय चैतन्यमें सृष्टिके आरंभमें गन्ध, काठिन्य आदि रूपसे जिस चित्त्वका स्फुरण होता है वह इस समय भी वैसे ही वर्तमान है। उस प्रकारसे स्थित उसीकी स्वभाव (पृथिवीका गन्ध तथा काठिन्य स्वभाव, जलका द्रवत्व स्वभाव, तेजका उष्ण और प्रकाश स्वभाव, वायुका गमन और सूक्ष्मता स्वभाव इत्यादि रूपसे), काल (अतीत, अनागत आदि कालके रूपसे) तथा देश आदिसे (पूर्व, देश आदि पश्चिम आदि देशोंके रूपसे) तत्-तत् संज्ञाएँ की गई हैं ॥२८॥

इसी प्रकार गऊ घड़ा आदि सबमें समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं— **'या नाम'** इत्यादिसे ।

जो चिदाकाशकी शून्यता झटपट जिस वस्तुरूपमें भासित होती है उस वस्तुतासे वैसे ही कार्यकारणभावका आश्रयण किया गया है। जैसे कि गऊ दूधकी कारण है और घड़ा दूधके धारणका कारण है ॥ २९ ॥

चिच्चमत्कारमात्रेऽस्मिन्सर्गाभे भावरूपिणि ।
पूर्वं भावाः प्रवर्तन्ते पश्चात्सर्गाभिधा विदः ॥ ३० ॥
शून्यतास्त्रिजगद्रूपास्तथा चिद्व्योमनि स्थिताः ।
अनन्याः पवने सौम्य स्पन्दसत्ता यथा निजाः ॥ ३१ ॥
व्योम्नि सौषिर्यनैबिड्यं यथा नीलमिति स्थितम् ।
चिति चेतननैबिड्यं तथा सर्ग इति स्थितम् ॥ ३२ ॥
आभात एव भातेऽस्मिन्कृच्छ्रात्सर्गे विसर्गता ।
बुध्यते रज्जुभुजगे रज्जुरूपं यथा पुनः ॥ ३३ ॥
मृतः स स्वप्नवत्सर्वः संपश्यति पृथग्जगत् ।
तच्चाऽन्यदिदमन्यच्च नित्याप्रतिघमम्बरम् ॥ ३४ ॥

जिसका मनसे ध्यान करता है, उसका वाणीसे उच्चारण करता है, इस श्रुतिके अनुसार पहले रूपकल्पना की गई, उसके पश्चात् नामकी कल्पना हुई, ऐसा कहते हैं—**'चिच्चमत्कार०'** इत्यादिसे ।

संकल्परूपी सृष्टिसा मालूम पड़नेवाले इस एकमात्र चिच्चमत्कारमें पहले पदार्थोंकी सृष्टि होती है उसके पश्चात् सृष्टि आदि नाम पड़ते हैं ॥ ३० ॥

हे सौम्य, जैसे वायुमें स्थित स्पन्दसत्ताका वायुसे अतिरिक्त स्वरूप नहीं है उससे अभिन्न ही है वैसे ही चिदाकाशमें स्थित जो त्रिजगत्रूप शून्यता है उसका चिदाकाशसे पृथक स्वरूप नहीं है, वह चिदाकाशसे अभिन्न ही है ॥ ३१ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि चिद्घनताका ही भ्रान्त लोगोंकी दृष्टिमें जगत्के रूपमें स्फुरण होता है, ऐसा कहते हैं—**'व्योम्नि'** इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें घना अवकाश ही नीलरूपसे स्थित है वैसे ही चित्में चैतन्यकी घनता ही सर्गरूपसे स्थित है ॥ ३२ ॥

कब ब्रह्ममें सृष्टिका अभाव ज्ञात होता है ? ऐसा प्रश्न उठनेपर कहते हैं—**'आभाते'** इत्यादिसे ।

जब कठिनाईके साथ साधनोंके अभ्याससे देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत—त्रिविध परिच्छेदसे शून्य चिन्मात्रका स्वभावतः ज्ञान होता है तब जाकर इस सृष्टिमें विसर्गता (सृष्टिका अभाव) प्रतीत होता है जैसे कि रज्जुसर्पका यह सर्प नहीं है, रज्जु है, यों ज्ञान होनेपर फिर रज्जुका रूप ज्ञात होता है ॥ ३३ ॥

व्याध उवाच

परतः सुखदुःखार्थं देहः संपद्यते कथम् ।
किमस्य हेतुः के वाऽस्य हेतवः सहकारिणः ॥ ३५ ॥
कुर्वन्ति धर्माधर्माश्चेत्तेन प्रतिघरूपिणा ।
तदस्याऽप्रतिघं रूपं कुर्वन्तीत्यसमञ्जसम् ॥ ३६ ॥

मुनिरुवाच

धर्माधर्मौ वासना च कर्मात्मा जीव इत्यपि ।
पर्यायशब्दभारोऽत्र कल्प्यते न तु वास्तवः ॥ ३७ ॥

ऐहलौकिक सृष्टिके समान पारलौकिक सृष्टि भी ऐसी ही है, ऐसा कहते हैं— 'मृतः' इत्यादिसे ।

वह मरकर स्वप्नकी तरह सम्पूर्ण जगत्को पृथक् देखता है, उसके बाद होनेवाली पारलौकिक अन्य देहका वह सारा जगत् अमूर्त चिदाकाश ही है ॥ ३४ ॥

व्याधने कहा—हे मुनिवर, इस देहके छूट जानेके बाद अन्य देह कैसे उत्पन्न होती है ? उसका कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त और सहकारी कारण हैं ॥ ३५ ॥

जो लोग यह मानते हैं कि धर्माधर्म ही स्वभोगार्थ सब कुछ करते हैं, उनके मतमें कर्मनिर्मितकी ज्ञानसे निवृत्ति न होनेके कारण मोक्षाभावकी आपत्ति प्राप्त होगी, ऐसा कहता है—'कुर्वन्ति' इत्यादिसे ।

यदि धर्म और अधर्म देह आदिका निर्माण करते हैं। देहादिभावसे स्थित इसका नित्य मोक्षनामकरूप कर्म करते हैं यह कथन असमञ्जस है, क्योंकि जो कर्म-निर्मित होता है उसका पिण्ड अनित्यता नहीं छोड़ती, यह भाव है ॥ ३६ ॥

संस्कार रूपसे विहित और निषिद्धके आचरण धर्म और अधर्म कहलाते हैं; संस्कार-पुञ्ज ही मन है, चिदाभाससे व्याप्त मन ही जीव है और जीव प्राणादि चेष्टा प्रधान होनेसे कर्मात्मा है और वही अपनी वासनाके अनुसार देह आदिका संकल्प करता हुआ जीवात्मा सा बनता है, इसलिए ये चित्के प्रतिभास विशेष ही हैं, उनके नामकी भले ही यथेष्ट कल्पना की जाय, लेकिन फलतः उनमें भेद नहीं है, इस आशयसे दूसरे प्रश्नका उत्तर मुनि कहते हैं—'धर्माधर्मौ' इत्यादिसे ।

धर्माधर्म, वासना, कर्म, आत्मा, जीव यह सब पर्यायवाची शब्दोंकी राशिकी कल्पना है, किन्तु अर्थभेद इनमें तनिक भी नहीं है ॥ ३७ ॥

चित्त्वात्कल्पितचित्त्वेन स्वयं चिन्नभसात्मनि ।
कृतानि नामान्येतानि कश्चिदस्तीति चेतसा ॥ ३८ ॥
संविदात्मा स्वयं चित्त्वाद्देहं वेत्ति खमेव खे ।
मृत्वाऽसन्तं सन्तमिव संकल्पस्वप्नयोरिव ॥ ३९ ॥
स्वयं स्वप्न इवाऽऽभाति मृतस्य परलोकधीः ।
तमेव पश्यति चिरं न तत्राऽप्यस्ति सत्यता ॥ ४० ॥
मृतं निर्माति चेदन्यः कथं वाऽस्य स्मृतिर्भवेत् ।
कथं वा स्यात्स एवाऽसौ चेतनत्वं तमेव खम् ॥ ४१ ॥
मृतौ न जायते तस्माच्चेतसैव स केवलम् ।
इहाऽयमित्थमित्येव वेत्ति खे वासनात्मकम् ॥ ४२ ॥

चिदाकाशने कोई दृश्यदेहादिप्रपञ्च भी है यों चित्त द्वारा कल्पित चिदाभासरूपसे अपने चिदाकाश स्वरूपमें स्वयं ये धर्म, अधर्म आदि, इनके फल सुख, दुःख आदि नाम रखे हैं ॥ ३८ ॥

जीवात्मा जैसे स्वप्न और मनोरथमें पहलेसे अविद्यमान देहको विद्यमान-सा जानता है वैसे ही मरकर भी अविद्यमान आकाशरूप देहको चित् होनेसे स्वयं चिदाकाशमें विद्यमान-सा जानता है ॥ ३९ ॥

मरनेके बादका समय और देह आदिकी कल्पना स्वप्नके समान ही है, ऐसा कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

मरे हुएको परलोकबुद्धि स्वप्नके समान अपने-आप भासित होती है मरकर वह चिर कालतक परलोकको देखता है, किन्तु स्वप्नके समान उसमें सत्यता नहीं है ॥४०॥

पिता आदि अथवा ईश्वर मरे हुएका पुनः निर्माण करते हैं, इस युक्तिका खण्डन करते हैं—'मृतम्' इत्यादिसे।

यदि कोई दूसरा—पिता अथवा ईश्वर—मृतकी सृष्टि करता है, तो वही यह है ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (उसकी सृष्टिकर उसीमें प्रवेश कर गया) इस श्रुतिसे निर्माणकर्ताके ही प्रवेशका श्रवण है। यदि कहो कि इष्टापत्ति है, तो उसकी स्तनपान आदि प्रवृत्तिके अनुरूप स्मृति कैसे होगी ? पूर्वसिद्ध आत्माका ही अवलम्बन करके उत्पन्न हुएमें जो चेतनत्व प्रसिद्ध है वह भी शून्य ही है । इससे सिद्ध हुआ कि मृत्यु होनेके बाद फिर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु केवल चित्तसे

स्वमेव भावमभ्यस्तमास्ते सोऽनुभवंश्चिरम् ।
स्फुटप्रत्ययवांस्त्वत्र सत्यमित्येव वेत्त्यलम् ॥ ४३ ॥
खात्मा खमेव तत्रैव स्वप्नाभं दृश्यमाहरन् ।
पुनः स्वमरणं वेत्ति पुनर्जन्म पुनर्जगत् ॥ ४४ ॥
अलीकजालमेवं खे पश्यन्प्रत्येकमास्थितः ।
पश्यत्याचारयत्यत्ति किंचित्कश्चिन्न कस्यचित् ॥ ४५ ॥
इत्येवं जगतां सन्ति कोटीनां कोटिकोटयः ।
परिज्ञातास्तु ता ब्रह्म केवलं दृश्यमन्यथा ॥ ४६ ॥
ताभिर्न कस्यचित्किंचिदावृतं न च सन्ति ताः ।
तासां च वेत्ति प्रत्येकमिदमेव जगत्त्विति ॥ ४७ ॥

ही यहाँपर यह मैं इस प्रकार उत्पन्न हुआ हूँ यों जन्मादि विकारशून्य आत्मामें कल्पना द्वारा जानता है ॥ ४१,४२ ॥

उसी भावकी अभ्यासवश जब स्फुट प्रतीति होती है तब लोक और वेदमें उसीमें जन्मव्यवहार होता है, लेकिन वह वास्तविक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'स्वमेव'** इत्यादिसे ।

अभ्यस्त स्वभावका ही चिरकालतक अनुभव कर रहा जीव उसमें दृढ़ प्रतीति कर लेता है, अतएव उसे सर्वथा सत्य ही समझता है ॥ ४३ ॥

आकाशात्मा उसीमें आकाशरूप स्वप्नतुल्य दृश्यका अभ्यास करता हुआ फिर स्वमरणकी कल्पना करता है पुनः जन्मकी और पुनः जगत्की कल्पना करता है ॥४४॥

इस तरह चिदाकाशमें अलीक (असत्य) परम्पराको देख रहा जीव व्यष्टिभावको प्राप्त होकर अलीक जगज्जालको जाग्रत् और स्वप्नमें देखता है, अपनी सन्निधिमात्रसे स्वमें अध्यस्त कार्यकारणोंको विषयोंमें प्रवृत्त कराता है एवं सुषुप्ति, प्रलय और मोक्षमें जगत्का भक्षण करता है। लेकिन वास्तवमें न तो कुछ किसीका भक्षणीय है और न कोई भक्षक ही है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार कोटि कोटि जगत् हैं। यदि उनका रहस्य तत्त्व जान लिया जाय तो वे सब ब्रह्मरूप ही हैं अन्यथा (तत्त्व ज्ञात न हो तो) वे केवल एकमात्र दृश्य ही हैं ॥ ४६ ॥

उक्त कोटि-कोटि जगतों द्वारा किसीका कुछ भी आवृत नहीं हुआ। वास्तवमें वे हैं ही नहीं। उन जगतोंमें प्रत्येक जीव यही केवल एक जगत् है अन्य जगत् नहीं है, ऐसा जानता है ॥ ४७ ॥

भूतानि तासां प्रत्येकं तथैवाऽन्योन्यमास्थिते ।
सत्यान्येवाऽसत्यदृष्ट्या सत्यदृष्ट्या त्वजं पदम् ॥ ४८ ॥
सद्यद्विदितवेद्यस्य तदज्ञस्याऽसदक्षयम् ।
असद्यत्संप्रबुद्धस्य तत्सदज्ञस्य सुस्फुटम् ॥ ४९ ॥
चितेर्यद्यद्यथा भानं तत्तत्सत्यं यथा यतः ।
सद्रूपाणि समग्राणि भूतानीमान्यतो मिथः ॥ ५० ॥
नित्यमन्योन्यसत्यानि तानि तान्येव वाऽप्यतः ।
किल संविद्धिनिर्णेयं रूपमप्रतिघं यतः ॥ ५१ ॥

उक्त कोटि-कोटि जगतोंके पृथिवी आदि पञ्चभूत और जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकारके प्राणी तत्-तत् जीवोंके अभीष्ट जगत्में वैसे ही (उस जगत्के अनुरूप ही) हैं उसके अननुकूल नहीं हैं। वे सबके सब असत्य व्यवहार दृष्टिसे सत्य है, सत्य परामर्थ दृष्टिसे अजन्मा ब्रह्मरूप ही हैं ॥ ४८ ॥

इसलिए ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें सत्य और असत्य परम्पर विपरीत है यानी जिसको ज्ञानी सत्य समझता है उसे अज्ञानी असत्य और जिसे ज्ञानी असत्य समझता है उसे ज्ञानी सत्य, ऐसा कहते हैं—'असत्' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञाताकी दृष्टिसे जो (पर ब्रह्मरूप वस्तु) सत्य है वह अज्ञकी दृष्टिमें कभी निवृत्त न होनेवाला असत्य है और जो ज्ञानीकी दृष्टिमें असत् है वह अज्ञानीकी दृष्टिमें अतिस्पष्टरूपसे सत्य है। ॥ ४९ ॥

अथवा सत्य और असत्य दोनों ही परमार्थ सत्य चित्में भानरूप होनेसे सब कुछ सत्य ही है, अतः ज्ञानी और अज्ञानीमें परस्पर अविपरीतता (अवैमत्य) ही है, ऐसा कहते हैं—'चितेः' इत्यादिसे।

चूँकि परमार्थ सत्यचितिका जो जो भान जैसा जैसा होता है वह वह सब सत्य है, इसलिए ये सब भूत परस्पर सत्य ही हैं ॥ ५० ॥

अथवा जिसके प्रति जब जिस जगत्का भान होता है, उसके प्रति तब वह सत्य है, यह सत्यता की व्यवस्था है, ऐसा कहते हैं—'नित्यम्' इत्यादिसे।

जिस जिस जगत्का जिस जिस संवित्के प्रति भान होता है वह वह उस संवित्के प्रति नित्य सत्य है, क्योंकि जगद्रूप सत्य है अथवा असत्य है इस बातका अपनी सत्य संवित्से ही निर्णय करना चाहिये। वह भगवती संवित् 'सत्य है' ऐसा

संविन्मात्रविनिर्णेयं काऽन्यता नाऽन्यता कथा ।
यथासंवेदनं भाते वस्त्वौघे क्व द्वितैकते ॥ ५२ ॥
तदेवेदमिदं ज्ञप्तेस्तदेवेदं भवत्यलम् ।
तदेवैतत्तदेवेति भवेज्ज्ञप्तेरसत्यतः ॥ ५३ ॥
तच्चेदर्थस्ततो ज्ञप्तेर्नाऽयं तस्याः पृथक् स्थितः ।
स्थिते ज्ञप्त्यात्मनि त्वर्थे त्वज्ञप्त्याऽयं ततो व्रजेत् ॥ ५४ ॥
ज्ञानं यदेव तज्ज्ञेयं ज्ञेयस्याऽसंभवात् पृथक् ।
यथा ज्ञानमतो ज्ञेयं तनोत्यात्मानमात्मना ॥ ५५ ॥
पश्यन्तोऽपि मिलन्तोऽपि पृथक्सर्गा न किंचन ।
सत एवाऽसतो ज्ञस्य मूर्खज्ञातांस्तु वेद्मि नो ॥ ५६ ॥

निर्णय करती है, तो दूसरा कौन उसके निर्णयको बिपरीत सिद्ध कर सकता है, क्योंकि उसका निर्णय अमोघ है ॥ ५१ ॥

यदि यह सब सविद्-मात्रसे निर्णेय है तो जहाँ जैसा संवित्को भासता है, वैसा ही है । संवेदनानुसार प्रतीत हुई वस्तुराशिमें क्या भेद है क्या अभेद है, क्या द्वित्व और एकत्वकी ही कथा है ॥ ५२ ॥

यह ज्ञेय ज्ञानरूप ही है यों ज्ञान और ज्ञेयका अभेदज्ञान होनेसे यह दृश्य-समूह ज्ञान ही हो जाता है, इसीसे सकल द्वैतकी निवृत्ति होनेके कारण चिद्-अद्वैत सिद्ध हुआ, यह भाव है ॥

शङ्का—ज्ञानके अपलाप द्वारा ज्ञान ही ज्ञेय रूप हो यों ज्ञेयमात्रका ही परिशेष क्यों नहीं मानते हो ?

समाधान—हाँ ठीक है, ज्ञान ही ज्ञेय है यों दृश्यका परिशेष तभी सम्भव है जब कि ज्ञप्ति (ज्ञान) असत्य हो। और यदि ज्ञानको असत्य मानो तो ज्ञप्तिरहित ज्ञेयकी सिद्धि ही नहीं होगी, यह भाव है ॥ ५३ ॥

इसलिए परिशेष रहनेसे यदि ज्ञान ही ज्ञेय है तो यह प्रपञ्च ज्ञानसे अतिरिक्त स्थित नहीं है। इस प्रकार सकल वस्तुओंके ज्ञानरूप सिद्ध होनेपर यह द्रष्टा आत्माके अज्ञानसे ही अपने ज्ञप्तिस्वभावसे च्युत होता है, वस्तुतः नहीं ॥ ५४ ॥

इसलिए जो ज्ञान है वही ज्ञेय है, क्योंकि ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञेयका संभव नहीं है, अतः ज्ञान ज्ञेय जगदात्मताका अपनेसे ही विस्तार करता है ॥ ५५ ॥

जिनकी पृथक् सत्ता नहीं है ज्ञानरूपसे ही जो सत्तावाले हैं ऐसे सर्गोंको देख

एकं प्रबोधतः सर्वं चिन्मात्रं तावदात्मखम् ।
तदेवाऽनेकसंवित्त्या सहस्रं चिज्जडात्मनाम् ॥ ५७ ॥
एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति ।
पुनर्लक्षात्म तत्स्वप्नादेकमास्ते सुषुप्तके ॥ ५८ ॥
चिद्व्योम्नि स्वप्नसंवित्तिर्या सैव जगदुच्यते ।
सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्मान्न्यायोऽयमेव सन् ॥ ५९ ॥
एकैव संविन्नानात्वं नृलक्षत्वं च गच्छति ।
शून्यत्वं च तथाऽर्थत्वं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ६० ॥
इदमप्रतिघं सर्वं किल वेदनमात्रकम् ।
शुद्धं तद्यथा यत्र भाति तत्र तथा भवेत् ॥ ६१ ॥
एकैव संवित्सर्गादौ भवत्यग्न्यम्बुखादिकम् ।
पृथ्व्यादि तावत्सर्गार्थं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ६२ ॥

रहे तत्त्वज्ञानीके रूपादिका ग्रहण कर रहीं चक्षु आदि सृष्टियाँ और उनसे मिल रही रूपादि सृष्टियाँ भी ज्ञानसे अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, यही तत्त्व है, किन्तु मूर्खजनोंको ज्ञात जो सृष्टियाँ हैं, उनके विषयमें मैं कुछ नहीं जानता, क्योंकि उनका दृष्टिकोण ही दूसरा है ॥ ५६ ॥

तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें ज्ञानवश घट, पट आदि सकल पदार्थ एक चिन्मात्र चिदाकाश ही हैं, उससे अतिरिक्त उनका कुछ अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु अज्ञ जीवोंकी दृष्टिमें द्वैतज्ञानवश चिन्मात्र चिदाकाश ही सहस्रों रूप धारण करता है ॥ ५७ ॥

देखिये न, एक चिन्मात्र ही स्वप्नमें लाखों लाखों रूप बनकर रहता है स्वप्नसे सुषुप्तिमें जाकर वह लाखोंरूपवाला एक चिन्मात्र हो जाता है ॥ ५८ ॥

चिदाकाशमें जो स्वप्न संवित् है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाशके विषयमें जो सुषुप्ति है वही प्रलय है, इसलिए यही न्याय उत्तम है ॥ ५९ ॥

एक ही संवित् भोग्यरूपसे विविधता तथा भोक्ताके रूपसे लाखों मनुष्योंके रूपमें वैसे ही प्रकट होती है जैसे कि स्वप्न और संकल्पमें एक ही संवित् पदार्थके रूपमें और शून्यताके रूपमें व्यक्त होती है ॥ ६० ॥

वैसे ही अमूर्त होनेके कारण प्रतिघातानर्ह यह सब एकमात्र शुद्ध ज्ञान ही है, जहाँपर जैसा भान हो जाता है वहाँपर वैसा होता है ॥ ६१ ॥

एक ही संवित् सृष्टिके आदिमें अग्नि, जल, आकाश आदि होती है, सृष्टिकी सिद्धिके लिए वही स्वप्न और संकल्पकी तरह पृथिवी आदि होती है ॥ ६२ ॥

संविदाकाशरूपैव भाति पृथ्व्यादिनामिका ।
यत्तदेव खमेवेदं जगदित्येव भासते ॥ ६३ ॥
संवित्सप्रतिघं भाति भाति चाऽप्रतिघं तथा ।
न वस्तुतस्तु प्रतिघो संवित्साऽन्ते निवर्तते ॥ ६४ ॥
यासि पूर्वां पश्चिमां च दिशं वेत्सि चिरं विदन् ।
प्रतिघं नाम ते नाऽस्ति न च सप्रतिघा क्वचित् ॥ ६५ ॥
दृष्टं संकल्पितं चाऽर्थं सहाभ्यस्यति यश्चिरम् ।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ ६६ ॥
यासि पूर्वां पश्चिमां च दिशं वेति चिरं विदन् ।
य आस्ते यात्यसौ तत्तामन्यस्त्यक्त्वा तु नेतराम् ॥ ६७ ॥

चूँकि संवित्, जो आकाशरूप ही है, पृथिवी आदि नामवाली प्रतीत होती है, इसलिए यह संविद्रूप आकाश ही 'जगत्' रूपसे भासता है ॥ ६३ ॥

संवित् विनाशी मूर्त पदार्थकी तरह भासती है और अविनाशी अमूर्तकी तरह भी वही भासती है । वस्तुतः तो नाश भी नहीं है, क्योंकि वह प्रतिघा (नाश) भी अन्तमें निवृत्त हो जाती है, केवल संवित्का ही परिशेष रहता है ॥ ६४ ॥

संवित्की अविनाशिताका ही समर्थन करते हैं—'**यासि**' इत्यादिसे ।

हे व्याध, तुम मनसे पूर्व दिशा और पश्चिम दिशाको चिरकाल तक जाते हो, वहाँपर दृष्ट, श्रुत और अनुमित पदार्थोंका लाभ करते हुए अपनेको जानते हो, वहाँ संवित्रूप तुम्हारा नाश है ही नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि संवित् कहींपर भी विनाशिनी नहीं ही है ॥ ६५ ॥

यदि शङ्का उठे कि बहुतसे जीवचित्के संकल्प मोघ (निष्फल) देखे जाते हैं, वही संवित्का विनाश ठहरा । इससे संवितकी विनाशिता हो गई, तो इसपर कहते हैं—'**दृष्टम्**' इत्यादिसे ।

दृष्ट (प्रमाणसे सिद्ध) और संकल्पित वस्तुका जो पुरुष निरन्तर चिरकालतक अभ्यास करता है वह उसे अवश्य प्राप्त करता है यदि थककर मध्यमें ही उससे विरत न हो जाय । इससे सिद्ध हुआ कि संकल्पकी मोघता निर्बलतावश ही है । कमजोर संकल्प कार्यक्षम नहीं होता इससे चित्में विनाशित्व नहीं है, चित्में विनाशिता माननेसे सर्वत्र विनाशिताका प्रसङ्ग प्राप्त होगा ॥ ६६ ॥

अदृढ़ (निर्बल) संकल्प अदृढ़ ही मनोरथमय दिगन्त गमन और वहाँके

दृष्टः संकल्पितश्चाऽर्थः स्यामित्यचलसंविदः ।
द्वयं भवेद् द्वयं नश्यत्यन्यस्याऽचलसंविदः ॥ ६८ ॥
दक्षिणादुत्तरां वाऽऽशां यामीत्यचलसंविदः ।
द्वयं भवेद् द्वयं नश्यत्यन्यस्याऽचलसंविदः ॥ ६९ ॥
खे पुरं स्यां भुवि मृगः स्यामित्यचलसंविदः ।
द्वयं भवेद् द्वयं नश्यत्यन्यदन्यत्तु तज्जगत् ॥ ७० ॥

पदार्थोंका दर्शन आदि करता है और दृढ़ संकल्प दृढ़ मनोरथमय दिगन्तगमन और वहाँके पदार्थोंका दर्शन करता है, इससे अदृढ़ संकल्प भी मोघ नहीं है, ऐसा कहते हैं—'यासि' इत्यादिसे।

तुम मनसे पूर्व और पश्चिम दिशाको जाते हो वहाँपर वहाँके तरह तरहके पदार्थोंका चिरकालतक अनुभव करता हुआ जो संकल्पकर्ता है वह संकल्पित दिशामें गमन तथा वहाँके पदार्थोंके अभेदको अपने संकल्पके अनुसार प्राप्त होता है, अन्य पुरुष तो संकल्पका त्यागकर अन्य दिशाको मनसे भी नहीं जाता। इसी अन्तरसे वहाँपर चित् अविनाशी है ॥ ६७ ॥

संकल्पित अमुक पदार्थ मैं होऊँ इस प्रकार संकल्पसे अविचल निश्चयवाले पुरुषका संकल्पित अभीष्ट पदार्थ पहले प्रातिभासिक फिर संकल्पकी दृढ़ता होनेपर व्यावहारिक दोनों ही होता है यह बात ऐन्दवोपाख्यानमें देखी गई है। दूसरे पुरुषका जो कि संकल्प नहीं करता है भले ही वह स्वात्मामें अथवा अन्य विषयमें अडिग निश्चयवाला हो, उसके दोनों ही प्रातिभासिक और व्यावहारिक नष्ट हो जाते हैं यानी नहीं दिखाई देते ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार मैं दक्षिण देशसे उत्तर दिशाको जाऊँ यों अडिग निश्चयवाले संकल्पयिता पुरुषके मानसिक और शारीरिक दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं, लेकिन अन्यके असंकल्पयिताके भले ही वह अडिग निश्चयवाला हो दोनोंका—पूर्व पश्चिम दिग्गमनका—नाश हो जाता है ॥ ६९ ॥

मैं आकाशमें नगर बनूँ और भूमिमें मृग होऊँ इस तरहके अविचल निश्चयवालेके दोनों संकल्प सिद्ध हो जाते हैं और इसके अतिरिक्त दोनोंका नाश हो जाता है, क्योंकि उन दोनोंका जगत् भिन्न भिन्न है ॥ ७० ॥

एकं प्रबोधतः सर्वं चिन्मात्रं तावदात्मखम् ।
तदेवाऽनेकसंवित्त्या सहस्रं चिज्जडात्मनाम् ॥ ७१ ॥
शरीरमस्त्वप्रतिघमथ सप्रतिघं च वा ।
स्वप्नात्मकोऽयं संसारो जीवस्येह परत्र च ॥ ७२ ॥
एतन्म्लेच्छादिदेशेषु मृतानां दर्शनात्पुनः ।
स्मृतिपूर्वं च कथनात्प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ७३ ॥
ये मृता भस्मसाज्जाता म्लेच्छदेशेषु ते पुनः ।
आगत्य कथयित्वाऽर्थं गच्छन्त्यप्रतिघात्मकाः ॥ ७४ ॥

प्रबोधवश सब कुछ एक अखण्ड चिन्मात्र आत्माकाश ही है अज्ञानवश अनेक (द्वैत) ज्ञानसे एकमात्र अखण्ड चैतन्य अज्ञानी जीवोंकी दृष्टिमें अनन्त हो जाता है ॥ ७१ ॥

यदि चित् ही शरीर आदिके आकारसे विद्यमान है तो शरीरके विनाशी या साकार होनेसे चित्में भी विनाशित्व अथवा साकारताकी प्राप्ति हुई, ऐसी शङ्का उठनेपर कहते हैं—'**शरीरम्**' इत्यादिसे ।

शरीर चाहे विनाशी या साकार हो चाहे अविनाशी या निराकार हो यह स्वप्नात्मक संसार इस लोकमें और परलोकमें जीवका ही है चित्का नहीं है भाव यह है कि चिद्रूपसे शरीर अविनाशी ही हो अथवा अन्यरूपसे विनाशी हो इससे चित्में कोई भी आँच नहीं आ सकती, कारण कि मिथ्या पदार्थके गुण-दोषोंसे अधिष्ठानमें कुछ भी दूषण नहीं आ सकता ॥ ७२ ॥

यदि किसीको यह शङ्का उठे कि शरीरका नाश होनेपर उसके साथ जीव नष्ट नहीं हुआ यह कैसे मालूम होता है, इसपर प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाणसे यह ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं—'**एतत्**' इत्यादिसे ।

म्लेच्छ आदि देशोंमें मरे हुए जो लोग पिशाचकी देहसे यहाँ आये उनका यह सब भूतविद्याके विशेषज्ञ प्रत्यक्ष देखते हैं वे भी अपने पूर्वजन्मकी घर-गृहस्थी, व्यापार आदिका स्मरण कर स्वयं कहते हैं इससे भी यह सब विषय प्रत्यक्ष अनुभूत होता है ॥ ७३ ॥

जो म्लेच्छ देशोंमें मरे और जलकर राख हो गये यहाँ आकर अपना वृत्तान्त कहकर फिर चले जाते हैं, वे अविनाशी ही हैं इसमें कहना ही क्या है ॥ ७४ ॥

एष चेज्जीवतो धर्मस्तद्देशान्तरगे जने ।
मृत इत्येव बुद्धेऽर्थे कस्मान्नैव प्रवर्तते ॥ ७५ ॥
जीवधर्मः सोऽपि संश्चेन्मृतधर्मोऽपि किं न सन् ।
यादृगनुभवस्त्वस्मिन्समे न्यायद्वये स्थिते ॥ ७६ ॥
स्वप्नवज्जगदाभानमित्येवं सत्यखण्डितम् ।
आर्यानुभवशास्त्राणामनेनाऽस्त्येकवाक्यता ॥ ७७ ॥
दृष्टिजालं जनौघानां पश्यतामिन्दुमन्दिरे ।
यादृगप्रतिघं तादृग्जगत्सदसदात्मकम् ॥ ७८ ॥

पिशाचको देखना उसके साथ बातचीत करना यह सब जीवित भूतवैद्यका ही धर्म है आगमन या संभाषण मरे हुएका धर्म नहीं है इस तरहकी चार्वाक-कल्पनाका खण्डन करते हैं—'एषः' इत्यादिसे ।

पिशाचदर्शन, उसके साथ संभाषण आदि यदि जीवित भूतवैद्यका धर्म है तो जो वस्तुतः मरा नहीं पर जिसके मरनेका असत्य समाचार प्राप्त हो गया उसके विषयमें इस प्रकारका दर्शन, संभाषण आदि व्यवहार क्यों नहीं होता ॥ ७५ ॥

जीवधर्म वह भ्रम यदि सत्य है तो मृतधर्म वह संभाषण आदि भ्रम क्यों सत्य नहीं है? पदार्थकी सिद्धिमें अनुभवको ही श्रेष्ठ प्रमाण माननेवालोंका जीवितमें जैसा अनुभव है मृतमें भी वह समान ही है। इस प्रकार दोनों न्यायोंके समान होनेपर दोनोंमें कौनसा अन्तर है ? ॥ ७६ ॥

इस तरह अनुभवको यदि पदार्थसिद्धिमें प्रमाण मानो तो जाग्रत् और स्वप्नके अनुभव जबतक बाध न हो समानरूपसे अर्थसाधक हैं प्रबोध द्वारा केवल अनुभव ही अवशिष्ट रहता है इस प्रकार स्वप्नके समान जाग्रद्-भान है ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की गई है वह अक्षुण्ण है। इससे विद्वानोंके अनुभवोंकी और "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (विकार वाचारम्भण नाम-मात्र है मृत्तिका ही सत्य है) इत्यादि शास्त्रोंकी एकवाक्यता है, परस्पर संवादसे ऐकमत्य है ॥ ७७ ॥

जैसे चन्द्रमण्डलको देख रहे बहुतसे लोगोंकी दृष्टियाँ आपसमें एक दूसरेके दर्शनमें बाधा नहीं डालतीं यानी परस्पर प्रतिघातशून्य हैं वैसे ही किसीकी दृष्टिमें सत् और किसीकी दृष्टिमें असत्—इस प्रकारका यह जगत् भी वैसे ही परस्पर प्रतिघातशून्य है ॥७८॥

सन्मात्रमात्रानुविधमच्छानुभवमात्रकम् ।
चिन्मात्रं भानमात्रात्म सर्वार्थात्मार्थवर्जितम् ॥ ७९ ॥
सर्वमप्रतिघं शान्तं जगदेकं चिदम्बरे ।
अनिङ्गनमनाभासमात्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽस्यताम् ॥ ८० ॥
अचला संविदेवाऽऽस्ते स्थिरं कृत्वा यथा यथा ।
तथा तथा भवत्याशु किमसत्किं च वाऽपि सत् ॥ ८१ ॥
शरीराण्यथ कर्माणि दुःखानि च सुखानि च ।
यथास्थितान्युपयान्तु यान्तु वा कस्य किं ग्रहः ॥ ८२ ॥
इत्थमस्तु सदथाऽन्यथाऽस्तु वा
मैव भूद्भवतु कोऽत्र संभ्रमः ।
मुञ्च फल्गुनि फले फलावहं
बुद्धवानसि कृतं परिभ्रमैः ॥ ८३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० अ० वि० निर्वाणबोधोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्ग ॥ १४३ ॥

चिदाकाशमें सन्मात्रके ही अंशोंका अनुगमन करनेवाला निर्मल अनुभवमात्ररूप एकमात्र भानस्वरूप अर्थरहित होनेपर भी सर्वार्थरूप सकल जगत् अविनाशी शान्त अद्वितीय चिन्मात्ररूप ही है। निष्क्रिय निर्विकार वह आत्मामें अपने रूपसे ही स्थित है ॥ ७६,८० ॥

अचल संवित् ही जैसे जैसे मनको स्थिर करके रहती है वैसे वैसे ही शीघ्र हो जाती है क्या असत् है अथवा क्या सत् है। विविध शरीर, कर्म, दुःख और सुख जो कि यथास्थित हैं आवें जावें किसका कौन विषय है और किसका कौन ग्रहण है ॥ ८१, ८२॥

इस प्रकार यह सत् हो अथवा अन्यथा हो चाहे नहीं हुआ हो चाहे हो इस विषयमें कौनसा आदर है। तुच्छ फलमें अवश्य फल देनेवाले यत्नका त्याग करो। तुम्हें बोध हो चुका है अब भटकनेसे क्या लाभ है ? ॥ ८३ ॥

एक सौ तैंतालीस सर्ग समाप्त

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

सर्वथा भावाभावेषु स्वप्नसंवेदनात्मसु ।
नित्याप्रतिघरूपेषु किं बद्धं किं विमुच्यते ॥ १ ॥
खे दृष्टिभासां स्फुरणं यादृशं तादृशं जगत् ।
विपर्यस्यत्यविरतमबोधाल्लक्ष्यते स्थिरम् ॥ २ ॥
यद्यथा पुरसंस्थानं चिरैरेति तदन्यताम् ।
जगदप्येवमनिशं वार्यावर्तविवर्तवत् ॥ ३ ॥
भूम्यम्ब्वम्बरशैलादि भवत्यसदिदं क्षणात् ।
तस्मिन्नेव क्षणोदन्तैर्युगकल्पाभिधाः कृताः ॥ ४ ॥

एक सौ चौवालीस सर्ग

[जैसे चित्का ही जगत् रूपसे भान होता है और जैसे जगत् ही चित् है, इस विषयमें युक्तियाँ तथा ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, इसका समर्थन]

सम्पूर्ण दृश्य जब चिन्मात्र ही है तब बन्धमोक्ष-चिन्तासे भी पिण्ड छूटा, ऐसा कहते हैं —'**सर्वथा**' इत्यादिसे ।

स्वप्नानुभवरूप सकल भाव और अभाव पदार्थोंके सर्वथा नित्य अविनाशी चिद्रूप होनेपर कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है ॥ १ ॥

जैसे आकाशमें दृष्टियोंकी किरणोंका ही उड़ते हुए हँसों, मोतियों और केशोंके गोलोंके रूपमें स्फुरण होता है वैसे ही यह जगत् निरन्तर प्रतिक्षणके परिणामसे बदलता जाता है, अधिष्ठान-विवेकके अज्ञानसे स्थिर मालूम पड़ता है ॥ २ ॥

जैसे अति प्रसिद्ध नगरकी बनावट चिरकालमें दूसरी बनावटको (दूसरी रूपरेखाको) प्राप्त होती है वैसे ही जगत् भी जलके आवर्तविवर्तके समान अन्य-रूपताको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

जिसी समय भूमि, जल, आकाश, शैल आदि यह जगत् क्षणभरमें असत् होता है उसीमें क्षण, लव, त्रुटि आदि अवयवोंके वृत्तान्तोंसे विद्वानोंने युग, कल्प आदि संज्ञाएँ की हैं ॥ ४ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् असत् होता हुआ भी स्वप्नके समान अनुभवमें आता है ।

जगत्स्वप्न इवाऽशेषमसदप्यनुभूयते ।
यन्नाऽस्ति चेत्तन्निःशेषं चिदेवेत्थं कचत्यलम् ॥ ५ ॥
यथेदं नो जगत्तद्वच्छतानां खे शतानि हि ।
नृणां पश्यन्तु तेषां तु नाऽन्योन्यमनुभूतयः ॥ ६ ॥
सरोब्धिकूपभेकानां दृष्टाः प्रत्येकमास्पदे ।
न तेऽन्योन्यं विदन्त्यन्यां दृश्यादिनियतिं क्वचित् ॥ ७ ॥
यथा जनशतस्वप्ननगराण्येकमन्दिरे ।
तथा जगन्ति खे भान्ति खानि नो सन्त्यसन्ति नो ॥ ८ ॥
कचन्ति नृशतस्वाप्नपुराण्येकगृहे यथा ।
न च नाम कचन्त्येवं सन्त्यसन्ति जगन्ति खे ॥ ९ ॥
चिच्चमत्कारमात्रं स्वं स्वात्माङ्गं दृश्यमद्वयम् ।
सरूपमेव नीरूपं सकारणमकारणम् ॥ १० ॥

यदि जगत् नहीं है ऐसा जगत्का अपलाप कीजिये तो सम्पूर्ण चित् ही इस तरह विकासको प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

हम लोगोंका प्रसिद्ध यह जगत् जैसा है वैसे ही आकाशमें हजारों लाखों जगत् अन्य मनुष्योंके हैं ऐसी आप संभावना कीजिये, किन्तु उनको परस्परका अनुभव नहीं होता ॥६॥

तालाबमें रहनेवाले, सागरमें रहनेवाले और कुएँमें रहनेवाले मेढकोंका अपने अपने निवासभूत तालाब आदिमें अन्योन्यका अनुभव देखा गया है वे अपने आश्रयसे अन्य दृश्यादि नियतिका आपसमें कहीं भी अनुभव नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

जैसे एक घरमें सैकड़ों लोगोंके सैकड़ों स्वप्न नगरोंका भान होता है और नहीं भी होता वैसे ही आकाशमें जगतोंका भान होता है और नहीं भी होता। किन्हींके (अज्ञानियोंके) अनुभवमें आनेसे वे हैं और किन्हींके (ज्ञानियोंके) अनुभवमें न आनेसे नहीं हैं ॥ ८ ॥

जैसे सैकड़ों लोगोंके स्वप्न-नगर एक घरमें विकसित होते हैं और नहीं भी होते इसी प्रकार आकाशमें जगत् हैं भी और नहीं भी हैं ॥ ९ ॥

चित्का चमत्काररूप दृश्य स्वात्माके निज अङ्गोंकी तरह अभिन्न है (अद्वितीय है) एककी दृष्टिमें साकार भी वह दूसरेकी दृष्टिमें निराकार है। एककी ही दृष्टिमें एक समय साकार भी वह अन्य कालमें निराकार है। तात्त्विक दृष्टिसे वह सदा ही निराकार है। इसी प्रकार एककी दृष्टिमें सकारण (कारणसहित) भी यह अन्यकी दृष्टिमें

दधत्याश्चित्स्वभावायाः संस्काराद्यभिधाः कृताः ।
प्रतिमायाः प्रभाविन्या न संस्कारादयः पृथक् ॥ ११ ॥
अपूर्वत्वात्स्मृतिः स्वप्नः संकल्पार्थानुभूतिषु ।
स्वमृत्यनुभवाद्यास्तु दृष्टार्थसदृशीषु च ॥ १२ ॥
इदं सर्गात्म सर्गादौ प्रतिमेव विजृम्भते ।
चिद्भामात्रात्मिका स्वच्छा नाऽन्यन्नामोपपद्यते ॥ १३ ॥
ब्रह्मैव भाति जगदित्युक्तमुक्त्याऽनया भवेत् ।
न च भातं नवं तच्च ब्रह्मैवेदमतः स्थितम् ॥ १४ ॥

अकारण ही है । एककी ही दृष्टिमें एक कालमें सकारण भी अन्य कालमें अकारण है। वास्तवमें यह अकारण ही है ॥ १० ॥

जीवोंके ये जगत्संस्कार क्या देहमें हैं या चित्में हैं ? यदि चित्में हैं तो वे सबके लिए दृश्य होंगे । यदि देहमें हैं तो देहका नाश होनेपर उनका भी विनाश हो जायगा, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'दधत्या०' इत्यादिसे ।

ये जगत्संस्कार न तो केवल चित्के हैं और न देहके ही हैं, किन्तु तत्-तत् विभिन्न दृश्याकारके परिणामको धारण कर रही तथा चिदाभासकी व्याप्तिसे चित्स्वभाववाली बुद्धिके ही संस्कार आदि नाम किये गये हैं। बुद्धिके ही प्रभावसे प्रभावशाली देहप्रतिमासे संस्कार आदि अलग नहीं हैं ॥ ११ ॥

यदि जगत्के संस्कारोंको धारण करनेवाली बुद्धिका ही परिणाम जगत् है तो संकल्प-पदार्थानुभव स्मृति ही होंगे, इसपर कहते हैं—'अपूर्वत्वात्' इत्यादिसे ।

संकल्पपदार्थानुभव यद्यपि पूर्व दृष्ट पदार्थोंके तुल्य हैं तथापि उनकी स्मृति ही अपूर्व होनेसे यानी पूर्वानुभूत तत्तांशके त्यागसे स्वप्न होती है मगर अपनी मृत्युके अनुभव आदि इस जन्ममें अननुभूत होते हुए भी अन्य जन्मोंमें अनुभूत ही हैं, इसलिए वे उनके संस्कारसे युक्त बुद्धिमें अध्यस्त होते हैं, यह उनमें विशेषता है ॥ १२ ॥

यह जाग्रत्सृष्टिरूप जगत् भी सृष्टिके आरंभमें चिदाभासरूप स्वच्छ स्वप्नप्रतिभाके समान विकासको प्राप्त होता है, यह जगत् उससे अतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

'सर्वथा भावाभावेषु' इत्यादि विविध प्रकारसे कही गईं उक्तियोंके सिद्धान्तभूत निष्कर्षको इकट्ठा कर कहते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे ।

इन उक्तियोंसे ब्रह्म ही जगत्के रूपसे भासित होता है, यह उक्त होता है ।

कारणं कार्यमित्युक्तः स पूर्वः स विशिष्यते ।
संस्कार इति तेनैष संस्कारः कृतिरुच्यते ॥ १५ ॥
तत्स्वप्नादावपूर्वोऽर्थो दृष्टान्त इति भाति यः ।
स संस्कारादिनामोक्तो न बाह्योऽर्थोऽस्ति चेतसि ॥ १६ ॥
वस्तु दृष्टं न दृष्टं च सच्चाऽऽस्ते चेतनेव खे ।
स्वभावाद्भाति खात्माऽपि दृष्टवच्चाऽतिजृम्भते ॥ १७ ॥
वेदान्तार्थात्मकं पूर्वसर्गाभावं प्रवर्तते ।
ततो वेद्यव्यवस्था ज्ञैः क्रियते स्वार्थसिद्धये ॥ १८ ॥

वह नवीन भासित यानी पहले नहीं भासित हुआ किन्तु अनादिभारूप यानी उससे अभिन्न यह जगत् अनादि ब्रह्म ही है, यह तात्पर्य निष्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

वह परमात्मा ही कारण और कार्य भी कहा गया है, क्योंकि वही पूर्ववर्ती सामान्यरूप कारण है और वही विशेषरूप कार्य है। कार्यसंस्काराधार यह आत्मा ही 'कारणं सम्यक् करोतीति कार्यम्' इस व्युत्पत्तिसे संस्कार कहा गया है 'सम्यक करणं संस्कारः' व्युत्पत्तिसे कृतिरूप संस्कार भी आत्मा ही कहा जाता है ॥ १५ ॥

स्वप्न आदिमें जाग्रत्पदार्थोंसे विलक्षण और जाग्रत्पदार्थोंका दृष्टान्तभूत जो पदार्थ प्रतीत होता है, वही सूक्ष्म होनेसे संस्कार, वासना, राग, द्वेष, इच्छा आदि नामसे कहा गया है। उससे अन्य कोई बाह्य पदार्थ चित्तमें संस्कार नामक स्थित नहीं है ॥ १६ ॥

वह संस्कार नामकी वस्तु स्वप्नमें दृष्टिगोचर होती है, जाग्रत्में नहीं होती। अदर्शनमात्रसे जाग्रत्में वह नहीं है, ऐसा समझना भूल है, क्योंकि चित्ताकाशमें जैसे चेतना सदा रहती है, वैसे ही वह भी (संस्कार नामकी वस्तु भी) सदा रहती है। वह शून्य स्वरूप होती हुई भी साक्षिस्वभाववश स्वप्नमें प्रतीत होती है, जौर जाग्रत्में दृष्ट पदार्थोंकी तरह अत्यन्त विस्तारको प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

वही शम, दम आदि साधन सम्पत्ति सम्पन्न श्रवण, मनन आदि द्वारा निश्चित अद्वितीय प्रत्यग्ब्रह्मरूप वेदान्तवाक्योंका अर्थ होकर पहलेसे प्रसिद्ध द्वैत-सृष्टिका बाधक हो अपने यथास्थित (यथार्थ) स्वभावमें प्रवृत्त होता है। उसके इस तरहके स्वभावका निर्णयकर पण्डितजन परम पुरुषार्थकी शिष्योंमें भी सिद्धि हो इस अभिप्रायसे पहले अज्ञात आत्मा ही जगत्का आधार स्तम्भरूप सार है भलीभाँति

स्वप्ने तु जाग्रत्संस्कारो यस्तज्जाग्रत्कृतं नवम् ।
अजाग्रज्जाग्रदाऽऽभासं कृतमित्येव तद्विदः ॥ १९ ॥
ततो वायाविवास्पन्दाश्चित्ते भावाः स्थिताः स्वतः ।
ते स्वतः संप्रवर्तन्ते काऽत्र संस्कारकर्तृता ॥ २० ॥
एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति ।
पुनर्लक्षाद्यतः स्वप्न एकमास्ते सुषुप्तकम् ॥ २१ ॥
चिद्व्योम्नि स्वप्नसंवित्तिर्या सैव जगदुच्यते ।
सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्मान्न्यायोऽयमेव सन् ॥ २२ ॥
एकमेव चिदाकाशं साकारत्वमनेककम् ।
स्वरूपमजहद्धत्ते यत्स्वप्न इव तज्जगत् ॥ २३ ॥

विचार कर ज्ञात हुआ अद्वितीय ब्रह्म ही मोक्ष है, ऐसी व्यवस्था शास्त्रोंमें करते हैं ॥१८॥

अब अन्य द्वारा निर्धारित स्वप्नदर्शनके प्रकारका अनुवाद कर खण्डन करते हैं—**'स्वप्ने तु'** इत्यादिसे।

स्वप्नमें जो जाग्रत्का संस्कार है, वह जाग्रत्द्वारा किया हुआ अपूर्वरूप है। उस अजाग्रद्रूप जाग्रदाभासको जाग्रत्-अनुभवने बनाया ऐसा कोई स्वप्नस्वरूपवेत्ता कहते हैं ॥ १६ ॥

उनका उक्त कथन ठीक नहीं है, कारण कि जैसे वायुमें चारों ओर स्पन्द स्वतः स्थित है वैसे ही चित्तमें स्वप्नरूप पदार्थ स्वतः ही स्थित है। वे स्वतः स्वप्नके आकारमें ढलते हैं, अतः उनमें जाग्रत्संस्कारकर्तृत्व कैसा ? ॥ २० ॥

चित्तमें सब पदार्थ स्थित हैं, यह कैसे ज्ञात होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं— **'एकम्'** इत्यादिसे।

देखिये न, स्वप्नमें एक ही चिन्मात्र लाखों रूपोंमें स्थित होता है, स्वप्नमें स्थित लाखोंरूपोंसे सुषुप्तिमें जाकर एक ही हो जाता है, इससे चित्तमें सब पदार्थ स्थित हैं यह स्पष्ट है ॥ २१ ॥

चिदाकाशमें जो स्वप्न प्रतीति है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाशमें जो सुषुप्ति है वही प्रलय कहलाता है, इसलिए यही न्याय समुचित है ॥ २२ ॥

एक ही चिदाकाश अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपका त्याग किये बिना ही जो स्वप्नकी तरह साकारता और अनेकता धारण करता है, वह जगत् है ॥ २३ ॥

एवं चित्परमाण्वन्तर्जगद्भावमिदं स्थितम् ।
तदनन्यात्म चाऽऽभोगि स्वप्नादर्शतलेष्विव ॥ २४ ॥
चिद्व्योम संविन्मात्रं यत्परमाणुवदाततम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं तदेव जगदुच्यते ॥ २५ ॥
तस्माद्यत्र चिदाकाशमनन्तं सततं स्थितम् ।
तत्राऽस्तीति जगद्भानं तदङ्गानन्यरूपि यत् ॥ २६ ॥
चिन्मात्र एव भुवनं त्वमहं चिन्मयं जगत् ।
इति न्यायाज्जगद्याति परमाणूदरेऽप्यजम् ॥ २७ ॥
तस्मादहं पराण्वात्मा समस्तजगदाकृतिः ।
सर्वत्रैव च तिष्ठामि परमाणूदरेऽपि च ॥ २८ ॥
चिन्मात्रपरमाणुः सञ्जगदात्माऽप्ययं नभः ।
यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र पश्यामि भुवनत्रयम् ॥ २९ ॥

इस उपपत्तिसे जैसे स्वप्न अथवा जैसे दर्पणमें देखे गये मुख, वन, पर्वतादि अनन्य हैं वैसे ही चित्परमाणुके अन्दर स्थित विस्तारयुक्त यह जगत् चित्से अभिन्न ही है ॥ २४ ॥

परमाणुके समान अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तारयुक्त, आदि मध्य और अन्त रहित संविन्मात्र जो चिदाकाश है वही जगत् कहलाता है ॥ २५ ॥

इसलिए जहाँपर असीम अविनाशी चिदाकाश निरन्तर स्थित है वहाँपर वह जगद्भान, जो कि उसके अवयवकी तरह उससे अभिन्न है, स्थित है, यह सिद्ध हुआ ॥२६॥

चिन्मात्रमें ही भुवन स्थित है, 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिन्मय ही है, इस तरह गुरु, शास्त्र आदि द्वारा उक्त युक्तिसमूहसे जन्य ज्ञानसे कभी उत्पन्न न हुआ जगत् परमाणुके अन्दर तक चला जाता है यानी अपनी स्थूलताका परित्याग कर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है ॥ २७ ॥

गुरु और शास्त्र द्वारा उक्त युक्तियोंसे कैसा ज्ञान होता है, इस पूछनेपर उसको अपने अनुभव कथन द्वारा समझाते हैं—'तस्माद्०' इत्यादिसे ।

मैं समस्त जगताकार परमाणु रूप हूँ, इसलिए मैं सर्वत्र ही और तो क्या परमाणुके अन्दरतक स्थित हूँ ॥ २८ ॥

चिदाकाशरूप मैं चिन्मात्र परमाणु होकर भी जगद्रूपसे स्थित हूँ और जहाँ चिदाकाशरूप मैं रहता हूँ वहीं त्रिलोकीको देखता हूँ ॥ २९ ॥

अहं चित्परमाण्वात्म तेन चित्परमाणुना ।
एकतामागतो वारि वारिणेव तदीक्षणात् ॥ ३० ॥
तदोजः संप्रविश्याऽहं स्थितस्तदनुभूतिवत् ।
अन्तस्थत्रिजगद्रूपो यथाऽब्जे बीजमङ्कुरे ॥ ३१ ॥
तत्र मे त्रिजगद्रूपमन्तः कचितमात्मनि ।
तथा तत्र तु तद्बाह्ये विद्यते केनचित्क्वचित् ॥ ३२ ॥
यत्र यत्र यदा भाति स्वप्ने जाग्रदितीह वा ।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं निजं चिद्भानमेव तत् ॥ ३३ ॥
भाति स्वप्ने यदा जन्तोर्जगदानन्दमाततम् ।
चिदणोरेव तद्भानमात्मनस्तत्पदात्मना ॥ ३४ ॥

चित्परमाणुरूप (शोधित त्वं पदार्थरूप) मैं चित्परमाणुके (शोधित तत्पदार्थ ब्रह्मके) साथ उसके ज्ञानसे वैसे ही एकभावापन्न हुआ हूँ जैसे जल जलके साथ एक भावापन्न होता है, क्योंकि भगवती श्रुति कहती है—'यथा जलं जले क्षिप्तम्' ('जैसे जलमें छोड़ा गया जल, दूधमें छोड़ा गया दूध और घृतमें छोड़ा गया घृत अपनी पृथक् सत्ताका त्याग कर देता है वैसे ही परमात्मामें मिला हुआ जीवात्मा अपना पृथक् अस्तित्व छोड़ देता है ॥ ३० ॥

इस प्रश्नोत्तरके सिलसिलेमें आत्मज्ञानका तत्त्व बतलाकर प्रस्तुत कथाका अवलम्बन करके पुनः कहते हैं—'तदोजः' इत्यादिसे ।

अपने अन्दर तीनों जगतोंको धारण करनेवाला मैं उस प्राणीके तेजोधातुमें (ओजमें) प्रविष्ट होकर उस प्राणीके अन्तर्गत वासनामय जगत्के अनुभवकी तरह वैसे ही स्थित हुआ जैसे कि कमलके अङ्कुरमें सूक्ष्म रूपसे स्थित भावी बीज अपने अन्दर होनेवाली हजारों विचित्रताओंको छिपाकर रहता है ॥ ३१ ॥

वहाँ मेरी अन्तरात्मामें ही तदीय, मदीय और अन्यदीय सब वासनामय त्रिजगत् प्रत्यक्चैतन्यमें विकासको प्राप्त हुआ । उक्त जगद्रूप कुछ भी बाहर नहीं रहता, क्योंकि उससे बाहरका प्रदेश ही अत्यन्त अप्रसिद्ध है ॥ ३२ ॥

जब जहाँ जहाँ स्वप्नमें चाहे जाग्रत्में जो जगत्का भान होता है वह बाह्य और आभ्यन्तर सहित दृश्य निज चिद्भान ही है ॥ ३३ ॥

जब स्वप्नमें जन्तुके बिखरे हुए जगदानन्दका भान होता है वह आत्मरूप चिदणुका ही स्वप्नस्थानरूपसे भान है ॥ ३४ ॥

व्याध उवाच

अकारणं चेद्दृश्यं तत्कथमेतत्प्रसिध्यति ।
सकारणं चेद्दृश्यं तत्स्वप्ने सर्गादिधीः कुतः ॥ ३५ ॥

मुनिरुवाच

अकारणक एवायं सर्ग आदौ प्रवर्तते ।
समस्तकारणाभावाद्यतः सर्गात्मचिन्नभः ॥ ३६ ॥
अकारणानां भावानामत्यन्तासंववादिह ।
क्वचित्सप्रतिघः सर्गो न संभवति कश्चन ॥ ३७ ॥
ब्रह्मेदमित्थमाभाति भास्वरं चित्स्वभावतः ।
सर्गादिशब्दपर्यायमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥ ३८ ॥
इत्यकारणके सर्गे कचति ब्रह्मरूपिणि ।
परस्यावयवाभासे नित्यात्मावयवात्मना ॥ ३९ ॥

व्याधने कहा—भगवन्, यह जगत् अकारण है तो इसकी सिद्धि कैसे है ? क्योंकि अकारण शशशृङ्ग आदिकी स्वरूपसिद्धि नहीं दिखाई देती । यदि जगत् सकारण है तो स्वप्नमें घटादिकी सृष्टिमें कारणभूत दण्ड, चक्र आदिके न रहनेसे सृष्टिबुद्धि किस कारणसे होती है, यों सन्देहमें पड़े हुए व्याधका प्रश्न है ॥ ३५ ॥

अन्तमें ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि द्वारा अकारण पक्षका ही समर्थन कर रहे मुनि उत्तर देते हैं—'अकारणक एव' इत्यादिसे ।

आरम्भमें यह सृष्टि बिना कारणके ही प्रवृत्त होती है, क्योंकि सृष्टिके आरम्भमें सकल कारणोंका अभाव है, अतः चिदाकाश ही सृष्टिरूप है ॥ ३६ ॥

इस सृष्टिमें निष्कारण पदार्थोंका अत्यन्त असंभव होनेसे अकारण किसी स्थूल सर्गकी कहींपर भी किसी प्रकार संभावना नहीं है । हाँ, प्रातिभासिक मिथ्याभूत सर्गमें वह सकारणक ही हो, ऐसा नियम नहीं है ॥ ३७ ॥

चित्स्वभाव होनेसे जन्मविनाश शून्य यह ब्रह्म ही इस प्रकार देदीप्यमान सर्ग आदि शब्दोंके पर्यायरूपसे भासता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार सृष्टिके शशशृङ्गवत् अत्यन्त असंभावित सिद्ध होनेपर वह ब्रह्मरूपी ही है अनानारूप (अद्वैतरूप) उसमें परमात्माके मायाप्रतिबिम्ब चैतन्यमें नित्य आत्माके औपाधिक अवयवरूपसे नानात्व (द्वैत) अत्यन्त अयुक्त है । ब्रह्मरूप

अनानात्वेऽपि नानात्वे ब्रह्मण्यब्रह्मरूपिणि ।
अनाकारेऽपि साकारे कचत्यप्रतिघं प्रति ॥ ४० ॥
तद् ब्रह्मैव निराकारं चिद्रूपत्वात्स्फुरद्वपुः ।
साकारमिव भातात्म भूत्वा स्थावरजंगमम् ॥ ४१ ॥
देवर्षिमुनिभारूपं करोति नियतिं क्रमात् ।
विधींश्च प्रतिषेधांश्च देशकालक्रियादिकान् ॥ ४२ ॥
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
अर्था व्यभिचरन्त्येते नियतिर्नाऽखिलाऽन्ततः ॥ ४३ ॥
ततः प्रभृति भावानां सकारणकतां विना ।
सैकतादिव तैलानां न संभवति संभवः ॥ ४४ ॥
नियतिर्नायकश्चैव ब्रह्मतश्चाऽङ्गमात्मना ।
स्वाङ्गेन संयमयति करेणेव निजं करम् ॥ ४५ ॥
अबुद्धिपूर्वं चाऽनिच्छमेवमेव प्रवर्तते ।
काकतालीयवत्स्पन्दादावर्ता इव वारिणि ॥ ४६ ॥

होनेपर अब्रह्मरूपी निराकार होनेपर भी साकार रूपसे बेरोकटोक प्रतिभात होनेपर निराकार वह ब्रह्म ही चिद्रूप होनेसे प्रकट शरीरवाला साकारसा स्वरूप धारण कर देवर्षि, मुनि आदि स्थावर जंगमरूप जगत्को रचता है और क्रमसे सम्पूर्ण नियति, विधि, प्रतिषेध, देश, काल, क्रिया आदि करता है ॥॥ ३६–४२ ॥

भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर सभी व्यभिचरित होते हैं, किन्तु नियति ब्रह्मकृत होनेके कारण सर्वास्तमयरूप मोक्ष तक कभी व्यभिचरित नहीं होती ॥ ४३ ॥

जबसे नियतिकल्पना हुई तबसे लेकर नियतिविशेषरूप कार्य-कारणताके बिना पदार्थोंका वैसे ही संभव नहीं है जैसे कि बालूसे तेलका संभव नहीं है ॥ ४४ ॥

नियति और नायक (भोक्ता जीव) ये दोनों, जो कि ब्रह्माके दो हाथोंकी तरह अङ्गभूत हैं, ब्रह्मसे अपने आप प्रवृत्त हुए हैं। ब्रह्म अपने अङ्गभूत एकसे दूसरेका, एक हाथसे दूसरे हाथकी तरह, नियन्त्रण करता है ॥ ४५ ॥

अतएव जीवका इसी तरह जाग्रत् तथा स्वप्नरूप सर्ग (सृष्टि) अबुद्धि-पूर्वक तथा अनिच्छासे काकतालीय न्यायके तुल्य वैसे ही होता है, जैसे कि स्पन्दवश जलमें बिना किसी प्रयत्न और इच्छाके आवर्त (भँवर) विशेष ढङ्गसे उत्पन्न होते हैं ॥४६॥

संनिवेशो हि नियतिस्तां विना प्रतिबोधयम् ।
ब्रह्म स्थातुं न शक्नोति तच्च सर्वात्मतान्वयम् ॥ ४७ ॥
एवं सकारणं सर्वं सर्वदा दृश्यमण्डलम् ।
यस्य सर्गे यतः कालात्ततःप्रभृति तं प्रति ॥ ४८ ॥
भात्यकारणकं ब्रह्म सर्गात्माऽप्यबुधं प्रति ।
तं प्रत्येव च भात्येष कार्यकारणदृग्भ्रमः ॥ ४९ ॥
काकतालीयवत्सर्गे स्थिते त्वावृत्तिवृत्तिवत् ।
इदमित्थमिदं नेत्थमितीयं नियतिः स्थिता ॥ ५० ॥
सकारणत्वं भावानामवश्यंभाविनि क्रमे ।
जाग्रत्स्वप्नदृशो नेह संभवन्त्यपकारणाः ॥ ५१ ॥

कार्यमें कारणसे उत्पन्न संगठनका नियम ही नियति है, उक्त संगठन नियमके बिना अज्ञात ब्रह्म वैसे ही क्षणभर भी नहीं टिक सकता जैसे कि मिट्टी चूर्ण, पिण्ड, घट, कपाल आदिमें से किसी एक रूपरेखाके बिना नहीं टिक सकती, उक्त रूपरेखा धारण, जिसका ज्ञानसे सर्वात्मतारूप आत्यन्तिक विनाश होता है, मोक्षतक रहता है ॥ ४७ ॥

इस प्रकार यानी नियतिकी कल्पनासे सदा सारा दृश्यमण्डल सकारण उसीके प्रति है, जिसके प्रति जिस कालसे नियति जिसकी सृष्टिमें प्रवृत्त हुई अन्य पुरुषके लिए और अन्य कालमें होनेवाले पदार्थके लिए नहीं है ॥ ४८ ॥

अविद्वान्‌की दृष्टिमें अकारण ब्रह्मका सृष्टिरूपसे भी भान होता है और उसीके प्रति यह कार्यकारण दृष्टिरूप भ्रान्ति भासित होती है ॥ ४९ ॥

विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें तो काकतालीयके समान स्थित इस सृष्टिमें केवल पूर्वापरीभावका नियम देखनेसे यह घट आदि दण्ड, चक्र, मिट्टी आदि सामग्रीसे उत्पन्न हुआ, यह वस्त्र आदि तुरी, वेमा आदिसे इस प्रकारका उत्पन्न हुआ इस तरह पर्यालोचनसे नित्यवेदके पद, वाक्य, व्याकरण आदिके नियमके समान यह नियति स्थित है ॥ ५० ॥

जन्य पदार्थोंमें पौर्वापर्यक्रम अवश्यम्भावी है, इसलिए वे कारणयुक्त ही हैं, ऐसा जो मानता है उसके मतानुसार जाग्रत् और स्वप्नमें दिखाई देनेवाले अकारण पदार्थोंका संभव नहीं हो सकता । क्यों कि स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें से एकके बाद हुए जाग्रत् प्रपञ्चकी उत्पत्तिमें भी कोई कारण नहीं है । इसी प्रकार जाग्रत् और सुषुप्ति—इन

यथा स्वप्नेऽखिलाम्बुसंक्षोभात्प्रलयभ्रमाः ।
दृश्यते कारणं तत्र श्रूयतामनुभूयताम् ॥ ५२ ॥
सर्ववस्तुषु कचन्ति सर्वदा
युक्तयः स्फटिकशुक्तयो यथा ।
भावनानुभव एव स स्वयं
शक्तिमाञ्जयति जीवितात्मकः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० अवि० श० पदार्थविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४४ ॥

दोनोंके बाद हुए स्वप्न प्रपञ्चकी उत्पत्तिमें भी कारणोंका निरूपण नहीं हो सकता। इसलिए उनके मतमें स्वप्नप्रपञ्चका भी संभव नहीं है ॥ ५१ ॥

जैसे प्राणीके ओजमें स्थित मैंने स्वप्नमें सारी पृथिवीको डुबा रहे जलके संक्षोभसे प्रलयभ्रान्तियाँ देखीं, भला बतलाओ तो वहाँपर कोई कारण तुम देखते हो अथवा श्रुति प्रमाणसे कोई कारण सुनते हो, या अन्य प्रमाणसे किसी कारणका अनुभव करते हो ? ॥ ५२ ॥

ब्रह्म और प्रपञ्चके अभेदका प्रतिपादन करनेवाली युक्तियाँ सकल वस्तुओंके विषयमें बुद्धिमानोंकी अपने आप वैसे ही सदा स्फुरित होती हैं, जैसे कि स्फटिक मणियाँ अथवा सीपियाँ प्रकाश रहनेपर अपनी चमचमाहटसे स्वयं ही स्फुरित होती हैं, इसलिए सब निर्णयोंमें शास्त्रानुसारिणी युक्तियोंका भावनानुभव ही सब तत्त्वोंके निर्णयमें शक्तिमान् और सब प्रमाणोंको जीवनप्रदान करनेवाला है, अतः सर्वोत्कृष्ट है ॥ ५३ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

बहिष्ठैर्बाह्यमेवाऽन्तरन्तस्थैः स्वप्नमिन्द्रियैः ।
जीवो वेत्ति द्वयस्थातितीव्रसंवेगिभिर्द्वयम् ॥ १ ॥
यदेन्द्रियाणि तिष्ठन्ति बाह्यतश्च समाकुलम् ।
तदा म्लानानुभवनः संकल्पार्थोऽनुभूयते ॥ २ ॥
यदा त्वन्तर्मुखान्येव सन्त्यक्षाणि तदा जगत् ।
अणुमात्रं स्ववपुषि जीवस्तेनाऽतिवेत्ति तत् ॥ ३ ॥
जगत्सप्रतिघं नाऽस्ति किंचिदेव कदाचन ।
जीवेक्षणानामक्षाणां दृष्टिरप्रतिघा जगत् ॥ ४ ॥

एक सौ पैंतालीस सर्ग

[कफ, पित्त और वायुसे भरे हुए जीवके ओजमें (तेजोधातुमें) कल्पित स्वप्नभेदोंका तथा इन्द्रियोंसे बाहरी भ्रमोंका वर्णन]

मुनिजीने कहा—हे व्याध, यह जीव बाहरी इन्द्रियोंसे बाहर ही स्वप्नको जानता है तथा भीतरी इन्द्रियोंसे आभ्यन्तर स्वप्नको जानता है, लेकिन बाहर और भीतरके व्यवहारकी सिद्धिके लिए अत्यन्त तीव्र वेगवाली बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियोंसे बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों स्वप्नोंको जानता है ॥ १ ॥

जब वह बाहरी इन्द्रियोंसे बाहरी व्यवहार करता है तब क्या आभ्यन्तर व्यवहार बिलकुल ही नहीं होता, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'यदेन्द्रियाणि' इत्यादिसे ।

जिस समय इन्द्रियाँ बाह्य व्यवहारमें व्यग्र रहती हैं, उस समय मनोरथतुल्य आभ्यन्तर व्यवहारका अनुभव अवश्य होता है, किन्तु धुँधला होता है, स्वप्नके समान उसका साफ साफ अनुभव नहीं होता है ॥ २ ॥

किन्तु जिस समय सब इन्द्रियाँ केवल अन्तर्मुख रहती हैं उस समय जीव अपने शरीरमें वासनामात्र होनेसे सूक्ष्मरूपसे विद्यमान स्वप्न-जगत्‌को अति स्थूलसा देखता है, वही उसका स्फुटानुभव है ॥ ३ ॥

बाह्य अथवा आन्तर कोई भी जगत् वास्तवमें कदापि स्थूल नहीं है जीवके दर्शनमें कारणभूत इन्द्रियोंकी स्थूलताकी कल्पनामें अप्रतिरुद्ध जो दृष्टि है, वही स्थूल जगत् है ॥ ४ ॥

जीवनेत्राणीन्द्रियाणि यदा बाह्यमयान्यलम् ।
तदा बाह्यात्मकं वेत्ति चिति जीवो जगद्वपुः ॥ ५ ॥
श्रोत्रं त्वगीक्षणं घ्राणं जिह्वा चेतीहितात्मकः ।
संघातः प्रोच्यते जीवश्चिद्रूपोऽनिलमूर्च्छिमान् ॥ ६ ॥
सर्वत्र सर्वदा जीवः सर्वेन्द्रियमयः स्थितः ।
चिद्विद्व्योमाव्ययस्तेन सर्वं सर्वत्र पश्यति ॥ ७ ॥
श्लेष्मात्मना रसेनाऽन्तर्जीव आपूर्यते यदा ।
तेऽक्षाणुकेऽणुरूपात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥ ८ ॥

इसलिए बाहर अथवा भीतर जहाँ कहीं भी इन्द्रियोंका प्रसार होता है वहीं-पर स्थूल जगत् दृष्टिमें आता है, ऐसा कहते हैं—'जीव०' इत्यादिसे।

जब जीवकी नेत्र आदि इन्द्रियाँ अत्यन्त बाह्यमय होती हैं तब जीव चित्‌में बाह्य जगत्‌का अनुभव करता है ॥ ५ ॥

कान, त्वचा, नेत्र, नाक, जीभ, इच्छाप्रधान अन्तःकरण चतुष्टयका संघातरूप और पञ्च प्राणोंसे युक्त आतिवाहिक शरीर ही कूटस्थ चिदाभाससे संवलित होकर जीव कहलाता है ॥ ६ ॥

तथोक्त जीव स्ववासनामय जगत्‌को भले ही देखे, लेकिन बाहर तो वासना न होनेसे वह वासनामय जगत् कैसे देखता है? इस प्रश्नपर कहते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे।

बाहर कूटस्थ चित् ही चिदाभाससमष्टि व्योममय होकर सब जगह सब कालमें सर्वेन्द्रियमय स्थित है। इस कारण वह सर्वत्र सब कुछ देखता है अर्थात् सब वासनाओंके आधाररूप उसमें बाह्य जगत्‌का अध्यास किसी हालतमें अनुपपन्न नहीं है, उत्पन्न ही है ॥ ७ ॥

अन्दर स्वप्नभेद-वैचित्र्य देखनेके लिए ओजमें प्रविष्ट हुए जीवका श्लेष्मादि अन्नरस आदिसे पूर्ण नाड़ियोंमें प्रवेश ही उसमें निमित्त है, यह विस्तारसे बतलाते हैं—'श्लेष्मात्मा' इत्यादिसे।

जिस समय तुम्हारा जीव अपने सम्पूर्ण करणोंका उपसंहार कर अणुरूप बन-कर हजारों हिस्सोंमें विभक्त केशके समान महीन नाड़ियोंके अन्दर संचारके योग्य हो नाड़ियोंके अन्तर्गत कफरूप अन्नरससे भर जाता है, उस समय तत्-तत् इन्द्रियाणु-में नाड़ीके अन्दर ही निम्न निर्दिष्ट स्वाप्न भ्रमोंको देखता है ॥ ८ ॥

क्षीरार्णव इवोड्डीनो नभश्चन्द्रोदयान्वितम् ।
सरांसि फुल्लपद्मानि कह्लारवलितानि च ॥ ९ ॥
पुष्पाभ्रप्रतिधानानि परिगीतानि षट्पदैः ।
वसन्तान्तःपुराण्यन्तरुद्यानान्युदितानि खे ॥ १० ॥
उत्सवान्मङ्गलाकीर्णांल्लीलालोलाङ्गनागणान् ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानश्रीपरिपूर्णगृहाजिरान् ॥ ११ ॥
सपुष्पाः फेनहसनास्तरलातरलेक्षणाः ।
विलासेनाऽम्बुधिं यान्ति सरितो मत्तयौवनाः ॥ १२ ॥
हिमवच्छुभ्रशृङ्गाणि सौधानि शिशिराण्यलम् ।
सुधावधौतभित्तीनि कृतानीन्दुतलैरिव ॥ १३ ॥
शिशिरासारहेमन्तप्रावृण्मेघवृतानि च ।
स्थलानि नीलनलिनीलताशाद्वलवन्ति च ॥ १४ ॥

उक्त जीव स्वयं क्षीरसागरमें उड़ा हुआ-सा बनकर चन्द्रोदयसे जगमगा रहे आकाशको देखता है, लाल कमलोंसे वेष्टित तालाबोंको, जिनमें भाँति भाँतिके कमल खिले हैं, देखता है और आकाशमें प्रकट हुए उद्यानोंको, जो ऋतुराज वसन्तके अन्तःपुर ऐसे मनोहर हैं, पुष्पमय दिव्य मेघोंके प्रतिनिधिस्वरूप हैं तथा जिनमें भ्रमर कलगुञ्जन करते हैं, देखता है ॥ ९,१० ॥

सन्मङ्गलोंकी परम्परासे पूर्ण बड़े बड़े उत्सवोंको, जिनमें ललनाओंके झुण्डके झुण्ड लीला विलासोंसे चञ्चल हैं और घरोंके आँगन भक्ष्य, भोज्य अन्न-पानसे खूब भरे हैं, देखता है ॥ ११ ॥

फूलोंकी मालाओंसे अलंकृत, फेनरूपी हासवाली, मस्तयौवनवाली तथा चञ्चल मछलियाँ ही जिनके चञ्चल नयन हैं ऐसी नदियाँ विलाससे अपने स्वामी सागरके समीप जाती हैं, ऐसा देखता है ॥ १२ ॥

हिमालयके ऐसे सफेद शिखरवाले, अत्यन्त ठण्डकसे भरे हुए, चूनेसे खूब सफेद दीवारवाले और चन्द्रमासे बने हुए जैसे निर्मल गचवाले महलोंको देखता है। शीतल जलकणोंसे ढके हुए, हेमन्त ऋतुकी बरफसे आच्छादित तथा वर्षाऋतुके बादलोंसे आवृत एवं नीलकमलोंकी लताओं तथा हरी-हरी घाससे ढके मैदानोंको देखता है। चिकने-चिकने पत्तोंवाले वृक्षोंकी मनोहर छायावाली तथा फूलोंके अम्बारसे आच्छन्न नगरोंकी उपवनभूमियोंको, जिनमें हरिण और बटोही विश्राम करते हैं, देखता है।

पुष्पप्रकरसंछन्ना विश्रान्तहरिणाध्वगाः ।
स्निग्धपत्रतरुच्छायाः पुरोपवनभूमिकाः ॥ १५ ॥
कदम्बकुन्दमन्दारमकरन्देन्दुकान्तिभिः ।
भासमानासनस्थानसंस्थानाः कुसुमस्थलीः ॥ १६ ॥
नलिनीजालिनीर्नीलाः पुष्पकस्थलधारिणीः ।
वनावलीर्विलीनाभ्रनिर्मलाकाशकोमलाः ॥ १७ ॥
कदलीकन्दलीकुन्दकदम्बकृतशेखराः ।
गिरिमालाश्चलच्चारुलीलापल्लवपेलवाः ॥ १८ ॥
हेलावलितधम्मिल्लमुक्तमालतिकालनाः ।
इव बालाङ्गना नृत्यं तन्वानास्तनुगात्रिकाः ॥ १९ ॥
उत्फुल्लश्वेतनलिनीनिभा नरपतेः सभाः ।
चारुचामरभृङ्गारवितानकशतावृताः ॥ २० ॥
वल्लीवलयविन्यासविलासवलिताङ्गिकाः ।
वनमालाविलोलाम्बुप्रणालीकाकलीकलाः ॥ २१ ॥

कदम्ब, कुन्द, और मन्दारके शहदके बिन्दुरूपी चन्द्रमाकी कान्तियोंसे भासमान फूलोंके बगीचे, जिनकी बनावट-सजावट आसनके सदृश जगमग जगमग करती है, देखता है। मेघनिर्मुक्त निर्मल आकाशके सदृश मनोहर नीली वनश्रेणियोंको, जिनमें चारों ओर कमलोंके तालाबोंका जाल-सा बिछा रहता है और जो सुन्दर फूलोंसे भरे हुए भूखण्डको धारण करती हैं, देखता है। वायुवश नाच रहे सुन्दर लीलापल्लवोंसे रमणीय पर्वतमालाओंको, जिन्होंने केलेके गोफ, कुन्द और कदम्बका मुकुट धारण किया है, देखता है ॥ १३—१८ ॥

लीला विलासपूर्ण ढङ्गसे लपेटी हुई चोटियोंसे मुक्त अतएव जिनकी शाखाएँ फैली हों ऐसी मालतीलताकी नाईं नाच रही तन्वङ्गी बालाङ्गनाओंको पाता है। फूले हुए सफेद कमलोंके तालाबके तुल्य राजसभाको, जो सैकड़ों सुन्दर सुन्दर चँवर, फूलदान, चंदोवा आदिसे पूर्ण है, प्राप्त करता है। लताओंके फैलानेके विलाससे चारों ओर घिरी हुई वनपंक्तियोंको, जो चञ्चल जलराशिकी नहरोंमें पक्षियोंके कलरवसे मधुर मालूम होती हैं, प्राप्त करता है। जलकण और बर्फरूपी हारको अपने उदरमें

धराभरकरालाङ्गधाराधरधराधराः ।
दिशः सीकरनीहारहारोदरधरा दश ॥ २२ ॥
पित्तात्मना रसेनाऽन्तर्जीव आपूर्यते यदा ।
ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥ २३ ॥
पवनस्पन्दसंफुल्लकिंशुकद्रुमशोभनाः ।
ज्वालालीरुज्ज्वलाम्भोजदलपल्लवपेलवाः ॥ २४ ॥
संतप्तसिकतासेकसनीहारसरिच्छिराः ।
दावानलशिखाश्यामधूमश्यामलदिङ्मुखाः ॥ २५ ॥
कृशानुकर्कशानर्काश्चक्रधाराशितत्विषः ।
दावदाहविषावेशविपरीतरसाकरान् ॥ २६ ॥
स्वेदमुष्णीकृताब्धिं वा स्विन्नं त्रैलोक्यमण्डलम् ।
क्षारत्क्षाराण्यरण्यानि प्रतर्दगहनान्यपि ॥ २७ ॥

धारण करनेवाली दसों दिशाओंको, जिनके सब पर्वत वृष्टि द्वारा पृथिवीको भरनेके लिए अति विकरालरूपवाले मेघोंसे व्याप्त हैं, प्राप्त करता है ॥ १९-२२ ॥

कफपूर्ण नाड़ीके दृश्योंका विस्तारसे वर्णन कर अब पित्तरसपूर्ण नाड़ीके दृश्योंका वर्णन करते हैं—'पित्तात्मना' इत्यादिसे।

जब जीव अन्दर पित्तरससे भर जाता है तब अणुरूप जीव ओजके अन्दर इन सब निम्न निर्दिष्ट पदार्थोंको प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

कमलकी उजली उजली पाँखुरियोंके समान सुन्दर ज्वालाओंको देखता है, जो वायुके लहरानेसे फूले हुए ढाकके पेड़ोंकी तरह भली लगती हैं, गरम बालुओंके सेकोंसे नदीरूपी नसोंको सवाष्प (भापयुक्त) बनाती हैं और वनाग्निकी लपटोंके काले धुँएसे दिङ्मण्डलको काली बनाती हैं ॥ २४,२५ ॥

तलवारकी धारके समान तेज कान्तिवाले और अग्निकी तरह असह्य तेजवाले अनेक सूर्योंको देखता है, जिनसे वनाग्निरूपी विषसे पहलेसे आक्रान्त तालाब विशेष रूपसे व्याप्त होते हैं ॥ २६ ॥

सागरको गरम कर देनेवाले भापको, भापसे गीले हुए त्रैलोक्यको तथा शिलाजीत आदि क्षारको चुआनेवाले और झाड़ियोंसे दुर्गम अरण्योंको भी देखता है ॥ २७ ॥

प्रतरन्मृगतृष्णाम्बुसरत्सारसरूपि च ।
स्थलान्यदृष्टपूर्वाणि भूतपूर्वतरूणि च ॥ २८ ॥
अध्वगं संभ्रमवशात्तप्तधूलिविधूसरम् ।
दूरादमृतवद्दृष्टं स्निग्धच्छायाध्वपादपम् ॥ २९ ॥
ज्वरज्वालितमाकारं भुवनं तप्तमग्निवत् ।
पांसूपहतदेशानि दिङ्मुखानि च खानि च ॥ ३० ॥
ग्रहग्रामार्णवाद्रयब्धिवनव्योमाग्निका दिशः ।
तुहिनाहारहानन्तासंख्याम्बुदघटोद्भटान् ॥ ३१ ॥
शरद्ग्रीष्मवसन्तांश्च तापानातपदायिनः ।
तृणपत्रलतौघाभ्रराश्यूष्मपिहितावनीः ॥ ३२ ॥
सौवर्णमम्बरतलं भूतलं दिक्तटानि च ।
तप्तान्यदभ्रसरसीहिमशैलस्थलानि च ॥ ३३ ॥

बह रहे मृगतृष्णा जलोंमें तैर रहे सारसोंसे शोभायमान जलको देखता है, पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए मैदानोंको, जिनमें पेड़-पौधे पहलेसे जमे थे, देखता है ॥ २८ ॥

भयवश मार्गोंमें भाग रहे तथा गरम धूलिसे धूसर हुए अपनेको देखता है, दूरसे अमृतके तुल्य दिखाई दिये ठण्डी छायावाले मार्गके वृक्षको देखता है ॥ २९ ॥

संतापसे अति ग्रस्त आकारवाले तथा अग्निके तुल्य परितप्त भुवनको देखता है। धूलिकणोंसे जिनके देश छिप गये ऐसी दिशाओंको और धूलितिरोहित आकाशको देखता है ॥ ३० ॥

घर, गाँव, सागर, पहाड़, नदी-तालाब, वन और आकाशमें जहां दृष्टि पहुंचती है वहीं जल रही अग्निसे पूर्ण दिशाएँ देखता है, अग्निकी वर्षा करनेवाले असंख्य मेघोंकी घनघोर घटाओंसे भीषण शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतुओंको देखता है, सन्ताप देनेवाले सूर्यातपोंको देखता है एवं तिनकों, पत्तों, लताराशियों और लूकी लपटोंसे आच्छादित भूमिप्रदेशोंको देखता है ॥ ३१,३२ ॥

अग्निव्याप्त होनेके कारण आकाश, भूतल और दिङ्मुखोंको सुवर्णमय ऐसे देखता है। बहुतसे तालाबों और हिमालयपर्वतके विविध प्रदेशोंको संतप्त हुए देखता है ॥ ३३ ॥

रसानुरिक्ते वातेन जीव आपूर्यते यदा ।
ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दते ॥ ३४ ॥
वातविक्षुब्धसंवित्त्वादपूर्वं वसुधातलम् ।
अपूर्वा नगरग्रामशैलाब्धिवनमण्डलीः ॥ ३५ ॥
उड्डीयमानमात्मानं शिलाः शैलस्थलानिव ।
घनघुंघुमसारावानचक्रभ्रमणादि च ॥ ३६ ॥
हयोष्ट्रगरुडाम्भोदहंसयानावरोहणम् ।
यक्षविद्याधरादीनां गत्यागमनसंचरम् ॥ ३७ ॥
साद्रिद्यूर्वीनदीशानां वनभूग्रामपूर्दिशाम् ।
कम्पं भयोन्मुखाङ्गानां बुद्बुदानामिवाऽर्णवे ॥ ३८ ॥
अन्धकूपे निपतितं विपुले संकटेऽथवा ।
अथवा रूढमात्मानं खमाभं पादपं गिरिम् ॥ ३९ ॥

कफ, पित्त आदि अन्नरसोंसे रिक्त केवल वायुसे ही भरे हुए नाड़ीप्रदेशोंमें प्रविष्ट हुआ अणुमात्ररूप जीव जब वायुसे पूर्ण होता है तब नाड़ीमें पूर्वोक्त ओजके अन्दर ही निम्न निर्दिष्ट स्वप्न देखता है ॥ ३४ ॥

उक्त जीवकी संवित् वायुसे क्षुब्ध हो जाती है, अतएव वह पृथ्वीतलको पूर्व दृष्टसे विलक्षण देखता है। नगर, गाँव, पर्वत, नदी-नाले, सागर और वनोंको अपूर्व (पूर्व दृष्टसे विलक्षण) देखता है। अपनेको उड़ता हुआ सा देखता है, शिलाओं तथा पर्वतके ढूहोंको उड़ते हुए-से देखता है, देशोंको मेघोंके गर्जन-तर्जनसे शब्दयुक्त देखता है और देखता है कुम्हारके चक्केके बिना ही घड़ोंका घूमना आदि ॥ ३५,३६ ॥

घोड़ा, ऊँट, गरुड़, बादल, हंस आदि सवारियोंपर चढ़ना देखता है और देखता है यक्ष, विद्याधर आदिका दूरसे आना और जाना या अपने स्थानमें संचार ॥ ३७ ॥

सागरके बुल्लोंकी तरह पहाड़, अन्तरिक्ष, भूमि, समुद्रोंके साथ वृक्षों, ग्रामों नगरों, दिशाओं तथा भयभीत मनुष्योंकी कँपकँपी देखता है ॥ ३८ ॥

अपनेको अंधे कुएँमें गिरा हुआ या महान् संकटमें पड़ा हुआ अथवा गगनचुम्बी पेड़ और पर्वतपर चढ़ा हुआ देखता है ॥ ३९ ॥

वातपित्तश्लेष्मयुक्तो जीव आपूर्यते यदा ।
भागैर्वातवशं प्राप्तैरार्तोऽसौ विन्दते तदा ॥ ४० ॥
पतन्तीं पार्वतीं वृष्टिं गुशिलावृष्टिसंकटम् ।
स्फुटाट्टकटकारावभ्रमत्पादपमण्डलम् ॥ ४१ ॥
भ्रमद्भिर्वनविन्यासैः संदिग्धाम्भोधरोत्कटम् ।
सिंहवारणवर्षाभ्रनिरन्तरदिगन्तरम् ॥ ४२ ॥
तालीतमालहिंतालमालाज्वलनसंकुलम् ।
गुहाघुंघुमनिर्ह्रादभांकारघनघर्घरम् ॥ ४३ ॥
मन्द्रमन्दरमन्थानशब्दसन्दर्भसुन्दरीम् ।
दरीं दलनदुर्वारमिथःसंघट्टघट्टिताम् ॥ ४४ ॥
शृङ्गसंघट्टसदृशाः क्रेंकारोत्करकर्कशाः ।
नदीर्मुक्तालतापातसस्रग्दामनभस्तलाः ॥ ४५ ॥

कफ, पित्त और वायुमें से एक एक द्वारा पूर्ण नाड़ीमें दिखाई देनेवाले विविध स्वप्नोंको दिखलाकर कफ, वात, पित्त—इन तीनोंमें पूर्ण नाड़ीसे दिखाई देनेवाले स्वप्नोंको दिखलाते हैं—'वात०' इत्यादिसे ।

वात, पित्त, कफसे पूर्ण नाड़ीप्रदेशोंमें प्रविष्ट हुआ अणुमात्ररूप जीव जब वात, पित्त और कफसे पूर्ण होता है तब वायुके वशीभूत हुए भागोंसे पीड़ित होकर निम्नलिखित स्वप्नोंको देखता है ॥ ४० ॥

ऊपरसे गिर रही पर्वतोंकी वृष्टि देखता है, बड़ी बड़ी शिलाओंकी वृष्टिसे संकटाकीर्ण फट रहे महलों, पर्वतके मध्यभागोंके (द्रहोंके) घनघोर शब्दसे घूम रही वृक्षराशिको देखता है ॥ ४१ ॥

इधर उधर भ्रमण कर रही वनश्रेणियोंसे मिश्रित मेघोंसे भीषण और सिंह, हाथी और वर्षा ऋतुके बादलोंसे निरन्तर (निरवकाश) दिगन्तरालको, जो ताड़ तमाल, हिन्तालके पेड़ोंकी पंक्तियोंमें वह्निसे व्याप्त, गुफाओंके घुन्घुम ध्वनिके साँय साँयसे खूब घरघराहट युक्त है, देखता है ॥ ४२,४३ ॥

मन्दररूपी मथनीके गम्भीर शब्दके संसर्गसे मनोहर, तोड़ने फोड़नेके लिए अनिवार्य परस्परकी टक्करसे टकराई हुई गुफाको देखता है ॥ ४४ ॥

पर्वतके दो शिखरोंके बीचमें प्रवाह-ध्वनियोंसे दो शिखरोंकी टक्करके सदृश.

शिलाशकलपूर्णार्णपूर्णाम्बरमहार्णवम् ।
वहद्वनघनोद्धातघट्टितब्रह्ममण्डलम् ॥ ४६ ॥
परस्परविनिर्मृष्टदशदर्शनदन्तुरम् ।
चटत्कटकटारावस्फुटत्कटकटङ्कितम् ॥ ४७ ॥
खपातपवनाधूतवनवातलतोदयम् ।
रणदात्मदृषच्चूर्णकर्बुराम्बुजधारिणम् ॥ ४८ ॥
प्राग्भटोद्भटभेदोत्थैर्मन्द्रैर्मरमरारवैः ।
क्रूराक्रन्दैरिवाऽऽभाति विराजितजगत्त्रयम् ॥ ४९ ॥
इति तैः काष्ठपाषाणमृद्युग्वातभटैर्वृतः ।
परिपीडित एवाऽऽस्ते यदा जीवो जड़ीकृतः ॥ ५० ॥
मृदन्तःकीटकणवच्छिलान्तर्गतभेकवत् ॥
गर्भस्थापक्वशिशुवत्फलान्तर्गतबीजवत् ॥ ५१ ॥

चकवा-चकवीके करुण क्रेंकारोंसे कठोर तथा मोतीमालाओंके तुल्य अगल-बगलसे गिरनेसे आकाशको माला सहित सा बनानेवाली नदियोंको देखता है ॥ ४५ ॥

मैंने जो प्रलयसमुद्रको दिखानेवाला स्वप्न देखा था, उसमें भी यही कारण था ऐसा सूचित करते हुए कहते हैं—'शिला०' इत्यादिसे ।

शिलाखण्डोंसे भरी हुई जलराशिसे आकाशको पूर्ण करनेवाले महासागरको, जो बह रहे वनों और मेघोंके आघातोंसे (धक्कोंसे) सप्तर्षिलोकमें टक्कर मारता है, देखता है ॥ ४६ ॥

परस्पर लहरों द्वारा सींचनेसे धोई हुई दसों दिशाओंके दृष्टिगोचर होनेसे मानो जो हंसता-सा है, दिशाओंको आच्छादित कर रहे कटकट शब्दके साथ फूट फूटकर धराशायी हो रहे पर्वतशिखरोंसे मानों जिसपर घनके प्रहारकी ध्वनि होती है, जिसपर वायु द्वारा कँपाई गई वायुका अनुसरण करनेवाली लताओंका ताण्डव होता है, शब्दायमान अपनेसे हुए पत्थरके चूर्णोंसे धूमैले या मटमैले कमल, सेवार आदिको जो धारण करता है, समुद्रका आक्रमण होनेसे पहले युगान्तमें हुए शूरवीरोंकी परस्परकी मारकाटोंसे मानो उद्भूत हुए ताड़ आदिके वनोंकी मरमरध्वनियोंसे, जो क्रूर प्राणियोंके रोदन ध्वनिके तुल्य लगती हैं, विराजित ऐसा त्रिजगत् उसे मालूम पड़ता है ॥ ४७–४९ ॥

कफ, वात और पित्तरूप त्रिधातुसे पूर्ण नाड़ियोंमें पूर्वोक्त प्रकारके सर्वजन विदित उन पत्थरों, मिट्टी-धूलिसे युक्त वायुओंसे अथवा सैनिकोंसे घिरकर स्वप्नमें जड़

बीजोदरस्थाङ्कुरवद् द्रव्यपिण्डोदराणुवत् ।
अश्रान्तस्तम्भकोशस्थदारुपुत्रकदेहवत् ॥ ५२ ॥
सौषिर्यासंभवात्प्राणपवनस्पन्दवर्जितः ।
प्रोन्नमत्पर्शुपूरेण शिलापूरेण तर्जितः ॥ ५३ ॥
तदा निबिडतेजोन्तरेवाऽनुभवति स्वयम् ।
सुषुप्तं शैलकोशाभमन्धकूपोदरोपमम् ॥ ५४ ॥
यदा परिणतं यत्नं पुनः सौषिर्यमागतम् ।
पुनर्वेत्ति तदा जीवः स्वप्नं प्राणावबोधितः ॥ ५५ ॥
यदा तस्मिन्प्रदेशेऽन्तर्भागभागान्पतन्ति ते ।
देहे परिणमन्तोऽन्तस्तदेवाऽत्यद्रिवर्षणम् ॥ ५६ ॥
वह्नेव वह्निबहुना स्वल्पेनाऽल्पं प्रपश्यति ।
वातपित्तादियोगेन बहिरन्तश्च संभ्रमम् ॥ ५७ ॥

बनाया गया जीव जब परिपीड़ित ही रहता है तब वह पुरीतत् नाड़ीरूप पिंजड़ेमें, जो सब पसलीकी हड्डियोंके सिरोंसे बनी हृदयकी हड्डी ग्रन्थिसे युक्त है, प्रविष्ट होता है। आगे चलने फिरनेके लिए छिद्रका संभव न होनेसे प्राणवायुप्रयुक्त स्पन्दसे रहित होकर ऊँची ऊँची पसलीकी हड्डियोंसे बिलमें पत्थरोंकी राशिसे निरुद्धकी तरह, कोई भी व्यापार करनेमें असमर्थ हो मिट्टीके अन्दर दबे हुए कीड़ेकी तरह, चट्टानके भीतर छिपे मेढककी तरह, बीजके अन्दर स्थित अङ्कुरकी तरह, पिण्डीभूत द्रव्यके अन्दरके परमाणुकी तरह तथा खम्बेके अन्दर प्रतिमाकी देहके तुल्य निविड़ तेजोधातु नामक ओजके अन्दर ही शिलाके आकाशकी तरह गाढ अज्ञान होनेसे अन्धकूपके उदरके तुल्य सुषुप्तिका स्वयम् अनुभव करता है ॥ ५०–५४ ॥

सुषुप्तिसे स्वप्नमें कैसे प्राप्त होता है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे। जब खाया हुआ अन्न परिपाकवश पच जाता है और अन्नरस द्वारा किये गये गमनागमन मार्गके निरोधकी निवृत्ति हो जानेसे अवकाश हो जाता है तब जीव प्राणसंचार द्वारा पुरीततसे निकलनेका यत्न कर प्राण द्वारा अवबोधित हो स्वप्न देखता है ॥ ५५ ॥

जब शरीरमें परिणत हो रहे अन्नरस जिस प्रदेशमें जीवके साथ नाड़ी भागोंसे दूसरे नाड़ी भागोंमें जाते हैं तब ओजके अन्दर पर्वतोंकी वर्षाका अनुभव करता है ॥ ५६ ॥

प्रचुरतम उदराग्निसे व्याप्त वात-पित्त आदिके सम्बन्धसे बाहर भीतर बहुतसे

पश्यत्येतद्यथैवाऽन्तरेष जीवो वशीकृतः ।
वातपित्तादिवलितो बहिर्वेत्त्येवमेति वा ॥ ५८ ॥
क्षुब्धैरन्तर्बहिश्चैव स्वल्पैः स्वल्पं प्रपश्यति ।
समैः सममिदं दृश्यं वातपित्तकफादिना ॥ ५९ ॥
बहिः पश्यत्ययं जीवः कुपितैरेभिरावृतः ।
स्पन्दं भूम्यद्रिनभसां ज्वलनं वाऽनलोच्चयैः ॥ ६० ॥
आकाशगमनं चैव चन्द्रोदयहिमाचलान् ।
गहनं वृक्षशैलानां नभःप्लवनमर्णसाम् ॥ ६१ ॥
मज्जनोन्मज्जनं वाऽब्धौ सुरतं सुरसद्मसु ।
शैलोपवनशुभ्राभ्रपीठविश्रमणोच्चयम् ॥ ६२ ॥
बृहत्क्रकचनिष्पेषं नरकानुभवभ्रमम् ।
तालीतमालहिंतालमालावलनमम्बरे ॥ ६३ ॥

भ्रम देखता है, अल्पतम उदराग्निसे व्याप्त वात आदिके सम्बन्धसे अल्प भ्रम देखता है ॥ ५७ ॥

वात-पित्त आदिसे संवलित वशीकृत यह जीव यह सब जैसे भीतर देखता है वैसे ही बाहर भी ज्ञानेन्द्रियोंसे जानता है अथवा कर्मेन्द्रियोंसे गमन करता है ॥ ५८ ॥

वात, पित्त, कफ आदिसे क्षुब्ध हुए थोड़ेसे अन्नरसोंसे बाहर भीतर थोड़ा-सा दृश्य भ्रान्तिवश देखता है, सम अन्नरसोंसे सम दृश्य देखता है और अत्यन्त क्षुब्ध हुए अन्नरसोंसे अत्यन्त भ्रमपूर्ण दृश्य देखता है ॥ ५९ ॥

सन्निपात तथा मणि, मन्त्र, औषध आदि निमित्तोंमें कुपित हुए अन्नरसोंसे आवृत हुआ यह जीव बाहर भूमि, पर्वत और आकाशमें हलचल देखता है अथवा अग्निराशिसे उनका जलना देखता है। अपना आकाशमें उड़ना देखता है, चन्द्रमा, उदयाचल, हिमालय आदि पर्वतोंको देखता है, वृक्ष और पर्वतोंकी भीड़ (ठट) देखता है और देखता है जलोंका आकाशमें उछलना ॥ ६०,६१ ॥

अथवा सागरमें अपना डूबना और उतराना देखता है, सुरलोकमें अप्सराओंके साथ संगम देखता है और देखता है शैल, उपवन, शुभ्रमेघोंके आसनोंमें बैठना तथा शुभ्रमेघोंकी राशि ॥ ६२ ॥

बड़े बड़े आरों द्वारा अपना चीरा जाना देखता है, नरकोंके अनुभवकी भ्रान्ति

चक्रवृत्तैश्च पतनं झगित्युत्पतनं दिवि ।
शून्येऽपि जनतावृन्दं स्थलेऽप्यब्धिनिमज्जनम् ॥ ६४ ॥
विचित्रं विपरीतं च व्यवहारं महानिशि ।
अह्नीव भास्करालोकं दुर्भेद्यं चाऽह्नि वा तमः ॥ ६५ ॥
साद्रिभूतलमाकाशे कुड्यबन्धे घने स्थलम् ।
कुड्यबन्धांश्च गगने मित्रभावं च विद्विषि ॥ ६६ ॥
स्वजने परताबुद्धिं सुजनत्वं च दुर्जने ।
सुसमस्थलतां श्वभ्रे श्वभ्रत्वं सुसमे स्थले ॥ ६७ ॥
उद्गीतालापमसृणान्सुधाधौतान्सुचित्रितान् ।
अद्रीञ्छ्वेतमयान्वाऽपि नवनीतमयांश्च वा ॥ ६८ ॥
कदम्बनीपजम्बीरपत्रस्तबकसद्मसु ।
सुखविश्रमणं स्त्रीभिः साकं पद्मेष्विवाऽलिनः ॥ ६९ ॥

देखता है और देखता है आकाशमें ताड़, तमाल और हिन्तालके (छोटी जातिके खजूरके) पेड़ोंका जमघट ॥ ६३ ॥

अपना चक्कर काटकर आकाशसे नीचे गिरना और फिर तुरन्त आकाशमें उड़ना देखता है, निर्जन स्थानमें जनताकी भीड़ लगी देखता है और मैदानमें भी समुद्रमें डूबना देखता है ॥ ६४ ॥

और भी विचित्र विपरीत व्यवहारोंको देखता है जैसे अधरातमें दिनकी तरह सूर्यका प्रकाश देखता है और दिनमें गाढ़ अन्धकार देखता है ॥ ६५ ॥

आकाशमें पर्वतोंके साथ पृथिवीको देखता है, दीवारपर विशाल स्थलको देखता है, आकाशमें अटारियाँ देखता है और शत्रुमें मित्रता देखता है। आत्मीय लोगोंको परकीय समझता है तथा दुर्जनको सज्जन मानने लगता है एवं गड्ढेको समथर भूमि और समथर भूमिको गड्ढा (गर्त) समझता है ॥ ६६,६७ ॥

प्रतिध्वनित हो रही गानध्वनिसे मनोहर, चूनेसे पोतकर स्वच्छ किये हुए, भाँति भाँतिके चित्रोंसे सजेसजाये, स्फटिक या चाँदीसे बने हुए या नवनीतमय (मक्खनके बने हुए) पर्वतोंको देखता है। कदम्ब, धूलिकदम्ब, जंबीरके पत्तेके गुच्छोंसे सुशोभित घरोंमें अप्सराओंके साथ वैसे ही अपना विश्राम करना देखता है जैसे कि कमलोंमें भँवरियोंके साथ भँवर विश्राम करता है ॥ ६८,६९ ॥

अन्तर्निमीलिता ह्येताः पश्यन्त्युन्मीलिता बहिः।
धातूनामिति वैषम्याद्भ्रान्तिमिन्द्रियवृत्तयः ॥ ७० ॥
एवंविधान्यनेकानि पश्यन्त्यनुभवन्ति च।
बहिरेव यथा स्वप्ने वस्तुन्यसमधातवः ॥ ७१ ॥
बहिश्चाऽन्तश्च दृश्यन्ते विपरीतान्यनेकशः।
कार्याण्यतिकरालानि जीवैरसमधातुभिः ॥ ७२ ॥
समेषु धातुष्वेषोऽन्तर्जीवोऽनुभवति स्वयम्।
तेजोऽन्तर्गत एवेमां व्यवहारस्थितिं समाम् ॥ ७३ ॥
यथास्थितां पुरग्रामपत्तनारण्यसंततिम्।
सौम्यवारितरुच्छायादेशाध्वगगमागमम् ॥ ७४ ॥
सुखातपमयेन्द्वर्कताराहोरात्रमण्डितम्।
एवमेतदसद्भूतं सद्भूतमिव भासते ॥ ७५ ॥
दृश्योपलम्भं चित्तत्त्वे स्पन्दनं पवने यथा।
असदेव सदाभासमभिन्नं भिन्नवत्स्थितम् ॥ ७६ ॥

निद्रामें निमीलित (बन्द हुई) इन्द्रियवृत्तियाँ धातुओंके वैषम्यसे इन भ्रान्तियों-को अन्दर देखती हैं, किन्तु जाग्रत्में उन्मीलित (खुली हुई) ये बाहर इन्द्रजाल आदिमें इन भ्रान्तियोंको देखती हैं ॥ ७० ॥

विषम वात, पित्त धातुवाले पुरुष इस प्रकारके अनेक दृश्योंको स्वप्नकी तरह बाहर ही देखते हैं और अनुभव करते हैं ॥ ७१ ॥

विषम धातुवाले जीवोंको बाहर और भीतर अति भीषण अनेक विपरीत कार्य दिखाई देते हैं ॥ ७२ ॥

वात, पित्त आदि धातुओंके सम होनेपर यह जीव तेजोधातुके मध्यमें स्थित होकर ही इस सम लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारमर्यादाका स्वयं अनुभव करता है तथा यथास्थित नगर, गाँव, कसबे और जंगलकी श्रेणीका अनुभव करता है ॥ ७३,७४ ॥

निश्चल जल और वृक्षछायावाले प्रदेशोंमें बटोहीके रूपसे गमनागमन, आनन्द-दायक आतपवाले चन्द्रमा, सूर्य, तारा, रात्रि और दिनसे विभूषित इस प्रकारका असद्भूत यह जगत् सद्भूत-सा प्रतीत होता है ॥ ७५ ॥

जैसे पवनमें स्पन्दन है वैसे ही चित् तत्त्वमें जो यह दृश्योपलम्भ है वह असत् होता हुआ भी सत् सा प्रतीत होता है, अभिन्न होता हुआ भी भिन्नवत् स्थित है ॥ ७६ ॥

शान्तादुदेति सकलं जगदम्बरात्म
शान्तं न किंचन न नाम सदित्युदेति ।
तद्व्योमनीदृशमनन्तचितेः शरीरे
भामात्रमाततमनन्तवपुर्विभाति ॥ ७७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० अवि० वि० शा० जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

व्याध उवाच

अनन्तरं मुनिश्रेष्ठ तस्मिन्हृदि तदोजसि ।
स्थितस्य तव किं वृत्तं नामतो भ्रान्तिरूपिणि ॥ १ ॥

निष्प्रपञ्च ब्रह्मसे शून्यभूत सम्पूर्ण जगत् उदित है, अतएव निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप वह उससे तनिक भी अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार परिदृश्यमान रूपसे उत्पन्न नहीं होता । इसलिए आकाशसदृश अनन्त चितिके शरीरमें प्रतिभासमात्र जगत् इस तरह अनन्त रूपोंमें प्रतीत होता है, वास्तवमें उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है ॥ ७७ ॥

एक सौ पैंतालीस सर्ग समाप्त

एक सौ छियालीस सर्ग

[प्रस्तुत स्वप्नदर्शनके बाद मुनि महाराजका स्वसुषुप्तिवर्णनपूर्वक स्वप्नके प्रसङ्गसे ब्रह्माद्वैतका विस्तारसे वर्णन]

प्रसङ्गप्राप्त स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत्-भेदको सुनकर फिर अवशिष्ट पूर्वकथांशको ही व्याध पूछता है—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

व्याधने कहा—हे मुनिवर, यथार्थमें भ्रान्तिरूपी नामतः उस हृदयमें उस प्राणीके ओजमें बैठे हुए आपका उसके उपरान्त कैसा स्वप्नदर्शन आदि वृत्तान्त सम्पन्न हुआ उसे कृपया बतलाइए ॥ १ ॥

मुनिरुवाच

अनन्तरं तदा तत्र शृणु किंवृत्तमङ्ग मे ।
तेजोधातुनिषण्णस्य तज्जीवावलिताकृतेः ॥ २ ॥
तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे कल्पान्तसंभ्रमे ।
तृणवत्प्रौढशैलेन्द्रे वहति प्रलयानिले ॥ ३ ॥
गिरिवृष्टिर्झटित्येव कुतोऽपि समुपाययौ ।
उह्यमानवनाभोगशिखरग्रामपत्तना ॥ ४ ॥
तस्याऽन्तस्तत्र संप्राप्तं तदा परिणतं यदा ।
तदा तदेव सूक्ष्मोऽहमपश्यं शैलवर्षणम् ॥ ५ ॥
तेनाऽन्नलवशैलोच्चपूरेण प्रतिपिण्डितः ।
सुषुप्तमन्धतामिश्रमहमन्वभवं घनम् ॥ ६ ॥
अथ कंचित्तदा कालमनुभूय सुषुप्तताम् ।
तदा पद्माकर इव शनैर्बोधोन्मुखोऽभवम् ॥ ७ ॥

मुनि महाराजने कहा—हे व्याध, उसके बाद उस प्राणीके ओजमें बैठे हुए तथा उसके जीवसे मिश्रित लिङ्ग देहवाले मेरा वहाँपर उस समय जो वृत्तान्त हुआ उसे तुम सुनो ॥ २ ॥

उस समय जब कि अति भयानक प्रलयका आडम्बर अपनी पूरी शक्तिके साथ कदम उठाये था, महान् पर्वतोंको तिनकोंके समान उड़ानेवाला प्रलयवायु बह रहा था झटपट कहींसे पर्वतवृष्टि आ गई । ऐसी वृष्टि कि जिसमें बड़े बड़े वन, पर्वत, शिखर, गाँव, नगर उड़ रहे थे ॥ ३,४ ॥

जब मैं उस प्राणीके ओजके अन्दर उसके जीवरूपसे परिणत हुआ, उस समय सूक्ष्म परमाणुरूप मैंने वही पर्वतवृष्टि देखी ॥ ५ ॥

उस प्राणीकी नाड़ियोंके भीतर स्थित अन्नरसके अन्तर्गत अन्नके कणरूपी पर्वतराशिसे निश्चेष्ट हुए मैंने अज्ञानतारूप अन्धतासे मिश्रित गाढ़ सुषुप्तिका अनुभव किया ॥ ६ ॥

तदुपरान्त कुछ समय तक सुषुप्तिका अनुभव कर जब प्राणके गमनागमनके मार्गमें बाधा डालनेवाला अन्न पच गया तब प्रातःकालमें कमलके तालाबकी तरह धीरे-धीरे मैं बोधकी ओर अग्रसर हुआ ॥ ७ ॥

यथा दृष्टिश्चिराद् ध्वान्ते भाति चक्ररूपिणी ।
सुषुप्तमेव तत्राऽऽसीत्तथा स्वप्नत्वमागतम् ॥ ८ ॥
तथा सुषुप्तविश्रान्तेः स्वप्ने निद्रामहं विशम् ।
अपश्यं दृश्यमोजोऽन्तः स्वमूर्मित्वमिवाऽर्णवः ॥ ९ ॥
संवित्कोशात्मकं दृश्यं यत्तथा मामुपागतम् ।
अस्पन्दस्याऽनिलस्याऽन्तरनन्यत्स्पन्दनं यथा ॥ १० ॥
अग्न्यादौ च यथोष्णत्वं जलादौ द्रवता यथा ।
मरिचादौ यथा तैक्ष्ण्यं चिद्व्योम्नश्च जगत्तथा ॥ ११ ॥
चित्स्वभावैकरूपत्वाज्जगद्दृश्यं तदाततम् ।
तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्प्रसूतं बालपुत्रवत् ॥ १२ ॥

व्याध उवाच

तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यादिति तद्व्यपदेशतः ।
सुषुप्तदृश्यं किं वच्मि वद मे वदतां वर ॥ १३ ॥

अन्धकारमें बन्दकी हुई दृष्टि जैसे चिरकालमें तेजोराशिके आभासरूपसे भासित होती है वैसे ही वहाँपर सुषुप्ति ही आत्मस्वरूप स्वप्नताको प्राप्त हुई ॥ ८ ॥

सुषुप्तिरूपी विश्रामसे मैं स्वप्न निद्राको प्राप्त हुआ। जैसे समुद्र तरङ्ग, बुद्बुद आदि हजारों विक्षेपोंसे व्याप्त अपनी मूर्ति देखता है वैसे ही मैंने भी उस समय उस प्राणीके ओजके अन्दर हजारों विक्षेपोंसे युक्त दृश्य देखा ॥ ९ ॥

वह चिदाकाशकोशात्मक दृश्य ठीक वैसे ही मुझे प्राप्त हुआ जैसे कि स्पन्द रहित वायुके अन्दर वायुसे अभिन्न स्पन्द प्राप्त होता है ॥ १० ॥

जैसे अग्नि आदिमें स्थित उष्णता अग्नि आदिसे अभिन्न है, जैसे जलादिमें स्थित तरलता जल आदिसे अभिन्न है और जैसे मरिच आदिमें स्थित तीक्ष्णता मरिचसे अभिन्न है वैसे ही चिदाकाशसे जगत् अभिन्न है ॥ ११ ॥

चारों ओर फैला हुआ एकमात्र चित्स्वभावरूप होनेके कारण स्वप्नजगत्‌रूपी दृश्य सुषुप्तिरूपी माँके उदरसे बालककी तरह उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

सकल दृश्यका विलय होनेपर ही सुषुप्ति होती है सुषुप्तिमें भी 'तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्' दृश्यके अस्तित्वका कथन सुनकर उसको असंभव समझ रहा व्याध पूछता है—'तत्सुषुप्ता०' इत्यादिसे ।

तत्सुषुप्तात्मनो दृश्याच्चत्सुषुप्तात्मनोऽपि च ।
किमन्यज्जायते जन्यमथवाऽन्यसुषुप्तता ॥ १४ ॥

मुनिरुवाच

जायते भाति कचति घटादि जगदादि च ।
इति द्वैतोपतप्तानां प्रलापः कल्पनात्मकः ॥ १५ ॥
जातशब्दो हि सन्मात्रपर्यायः श्रूयतां कथम् ।
प्रादुर्भावे जनिस्तूक्तः प्रादुर्भावस्य भूर्वपुः ॥ १६ ॥
सत्तार्थ एव भूः प्रोक्तस्तस्मात्संजातमुच्यते ।
सर्गतो जात इत्युक्ते सन्सर्ग इति शब्दितम् ॥ १७ ॥

व्याधने कहा—महाराज, आप 'तत्सुषुप्तात्मनः' यों तत्शब्दसे और दृश्य पदसे दृश्यका व्यपदेश करते हैं, इसलिए सुषुप्तदृश्य कुछ है, ऐसा आपका अभिप्राय ज्ञात होता है, सो कृपया सुषुप्त दृश्यका क्या स्वरूप है, यह मुझे समझाइये ॥ १३ ॥

क्या जिस प्राणीके हृदयमें आप प्रविष्ट हुए थे उस प्राणीके सुषुप्तिदृश्यसे और आपके सुषुप्तिदृश्यसे भी जन्य जगत्‌रूप दृश्य दूसरा उत्पन्न होता है ? अन्यताका प्रयोजक जन्म क्या है, अथवा सर्वदृश्यप्रलयमें अन्य सुषुप्ति क्या है ? इसे कृपया आप समझाइये ॥१४॥

दृश्य और उसके जन्म आदि क्या वास्तविक हैं, ऐसा तुम पूछते हो या व्यवहारतः उनका क्या रूप है, यह पूछते हो ? प्रथम पक्षमें दृश्य आदिके असत् होनेसे वे कुछ भी नहीं हैं, ऐसा उत्तर श्रीमुनि महाराज देते हैं—'**जायते**' इत्यादिसे।

मुनिने कहा—दृश्य आदि वास्तवमें कुछ नहीं है। घट आदि और जगत् आदि उत्पन्न होते हैं, विकसित होते हैं, यह सब द्वैतसे संतप्त हुए मूर्खोंकी कपोल-कल्पनारूप प्रलापका मैंने अनुवाद किया है, यह कोई तात्त्विक वाद नहीं है ॥ १५ ॥

पण्डितोंके विचारमें तो जात आदि शब्दोंका सन्मात्र ही अर्थ है, दूसरा कोई अर्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**जात०**' इत्यादिसे।

'जात' शब्द केवल 'सत्' का पर्याय कैसे है, यह तुम सुनो मैं इसका उपपादन करता हूँ। 'जन्' धातु 'जनी प्रादुर्भावे' यों पाणिनि आदि द्वारा प्रादुर्भाव अर्थमें कहा गया है। उसमें प्रादुः अन्य धात्वर्थकी प्रकटताको द्योतित करता हुआ अप्रधान है। भूधातुका सत्तामात्र अर्थ ही प्रादुर्भावका प्रधान शरीर है ॥ १६ ॥

हो ऐसा, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'**सत्तार्थः**' इत्यादिसे।

बुधानामस्मदादीनां न किञ्चिन्नाम जायते ।
न च नश्यति वा किंचित्सर्वं शान्तमजं च सत् ॥ १८ ॥
सर्वसत्तात्मकं ब्रह्म सर्वसत्तात्मकं जगत् ।
विधयः प्रतिषेधाश्च वद तत्र लगन्ति के ॥ १९ ॥
या नाम शक्तिः काचित्सा तत्रैवाऽस्ति च नाऽस्ति च ।
यस्मात्तदात्म तद् ब्रह्म तथैवात्म तदात्मकम् ॥ २० ॥

। सत्तार्थक भू धातु 'भू सत्तायाम्' यों पाणिनि आदिसे कहा गया है, इसलिए 'प्रादुः' उपसर्ग युक्त भावशब्दसे संजात (उत्पन्न) प्रकट यानी 'सन्' अर्थ कहा जाता है। वह नित्यसिद्ध स्वप्रकाश चिदात्मा ही है। यदि 'प्रादुः' शब्दका 'सर्ग' अर्थ मानो तिसपर भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सर्ग शब्दका भी सृजधातुसे भावमें प्रत्यय होनेपर वच्के अर्थ सत्तारूप भावमें सृज्य अर्थका अभेदसे अन्वय होनेपर सन् ही सर्गशब्दसे कथित होता है ॥ १७ ॥

ऐसी परिस्थितिमें विद्वानोंकी दृष्टिसे अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रसिद्ध जन्म आदि किसी वस्तुकी भी सिद्धि नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—'बुधानाम्' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी हम लोगोंकी दृष्टिमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और कुछ नष्ट भी नहीं होता सब कुछ शान्त, अजन्मा सन्मात्र है ॥ १८ ॥

इस प्रकार सर्वसत्तात्मक ब्रह्ममें अस्तित्व और नास्तित्वका अथवा विधि और निषेधका अवकाश नहीं है, ऐसा कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सर्वसत्तात्मक ब्रह्म है सर्वसत्तात्म जगत् है जरा बतलाओ तो सर्वसत्तात्मक ब्रह्ममें कौन-सी विधियाँ और कौनसे प्रतिषेधोंका संसर्ग हो सकता है ॥ १९ ॥

तब 'अस्ति' (है) 'नास्ति' (नहीं है) इस लोकप्रसिद्ध व्यवहारका कौन विषय है ? इस प्रश्नपर उक्त व्यवहारके विषयको दर्शाते हुए द्वितीय पक्षमें कहते हैं—'या नाम' इत्यादिसे ।

जो अनिर्वचनीय मायाशक्ति है वही 'अस्ति' 'नास्ति' इस लोकव्यवहारका विषय है, चूँकि ब्रह्म मायाशबल होनेसे अज्ञानियोंकी दृष्टिमें मायात्मक है । जैसे जैसे मायाशक्ति उत्कर्षको प्राप्त होती है वैसे ही सर्वशक्ति घटित स्वरूपवाला वह तदात्मक कहा जाता है ॥ २० ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि परमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किंचिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ २१ ॥
स्वप्नसंकल्पपुरयोर्नाऽस्त्यप्यनुभवस्थयोः ।
मनागपि यथा रूपं सर्गादौ जगतस्तथा ॥ २२ ॥
द्रष्टाऽस्याः स्वप्नदृष्टेस्तु जीवः संभवतीह हि ।
चिदचेत्या तु सर्गादौ भात्यच्छा गगनादपि ॥ २३ ॥
नेह द्रष्टाऽस्ति नो भोक्ता सर्वमस्तीह तादृशम् ।
यन्न किंचिच्च किंचिच्च मौनमेवाऽतिवागपि ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञानी तो सदा तुरीय पदमें प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव उनकी जाग्रद् आदि अवस्थाएँ ही नहीं हैं, विधि, प्रतिषेध तो दूर रहे, ऐसा कहते हैं— **'जाग्रत्०'** इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानसम्पन्न विद्वानोंकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ नहीं हैं, उनके लिए सब कुछ यथास्थित ब्रह्म ही है ॥ २१ ॥

प्रत्यक्षतः अनुभवारूढ़ वस्तुओंका अपलाप करना किसी प्रकार भी संभव नहीं है, इस शङ्काका दृष्टान्तों द्वारा निरास करते हैं— **'स्वप्न०'** इत्यादिसे।

यद्यपि स्वप्न और संकल्पके नगर अनुभवारूढ़ होते हैं फिर भी जैसे उनका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है वैसे ही सर्गके आदिमें जगतका तनिक भी स्वरूप नहीं है ॥ २२ ॥

तब तो जैसे स्वप्न और मनोरथमें प्राणादिमान् जीव द्रष्टा है वैसे ही सर्गादिमें भी प्राण आदि युक्त ही ब्रह्मकी सिद्धि होती है, निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता, इसपर कहते हैं **'द्रष्टा'** इत्यादिसे।

स्वप्न और मनोरथ जीवोपाधिसृष्टिके उत्तरकालवर्ती हैं, अतएव इस स्वप्नदृष्टिका द्रष्टा प्राणादिमान् जीव हो सकता है, किन्तु चेत्यभिन्ना (चेत्यसंसर्गशून्य) चित् सृष्टिके आदिमें आकाशसे भी अधिक स्वच्छ है अतएव सृष्टिके आरम्भमें प्राणादिमान् ब्रह्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु निर्विशेष ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ २३ ॥

सर्गको स्वीकार कर उसका द्रष्टा शुद्ध है यह कहा है। वास्तवमें तो

सर्गादौ कारणाभावाद्यथा काचिनं चितौ ।
तत्तथाऽऽस्ते चिरं रूपं स्वप्नसंकल्पपूर्यथा ॥ २५ ॥
तथाऽस्माच्चेतनाद् द्वैताद्बिभेति न बिभेति वा ।
अङ्गसंस्थाद्यथा चित्रात्स्वरूपात्पुरुषः स्वयम् ॥ २६ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तमेक-
मत्यच्छमेवाऽतिविकारि नाना ।
यथास्थितं भास्वरमप्यशान्त-
मिदं समस्तं परिशान्तमेव ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० निर्वा० उ० अ० बि० श०
सुषुप्तविचारो नाम षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४६ ॥

द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी सम्पूर्णतया इस सृष्टिमें निरूप होती है, ऐसा कहते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

न यहाँ द्रष्टा है और न भोक्ता है यहाँ सब कुछ निर्विकल्प ही है, जो कुछ न होता हुआ भी कुछ है और जो मौन ही अतिशयित वाणीवाला भी है ॥२४॥

सृष्टिके आरम्भ में चित् ही सकल पदार्थ रूपसे विकासको प्राप्त हुई है प्रलयपर्यन्त वैसे ही रहती भी है, ऐसा कहते हैं 'सर्गादौ' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें कारणका अभाव होनेसे चितिमें जो रूप जैसे विकसित हुआ है स्वप्न और मनोरथके नगरके समान वह रूप प्रलय तक ज्योंका त्यों रहता है ॥२५॥

जैसे कि बालक अपने शरीरपर चित्रित बाघ, सर्प आदिके चित्रोंसे भयभीत होता है, लेकिन वयस्क पुरुष उनसे भयभीत नहीं होता । वैसे ही अज्ञानतामें द्वैतवश अन्यकी भ्रान्तिसे जीव आत्मभूत चेतनसे ही भय खाता है, बोध होनेपर भयभीत नहीं होता ॥ २६ ॥

तात्त्विकरूपसे जन्म, स्थिति, विनाशशून्य असीम अत्यन्त निर्मल ब्रह्म ही यथास्थित हो भ्रान्तिसे अतिविकारी और नाना होकर अवभासित होता है । प्रकाशमान अशान्त भी यह जगत् वास्तवमें प्रबोधसे परिशान्त ही है ॥२७॥

एक सौ छियालीस सर्ग समाप्त

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

अनन्तरं महाबाहो सुषुप्तान्निर्गतस्य मे ।
स्वप्ने जगद्दृश्यमिदं सागरादिव निर्गतम् ॥ १ ॥
आकाशाङ्गादिवोत्कीर्णमुत्कीर्णमवनेरिव ।
उत्कीर्णमिव वा चित्तादुत्कीर्णमिव वा दृशः ॥ २ ॥
प्रफुल्लमिव वृक्षेभ्यः सर्गः पूर्वमिवोत्थितः ।
तरङ्गजालं रोधोऽब्धेरिव वा कचनं दृशाम् ॥ ३ ॥
नभस्तलादिवाऽऽयातं ककुब्भ्य इव चाऽऽगतम् ।
पर्वतेभ्य इवोत्कीर्णं भूमेरिव समुत्थितम् ॥ ४ ॥

एक सौ सैंतालीस सर्ग

[दृष्टान्तपूर्वक सुषुप्तिसे स्वप्नमें निर्गमनक्रमका और स्वप्नमें पूर्वदृष्ट कुटुम्ब आदिके दर्शनके रहस्यका वर्णन]

महामुनिने कहा—हे महाबाहो, इसके पश्चात् जब मैं सुषुप्तिसे बाहर आया तब स्वप्नमें मेरा यह जगत् दृश्य सागरसे लहर, मणि, मोती आदिकी तरह बाहर निकला, जैसे छेनी आदि औजारोंसे तराशकर पत्थरसे प्रतिमा प्रकट होती है वैसे ही आकाशसे मानो यह प्रकट हुआ था, पृथिवीसे मानो निकला था, चित्तसे मानो उदित हुआ था, अथवा दृष्टिसे मानो प्रादुर्भूत हुआ था, वृक्षोंसे मानो फूला था, सृष्टि पहलेसे ही स्थित थी नकि उस समय उत्पन्न हुई ऐसा मालूम पड़ता था, किनारोंके निकटवर्ती सागरकी तरङ्गराशि-सा प्रतीत होता था अथवा दृष्टियों-का केशोंके गोले, द्विचन्द्र आदि रूपसे विकचनकी तरह विकचित था, आकाशसे मानो आया हुआ था, दिशाओंसे मानो उदित हुआ था, पर्वतोंसे मानो प्रतिमा आदिकी तरह गढ़कर प्रकट हुआ था, पृथिवीसे मानो निकला था, हृदयसे मानो बाहर आया था, मेघों द्वारा आकाशमें मानो प्रविष्ट किया गया था, वृक्षोंसे मानो पैदा हुआ था, पृथिवीसे धान आदिकी तरह उगा था, अङ्गोंसे मानो निकला था, इन्द्रियों द्वारा मानो दिशाओंमें लिखकर (चित्रित कर) बनाया गया था, पर्देके भीतरसे मानो बाहर आया था, मन्दिरसे मानो निकला था, कहींसे

हृदयादिव निष्क्रान्तं संप्रविष्टमिवाऽम्बुदैः ।
प्रसृतमिव वृक्षेभ्यो जातं वा सस्यवद्भुवः ॥ ५ ॥
अङ्गेभ्य इव निर्यातं समुत्कीर्णमिवेन्द्रियैः ।
पटादिव प्रकटितं मन्दिरादिव निर्गतम् ॥ ६ ॥
कुतोऽप्यागत्य पतितमुड्डीय गगनादिव ।
उपायनं परे लोके गृहीतमिव वा भुवः ॥ ७ ॥
प्रसूनं ब्रह्मवृक्षस्य तरङ्गमिव वाऽम्बुधेः ।
अनुत्कीर्णप्रकटना चित्स्तम्भे चारुपुत्रिका ॥ ८ ॥
आकाशमृन्मयानन्तकुड्यमाकाशपत्तनम् ।
मनो मत्तो गजमयो मिथ्या जीवस्य जीवितम् ॥ ९ ॥
अभित्तिकमरङ्गं च विचित्रं चित्रमम्बरे ।
शम्बरेशस्य सर्वस्वमविद्याख्यस्य कस्यचित् ॥ १० ॥
महारम्भं स्थिरमपि देशकालविवर्जितम् ।
नानाढ्यमपि चाऽद्वैतं नानात्माऽपि न किंचन ॥ ११ ॥

आकर आकाशसे उड़कर मानो गिरा था, प्रजावर्ग द्वारा राजाके सन्मुख रखी हुई भेंट-सा था, इस लोकमें संचित पुण्य जैसे परलोकमें अपने आप उपस्थित होता है वैसे ही उपस्थित हुआ था अथवा खोदने आदि उपायोंसे हाथ लगी भूमिकी निधिकी तरह हाथमें आया था, ब्रह्मरूपी वृक्षका समयपर लगे फूलकी तरह समयपर उपस्थित हुआ था, चित्‌रूपी खम्भेमें तोड़ने तराशनेके बिना ही प्रकट हुई सुन्दर प्रतिमा था, आकाशरूप मिट्टीसे बनी हुई असंख्य दीवारोंसे युक्त आकाशनगर था, मनका मत्त गजमय विलास था, बिना दीवार और बिना रङ्गके आकाशमें चित्रित चित्र था, जीवका मिथ्या सर्वस्व था, माया करनेमें चतुरशिरोमणि अविद्यानामधारी किसी ऐन्द्रजालिकका उत्तम जादू था, महाविस्तार और चिरस्थायी दिखाई देनेसे देशकालसे रहित था, वह नानासे (भेदसे) युक्त होता हुआ भी अद्वैत था, विभिन्न रूप होता हुआ भी कुछ न था, शून्य था, अवास्तविक होनेके कारण गन्धर्वनगर आदि असत् दृष्टान्तोंके तुल्य था, जो भ्रम होता हुआ भी रज्जुसर्प, मृगतृष्णा-जल आदि जाग्रत्‌में दिखलाई देते हैं उनके भी सदृश था, केवल चित्प्रभारूप

गन्धर्वपुरदृष्टान्तस्याऽप्यवस्तुतया समम् ।
जागरायां हि किल तद्भ्रान्तमप्युपलभ्यते ॥ १२ ॥
चिद्भामात्रमनारब्धमप्यारब्धमिव स्थितम् ।
देशकालक्रियाद्रव्यसर्गसंहारसंयुतम् ॥ १३ ॥
सुरासुरनराधारगर्भगर्भमनोहरम् ।
पृथक्कोष्ठस्थबीजौघसंपूर्णमिव दाडिमम् ॥ १४ ॥
नदीशैलवनादिस्थव्योमताराभ्रसंकुलम् ।
गीताब्धिरणपाठाढ्यपवनारावघर्घरम् ॥ १५ ॥
ततो विलोकितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम् ।
यावत्तमेव पश्यामि ग्रामं प्राक्तनमास्पदम् ॥ १६ ॥
तानेव सकलान्बधूंस्तथा संस्थानसंस्थितान् ।
तान्पुत्रांस्तां महेलां च तदेव च तदा गृहम् ॥ १७ ॥
तां दृष्ट्वा प्राक्तनीं ग्राम्यामाहरद्वासनां बलात् ।
तटस्थं मुह्यमानाङ्गमिव वीचिर्महार्णवे ॥ १८ ॥

होनेसे आरम्भ न किया गया भी वह आरम्भ किये गयेकी तरह स्थित था, देश-काल, कर्म और द्रव्यकी सृष्टि और संहारसे युक्त था, देवता, असुर, नर आदिसे युक्त त्रैलोक्याधार गर्भोंसे और उनके गर्भोंसे केलेके खम्भोंके समान मनोहर था। उनमें भी अवान्तर गर्भोंमें अनन्त ब्रह्माण्डोंकी कल्पना होनेसे कोष्ठमें स्थित बीजराशिसे भरा हुआ दाडिमके फलकी तरह था ॥ १–१४ ॥

चाँदीकी शिलाके सदृश नदी, पर्वत, वन आदिमें प्रतिबिम्बित आकाश, तारा और बादलोंसे वह टसाठस भरा था, गर्ज रहे सागरकी ध्वनिसे युक्त था और था वायुकी सरसराहटसे पूर्ण ॥ १५ ॥

वह दृश्यमण्डल मैंने देखा, तदनन्तर वही गाँव, जो कि मैंने पहले स्वप्न-प्रवेशके समय देखा था, उसमें वह घर मुझे दिखाई दिया। उन्हीं सब बन्धु-बान्धवोंको, उन्हीं पुत्रोंको, उसी पत्नीको और उसी घरको, जिनकी अवस्था, उम्र, रूप-रेखा, बनावट आदि जैसी पहले देखी थी हूबहू वैसी ही थी, मैंने देखा ॥ १६, १७ ॥

जैसे महासागरमें लहर तटमें स्थित नष्ट-भ्रष्ट हो रहे अपने प्राक्तन अङ्ग

अथाऽहमभवं तत्र तदालिङ्गननिर्वृतः ।
गृहीतवासनो नूनं विस्मृतप्राक्तनस्मृतिः ॥ १९ ॥
बिम्बं तत्तदुपादत्ते यद्यदग्रेऽवतिष्ठति ।
यथाऽऽदर्शश्चिदादर्शस्तथैवाऽयं स्वभावतः ॥ २० ॥
यस्तु चिन्मात्रगगनं सर्वमित्येव बोधवान् ।
द्वैतेन बोध्यते नेह सोऽङ्ग तिष्ठति केवलः ॥ २१ ॥
न नश्यति स्मृतिर्यस्य विमला बोधशालिनी ।
अयं द्वैतपिशाचस्तं मनागपि न बाधते ॥ २२ ॥

को लाती है वैसे ही बन्धुबान्धव, स्त्री-पुत्र, घरद्वारने मेरी पहलेकी ग्रामीण घर-खेत, पुत्र-बन्धु आदिमें अभिमानवासना जबरदस्ती ला दी ॥ १८ ॥

उसके बाद उनमें आत्मीय वासनावाला मैं वहाँपर उनके (बन्धुबान्धव, पुत्र, स्त्री आदिके) आलिङ्गनसे अत्यन्त सुखी हुआ, मेरी पहलेकी सारी स्मृति विस्मृत हो गई ॥ १९ ॥

प्रसङ्गतः अविमृष्ट (मलिन) और विमृष्ट (स्वच्छ) चित्के स्वभावका उल्लेख करते हैं—**'बिम्बम्'** इत्यादिसे ।

जैसे लौकिक दर्पण जो जो वस्तु आगे आती है उसका प्रतिबिम्ब अपने आप स्वभावतः ग्रहण कर लेता है वैसे ही चित्रूपी आदर्श भी वासना द्वारा उपस्थित किया गया जो जो पदार्थ अव्यवहित पूर्वमें रहता है, स्वभावतः तत्-तत् आकार धारण कर लेता है ॥ २० ॥

लेकिन विमृष्ट चित्का ऐसा स्वभाव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'यस्तु'** इत्यादिसे ।

किन्तु जिस चिदादर्शको यह सब चिन्मात्राकाश ही है ऐसा ज्ञान हो चुका, वह यहाँ वासनामय द्वैतसे (प्रतिबिम्ब ग्रहण आदिसे) पीडित नहीं होता, वह केवल चिन्मात्ररूपसे स्थित रहता है ॥ २१ ॥

जिसकी बोधशालिनी अतएव निर्मल स्मृति नष्ट नहीं होती, उसे यह द्वैतरूपी पिशाच तनिक भी दुःखी नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

येषामभ्यासयोगेन साधुसच्छास्त्रसंगमैः ।
उदेति बोधधीर्भूयो या विस्मरति नोदयम् ॥ २३ ॥
अप्रौढा मे तदा साऽऽसीद्बोधधीर्या तया हृता ।
अद्य शक्नोति मे बुद्धिं हन्तुं क इव दुर्ग्रहः ॥ २४ ॥
तवाऽपि व्याध विद्धीदं बुद्धिः सत्सङ्गवर्जिता ।
द्वैतबोधेन कष्टेन कृच्छ्राच्छान्तिमुपैष्यति ॥ २५ ॥

व्याध उवाच

एवमेतन्मुने सत्यं पावनैस्त्वद्विबोधनैः ।
ईदृशैरपि मे बुद्धिर्न विश्राम्यति सत्पदे ॥ २६ ॥

जिन सत्पुरुषोंको अभ्याससे साधु-सन्त और सत् शास्त्रके संगसे बोध हो जाता है, वह बोध जो एक बार उदित हो गया तो फिर कदापि अपने उदयको नहीं भूलता सदा ही ब्रह्मानुसन्धानरूपसे रहता है, उन्हें यह द्वैत बाधा नहीं पहुँचाता ॥ २३ ॥

आप तो तत्त्वज्ञ थे फिर आपको उस समय कैसे व्यामोह हुआ ? इसपर कहते हैं—'**अप्रौढा**' इत्यादिसे ।

उस समय मेरा वह बोध प्रौढ नहीं हुआ था, इसलिए बन्धु-बान्धवोंकी वासना द्वारा वह तिरस्कृत हो गया । अब तो मेरा बोध अत्यन्त प्रौढ हो गया है आज तो किस दुर्वासनाजालमें उसे डिगानेकी सामर्थ्य है ॥ २४ ॥

हे व्याध, तुम्हारी बुद्धि भी सत्संग रहित होनेसे अब भी शान्तिको नहीं प्राप्त होती है । किन्तु आगे कहे जानेवाले तपस्या, शरीरवृद्धि, मरण, जन्मान्तर, राज्य आदिके कष्ट द्वारा द्वैतको समझकर बड़ी कठिनतासे साधनाके अभ्यास और परिश्रमसे ज्ञान प्राप्त करके शान्तिको प्राप्त हो जायगी ॥ २५ ॥

मुनि महाराजके कथनका अनुमोदन करता हुआ व्याध बोला—'**एवमेव**' इत्यादिसे ।

व्याधने कहा—हे मुनिवर, आपका कथन सोलह आने सत्य है इस प्रकारके पवित्रतम आपके बोधोपदेशोंसे भी मेरा मन परमलक्ष्य सत्पदपर नहीं टिक रहा है ॥ २६ ॥

स्यादीदृशमथो न स्यादिति संदेहजालिका ।
नैतस्मिन्स्वानुभूतेऽपि वस्तुन्यद्याऽपि शाम्यति ।। २७ ।।
अहो बत दुरन्तेयमभ्याससुदृढीकृता ।
अविद्या विद्यमानैव या शान्तैव न शाम्यति ।। २८ ।।
सत्सङ्गतैः पदपदार्थविबुद्धबुद्धेः
सच्छास्त्रसत्क्रमविचारमनोहराङ्गैः ।
अभ्यासतः प्रशममेति जगद्भ्रमोऽयं
नाऽन्येन केनचिदपीति विनिश्चितिर्मे ।। २९ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० अ० वि० श० स्वप्नोपलम्भनं नाम सप्तचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ।। १४७ ।।

ऐसा है या नहीं है, इस तरहका संशय-जाल इस स्वानुभूत वस्तुके विषयमें भी शान्त नहीं होता है ।। २७ ।।

अभ्याससे अत्यन्त बद्धमूल हुई इस अविद्याका पार पाना अत्यन्त कठिन है । यद्यपि यह अविद्यमान ही है और शान्त ही है तथापि शान्त नहीं होती ।।२८।।

तुम्हारी बुद्धि सत्संगतिशून्य है, ऐसा जो मुनिमहाराजने कहा था, उसका भी अनुमोदन करता हुआ कहता है—'सत्संगतैः' इत्यादिसे ।

सत् (ज्ञानप्रद) शास्त्र, उत्तम गुरुसम्प्रदाय और उत्तम विचार आदिसे सर्वाङ्ग मनोहर सत्संगतियोंसे उत्पन्न हुई पदपदार्थ-विवेकबुद्धिके अभ्याससे उत्पन्न तत्त्वबोधसे क्रमशः यह जगद्भ्रम शान्त हो जाता है, इसके सिवा दूसरे किसी उपायसे इसकी शान्ति नहीं हो सकती, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ।। २९ ।।

एक सौ सैंतालीस सर्ग समाप्त



अष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः

व्याध उवाच

एवं चेत्तन्मुनिश्रेष्ठ सत्यतासत्यते कथम् ।
स्थितः स्वप्नदृशौ चैष सुमहान् संशयो मम ॥ १ ॥

मुनिरुवाच

देशकालक्रियाद्रव्यैर्या संविन्निश्चितोदिता ।
काकतालीयवद्भाति सा सत्यस्वप्ननामिका ॥ २ ॥

एक सौ अड़तालीस सर्ग

[स्वप्नकी सत्यता तथा असत्यताका हेतु तथा चित्की सर्वात्मता, एकता और शुद्धिसे युक्त जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिका वर्णन]

व्याधने कहा—हे मुनिनायक, वासनाके अनुसार चित्का वेदन ही स्वप्न है और जाग्रत् भी स्वप्नविशेष ही है ऐसा यदि सिद्धान्त है तो प्रातःकालमें देखा गया हाथीपर सवार होना इत्यादिरूप कोई स्वप्न लाभ आदि फलका सूचक होनेसे सत्य है, उससे अन्य अरण्यमें जाना, घूमना आदिरूप स्वप्न किसी प्रकारके फलका सूचक न होनेसे असत्य है, यों स्वप्नदर्शनोंकी सत्यता और असत्यताकी कैसे उपपत्ति होगी ? इसी प्रकार हिरण्यगर्भके मनोरथसे कल्पित सृष्टि अर्थक्रियाकारी होनेसे सत्य है हमारे मनोरथसे कल्पित सृष्टि असत्य है यों जाग्रत्-जगत्के विषयमें भी मेरा यह महान् सन्देह है। अधिष्ठान चित्की सत्यतासे अध्यस्तमें सत्यता स्वतः असत्यता दोनों जगह तुल्य ही है, तो इस विषमताका क्या कारण है, यह भाव है ॥ १ ॥

श्रीमुनिजीने कहा—हे व्याध, जो स्वप्नसंवित् स्वप्नेश्वरीदेवीके निकटवर्ती देशमें, रात खुलते समय तड़के, देवताकी आराधना, तप, व्रत आदि कर्मों और हविष्य अन्न भोजन, कुशमय विस्तर आदि द्रव्यों द्वारा शास्त्र प्रमाणोंसे 'इस तरहके स्वप्नका इस प्रकारका फल अवश्य होता है' यों निश्चित उदित होती है वह संवित्, उन शकुनोंकी तरह जिनका कि फल काकतालीय है, उत्तरकालमें अवश्य फललाभ होनेके कारण सत्य स्वप्न नामवाली होती है ॥ २ ॥

मणिमन्त्रौषधिद्रव्यैः क्वचिद्व्यभिचारिणी ।
क्वचित्सव्यभिचारा चित्सत्यस्वप्नाभिधा स्मृता ॥ ३ ॥
सत्यस्वप्नस्थितिर्लोकेष्वीदृग्रूपा यदा स्थिता ।
तदैषा काकतालीयन्यायादन्या न लभ्यते ॥ ४ ॥
यं यं निश्चयमादत्ते संवित्स्वदृढनिश्चया ।
तथा तथा भवत्येषा फलयुक्तस्वभावतः ॥ ५ ॥
तमेव निश्चयं त्वस्या अन्यः प्रतिनिहन्ति चेत् ।
तत्राऽसौ निश्चयः प्रौढः स कथं लक्ष्यभाग्भवेत् ॥ ६ ॥

लेकिन मणि, मन्त्र और औषधियोंसे होनेवाली स्वप्नसंवित् मणि, मन्त्र आदिके योग्य पुरुषमें अव्यभिचारिणी होती है और मणि आदिके अयोग्य पुरुषमें सव्यभिचारिणी होती हुई भी शास्त्रमर्यादाका उल्लंघन न करनेसे दोनोंमें सत्य स्वप्ननामिका ही कही गई है ॥ ३ ॥

वहाँ दोनों जनोंमें ही काकतालीय न्याय ही एकमात्र आसरा है दृष्ट किसी भी नियामकका निरूपण नहीं किया जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'सत्य०'** इत्यादिसे ।

जब लोगोंमें सत्यस्वप्नोंकी स्थिति इस प्रकारकी है तब यह काक-तालीय न्यायके सिवा अन्य कुछ नहीं है ॥ ४ ॥

हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदिकी संवित् पूर्वजन्मकी प्रबल उपासनाके परि-पाकसे जन्य होनेके कारण सत्यसंकल्परूप दृढ़ निश्चयवाली होकर जिस जिस निश्चयको अपनाती है वैसी वैसी अवश्य हो ही जाती है, ऐसा कहते हैं-**'यं यम्'** इत्यादिसे ।

हिरण्यगर्भकी दृढ़ निश्चयात्मिका संवित् जिस जिस निश्चयको ग्रहण करती है पूर्वजन्मकी उपासनाके फलके प्रभावसे उत्पन्न स्वभावसे वह वैसी वैसी हो जाती है ॥ ५ ॥

यदि प्रश्न हो कि हिरण्यगर्भकी उक्त संवित् भी दूसरे पुरुषके उससे विरुद्ध सत्य संकल्पसे क्यों तिरस्कृत नहीं होती ? इसपर कहते हैं—**'तमेव'** इत्यादिसे ।

हिरण्यगर्भकी संवित्के सर्गादि निश्चयको कोई दूसरा अगर तिरस्कृत

न बहिर्नाऽन्तरे सन्ति पदार्थाः केचन क्वचित् ।
संविदेका जगद्रूपैर्यथेच्छति तथा स्थिता ॥ ७ ॥
स्वप्नोऽयं सत्य इत्यन्तर्निश्चयेन तथोदिता ।
तथैवाऽऽशु भवत्येषा संशयात्संशयं व्रजेत् ॥ ८ ॥
अन्यतोऽपि फलं प्राप्तं स्वप्नसत्यत्वकल्पनात् ।
स्वप्नेन सूचितमिदं फलमित्येव वेत्त्ययम् ॥ ९ ॥
सर्व एव निजया जगत्त्रये
संविदाऽतिशयिता दृढा अपि ।
कालतो व्यभिचरन्ति देशतो
यत्नतश्च चिरतोऽचिरेण वा ॥ १० ॥

करता है तो उसमें पूर्वजन्मकी उपासनाके समय 'मैं जगत्का सर्जनहार हूँ' ऐसा प्रौढ निश्चय मृत्युके समयमें उद्भूत होकर "तद्धैतल्लोकजिदेव" इस श्रुतिसे सिद्ध स्वलक्ष्य फलवाला कैसे होगा ? इससे सिद्ध है कि हिरण्यगर्भकी संवित्के अविरोधसे ही अन्य सिद्ध जनोंका संकल्प उदित होता है, उसके विरुद्ध नहीं होता ॥ ६ ॥

ऐसी स्थितिमें संवित्स्वतन्त्रता अक्षुण्ण ही है, ऐसा कहते हैं—**'नेति'** इत्यादिसे ।

कोई घट, पट आदि पदार्थ न कहीं भीतर हैं और न कहीं बाहर हैं केवल सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एकमात्र संवित् जैसी इच्छा करती है वैसे ही जगत्के रूपोंसे स्थित होती है ॥ ७ ॥

'यह स्वप्न सत्य है' इस प्रकारके शास्त्र आदि प्रमाणों द्वारा किये गये निश्चयसे अन्दर सत्य उदित हुई स्वप्नादिसंवित् तुरन्त सत्य ही हो जाती है और 'सत्य है या नहीं है' इस प्रकारके सन्देहसे संशयापन्न हो जाती है ॥ ८ ॥

स्वप्न संवित्की सत्यता काकतालीयवत् है ऐसा जो पहले कहा था, उसका उपपादन करते हैं—**'अन्यतः'** इत्यादिसे ।

यह स्वप्नद्रष्टा जीव अन्य उपायसे भी प्राप्त हुए फलको, स्वप्नमें सत्यत्वकी कल्पनासे, यह फल स्वप्न द्वारा ही सूचित है, ऐसा समझता है ॥ ९ ॥

इसी प्रकार जाग्रत्में प्रसिद्ध घट, पट आदिकी संवित् भी काकतालीय

सर्गादावेव चिद्व्योमभानमप्रतिघं जगत् ।
वस्तुसत्तां चिदेवाऽतो यथेष्टं तनुते तनुः ॥ ११ ॥
चिन्मात्रं वर्जयित्वैकं ब्रह्माऽन्यत्सर्वदाऽखिलम् ।
विद्धि सत्यमसत्यं च नियतानियतं स्थितम् ॥ १२ ॥
यस्माद् ब्रह्मैव सर्वात्म सदेकमेव नेतरत् ।
तस्मात्किं नाम तत्सत्यं किमसत्यं च बा भवेत् ॥ १३ ॥
अतः स्वप्नः क्वचित्सत्यः क्वचिच्चाऽसत्य एव वा ।
अबुद्धानां प्रबुद्धानां नाऽसद्रूपो न सन्मयः ॥ १४ ॥

ही है, क्योंकि उनमें भी देश और समयके भेदसे अन्यथाभाव देखनेमें आता है, ऐसा कहते हैं—**'सर्व एव'** इत्यादिसे ।

त्रैलोक्यमें तत्-तत् (विभिन्न) पुरुषोंकी अपनी निज संवित् द्वारा चिर अभ्यस्त अर्थक्रिया आदिसे बद्धमूल घटादिस्वभाववाले भी सभी पदार्थ शीघ्र या चिरकालमें देश, काल तथा मुद्गरके आघातादि प्रयत्नसे अन्यथाभावको प्राप्त होते हुए व्यभिचरित होते हैं, पूर्वनिश्चित स्वभावका त्याग करते हैं ॥ १० ॥

सृष्टिके आरम्भमें चिदाकाशका अविनश्वर भान ही जगत् है । अतएव सूक्ष्म चित् ही वस्तुसत्ताका यथेष्ट विस्तार करती है ॥ ११ ॥

इसलिए केवल सन्मात्र ही नियत सत्तावान् है उससे अतिरिक्त सबकी सत्ता अनियत है, ऐसा कहते हैं—**'चिन्मात्रम्'** इत्यादिसे ।

केवल सन्मात्र ब्रह्मको छोड़कर और सबको तुम सदा सत्य-असत्य, नियत-अनियत रूपसे स्थित समझो ॥ १२ ॥

यतः एक सद् ब्रह्म ही सर्वात्मक (सर्वरूप) है उससे अन्य कुछ नहीं है, इसलिए उससे अतिरिक्त सत्य या असत्य क्या होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ १३ ॥

इस प्रकार विचार करनेपर स्वप्न भी कहीं किसी कालमें सत्य और कहीं किसी कालमें असत्य भी संवित्‌रूपसे सत्य और अन्य रूपसे असत्य है, ऐसा कहते हैं—**'अतः'** इत्यादिसे ।

इन अज्ञानियोंके लिए कहींपर स्वप्न सत्य और कहींपर असत्य ही है, किन्तु ज्ञानवान् जनोंके लिए न असद्रूप है और न सन्मय है ॥ १४ ॥

संविद्भ्रान्तिरियं भाति जगन्नाम्नी स्वरूपिणी ।
स्वयं च भ्रान्तिरस्मीति वादिनी काऽत्र निश्चिता ॥ १५ ॥
चितिरेव चिरायेदं चित्तं चिमचिमायते ।
यदात्मन्येव सलिलं द्रववत्तदिदं जगत् ॥ १६ ॥
यथा स्वप्नं समालोक्य सुषुप्तमनुभूयते ।
तथा जाग्रत्समालोक्य निद्रा समनुभूयते ॥ १७ ॥
अतस्त्वं जाग्रदेवेदं स्वप्नं विद्धि महामते ।
स्वप्नं च विद्धि जाग्रत्त्वमेकमेतदजं द्वयम् ॥ १८ ॥
व्योमैवाऽचेत्यचिन्मात्रभानमेकमिदं ततम् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः पर्यायरचना इह ॥ १९ ॥

जगत् नामक आकारवती यह संवित्‌रूप भ्रान्ति भासित होती है यह स्वयं मैं भ्रान्ति हूँ, ऐसा कहती है, इसमें यथार्थ संवित् कौन है ॥ १५ ॥

चिति ही चित्त बनकर जलमें द्रवकी तरह जो अपनेमें जगमगाती है साभास स्फुरित होती है, वही यह जगत् है ॥ १६ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति जमे हुए और कुछ पिघले हुए घृतके समान अभिन्न ही हैं, यह उपपादन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्न देखकर सुषुप्तिका अनुभव होता है वैसे ही जाग्रत्‌का अवलोकन कर निद्राका अनुभव किया जाता है ॥ १७ ॥

हो ऐसा, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'**अतः**' इत्यादिसे।

जैसे जमा हुआ कड़ा घी ही कुछ पिघलता है कुछ पिघला हुआ ही जमकर फिर कड़ा हो जाता है यों दो घृतोंमें परस्पर भेद नहीं है क्योंकि वही यह घृत है ऐसी प्रत्यभिज्ञा दोनों अवस्थाओंमें होती है, हे महामते, वैसे ही तुम जाग्रत् ही यह स्वप्न है ऐसा जानो और स्वप्नको जाग्रत् जानो, ये दोनों एक अविनाशी ब्रह्म ही हैं ॥ १८ ॥

इस प्रकार अविद्यावृत चिन्मात्ररूप एक सुषुप्ति ही घृतवत् सदा द्रष्टव्य है । सभी नामरूपके भेद उसीके पर्याय हैं ऐसा निष्कर्ष निकला, यह कहते हैं—'**व्योमैव**' इत्यादिसे ।

अचेत्य चिन्मात्र भानरूप एक यह आकाश ही चारों ओर व्याप्त है ।

नेह नामाऽस्ति नियतिर्न चाऽनियतिरस्ति च ।
नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशे स्वप्नसंविदि ॥ २० ॥
यावद्भानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियन्त्रणा ।
स एव संविद्भानस्य कुर्यान्नियमनं मुनिः ॥ २१ ॥
स्वच्छन्दं वातलेखायाः स्फुरन्त्याः संविदस्तथा ।
अकारणकमेवाऽङ्ग नियतिः केव कीदृशी ॥ २२ ॥

यहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि उसीके नामान्तर (पर्याय) हैं ॥१९॥

स्वप्न आदिके फलका नियम और अनियम भी उससे पृथक् नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'नेह'** इत्यादिसे ।

यहाँ न नियति है और न अनियति है । जरा बतलाइए तो मिथ्याभूत स्वप्नसंवित्में नियम और अनियमका ही कैसे संभव हो सकता है, यानी मिथ्या होनेके कारण भी नियम और अनियम अविद्यावृत चिन्मात्रसे पृथक् नहीं हैं, यह भाव है ॥ २० ॥

अज्ञानसे आवृत अनियन्त्रित चित् जाग्रत् और स्वप्न है, परिश्रम आदि निमित्तसे नियन्त्रित हुई वह सुषुप्ति है तथा प्रयत्नसे नियन्त्रणमें लाई गई उक्त चित् समाधि है । अज्ञानका विनाश हो जानेपर वही मुक्ति कहलाती है । ऐसी परिस्थितिमें जाग्रत्के निरोधसे मनोव्यापारमात्ररूप स्वप्नमें जब तक भान होता है तब तक वही चित्का बाह्य प्रवृत्तिनियन्त्रणरूप अन्य शोक है जब तक संवित्-भानका नियन्त्रण रहता है तब तक सुषुप्तिमें आत्मा ही सर्व शोकान्तर है ऐसा जानकर शोकरहित समाधि सुखरूपी विश्राम चाहनेवाला पुरुष नियमन ही करे ॥ २१ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि संवित्का पवनके समान नियमन करना अति दुष्कर है । उक्त संवित्का स्वप्न आदिके आकारमें स्फुरित होनेका नियम है, इसपर कहते हैं—**'स्वच्छन्दम्'** इत्यादिसे ।

वायुलेखाकी तरह स्वच्छन्द स्फुरित हो रही संवित्का विषयाकारमें स्फुरण होना स्वभाव नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें उसका विषयाकार स्फुरण नहीं दिखाई देता । और स्वप्नमें संवित्के विषयाकार स्फुरणमें किसी कारणका भी

अथाऽऽकारादि यन्नाम कल्प्यते कारणं विदः ।
तदकारणकं सर्गः स्यादनन्यन्न वै चितेः ॥ २३ ॥
एतावत्येव नियतिरत्र यन्नाम यद्यथा ।
यावत्प्रस्फुरितं भानं तत्तथा न तदन्यथा ॥ २४ ॥
कदाचित्सत्यता स्वप्ने कदाचिच्चाऽप्यसत्यता ।
अभावान्नियतेरेव काकतालीयमेव तत् ॥ २५ ॥
यत्स्वेनैवाऽऽत्मना भाति मणिमन्त्रौषधात्मना ।
यन्नाम नियतं तत्तु जाग्रत्यपि हि दृश्यते ॥ २६ ॥

निरूपण नहीं किया जा सकता, जिसको कि निमित्त मानकर नियति हो, इसलिए नियति कौन और कैसी ? ॥ २२ ॥

यदि कोई कहे कि बाह्य, घट, पटके आकार ही संवित्से अपना सम्बन्ध होनेपर संवित्की स्वाकारतामें कारण हों ? इसपर कहते हैं—**'अथ'** इत्यादिसे ।

घट, पट आदिका आकार संवित्के स्वाकारमें परिणत होनेमें तब कारण माना जा सकता है जबकि सृष्टिमें किसी दूसरे कारणका निरूपण करना संभव होता । लेकिन जब पूर्वोक्त युक्तिसे सृष्टि अकारण (कारणके बिना ही उत्पन्न) है तब चित्से अनन्य (अभिन्न) आकार आदि चित्के घट आदिके आकारमें परिणत होनेमें कदापि कारण नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

तो क्या साराका सारा नियतिरूपी महल ढह गया ? ऐसी आशङ्का होनेपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'एतावत्येव'** इत्यादिसे ।

यहां जो चिति जब जैसे स्फुरित होती है वह वस्तु तब वैसी पारमार्थिक, व्यावहारिक या प्रातिभासिक होती है इस प्रकारकी ही नियति व्यवहारपर्यन्त रहती ही है अन्यथा नहीं होती है ॥ २४ ॥

स्वप्नकी सत्यतानियति तो सर्वत्र शास्त्रानुसार होती है, इसलिए काकतालीयवत् ऐसा हमने कहा है, ऐसा कहते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

नियतिके अभावसे ही स्वप्नमें कभी सत्यता और कभी असत्यता होती है, इसलिए स्वप्नसत्यत्व काकतालीय ही है ॥ २५ ॥

मणि, मन्त्र, औषध आदि रूपसे प्रयुक्त स्वप्नसत्यता-नियति तो जाग्रत् प्रतीतिमें भी तुल्य है, ऐसा कहते हैं—**'यत्'** इत्यादिसे ।

जाग्रत्स्वप्नश्च चिद्भानमात्रमेवाऽन्यताऽत्र का ।
जाग्रति स्वप्ननगरे वेदनात्सदृशात्मकम् ॥ २७ ॥
जाग्रन्न संभवत्येव यज्जाग्रदिति शब्दितम् ।
स्वप्न एव जगद्रूपं निर्निद्रस्यैव चाऽऽत्मनः ॥ २८ ॥
स्वप्नो वा नाम नाऽस्त्येव यः स्वप्न इव शब्दितः ।
सुप्तासुप्तैकरूपस्य ब्रह्मणो बोधरूपता ॥ २९ ॥
जाग्रत्स्वप्नादयो वैते न केचन कदाचन ।
दृश्यं पश्यति सत्ताऽऽशु मृतिभ्रान्तेरनन्तरम् ॥ ३० ॥
यथाऽनवरतं कालमनन्तं सीकरोर्मयः ।
त एवाऽन्यवदभ्राशावदनन्याः स्फुरन्त्यलम् ॥ ३१ ॥

मणि, मन्त्र और औषधि रूप स्वात्मासे स्वप्न आदिकी जो सत्यता नियत है वह सत्यता तो जाग्रत्में भी दिखाई देती है ॥ २६ ॥

जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही केवल चित्भान ही हैं, अतएव इनमें विभिन्नता कैसी ? जाग्रत् और स्वप्नके नगर अनुभवसे सदृशस्वरूप ही हैं अर्थात् उनका वेद्य स्वरूप अथवा वेदन स्वरूप अनुभवतः तुल्य ही है ॥ २७ ॥

अतएव निद्राविहीन आत्मामें जाग्रत् और स्वप्न दोनोंका ही व्यभिचार होनेसे अभाव ही है, ऐसा कहते हैं—**'जाग्रत्०'** इत्यादिसे ।

निद्राविहीन आत्मामें जाग्रत्का कदापि संभव नहीं है । जो जाग्रत्के नामसे प्रसिद्ध जगत् रूप है, वह स्वप्न ही है । निर्निद्र आत्मामें स्वप्नका भी संभव नहीं है, जो स्वप्न नामसे प्रसिद्ध है वह सुप्त और जाग्रत् एकरूप ब्रह्मकी ज्ञानरूपता ही है ॥ २८,२९ ॥

ऐसी स्थितिमें निद्राविहीन आत्माकी सुषुप्ति भी नहीं ही है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'जाग्रत्'** इत्यादिसे ।

निर्निद्र आत्माके वे जाग्रत्, स्वप्न आदि कोई कदापि नहीं हैं एवं दृश्यका आत्यन्तिक अदर्शनरूप अथवा आत्माका उच्छेद आदिरूप मृत्यु भी नहीं ही है, क्योंकि अविलुप्त चित्सत्ता मृत्युभ्रमके अनन्तर तुरन्त ही दृश्यको देखती है ॥३०॥

जैसे जलकणोंकी लहरें, मेघ और दिग्भ्रम होनेपर दिशाएँ ये सब अनन्य होते हुए भी चिरकाल तक निरन्तर सर्वथा अन्यवत् प्रतीत होते हैं, वैसे ही

तथाऽनन्ये परे सर्गाः स्फुरन्त्यस्फुरिता अपि ।
शिलाकोशान्तलेखावज्जाग्रत्स्वापादि तत्र किम् ॥ ३२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुर्यकवपुः साकारतावर्जितं
सर्वाकारमपि व्यतीतकलनं सर्गं शरीरं दधत् ।
व्याप्तं चिद्वपुषा तथापि सुषिरं शून्येन दृश्यात्मना
चिन्मात्रं खमिदं मनागपि नभोमात्रान्न भिन्नं पुनः ॥ ३३ ॥
साकाशानिलवह्निवारिधरणीलोकान्तराम्भोधरं
सर्गादावपि कारणाननुभवाच्चित्तात्मकं केवलम् ।
नाम्ना वर्जितमेव बोधवपुषा संयुक्तमेवाऽन्ततः
शुद्धं वेदनमात्रमेव सकलं दृश्यं न वस्त्वन्तरम्

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० श० स्वप्ननिर्णयो
नामाष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४८ ॥

अभिन्न परम ब्रह्ममें शिलाके अन्दरकी रेखाओंकी तरह सृष्टियाँ स्फुरित होती हैं। उनमें जाग्रत, स्वप्न आदिका कैसे संभव है ॥ ३१,३२ ॥

हे व्याध, यह आत्मस्वरूप, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति स्वरूपवाला और उनसे विपरीत तुरीयावस्था स्वरूपवाला तथा आकार रहित होकर भी सर्वाकार है, काल-कलनासे रहित होनेपर भी सर्वात्मक कालसे परिच्छिन्न सृष्टिरूप शरीर धारण करता हुआ शून्य इस चिद्वपुसे और शून्यरूप ही दृश्यसे आकाशरूप छिद्रको व्याप्तकर स्थित है तथापि आकाशात्मक चिन्मात्र यह अपने शुद्ध चिन्मात्ररूपसे तनिक भी भिन्न नहीं है ॥ ३३ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, अन्यान्य लोक, मेघ आदि भूत भौतिक सहित दृश्य (जगत्) सृष्टिके आदिमें भी दूसरे किसी भी कारणका प्रमाणों द्वारा अनुभव न होनेसे केवल हिरण्यगर्भचित्तात्मक है। चित्तरूप मनोरथरूप इसके नामरूपोंका अस्तित्व न होनेसे यह नामसे वर्जित (रहित) ही है बोधशरीरवाले मनके साक्षीसे संयुक्त ही है। अन्तमें मनका विलय होनेपर सारा-का सारा दृश्य वेदनमात्र ही है, अन्य वस्तु नहीं है ॥ ३४ ॥

एक सौ अड़तालीस सर्ग समाप्त

एकोनपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

व्याध उवाच

अनन्तरं मुने ब्रूहि तत्तत्त्वं जागतस्य ते ।
किं वृत्तमुरुवृत्तान्तशतनिर्वाणसंभृतेः ॥ १ ॥

मुनिरुवाच

ततः शृणु तदा साधो तस्मिंस्तद्धृदयौजसि ।
अपूर्व एव वृत्तान्तः को वृत्तो वृत्तसस्पृह ॥ २ ॥
तथा मम च तत्रस्थविस्मृतात्मचमत्कृतेः ।
अभ्यवर्तत वै काल ऋतुसंवत्सरात्मकः ॥ ३ ॥
कलत्ररञ्जितमतेर्मम वर्षाणि षोडश ।
तत्र तानि व्यतीतानि गृहस्थाश्रमतोऽमतेः ॥ ४ ॥
कदाचिच्चाऽऽजगामाऽथ गृहमुग्रतपा मम ।
मुनिर्मान्यो महाबोधो बुधोऽतिथितया तथा ॥ ५ ॥

एक सौ उनचास सर्ग

[पूर्वोक्त स्वप्न वृत्तान्तके सिलसिलेमें घरमें आये हुए किसी अन्य मुनिके मुँहसे श्रुत कहनमें लोगोंके तुल्य (एकसे) सुख, दुःख आदिके निमित्तका मुनि द्वारा कथन]

व्याधने कहा—हे महामुनिजी, आपके प्रलय आदि सैकड़ों महावृत्तान्तों के साथ अनेक सृष्टियाँ (संसार) शान्त हो चुके थे ऐसे आपका जब गृहस्थाश्रममें पुत्र-भार्या, बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रोंके साथ समागम हुआ तब वहाँपर अनुभवमें आ रहे जगत्‌का क्या हाल हुआ, उसका तत्त्व कृपया मुझसे कहिये ॥१॥

मुनिने कहा—हे सदाचारमें स्पृहा रखनेवाले, हे साधो व्याध, उसके पश्चात् उस प्राणीके हृदयस्थित ओजमें उस समय जो अपूर्व वृत्तान्त हुआ, उसे तुम सुनो । उक्त ओजमें बैठनेसे मेरा आत्मज्ञानका सारा वैभव विस्मृत हो गया । ऋतु, वर्ष आदि रूप समय चक्कर काट काटकर बीतने लगा । स्त्री-बच्चोंपर अति अनुराग रखनेवाले तथा आत्माका कभी मनन न करनेवाले मेरे वहाँपर गृहस्थाश्रममें सोलह वर्ष बीत गये ॥ ३—४ ॥

इसके बाद किसी समय महातपस्वी आत्मज्ञानी मननशील कोई संमान्य विद्वान् अतिथिके रूपमें मेरे घर पधारे । मैंने उनका खूब आदर सत्कार किया,

सोऽन्न संपूजितस्तुष्टः भुक्तवान्सुप्तवांस्ततः ।
इदमङ्ग मया पृष्टो विमृश्य जनताक्रमम् ॥ ६ ॥
भगवन्भूरिबोधोऽसि जानासि जगतो गतीः ।
यस्माददृष्टक्रोधोऽसि सुखे गृह्णासि नो रतिम् ॥ ७ ॥
सुखदुःखान्युपायान्ति कर्मभिः कर्मशालिनाम् ।
शुभाशुभैः शरत्काले सस्यानीव फलार्थिनाम् ॥ ८ ॥
समसेवाऽशुभं कर्म किमिमाः सकलाः प्रजाः ।
कुर्वन्त्यासां यदा यान्ति दोषाः सर्वादयः समम् ॥ ९ ॥
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातं सर्वादि सममेव किम् ।
जनजालस्य फलति समाना कस्य दुष्क्रिया ॥ १० ॥
इत्याकर्ण्य समालोक्य स्मयमान इवोन्मनाः ।
स उवाच वचो वन्द्यममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥ ११ ॥

उससे प्रसन्न होकर उन्होंने भोजन किया और तदनन्तर आराम किया। मैंने बहुतसे लोगोंके तुल्य सुख-दुःखके क्रमका विचार कर उनसे यह पूछा ॥ ५,६ ॥

हे भगवन्, चूँकि आप महाज्ञानी हैं, जगत्की सब गतिविधियाँ जानते हैं, क्रोधका तो आपमें नामनिशान भी नहीं है तथा विषयसुख-लेशमें आपकी तनिक भी आसक्ति नहीं है। जैसे शरत् ऋतुमें फलार्थी कृषकोंको धान आदि अन्न प्राप्त होते हैं वैसे ही कर्मशाली जीवोंके शुभ अशुभ कर्मोंसे सुख और दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सभी लोग साथ ही अशुभ कर्म करते हैं जिससे कि इन सबके भक्ष्य और अभक्ष्योंको हड़प जानेवाले दुर्भिक्ष आदि दोष साथ ही आते हैं ॥७–९॥

दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, उल्कापात आदि उपद्रव, जो सब भक्ष्य, अभक्ष्य आदिको हड़प जाते हैं, सब लोगोंके साथ ही होते हैं, तो क्या संपूर्ण जनराशिका समान ही दुष्कर्म फलित होता है ॥ १० ॥

मेरा यह प्रश्न सुनकर, मेरी ओर देखकर, विचारकर मुसकिरा रहे उन मुनि महाराजने अन्यमनस्कसे होकर अमृतके झरनेके समान मनोहर श्लाघ्य वचन कहा ॥ ११ ॥

अन्यमुनिरुवाच

साधो साधुविविक्तान्तःकरणे यत्तु कारणम् ।
सद्वाऽसद्वाऽस्य दृश्यस्य कस्माज्ज्ञानासि कथ्यताम् ॥ १२ ॥
संस्मराऽऽत्मानमखिलं कस्त्वं क्वेह स्थितोऽसि च ।
क्वाऽहं वा किमिदं दृश्यं किं सारं किंचिदेव च ॥ १३ ॥
स्वप्नमात्रमिदं भाति किल कस्मान्न वेत्सि भो ।
अहं स्वप्ननरो यत्ते त्वं स्वप्नपुरुषोपमः ॥ १४ ॥
अनाकारमनाख्येयमनाद्यमपकल्पनम् ।
इदं चिन्मात्रकाचस्य काचकच्यं जगत्स्थितम् ॥ १५ ॥
रूपमीदृशमेवाऽस्य चिन्मात्रस्याऽस्त्यकृत्रिमम् ।
सर्वगस्य यदेतद्यत्र वेत्त्यस्ति तत्र तत् ॥ १६ ॥

समागत अन्य मुनिने कहा—हे साधुवर, अन्तःकरणके यह चित् है, यह अचित् है, ऐसे विवेकसे सम्पन्न होनेपर इस दृश्यका जो सत् या असत् कारण है उसे आप भलीभाँति जानते हैं। उसे किससे जानते हैं, यह आप मुझसे कहिये ॥ १२ ॥

उक्त विषयमें विवेककी सामर्थ्य न होनेसे मुझे चुप हुए देखकर उन मुनि महाराजने पूर्वजन्मोंके सब वृत्तान्तोंके साथ उनके साक्षी आत्माका स्मरण कीजिये, यह कहा, ऐसा कहते हैं—**'संस्मर'** इत्यादिसे।

आप कौन हो और कहाँपर स्थित हो, सम्पूर्णतः आत्माका स्मरण कीजिये मैं कहाँपर हूँ यह दृश्य क्या है क्या यह सारभूत वस्तु है और क्या असार ही है ? ॥ १३ ॥

हे मुने, अलीक यह सब केवल स्वप्नमात्रका भान है ऐसा आप क्यों नहीं जानते, क्योंकि मैं आपके लिए स्वप्ननर हूँ और आप भी मेरे लिए स्वप्न-पुरुषतुल्य हैं ॥ १४ ॥

यह जगत् निराकार, निर्नाम, आदि रहित, कल्पनाशून्य चिन्मात्ररूप काचकी चमक रूपसे (जगमग रूपसे) स्थित है ॥ १५ ॥

सहज चिन्मात्ररूप स्वाध्यस्तमें वेदनानुसार सत्त्वादिका निर्वाहक है, ऐसा कहते हैं—**'रूपम्'** इत्यादिसे।

सकारणत्वकलनात्सर्वमस्य सकारणम् ।
अकारणत्वकलनादस्य सर्वमकारणम् ॥ १७ ॥
आसां प्रजानां त्वस्माकं विराडात्मा स आततः ।
वयं हृदि स्थिता यस्य स चाऽस्मच्चिद्वशादितः ॥ १८ ॥
भविष्यत्यपरोऽन्यासां विराडात्मा स एव च ।
कारणं सुखदुःखानां भावाभावात्मकर्मणाम् ॥ १९ ॥
विराड्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना ।
तदङ्गावयवस्याऽस्य जनजालस्य वै समम् ॥ २० ॥

सर्वव्यापक इस चिन्मात्रका ऐसा स्वाभाविक रूप है कि जहाँपर यह जैसा जानता है वहाँपर वैसा ही हो जाता है ॥ १६ ॥

इसीलिए सब वस्तुएँ सकारण हैं अथवा अकारण हैं इत्यादि वादोंकी भी उसकी कल्पनाके अनुसार ही व्यवस्था है, ऐसा कहते हैं—**'सकारणत्व०'** इत्यादिसे।

जब यह सब वस्तुएँ सकारण हैं ऐसी कल्पना करता है तब सब कुछ सकारण है जब यह सब अकारण ही है ऐसी कल्पना करता है तब सब अकारण ही है ॥ १७ ॥

समष्टि व्यष्टिभावकी कल्पना भी हमारे चित्के अधीन है, ऐसा कहते हैं—**'आसाम्'** इत्यादिसे।

जिस प्राणीके हृदयवर्ती ओजमें हम लोग स्थित हैं वह इन प्रजाओंका यानी हमारा विराट् आत्मा है। वह हमारी चित्की कल्पनासे ही विराड्भावको प्राप्त हुआ है। अपनी कल्पनासे तो औरोंके समान व्यष्टि ही है ॥ १८ ॥

इस प्राणीके समान दूसरा भी प्राणी अन्य प्रजाओंका विराट् आत्मा होगा ऐसी संभावना होती है। उस देहमें वही सुख-दुःखसम्पत्ति, विपत्ति, पुण्य-पापरूप कर्म आदिका भोक्तारूपसे कारण है ॥ १९ ॥

सब लोगोंके दुर्भिक्ष, अनावृष्टि आदि सर्वसाधारण दुःखमें तो जो जिसका स्थूल समष्टिरूप विराट् है उसका धातुविकार भेद ही निमित्त है, ऐसा कहते हैं—**'विराट्'** इत्यादि दो श्लोकों से।

विराट्के विषम स्पन्द आदिवाले धातुविकारसे विराट्के अङ्गके

दुर्भिक्षावग्रहातीतमायाति शममेति वा ।
यस्माद्विराजो या सत्ता सा सर्गस्याऽस्य सर्गता ॥ २१ ॥
काकतालीयवत्साधो केषुचिद्दुष्टकर्मसु ।
समं पतति दुःखादि पादपेष्वशनिर्यथा ॥ २२ ॥
कर्मकल्पनया संवित्स्वकर्मफलभागिनी ।
कर्मकल्पनयोन्मुक्ता न कर्मफलभागिनी ॥ २३ ॥
या या यत्र यथोदेति कल्पनाऽल्पाऽथवाऽधिका ।
सा सा तत्र तथैवाऽऽस्ते सहेतुकमहेतुकम् ॥ २४ ॥
नाऽस्त्येव स्वप्नमये कारणसहकारि कारणादि पुरे ।
तस्मात्तदनादि शिवं चेतनमजरं परं ब्रह्म ॥ २५ ॥

अवयवरूप इस जनसमूहका समान दुर्भिक्ष, अवर्षण और प्रलय आता है अथवा शान्त होता है, क्योंकि विराट्की जो सत्ता है वही इस सर्गकी सर्गता है ॥२०, २१॥

उन प्राणियोंका एक ही समयमें पारिपाकको प्राप्त हुआ दुष्ट कर्म भी उसमें है, ऐसा कहते हैं—'**काक०**' इत्यादिसे ।

हे सत्पुरुष, विराट्में सब प्राणियोंके कतिपय दुष्कर्मोंके रहनेपर जैसे अनेक पेड़ोंपर वज्र गिरता है वैसे ही अनेकोंपर एकसाथ दुःख आदिका पहाड़ गिरता है ॥ २२ ॥

वैसा कर्म यदि चित्से ही पहले कल्पित होता है, तो चित् उक्त कर्म-फल भागिनी होती है अन्यथा नहीं होती है, ऐसा कहते हैं–'**कर्म०**' इत्यादिसे ।

कर्म-कल्पनासे चित् कर्मफल भागिनी होती है यदि चित् कर्मोंकी कल्पनासे निर्मुक्त हो तो कर्मफल भागिनी नहीं होती ॥ २३ ॥

जहाँपर जो जो कल्पना थोड़ी या घनी जैसी उदित होती है वहाँ वह वह कल्पना वैसी ही सहेतुककी कल्पनासे सहेतुक और अहेतुककी कल्पनासे अहेतुक होती है ॥ २४ ॥

केवल सहेतुक माननेसे ही स्वप्नमें घड़े आदिकी सहेतुकता नहीं हो जाती, इसलिए निर्हेतुक जगत्की सिद्धि न होनेसे परमार्थतः चिन्मात्र ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं—'**नास्त्येव**' इत्यादिसे ।

स्वप्नके नगरमें सहकारी कारण आदि कोई कारण नहीं हैं, इसलिए वह

एष स्वप्नभ्रमो नाम भाति कश्चिदकारणम् ।
कश्चित्सकारणो भाति शून्यः सदसदात्मकः ॥ २६ ॥
काकतालीयवद्भान्ति स्वप्नाः सकलसंविदः ।
ताभ्यस्तुल्योपलम्भत्वान्नाऽन्यज्जगदिदं ततम् ॥ २७ ॥
सकारणतया रूढमिह यत्तत्सकारणम् ।
अकारणतया रूढमिह यत्तदकारणम् ॥ २८ ॥
कार्यकारणमयक्रमोदितम्
स्वप्न एष चिति भानमात्रकम् ।
जाग्रदाख्यमहतः स्वभावकं
तेन शान्तमखिलं परं विदुः ॥ २९ ॥
सत्यकारणका भावाः के ते शृणु महामते ।
कारणं किं स्वभावानां किमिहाऽऽकाशकारणम् ॥ ३० ॥

(स्वप्ननगर) अनादि अजर चेतन मङ्गलमय परम ब्रह्म ही है ॥ २५ ॥

यह स्वप्नभ्रम कोई तो बिना कारणके ही प्रतीत होता है चूंकि सत् असत् रूप है, अतएव शून्य (मिथ्याभूत) है ॥ २६ ॥

स्वप्नजगत्‌को उक्त न्याय तुल्य प्रतीति होनेके कारण ही जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं- '**काकतालीय०**' इत्यादिसे ।

स्वप्नकी सकल प्रतीतियोंका काकतालीयके समान भान होता है उन्हींके तुल्य होनेके कारण यह विस्तृत जगत् चित् या स्वप्नसे भिन्न नहीं है ॥ २७ ॥

यहां सकारणता और अकारणताकी प्रसिद्धि भी स्वप्नके सदृश ही व्यवस्थित है, ऐसा कहते हैं- '**सकारणतया**' इत्यादिसे ।

यहां जिसकी सकारणत्वेन प्रसिद्धि है वह सकारण कहा जाता है और जो अकारणत्वेन प्रसिद्ध है वह अकारण कहाता है ॥ २८ ॥

स्वप्नमें कार्य-कारणरूप क्रमसे उदित वस्तु केवल चितिका भान ही है ऐसा निर्णय जाग्रत्‌नामक स्थूल प्रपञ्चका भी समान ही है। इस कारण ब्रह्मवेत्ता जन साराका सारा प्रपञ्च परम ब्रह्म ही है, ऐसा जानते हैं ॥ २९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सत्य ब्रह्म ही सब पदार्थोंका कारण हो, सत्य कारणसे उत्पन्न होनेके कारण वे भी सब सत्य हों। ऐसी अवस्थामें सब कुछ

पृथ्व्यादेर्घनपिण्डत्वसर्गादेः किंच कारणम् ।
किं कारणमविद्यायाः कारणं किं स्वयंभुवः ॥ ३१ ॥
सर्गादौ कारणं किं स्याद्वाय्वम्भसां तेजसां च किम् ।
किमपां वेदनामात्ररूपाणां गगनात्मकम् ॥ ३२ ॥
पिण्डग्रहे देहलाभे मृतानां किंच कारणम् ।
एवमेव प्रवर्तन्ते सर्गाः प्रथमतोऽखिलाः ॥ ३३ ॥
एवमेव प्रवर्तन्ते जगन्त्यावलयन्ति च ।
चक्राणीव नभसि चिरसंभ्रमणादृशा ॥ ३४ ॥

ब्रह्म ही कैसे अथवा ब्रह्मद्वित कैसे ? इसपर कहते हैं 'सत्यकारणकाः' इत्यादिसे।

हे महामते, उक्त शङ्काका उत्तर आपसे कहता हूं, आप सुनें । वे पदार्थ कौन हैं जिन्हें आप सत्य कारणवाले मानते हैं ? स्वभावोंके सत्य कारणसे आप-का क्या मतलब है ? क्या सत्य स्वभाववालोंका सत्य कारण आपको अभीष्ट है या मिथ्या स्वभाववालोंका सत्य कारण ? क्या सजातीयोंका सत्य कारण आपको अभीष्ट है या विजातीयोंका सत्य कारण ? प्रथम दोनों पक्षोंमें ब्रह्मसे ब्रह्म ही उत्पन्न होगा न कि जगत् । दूसरे दोनों पक्षोंमें ब्रह्मसे उत्पन्नकी सत्यतासिद्धि न होगी, यों जगत्की अकारणता ही सिद्ध हुई फिर आपने क्या सिद्ध किया ? पूर्वोक्त सभी पक्षोंमें हम आपसे पूछते हैं । यहाँ आकाशका क्या कारण है ? प्रथम दोनों पक्षोंमें आकाशपदवाच्यतावच्छेदक वैलक्षण्यकी असिद्धि है दूसरे दोनों पक्षोंमें उसकी सत्यताकी असिद्धि है ॥ ३० ॥

तथा पृथिवी आदि घनपिण्डरूप सृष्टिका क्या कारण है ? अविद्याका क्या कारण है और ब्रह्माका क्या कारण है ? सृष्टिके आदिमें वायुका, जलका क्या कारण है, तेजका क्या कारण है ? वेदनसे अतिरिक्त इनका कोई दूसरा स्वरूप न होनेसे ये वेदनमात्ररूपवाले हैं । कोई साधक न होनेसे ही ये असिद्ध हैं, अतएव आकाशात्मक (शून्यरूप) हैं ॥ ३१–३२ ॥

और मरे हुए लोगोंका पिण्डग्रहरूप देहप्राप्तिमें क्या कारण है ? सब सृष्टियाँ पहलेसे इसी तरह अकारण होती चली आ रही हैं ॥ ३३ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि सकल सृष्टियाँ अकारण और भ्रमरूप हैं, ऐसा कहते हैं—'एवमेव' इत्यादिसे ।

एवमेव प्रवृत्तेन सर्गेण ब्रह्मरूपिणा ।
पश्चात्स्वस्यैव रूपस्य संज्ञाः पृथ्व्यादिकाः कृताः ॥ ३५ ॥
वातस्पन्दवदाभान्ति सर्गाः पूर्वं चिदम्बरे ।
स्वयमेव च कुर्वन्ति देहकारणकल्पनाः ॥ ३६ ॥
यद्यथा कल्प्यते भ्रंशे तत्तथा नियतिर्वपुः ।
कल्पितायाश्चितेर्यस्मादेवमेतन्निजं वपुः ॥ ३७ ॥
यद्यद्भानात्मकं रूपं प्रथमं चेतितं चिता ।
एवतोऽहमेव चिन्त्येव तदद्याऽपि तथा स्थितम् ॥ ३८ ॥
पुनरन्येन यत्नेन तदुत्कृष्टेन सैव चित् ।
शक्ता तदन्यथा कर्तुं यत्नेन महता पुनः ॥ ३९ ॥

जगत्में सकल सृष्टियाँ योंही होती चली आ रही हैं । चिरकाल तक देखनेसे भ्रान्तिदृष्टिसे जैसे आकाशमें केशोंके गोले घूमते दिखाई देते हैं वैसे ही ये सृष्टियाँ जगत्में राशि-राशि रूपसे चक्कर काटती हैं ॥ ३४ ॥

इसी तरह प्रवृत्त हुई हिरण्यगर्भरूपी सृष्टिने पीछे पृथिवी आदि रूपवाले अपने स्वरूपकी ही पृथिवी आदि संज्ञाएँ कीं ॥ ३५ ॥

अतएव पहले सृष्टियाँ चिदाकाशमें वायुके स्पन्दकी तरह तथा मनोराज्यकी तरह अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे प्रतीत होती हैं चिरकालके अभ्याससे स्थूल बनकर देह, कर्म आदि कारणोंकी कल्पना करती हैं ॥ ३६ ॥

प्रथम कल्पनामें जिस पदार्थकी जैसी कल्पना की जाती है वह वैसा शरीर धारण करता है वही नियति बनती है । चूँकि कल्पित चितिका ऐसा यह निज स्वभाव है । अपनेसे कल्पित पदार्थोंमें यह बात अनुभवसिद्ध है, यह भाव है ॥३७॥

जिस जिस भानरूप स्वरूपका सृष्टिके अनुकूल हिरण्यगर्भकी चितिने पहले चित्तमें ही अपने आप 'मैं ही अमुक हूँ' ऐसा संकल्प किया वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥ ३८ ॥

आदि कल्पनाको उलटना महान् पुरुषोंके महान् प्रयत्नोंसे कदाचित् हो सकता है, ऐसा कहते हैं—**'पुनः'** इत्यादिसे ।

फिर उससे उत्कृष्ट तपस्या आदि महान् अन्य प्रयत्नसे वही चित् उसको उलटनेमें समर्थ होती है ॥ ३९ ॥

कल्प्यते कारणं यत्र तत्र कारणसारता ।
न कल्प्यते विदा यत्र कारणं तदकारणम् ॥ ४० ॥
वात्यावर्तवदाभातमिदं प्रथममाततम् ।
असदेव यथा भातं तथैवाऽद्याऽपि संस्थितम् ॥ ४१ ॥
संभूय केचन शुभाशुभमात्मकर्म
कुर्वन्ति तस्य सदृशं फलमाप्नुवन्ति ।
संप्राप्नुवन्ति च शिलाशनिवच्च केचिद्
दुःखं त्वकारणकमेव सहस्रसंख्याः ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० अवि० वि० श० कारणविचारो नामैकोनपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४९ ॥

—:o:—

कहींपर जैसे कि दूध आदिमें दधिभावकी प्राप्तिके लिए जमावन, समय, गर्मी आदि कारणकी कल्पना की जाती है, वायु आदिके घनीभाव, तरलता आदिके लिए उसकी कल्पना करना शक्य नहीं है, ऐसा कहते हैं— 'कल्प्यते' इत्यादिसे ।

जहाँपर विद्वान् द्वारा कारणकी कल्पना की जाती है वहाँपर कारणरूप सार है जहाँपर कारणकी कल्पना नहीं की जाती वह अकारण है ॥ ४० ॥

अज्ञानवश विस्मृत यह जगत् असत् होता हुआ ही पहले आँधीके ववंडरकी तरह प्रकाशमें आया जैसे प्रकाशमें आया वैसा ही अद्यावधि स्थित है ॥ ४१ ॥

जो मैंने महामुनिसे यह पूछा था कि क्या ये सब लोग एकसाथ ही अशुभ कर्म करते हैं? उसीका उत्तर देते हुए उपसंहार करते हैं— 'संभूय' इत्यादिसे ।

कोई जीव साथ मिल-जुलकर भी शुभ-अशुभ पुण्य-पाप कर्म करते हैं उसका फल भी वे मिलजुलकर ही पाते हैं। लेकिन कोई हजारों जीवन्मुक्त पुरुष (मैं कर्ता हूँ) इस प्रकार के अभिमानसे शून्य होनेके कारण अकर्त्ता होनेपर भी जैसे पर्वतशिखरके पत्थर पाप किये बिना ही वज्रपातका अनुभव करते हैं वैसे ही अकारण ही दुःख पाते हैं ॥ ४२ ॥

एक सौ उनचास सर्ग समाप्त

—:o:—

पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

एवंप्रकारया युक्त्या तेनाऽयं मुनिना तदा ।
तथाऽहं बोधितो येन गतो विदितवेद्यताम् ॥ १ ॥
ततोऽसौ न मया त्यक्तश्चिरप्रार्थनया तथा ।
अवमत्तेन तत्राऽसौ मृतस्याऽपि तथैव च ॥ २ ॥
येनैतन्मुनिना प्रोक्तमिन्दूदयशुभं वचः ।
सोऽयं पश्य मुनिश्रेष्ठस्तव पार्श्वे व्यवस्थितः ॥ ३ ॥
अनेनोक्तमनुक्तेन ममैतन्मोहघातिना ।
दृश्यपूर्वापरज्ञेन यज्ञेनेवाऽऽत्तमूर्तिना ॥ ४ ॥

एक सौ पचास सर्ग

[मुनिके वचनोंसे आत्मज्ञान, मुनिके साथ अपनी स्थिति, पूर्व देहमें गमनकी अशक्तिका प्रश्न होनेपर देहके दाह आदिका वर्णन]

मुनि महाराजने कहा : हे व्याध, उस समय इस तरहकी युक्तिसे उन मुनिजी द्वारा यह मैं उस भाँति बोधित हुआ जिससे कि ज्ञेय तत्त्व मेरी समझमें आ गया ॥ १ ॥

उसके पश्चात् मैंने उनका पल्ला नहीं छोड़ा। चिर प्रार्थना, भक्ति, अनुगमन आदि गुणोंसे वशीभूत हुए उन मुनि महाराजने आत्मविचारशून्य होनेके कारण एक तरहसे मृततुल्य* मेरे घरमें मेरी तरह ही निवास किया ॥ २ ॥

जिन मुनि महाराजने चन्द्रोदयके समान सुन्दर यह वचन मुझसे कहा था, देखो वे ये मुनिवर तुम्हारी बगलमें ही बैठे हैं ॥ ३ ॥

मेरे अज्ञानको छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दृश्यके पूर्वापरका ज्ञान रखनेवाले इन्हीं मुनि महाराजने, जो मूर्तिधारी मेरे यज्ञादि पुण्यके समान हैं, प्रार्थनाके बिना यह उत्तम वचन मुझसे कहा ॥ ४ ॥

* वृद्धोंने कहा है—'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा । न विचारपरं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते ॥'—चलने-रुकते अथवा सोते-जागते जिस पुरुषका चित्त तत्त्वविचार-परायण नहीं रहता है वह मरा हुआ कहा जाता है ।

अग्निरुवाच

तदाकर्ण्य वचस्तस्य मुनेर्व्याधोऽभवत्तदा ।
प्रत्यक्षः स्वप्नसर्गः किमिति खिन्न इव स्मयात् ॥ ५ ॥

व्याध उवाच

अहो महच्चित्रमिदं मुने मनसि दुःसहम् ।
कथितं मेऽद्य भवता भवतापापहारिणा ॥ ६ ॥
यत्स्वप्नकथितस्येयं जाग्रत्प्रत्यक्षतोच्यते ।
लभ्यतेऽपि च तन्नाम वेद चित्रमिदं मुने ॥ ७ ॥
कथमेष महान्स्वप्नपुरुषः स मुनीश्वर ।
जाग्रत्यपि स्थिरीभूतो भूतो बालमतेरिव ॥ ८ ॥
एवमाश्चर्यमाख्यानमुच्यतां मे यथाक्रमम् ।
कुतः कस्य किमेतद्वा परमो हि स विस्मयः ॥ ९ ॥

अग्निने कहा—हे विपश्चित्, उस समय मुनिका वह वचन सुनकर बेचारा व्याध स्वप्नमें उद्भूत आपको उपदेश देनेवाले मुनि महाराज इस समय मेरे प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? ऐसी असंभावनासे मारे आश्चर्यके अप्रतिभ हो गया ॥ ५ ॥

व्याध अपनी असंभावनाको स्पष्टतया कहता है—'अहो' इत्यादिसे ।

व्याधने कहा—हे मुनिवर, महान् आश्चर्यकी बात है, संसार-दुःखका विनाश करनेवाले आपने यह अत्यन्त आश्चर्य, जो कि मेरे मनमें नहीं बैठ रहा है, आज मुझसे कहा है ॥ ६ ॥

हे मुनिवर, स्वप्नमें अपने उपदेशकरूपसे जिनका आपने मुझसे वर्णन किया था उनकी आप जाग्रत्में प्रत्यक्षता कह रहे हैं और मैं भी प्रत्यक्षतः देखता हूँ यह विचित्र बात मेरी समझमें नहीं आ रही है ॥ ७ ॥

हे मुनिनायक, बालकके बेतालकी तरह यह महान् स्वप्नपुरुष जाग्रत्-अवस्थामें भी कैसे स्थिर हो गया ॥ ८ ॥

इस तरहका आश्चर्यमय यह सारा आख्यान कृपया आद्योपान्त मुझसे कहिये । इस समय स्वप्नपुरुषका यह दर्शन किस निमित्तसे हुआ, यह दर्शन किसका है अथवा यह स्वप्न है या जाग्रत् है ? ॥ ९ ॥

मुनिरुवाच

ततः शृणु महाभाग वृत्तं चित्रं किमत्र मे ।
कथयामि समासेन सहसा मा कुरु त्वराम् ॥ १० ॥
अनेनैतत्तदा तत्र वर्णितं बोधनाय मे ।
बुधोऽहमभवं चाऽऽशु महतोऽस्य तया गिरा ॥ ११ ॥
तत एतद्गिरा पूर्वः स्वस्वभावः स्मृतो मया ।
अवदातोऽवदातेन नभसेव तपात्यये ॥ १२ ॥
अहो नु सोऽहमभवं मुनिरित्युदिताशयम् ।
अहमासं हृदा स्फीतान्स्नातोऽवस्थितविस्मयात् ॥ १३ ॥
इमां भोगास्थयाऽवस्थां प्राप्तोऽस्म्यज्ञ इवाऽध्वगः ।
धावन्क्लमातिरम्ब्वर्थी व्यर्थया मृगतृष्णया ॥ १४ ॥

मुनि महाराजने कहा—हे महाभाग, तदुपरान्त यहां मेरी क्या आश्चर्यमय घटना हुई उसे सुनो । मैं संक्षेपसे उसका वर्णन करता हूँ । तुम सहसा जल्दबाजी न करो ॥ १० ॥

तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनि महाराजने वहांपर उस समय मुझको प्रबुद्ध बनानेके लिए यह वाणी कही । इन महात्माकी उस सुन्दर वाणीसे मैं तुरन्त प्रबुद्ध हो गया ॥ ११ ॥

तदुपरान्त इनकी उक्त वाणीसे मुझे अपने अनादिसिद्ध सन्मात्ररूप निर्मल स्वभावका वैसे ही स्मरण हो गया है जैसे कि हेमन्तऋतुके बीतनेपर आकाशको अपने निर्मल स्वभावका स्मरण होना है ॥ १२ ॥

उसके बाद मुझे अपने पहलेके मुनिभावका भी स्मरण हो आया, ऐसा कहते हैं 'अहो' इत्यादिसे ।

तदनन्तर अहो यह मैं पहले मुनि था, ऐसा मेरा ख्याल हो आया फिर तो उसे हुए प्रचुर आश्चर्यवश हृदयसे स्नान किया हुआ-सा मैं आर्द्र हो गया ॥ १३ ॥

अपनी उस गृहस्थाश्रमावस्थापर शोक करते हैं—'**इमाम्**' इत्यादिसे ।

अहो, जैसे थकावटसे चूर चूर हुआ प्यासा अज्ञानी बटोही जलके लिए भटकता हुआ मिथ्याभूत मृगतृष्णासे दुःखी होता है, वैसे ही विषयभोगकी आसक्तिसे मैं इस अवस्थाको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १४ ॥

कष्टं दृश्योपलम्भेन भ्रान्तिमात्रात्मना सता ।
बालो वेतालकेनेव प्राज्ञोऽपि च्छलितो ह्यहो ॥ १५ ॥
अहो नु चित्रमेतेन मिथ्याज्ञानेन वल्गता ।
नीतः सर्वार्थशून्येन पदवीं कामिमामहम् ॥ १६ ॥
अथवा यः सोऽहमपि भ्रान्तिमात्रं न सन्मयः ।
तथापि चित्रशतता यन्नामाऽसद्विडम्ब्यते ॥ १७ ॥
नाऽहमस्मि न चैवेयमिदं नाऽयमपि भ्रमः ।
चित्रं सर्वमिदं मिथ्या सर्वं च सदिव स्थितम् ॥ १८ ॥
किमिदानीं मया कार्यमिह बन्धभिदान्तरः ।
विद्यते मेऽङ्कुरश्छेद्यं तत्तावत्संत्यजाम्यहम् ॥ १९ ॥
आस्तामेतदविद्यैषा व्यर्थरूपा किमेतया ।
भ्रान्त्या भ्रान्तिरसद्रूपा त्यक्तैवैषा मयाऽधुना ॥ २० ॥

ओह, जैसे केवल भ्रमरूप वेतालसे बालक छला जाता है वैसे ही दृश्यकी उपलब्धिसे, जो कि केवल भ्रान्तिमात्र है, ज्ञानवान् भी मैं छला गया हूँ, यह कम दुःखकी बात नहीं है ॥ १५ ॥

ओह, विस्तारको प्राप्त हो रहे इस मिथ्याज्ञानसे (भ्रान्तिसे), जो सर्वार्थशून्य (तुच्छातितुच्छ) है, मैं किस दशाको पहुँचाया गया हूँ, यह महान् आश्चर्यकी बात है ॥ १६ ॥

अथवा जो 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस तरहकी प्रत्यभिज्ञाका विषय तत्ता, अहन्ता आदि है, वह भी केवल भ्रान्ति ही है, सन्मय नहीं है । इस स्थितिमें किसका आश्चर्य ऐसा नहीं कहना चाहिये । फिर भी जिस साक्षी द्वारा असद्रूपका स्वांग किया जाता है, उसमें सैकड़ों आश्चर्य हैं ही ॥ १७ ॥

न तो मैं हूँ, न यह स्त्री है, न यह घर है और न यह भ्रम है—यह सब मिथ्या है फिर भी सत्की तरह स्थित है । यही महान् आश्चर्य है ॥ १८ ॥

इस समय यहाँ मुझे क्या करना चाहिये । मेरे बन्धनको तोड़ डालनेवाला आभ्यन्तरिक ब्रह्माकारवृत्तिरूप अङ्कुर है । लेकिन वह भी तो छेद्य ही है, इसलिए तब तक उसीका परित्याग करता हूँ ॥ १९ ॥

उपदेष्टा मुनिरयमेषोऽत्र भ्रान्तिमात्रकम् ।
ब्रह्मैवाऽहमिवाऽऽभाति रूपमेतद्दिवाऽभ्रवत् ॥ २१ ॥
तदेवं तावदुदितज्ञानं वक्ष्ये महामुनिम् ।
इति संचिन्त्य स मुनिस्तत्र प्रोक्त इदं मया ॥ २२ ॥
मुनिनायक गच्छामि तच्छरीरमिदं निजम् ।
द्रष्टुं यच्च प्रवृत्तोऽस्मि शरीरं तदपीक्षितुम् ॥ २३ ॥
इत्याकर्ण्य स मामाह हसन्मुनिवरस्तदा ।
कुतस्तौ भवतो देहौ तौ सुदूरतरं गतौ ॥ २४ ॥
गच्छाऽऽत्मनैव वा पश्य वृत्तान्तं वृत्तकोविद ।
पश्य तावद्यथावृत्तं दृष्टान्तं ज्ञास्यसि स्वयम् ॥ २५ ॥

जगद्भ्रान्ति तो अविद्या होनेसे विद्यावृत्तिसे ही उच्छिन्न हो ही गई, अतः वह इस समय त्याज्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—'आस्ताम्' इत्यादिसे ।

यह जगद्भ्रम मिथ्यारूप अविद्या ही है इससे क्या हानि है। इस असद्भ्रान्तिका विद्यावृत्तिरूप भ्रान्तिमें मैं अभी त्याग कर ही चुका हूँ ॥ २० ॥

यहाँ ये उपदेशक मुनि महाराज भी केवल भ्रान्तिरूप ही हैं। ये उपदेश देनेवाले मुनिजी मुझ शिष्यकी तरह ब्रह्मरूप ही हैं, यानी ब्रह्म ही गुरु, शिष्यरूपमें प्रतीत होता है, अतः यहाँ त्याग करने योग्य अन्य वस्तु नहीं है। यह सब दृश्य दिनमें देखे गये पुरुषाकार मेघके समान क्षणभङ्गुर है ॥ २१ ॥

इसलिए ज्ञानसम्पन्न महामुनिजीसे ऐसा सब मैं कहूँगा यह सोचकर मैंने वहाँ उन मुनिजीसे यह कहा ॥ २२ ॥

हे मुनिवर, मैं आश्रममें स्थित अपने मुनि-शरीरको और जिस प्राणीके शरीरको देखनेके लिए मैं प्रवृत्त हूँ उसे भी देखनेके लिए बाहर जाता हूँ ॥२३॥

ऐसा सुनकर उन मुनिनायकने उस समय हँसते हुए मुझसे कहा, वे दोनों शरीर कहाँ हैं ? वे दोनों दाहसे भस्म होकर बहुत दूर चले गये हैं ॥२४॥

हे वृत्तान्तज्ञ, अथवा जाओ, स्वयं जाकर अपने आप ही उस वृत्तान्तको देखो । जैसी घटना हुई है उसे देखो, देखकर अन्तमें जान जाओगे ॥ २५ ॥

मुनि महाराजके यह कहनेपर अपने पुराने शरीरका ख्यालकर वहाँ

इति संचिन्त्य तं देहं विदं भूसत्तयाऽऽस्मिकम् ।
त्यक्त्वा चिदात्मा तत्प्राणात्पवने योजितो मया ॥ २६ ॥
प्राक्तनं देहमालोक्य यावदायाम्यहं मुने ।
इहैव तावत्स्थातव्यमित्युक्त्वाऽहं गतोऽनिलम् ॥ २७ ॥
अथ वातरथारूढो गगनं भ्रान्तवानहम् ।
पुष्पामोद इवाऽनन्तं गत्वा च त्वरया चिरम् ॥ २८ ॥
यतश्चिरमपि भ्रान्त्वा यदा गलबिलं चलन् ।
अहं न प्राप्तवांस्तस्य किंचिदस्याऽऽशयस्थितः ॥ २९ ॥
तदा खेदमुपायातः परमं पुनरागतः ।
इदमेव जगज्जालमहमालानमात्मनः ॥ ३० ॥
इहेमं लब्धवानग्रे ततो मुनिमनुत्तमम् ।
पृष्टवानहमेकाग्रस्तत एवमिदं गृहे ॥ ३१ ॥
किमेतद्भगवन्ब्रूहि पूर्वापरविदांवर ।
त्वं पश्यसि यथावृत्तमुत्तमज्ञानचक्षुषा ॥ ३२ ॥

जानेके लिए मैं तयार हुआ। वहाँ जानेकी इच्छासे मैंने स्वाप्नभूसत्तासे पार्थिव शरीर ही मैं हूँ यों कल्पना से प्राप्त रूपका त्याग कर प्राणोंसे उपहित चिदात्मरूप अपने जीवको प्राण द्वारा पवनसे संयोजित किया ॥ २६ ॥

हे मुनिमहाराज, जब तक मैं अपने पुराने शरीरको देखकर लौटता हूँ तब तक आप कृपया यहीं रहें, यह कहकर मैं वायुमें प्रविष्ट हुआ ॥ २७ ॥

इसके बाद वायुरूपी रथपर सवार होकर फूलकी सुगन्धकी तरह मैंने आकाशमें चिरकालतक त्वरासे भ्रमण किया। अन्तको न प्राप्त होकर फिर मैंने चिरकालतक भटककर निरन्तर चलते चलते बाहर निकलनेका मार्ग उस प्राणीका गलेका छिद्र या अन्य द्वार नहीं पाया। तब वाताशयमें बैठा हुआ मैं खेदको प्राप्त हुआ। तदुपरान्त अपने बन्धनस्तम्भरूप स्वगृहमें फिर आये हुए मैंने इन उत्तम अपने गुरु मुनिको अपने आगे पाया। तदुपरान्त सावधान होकर घरमें मैंने गुरुजीसे यह पूछा—हे पूर्वापर जाननेवालोंमें श्रेष्ठ गुरुवर, आप ज्ञानचक्षुसे जैसा हुआ हो वैसा ही उत्तम रीतिसे देखते हैं, इसलिए कृपया कहिये कि यह क्या हुआ ॥ २८–३२ ॥

यस्य देहं प्रविष्टोऽहं स च मद्वपुरेव च ।
क्व तावुभौ गतौ देहौ न लब्धौ केन हेतुना ॥ ३३ ॥
मयाऽतिचिरमाभोगि भ्रान्तं संसारमण्डलम् ।
स्थावरादात्मनः कस्मात्प्राप्तं गलबिलं न तत् ॥ ३४ ॥
गत्वेति पृष्टः स मुनिः समुवाच महाशयः ।
जानामि तत् स्वयं कस्मादिति तामरसेक्षण ॥ ३५ ॥
एतदालोकयसि चेत्स्वयं योगैकसंविदा ।
तत्पश्यस्येव निःशेषं यथा करतलाम्बुजम् ॥ ३६ ॥
तथापि यदि शुश्रूषा तवाऽस्ति वचसा मम ।
तदिदं शृणु वक्ष्यामि यथावृत्तमखण्डितम् ॥ ३७ ॥
तपस्तामरसोष्णांशुः कल्याणकमलाकरः ।
ज्ञानाब्जस्य हरेर्नाभिर्नाऽसि तावदयं भवान् ॥ ३८ ॥

जिसके शरीरमें मैं प्रविष्ट हुआ था, वह प्राणी और मेरा शरीर वे दोनों कहाँ गये ? क्यों मुझे प्राप्त नहीं हुए ? ॥ ३३ ॥

मैंने स्थावरपर्यन्त अपने विस्तारपूर्ण संसारमण्डलमें चिरकालतक भ्रमण किया फिर भी बाहर निकलनेका मार्ग गलेका छिद्र मुझे नहीं मिला ? ॥३४॥

यह सब मैंने मुनिके समीप जाकर उनसे पूछा। महाशय मुनि महाराजने मुझसे कहा हे कमलनयन, शरीरका वृत्तान्त मुझसे उपदिष्ट उपायके बिना ही तुम स्वयं अपनी बुद्धिसे कैसे जान गये ॥ ३५ ॥

तो उसके दर्शनका क्या उपाय है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'एतद्'** इत्यादिसे ।

यदि तुम योगमें एकाग्र बुद्धिसे इसका स्वयं अवलोकन करते हो तो ज्ञानदृष्टिसे इसे करस्थित कमलके समान सम्पूर्णतः देखते ही हो ॥ ३६ ॥

फिर भी यदि मेरे वचनसे इसे सुननेकी तुम्हारी इच्छा है तो सुनो जैसी घटना घटी है उसे आद्योपान्त सम्पूर्णतया तुमसे कहता हूँ ॥ ३७ ॥

पहले तुम अपने जीवतत्त्वको समझो, उसके बाद मैं तुम्हारे पूर्व शरीरका वृत्तान्त कहूँगा । ऐसा सोच रहे मुनिजी व्यष्टिजीवभाव मिथ्या है समष्टिजीवभाव ही सत्य है यह 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुतिसे प्रदर्शित न्यायका अवलम्बन कर कहते हैं—**'तप०'** इत्यादिसे ।

स त्वं कदाचित्तपसि स्थितः स्वप्नदिदृक्षया ।
कस्यचिद्धृदयं जन्तोः प्रविष्टः पुष्टसंविदा ॥ ३९ ॥
यत्त्वं प्रविष्टो हृदयं तत्रेदं भुवनत्रयम् ।
दृष्टवानसि विस्तीर्णं रोदसीविपुलोदरम् ॥ ४० ॥
इति त्वयि चिरं व्यग्रे देहस्तस्य तथापि च ।
स संसुप्ताकृतिर्यत्र स्थितस्तत्र महावने ॥ ४१ ॥
लग्नोऽग्निर्धूमधूम्राभ्रसाम्बराम्बरडम्बरः ।
वलद्वलचलालातचक्रसूर्येन्दुमण्डलः ॥ ४२ ॥

तुम जैसा कि अपनेको समझते हो वैसे व्यष्टिजीवरूप नहीं हो, किन्तु सकल प्राणियोंके तपरूपी कमलोंको विकसित करनेमें सूर्यरूप, सकल कल्याणोंके (मानुष आनन्दसे लेकर प्रजापत्य आनन्द पर्यन्त सुखोंके) कमलाकरके समान समष्टिरूप हरि भगवान्के नाभिकमलकी कर्णिका यानी कर्णिकामें आरूढ सर्वजीव-समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही हो ॥ ३८ ॥

तो मेरा व्यष्टिभाव कैसे हुआ और उसमें (व्यष्टिभावमें) ये सकल भ्रान्तियाँ कैसे आईं ? इस प्रश्नपर कहते हैं---**'स त्वम्'** इत्यादिसे ।

व्यष्टिभावरूप स्वप्नको देखनेकी इच्छासे किसी समय मनोरथरूप तपमें बैठे हुए तुम आश्रममें तपस्वी हुए । वहाँ पुष्ट हुई व्यष्टिभावबुद्धिसे अन्यके शरीरके अन्दर स्वप्नादि-कौतुकको देखनेकी इच्छासे किसी जीवके हृदयमें प्रविष्ट हुए ॥ ३९ ॥

तुमने जीवके हृदयमें प्रविष्ट होकर वहाँपर यह विस्तारयुक्त त्रिभुवन, जिसका पृथिवीलोक और स्वर्गलोक महान् उदर है, देखा था । इस रीतिसे जब तुम परकीय शरीरके अन्दर स्वप्न देखनेमें व्यग्र थे तब तुम्हारे शरीरमें और उस महावनमें सोये हुए उस प्राणीके शरीरमें, जिसके अन्दर तुम प्रविष्ट थे, भयंकर आग लग गई । उस आगका क्या कहना था, धुएँसे धुमैले मेघरूपी वस्त्रोंको ओढा हुआ आकाश ही उसका चँदोवा था, चमक रहीं और जोरसे घूम रहीं लुआठियोंके चक्रोंसे उसने अनेक सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल बना डाले थे ॥ ४०–४२ ॥

दग्धाभ्रभस्मसंपूर्णधूमाभ्रामितकम्बलैः ।
आनीलाकाशदलपरिव संछादिताम्बरः ॥ ४३ ॥
दरीगृहविनिष्क्रान्तसिंहनिर्ह्रादतर्जितैः ।
स्फुटैश्चटचटास्फोटैर्जडीकृतदिगन्तरः ॥ ४४ ॥
तालीतमालमालानां गलानामग्निवृत्तताम् ।
पातैरुत्पातवह्न्यभ्रकवत्करकरैर्घनः ॥ ४५ ॥
दूरदेशगतैर्दृष्टः स्थिरसौदामनीधिया ।
द्रवत्कनकनिष्यन्दकुट्टिमं व्योम दर्शयन् ॥ ४६ ॥
कणैस्तारागणं कान्तैर्व्योम्नि द्विगुणतां नयन् ।
वक्षःस्थबालवनितानयनानन्दनन्दनः ॥ ४७ ॥
ज्वालाधमधमाशब्दप्रध्मातगगनोदरः ।
दरीगृहविनिष्क्रान्तभ्रान्तोन्निद्रवनेचरः ॥ ४८ ॥

जले हुए मेघोंपर भस्मसे भरे हुए धूमके मेघरूपी काले कम्बलों द्वारा, जो कि नीले आकाशखण्ड और दिशाओंकी आवरण द्वारा रक्षा करनेवाले थे, उक्त अग्निने आकाशको आच्छन्न कर दिया था ॥ ४३ ॥

अग्निभयसे गुफारूपी घरसे बाहर निकले हुए सिंहोंकी दहाड़रूपी डाट-फटकारों तथा साफ-साफ सुनाई दे रहे चट चट शब्दोंसे उसने दिगन्तरालोंमें रहनेवाले लोगोंको बहरा बना दिया था ॥ ४४ ॥

चारों ओरसे आगसे घिरे होनेके कारण अग्निवृक्षसे बने हुए ताल, तमाल आदि वृक्षपंक्तियोंके तड़ातड़ गिरनेसे तथा उत्पात अग्निके समान और उत्पात मेघके समान उनके फटनेके कोलाहलसे वह अग्नि निविड़ हो गई थी ॥ ४५ ॥

दूर देशोंमें स्थित लोगोंने उक्त अग्निको यह स्थिर बिजली है ऐसा देखा । वह आकाशको गलाए हुए सोनेके रससे लीपे हुए फर्शसा दिखलाती थी । निकल रही चिनगारियोंसे आकाशके तारोंको दुगुना बना रही थी और उन्हीं चिनगारियोंसे आकाशमें वक्षस्थलमें स्थित ज्वालारूपी बालवनिताके नयनोंको आनन्द देनेवाले कटाक्षोंसे आनन्द देती थी ॥ ४६,४७ ॥

ज्वालाओंके धायँ धायँ शब्दोंसे आकाशके मध्यभागको उसने गुँजा

अर्धदग्धद्रवत्सिंहमृगव्याधविहंगमः ।
क्वथत्सरःसरित्स्रोतोरन्धितोग्रवनेचरः ॥ ४९ ॥
वलज्ज्वालाज्वलद्बालचमरीचारुचञ्चुरः ।
दह्यमानवनप्राणिमेदोगन्धावृताम्बुदः ॥ ५० ॥
तेन कल्पाग्निकल्पेन वल्गता वनवह्निना ।
सयुष्मदाश्रमो दग्धः सर्पेणेव प्रसर्पता ॥ ५१ ॥

व्याध उवाच

तत्र तस्याऽग्निदाहस्य हेतुः कः प्राकृतो मुने ।
तद्वनं ते वटुवराः सर्वं नष्टं कथं सह ॥ ५२ ॥

मुनिरुवाच

संकल्पकमनःस्पन्दः संकल्पादिक्षयोदये ।
यथा हेतुर्निरास्पन्दोऽचिराद्धि त्रिजगत्तथा ॥ ५३ ॥

दिया था और गुफारूपी गृहसे निकले हुए निर्निद्र वनेचरोंको भ्रममें डाल दिया था ॥ ४८ ॥

आधे जले हुए सिंह, बाघ और पक्षी उसमें इधर उधर भाग रहे थे, तालाब और नदियोंके खौलते हुए जलमें उसने उत्कट वनेचरोंको पका डाला था ॥ ४९ ॥

चारों ओरसे घेर रहीं ज्वालाओंसे जल रहीं बालचमरियोंसे वह बड़ी भली दिखाई देती थी। जल रहे वन्य जीवोंकी वसाकी गन्धसे उसने बादलोंको आवृत कर दिया था ॥ ५० ॥

प्रलयाग्निके समान भीषण फैल रही पूर्वोक्त वनाग्निने रेंक रहे साँपकी तरह आपके आश्रमके साथ आपका शरीर और उस प्राणीका शरीर जला डाला ॥ ५१ ॥

व्याधने कहा—हे मुनिवर, वहाँपर उक्त अग्निदाहका क्या कारण उपस्थित हुआ? वह वन और वे आपके शिष्यगण सबके सब एक-साथ कैसे नष्ट हो गये? ॥ ५२ ॥

मुनिने कहा—हे व्याध, जैसे संकल्पके नाश और उदयमें संकल्प करनेवाले पुरुषका मनःस्पन्द ही कारण है, वैसे ही त्रिजगत्का संकल्प करनेवाले विधाता-

हृदये च वनान्ते च क्षोभाक्षोभेषु कारणम् ।
यथा स्पन्दो चिरात्स्पन्दस्तथा त्रिजगतामिह ॥ ५४ ॥
धातुः संकल्पनगरं जगत्तत्स्पन्दनं त्विह ।
प्रजोदयक्षयक्षोभवर्षावर्षादिकारणम् ॥ ५५ ॥
ब्रह्मादिमानसोऽप्यस्य सोऽप्यन्यत्र चिदम्बरे ।
इत्यपर्यवसानेयं शान्तैका चिन्नभोगतिः ॥ ५६ ॥
चिति नभसि चिन्नभःश्रीः
कचतीति निरामया विदुषाम् ।
मूर्खाणां तु यथैषा
यादृग्वा तन्मयीह न सत् ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० अ० वि० श०
परमोपदेशो नाम पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५०॥

का तुरन्त प्रवृत्त हुआ मनस्पन्द ही त्रिजगत् है। उसके विनाश और उदयमें भी उसका मनस्पन्द ही हेतु है ॥ ५३ ॥

जैसे लोकमें हृदयमें भय आदिवश क्षोभ, अक्षोभ (शान्ति) आदिमें तुरन्त प्रवृत्त हुआ मनका स्पन्द ही कारण है वैसे ही तीनों जगतोंके क्षोभ और अक्षोभमें (शान्तिमें) वही (हिरण्यगर्भका मनस्पन्द ही) हेतु है ॥ ५४ ॥

चूँकि यह जगत् विधाताका स्वप्नगर ही है अतएव उनके मनका स्पन्द ही प्रजा जनोंके उदय, क्षय, क्षोभ, वृष्टि, अवृष्टि आदिका कारण है ॥५५॥

ब्रह्माजीका मानस संकल्प ही इस समष्टि त्रिलोकका कारण है, वह समष्टि-त्रिलोक भी अन्य चिदाकाशमें कल्पित है तथा वह भी दूसरे चिदाकाशमें कल्पित है, इस प्रकार मायाशबल चिदाकाशकी कल्पनाकी परम्पराका अन्त नहीं है ॥५६॥

निष्कृष्ट दर्शनमें तो चिदाकाशमें चिदाकाशकी शोभा ही विकसित होती है यों विद्वानोंकी निर्मल दृष्टि है लेकिन मूर्खोंकी आपात दर्शनरूप यह दृष्टि जैसी भासती है तन्मयी ही है परमार्थमें वह सत् नहीं है यानी अलीक ही है ॥ ५७ ॥

एक सौ पचास सर्ग समाप्त

एकपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

अन्यमुनिरुवाच

तत्र ते नगरं तानि गृहाणि तरवश्च ते ।
क्षिप्रेण शुष्कतृणवत्सर्वं भस्मत्वमागतम् ॥ १ ॥
तत्रैवं भस्मतां प्राप्ते सुप्ते ते भवतस्तव ।
तनू तथाऽतिसंतापविदारितमहाशिले ॥ २ ॥
स शशाम शनैर्वह्निर्निःशेषीकृतकाननः ।
परिपीतार्णवोऽगस्त्य इवाऽस्तं समुपाययौ ॥ ३ ॥
तस्मिन्नस्तं गते वह्नौ तद्भस्मेद्धं सुशीतलम् ।
दुधाव कणशो वायुरशेषं पुष्पराशिवत् ॥ ४ ॥
ततो न ज्ञायते नाऽऽसीत्काऽऽश्रमः क तनू तथा ।
क पेटकं बहूनां तत्स्वप्नपूर्जाग्रतो यथा ॥ ५ ॥

एक सौ इक्यावन सर्ग

[मुनिके आश्रमके साथ पूर्वोक्त दोनों शरीर भस्म कर चुकी अग्नि और भस्मकी वायु द्वारा शान्ति तथा स्वप्नमें जाग्रत्‌की स्थितिका वर्णन]

अन्य मुनिने कहा—मुने, वहाँपर वे दोनों शरीर, आश्रम, नगर, वे सब घर और सब पेड़ सबके सब अग्नि द्वारा सूखे हुए तिनकेके समान झटपट राख बन गये ॥ १ ॥

और अत्यन्त सन्तापसे जिसके शिलातक चटक गये थे ऐसे उस आश्रममें विद्यमान तुम्हारे सोये हुए दोनों शरीर भस्म हो गये ॥ २ ॥

सम्पूर्ण वनको पूर्णरूपसे जलाकर वह वह्नि जैसे सारे समुद्रको पीकर अगस्त्यजी विरत हुए वैसे ही पहले अङ्गारमात्रशेष होकर शान्त हुई तदुपरान्त अदृष्ट हो गई ॥ ३ ॥

उक्त अग्निके अदृश्य होनेपर वायु पहले दीप्त फिर शीतल हुई भस्मराशिको पुष्पराशिकी तरह कण कण करके सबकी सब उड़ा ले गया ॥ ४ ॥

उसके उपरान्त न मालूम वह आश्रम कहाँ गया और यह भी नहीं मालूम होता है कि वे दोनों शरीर कहाँ गये । बहुतसे लोगोंका पेटारीरूप निवासस्थान वह नगर जाग्रत्‌पुरुषके स्वप्ननगरकी तरह न मालूम कहाँ चला गया ॥५॥

अभावमुपयाते ते यदैवं भवतस्तनू ।
स्वपतस्ते भ्रमवतः संविदेव विजृम्भते ॥ ६ ॥
तस्मात्क तद्गलविलं विराडात्मा स च क ते ।
दग्धो दग्धस्य सौजस्कः सौजस्कश्चैव देहकः ॥ ७ ॥
लब्धवानसि नो तस्माद्धेतोर्देहद्वयं मुने ।
अनन्ते स्वप्नसंसारजाग्रतीहाऽवतिष्ठसे ॥ ८ ॥
तदेवं स्वप्न एवाऽयं जाग्रद्भावमुपागतः ।
सर्वे वयमिह स्वप्नपुरुषास्तव सुव्रत ॥ ९ ॥
अस्माकं त्वं स्वप्ननरस्तव स्वप्ननरा वयम् ।
अयमेव चिदाकाशः सर्वदात्माऽऽत्मनि स्थितः ॥ १० ॥
ततः प्रभृति संपन्नो भवान्स्वप्ननरो भवन् ।
जाग्रत्प्रत्ययवाञ्जाग्रन्नरो गार्हस्थ्यसुस्थितः ॥ ११ ॥

जब इस तरह आपका तथा उस प्राणीका शरीर अभावको प्राप्त हो गया तब आप स्वप्नके भ्रममें ग्रस्त थे और अब स्वप्नमय शरीररूपसे आपकी संवित् स्फुरित होती है ॥ ६ ॥

इसलिए (जलनेके कारण) कहाँ बाहर निकलनेका द्वारभूत उसका गलेका छिद्र, कहाँ आपका वह विराट् पुरुष प्राणी क्योंकि ओजके साथ ही जले हुए उसका ओज सहित ही तुच्छ शरीर जलकर राख हो गया ॥ ७ ॥

हे मुने, इस कारण आपको वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए । आप जिसका कोई पारावार नहीं है ऐसे स्वप्नसंसाररूपी इस जाग्रत्में स्थित हैं ॥ ८ ॥

जाग्रत् और स्वप्नका भेद नहीं है, ऐसा जो पहले कहा था, उसका हमने स्पष्ट निर्देश कर दिया इस आशयसे कहते हैं—**'तदेवम्'** इत्यादिसे ।

हे सुन्दर आचरणवाले मुनिजी, इस तरह आपका यह स्वप्न ही जाग्रत् बन गया । यहाँ सब हम लोग आपके स्वप्न-पुरुष हैं । आप हमारे **स्वप्न-पुरुष हैं** और हम आपके स्वप्नपुरुष हैं । यह चिदाकाश ही सर्वदा (तीनों अवस्थाओंमें) अद्वितीय स्वभावमें स्थित है ॥ ९,१० ॥

पहले स्वप्नपुरुष होते हुए भी जबसे आपको मैं जाग्रत्पुरुष हूँ ऐसी प्रतीति हुई तब से जाग्रत् पुरुष बनकर गृहस्थाश्रममें स्थित हैं ॥ ११ ॥

एतत्ते कथितं सर्वं यथावृत्तमशेषतः ।
अनुभूतं सुदृश्यं च ध्यानेनैतच्च पश्यसि ॥ १२ ॥
इत्यादिमध्यरहितोऽयमनन्तरूपः
संविद्घनः कचति काञ्चनतापवत्स्वे ।
तत्काललोलवपुरात्मनि चिन्मयात्मा
सर्गात्मभिर्विकसितैरसितैः सितैश्च ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वल्मीकीये दे० मो० नि० उ० अ० वि० श०
अभावदर्शनं नामैकपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५१ ॥

जैसी घटना घटी थी वह मैंने आद्योपान्त सम्पूर्ण आपसे कही। यदि मेरे कथनपर सन्देह हो तो आप भी ध्यानसे इस अनुभूत दृश्यको स्वयं पूर्णरूपसे देखेंगे ॥ १२ ॥

इस तरह आदि मध्य रहित अनन्तरूप यह संवित्-धन चिन्मयात्मा ही अपनी विकसनशक्तिके उछालसे चञ्चल शरीर होकर अपनेमें दुष्कर्मोंके फलरूप खराब, सत्कर्मोंके फलभूत उत्तम और मिश्रित कर्मोंके फलभूत मिश्रित विकासरूप सृष्टियों द्वारा आकाशमें सुनहले घामकी भाँति विकसित होता है, अन्य नहीं ॥ १३ ॥

एक सौ इक्यावन सर्ग समाप्त



द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र तूष्णीं स्वशयने निशि ।
आसीदहमपि स्मयतश्चाहमथाऽऽसं घोघ्रमानवत् ॥ १ ॥
ततश्चिरेण कालेन मयोक्तं तस्य सन्मुने ।
एवं स्वप्नो विभो सर्वः सद्रूप इति मे मतिः ॥ २ ॥

अन्यमुनिरुवाच

सत्संभवति यत्राऽन्यत्तत्रेदं सदिति स्मयः ।
युक्तो यत्र त्विदंदेव सत्ताल्पं तत्र का प्रथा ॥ ३ ॥
यथा स्वप्नस्तथैवाऽयमादौ सर्गोऽवभासते ।
पृथ्व्यादिरहितोऽप्येष पृथ्व्यादिभिरवस्थितः ॥ ४ ॥

एक सौ बावन सर्ग

[अन्य मुनि द्वारा मुनिजीकी स्वप्नपदार्थोंकी सत्यता-शङ्काका निवारण]

मुनिने कहा—हे व्याध, यह कहकर रात्रिके समय वह मुनिमहाराज अपने बिस्तर पर चुप हो गये । तदुपरान्त मारे आश्चर्यके मैं भी आँधीके बवण्डरमें पड़ा हुआ-सा हो गया ॥ १ ॥

तदनन्तर बहुत देर बाद सन्नाटा भंग करते हुए मैंने कहा—हे मुनि-प्रवर, हे विभो, तब तो इस प्रकार सारा स्वप्न यथार्थ है ऐसा मैं समझता हूँ । 'मे मतिः' कहनेसे असंभावना द्वारा आश्चर्य प्रकट किया ॥ २ ॥

अन्य मुनिने कहा—हे मुने, यदि जाग्रद् वस्तु सत् होती तो यह स्वप्नादि सत् है यों आश्चर्य होना ठीक था । किन्तु जहाँपर यह जाग्रद् दृश्य ही मिथ्या-भूत है वहाँपर स्वप्नकी सत्यताका क्या कहना है अर्थात् वह तो नितरां मिथ्या-भूत है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्नका भान होता है वैसे ही आदिमें इस जाग्रद्दृश्यका भी भान होता है । यह जाग्रत् पृथिवी आदिसे रहित होनेपर भी पृथिवी आदिसे युक्त प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

इत्थमद्यतनात्स्वप्नात्सर्गस्वप्नोऽमलात्मकः ।
शृणु पुष्करपत्राक्ष मुने व्याधमहागुरो ॥ ५ ॥
अद्य दृष्टपदार्थाभ्यां स्वप्नं स्वप्नजनोऽभवत् ।
सर्गस्वप्नस्तु दृष्टार्थ एवाऽऽदौ खे विराजते ॥ ६ ॥
एवं सत्स्वप्न इत्येव संदिग्धमिव वक्षि किम् ।
स्फुटमप्यनुभूतं मत्स्वप्नध्यानोद्यमः कथम् ॥ ७ ॥

हे व्याधमहागुरो*, इस प्रकार दृश्यमान आजके हम लोगोंके स्वप्नसे भी जाग्रत्के नामसे प्रसिद्ध सर्गरूपी स्वप्न निर्मल चैतन्यमात्रस्वरूप है यानी स्वप्नके बराबर भी उसका अस्तित्व नहीं है। हे कमलनयन†, इस विषयमें आप उपपत्ति सुनिये ॥ ५ ॥

जाग्रत्कालमें देखे गये पद और उसके अर्थ द्वारा बुद्धिमें अपना संस्कार डालनेसे स्वप्नवाले आपको रात्रिमें स्वप्नमें स्वाप्निक शब्द और उसके अर्थकी प्रतीति हुई। संस्कार आदिकी सामग्री होनेसे भले ही स्वप्न सत्य हो सकता है, किन्तु सृष्टिके आदिमें प्रसिद्ध सर्गरूप स्वप्न पूर्व दृष्ट अर्थवाला होकर ही आकाशमें विराजमान होता है। यानी चिरप्रलय का महान् व्यवधान होनेपर पूर्वानुभव संस्कार आदिका सर्वथा उच्छेद हो जानेसे यह सर्गस्वप्न स्वप्नकी अपेक्षा भी अति तुच्छ ही है। उसके बराबर भी इसका अस्तित्व नहीं है, यह उपपत्ति है, यह भाव है ॥ ६ ॥

इस प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्चके अधिक मिथ्या होनेपर हे विभो, सारा स्वप्न सद्रूप है, यथार्थ है ऐसा मेरी समझमें आता है यों मतिपदसे संदिग्धता-सी सूचित करते हुए क्यों कहते हो स्फुटरूपसे अनुभूत इस स्वगृहका अनुभव कर मेरे उपदेशसे फिर स्वप्नध्यानमें आपका उद्यम कैसे हुआ? क्योंकि कोई स्वप्न देखनेवाला

* 'व्याधमहागुरो' यह सम्बोधन आपकी अपेक्षा भी मन्दबुद्धि व्याधको समझानेके समय आपको उपपादन श्रम ज्ञात होगा, यह सूचित करनेके लिए है।

† 'पुष्करपत्राक्ष' (कमलनयन) यह सम्बोधन केवल नेत्रके सौन्दर्यसे यह विषय नहीं जाना जा सकता, यह सूचित करनेके लिए दिया गया है।

इदमित्थं सदाभागि स्फुटं स्वप्नजगन्मुने ।
सद्वाऽनुभवस्येव तत्र संदिग्धता कथम् ॥ ८ ॥
अथैवंवादिनस्तस्य वाक्यमाक्षिप्तवानहम् ।
पृष्टवान् व्याधगुरुता काऽस्मो मे कथ्यतामिति ॥ ९ ॥

अन्यमुनिरुवाच

श्रूयतामिदमाख्यानमपरं कथयामि ते ।
संक्षेपेण महाप्राज्ञ नाऽस्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १० ॥
अस्म्यहं तावदादीर्घतपास्त्वमतिधार्मिकः ।
श्रुत्वेदं मद्वचः सत्यमिहैव रतिमेष्यसि ॥ ११ ॥
इहस्थं मामिमं त्वं च न त्यक्ष्यसि सपर्यया ।
अहं भवद्भिः सहितो निवत्स्यामीति निश्चयः ॥ १२ ॥

यह स्वप्न मिथ्या है, ऐसा स्वप्न देखते समय नहीं जानता, यह तात्पर्य है ॥ ७ ॥

जगतका सत रूपसे ही अनुभव कर रहे आपके जगत् असत् है या नहीं इस सन्देहमें कोई बीज भी नहीं है, ऐसा कहते हैं---'इदमि०' इत्यादिसे ।

हे मुने, जब आप इस प्रकार इस विस्तारयुक्त स्वप्न जगत्का स्पष्टरूपसे यह सत् ही है, ऐसा अनुभव करते हैं तब उसमें 'है या नहीं है' यह सन्देह कैसे हो सकता है ? ॥ ८ ॥

इसके बाद यह सब कह रहे उन मुनि महाराजके वचन-प्रवाहको एक दूसरा प्रश्न उपस्थित कर मैंने बीचमें रोक दिया और उनसे पूछा- महाराज, मेरी व्याध-गुरुता कैसे है, यानी मैं व्याधका गुरु कैसे हूं कृपया मुझे बतला दीजिये ॥ ९ ॥

अन्य मुनिने कहा हे महामते, मेरे इस आख्यानको सुनिये, मैं दूसरा आख्यान आपसे संक्षेपमें कहता हूं मेरे विस्तारयुक्त व्याख्यानका तो अन्त मिलना भी कठिन है ॥ १० ॥

हे मुने, मैं दीर्घ तपस्वी हूं और आप अत्यन्त धार्मिक हो । मैं जब तक आप व्याधगुरु होओगे तब तक यहींपर हूं, आप भी यह मेरा सत्य वचन सुनकर यहीं अपने घरपर ही रतिको प्राप्त होओगे ॥ ११ ॥

यहांपर स्थित हुए मुझे अनुगमन, भक्ति आदि सत्कारसे आप नहीं छोड़ेंगे मैं भी आप लोगोंके साथ यहाँपर रहूँगा, यह निश्चय है ॥ १२ ॥

साधो यातेषु वर्षेषु ततः कतिपयेष्विह ।
सर्वबन्धुविनाशस्ते दुर्भिक्षेण भविष्यति ॥ १३ ॥
मत्तसीमान्तसामन्तविग्रहेण तदैव च ।
सर्वो गृहात्तनुप्राणिग्रामकोऽयं विनङ्क्ष्यति ॥ १४ ॥
ततो दुःखमजानन्तौ चिरमाश्वासितौ मिथः ।
शान्तौ विदितवेद्यत्वात्समौ सर्वार्थनिस्पृहौ ॥ १५ ॥
इहैवैकत्र कस्मिंश्चित्तरुखण्डकजालके ।
समाचारौ निवत्स्यावः शून्ये चन्द्ररवी यथा ॥ १६ ॥
उत्पत्स्यते त्वरण्येऽस्मिन्कालेन वनमुत्तमम् ।
शालताललताजालवलिताखिलभूतलम् ॥ १७ ॥
तालीतमालदलताण्डवमण्डिताशं
व्याकोशपद्मवनवन्ध्यविकासिवृत्तम् ।
कूजच्चकोरचयचारुलतानिकुञ्ज-
मुद्भासिनन्दनमिवाऽऽगतमन्तरिक्षात् ॥१८॥

हे साधो, तदनन्तर कुछ वर्षोंके बीतनेपर यहाँ तुम्हारे सब बन्धु-बान्धवोंका दुर्भिक्षसे विनाश हो जायगा ॥ १३ ॥

उसी समय वैर, बल आदिसे उन्मत्त हुए सीमाप्रान्तमें स्थित छोटे-मोटे राजाओंके आपसी युद्धसे इस गाँवके अधिकांश प्राणी मर जायँगे, बचे-खुचे थोड़े-से जीव भी गाँव छोड़कर भाग जायँगे ॥ १४ ॥

उसके बाद आपसमें एक दूसरेसे आश्वासित अतएव दुःखका नाम निशान न जाननेवाले, शान्त विदितवेद्य (ज्ञातज्ञेय) होनेके कारण दोनों एकसे तथा सकल पदार्थोंमें निस्पृह, समान आचरणवाले हम दोनों यहीं एक निर्जन जगहमें कहीं पेड़ोंके झुरमुटके बीच चन्द्रमा और सूर्यके समान निवास करेंगे ॥ १५, १६ ॥

हमारे निवास करनेसे इस अरण्यमें समय बीतनेपर लता, वृक्षोंका उत्तम वन उग जायगा । वह शाल, ताल, लताके समूहसे सारे भूतलको वेष्टित कर लेगा ॥ १७ ॥

उस वनका क्या वर्णन करूँ ? वह ताड़, तमालके पत्तोंके नाचसे दिशाओंको

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अ० वि० श०
मुनिरात्रिसंकथावर्णनं नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

अन्यमुनिरुवाच

आवयोश्चरतोरतस्मिन्वने चिरतरं तपः ।
मृगानुसरणश्रान्तो मृगव्याध उपैष्यति ॥ १ ॥
तं त्वं स्वभावपुण्याभिः कथाभिर्बोधयिष्यसि ।
तपस्तत्रैव विपिने स विरक्तश्चरिष्यति ॥ २ ॥
ततस्तपस्विचर्याणामात्मज्ञानबुभुत्सया ।
मध्ये स स्वप्नजिज्ञासुः प्रक्ष्यति स्वप्नसंकथाम् ॥ ३ ॥

अलंकृत करेगा, उसमें खिले हुए कमल-वनों द्वारा नीचे चरणोंको पकड़ने (छूने) के कारण वन्दनीय-से वृक्ष फूलोंसे विकसित रहेंगे और मधुर ध्वनि कर रहे चकोरोंके झुण्डोंसे उसके लता-निकुञ्ज अत्यन्त मनोमोहक रहेंगे । अधिक क्या कहूँ वह वन स्वर्गसे उतरा हुआ नन्दनवन-सा स्थायी होगा ॥ १८ ॥

एक सौ बावन सर्ग समाप्त

एक सौ तिरपन सर्ग

[व्याधके आगमन आदिकी उक्तिसे मुनिमें व्याधगुरुताका समर्थन तथा समयपर विवेकसे सर्वैकात्म्यरूप विज्ञानका वर्णन]

अन्यमुनिने कहा—हे मुनिवर, हम लोग उस वनमें चिरकाल तक तप करते रहेंगे, तब मृगोंका पीछा करनेसे थका हुआ व्याध आवेगा ॥ १ ॥

उसे आप स्वभावतः पवित्र विविध कथाओं द्वारा उपदेश देंगे । वह विरक्त होकर उसी वनमें तपस्या करेगा ॥ २ ॥

तपस्वियोंकी चर्य्याओंके अभ्याससे शम, दम आदि साधन-सम्पत्तिके बाद वह व्याध आत्मज्ञान जाननेकी इच्छासे आत्मज्ञानकी भूमिकाके रूपसे स्वप्न-जिज्ञासु होकर स्वप्न-कथा पूछेगा ॥ ३ ॥

कथयिष्यसि तस्मै त्वमात्मज्ञानमखण्डितम् ।
स्वप्नाख्येन प्रसङ्गेन ज्ञातो योग्यो भविष्यति ॥ ४ ॥
इत्यनेन प्रकारेण गुरुस्तस्य भविष्यसि ।
तेन तात मयोक्तोऽसि गिरा व्याधगुरो इति ॥ ५ ॥
इति ते सर्वमाख्यातं यथाऽयं संसृतिभ्रमः ।
यथाऽहं यादृशश्च त्वमिह यच्चो भविष्यति ॥ ६ ॥
इति तेनाऽहमुक्तः सन्विस्मयाकुलया धिया ।
तेन सार्धं विमृश्यैतत्परं विस्मयमागतः ॥ ७ ॥
अथ रात्र्यां व्यतीतायां स प्रभाते महामुनिः ।
तथा संपूजितो येन तत्रैव रतिमाप्तवान् ॥ ८ ॥
अनन्तरं गृहे तस्मिंस्तस्मिन्ग्रामगृहे तथा ।
स्थितावावां स्थिरमती कृतभावौ परस्परम् ॥ ९ ॥
ततो वहति कालोऽयमृतुसंवत्सरात्मकः ।
स्थितोऽहमागतान् भावांस्त्यजन्गृह्णन्गिरिर्यथा ॥ १० ॥

उसके पश्चात् आप स्वप्नके प्रसङ्गसे उसके लिए अखण्ड आत्म-ज्ञानका उपदेश देंगे। उसे ग्रहणकर वह योग्य हो जायगा ॥ ४ ॥

इस प्रकारसे आप उसके गुरु होंगे। इस कारण हे मुनिवर, मैंने आपको 'व्याधगुरो' इस सम्बोधनसे पुकारा है ॥ ५ ॥

जिस प्रकार यह संसार भ्रम है, जैसा मैं यहाँपर हूँ और जैसे आप यहाँपर हैं एवं जो आगे आपका होनेवाला है वह सब मैंने आपसे कहा ॥ ६ ॥

इस प्रकार कहनेपर विस्मयसे व्याकुल हुई बुद्धिसे उन मुनि महाराजके साथ इस दृश्यजातका विचार कर मैं और भी आश्चर्यको प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

इसके बाद रात्रि खुलनेपर प्रातःकालके समय उन मुनि महाराजका मैंने ऐसा आदर सत्कार किया कि जिससे वे मेरे घरपर ही रम गये ॥ ८ ॥

उसके बाद तो उस अरण्यस्थित घरमें और पूर्वजन्मके उस गाँवके घरमें परस्पर प्रचुर प्रीतिवाले स्थिरबुद्धिसम्पन्न हम दोनों रहे ॥ ९ ॥

तदनन्तर ऋतु, वर्ष आदि रूप कालके बीतने पर जैसे पर्वत वनाग्नि

नाऽभिवाञ्छामि मरणं नाऽभिवाञ्छामि जीवितम् ।
यथा स्थितोऽस्मि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरम् ॥ ११ ॥
ततो विचारितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम् ।
किं कारणमिदं तु स्यात्किमयं वेत्ति चेतसा ॥ १२ ॥
कोऽयं पदार्थसंघातः किं नामैतस्य कारणम् ।
अस्त्यस्मिन्स्वप्नसंदर्शे चिद्व्योमैकस्वरूपिणि ॥ १३ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
चिन्मात्रनभ एवैते कचन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥ १४ ॥
चिच्चन्द्रिकाचतुर्दिक्कमवभासं तनोति यत् ।
तदिदं जगदाभाति चित्रमप्रतिघात्मके ॥ १५ ॥

वृष्टि आदिका ग्रहण और त्याग करता है, वैसे ही मैं भी अनिष्ट, इष्ट और इष्टानिष्टमिश्रित भावोंका ग्रहण और त्याग करता हुआ स्थित हूँ ॥ १० ॥

न तो मैं मरणकी इच्छा करता हूँ और न जीवनकी अभिलाषा करता हूँ जैसे स्थित हूँ वैसे ही बिना सन्तापके रहता हूँ ॥ ११ ॥

तदुपरान्त मैंने वहाँपर दृश्यमण्डलके विषयमें विचार किया यह क्या है, क्या इसका कारण है ? और यह आत्मा इसको चित्तसे क्या जानता है ? ॥ १२ ॥

एकमात्र चिदाकाशस्वरूपी स्वप्नसदृश जगत्‌में यह पदार्थसंघात क्या है और क्या इसका निमित्त कारण है ? ॥ १३ ॥

चिदेकघन स्वभावमें स्थित चिन्मात्राकाशरूप ही ये द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध पर्वत, अनेक नदियाँ, दिशाएँ सबके सब विकासको प्राप्त हैं ॥ १४ ॥

चित्‌रूपी चन्द्रिका चारों ओर जिस अवभास (प्रकाश) का विस्तार करती है वह यह जगत् रूप चित्र, जो कि स्थूल न होनेके कारण प्रतिघातके योग्य स्वभाववाला नहीं है, आकाशमें भासित होता है ॥ १५ ॥

यदि कोई कहे कि पर्वत आदि स्थूल होनेसे प्रतिघातके योग्य हैं, वे अप्रतिघातस्वभाव कैसे होंगे ? इसपर कहते हैं—'**नेमे**' इत्यादिसे ।

नेमेऽद्रयो न चेयं भूर्नेदं खं नाऽयमप्यहम् ।
चिन्मात्रव्योमकचनमिदमाभाति केवल ॥ १६ ॥
पदार्थजातस्याऽस्य स्यात्किं नाम बत कारणम् ।
पिण्डग्रहे हेतुना तु विना कोऽप्यर्थसंभवः ॥ १७ ॥
भ्रान्तिमात्रमिदं चेत्स्याद्भ्रान्तेः किं नाम कारणम् ।
द्रष्टा मन्ता च को भ्रान्तेः कारणं वा क कीदृशम् ॥ १८ ॥
यस्याऽहमवसं संविन्मात्रकं हृदयौजसि ।
असौ मया सह गतः किलाऽशेषेण भस्मसात् ॥ १९ ॥
तस्मादिदमनाद्यन्तं चिदाभामात्रमम्बरम् ।
अकर्तृकर्मकरणं रूपं चिद्घनमक्रमम् ॥ २० ॥

न ये पर्वत हैं, न यह भूमि है, न यह आकाश है, न मैं ही हूँ। यह सब केवल चिन्मात्राकाशके स्फुरणका भान है ॥ १६ ॥

यदि यह चिन्मात्र-कचन ही है तो इस पदार्थराशिका कोई कारण नहीं है, क्योंकि इसके शरीर ग्रहण और उसके हेतु अप्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं—**'पदार्थ०'** इत्यादिसे ।

इस पदार्थराशिका शरीर ग्रहणमें क्या कारण हो सकता है। कारणके बिना भला किसी वस्तुका संभव हो सकता है ? ॥ १७ ॥

तब यह भ्रान्ति ही हो, ऐसी आशङ्का कर भ्रान्तिपक्षमें भी निमित्त, द्रष्टा आदिका निरूपण संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'भ्रान्ति०'** इत्यादिसे ।

यदि इसको केवल भ्रान्ति ही मानो, तो भ्रान्तिका क्या कारण है ? उस भ्रान्तिका कौन द्रष्टा है, कौन मनन करनेवाला है, वह कैसा है और कहाँ है ॥ १८ ॥

संविन्मात्ररूप मैं जिसके शरीरमें प्रविष्ट होकर हृदयवर्ती ओजमें रहा वह प्राणी मेरे शरीरके साथ ही पूर्णतया भस्म हो गया ॥ १९ ॥

इसलिए उसका शरीर, मेरा शरीर आदिका अस्तित्व न होनेके कारण यह सब आदि अन्त शून्य चित्की आभारूप आकाश ही है। कर्ता, कर्म, और करणसे विहीन क्रमशून्य यह चिद्घन ही है ॥ २० ॥

इदं चिद्व्योमकचनं घटावटपटादिकम् ।
स्फुटं कुत इवाऽकारि घटावटपटाद्यतः ॥ २१ ॥
नाऽपि चिन्मात्रकचनं चिन्मात्रं व्योम केवलम् ।
तस्य किं कचनं कीदृक् कथं कचति किं नभः ॥ २२ ॥
अयं फेनश्चिदम्भोधेः किमस्य कचनं नवम् ।
कचत्स्वभाव एवाऽयमनन्तश्चिद्घनः स्थितः ॥ २३ ॥
चिन्मात्रकचनं शुद्धं ब्रह्म बृंहितचिद्घनम् ।
इदं जगदिवाऽऽभाति क्व दृश्यं द्रष्टृता कुतः ॥ २४ ॥
आद्यन्तवर्जितममेयमनादिमध्य-
मेकं विभुं विगतकारणकार्यसत्त्वम् ।
सत्तामयं भुवनशैलदिगन्तनाना-
ऽनानात्मकं किमपि चेतनमेव सर्वम् ॥ २५ ॥

यह घट, वस्त्र, कुड्य आदि सब चिदाकाशका स्फुरण है। अतः घट, पट आदि स्पष्ट आकार धारण करनेवाले कहाँसे हो सकते हैं ॥ २१ ॥

'यह चिन्मात्रका स्फुरण है' यह बुद्धि भी 'राहुका सिर' इस कथनके समान केवल विकल्पमात्र ही है, क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष समासके प्रयोजक भेद और सम्बन्धकी प्रसिद्धि नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'नाऽपि'** इत्यादिसे।

यह चिन्मात्रका स्फुरण भी नहीं है, केवल चिन्मात्राकाश है। उसका स्फुरण क्या और कैसा ? क्या आकाशका भी स्फुरण होता है, भला उसका स्फुरण कैसे होगा ? ॥ २२ ॥

यह जगत् समुद्रके फेनकी तरह चिद्रूपी सागरका फेन है। इसका नवीन स्फुरण क्या होगा ? यह अनन्त चिद्घन परमात्मा स्फुरणस्वभाववाला ही स्थित है ॥ २३ ॥

शुद्ध चिन्मात्र-स्फुरण वृद्धिको प्राप्त चिद्घन ब्रह्म ही इस जगत्के समान अवभासित होता है, ऐसी अवस्थामें कहाँ दृश्य है और कहाँ द्रष्टृता है ? ॥ २४ ॥

कालतः आदि-अन्तसे शून्य, असीम, देशतः आदि-मध्यहीन वस्तुतः एक अद्वितीय अतएव कारण रहित, कार्य रहित और कार्यकारणके अधीन प्राणियोंसे रहित, स्वतःसत्ताप्रधान स्वसत्तासे ही भुवन आदिकी सत्ताका निर्वाह करनेके

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० निर्वा उ० अवि० श०
सर्वैकात्म्यप्रतिपादनं नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५३ ॥

चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

इति निर्णीय दृश्येऽस्मिन्स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ।
वीतरागो निराशङ्को निर्वाणो निरहंकृतिः ॥ १ ॥
निराधारो निराधेयो निर्मानो निरुपाश्रयः ।
स्वभावस्थः स्वयं शान्तः सर्गात्मा सर्वथोदितः ॥ २ ॥
यथाप्राप्तस्य कर्ताऽस्मि न कर्ताऽस्मि कदाचन ।
स्वयमेव हि यो व्योम कर्तृता तस्य कीदृशी ॥ ३ ॥

कारण नाना अनानारूप-सा वाणी और मनका अगोचर जो विभु चेतन है, वही सब-कुछ है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है ॥ २५ ॥

एक सौ तिरपन सर्ग समाप्त

एक सौ चौवन सर्ग

[मुनि द्वारा विचारसे उत्पन्न अपनी जीवन्मुक्तस्थिति तथा अभ्यासहीन व्याधकी परम पदमें अनवस्थितिका वर्णन]

मुनिजी अपने विचारकी फलभूत जीवन्मुक्तिस्थितिका विस्तारसे वर्णन करते हैं—**'इति'** इत्यादिसे ।

मुनिने कहा—हे व्याध, इस प्रकार निर्णय करके मैं इस दृश्यमें सन्ताप-रहित, वीतराग (आसक्तिरहित), शङ्कारहित, अहङ्काररहित, निर्वाण (मुक्त) स्वरूप स्थित हूँ ॥ १ ॥

अद्वैत होनेके कारण न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसीका आधार हूँ, अभिमानरहित, आश्रयविहीन, निज चित्स्वभावमें स्थित, स्वयं शान्त सर्वथा उदित सृष्टिरूप मैं स्थित हूँ ॥ २ ॥

व्यवहारतः यथाप्राप्त कृत्यका कर्ता हूँ, किन्तु यथार्थतः कभी भी कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि जो स्वयं ही निष्क्रिय आकाश है, उसकी कर्तृता कैसी ? ॥ ३ ॥

द्यौः क्ष्मा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्येकात्म नभः सर्वं भूतजालैकचिद्वपुः ॥ ४ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
न विधिप्रतिषेधौ मे न मे बाह्यं न मेऽन्तरम् ॥ ५ ॥
इति मे तिष्ठत इह यथासंस्थानसंस्थितेः ।
अद्याऽयं त्वमनुप्राप्तः काकतालीयवत्पुरः ॥ ६ ॥
इति ते सर्वमाख्यातं यथा स्वप्नो यथा वयम् ।
यथा जगद्यथा च त्वं यथा दृश्यमिदं तथा ॥ ७ ॥
त्वं च यादृग्दृश्यमिदं यथा दृश्यमिदं पुरः ।
यथा भावा यथा ब्रह्म यथेमा जनताः पुरः ॥ ८ ॥
एतद्बुध्वा भवाञ्छान्तो मिथ्या लुब्धकलुब्धक ।
शान्तैवैवमियं सत्ता चिन्मात्रव्योमरूपिणी ।

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध, पर्वत, नदियाँ दिशाएँ आदि सकल भूत सब जीवोंके एकमात्र चित्स्वरूप सत् चिदाकाश ही हैं ॥ ४ ॥

हे व्याध, मैं शान्त हूँ, चारों ओरसे आनन्दसागरमें मग्न हूँ, दुःख-सम्पर्कशून्य केवल आत्मसुखमें स्थित हूँ, न मेरे लिए कोई विधि है और न प्रतिषेध ही है । न मेरे लिए कुछ बाह्य है और न कुछ आन्तर है ॥ ५ ॥

हे व्याध, इस प्रकार जैसी स्थिति है उसके अनुकूल यहांपर स्थित हुए मेरे सामने आज काकतालीयके समान तुम प्राप्त हुए हो ॥ ६ ॥

इस प्रकार मेरे पास प्राप्त होकर मुझसे पूछ रहे तुमसे जैसा स्वप्न है, जैसे हम लोग हैं, जैसा जगत् है, जैसे तुम हो, जैसा यह दृश्य है, जैसे तुम इस प्रपञ्चके द्रष्टा हो, जैसा यह देह, इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आभ्यन्तरिक) दृश्य है, जैसा यह सामने दिखाई दे रहा भौतिक दृश्य है, उनमें जैसे राग, द्वेष, त्याग, ग्रहण आदि भाव हैं, जैसा ब्रह्म है और जैसी यह सामने दृश्यमान जनता है यह सब पूर्वोक्त वर्णनके अनुसार मैं कह चुका हूँ ॥ ७–८ ॥

हे लुब्धक, इन सबको मिथ्या जानकर तुम शान्त होओगे, क्योंकि यह चिदाकाशरूपिणी आत्मसत्ता शान्त ही है अशान्त नहीं है। अथवा आत्यन्तिक दृश्यशान्ति ही आत्मशान्ति है॥ ९ ॥

स्वयमाभाति निर्वाणा नैव वाऽऽभाति किंचन ॥ ९ ॥

लुब्धक उवाच

एवं चैतदहं त्वं च सर्वे वा विबुधादयः ।
सर्व एव मिथः स्वप्नपुरुषाः सदसन्मयाः ॥ १० ॥

मुनिरुवाच

एवमेतदिदं सर्वमन्योन्यं स्वप्नवत्स्थितम् ।
अन्योन्यमात्मनि तथा सदसच्चाऽनुभूयते ॥ ११ ॥
दृश्यं येन यथा बुद्धं तथा तेनाऽनुभूयते ।
नानेकं वस्त्वतोऽनेकं न सन्नाऽसन्न मध्यगम् ॥ १२ ॥
जाग्रति स्वप्ननगरमिव वेदनमात्रकम् ।
अदृष्टपूर्वदूरस्थदृश्यमानपुरोपमम् ॥ १३ ॥

स्पष्ट रीतिसे प्रतीत हो रहे मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी, पर्वत, पेड़ आदिकी स्वप्नतुल्यता अत्यन्त असम्भूत हैं इस बातको व्यङ्ग्यसे सूचित करता हुआ लुब्धक कहता है—**'एवम्'** इत्यादिसे।

व्याधने कहा—हे मुनिजी, यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और सब देवता सबके सब आपसमें स्वप्नपुरुष होनेसे सत् होते हुए भी असन्मय हो जायँगे ॥१०॥

मुनिजीने कहा—हे व्याध, जैसा तुम कहते हो वैसा ही यह सब परस्पर स्वप्नके समान स्थित है। यह अपनेमें सत् तथा अन्य लोगोंमें असत् प्रतीत होता है, क्योंकि वैसा ही इसका सबको अनुभव होता है ॥ ११ ॥

दृश्यको जिसने जैसा जाना वैसा वह उसका अनुभव करता है। दृश्य वस्तु नाना है और एक भी है, जैसे एक घड़ा नाना कपाल, कपालिका आदि उनकी अवयव-परम्परासे परमाणु पर्यन्त नाना वस्तुरूप और एकत्वकी प्रतीतिसे एकवस्तुरूप भी है जो नानात्व (भेद) दर्शी हैं उनके लिए उन दोनोंमें से एकत्व असत् है और जो एकत्व दर्शी हैं, उनके लिए नानात्व असत् है। भेदाभेददर्शियोंके लिए दोनों विकल्पसे सत् और दोनों असत् हैं। तत्त्वज्ञानियोंके लिए तो जाग्रत्में स्वप्ननगरके सदृश तथा पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए दूर देशस्थ दृश्यमान नगरके तुल्य वेदन-मात्र होनेके कारण एक भी नहीं है ऐसा अनुभवसे सिद्ध है, अतएव यह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सदसत् है ॥ १२-१३ ॥

इति ते सर्वमाख्यातं बोधितोऽसि निरन्तरम् ।
स्वयं प्राज्ञोऽसि जानासि यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १४ ॥
एवं प्रबोधितस्याऽपि तव व्याध मते मतिः ।
त्वणं प्रबोधविश्रान्ता न विश्रान्ता परे पदे ॥ १५ ॥
नाऽभ्यासेन विना बोध एष याति मनोहृदि ।
परां परिणतिं प्राज्ञ दारुणीवाऽम्बुधारणे ॥ १६ ॥
अभ्यासाद्बोधविश्रान्तौ गुरुशास्त्रैकसेवनात् ।
द्वैताद्वैतदृशोः शान्त्या निर्वाणं चित्तमुच्यते ॥ १७ ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै -
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १८ ॥

हे व्याध, इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, निरन्तर सदुपदेशोंसे तुम्हें बोधित किया है। तुम भी स्वयं ज्ञानवान् हो सब कुछ जानते हो, इसलिए जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो ॥ १४ ॥

हे व्याध, प्रकृष्ट बोधवाले यद्यपि इस प्रकार तुम पूर्णरूपसे बोधित हुए हो तथापि तुम्हारी बुद्धि स्वाभिमत जगत्सत्यत्वभ्रममें ही विश्रामको प्राप्त हुई है, परमपदमें क्षण भर भी विश्रामको प्राप्त नहीं हुई ॥ १५ ॥

यह बोध अभ्यास द्वारा अत्यन्त परिपक्व हुए बिना हृदयके अन्दर वैसे ही प्रविष्ट नहीं होता जैसे कि जलधारण कार्यके निमित्त छीलने-तराशने आदिसे निर्मित कमण्डलुके आकारमें परिणत हुए बिना काठके अन्दर जल नहीं प्रविष्ट होता ॥१६॥

अभ्याससे बोधकी चरमविश्रान्ति सिद्ध होनेपर चित्तको ही चरमविश्रान्तिका अनुभव रखनेवाले पुरुष निर्वाण कहते हैं, ऐसा कहते हैं—**'अभ्यासात्'** इत्यादिसे।

एकमात्र गुरु और शास्त्रके सेवनरूप अभ्याससे बोधके परमपदमें विश्रान्त होनेपर द्वैत और अद्वैत दृष्टियोंकी शान्ति होनेपर चित्त निर्वाण कहलाता है ॥१७॥

अपने द्वारा उक्त अर्थमें भगवद्वचनकी संमति दिखलाते हैं—**'निर्मान०'** इत्यादिसे ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० त्रि० शबो० यथाभूतार्थवर्णनं नाम चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

अग्निरुवाच

इत्याकर्ण्याऽथ स व्याधस्तदा तस्मिन्वनान्तरे ।
आसीच्चित्रकृताकार इव विस्मयमन्थरः ॥ १ ॥
न विशश्राम चेतोऽस्य स्वाभ्यासेन विना पदे ।
आसीदुद्भ्रान्त इव स प्रोह्यमान इवाऽर्णवे ॥ २ ॥
आरूढ इव वा चक्रे चक्रेण तपसा हृतः ।
नक्रेणेव समाक्रान्तः पराक्रमविवर्जितः ॥ ३ ॥

अन्दर अभिमान और मोहसे रहित और बाहर संगदोषोंपर विजय पाये हुए, अन्दर और बाहर नित्य आत्मामें लीन, चारों ओर आनन्दरूप आत्माका पूर्ण ज्ञान होनेसे सकल कामनाओंसे विहीन तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंसे, जिनसे सुख-दुःखका भलीभाँति ज्ञान होता है, सर्वथा निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी लोग विष्णुभगवान्के निर्वाणनामक परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

एक सौ चौवन सर्ग समाप्त

एक सौ पचपन सर्ग

(व्याधकी मूढ़ तपस्यासे प्रसन्न भगवान्के वरदानसे आकाशगति, कायवृद्धि और मृत्युका वर्णन)

अग्निने कहा—हे वत्स, यह सुनकर वह व्याध उस समय उस वनमें इसके पश्चात् चित्रलिखितकी तरह मारे आश्चर्यके स्तब्ध हो गया ॥ १ ॥

अपने अभ्यासके बिना उसके चित्तको परमपदमें विश्राम नहीं मिला, अतः, वह बेचारा मारे आश्चर्यके उद्भ्रान्त-सा समुद्रमें बहाया जा रहा-सा हो गया ॥२॥

वह चक्रमें चढ़ा हुआ-सा अथवा किसी सिद्ध द्वारा अपने तपोबलरूपी चक्रवातसे (आँधीसे) हरा गया-सा तथा मगर द्वारा आक्रान्त-सा विवश हो गया, उसमें किसी प्रकारकी शक्ति नहीं रह गई ॥ ३ ॥

किमेतत्स्यादुताऽन्यत्स्यान्निर्वाणमिति संशयात् ।
नाऽध्यगच्छदसौ शान्तिं मूर्खो यौवनवानिव ॥ ४ ॥
अविद्याकृतमेवेदं दृश्यमित्येव चिन्तयन् ।
अविद्या जगदित्येषा नाऽऽयाति निपुणं हृदि ॥ ५ ॥
कियदन्तमिदं दृश्यं स्यात्पश्याम्येतदादितः ।
दूरतोर्ध्वप्रमाणेन तपोलब्धशरीरकः ॥ ६ ॥
भावाभावात्मनो नित्यमस्याऽन्ते स्थीयते सुखम् ।
तस्मादाकाशमप्यस्ति यत्र नो तत्र याम्यहम् ॥ ७ ॥
इति निर्णीय हृदये मूर्ख एव बभूव सः ।
गतं तादृशमप्युक्तं विनाऽभ्यासेन भस्मनि ॥ ८ ॥
ततस्ततः प्रभृत्येव तेनैव मुनिभिः सह ।
लुब्धकत्वं परित्यज्य तपश्चरितुमुद्यतः ॥ ९ ॥

क्या यह निर्वाण होगा अथवा अन्य निर्वाण होगा ? इस सन्देहसे उस मूर्खको नवयौवनवानके समान शान्ति नहीं मिली ॥ ४ ॥

चूँकि यह जगत् अविद्या ही है, यह बात हृदयमें भली भाँति नहीं ठहरती है, इसलिए यह जगत् अविद्या नामकी ब्रह्मशक्ति द्वारा उत्पादित सत्य ही है ऐसा चिन्तन करता हुआ मैं इस दृश्यका कहाँ अवसान होगा यह बात तपस्या द्वारा शरीर प्राप्त कर, पृथ्वीसे आरम्भ कर, दूर होनेके कारण ऊँचे शरीरसे जाकर देखूँगा ॥ ५,६ ॥

भाव अभाव स्वरूप इस दृश्यके अवसानमें (असंसारप्रदेशमें) मैं सुखसे रह सकूँगा, इसलिए जहाँपर आकाश भी नहीं है वहाँ मैं जाता हूँ ॥ ७ ॥

ऐसा हृदयमें विचार कर वह कोरा मूर्ख ही रहा। मुनिजीने बड़े विस्तारके साथ अनेक दृष्टान्तों और उपपत्तियोंसे युक्त जो उपदेश दिया था, वह अभ्यासके बिना भस्ममें किये गये हवनके तुल्य व्यर्थ चला गया ॥ ८ ॥

उसके पश्चात् तभीसे उक्त निर्णय वश ही व्याधताको छोड़कर वह मुनियोंके साथ तपस्या करनेके लिए उद्यत हुआ ॥ ९ ॥

तस्मिञ्जगति तैर्भावैस्तैः समं निवसन् सदा ।
बहून्यब्दसहस्राणि चकार सुमहत्तपः ॥ १० ॥
तपः कुर्वन्कदाचित्स पुनः प्रपच्छ तं मुनिम् ।
कदा स्यादात्मविश्रान्तिर्ममेत्याह मुनिस्ततः ॥ ११ ॥

मुनिरुवाच

ज्ञानं तदुपदिष्टं ते जीर्णदार्वल्पकाग्निवत् ।
संस्थितं हृदये किन्तु दाह्यमाक्रम्य नोचितम् ॥ १२ ॥
नाऽभ्यासेन विना ज्ञाने शिवे विश्रान्तवानसि ।
अभ्यासेन तु कालेन भृशं विश्रान्तिमेष्यसि ॥ १३ ॥
भविष्यदिदमात्मीयमथाऽऽकर्णय निर्णयम् ।
मम वर्णयतः कर्णभूषणं भूतलाद्भुतम् ॥ १४ ॥

तपस्वियोंके लोकमें तपस्वी लोगोंमें प्रसिद्ध भावनाओंसे सदा तपस्वियोंके साथ निवास करते हुए उसने अनेक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की ॥ १० ॥

तपस्या करते हुए उसने किसी समय फिर उन मुनि महाराजसे प्रश्न किया, हे मुने ! मेरी आत्मामें विश्रान्ति कब होगी ? इसपर मुनिजीने उससे कहा ॥ ११ ॥

मुनिजीने कहा—हे व्याध, मैंने तुन्हें जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, वह पुरानी लकड़ीके अन्दर स्थित थोड़ी-सी आगके समान तुम्हारे हृदयमें स्थित है। इस समय उसने जलानेके योग्य भी दृश्यरूप अनर्थपर आक्रमण नहीं किया है। 'जीर्ण लकड़ीके अन्दर स्थित थोड़ी-सी अग्निके समान' इस कथनसे जन्मान्तरमें वह उद्बुद्ध होगा, यह सूचित किया है ॥ १२ ॥

अभ्यास न होनेके कारण तुम कल्याणकारी तत्त्वज्ञानमें विश्रान्त नहीं हुए हो। किन्तु अभ्याससे समय आनेपर तुम पूर्णरूपसे ज्ञानमें विश्रान्तिको प्राप्त होओगे ॥ १३ ॥

हे व्याध, अब तुम निर्णयका वर्णन कर रहे मुझसे अपना यह भावी वृत्तान्त सुनो। वह कानोंके लिए भूषणरूप है तथा भूतलमें कोई भी मनसे भी उसकी सम्भावना नहीं कर सकता, अतः अद्भुत है ॥ १४ ॥

संस्तुतानवबुद्धात्मा ज्ञानसारतयाऽनया ।
दोलायमानसंवित्त्वं न मूर्खो न च पण्डितः ॥ १५ ॥
अविद्यारूपमाभोगि किंप्रमाणमिदं जगत् ।
स्यादित्यात्मविकल्पेन तपस्त्वं कर्तुमुद्यतः ॥ १६ ॥
इत्थं तपस्त्वया घोरं कार्यं युगशतं पृथु ।
परमेष्ठी ततस्तुष्टस्त्वामुपैष्यति सामरः ॥ १७ ॥
मार्गयिष्यसि तस्य त्वं वरदस्य वरं वर ।
इदमुद्दामदौरात्म्यान्निजं संदेहसंचयम् ॥ १८ ॥
देवाऽयं दृश्यरूपेऽस्मिन्दृष्टेऽविद्याभ्रमे सति ।
क्वचिदादर्शवन्नाऽस्ति प्रतिबिम्बमलोज्झितः ॥ १९ ॥
चिद्व्योमदर्पणस्याऽस्य परमाण्वाकृतेरपि ।
अन्तस्थस्यैव वा यत्र तत्रेदं प्रतिबिम्बति ॥ २० ॥

तुम आत्माको जाननेके लिए प्रस्तुत तो हो, किन्तु विद्वानोंमें प्रसिद्ध ज्ञानरूपसारतासे तुम्हें उसका बोध नहीं हुआ, अतएव तुम्हारी बुद्धि झूलेकी तरह डोल रही है, अतः न तुम निपट मूर्ख ही हो और न पंडित ही हो ॥ १५ ॥

यह विस्तारयुक्त अविद्यारूपी जगत् कितना विशाल होगा ऐसी केवल अपने मनोरथकी कल्पनासे तुम तपस्या करनेके लिए उद्यत हुए हो ॥ १६ ॥

जिस तरह तुम इस समय तप कर रहे हो इसी प्रकार सैकड़ों युगों तक (सैकड़ों युगोंतक व्याधका जीवन असंभव होनेसे अनेक जन्मोंतक यह अर्थ अर्थात् प्राप्त होता है) तुम्हें बड़ी कड़ी तपस्या करनी होगी। तदनन्तर ब्रह्माजी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर देवताओंके साथ तुम्हारे समीप आवेंगे ॥ १७ ॥

हे श्रेष्ठ, तुम वर देनेवाले ब्रह्माजीके समक्ष अपनी सहज उद्दण्डतावश निज मनोरथसे कल्पित संशयराशिरूप यह वर माँगोगे ॥ १८ ॥

हे ब्रह्माजी, इस दृश्यरूप अविद्याभ्रमके ज्ञात होनेपर आदर्शके तुल्य स्थित ब्रह्ममें प्रतिबिम्बरूप मलसे रहित कोई प्रदेश नहीं है, जहांपर पहुँचकर मेरी विक्षेपशून्य स्थिति हो सके ॥ १९ ॥

चूँकि परमाणुके तुल्य अत्यन्त सूक्ष्म आकारवाले अन्दर स्थित इस चिदाकाशरूपी दर्पणमें यत्र तत्र (सर्वत्र) यह जगद्रूप दृश्य प्रतिबिम्बित होता है,

तस्मात्कियदनन्तं स्यादिदं दृश्यमनर्थकृत् ।
तस्य पारे कियद्वा स्यादाकाशं दृश्यमेव तत् ॥ २१ ॥
एवमर्थमहं ज्ञातुमिमं संप्रार्थये वरम् ।
शृणु देवेश्वराऽविघ्नं तच्चैवाऽऽशु प्रयच्छ मे ॥ २२ ॥
इयं स्वच्छन्दमृत्युर्मे नीरोगाऽस्तु तनुश्चिरम् ।
गारुडेन च वेगेन संयुता व्योमगामिनी ॥ २३ ॥
प्रतिनाडीक्रमेषा तु वृद्धिं गच्छतु योजनम् ।
क्रमेण जगतो बाह्ये भवत्वाकाशरूपिणी ॥ २४ ॥
साकाशस्याऽस्य दृश्यस्य लभेय परमेश्वर ।
अन्तमित्थमनन्तस्य परमोऽस्त्विति मे वरः ॥ २५ ॥
इति साधो त्वया प्रोक्ते देवदेवो वरं प्रभुः ।
एवमस्तु तवेत्युक्त्वा यास्यत्यन्तर्धिमीश्वरः ॥ २६ ॥

अतएव इसमें प्रतिबिम्बरूप मलसे रहित कोई प्रदेश नहीं है ॥ २० ॥

हे ब्रह्माजी, यतः साविद्य (अविद्यासहित) चितिकी यह स्थिति है, इसलिए यह अविद्याप्रयुक्त अनर्थकारी दृश्य कहाँतक (कितनी दूरीतक) होगा, उस दृश्यके बाद (परली पार) अनन्त निरविद्य ब्रह्म कितनी दूरीतक होगा, आकाशकी तरह संसारशून्य उस ब्रह्मको मैं जाकर अवश्य ही देखूँगा ॥ २१ ॥

हे देवाधिदेव, इस प्रकारकी वस्तुका प्रत्यक्ष अनुभव करनेके लिए यह निम्ननिर्दिष्ट वर आपसे चाहता हूँ । हे विधे, उसे आप बिना किसी विघ्नबाधाके शीघ्रातिशीघ्र मुझे दीजिए ॥ २२ ॥

यह मेरा शरीर चिरकालतक निरोग रहे, इसकी मृत्यु स्वाधीन हो, यह गरुड़के सदृश वेगसे युक्त होकर आकाशगामी हो ॥ २३ ॥

इसका प्रत्येक अङ्ग प्रतिक्षण एक योजन बढ़े, बढ़ते बढ़ते समय-क्रमसे तीनों लोकोंके बाहर जाय और आकाशके तुल्य विशालरूप हो ॥ २४ ॥

हे परमेश्वर, इस प्रकार आकाश सहित इस असीम दृश्यका अन्त मुझे प्राप्त हो, यही परम वर मुझे मिले ॥ २५ ॥

हे सज्जन, ऐसी जब तुम प्रार्थना करोगे तब देवाधिदेव प्रभु ऐसा ही हो यों तुम्हें वर देकर अन्तर्धान हो जायँगे ॥ २६ ॥

गते तस्मिन्महादेवे देवैः सह दिवस्पतौ ।
तपसा ते कृशो देहश्चन्द्रकान्तिर्भविष्यति ॥ २७ ॥
मामापृच्छ्यन्नमस्कृत्य तस्मिन्नेव क्षणे ततः ।
द्युतिमेष्यति स व्योम्नि चित्तस्थार्थदिदृक्षया ॥ २८ ॥
द्वितीय इव शीतांशुर्द्वितीय इव भास्करः ।
द्वितीय इव वौर्वाग्निश्चन्द्रार्कस्पर्धयोत्थितः ॥ २९ ॥
ततो गरुडवेगेन दृश्यस्य नभसस्तथा ।
अन्तं प्राप्तुं वहन्वेगाज्जगतः सरितामिव ॥ ३० ॥
जगतोऽन्ते ततोऽजस्रं ततो वर्धिष्यते वपुः ।
कल्पान्तमत्तार्णववन्निष्पाराम्बरपूरणम् ॥ ३१ ॥
द्रक्ष्यस्यथ महाव्योम्नि वर्धमानो बृहद्वपुः ।
सर्गान्निरर्गलाधारनिरन्तगगनक्रमात् ॥ ३२ ॥
परमार्थमहाकाशशून्यतावातचक्रकान् ।
स्वभावद्रवतोद्देशाच्चिदर्णवतरङ्गकान् ॥ ३३ ॥

स्वर्गाधिपति देवाधिदेव श्रीब्रह्माजीके देवताओंके साथ चले जानेपर तपस्यासे कृश हुआ तुम्हारा शरीर चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हो जायगा ॥२७॥

उसके बाद मुझसे पूछकर नमस्कार कर उसी समय दिव्यशरीरधारी तुम चित्तमें स्थित त्रिलोकका अन्त देखनेकी उत्कट इच्छासे मेरे आश्रमसे आकाशमें मानो दूसरे चन्द्रमा-से, दूसरे सूर्य-से अथवा सूर्य और चन्द्रमाकी स्पर्धासे आकाशमें चढ़े हुए दूसरे बड़वानल-से उड़ जाओगे ॥ २८,२९ ॥

तदनन्तर दृश्य जगत् तथा आकाशके अन्ततक पहुँचनेके लिए गरुड़के सदृश वेगसे दौड़ रहा तुम्हारा शरीर, जो कि उन्मत्त प्रलयसागरकी तरह अपार आकाशकी निरवकाशताको पूर्ण करनेवाला होगा, नदियोंके अन्तकी तरह त्रैलोक्यके अन्तमें निरन्तर बढ़ता ही जायगा ॥ ३०,३१ ॥

महाकाशमें निरन्तर बढ़ रहे अतएव विशालकाय हुए तुम रोक-टोकके बिना ही आधारभूत अनन्त आकाशमें चढ़नेसे परमार्थभूत महाकाशकी शून्यतासे उत्पन्न हुई आँधियोंके सदृश सृष्टियोंको, जो अज्ञाततास्वभावरूप द्रवताकी वृद्धिसे आविर्भूत चित्समुद्रके तरङ्गरूप हैं, देखोगे ॥ ३२,३३ ॥

संविद्घने यथा स्वप्ने पुराद्या भान्ति खात्मकाः ।
तथा तदा तवैष्यन्ति सर्गवर्गा निरर्गलाः ॥ ३४ ॥
विस्फुरन्ति महाव्योम्नि पर्णौघाः क्षुभितानिलैः ।
तथा सर्गाननन्तांस्त्वं द्रक्ष्यस्यक्षीणनिश्चयः ॥ ३५ ॥
सभासत्येक्षणरुचां यथा जालं सदप्यसत् ।
जगदात्म तथाकाशसंविदां खे सदप्यसत् ॥ ३६ ॥
सर्वोर्वीजनदृष्टानां लग्नानामिन्दुमण्डले ।
यादृग्जालं जगत्तादृक्स्थितेऽनन्यत्वमात्मनः ॥ ३७ ॥
पुनः सर्गः पुनर्व्योम पुनः सर्गः पुनर्नभः ।
इत्येवं पश्यतस्तेऽत्र दीर्घकालः प्रयास्यति ॥ ३८ ॥
अथ दीर्घेण कालेन प्रस्फुरन्सर्गपर्णके ।
उद्वेगमेष्यसि व्योम्नि महामहिमनि स्वयम् ॥ ३९ ॥

जैसे संविद्घन स्वप्नमें शून्यरूप नगर आदि प्रकाशमें आते हैं वैसे ही उस समय बिना रोक-टोकके अनेकों सृष्टियाँ तुम्हारे दृष्टिगोचर होंगी ॥ ३४ ॥

जैसे क्षोभित आँधियोंसे पत्तोंकी राशियाँ आकाशमें छितरा जाती हैं वैसे ही महाकाशमें छितराई हुई अनन्त सृष्टियोंको अक्षीण संकल्पवाले तुम देखोगे ॥३५॥

जैसे महलोंके अन्दर बैठी हुई महिलाओंको चित्र विचित्र झरोखोंसे बाहर स्थित नृत्य सभाका सत्यत्व दर्शन रुचता है और नहीं रुचता है ऐसी स्त्रियोंके लिए विचित्र वातायन सत् होते हुए भी प्रायः असत् है वैसे ही चिदाकाशकी संवित्‌वालों यानी तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें जगत्‌रूप वैचित्र्य चिदाकाशमें रहता हुआ भी असद्रूप ही है ॥ ३६ ॥

भूमिमें स्थित सब लोगोंको धुआँ, कुहरा, धूलि आदिका समूह चन्द्र-मण्डलसे सटा हुआ-सा दिखाई देता है लेकिन चन्द्रमण्डलमें स्थित लोगोंकी दृष्टिसे वह जैसे अत्यन्त असत् है ठीक वैसे ही जगत् भी आत्माके अभेदको प्राप्त हुए तत्त्ववेत्तामें अत्यन्त असत् है ॥ ३७ ॥

फिर सृष्टि फिर आकाश, फिर सृष्टि फिर आकाश इस प्रकार देखते देखते तुम्हारा लम्बा समय वहाँ बीत जायगा ॥ ३८ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके बाद महामहिमशाली अव्यक्त आकाशमें, जिसमें

उद्वेगमेष्यसि ततस्तपसोऽनुभवत्फलम् ।
निर्देक्ष्यसि तदा देहमनन्ताम्बरपूरकम् ॥ ४० ॥
किमिदं कुशरीरं मे भारभूतमिव स्थितम् ।
मेर्वादिभूभृतां लक्षमपि यस्मिंस्तृणायते ॥ ४१ ॥
देहो ममाऽप्रमाणोऽयं व्याप्तं व्योम मयाऽखिलम् ।
पूरयामि खमद्याऽपि भावि नैवोपगम्यते ॥ ४२ ॥
अविद्या बत घोरेयमनन्ता च प्रमीयते ।
मीयते न च केनाऽपि ब्रह्मज्ञानं समं विना ॥ ४३ ॥
तमिमं संत्यजाम्येव देहमावितान्तरम् ।
नाऽनेन किंचिदाप्नोमि साधुसच्छास्त्रसंगमम् ॥ ४४ ॥
अनन्तापारपर्यन्तं निरालम्बाम्बरास्पदम् ।
किं नामेदं शरीरं मे सुदुष्प्रापार्यसंगमम् ॥ ४५ ॥

सृष्टिरूपी पत्ते इधर उधर स्फुरित होते हैं, तुम स्वयं ऊब जाओगे ॥ ३९ ॥

तदनन्तर तपस्याके फलका अनुभव करते हुए तुम उद्वेगको प्राप्त होओगे तब तुम अनन्त आकाशको भर डालनेवाले अपने विशालशरीरको देखोगे और कहोगे ॥ ४० ॥

यह मेरा कुत्सित शरीर भी क्या है? जिसमें लाखों मेरु आदि महापर्वत भी तृणके तुल्य लघु हैं, यह मेरे लिए भारभूत-सा हो गया है ॥ ४१ ॥

मेरा यह शरीर बेप्रमाण हो गया है मैंने इससे सारे आकाशको व्याप्त कर दिया आज भी मैं आकाशको भरता जाता हूँ, किन्तु आगे क्या होगा यह मेरी समझमें बिलकुल नहीं आता है ॥ ४२ ॥

हाय, मुझे यह दृश्यरूप अविद्या भीषण और असीम प्रतीत होती है। कोई भी सम ब्रह्मज्ञानके बिना इसका आरपार नहीं पा सकता ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण अवकाशको ढक चुके इस शरीरका मैं अवश्य त्याग करता हूँ। इस अतिविशाल कुशरीरसे मैं साधुसंगति, सच्छास्त्राभ्यास अथवा अन्य मोक्षसाधन कुछ प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ४४ ॥

असीम ओर-छोर रहित और आकाशमें निराधार स्थित यह मेरा शरीर

इति संचिन्त्य तं देहं धारणां प्राणरेचनीम् ।
कृत्वा त्यक्ष्यसि संभुक्तात्फलाच्छुष्कं यथा खगः ॥ ४६ ॥
कृत्वा देहपरित्यागं जीवः प्राणसमन्वितः ।
व्योम्नि स्थास्यति ते तस्मिन्वातात्सूक्ष्मोऽपि वातवत् ॥ ४७ ॥
छिन्नपक्षो महामेरुरिव देहः पतिष्यति ।
तत्र भूलोकशैलादि सर्वं चूर्णीकरिष्यति ॥ ४८ ॥
शुष्का भगवती देहं तत्तदा भक्षयिष्यति ।
समातृमण्डला तेन निर्दोषा भूर्भविष्यति ॥ ४९ ॥
इत्यात्मोदन्तमखिलं श्रुतवानसि सुव्रत ।
तपस्तालीवने कृत्वा यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ५० ॥

व्याध उवाच

अहो नु भगवन्दुःखं परिभोक्तव्यमक्षयम् ।
मया व्यर्थमनर्थाय यदर्थेन दुरर्थितम् ॥ ५१ ॥

भी क्या है जिससे कि तत्त्वज्ञानियोंका संगम दुर्लभ है ॥ ४५ ॥

ऐसा विचारकर तुम प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालनेवाली योगधारणा कर जैसे पक्षी खाये हुए फलसे बचे हुए नीरस छिलका, गुठली आदि हिस्सेका त्याग करता है वैसे ही उस शरीरका त्याग करोगे ॥ ४६ ॥

शरीरका त्यागकर वायुसे भी सूक्ष्म तुम्हारा जीव प्राणवायुसे युक्त होकर वायुकी तरह उस आकाशमें स्थित होगा ॥ ४७ ॥

जिसके पर कट चुके ऐसे महान् मेरुकी तरह तुम्हारा महान् शरीर गिरेगा । भूलोकके पर्वत आदि सबको चूर-चूर करेगा ॥ ४८ ॥

तब पूर्वोक्त रक्तरहित भगवती काली मातृमण्डलके साथ उस शरीरको पूर्ववर्णनके अनुसार गणोंसहित खा जायगी, इससे भूमि निर्दोष हो जायगी ॥ ४९ ॥

हे सुव्रत, इस तरह तुम सारा आत्मवृत्तान्त सुन चुके हो, तालीवनमें तपस्याकर जैसा चाहते हो वैसा करो ॥ ५० ॥

आगे आनेवाले अपने दृढ़संकल्प-फलको सुनकर उससे खिन्न हुआ व्याध उसके प्रतीकारका कोई उपाय है, या नहीं यह पूछता है—'अहो' इत्यादिसे ।

विद्यते किं विभो काचिद्युक्तिः सैषा स्थितिर्वर ।
अन्यथा भवितव्योऽर्थो यदि नाऽस्ति तदुच्यताम् ॥ ५२ ॥

मुनिरुवाच

अवश्यं भवितव्योऽर्थो न कदाचन केनचित् ।
विधातुमन्यथा शक्यस्तन्न तरति यत्नतः ॥ ५३ ॥
वामावामशिरःपादविपर्ययविधौ यथा ।
पुंसो न विद्यते शक्तिस्तथा भाव्यान्यथास्थितौ ॥ ५४ ॥
ज्योतिःशास्त्रार्थविज्ञानैरिह भाव्यर्थवेदनम् ।
भवत्यन्यदपूर्वं तु न किंचन कदाचन ॥ ५५ ॥
जयन्ति कर्माणि हि वेदनानि
यैः प्राक्कृतैरद्यतनान्युपेत्य ।

व्याधने कहा—हे भगवन्, क्या मुझे यह अक्षय दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा ? हाय मैंने क्लेश भोगनेके लिए पुरुषार्थके भ्रमसे व्यर्थ दुःखका ही संकल्प द्वारा समर्थन किया ॥ ५१ ॥

हे श्रेष्ठतम मुनिजी, यह भावी वस्तुस्थिति आपने मुझसे कही । यह भवितव्यता जिस युक्तिसे टल जाय वैसी भी कोई युक्ति है या नहीं है, कृपया यह मुझसे कहिये ॥ ५२ ॥

मुनिजीने कहा—हे व्याध, अवश्य भावी अर्थको कोई कदापि टाल नहीं सकता, क्योंकि वह आधुनिक प्रयत्नोंसे नष्ट नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

जैसे पुरुषको अपने शरीरमें तक बाएँ अङ्गको दाहिना दाहिनेको बायाँ तथा सिरको पैर और पैरोंको सिर बनाकर अदल-बदल करनेकी सामर्थ्य नहीं है वैसे ही उसे भावी अर्थको अन्यथा करनेकी भी सामर्थ्य नहीं है ॥ ५४ ॥

ज्योतिष शास्त्र आदिमें उक्त उपायोंसे उसका ज्ञानभर हो सकता है उसको उलटना शास्त्रोंकी भी सामर्थ्यके बाहरकी बात है, ऐसा कहते हैं—**'ज्योतिः०'** इत्यादिसे ।

ज्योतिष शास्त्रके परिज्ञानसे भावी पदार्थका ज्ञान होता है, किन्तु शास्त्र इससे कुछ अतिरिक्त अपूर्व कार्य कदापि नहीं कर सकते ॥ ५५ ॥

तब तो पूर्वजन्मके दृढ़संकल्पजनित कर्मोंके अनन्त होनेसे कदापि मोक्ष

शरीरदाहैरपि निर्विकार-
संविन्मयैर्ब्रह्मतयैव सुप्तम् ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अ० वि० श०
भाविसंपत्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५५॥

—:०:—

षट्पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

व्याध उवाच

अनन्तरं हे भगवन्विततकाशवासिनः ।
किं भविष्यति मे तत्र देहेऽधःपातिनि क्षितौ ॥ १ ॥

नहीं होगा ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'जयन्ति' इत्यादिसे ।

जो पुरुषश्रेष्ठ पूर्वकृत सुकृतोंसे आधुनिक शम, दम आदि साधनोंको प्राप्त कर ब्रह्मज्ञान करानेवाले श्रवण, मनन आदि उपायों द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्तकर ब्रह्मरूपसे ही सो गये जगद्-दर्शनके लिए जागे नहीं वे प्राक्तन सब कर्म और दुष्ट संकल्प आदिका, भले ही वे अत्यन्त दृढ़ क्यों न हो, उच्छेदकर उत्कर्षको प्राप्त होते हैं, लोगोंके वन्दनीय होते हैं, अन्य नहीं ॥ ५५ ॥

एक सौ पचपन सर्ग समाप्त

—:०:—

एक सौ छप्पन सर्ग

[वायुमें स्थित व्याधका जीव राजा सिन्धु बनकर विदूरथको मारकर अपने मन्त्रीके मुँहसे अपना तत्त्व सुनेगा, यह वर्णन]

'देह का त्यागकर प्राणयुक्त वायुसे भी सूक्ष्म तुम्हारा जीव वायुकी तरह उस महाकाशमें रहेगा' ऐसा जो मुनि महाराजने पूर्व सर्गमें कहा था, उसे सुनकर व्याध उसके बादका अपना भविष्य पूछता है—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

व्याधने कहा—हे भगवन्, उसके बाद जब कि मेरा शरीर नीचे पृथिवीपर गिर जायगा तब विस्तीर्ण आकाशमें बसनेवाले मेरा क्या हाल होगा ? ॥१॥

मुनिरुवाच

शृणुष्वाऽवहितस्तस्मिन्देहे तव परिक्षते।
किं भविष्यति भव्यात्मंस्तस्मिन् परमकाम्बरे ॥ २ ॥
देहे तस्मिन्परिभ्रष्टे जीवस्तु प्राणसंयुतः।
भविष्यत्यम्बरे वातलवो व्याततरूपिणि ॥ ३ ॥
तस्मिन्वातलवे चेतो दृश्यं हृत्स्थं स्थितं पुरः।
स्फारं द्रक्ष्यति भूपीठं भवान्स्वप्ने जगद्यथा ॥ ४ ॥
महत्त्वाच्चित्तवृत्तेस्तु जीवो द्रक्ष्यति ते ततः।
राजाऽहमस्मि भूपीठ इति संकल्पितार्थभाक् ॥ ५ ॥
तत्राऽस्य सहसैवाऽऽशु प्रतिभोदेष्यति स्वयम्।
अहमस्मि नृपः श्रीमान्सिन्धुर्नाम्नाऽतिमानितः ॥ ६ ॥
अष्टवर्षाय मे राज्यं गते पितरि काननम्।
भुवश्चतुःसमुद्रायाः पित्रा दत्तमुपागतम् ॥ ७ ॥

मुनिजीने कहा—हे सौम्य, तुम्हारे उस विशाल शरीरके विनष्ट होनेपर उस अव्याकृत आकाशमें तुम्हारा क्या होगा, यह तुम ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

उक्त शरीरके नीचे गिरनेपर प्राणयुक्त तुम्हारा जीव उस अत्यन्त विशाल अव्याकृताकाशमें वायुका लेशरूप होगा ॥ ३ ॥

उसी वायुके लेशमें तुम्हारा चित्त हृदयस्थ (वासनामय) सामने स्थित विशाल भूतल आदि जगत्को वैसे ही देखेगा जैसे कि तुम स्वप्नमें देखते हो ॥ ४ ॥

तदनन्तर महती चित्तवृत्ति (महामना) होनेके कारण या चित्तवृत्तिके ही जगत्के आकारसे महान् होनेके कारण तुम्हारा जीव वहाँपर मैं राजा हूँ यह देखेगा, इस प्रकार भूतलमें संकल्पित अर्थका भागी होगा ॥ ५ ॥

वहाँपर उसकी एकाएक शीघ्र ऐसी प्रतिभा अपने आप उदित होगी कि मैं सामन्तों द्वारा अत्यन्त सत्कृत श्रीमान् सिन्धुनामका राजा हूँ ॥ ६ ॥

पिताजी तपस्या करनेके लिए जब वनको चले गये तब पिता द्वारा दिया गया चार समुद्रवाली पृथिवीका राज्य आठ वर्षकी अवस्थावाले मुझे प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

सीमान्ते भूपतिः शत्रुर्विदूरथ इति श्रुतः ।
विद्यते यः प्रयत्नेन विना नाम न जीयते ॥ ८ ॥
इदं मे कुर्वतो राज्यं संवत्सरशतं गतम् ।
अहो भृत्यकलत्रौघैः सह भुक्तं मया सुखम् ॥ ९ ॥
कष्टमेष प्रवृद्धो मे सीमान्तवसुधाधिपः ।
अनेन सह संग्रामो दारुणः समुपस्थितः ॥ १० ॥
इति चिन्तयतस्तत्र विदूरथमहीभुजा ।
भविष्यति महद्युद्धं चतुरङ्गबलक्षयि ॥ ११ ॥
महता तेन युद्धेन हनिष्यसि विदूरथम् ।
करवाललतालूनजङ्घं त्वं विरथोऽपि सन् ॥ १२ ॥
चतुःसागरपर्यन्ते भूतले भूपतिस्ततः ।
भविष्यसि भयाक्रान्तदिक्पालादृतशासनः ॥ १३ ॥
स त्वं सिन्धुर्भवन्प्राप्तसकलावनिमण्डलः ।
पण्डितैर्मन्त्रिभिः सार्धं करिष्यसि कथा इमाः ॥ १४ ॥

सीमाके अन्तमें विदूरथ नामसे प्रसिद्ध राजा मेरा शत्रु है । जिसे बिना प्रबल प्रयत्नके परास्त करना कठिन है ॥ ८ ॥

यह राज्य करते मेरे सौ वर्ष बीत गये हैं । अहा मैंने अपने स्त्री-पुत्र नौकर-चाकरोंके साथ खूब सुख-भोग किया ॥ ९ ॥

दुःख है, यह मेरे सीमान्तका राजा कोष, बल आदिमें बढ़ा-चढ़ा है इसके साथ मेरा घोर संग्राम उपस्थित है ॥ १० ॥

यह चिन्तन कर रहे तुम्हारा वहाँपर राजा विदूरथके साथ चतुरङ्गिणी सेनाका विनाश करनेवाला तुमुल युद्ध होगा ॥ ११ ॥

तुम रथरहित होते हुए भी तलवारसे विदूरथकी जंघाओंको काटकर उसे महान् युद्ध द्वारा धराशायी करोगे ॥ १२ ॥

तदनन्तर चार सागरोंसे परिवृत भूतलपर तुम्हारा अकंटक राज्य होगा, लोकपाल भी भयभीत होकर तुम्हारे शासनका आदर करेंगे ॥ १३ ॥

वह तुम सिन्धु नामक राजा बनकर सकल भूमण्डलको स्वायत्त कर पंडित और मन्त्रियोंके साथ निम्न लिखित कथाएँ करोगे ॥ १४ ॥

मन्त्री वदिष्यति

अत्याश्चर्यमिदं देव यदेवं स विदूरथः ।
देवेन विजितो युद्धे नीतश्च यमसादनम् ॥ १५ ॥

त्वं वक्ष्यसि

भो साधो सधनस्याऽस्य कल्पान्तार्णवरंहसः ।
वैरी विदूरथो राजा किमर्थं वद दुःसहः ॥ १६ ॥

मन्त्री वदिष्यति

लीला नामाऽस्य भार्याऽस्ति तयाऽतितपसाऽर्जिता ।
माता सरस्वती देवी जगद्धात्री निरञ्जना ॥ १७ ॥
गृहीतायाः सुतात्वेन साऽस्या भुवनभाविनी ।
संसाधयति कार्याणि मोक्षादीन्यपि हेलया ॥ १८ ॥
वरेण शब्दमात्रेण जगदप्यजगत्क्षणात् ।
करोति सा भवन्नाशे तस्याः कैव कदर्थना ॥ १९ ॥

मन्त्री कहेगा---महाराज, यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात है जो महाराजने विदूरथको युद्धमें यों परास्त किया और यमलोक पहुँचाया ॥ १५ ॥

तुम कहोगे—हे मन्त्रिवर, मैं धनवान् हूँ और प्रलयकालके समुद्रके समान मुझमें बल है, ऐसी अवस्थामें भला बताओ तो शत्रु राजा विदूरथ मेरे लिए क्यों अजेय होगा ॥ १६ ॥

मन्त्री कहेगा—महाराज, उसकी लीला नामकी पत्नी है उसने घोर तपस्या द्वारा निर्विकार जगन्माता देवी सरस्वतीको अपनी माँके रूपसे स्वीकार किया है ॥ १६ ॥

भुवनोंको पैदा करनेवाली देवी सरस्वती पुत्रीके रूपसे स्वीकृत लीलाके मोक्ष आदि महान् कार्योंको भी अनायास क्रीड़ासे ही सिद्ध कर देती है ॥ १८ ॥

वह भगवती देवी केवल शाब्दिक वरसे ही जगत्को भी क्षणभरमें अजगत् बना डालती हैं आपका विनाश (तिरस्कार) करनेमें भला उन्हें क्या क्लेशरूप असामर्थ्य हो सकती है ? ॥ १९ ॥

राजा सिन्धु कहेगा—मन्त्रिवर, तुमने बहुत उचित कहा । यदि ऐसा

सिन्धुर्वदिष्यति

त्वया वै युक्तं कथितं यद्येवं तद्विदूरथः ।
अशक्यो जेतुमाश्चर्य एतस्य समरे बधः ॥ २० ॥
तदेवं संप्रसादेन भगवत्या समन्वितः ।
किमित्यस्मिन् रणे तस्मिञ्जयं राजा न लब्धवान् ॥ २१ ॥

मन्त्री वदिष्यति

तेन संप्रार्थिता देवी सर्वकालमखेदिना ।
मोक्षोऽस्तु मम संसारादिति तामरसेक्षण ॥ २२ ॥
तया तेन विभो तस्य स एवाऽवन्ध्यसंविदा ।
संपादितस्तेन तदाश्रित आजौ पराजयः ॥ २३ ॥

सिन्धुर्वदिष्यति

यद्येवं तन्मया देवी सदैवैषा प्रपूज्यते ।
मोक्षं किमिति मे नैषा ददाति परमेश्वरी ॥ २४ ॥

मन्त्री वदिष्यति

एषा हि ज्ञप्तिरास्तेऽन्तः सर्वस्य हृदये सदा ।
संविद्रूपा भगवती सैव प्रोक्ता सरस्वती ॥ २५ ॥

है तो विदूरथको परास्त करना मुश्किल ही था, अतः युद्धमें जो वह मारा गया यह तो बड़ा ही आश्चर्यका विषय है ॥ २० ॥

इस प्रकारके भगवती देवीके प्रसादसे युक्त राजा विदूरथ उस युद्धमें क्यों विजयी नहीं हुआ ? ॥ २१ ॥

मन्त्री कहेगा—हे कमलनयन, कभी भी खेदको न प्राप्त होनेवाले उसने सदा भगवती देवीकी यही प्रार्थनाकी थी कि संसारसे मेरा मोक्ष हो ॥ २२ ॥

इस कारण सत्य संकल्पवाली भगवती सरस्वतीने उसे मोक्ष दिया, अतएव उसने युद्धमें स्वयं पराजयका वरण किया ॥ २३ ॥

सिन्धु कहेगा—मन्त्रिवर, यदि ऐसा है तो मैं भी सदा ही देवीकी पूजा करता हूँ । फिर वह परमेश्वरी मुझे मोक्ष क्यों नहीं देती ॥ २४ ॥

मन्त्री कहेगा—महाराज, वैखरी पर्यन्त सब शब्दोंकी बीजभूत संविद्रूप भगवती सदा सबके हृदयके अन्दर रहती है वही सरस्वती कही गई है ॥ २५ ॥

येन येन यथाऽऽत्मीया प्रार्थ्यते स्वयमेव सा ।
प्रयच्छति तथैवाऽऽशु तस्माच्चिदनुभूयते ॥ २६ ॥
न प्रार्थितैषा भवता मोक्षार्थमरिमर्दन ।
प्रार्थितैव त्वया संविदात्मीया शत्रुशान्तये ॥ २७ ॥

सिन्धुर्वदिष्यति

न प्रार्थिता मया कस्मादनेनैषा सरस्वती ।
संविच्छुद्धा मया कस्मात्प्रार्थिता नेह मुक्तये ॥ २८ ॥
मदाशयगताऽप्येषा ज्ञप्तिं दत्त्वा सरस्वती ।
मन्मोक्षाय किमित्यङ्ग सद्रूपाऽपि न चेष्टते ॥ २९ ॥

मन्त्री वदिष्यति

अशुभः प्राक्तनोऽभ्यासस्तवाऽस्ति रिपुघातिनः ।
तेनैषा मुक्तये नत्वा त्वया न प्रार्थिता विभो ॥ ३० ॥

आत्महितैषिणी उक्त भगवतीकी जो जो जैसी प्रार्थना करता है, उसके लिए वह स्वयं ही वैसा वर प्रदान करती है। उस वरप्रदानसे उसकी सत्यसंकल्पवती चित् ही वर-फलके रूपसे अनुभूत होती है ॥ २६ ॥

हे शत्रुतापन, आपने मोक्षके लिए उसकी प्रार्थना नहीं की, किन्तु आपने आत्महितैषिणी सविद्रूपा उक्त भगवतीकी शत्रुनाशके लिए प्रार्थना की है ॥ २७ ॥

राजा सिन्धु कहेगा—मेरी तरह विदूरथने भी राज्यके लिए शुद्ध संविद्रूप उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ? अथवा विदूरथकी तरह मैंने मुक्तिके लिए उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ॥ २८ ॥

आपकी स्वेच्छानुसारिणी प्रवृत्तिके विषयमें मेरे प्रति यह प्रश्न उचित नहीं है, ऐसी आशङ्का कर उसका तात्पर्य प्रकाशित करते हैं—'**मदाशय०**' इत्यादिसे।

हे मन्त्रिवर, मेरे चित्तमें बैठी हुई यानी मेरी आत्मभूत भी सद्रूप यह भगवती सरस्वती मुझे मोक्षकी इच्छारूप विज्ञप्ति देकर साधनसम्पत्ति द्वारा मेरे मोक्षके लिए क्यों चेष्टा नहीं करती ॥ २९ ॥

मन्त्री कहेगा—हे प्रभो, रिपुनाश करनेवाले महाराजका पूर्वजन्मका अशुभ अभ्यास है, इसलिए आपने देवीको प्रणाम कर मुक्तिके लिए देवीकी प्रार्थना नहीं की ॥ ३० ॥

यच्चित्तस्तन्मयो जन्तुर्भवतीत्याजगत्स्थितेः ।
आबालमेव संसिद्धं कर्तुं शक्नोति कोऽन्यथा ॥ ३१ ॥
यदेव येनाऽमलयाऽमलात्म
संवेद्यतेऽभ्यासमयं विदाऽन्तः ।
सर्वोपमर्देन तदेव सोऽङ्ग
सदस्त्वसदद्वाऽस्तु भवत्यविघ्नम् ॥ ३२ ॥

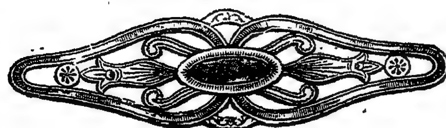
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अवि श०
सिन्धुसंबोधनं नाम षट्पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५६॥

देवता स्वतन्त्ररूपसे अनुग्रह नहीं करते, किन्तु भक्तकी चित्तवृत्तिके अनुसार ही अनुग्रह करते हैं, इस विषयमें 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्-सनातनम्' श्रुति प्रमाणरूपसे उद्धृत करते हैं—**'यच्चित्त०'** इत्यादिसे ।

जिसका चित्त जैसा होता है, वह जीव वैसा प्रलयपर्यन्त रहता है । जो बात आबाल प्रसिद्ध है, उसे कौन उलट सकता है ॥ ३१ ॥

जो पुरुष निर्मल संवित्से अपने चित्तमें निर्मलरूप जिस किसीको चाहे वह राज्य हो, चाहे मोक्ष हो, चाहे अन्य कुछ हो दृढाभ्यासमय बनाकर जानता है वह सत् हो, चाहे उस समयमें असत् हो या चाहे सदसत् विलक्षण हो वही अन्य सब वासनाओंको कुचलकर बिना किसी विघ्नबाधाके स्वयं ही अवश्य हो जाता है, दूसरा कोई भी तत्फलभूत नहीं है ॥ ३२ ॥

एक सौ छप्पन सर्ग समाप्त



सप्तपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

अथ सिन्धुर्वदिष्यति

आर्याऽनार्यवपुः कोऽहमभवं विमतिः पुरा ।
यद्वशान्मे कुसंस्कारः प्राक्तनोऽस्ति भवप्रदः ॥ १ ॥

मन्त्री वदिष्यति

रहस्यं शृणु भो राजन्सावधानपरः क्षणम् ।
चोदितः संदधासीदमद्य मान्द्यविनाशनम् ॥ २ ॥
किमप्याद्यन्तरहितमस्तीह सदनामयम् ।
स्थितं त्वमहमित्यादिरूपेण ब्रह्मशब्दितम् ॥ ३ ॥
तद् ब्रह्म स्वयमेवाऽहं चिच्चेतामीति संविदम् ।
जीवतामिव गत्वाऽऽस्ते चित्तीभूयाऽत्यजद्वपुः ॥ ४ ॥

एक सौ सत्तावन सर्ग

[सिन्धुके तामसतामस जन्मका वर्णन तथा विवेकवश राज्यका त्याग कर रहे सिन्धुकी अन्तमें मुक्तिका वर्णन]

इसके पश्चात् सिन्धु कहेगा—हे आर्य, मन्दमति मैं पूर्व जन्ममें किस अनार्य योनिमें पैदा हुआ था, जिसके कारण मेरे पूर्वजन्मके कुसंस्कारने मुझे संसारसागरमें पटका ॥ १ ॥

मन्त्री कहेगा—हे राजन्, क्षणभर सावधान चित्त होकर पूर्वजन्मका रहस्य सुनिए । आज मेरे द्वारा प्रेरित होकर अज्ञानका विनाश करनेवाले मेरे वचनको आप हृदयमें धारण करेंगे ॥ २ ॥

पूछी गई सिन्धुके जीवकी प्राक्तन स्थितिका वर्णन करनेके लिए ब्रह्म ही उपाधिके संसर्गसे जीवभावको प्राप्त होता है यह कहनेकी इच्छासे आद्य ब्रह्मरूप स्थितिको दिखलाते हैं—'**किमपि**' इत्यादिसे ।

आद्यन्त रहित निर्विकार ब्रह्मशब्दवाच्य मन और वचनका अगोचर सत् ही तुम, मैं इत्यादिरूपसे स्थित है यानी सर्वात्मा है ॥ ३ ॥

वह ब्रह्म मैं चित् हूँ, इसलिए चेतूँ ऐसी संकल्पसंवित्को स्वयं ही प्राप्त होकर समष्टि-व्यष्टि चित्त बनकर चित्तरूप उपाधिमें, उपाधिका त्याग न करता हुआ, जीव-सा होकर रहता है ॥ ४ ॥

चित्तं तु गगनाच्छात्म वपुर्विद्ध्यातिवाहिकम् ।
तदेव वाऽस्ति नेहाऽन्यदाधिभौतिकतादिकम् ॥ ५ ॥
चित्तमेतदनाकारमपि साकारवत्स्थितम् ।
संकल्पैः परलोकाद्यैः स्वप्नाद्यैरेतदेव सत् ॥ ६ ॥
अनाकारमपि स्फारं चित्तं जगदिदं विदुः ।
य एव पवनो नाम स एव स्पन्दनं यथा ॥ ७ ॥
यथा गगनशून्यत्वे जगच्चित्ते तथैककम् ।
अत्र प्रतिघरूपेऽस्ति न मनागपि भिन्नता ॥ ८ ॥
हृदयस्थं जगज्जालं न किंचित्किंचिदास्थितम् ।
जगद्विद्धि निराकारं चित्तमेव न वास्तवम् ॥ ९ ॥

वह शरीर (उपाधि) कौन है जिसका त्याग न करता हुआ जीवताको प्राप्त हुआ है? इसपर उस शरीरको ही कहते हैं—**'चित्तम्'** इत्यादिसे ।

आकाशके समान निर्मल चित्तको तो आप आतिवाहिक शरीर जानिये ।

शङ्का—तब यह स्थूल शरीर क्या है?

समाधान—केवल चित्तरूप आतिवाहिक शरीर ही है उससे अतिरिक्त आधिभौतिक आदि शरीर यहाँ नहीं हैं ॥ ५ ॥

वह चित्त ही परलोक, इहलोक आदि तथा स्वप्न, जाग्रत्, जीवन, मरण, भोग, मोक्ष आदि संकल्पोंसे निराकार होकर भी साकार जगत्की तरह स्थित है ॥६॥

इस रहस्यका ज्ञान तत्त्वज्ञानियोंको ही हो सकता है, उनसे अन्यको नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—**'अनाकारम्'** इत्यादिसे ।

जैसे तत्त्वज्ञ लोग जो ही वायु है वही स्पन्दन है यह जानते हैं वैसे ही अनाकार चित्तको यह महान् जगत् है, ऐसा जानते हैं ॥ ७ ॥

जैसे आकाश और शून्यता दोनों एक ही हैं वैसे ही जगत् और चित्त दोनों एक ही हैं (अभिन्न ही हैं) अप्रतिघरूप जगत्के आकारकी कल्पनामें निरङ्कुशसामर्थ्यवाले चित्तमें तनिक भी भिन्नता (द्वितीयता) नहीं है ॥ ८ ॥

मिथ्या होनेके कारण अकिञ्चित् हृदयस्थ वासनारूप जगत्-जाल बाहरकी तरह कुछ-सा स्थित है। जगत्को आप निराकार जानिये, क्योंकि उसका सर्जनहार चित्त ही वास्तविक नहीं है ॥ ९ ॥

सत्त्वमेव वपुः पूर्वमुदितं ब्रह्मणः पदात् ।
अयमेव स संपन्नो योऽद्य तामसतामसः ॥ १० ॥

सिन्धुर्वक्ष्यति

किमुच्यते महाभाग वद तामसतामसः ।
क्रियन्ते पूर्वमेवैनाः केन संज्ञाः परे पदे ॥ ११ ॥

मन्त्री वदिष्यति

जन्तोः सावयवस्येह हस्ताद्यवयवा यथा ।
तथाऽनवयवस्यैवमातिवाहिकताऽऽत्मनः ॥ १२ ॥
पश्चादात्मनि सैवाऽऽत्मा नाना संज्ञाः करिष्यति ।
आधिभौतिकतानाम्नि पृथ्व्याद्या आतिवाहिके ॥ १३ ॥
स्वप्नाभेऽस्मिञ्जगद्भाने संकल्पेनाऽऽत्मरूपिणा ।
संज्ञात्मनाऽऽत्मरूपेण स्वयं व्यवहरिष्यति ॥ १४ ॥

प्रथम सृष्टिके समय सात्त्विक देवताओंमें रचितरूप होनेके कारण सत्त्वरूप हिरण्यगर्भका समष्टिशरीर ब्रह्मपदमें उदित हुआ । यह समष्टिरूप ही व्यष्टिभावमें तामस विषयोंपर आसक्तिवश पहले उत्पत्तिप्रकरणमें उक्त रीतिके अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह विभागोंके क्रमसे आज आपका तामस-तामस जीव हो गया है ॥ १० ॥

सिन्धु कहेगा—हे महाभाग ! तामस-तामस क्या कहा जाता है ? यह कृपया मुझसे कहिये । परमपदमें ये संज्ञाएँ पहले ही किसने कीं ॥ ११ ॥

अपरिच्छिन्न आत्माकी हिरण्यगर्भ रूपसे माया द्वारा परिच्छिन्नता करने पर हिरण्यगर्भ ही सब संज्ञाएँ करता है, ऐसा कहते हैं—'जन्तोः' इत्यादिसे ।

मन्त्री कहेगा—जैसे यहाँ सावयव जन्तुके हस्त आदि अवयव हैं, वैसे ही अवयवविहीन आत्माकी आतिवाहिकता है ॥ १२ ॥

फिर आत्मामें यानी स्वव्यष्टि जीवोंमें वह समष्टिरूप आत्मा ही नाना संज्ञाएँ करेगा । और आतिवाहिक समष्टिभूत स्वदेहके पञ्चीकरण द्वारा आधिभौतिक नाम धारण करनेपर उनके अवयवोंमें पृथिवी आदि संज्ञाएँ करेगा ॥ १३ ॥

वही आत्मरूपी संकल्पसे स्वप्नतुल्य यह अगद्भान होनेपर नाम-रूपकी कल्पना कर आत्मरूप व्यष्टिभावसे स्वयं ही व्यवहार करेगा ॥ १४ ॥

त्वामानिवाहिकाकारं यत्तत्स्फुरितवान्नवम् ।
जातिर्महातमस्कोऽयमिति तत्राऽऽभिधा कृता ॥ १५ ॥
ब्रह्मणो निर्विकारस्य विकारिण इव प्रभो ।
जातयो जीवतापत्तौ कलिता विविधाभिधाः ॥ १६ ॥
प्राथम्येनैव यद् ब्रह्म जीवतामिव गच्छति ।
तदैव बुद्ध्या भोक्ता तज्जातिः सात्त्विकसात्त्विकी ॥ १७ ॥
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्युक्ता तु मानद ।
केवला सात्त्विकी प्रोक्ता जातिर्जातिविदां वरैः ॥ १८ ॥

व्यवहारमें व्यष्टिभावकल्पना होनेपर तुम्हें लक्ष्य कर सृष्टिसंकल्पसे (व्यष्टिभावसे) जो हिरण्यगर्भ 'यह महातमा है' यों स्फुरित हुआ इसी कारण तुम्हारी आनिवाहिकाकार जाति तामस-तामसी नामसे प्रसिद्ध की गई ॥ १५ ॥

केवल यही एक संज्ञा नहीं हुई, किन्तु ब्रह्मका जीवभाव होनेपर भिन्न उपाधियोंके गुणोंके अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह संज्ञाएँ की हैं, ऐसा कहते हैं—**'ब्रह्मणः'** इत्यादिसे ।

हे प्रभो, निर्विकार ब्रह्मके विकारीसे होकर जीवभावको प्राप्त होनेपर विविध नामकी जातियोंकी कल्पनाएँ की गईं ॥ १६ ॥

मुक्तिकी शीघ्रता और विलम्बमें प्रयोजक चित्तके गुण और दोषोंके कारण ही जीवोंके जातिभेदोंकी कल्पना हुई, यह दिखलाते हुए उनमें पाँच जातियोंको विभाग कर दिखलाते हैं—**'प्राथम्येन'** इत्यादिसे ।

यदि कल्पके आदिमें सर्वप्रथमतः ही ब्रह्म जीवताको प्राप्त हो तो उसी जन्ममें स्वाभाविक ज्ञान और ऐश्वर्यसे युक्त बुद्धिसे विषयभोग करनेवाला जीव उसी जन्ममें मुक्तिलाभ करता है । उसकी जाति सात्त्विकसात्त्विकी होती है, जैसे कि सनक, सनन्दन आदिकी ॥ १७ ॥

हे सम्मानप्रद, कुछ समय तक जन्मके हेतु अज्ञानके रहनेपर उसी जन्ममें ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सुन्दर गुणोंसे युक्त होकर यदि मुक्ति होती है तो वह जातिकी जानकारी रखनेवालोंमें श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा केवल सात्त्विक जाति कही जाती है ॥ १८ ॥

नवा भवैश्चेद् बहुभिर्भोगमोक्षैकभागिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्ज्ञैः सद्भी राजसराजसी ॥ १९ ॥
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्मुक्ता तु मानद ।
केवला राजसी प्रोक्ता जातिः स्वल्पभवे भवेत् ॥ २० ॥
प्रथमाऽत्यन्तबहुभिर्भवैश्चेन्मोक्षगामिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्ज्ञैः सद्भिस्तामसतामसी ॥ २१ ॥
सामान्येनैव बहुभिर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी ।
केवला तामसी प्रोक्ता जातिर्जातिविशारदैः ॥ २२ ॥
क्रमेणाऽनेन जातीनां विविधा भेदकल्पना ।
तासां तामसतामस्यां जातौ जातोऽसि मानद ॥ २३ ॥
बहूनि तव जन्मानि समतीतानि तान्यहम् ।
विविधानि विचित्राणि वीर जानामि नो भवान् ॥ २४ ॥

जो जाति कल्पादिमें नूतन रूपसे प्रकट होकर बहुत जन्मों द्वारा भोगों-के भोगनेपर क्रमशः मोक्षभागिनी होती है, जातिज्ञ विद्वान् उस जातिको राजस-राजसी जाति कहते हैं ॥ १९ ॥

दश पांच जन्मके परवर्ती काल तक उस कल्पमें विवेक आदि उत्तम गुणोंसे मुक्त जो जाति बहुतसे जन्मोंके बाद विवेक आदि उत्तम गुणोंको प्राप्त करती है, वह केवल राजसी जाति है ॥ २० ॥

कल्पादिसे लेकर अति प्रचुर स्थावर, कीट, पतङ्ग आदि योनियोंसे अन्तमें मोक्षभागिनी हो तो जाति जाननेवाले सज्जन उस जातिको तामसतामसी कहते हैं ॥ २१ ॥

अनुत्कृष्ट (तुच्छ) राक्षस, पिशाच, शूद्र आदि अनेक जन्मोंसे यदि मोक्षभागिनी हो तो जातिविशारद उस जातिको केवल तामसी कहते हैं ॥ २२ ॥

हे सत्कारकारिन्, इस क्रमसे जातियोंके अनेक भेदोंकी कल्पना है । उन जातियोंमें से आप इस तामस-तामसी जातिमें उत्पन्न हुए हैं ॥ २३ ॥

महाराज, आपके अनेक जन्म व्यतीत हो चुके हैं । हे वीर, उन विविध विचित्र जन्मोंको मैं जानता हूँ, आप उन्हें नहीं जानते ॥ २४ ॥

विशेषेण त्वनेनैष व्यर्थं कालोऽतिवाहितः ।
महाशवशरीरेण त्वयाऽनन्तखगामिना ॥ २५ ॥
एवं तामसतामस्या जात्याऽसि जनितो यदा ।
तदा दुर्लभमोक्षस्त्वं संसारकुहरादिति ॥ २६ ॥
सिन्धुर्वदिष्यति
आर्योदाहर केनैषा प्राग्जातिर्जीयतेऽधमा ।
यावत्तथैव तिष्ठामि स्याच्चेत्तद्वद पावनम् ॥ २७ ॥
मन्त्री वदिष्यति
न किंचन महाबुद्धे तदस्तीह जगत्त्रये ।
यदनुद्वेगिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥ २८ ॥
ह्यस्तनी दुष्क्रियाऽभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ।
अद्यैव प्राक्तनीं तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान् भव ॥ २९ ॥
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ ३० ॥

इसी भेदसे महाशवशरीरवाले तथा असीम आकाशगामी आपने यह समय व्यर्थ बिताया है॥ २५ ॥

इस प्रकार जब आप तामसतामस जन्मसे उत्पन्न हुए हैं, तब आपका इस संसाररूपी गर्तसे छुटकारा पाना दुर्लभ है ॥ २६ ॥

सिन्धु कहेगा—यह प्राक्तन अधम तामसतामसी जीवजाति किस उपायसे दबाई जा सकती है। हे आर्य, उस उपायको कहिये। यदि वैसा कोई शोधक प्रकार होगा तो मैं जीवनभर उसी प्रकारसे रहूँगा। अतएव कृपया उसे कहिये॥ २७ ॥

मन्त्री कहेगा—हे महामते, इस त्रिलोकीमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेग रहित (निर्वेदरहित) पुरुषप्रयत्नसे उपलब्ध न हो सके ॥ २८ ॥

जैसे आजके सत्कर्मसे कलका दुष्कर्म शोभनताको प्राप्त होता है, मिट जाता है वैसे ही आप भी उसी पौरुष प्रयत्नसे प्राक्तन अधम जातिपर विजय पाकर सत्कार्यवान् होइए ॥ २९ ॥

जो जिस पदार्थकी अभिलाषा करता है उसके लिए वह वैसा ही प्रयत्न

ना यथा यतते नित्यं यद्भावयति यन्मयः ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति नाऽन्यथा ॥ ३१ ॥

मुनिरुवाच

एवमुक्तः स तेनाऽथ सिन्धुरुद्धुरया धिया ।
तदा तत्र तथा नाम राष्ट्रं त्यक्ष्यत्यशेषतः ॥ ३२ ॥
गमिष्यति वनं दूरं प्रार्थितोऽपि हि मन्त्रिभिः ।
नाऽऽश्रयिष्यति तद्भूयो राज्यमुच्छिन्नशात्रवम् ॥ ३३ ॥
तिष्ठतः साधुमध्येऽस्य तद्विवेककथावशात् ।
पुष्पासङ्गादिवाऽऽमोदो विवेकः समुदेष्यति ॥ ३४ ॥
ततः कथमिदं जन्म कुतः संसार आगतः ।
इत्थं विचारसांतत्यात्स यास्यति विमुक्तताम् ॥ ३५ ॥

करता है यदि वह थक कर बीचमें ही निवृत्त न हो जाय तो उसे अवश्य प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है और तन्मय होकर जैसी भावना करता है और जैसा होनेकी इच्छा करता है वैसा ही होता है अन्यथा नहीं होता है ॥ ३१ ॥

मुनिने कहा—इसके बाद मन्त्री द्वारा इस प्रकार उक्त वह राजा सिन्धु राज्यभारविहीन बुद्धिसे उसी ससय वहींपर सारे राज्यको तिलाञ्जलि दे देगा ॥ ३२ ॥

दूर वनमें चला जायगा, मन्त्रियोंके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी फिर निष्कंटक उस विशाल राज्यको नहीं अपनाएगा ॥ ३३ ॥

साधुओंके बीचमें सत्संग कर रहे सिन्धुमें उनकी विचारपूर्ण ज्ञानमय कथाओंसे फूलोंके संसर्गसे सुगन्धकी तरह विवेक उत्पन्न हो जायगा ॥ ३४ ॥

उसके पश्चात् कैसे यह जन्म हुआ, कहाँसे संसार आया, यों निरन्तर विचार करनेसे वह जीवन्मुक्त हो जायगा ॥ ३५ ॥

नित्यं विचारणपरोऽथ भवन्स सिन्धुः
सत्सङ्गमेन पदमाप्स्यति पावनं सः ।
तद्यत्र पत्रमिव वातविधूयमानं
नो वस्तुतां व्रजति काचन नाम लक्ष्मीः ॥ ३६ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः

मुनिरुवाच

एतत्ते कथितं सर्वं भविष्यद्भूतवत्तव ।
यथेच्छसि तथेदानीं व्याध साधु विधीयताम् ॥ १ ॥

अग्निरुवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा विस्मयाकुलचेतनः ।
क्षणं स्थित्वा जगामाऽऽशु स्नातुं व्याधस्तथा मुनिः ॥ २ ॥

वह राजा सिन्धु सत्संगतिवश नित्य विचारनिमग्न होकर परम पावन उस मोक्षपदको प्राप्त होगा जिस मोक्षपदमें हिरण्यगर्भ तकका ऐश्वर्य वायुसे उड़ रहे सूखे पत्तेकी तरह उपादेय नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है ॥ ३६ ॥

एक सौ सत्तावन सर्ग समाप्त

एक सौ अठावन सर्ग

[मुनिजीका वचन सुनकर व्याधका तप करना, ब्रह्माजीके वरदानसे आकाशमें उड़ना तथा शव होकर भूमिपर गिरना आदिका वर्णन]

मुनिजीने कहा—हे व्याध, यह सब भविष्यमें होनेवाली घटनाका अतीतकी तरह मैंने तुमसे वर्णन किया। इस समय जैसा तुम चाहते हो वैसा सोच समझकर भली भाँति करो ॥ १ ॥

अग्निने कहा—हे विपश्चित्, मुनिके पूर्वोक्त वचन सुनकर मारे आश्चर्यके घबड़ाया हुआ व्याध एक क्षण सोचकर शीघ्र स्नान करनेके लिए गया और मुनिजी भी स्नानार्थ गये ॥ २ ॥

इति तौ चेरतुस्तत्र तपः शास्त्रविचारणैः ।
अकारणसुहृद्भूतावुभौ व्याधमहामुनी ॥ ३ ॥
अथाऽल्पेनैव कालेन मुनिर्निर्वाणमाययौ ।
देहं त्यक्त्वाऽपदेशान्ते परे परिणतिं गतः ॥ ४ ॥
कालेन बहुनाऽन्येन ततो युगशतात्मना ।
व्याधस्य कामनां दातुं पद्मजन्मा समाययौ ॥ ५ ॥
व्याधः स्ववासनावेशं निवारयितुमक्षमः ।
जानन्नपि वरं पूर्वं वर्णितं समयाचत ॥ ६ ॥
ब्रह्मैवमस्त्विति प्रोच्य ययावभिमतां दिशम् ।
व्याधस्तपः फलं भोक्तुं खगवद् व्योम पुप्लुवे ॥ ७ ॥

बिना किसी कारणके आपसमें मित्र बने हुए व्याध और महामुनि दोनोंने इस प्रकार शास्त्रचिन्तन करते हुए तपस्या की ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर मुनिजी तो थोड़े ही समयमें† मुक्तिको प्राप्त हो गये । वे आयुके अवसानमें अपनी पाञ्चभौतिक देह छोड़कर परम पदमें लीन हो गये* ॥४॥

तदुपरान्त सौ युगरूप चिरकालमें व्याधकी मनोकामनाको पूर्ण करनेके लिए भगवान् ब्रह्मा आये ॥ ५ ॥

बेचारा व्याध अपनी वासनाका वेग रोक नहीं सका, अतएव मुनिजी द्वारा पहले व्यर्थरूपसे वर्णित वरको जानते हुए भी उसने वही वर ब्रह्माजीसे माँगा ॥६॥

श्रीब्रह्माजी ऐसा ही हो यों वाञ्छित वर उसे देकर अपने लोकको सिधारे एवं व्याध अपनी तपस्याका फल भोगनेके लिए पक्षीकी तरह आकाशमें उड़ा ॥ ७ ॥

---

† समाधिमें मुनिको दीर्घतर कालके भी अल्प प्रतीत होनेसे 'अल्पेनैव कालेन' कहा है ।

* यद्यपि यहाँपर यथाश्रुत ग्रन्थके अनुसार पहले मुनिका शरीरत्याग, उसके अनन्तर चिरकालके बाद व्याधकी मनोकामना पूर्ण करनेके लिए ब्रह्माजीका आगमन प्रतीत होता है तथापि पूर्व सर्गमें मुनिजीने जो भविष्यवाणी की थी उसमें व्याधके वर पानेके बाद "मामापृच्छ्यनमस्कृत्य" यानी मुझे पूछकर नमस्कार कर उसी क्षणमें वह तुम चित्तमें वासनारूपसे स्थित पदार्थको देखनेकी इच्छासे आकाशमें उड़ोगे, ऐसा मुनिने कहा है, अतएव व्याधके ऊपर जानेके समय मुनिजीका जीवन था ही उसके पीछे ही उनका देहत्याग हुआ ऐसा समझना चाहिये ।

वर्धमानेन देहेन जगत्पारे महानभः ।
वेगादगणितं कालं पूरयामास शैलवत् ॥ ८ ॥
महागरुडवेगेन तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
व्योम पूरयतस्तस्य कालो बहुतरो ययौ ॥ ९ ॥
अथ दीर्घेण कालेन यदाऽविद्याभ्रमस्य सः ।
अन्तं न समवाप्नोति तत्रोद्वेगमुपाययौ ॥ १० ॥
उद्वेगादथ बद्ध्वाऽसौ प्राणरेचनधारणाम् ।
प्राणांस्तत्याज नभसि शवीभूतमधोवपुः ॥ ११ ॥
चित्तं प्राणान्वितं व्योम्नि ययौ तत्रैव सिन्धुताम् ।
विदूरथारिरूपां तामखिलावनिपालिनीम् ॥ १२ ॥
देहो मेरुशताकारमहाशव इवाऽभवत् ।
द्वितीयोर्वीनिभो व्योम्नः पपाताऽशनिवज्रवत् ॥ १३ ॥

उसने पर्वतकी तरह वरके अनुसार निरन्तर बढ़ रहे शरीरसे त्रैलोक्यसे ऊपर अव्याकृत आकाशको बड़े वेगसे अगणित समयमें पूर्ण कर पाया ॥ ८ ॥

गरुड़के-से महावेगसे तिरछे, ऊपर और नीचे आकाशको पूर्ण करनेमें उसका बहुत समय व्यतीत हुआ ॥ ९ ॥

इसके अनन्तर जब चिरकालमें भी उसे अविद्यारूप भ्रमका अन्त प्राप्त नहीं हुआ तब तो उसका अन्त देखनेके विषयमें उसने अपनी हार मान ली, उसे वैराग्य हो गया ॥ १० ॥

तदनन्तर वैराग्य होनेके कारण प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालनेवाली योगधारणा बांधकर उसने आकाशमें प्राणोंका त्याग किया और नीचे भूमितलमें शवभूत अपने शरीरका त्याग किया ॥ ११ ॥

उसका प्राणवायुसे युक्त चित्त उसी अव्यक्ताकाशमें सम्पूर्ण पृथिवीका पालन करनेवाली तथा राजा विदूरथकी शत्रुभूत पूर्वोक्त सिन्धुताको प्राप्त हुआ ॥१२॥

सैकड़ों मेरु पर्वतोंके से आकारका उसका शरीर महाशव-सा हुआ । दूसरी पृथ्वीके सदृश विशालकाय वह आकाशसे वज्रकी भाँति नीचे गिरा ॥१३॥

ब्रह्माके किसी जागत भ्रमरूप किसी आकाशमें केशोंके गोलेके समान

पिधानमिव कस्योर्वीवीथी कस्मिंश्चिदम्बरे ।
केशोण्ड्रकवदाभातः कस्मिंश्चिज्ञागते भ्रमे ॥ १४ ॥
आकारपूरिताशेषवसुधाचलमण्डलः ।
विपश्चिच्छ्रेष्ठकथितमेतत्ते तन्महाशवम् ॥ १५ ॥
यस्मिञ्छवं संपतितं जगत्यवनिमण्डले ।
तदिदं जगदाभातमस्माकं स्वप्नपूर्यथा ॥ १६ ॥
तदेतच्छवमास्वाद्य शुष्का पूर्णा महोदरी ।
संपन्ना चण्डिका देवी रक्ता रक्तान्त्रपूरिता ॥ १७ ॥
मेदिनी मेदिनी जाता शवस्यैतस्य मेदसा ।
पूरिताऽपूर्वरूपेण हिमवद्गिरिरूपिणा ॥ १८ ॥
तदैवैतन्महामेदो मृद्धातुत्वमुपागतम् ।
कालेन वसुधा भूयो भूत्वा मृन्मयतां गता ॥ १९ ॥
भूयः प्रजातानि वनानि भूमौ
ग्रामाः कृताः पत्तनसंयुताश्च ।

प्रतीत हुआ, जो गिरनेके पहले पृथिवीमें उतरनेकी सीढ़ीके समान और गिरनेके बाद पृथिवीके विशाल ढकनेके समान स्थित था ॥ १४ ॥

उस शवने अपने आकारसे सारी पृथिवी और पर्वतोंको आच्छन्न कर दिया। हे श्रेष्ठ हे विपश्चित्, यह मैंने उस महाशवका तुमसे वर्णन किया ॥ १५ ॥

जिस भूतलरूप जगत्में वह शव गिरा वही हम लोगोंकी स्वप्न-नगरीके समान जगत्के रूपमें स्फुरित हुआ ॥ १६ ॥

उसी महाशवका भक्षण कर पहले तिनकेकी तरह सूखी हुई भगवती चंडिका देवी भरी पूरी होकर बड़ी तोंदवाली तथा रुधिर और अँतड़ियोंसे पूर्ण होकर लाल हो गई ॥ १७ ॥

इस शवके ही हिमालय पर्वतके समान प्रचुर मेदेसे पूर्ण हुई पृथिवी मेदिनी नामसे प्रख्यात हो गई ॥ १८ ॥

तभी यह महामेदा मिट्टी बन गया फिर समय पाकर यह पृथिवी उत्पन्न होकर मिट्टीकी हो गई ॥ १९ ॥

महाशवके गिरनेसे पहलेके वन आदि विनष्ट हो चुके थे, अतः फिरसे,

पातालतः साधु समुत्थितास्ते
शैलाः प्रवृत्ता व्यवहारलक्ष्मीः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अवि० विप० श०
शवनिर्णयो नामाऽष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५८ ॥

—:o:—

एकोनषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

अग्निरुवाच

विपश्चिच्छ्रेष्ठ भो साधो त्वं गच्छाऽभिमतां दिशम् ।
स्थिरं भूमण्डलं भूयः प्रकृतव्यवहारवत् ॥ १ ॥
यज्ञं यष्टुं प्रजौघस्य शक्रः शततमं दिवि ।
तत्राऽऽहूतोऽस्मि मन्त्रेण गच्छामि गतिकोविद ॥ २ ॥

भास उवाच

इत्युक्त्वा भगवानग्निस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
गगने निर्मले याति अनलो वैद्युतो यथा ॥ ३ ॥

वन उगे, फिरसे नगरोंके साथ गाँव बसाये गये। पहले चूर-चूर हुए पर्वत फिरसे जैसे पहले थे उसी रूपरेखामें पातालसे बाहर निकले। तदुपरान्त लोगोंका कारबार चलने लगा ॥ २० ॥

एक सौ अठावन सर्ग समाप्त

—:o:—

[अग्निका विपश्चित्से अपना इन्द्रलोक-गमन कहना तथा बहुतसे आश्चर्योंका वर्णनकर अन्तमें ब्रह्मतत्त्वका वर्णन करना]

अग्निने कहा—हे श्रेष्ठ हे विपश्चित्, तुम स्थिर होनेसे फिर प्रस्तुत व्यवहारसे सम्पन्न भूतलमें पहुँचकर स्वाभिमत दिशाको जाओ। प्रजावर्गके स्वामी देवराज इन्द्र सौवाँ यज्ञ करनेको प्रस्तुत हैं, उन्होंने उसमें मन्त्र द्वारा मुझे निमन्त्रित किया है, अतः हे गतिकोविद, मैं वहाँ जाता हूँ ॥ १, २ ॥

भासने कहा—भगवान् अग्नि यह कहकर मूर्तिरूपसे वहींपर अन्तर्हित

तथाऽहमपि चित्तेन प्राक्तनांश्च स्वयं वहन् ।
पुनः स्वकर्म निर्णेतुं भ्रमन्व्योमनि संस्थितः ॥ ४ ॥
भूयोऽपि दृष्टवानस्मि जगन्त्यगणितानि खे ।
नानाचारविचाराणि नानासंस्थानवन्ति च ॥ ५ ॥
क्वचिच्छत्रमयाङ्गानि एकीभूतानि भूपते ।
भान्ति चेतन्ति चोपन्ति हृदयानि हरन्ति च ॥ ६ ॥
क्वचिन्मृन्मयदेहानि सर्वभूतानि राघव ।
भान्ति चेतन्ति चोपन्ति पर्वतप्रतिमानि च ॥ ७ ॥
क्वचिद्दारुमयाङ्गानि भान्ति भूतानि कुत्रचित् ।
क्वचित्पाषाणदेहानि सन्ति भूतानि भूरिशः ॥ ८ ॥
क्वचिदाजीवमेकत्र स्थितान्युपलदेहवत् ।
वाङ्मात्रव्यवहाराणि भूतान्यालोकितानि खे ॥ ९ ॥

हो गये तथा अग्निके रूपसे वैद्युत (बिजलीकी) अग्निकी तरह निर्मल आकाशमें गये ॥ ३ ॥

और मैं भी चित्तमें अपने प्राक्तन अविद्याके अन्त दर्शनविषयक संस्कारोंको स्वयं धारण करता हुआ फिर अपना दिगन्तगमनरूप कर्म करनेके लिए आकाशमें घूमने लगा ॥ ४ ॥

फिर मैंने आकाशमें असंख्य जगतोंको देखा । उन सबके भिन्न-भिन्न आचार-विचार थे और भिन्न-भिन्न रूपरेखाएँ थीं ॥ ५ ॥

हे महाराज दशरथ, कहींपर परस्पर मिले हुए (एकत्र हुए) छत्रमय अङ्गवाले प्राणी भासते थे, उनमें चेतना थी, वे मन्द मन्द गतिसे चलते थे और दर्शकोंके हृदयोंको हरते थे ॥ ६ ॥

हे रघुकुलतिलक, कहींपर पर्वतकेसे आकारवाले सब प्राणी पार्थिव देहधारी प्रतीत होते थे, उनमें चेतना थी और वे मन्द मन्द गतिसे चलते थे । कहींपर काष्ठमय देहवाले जीव शोभा पाते थे, तो कहींपर पाषाणमय शरीरवाले अनेक प्राणी थे। कहींपर जीवनभर प्रस्तर प्रतिमाके समान सब एक ही जगह स्थित रहते थे । उनका परस्पर संभाषण आदि द्वारा केवल वाङ्मात्रका व्यवहार होता था,

इत्यहं सुचिरं कालं पश्यन्नश्यन्मनस्तया ।
अविद्यान्तमपश्यंश्च तत्रोद्विग्नोऽभवं दृशाम् ॥ १० ॥
तपः कर्तुं समुद्युक्तः कस्मिंश्चिन्मोक्षसिद्धये ।
प्राहेन्द्रो मम चैवेदं मृगयोन्यन्तरं हि खे ॥ ११ ॥
प्रवृत्तः स्वर्गसंमोहे पूर्वाभ्यासवशीकृतः ।
मन्दारकानने तत्र भ्रमतो वै ममाऽम्बरे ॥ १२ ॥
तेनेत्युक्ते मया प्रोक्तं देव खिन्नोऽस्मि संसृतेः ।
मुच्येयं शीघ्रमित्युक्तं श्रुत्वोवाच ततो मम ॥ १३ ॥

गमन, आगमन आदि व्यवहार उनमें नहीं था। इन सबको मैंने स्वचित्ताकाशमें देखा ॥ ७–९ ॥

इस प्रकार चिरकाल तक देख रहा स्वप्नकी तरह मनोमात्र देह होनेके कारण नष्ट हो रहा मैं अविद्याका अन्त न पाकर अविद्या तथा दृश्यवर्गके विषयमें निर्वेदको प्राप्त हो गया ॥ १० ॥

इस प्रकार निर्वेदको प्राप्त हुआ मैं किसी एकान्त स्थानमें जाकर मोक्ष-प्राप्तिके लिए आत्मतत्त्वालोचनरूप तपस्या करनेके लिए तत्पर हुआ । तदनन्तर इन्द्रने मुझसे कहा—हे विपश्चित्, चित्ताकाशमें मेरी और तुम्हारी मृगरूप दूसरी योनि उपस्थित है, इसलिए यह आत्मतत्त्व-विचारका अवसर नहीं है ॥ ११ ॥

मैं अल्पपुण्य हूँ, अतएव कदाचित् मुझमें मृगयोनिप्रापक दुष्कृतकी संभावना हो सकती है, आप तो महापुण्यशाली हैं आपकी मृगयोनिमें गमनकी संभावना कैसे हो सकती है ? मेरी इस आशङ्कापर उन्होंने कहा—**'प्रवृत्तः'** इत्यादिसे ।

प्राक्तन अभ्याससे विवश हुआ मैं भी स्वर्गभोगयुक्त संमोहमें (दुर्वासाजीके अपराधमें) प्रवृत्त हूँ । आकाशमें मन्दारवनमें घूम रहे मेरी उस मोहमें प्रवृत्ति हो गई ॥ १२ ॥

उनके (देवराज इन्द्रके) यह कहनेपर मैंने उनसे निवेदन किया देवाधिदेव, मैं संसारसे ऊब गया हूँ, अतः शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ, मेरा यह कथन सुनकर उन्होंने मुझसे कहा ॥ १३ ॥

विशुद्धात्मा त्वरूपोऽहमिति चैव हुताशनात् ।
वरं गृहाणेत्युक्ते स ततोऽन्यं याचितो मया ॥ १४ ॥

इन्द्र उवाच

तवेयं मृगयोन्यन्तश्चिरं संसरते चितिः ।
अवश्यं भवितव्योऽर्थ इति दृष्टो मया तव ॥ १५ ॥
मृगो भूत्वा महापुण्यां तां सभां समवाप्तवान् ।
यस्यां तदहतं ज्ञानं मदुक्तं बोधमेष्यति ॥ १६ ॥
तदेवं तत्र हरिणो भवार्तस्त्वं भवाऽवनौ ।
आत्मोदन्तमिदं वन्ध्यं सकलं संस्मरिष्यसि ॥ १७ ॥
स्वप्नभ्रममिवाऽशेषसंकल्परचितोपमम् ।
परलोकानुभूतार्थकथायातार्थसंनिभम् ॥ १८ ॥

शीघ्र मुक्ति तो 'मैं तीन अवस्थाओंसे और मूर्त-अमूर्त रूपसे रहित विशुद्ध आत्मा ही हूँ' इस तत्त्वज्ञानसे ही होती है। यह तुमने पहले व्याध-मुनि संवाद वर्णनके प्रसङ्गसे अग्निदेवके मुखारविन्दसे सुना ही है। इसलिए तुम दूसरा वर माँगो ऐसा इन्द्रके कहनेपर मैंने उनसे अन्य यानी मृगताके बाद मेरा आगे क्या होगा यह परिज्ञानरूप वर माँगा ॥ १४ ॥

इन्द्रने कहा—हे विपश्चित्, तुम्हारी यह चिति चिरकालसे मृगयोनि—तक ही संसारमें आना चाहती है। मैंने तुम्हारा यह अवश्यम्भावी वृत्तान्त देख लिया है ॥ १५ ॥

मृग होकर तुम राजा दशरथकी महापुण्यसभामें पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा गया वह अखण्ड ज्ञान तुम्हारी समझमें आजायगा ॥ १६ ॥

संसारसे खिन्न हुए तुम उस पृथिवीतलमें हरिण बनो। इस क्रमसे सभाको प्राप्त होकर वसिष्ठजीके अनुग्रहसे यह सारा व्यर्थ आत्मवृत्तान्त तुम्हारे स्मृतिपथमें आरूढ़ होगा ॥ १७ ॥

तुम्हारा उक्त वृत्तान्त स्वप्नकी तरह, साराका सारा मनोरथों द्वारा निर्मित-सा और परलोकमें अनुभूत अर्थके कथाप्रवाहमें पतित अर्थके तुल्य निष्फल है ॥१८॥

यदा तु मृगतोन्मुक्तः पुरुषस्त्वं भविष्यसि ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहान्ते तदा हृत्स्थं स्फुरिष्यति ॥ १९ ॥
तेन तां त्वमविद्याख्यां भ्रान्तिं त्यक्त्वा चिरं स्थिताम् ।
भविष्यसि विनिर्वाणो गतस्पन्द इवाऽनिलः ॥ २० ॥
इत्युक्ते तेन देवेन तदैव प्रतिभोदभूत् ।
ममाऽयं हरिणोऽस्मीति वनेऽस्मिन्निति निश्चिता ॥२१॥
ततः प्रभृति संपन्नस्तत्रैवाऽन्तरकोणके ।
हरिणोऽहं गिरिवरे तृणदूर्वाङ्कुराशनः ॥ २२ ॥
ततः सीमान्तसामन्तमागतं मृगयार्थिनम् ।
दृष्ट्वाऽहमेकदा भीतः पलायनपरोऽभवम् ॥ २३ ॥

क्या मैं मृग-देहसे यह सब स्मरण करूँगा ? इस प्रश्नपर 'नहीं' कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब तुम मृगयोनिसे मुक्ति पाकर पुरुष होओगे तब ज्ञानाग्निद्वारा देहके दग्ध होनेपर हृदयस्थ आत्मतत्त्व तुम्हें स्फुरित होगा ॥ १९ ॥

आत्मतत्त्वके स्फुरणसे चिरकालसे हृदयमें स्थित अविद्यानामक भ्रान्तिका त्यागकर स्पन्दशून्य वायुके समान निश्चल हुए तुम निर्वाणको प्राप्त होओगे ॥ २० ॥

उक्त देवराज इन्द्रके यों कहनेपर उसी क्षणमें 'यह मैं इस वनमें हरिण हूँ' ऐसी मेरी निश्चित (व्यावहारिक अर्थक्रियामें समर्थ) प्रतिभा उद्भूत हुई ॥ २१ ॥

तबसे लेकर वहीं पर्वतपर मैं मन्दारके वनके भीतरी कोनोंमें तिनके और दूबके अङ्कुर चरनेवाला हरिण हो गया ॥ २२ ॥

तदुपरान्त किसी एक समय शिकार खेलनेके लिए आये हुए सीमावर्ती सामन्तको देखकर मारे डरके मैं चौकड़ी मारकर भागा ॥ २३ ॥

ततस्तेन समाक्रम्य गृहं नीत्वा दिनत्रयम् ।
संस्थाप्य तव लीलार्थमिहाऽऽनीतो रघूद्वह ॥ २४ ॥
एष ते कथितः सर्व आत्मोदन्तो मयाऽनघ ।
संसारमायाप्रतिमो नानाश्चर्यरसान्वितः ॥ २५ ॥
अविद्यैवमनन्तेयं शाखाप्रसरशालिनी
आत्मज्ञानादृते नैव केनचिन्नाम शाम्यति ॥ २६ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

यदा विपश्चिदित्युक्त्वा तत्र तूष्णीं स्थितः क्षणात् ।
समवोचत्तदा रामस्तमनिन्द्यमतिस्त्विदम् ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

एवं पश्यत्यसंकल्पो योऽन्यसंकल्प आत्मनि ।
मृगश्चेद्दृश्यतां यातः कथं सर्गे वद प्रभो ॥ २८ ॥

हे रघुवर, तदनन्तर उसने मुझे पकड़कर घर ले जाकर तीन दिन अपने घर रक्खा, फिर वह आपकी क्रीड़ाके लिए मुझे यहाँ लाया ॥ २४ ॥

हे निष्पाप, मैंने आपसे अपना यह सारा वृत्तान्त, जो संसारमें प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिककी मायाके तुल्य विविध आश्चर्योंसे पूर्ण है, कह दिया है ॥ २५ ॥

इस प्रकार नाना शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त यह अविद्या अनन्त है, इसका आरपार नहीं है यह आत्मज्ञानके सिवा अन्य किसी उपायसे शान्त नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—जब विपश्चित् यह कहकर वहांपर क्षणभर चुप हुआ तब श्लाघ्यमति श्रीरामचन्द्रजीने उससे यह कहा ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—अन्यका संकल्पभूत यह मृग यदि हम लोगोंका दृष्टिगोचर हुआ है तो ऐसी स्थितिमें असंकल्प पुरुष भी अन्यके संकल्परूप सृष्टिमें वस्तुएँ देख सकता है, यह अर्थात् सिद्ध हुआ । भला यह कैसे हो सकता है ? कृपया कहिये ॥ २८ ॥

विपश्चिदुवाच

महाशवं यत्पतितं यस्मिञ्जगति भूतले ।
तां भुवं पूर्वमिन्द्रेण यज्ञगर्वेण गच्छता ॥ २९ ॥
पादेनाऽभिहतो व्योम्नि दुर्वासा ध्यानसंस्थितः ।
गतासुरित्यविज्ञानात्तेनाऽसौ कुपितोऽशपत् ॥ ३० ॥
शक्र शक्राऽवनितलं ब्रह्माण्डप्रतिमं शवम् ।
अचिरेण महाघोरं तव चूर्णीकरिष्यति ॥ ३१ ॥
मामिमं शवबुद्ध्या त्वं यदतिक्रान्तवानतः ।
शापेन मम तां पृथ्वीं शीघ्रमासादयिष्यसि ॥ ३२ ॥
मृगार्थं तेन मुनिना तथा देवेति सद्यथा ।
यत्तया कथयाऽऽयातं तदैव विषयं दशाम् ॥ ३३ ॥

महामुनि, देवता आदिके वरदान, शाप आदिसे अन्य संकल्पित भी पदार्थ संकल्परहित अन्य लोगोंके दर्शन आदि व्यवहारके योग्य होता है यों श्रीरामचन्द्र-जीके प्रश्नका उत्तर कहनेके लिए पूर्वोक्त शवके पतनका ही अन्य निमित्तसे वर्णन करनेके लिए विपश्चित् प्रस्ताव करता है—**'महाशवम्'** इत्यादिसे ।

जिस जगत्‌में भूतलमें वह महाशव गिरा शव गिरनेसे पहले उस भूमिकी ओर मन्दारवनमें स्वकृत यज्ञोंकी यजमानताके घमण्डसे अन्धेकी तरह चल रहे इन्द्रने यह मुनि हैं यह ज्ञान न होनेके कारण यह मुर्दा है यों तिरस्कारसे आकाशमें ध्यानमें बैठे हुए दुर्वासा ऋषिजीको पैरसे ठोकर मार दी, इस कारण ऋषि क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा—अरे इन्द्र, तुम जिस भूमितलमें जाना चाहते हो उसे ब्रह्माण्डके तुल्य महा भीषण शव शीघ्र ही चूर चूर कर डालेगा ॥२९–३१॥

शवबुद्धिसे तुमने मेरा जो यह तिरस्कार किया है इस कारण मेरे शापसे उस पृथिवीको तुम शीघ्र प्राप्त होओगे ॥ ३२ ॥

उन मुनि श्रीदुर्वासाजीने विपश्चित्‌के साथ इन्द्रकी मृगताके लिए भी 'तथा देवमृगश्च त्वं तुल्यकालं विपश्चिता' (जितने समयतक विपश्चित् मृग रहेगा उतने ही समय तक तुम भी देवमृग रहोगे) इस वाक्य द्वारा जैसे विपश्चित्‌के मनसे संकल्पित मृगत्व अन्य लोगोंके दर्शन आदि अर्थक्रियाकारी है वैसा ही तुम्हारा भी हो यों उसे शाप दिया, इसलिए इन्द्र-शापकी कथा-

वस्तुतस्तु न चैकं सन्न द्वितीयं न चाऽप्यसत् ।
सा तथा प्रतिभोदेति किं सत्किमथवाऽप्यसत् ॥ ३४ ॥
अन्यच्च राघवेमां तां युक्तिं त्वमपरां शृणु ।
एतस्मिन्नयसंदर्भे सुस्फुटप्रतिपत्तये ॥ ३५ ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
ब्रह्म तस्मिन्महाभाग किं न संभवतीह हि ॥ ३६ ॥
संकल्पजातं नाऽन्योन्यं मिलतीत्युपपद्यते ।
संकल्पजातमन्योन्यं मिलतीत्युपपद्यते ॥ ३७ ॥
संकल्पजातमन्योन्यं मिलतीत्यवगम्यते ।
सर्वात्मनि हि यत्रैव च्छाया तत्रैव चाऽऽतपः ॥ ३८ ॥

से ही मुनिजीके वचनके बलसे यद्यपि विपश्चित्की मृगता संकल्पवश हुई थी फिर भी वह आप सरीखे सब लोगोंकी दृष्टियोंकी सदा विषय हुई है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जगत्प्रसिद्ध दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका समाधान कर तत्त्वदृष्टिसे उसका समाधान करते हैं—**'वस्तुतः'** इत्यादिसे ।

वस्तुतः विचार करनेपर एक (व्यावहारिक जगत्) सत् है यह बात भी नहीं है, और दूसरा (संकल्पित जगत्) असत्य है यह बात भी नहीं है । दोनों तुल्य हैं क्योंकि वह प्रतिभा ही वैसे (व्यावहारिक अथवा संकल्पितरूपसे) उदित होती है । इसलिए उनमें क्या सत् है और क्या असत् है ? ॥ ३४ ॥

ब्रह्मके सर्वशक्ति और सर्वात्मक होनेसे भी कोई विरोध नहीं है, यह कहते हैं—**'अन्यच्च'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युक्तियोंके इस सिलसिलेमें स्फुटरूप (साफ साफ) समझमें आनेके लिए आप और भी दूसरी युक्ति सुनिये ॥ ३५ ॥

हे महाभाग, जिसमें सब कुछ है, जिससे सबका आविर्भाव हुआ है, जो सर्वात्मक है, सर्वव्यापक है उस सर्वशक्ति सर्वात्मक ब्रह्ममें क्या नहीं हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

सङ्कल्पसे उत्पन्न पदार्थ आपसमें मेल नहीं खाता है यह भी उसमें उपपन्न है और सङ्कल्पजनित परस्पर मेल खाता है, इसकी भी उसमें उपपत्ति है ॥३७॥

सर्वात्मामें संकल्पसे उत्पन्न पदार्थ परस्पर मिलता है, यह बात मृगदर्शन

न संभवति चेत्तत्कथं सर्वात्मतामियात् ।
कस्मात्संकल्पनगरं न मिथः श्लिष्यतीति सत् ॥ ३९ ॥
मिथश्च श्लिष्यतीत्येवमपि सत्सर्वरूपिणि ।
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि ॥ ४० ॥
अहो नु विषमा माया मनोमोहविधायिनी ।
विधयः प्रतिषेधाश्च यदेकत्र स्थितिं गताः ॥ ४१ ॥
ईदृशी ब्रह्मसत्तैषा यदेवाऽऽत्मानमात्मना ।
तया अनादिः सादिश्चेत्यविद्येत्यनुभूयते ॥ ४२ ॥
न ज्ञप्तिमात्रकचनं यदि स्याद् भुवनत्रयम् ।
तन्महाकल्पनष्टानां सृष्टिः स्यात्कथमञ्जसा ॥ ४३ ॥
कथमग्नेः कथं वायोः सत्ता भूमेः कथं भवेत् ।
तस्मात्स्वभावकचनमात्रान्नाऽन्यद्दते जगत् ॥ ४४ ॥

आदिमें प्रत्यक्ष है । इस विषयमें यह उपपत्ति भी है लोकमें जहांपर छाया है वहींपर धूप भी है । यदि ऐसा न हो तो वह सर्वात्मा ही कैसे होगा ? इसलिए सर्वस्वरूप ब्रह्ममें संकल्पनगर परस्पर नहीं मिलता है यह सत् है, संकल्पनगर परस्पर मिलता है, यह भी सत् है । सर्वात्मामें सर्वत्र सब प्रकारसे सर्वदा माया अघटितघटनापटीयसी होनेसे अति आश्चर्यमयी है, इसलिए भी सब कुछ घटना संभव है ॥ ३८–४० ॥

अहा ! मनको मोहमें डालनेवाली माया अति विषम है । जिसके कारण विधियाँ और निषेध दोनों एक जगह स्थितिको प्राप्त हुए ॥ ४१ ॥

केवल मायाका ही नहीं ब्रह्मसत्ताका भी ऐसा ही माहात्म्य है, ऐसा कहते हैं—'**ईदृशी**' इत्यादिसे ।

यह ब्रह्मसत्ता भी ऐसी ही है यह अपनेसे अपना विविध रूपोंमें सर्जन करती है । उस ब्रह्मसत्तासे अविद्या अनादि और सादि भी अनुभूत होती है ॥४२॥

यदि तीनों भुवन केवल ज्ञप्तिके (ज्ञानके) विकासरूप न होते तो महाप्रलयमें नष्ट हुए भुवनोंका अनायास पुनः सर्जन कैसे होता ? ॥ ४३ ॥

कैसे अग्निका अस्तित्व होता, कैसे वायुका अस्तित्व होता और कैसे भूमिकी सत्ता होती, इसलिए स्वभाव-स्फुरणके सिवा जगत् अन्य नहीं है ॥४४॥

शास्त्राण्यनुभवालोका आमहाकल्पवादिनाम् ।
येषां प्रमाणं नो सर्वं प्रशस्तैस्तैरलं सताम् ॥ ४५ ॥
ज्ञप्तिदृष्ट्याऽनया सर्वं प्रमाणीभवति क्षणात् ।
नाऽन्यया तनुते नैवमेव सारं विदुर्बुधाः ॥ ४६ ॥
शुद्धा ज्ञप्तिर्ब्रह्मसत्ता त्वविद्याऽस्मीति चेतनात् ।
स्फुरतीयं जगद्रूपा वातश्रीः स्पन्दनादिव ॥ ४७ ॥
न कश्चनेह म्रियते जायते न च कश्चन ।
मृतोऽहमिदमस्तीति प्रतिभैव चिदात्मिका ॥ ४८ ॥
मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तत्सा निद्रा सुखोपमा ।
पुनर्दृश्योपलम्भश्चेन्ननु जीवितमेव तत् ॥ ४९ ॥
तस्मान्नेहाऽस्ति मरणं तन्नैवेहाऽस्ति जीवितम् ।
कस्मिंश्चिन्मात्रकचने द्वयं वाऽप्यस्ति नैव वा ॥ ५० ॥

महाकल्पपर्यन्त ही पृथिवी आदिका अस्तित्व है ऐसा माननेवाले जिन लोगोंके लिए वेदान्त आदि शास्त्र, विद्वानोंके अनुभव और लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त प्रमाणभूत नहीं हैं उन निन्द्य-मतियोंके साथ सज्जनोंको संभाषण आदि नहीं करना चाहिये ॥ ४५ ॥

इस चिद्विलास दृष्टिसे सब कुछ क्षण भरमें प्रमाण हो जाता है, अन्य दृष्टिसे यह सब प्रमाण नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है, इसलिए विद्वान् पुरुष ज्ञानदृष्टिसिद्ध वस्तुको ही सारभूत समझते हैं ॥ ४६ ॥

जैसे स्पन्दनसे वायुकी शोभा स्फुरित होती है वैसे ही शुद्ध ज्ञप्तिरूप ब्रह्मसत्ता 'मैं अविद्या हूँ' ऐसे चिन्तनसे जगत् रूपमें स्फुरित होती है ॥ ४७ ॥

न यहाँ कोई मरता है और न कोई उत्पन्न होता है । मैं मरा हूँ और यह मेरा जन्म है यह केवल चिदात्मक प्रतिभा ही है ॥ ४८ ॥

मृत्यु अत्यन्त विनाश है । उसमें यदि दृश्यदर्शन हो तो वह सुषुप्ति सुखोपम निद्रा है फिर यदि दृश्यकी प्राप्ति हो तो वह जीवित ही है ॥४९॥

इसलिए यहांपर न मरण है और न जीवन ही है । एक चिन्मात्र-स्फुरणमें जीवन-मरण दोनों ही हैं अथवा दोनों ही नहीं हैं ॥ ५० ॥

चेतितं द्वयमप्यस्ति नाऽस्ति द्वयमचेतितम् ।
चेतितं चैकमेवाऽस्ति स्वस्त्यनन्तमतश्चितः ॥ ५१ ॥
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किं नाम वद जीवनम् ।
अदुःखमक्षयत्वात्तदतो दुःखं क्व कस्यचित् ॥ ५२ ॥
वाच्यं सवाचकं सर्वं यत्र चिद्व्योममात्रकम् ।
तदन्यत्तदनन्यच्च के ते तत्रैकताद्विते ॥ ५३ ॥
आवर्तादि यथा तोये शरीरादि तथा परे ।
तत्सत्तासंनिवेशात्म कारणानन्यखात्म च ॥ ५४ ॥
चिद्भानमात्रमव्यग्रं खमेवाऽप्रतिघं जगत् ॥ ५५ ॥
आश्चर्यं सुघनं व्यग्रं द्रव्यं सप्रतिघं स्थितम् ।
तथेते भूतिभूर्नाऽस्ति वर्तमानाऽनुभूतिभूः ॥ ५६ ॥

यदि चिन्मात्रमें जीवन-मरण दोनों चेतित हों तो दोनों ही हैं यदि चेतित न हो तो दोनों ही नहीं हैं। चेतित एक ही है, अतः द्वैतकी सत्ता और असत्ताकी साक्षी चित्‌का सदा ही श्रेय है ॥ ५१ ॥

भला बतलाइए तो चिन्मात्रसे पृथक् जीवन ही क्या है ? अक्षय होनेके कारण वह दुःखलेशशून्य है, अतः किसको कहाँ दुःख है ? ॥ ५२ ॥

जिस तत्त्वदृष्टिमें वाचक सहित सब वाच्य (रूप) केवल चिदाकाशमात्र है उस तत्त्वदृष्टिमें वह भिन्न है और वह अभिन्न है, ऐसी एकता और द्विता कैसे ? ॥ ५३ ॥

जैसे जलमें आवर्त, तरङ्ग, बुद्बुद आदि जलरूप हैं, वैसे ही परमात्मामें शरीर आदि परमात्मसत्तासन्निवेशभूत कारणसे अभिन्न आकाशरूप ही हैं ॥ ५४ ॥

केवल चिद्भानमात्र शान्त अनाकार या निर्दोष आकाश ही जगत् है। जो चिद्भान सुघन, अशान्त, द्रव्य और साकारके रूपमें स्थित है यही महान् आश्चर्य है। वह जैसे अतीतमें प्रतीतिका विषय नहीं है वैसे ही वर्तमानमें भी अनुभूतिका विषय नहीं है ॥ ५६ ॥

तत्र भ्रान्त्या पिशाचोऽयं भाति खात्मेति बुध्यताम् ।
यथैतत्खं तथैतत्खमेतत्खमिति खं स्थितम् ।। ५७ ।।
तथेतो भूरितो भूतमितोऽन्यदिति खं परम् ।
यैव चिद्भा जगत्सैव नैकताऽत्र न च द्विता ।। ५८ ।।
न च प्रतिघता काचिन्न चाऽप्रतिघरूपता ।
सर्वमप्रतिघं दृश्यं यथाभूतार्थदर्शिनः ।। ५९ ।।
तज्ज्ञतातज्ज्ञते चेह न सती नाऽप्यसत्स्थिती ।
सत्ये सदसती चैकं काष्ठमौनमतोऽखिलम् ।। ६० ।।
यद्दृश्यं ब्रह्मताऽनन्तं तदेव परमं पदम् ।
इदं सर्वं परं ब्रह्ममात्रमित्येव संस्थितम् ।। ६१ ।।

वर्तमान अनुभूतिमें यह शून्यात्मा ही दृश्यरूप पिशाच बन कर प्रतीत होता है, ऐसा आप समझिए। जैसे यह दृश्यमान आकाश है वैसे ही यह चिदाकाशरूप आकाश है, क्योंकि यह चिदाकाश ही आकाशरूपसे प्रतीत आकाश होकर स्थित है ।। ५७ ।।

वैसे ही यहाँसे नीचेके प्रदेशमें भूमि, यहाँसे अन्य प्रदेशमें वायु, आकाश आदि भूत, यहाँसे दिशा-विदिशाओंमें अन्य अनेक आकारोंमें यों परमाकाश ही भासित होता है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह अर्थ है। जो ही चिद्भान है वही जगत् है। न यहाँपर एकता है और न द्वैत है और न कोई साकारता है और न निराकारता है। यथाभूतार्थदर्शीके लिए (यथार्थदर्शीके लिए) साराका सारा दृश्य निराकार ही है ।। ५८,५९ ।।

पूर्णदृष्टि होनेपर तत्त्वज्ञता और अज्ञताका भेद भी नष्ट हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'तज्ज्ञता०'** इत्यादिसे।

पूर्णदृष्टि होनेपर ज्ञानिता और अज्ञानिता तथा सत् और असत्का भेद कुछ नहीं है पूर्णरूप सत्ब्रह्ममें सत् और असत् तुल्य हैं। इसलिए सब कुछ काष्ठवत् मौन है। यानी चिद्रूप है ।। ६० ।।

इस प्रकार सारा दृश्य ब्रह्मरूप ही सिद्ध हो गया, ऐसा कहते हैं—**'यद्'** इत्यादिसे।

जो दृश्य है वही ब्रह्मता है वही अनन्त है वही परमपद है। इस प्रकार यह सब केवल ब्रह्म ही स्थित है ।। ६१ ।।

एवं नामैष चिद्धातुः कचत्येवं यदात्मनि ।
यस्येदं कचनं व्योम्नो रूपमप्रतिघं जगत् ॥ ६२ ॥
सर्गाद्या मृतजीवानां सर्वत्रैवाऽङ्गुलेऽङ्गुले ।
असंख्याः सन्त्यसंख्यानामदृश्याप्रतिघा मिथः ॥ ६३ ॥
अन्योन्यं सिद्धलोकास्ते स्वं यत्र प्राप्य संगताः ।
परस्परं न पश्यन्ति मिथः प्रोता अपि स्थिताः ॥ ६४ ॥
भवत्याकाश एवैषा दृश्यश्रीर्गगनात्मिका ।
अनन्यदृष्टा चिद्रूपा स्वप्नवत्स्वात्मद्रष्टृका ॥ ६५ ॥
एषा हि संपरिज्ञाता तिष्ठत्यपि यथास्थितम् ।
भामात्ररूपनिर्वाणा निशान्ताप्रतिभाकृतिः ॥ ६६ ॥

जिस चिदाकाशका निराकाररूप यह स्फुरण जगत् है वह यह चिदाकाश अपने स्वरूपमें इस प्रकार स्फुरित होता है ॥ ६२ ॥

असंख्य मृत जीवोंके सभी जगह अङ्गुल-अङ्गुल भूमिमें असंख्य सृष्टि आदि हैं जो परस्पर अदृश्य और आघातशून्य हैं ॥ ६३ ॥

उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर सिद्धलोक अपने निज स्वरूपको प्राप्तकर ब्रह्ममें संयुक्त हैं* और परस्पर ओतप्रोत होकर स्थित हुए भी वे आपसमें एक दूसरेको नहीं देखते हैं ॥ ६४ ॥

वास्तवमें तो आत्मासे अतिरिक्त कोई द्रष्टा ही प्रसिद्ध नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'**भवति**' इत्यादिसे ।

चूँकि यह शून्यरूप दृश्यशोभा आत्माकाश ही है, इसलिए अन्यसे अदृष्ट चिद्रूपा है जैसे स्वप्नका द्रष्टा आत्मा ही है वैसे ही इसका द्रष्टा भी आत्मा ही है, अन्य नहीं ॥ ६५ ॥

यह केवल चिदाकाशस्वरूपा है इसीलिए परिज्ञात होते ही चिदाकाशाकार हो जाती है, ऐसा कहते हैं'—**एषा हि**' इत्यादिसे ।

* बृहदारण्यकोपनिषत्में गार्गीके प्रश्नमें यह वर्णित है—'यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं चेति कस्मिन् खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन् खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति' अर्थात् यह सब जलमें ओत और प्रोत है। जल किसमें ओत प्रोत है ? हे गार्गि, जल वायुमें ओत और प्रोत है। वायु किसमें ओत प्रोत है ? हे गार्गि, वायु अन्तरिक्ष लोकोंमें ओत और प्रोत है इत्यादिसे ।

शान्ताशेषविशेषात्म यथास्थितमवस्थितम् ।
सदसद्वा जगज्जालं परिज्ञानेन शाम्यति ॥ ६७ ॥
यथाऽब्धिजलबिन्दूनां क्षणविश्लेषसंगमम् ।
चिदणूनां तथा ब्रह्मवारिधौ स्फुरतां मिथः ॥ ६८ ॥
स्वप्नवद्भाति सर्गश्रीः सर्गादौ चिन्नभोमयी ।
अतः सर्वमिदं ब्रह्म शान्तमित्युपपद्यते ॥ ६९ ॥
दृष्टान्यनन्तविभवानि मया जगन्ति
　भुक्तानि कार्यपरिणामविजृम्भितानि ।
भ्रान्ता दिशो दश बहूनि युगानि याव-
　ज्ज्ञानादृते क्षयमुपैति न दृश्यदोषः ॥ ७० ॥

यद्यपि यह परिज्ञात होकर अपने यथार्थ स्वरूपमें स्थित होती है तथापि केवल प्रकाशमय निर्वाण स्वरूप होनेपर भी अज्ञानवश रात्रि खुलनेके समयके अन्धकारकी आकृतिके तुल्य आकृतिवाली होकर दृश्यरूपा-सी भासती है ॥६६॥

यदि यथास्थित वस्तु अशेष विशेषोंसे शून्य होकर स्थित हो तो ज्ञानसे बाधित होनेवाला जगत् चाहे सत् हो चाहे असत् हो कोई भी हानि नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'शान्ता०'** इत्यादिसे ।

यथार्थ तत्त्व अशेष विशेषोंसे विहीन होकर स्थित हो तो जगत्समुदाय चाहे सत् हो चाहे असत् ज्ञानसे शान्त हो जाता है ॥ ६७ ॥

अच्छा, हो जगज्जाल इस तरहका, किन्तु जगत्‌में बद्ध जीवोंकी ब्रह्ममें कैसे स्थिति है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे समुद्र और जलबिन्दुओंका क्षणमें विश्लेष और क्षणमें संश्लेष होता है यानी उनकी अंशांशिभावसे स्थिति होती है वैसे ही ब्रह्मरूपी महासागरमें परस्पर स्फुरित हो रहे चिदणुभूत जीवोंकी, अज्ञान रहता है, अंशांशिभावसे स्थिति होती है ॥ ६८ ॥

सृष्टिके आदिमें सृष्टिशोभा कैसे भासित होती है ? इसपर कहते हैं—**'स्वप्नवत्'** इत्यादिसे ।

चिदाकाशमयी सृष्टि भी सृष्टिके आदिमें स्वप्नकी तरह भासित होती है, अतः यह सारा दृश्य शान्त ब्रह्म ही है, यह उपपन्न होता है ॥ ६९ ॥

मैंने अनन्त वैभववाले अनेक जगतोंको देखा, अपने कर्मोंके परिपाकसे

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अवि० वि० श०विपश्चित्संसारभ्रमवर्णनं नामैकोनषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५९ ॥

षष्ट्यधिकशततमः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

विपश्चिति वदत्येवं तद्वृत्तान्तमवेक्षितुम् ।
इव लोकान्तरं भानुः पादैर्दूरायतैर्ययौ ॥ १ ॥
उदभूत्पूरयन्नाशा दिनपर्यन्तदुन्दुभिः ।
तुष्टाभिरिव निर्मुक्तो दिग्भिर्जयजयारवः ॥ २ ॥
विपश्चिते दशरथो गृहदारधनादिकम् ।
राज्यानुरूपं विभवं प्रोत्तस्थौ कल्पयन् क्रमात् ॥ ३ ॥

प्राप्त हुए सुख-दुःखरूप फलोंका भोग किया तथा बहुत युगोंतक दिशाओंमें भ्रमण किया, किन्तु ज्ञानके बिना दृश्यरूप दोषका विनाश नहीं हो सकता है ॥७०॥

एक सौ उनसठ सर्ग समाप्त

एक सौ साठ सर्ग

[सायंकालके समय सभाका उठना तथा दूसरे दिन प्रातःकाल फिर पहले की नाईं लगना एवं भासकी जीवन्मुक्तता और अविद्याका वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे वत्स, जब विपश्चित् यह कह रहा था तब सुने गये विपश्चित्के वृत्तान्तको मानो अपनी आँखोंसे देखनेके लिए सूर्य दूरतक फैली हुई किरणोंके साथ या लम्बे लम्बे किरणरूपी पैरोंसे दूसरे लोकको गया ॥१॥

सायंकालकी सूचना देनेवाली दुन्दुभिध्वनि सन्तुष्ट हुई दसों दिशाओंसे की गई जयजयकार ध्वनिकी तरह दिशाओंको पूर्ण करती हुई उठी ॥ २ ॥

महाराज दशरथ विपश्चित्के लिए राज्यके अनुरूप क्रमशः घर, गृहस्थी, धन आदिका समर्थन करते हुए आसनसे उठे ॥ ३ ॥

राजरामवसिष्ठाद्या मिथः कृत्वा विसर्जनम् ।
यथाक्रमं पूजनं च प्रययुः स्वास्पदानि ते ॥ ४ ॥
स्नात्वा भुक्त्वा निशां नीत्वा प्रभाते पुनरराययुः ।
तेनैव संनिवेशेन सा सभा संस्थिताऽभवत् ॥ ५ ॥
क्रमान्मुनिरुवाचाऽथ तां यथाप्रस्तुतां कथाम् ।
शशीवाऽमृतमाह्लादमुद्गिरन्मुखदीप्तिभिः ॥ ६ ॥
राजन्नेयमविद्येयमसत्येव सती स्थिता ।
नेदृशेनाऽपि यत्नेन निर्णीतैषा विपश्चिता ॥ ७ ॥
अविद्यैवमविज्ञाता चिरानन्ताऽवभासते ।
परिज्ञाता तु नाऽस्त्येव मृगतृष्णा नदी यथा ॥ ८ ॥

महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्रजी, महामुनि श्रीवसिष्ठजी आदि गण्यमान्य पुरुष आपसमें एक दूसरेको क्रमानुसार बिदाकर, नमस्कार आदिसे सत्कार कर अपने अपने घरोंको गये ॥ ४ ॥

स्नान ओर सायंसन्ध्यासे निवृत्त होकर, भोजनकर और रात्रिमें विश्राम कर प्रातःकालमें वे फिर सभास्थलपर आये जिस तरह वह सभा पहले बैठी थी उसी तरह बैठ गई ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् जैसे चन्द्रमा अमृतकी वर्षा करता है वैसे ही अपने मुखमण्डलकी प्रभासे आह्लादित करनेवाले वचन कह रहे मुनि महाराज उक्त प्रस्तुत कथा क्रमसे कहने लगे ॥ ६ ॥

हे राजन्, यह अविद्या नहीं है। असत् होती हुई ही यह सत्के समान स्थित है। विपश्चित् इस प्रकारके महान् प्रयत्नसे भी इसका निर्णय नहीं कर सका, इसका पार नहीं पा सका ॥ ७ ॥

जबतक अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूपसे इसका विज्ञान नहीं होता तभी तक यह कालतः चिरकाल तक, देशतः और वस्तुतः अनन्त मालूम होती है, किन्तु यह केवल अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप है ऐसा जब इसका परिज्ञान हो जाता है तब यह मृगतृष्णा-नदीके समान नहीं ही रहती है ॥ ८ ॥

मन्त्रिणस्ते महाबुद्धे भासस्याऽस्य विपश्चितः ।
इतिवृत्तं त्वमित्यस्य स्वयमेव हि दृष्टवान् ॥ ९ ॥
सदृशोऽयमितस्त्वाभिः कथाभिर्ज्ञाततत्पदः ।
अविद्यायां प्रशान्तायां जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ १० ॥
अविद्येति धृता संविद् ब्रह्मणाऽऽत्मनि सत्तया ।
तद्भ्रमेणाऽसदप्यस्याः सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ ११ ॥
यदा ब्रह्मात्मिकैवेयमविद्या नेतरात्मिका ।
तदाऽस्त्येषाऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न भिद्यते ॥ १२ ॥
अविद्यैवमनन्तेयं नानाप्रसवशालिनी ।
जडा हृद्या रसमयी मोहमाधवमञ्जरी ॥ १३ ॥
अन्तःशून्या ग्रन्थिमती श्लक्ष्णा स्वङ्कुरकण्टका ।
जडा रसमयी दीर्घा लतेव वनवैणवी ॥ १४ ॥

हे महामते, भास नामधारी इस विपश्चित्का इतिहास आपने स्वयं ही देखा है और इसके उन मन्त्रियोंने भी देखा है ॥ ९ ॥

इसके पश्चात् इन कथाओंसे तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न हुआ यह अविद्याके नष्ट होनेपर आप लोगोंके सदृश जीवन्मुक्त हो जायगा ॥ १० ॥

चूँकि ब्रह्मने अपनेमें अपनी सत्तासे 'मैं अविद्या हूँ' ऐसी संवित् धारण की, इसलिए भ्रान्तिसे ही इसका अविद्यमान भी स्वरूप सत्के तुल्य दिखाई देता है ॥ ११ ॥

जब यह अविद्या ब्रह्मस्वरूपा ही है ब्रह्मसे अन्यस्वरूपा नहीं है तब यह अधिष्ठान ब्रह्ममात्ररूपसे अपरिज्ञात होकर ही ब्रह्मसे पृथक् अस्तित्व रखती है अधिष्ठानब्रह्ममात्रत्वेन परिज्ञात होकर तो यह उससे पृथक् अस्तित्व नहीं रखती है ॥ १२ ॥

इस प्रकार विविध प्रकारकी सृष्टियोंसे शोभित होनेवाली यह अविद्या अनन्त है। मोहरूपी वसन्तमें खिली हुई मञ्जरीसी यह जड़, रमणीय और आसक्तिमयी है। वसन्तमें खिली हुई मञ्जरी (बौर) भी विविध फलोंसे शोभित होती है ॥ १३ ॥

जड़ आसक्तिमयी यह अविद्या वनके बांसमें उत्पन्न हुई लम्बी

फलाशङ्का मुधैवाऽतिनिष्फला चित्तहारिणी ।
अकालपुष्पमालेव श्रेयसा नाऽभिनन्दिता ॥ १५ ॥
न किंचिद्रूपिणी पीना नानाभुवनपूरिणी ।
भूताकुला निरालोका सुदीर्घेव तमोमयी ॥ १६ ॥
केशोण्डुकभ्रान्तिरिव विचित्रग्रन्थिवेष्टना ।
मिथ्यैव दृश्यमाना खेऽदृश्यमाना न किंचन ॥ १७ ॥
विचित्रवर्णा विगुणा शून्ये च विततकृतिः ।
जडस्पन्दोत्पातमयी शक्रचापलतेव खे ॥ १८ ॥
जडकल्लोलबहुला कलुषोल्लासफेनिला ।
चक्रावर्तान्वयमयी प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ १९ ॥

शाखाकी भाँति अन्त (सीमा) रहित है, चिदचिद् ग्रन्थिवाली है, सरसरी दृष्टिसे चिकनी चुपड़ी मालूम होती है किन्तु अनुभवके समय इसके सुन्दर सुन्दर अङ्कुर सब काँटे बन जाते हैं ॥ १४ ॥

यह अविद्या अकालमें उत्पन्न हुई उत्पातसूचक पुष्पराशिकी तरह मनोहारिणी है, अतएव अऋतुमें उत्पन्न पुष्पराशिकी तरह इसमें व्यर्थ ही फलकी आशङ्का होती है किन्तु है यह निपट निष्फल, इसलिए प्रशंसनीय अभिज्ञ जन कदापि इसकी ओर आकृष्ट नहीं होते ॥ १५ ॥

यद्यपि इसका कोई स्वरूप नहीं है, तथापि यह इतनी विशाल है कि नाना भुवनोंको भर देती है, अतएव प्राणियोंसे भरी हुई अज्ञानपूर्ण यह अविद्या भूतोंसे भरी हुई अन्धकारपूर्ण लम्बी रात्रिके समान है ॥ १६ ॥

यह आकाशमें मिथ्या ही दिखाई दे रही तथा विचित्र ग्रन्थियोंसे वेष्टित केशोंके गोलोंकी भ्रान्तिके तुल्य है, किन्तु तत्त्वदृष्टिसे वास्तवमें न दिखाई दे रही यह अस्तित्वशून्य है ॥ १७ ॥

विविध रंगोंमें रँगी हुई, गुणरहित, आकाशमें फैली हुई अज्ञानकर्मरूप विविध उपद्रवोंसे पूर्ण यह अविद्या आकाशमें फैली हुई, वृष्टिके उत्पातको सूचित करनेवाली, प्रत्यञ्चारहित रंगविरंगी इन्द्रधनुषलताके समान है ॥ १८ ॥

अज्ञानरूपी कल्लोलोंसे आकुल, पापप्रकर्षरूपी फेनसे भरी, चक्राकार

अनारतवहच्छून्यजगन्मृगनदीशता ।
रजोराशिमयी रूक्षा शवभूरिव दुर्भगा ॥ २० ॥
अन्तं प्राप्नोति न यथा चिरं स्वप्नपुरे चरन् ।
जाग्रदाख्ये स्वप्नपुरे तथैवाऽस्मिंश्चिरं चरन् ॥ २१ ॥
यानि संकल्पजालानि प्रतिष्ठामागतान्यलम् ।
त्यक्तैकदृश्यजालस्थदेहानां दृढचेतसाम् ॥ २२ ॥
स्थितानि तानि चिद्व्योमकोशरत्नान्यसंकटम् ।
विमानपुरभूम्यादिरूपेणेत्थं स्थिरात्मना ॥ २३ ॥
तान्येव सिद्धसद्मानि व्योम्नि भान्ति परस्परम् ।
अदृष्टान्यप्यसंख्यानि सूपलब्धान्यसन्त्यपि ॥ २४ ॥

भवँरियोंके तुल्य भ्रान्तियोंकी आवासभूत यह अविद्या जलकल्लोलोंसे भरी हुई मलिनताकी वृद्धिसे फेनयुक्त चक्रकी नाईं घूम रहे भँवरोंसे व्याप्त चौमासेकी नदीकी तरह है ॥ १९ ॥

यह रजोगुणमयी रूक्ष अविद्या, जिसमें निरन्तर शून्य जगत्‌रूप सैकड़ों मृगतृष्णानदियाँ बहती हैं, बीहड़ श्मशानभूमिकी तरह है । श्मशान भूमि भी धूलिराशिसे भरी हुई और रूक्ष रहती है एवं उसमें भ्रमवश शून्यरूपी सैकड़ों मृगतृष्णानदियाँ बहती दिखाई देती हैं ॥ २० ॥

जैसे स्वप्ननगरमें चिरकाल तक विचरण कर रहा पुरुष उसका अन्त नहीं पाता वैसे ही इस जाग्रत् नामके स्वप्नपुरमें भ्रमणकर रहा पुरुष इसका अन्त नहीं पाता ॥ २१ ॥

जो एक दृश्यजालमें (प्रपञ्चमें) स्थित देहोंका त्यागकर चुके तथा मरणके समयमें जिनके चित्त इस जगत्‌के आकारसे दृढ़ थे ऐसे जीवोंके दृढ़ीभूत संकल्प ही इस जगत्‌के शरीरके आकारसे स्थित हुए हैं ॥ २२ ॥

वे चिदाकाशके कोशरत्नरूप संकल्पसमूह इस प्रकार स्थिररूप विमान, नगर, भूमि आदिके आकारसे सविकास (बिना संकीर्णताके) स्थित हैं ॥ २३ ॥

वे ही असंख्य सिद्धलोक होकर आकाशमें भासित होते हैं । वे अदृष्ट होते हुए भी सत्तावान् हैं । भलीभाँति दृष्ट होनेपर भी असत् हैं ॥ २४ ॥

सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तावनिमयानि च ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानाढ्यरसायनसरांसि च ॥ २५ ॥
मधुमद्यदधिक्षीरघृतकुल्याकुलानि च ।
रसायनमयाकारवनितावलितानि च ॥ २६ ॥
सर्वर्तुपुष्पफलपल्लवपूरवन्ति
लीलाविलोलललनाकुलितालयानि ।
संकल्पमात्ररचनेन च सर्वकालं
संपन्नसर्वविभवोत्करसंकुलानि ॥ २७ ॥
सहस्रचन्द्रबिम्बानि शतसूर्याणि कानिचित् ।
सुवर्णामृतवेषाम्बुमयभूतानि कानिचित् ॥ २८ ॥
स्वेच्छातमःप्रकाशानि नित्यानन्दमयानि च ।
कानिचिन्नीयमानानि तनुतूललघूनि च ॥ २९ ॥

उन सिद्धलोकोंकी भूमि सुवर्णमय, मणिमय, माणिक्यमय और मुक्तामय थी । वे सबके सब भक्ष्य, भोज्य, अन्न-पान आदिसे पूर्ण थे और रसायनोंके तालाबके तालाब उनमें भरे थे । उन सबमें शहद, आसव, दही, दूध और घीकी नहरें चारों ओर बहती थीं । वे सब सिद्धलोक चन्द्रमाकी-सी आह्लादक आकृतिवाली महिलाओंसे परिपूर्ण थे ॥ २५, २६ ॥

उनमें सब ऋतुओंमें प्रसिद्ध फल, फूल पल्लवोंसे लदे हुए वन और नदियोंके प्रवाह प्रचुरमात्रामें थे, हाव-भावोंसे विशेष मनोहर ललनाओंसे उन लोकोंके घर भरे थे तथा केवल संकल्प करने मात्रसे पूर्णरूपसे उत्पन्न हुए सब विभवोंकी राशियोंसें वे सदा पूर्ण रहते थे ॥ २७ ॥

उनमें से कोई सिद्धलोक हजारों चन्द्रबिम्बवाले और सैकड़ों सूर्यमण्डलवाले थे, कोई सुवर्ण-से और अमृत-से स्वच्छ वेषवाले जलमय भूतोंके आवास थे ॥ २८ ॥

उनमें स्वेच्छासे अन्धकार और प्रकाश होता था, वे सबके सब नित्यानन्दमय थे । उनमें से कोई थोड़ी-सी रुईके समान हलके थे,अतः वायु उन्हें जहाँ चाहता था वहाँ उड़ा ले जाता था ॥ २९ ॥

क्षणोत्पत्तिविनाशानि कानिचित्कलनावशात् ।
अनन्तस्वन्नपानानि निर्जरामरणानि च ॥ ३० ॥
विचित्रसंनिवेशानि विचित्रविभवानि च ।
सर्वर्तुगुणरम्याणि सर्वकाममयानि च ॥ ३१ ॥
तानि संकल्पजालानि किल कल्याणकारतः ।
स्थिराणां मनसां भित्तिः कथमेवं भवेत्तु सा ॥ ३२ ॥
नाऽन्यत्किंचन नामेह ब्रह्ममात्रमयात्मनि ।
संभवत्यङ्ग तेनैतदुच्यतामस्तु किंमयम् ॥ ३३ ॥
सर्गादावेव सर्गादि किंचनाऽपीदमस्ति नो ।
कारणाभावतस्तेन जगत्किंमयमस्त्विदम् ॥ ३४ ॥

कोई अपनी कल्पनाके कारण क्षणमें उत्पत्ति और विनाशवाले थे यानी अपनी इच्छासे क्षणमें दर्शन और अदर्शनवाले थे। उनमें अन्न और पानका कोई पारवार न था एवं वे जरा और मरणसे विहीन थे ॥ ३० ॥

उनकी रूपरेखा (बनावट) अचम्भेमें डालनेवाली थी, उनका वैभव भी आश्चर्यमय था, सभी ऋतुओंके गुणोंसे वे सुरम्य थे तथा सकल-काममय थे ॥ ३१ ॥

वे संकल्पसमूह शास्त्रीय सत्कर्म और उपासनासे सत्कर्म और उपासनाके फलके आकारवाले तत्-तत् लोकोंमें उनके भोग्य फलोंके आकारसे स्थिर मनोंकी परिणतिरूप हैं। वह परिणति इस प्रकार स्थूल भित्ति कैसे होगी ॥ ३२ ॥

केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप जगत्में ब्रह्मसे अन्य किसीका भी संभव नहीं है। हे भद्र, यदि प्रकारान्तर हो तो जगत् किंमय है कृपया कहें अर्थात् मनोरथ आदिमें मनके परिणामोंका अस्तित्व, चिन्मात्ररूप होनेसे ही, देखा गया है इसलिए जगत्के ब्रह्ममयात्मक होनेपर यह जो मैंने कहा है उसकी उपपत्तिपूर्वक सर्वथा संभावना है। यदि दूसरा कोई प्रकार हो तो यह जगत् किंमय है यह वादीको कहना चाहिये ॥ ३३ ॥

यद्यपि इस समय यह जगत् भूतमय (भौतिक) है, ऐसा कहा जा सकता है तथापि सृष्टिके आदिकालमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्' (हे सौम्य, पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था) इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसे

संकल्प्यन्ते निरन्तानि किल तानि यथा यथा ।
चितौ तथा तथा भान्ति केवाऽत्र वद चित्रता ॥ ३५ ॥
इदानीमपि हे साधो त्वमप्यन्येऽपि केऽपि वा ।
तीव्रसंवेगसंकल्पनगराण्येवमेव खे ॥ ३६ ॥
कुर्वन्त्येकरसाभ्यासाद्यदि नाम यदृच्छया ।
तत्तानीदं वपुस्त्यक्त्वा प्राप्नुवन्त्यचिरेण खे ॥ ३७ ॥

अतिरिक्त दूसरे किसी कारणकी संभावना ही नहीं की जा सकती, अतः अकारण जगत्को ब्रह्मातिरिक्त मानो तो वह अत्यन्त असत् है, यह कहते हैं—**'सर्गादा०'** इत्यादिसे ।

सृष्टिके आदि कालमें ही यह सृष्टि आदि, कारणका अभाव होनेसे, कुछ भी नहीं था, अतः यह जगत् किंमय हो ॥ ३४ ॥

यदि जगत् अत्यन्त असत् है तो उसका भान कैसे होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'संकल्प्यन्ते'** इत्यादिसे ।

जैसे जैसे अनन्त जगतोंका संकल्प किया जाता है वैसे वैसे चितिमें उनका भान होता है । कहिये इसमें कौनसी विचित्रता है । अत्यन्त असत् शशके सींग, आकाशपुष्प आदिका संकल्पवश भान होना चिरदृष्ट है, कोई नई बात नहीं है ॥ ३५ ॥

तब हम लोगोंके संकल्प आदि मोघ क्यों हैं ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो तीव्रवेग न होनेके कारण ही हम लोगोंके संकल्पोंमें मोघता है । यदि हमारे संकल्पमें तीव्रवेग हो जाय तो तुम या और कोई भी लोग आकाशमें नगरोंका निर्माण करते ही हैं और एकरसाभ्याससे ऐन्दवोपाख्यानमें उक्त न्यायसे उन्हें प्राप्त भी करते हैं, ऐसा कहते हैं—**'इदानीम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे साधो, इस समय भी तुम चाहे और कोई लोग भी इसी तरह आकाशमें तीव्र संवेगवाले संकल्पोंसे नगरोंका स्वेच्छासे निर्माण कर सकते हैं एकरस आसक्तिसे इस शरीरका त्यागकर थोड़े ही समयमें उन्हें प्राप्त कर सकते हैं ॥ ३६, ३७ ॥

यस्त्विदं कल्पितं च द्वे वस्तुनी अनुवर्तते ।
स्वर्गादिवदवाप्नोति प्राप्नोत्येवैकमेकधीः ॥ ३८ ॥
सिद्धाः सदा विभान्त्येवं यथाऽन्तःकल्पनावशात् ।
नरकादीनि दुःखानि तथैवाऽऽभान्ति कल्पनात् ॥ ३९ ॥
यद्यत्संवेद्यते किंचित्तत्तथाऽप्यनुभूयते ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिन्देह एव मनोमयः ॥ ४० ॥
जीवस्त्यजति यद्भावे एकां देहमयीं धियम् ।
तद्भावैकमयीमन्यामाशु तत्रैव पश्यति ॥ ४१ ॥

जो पुरुष पूर्वसिद्ध और उपासनासे कल्पित—दोनों प्रपञ्चोंका दृढ़ सङ्कल्पसे 'यह अवश्य है' इस बुद्धिसे अनुसरण करता है वह पुरुष जैसे यज्ञ आदि सत्कर्मकारी स्वर्ग आदि अवश्य प्राप्त करता है वैसे ही क्रमशः दोनोंको ही प्राप्त करता है। जो इनमें से एक ही सत्य है ऐसी दृढ़ बुद्धिवाला है वह एकको ही प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

सिद्धलोकोंमें उक्त न्याय नरक आदि पाप-फलोंकी कल्पनाओंमें भी तुल्य है, ऐसा कहते हैं—**'सिद्धाः'** इत्यादिसे।

जैसे अन्तःकरण की कल्पनावश सिद्धलोकोंका सदा भान होता है वैसे ही कल्पनावश नरक आदि दुःखप्रद लोकोंका भी भान होता है। दोनोंमें इतना अन्तर है कि उपासनाका फल प्रयत्नपूर्वक उसकी सत्यताका दृढ़ाभ्यास होनेपर ही होता है। पुण्यका फल आस्तिकता और अनुष्ठानके रहते अभ्यासके बिना सत्यरूपसे दृढ़ होता है। पापका फल आस्तिकता और अभ्यासके अभावमें भी केवल पापाचरणमात्रसे 'सत्य है' यों दृढ़कल्पनावाला हो जाता है ॥ ३९ ॥

संकल्पकी अनुसारिता सर्वत्र समान है, ऐसा कहते हैं—**'यद्यद्'** इत्यादिसे।

जिस किसीका जैसे संकल्प किया जाता है उसका, चाहे देह रहे या न रहे, वैसे ही अनुभव होता है कारण कि शरीर तो सभी कल्पनामय ही हैं ॥ ४० ॥

इसलिए मनके अनुसार ही एक शरीरका त्याग कर जीव शीघ्र दूसरे शरीरका ग्रहण करता है, ऐसा कहते हैं—**'जीव०'** इत्यादिसे।

शुभा संविच्छुभाँल्लोकान्संपश्यत्यशुभाऽशुभान् ।
खात्मिका खात्मकानेत्र चिरं वाऽनुभवत्यपि ॥ ४२ ॥
शुद्धा सिद्धपुराण्येव पश्यत्यनुभवत्यपि ।
चिदशुद्धा विरूपाणि दुःखानि नरकेष्वति ॥ ४३ ॥
घूर्णत्पाषाणयमलगिरिचक्रकपेषणम् ।
तत्राऽन्धकूपपतनं पुनरुद्धारवर्जितम् ॥ ४४ ॥
दारुणेनाऽतिशीतेन देहं पाषाणतां गतम् ।
भूताङ्गारमयानन्तमेरुमार्गास्पदं वपुः ॥ ४५ ॥
पूताङ्गारमयाम्भोदस्नरदङ्गारवर्षणम् ।
तप्तनाराचनिकरपरुषासारदारुणम् ॥ ४६ ॥

जीव जिस भावसे एक देहमयी बुद्धिका त्याग करता है उसभावसे ही दूसरी देहमयी बुद्धिको शीघ्र देखता है ॥ ४१ ॥

शुभ (पुण्यकारिणी) जीव-संवित् शुभ लोकोंको देखती है और अशुभ (पापी) संवित् अशुभ लोकोंको देखती है और शून्य संवित् शून्यात्मक लोकोंको देखती है एवं चिरकालतक उनका अनुभव भी करती है ॥ ४२ ॥

जो जीव-संवित् कर्म और उपासनासे शुद्ध है वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म दूसरेके सिद्धनगरोंको ही देखती है और अपने सिद्धपुरोंका अनुभव करती है। पापाचरणसे अशुद्ध जो चित् है वह नरकोंमें दूसरोंके भीषण दुःखोंको देखती है और अपने घोर दुःखोंका अनुभव करती है ॥ ४३ ॥

पापी जीव नरकमें जिन दुःखोंको देखता और अनुभव करता है उनका विस्तारसे वर्णन करते हैं—'घूर्णत्०' इत्यादिसे ।

निरन्तर घूम रहे गेहूँ आदि पीसनेके दो चक्कोंसे पीसा जाना देखता है और जिससे कदापि पुनः उद्धार न हो ऐसे अन्धकूपमें गिरना देखता है ॥ ४४ ॥

भयानक शीतसे शरीरको जमकर पत्थर बना हुआ देखता है तथा भूतों (पिशाचों) और अँगारोंसे पटे हुए असीम निर्जल (रेगिस्तानी) मार्गमें चल रहे बटोहीके रूपमें अपने और दूसरोंके शरीरोंको देखता है ॥ ४५ ॥

निर्भस्म (राखरहित) अङ्गारमय मेघोंसे बरस रहे अँगारोंकी वह वृष्टि

वहत्पाषाणचक्रासिसरिदाकाशसंचरम् ।
वक्षोमुक्ताम्बुदाकारकुठाराघातभेदनम् ॥ ४७ ॥
सतायःपरुषाश्लेषच्छमिच्छमितिमज्जनम् ।
बृहत्कटकटाशब्दशस्त्रयन्त्रनिपीडनम् ॥ ४८ ॥
चक्रवज्रगदाप्रासशूलासिशरवर्षणम् ।
शाल्मलीग्रहणं पाशं कुशक्तिशततोदनम् ॥ ४९ ॥
तप्तसैकतसंभारपातपातालमज्जनम् ।
दीपच्छन्नानलभयं बृहद्वायसचर्वणम् ॥ ५० ॥
निर्निर्गमाक्रशाङ्गारमहागारप्रवेशनम् ।
शरशक्तिगदाप्रासभुशुण्डीचक्रवेधनम् ॥ ५१ ॥
क्षुत्क्षोभपरुषप्रेतव्रातान्योन्याङ्गचर्वणम् ।
तालोत्तालातिपरुषशिलातलनिपातनम् ॥ ५२ ॥

देखता है जो तपाये हुए बाणोंकी राशिकी तरह तीक्ष्ण और वेगयुक्त होनेसे अति भीषण होती है ॥ ४६ ॥

जिसमें पत्थर, चक्र और तलवारोंकी नदियाँ बहती हैं ऐसे आकाशमें अपना संचार देखता है और छातियोंपर गिराये गये बादलसे काले कुल्हाड़ोंके आघातसे छातियोंको फोड़ना देखता है ॥ ४७ ॥

तपाकर लाल किये हुए लोहेकी मूर्ति और त्रिशूलका आलिङ्गन करना और छप्-छप् शब्दके साथ डूबना देखता है तथा बड़े भारी कट-कट शब्दके साथ शस्त्रयन्त्रमें खूब जोरसे दबाना देखता है ॥ ४८ ॥

चक्र, वज्र, गदा, भाले, बल्लम, तलवार और बाणोंकी वृष्टि देखता है, कांटेदार शाल्मलीसे (सेमरके पेड़से) आलिङ्गन, पाशमें बांधना और खराब-खराब सैकड़ों शक्तियोंसे छेदना देखता है ॥ ४९ ॥

जलती हुई बालूकी राशियोंमें गिरना, पातालमें डूबना, दीयेके रूपमें प्रच्छन्न (छिपी हुई) लुआठीसे भय तथा बड़े-बड़े कौओंके द्वारा नोचना देखता है ॥५०॥

बाहर निकलनेके मार्गसे रहित बड़े-बड़े अँगारोंसे भरे हुए बड़े भारी घरमें घुसना तथा बाण, शक्ति, गदा, भाले, बन्दूक और तलवारसे बेंधना देखता है ॥५१॥

मारे भूखसे झुँझलाये हुए अतः क्रूर हुए प्रेत-पिशाचों द्वारा आपसमें

रुधिरामेध्यपङ्काङ्कपूयनद्यादिसंकटम् ।
शिलाशस्त्रमयाश्वेभपादपाषाणपेषणम् ॥ ५३ ॥
श्वभ्राभोलूकलिखितं जनौघमुसलाहतम् ।
शिरःकरखुरस्कन्धखण्डोत्कगृध्रमण्डलम् ॥ ५४ ॥
एतस्मात्कुकृतादेतत्फलमित्येव भावनात् ।
पश्यत्येवं देशदृढादविसंवादि विस्तृतः ॥ ५५ ॥
यन्नाम किंचन कदाचन चेतनं खे
भातं न भातमथवा यदपूर्वमेव ।
तत्कल्पनाद्भवति तन्मयमेव तद्धि
तस्माच्चिरं च चलतीति यदृच्छयैव ॥ ५६ ॥

अङ्गोंका चबाना तथा तालसे भी अधिक ऊँचे स्थानसे कठिन शिलातलोंपर पटकना देखता है ॥ ५२ ॥

रुधिरके घृणित कीचड़से अङ्कित पीव आदिकी नदियोंकी भीड़-भाड़ देखता है और शिलाओंपर शस्त्ररूपी घोड़े और हाथियोंके पैरों तथा पत्थरों द्वारा पिसना देखता है ॥ ५३ ॥

गड्ढेके सदृश प्रदेशोंमें उल्लुओं द्वारा देहका नोचना देखता है, जनसमूह द्वारा मुसलोंसे पीटना देखता है । और सिर, हाथ, पैर आदिके टुकड़े-टुकड़े करनेके लिए उत्सुक गृध्रोंको देखता है ॥ ५४ ॥

इस कुकर्मसे यह फल होता है, इस प्रकारकी भावनासे (शास्त्रीय निर्णयसे) जो पहले बहुत बार इस प्रकारके देशोंमें अनुभव द्वारा दृढ़ हो चुकी, स्वात्मा ही तत्-तत् नरकरूपसे विस्तृत होकर अपनी भावनासे मिलता-जुलता नारकीय दृश्य इस प्रकार देखता है ॥ ५५ ॥

जिस किसी भी चेतन देह आदिका कभी चित्ताकाशमें भान हुआ अथवा [भावीका (भविष्यमें होनेवालेका) भी स्वप्नमें भान देखनेसे] जिसका कभी भान नहीं हुआ अथवा जो अपूर्व ही हो उसका भी संकल्पभ्रान्तिरूप कल्पनावश भान होता है । वह सब मनोमय ही है। वह उस भावनासे स्वेच्छासे

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे० वा० मो० नि० उ० अ० वि० श०
स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनं नाम षष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

यन्मुनिव्याधयोरेतद्वृत्तं नानादशाशतम् ।
अन्यकारणकं किं स्यादेतत्किं वा स्वभावजम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ईदृशाः प्रतिभावर्ताः परमात्ममहाम्बुधौ ।
अनारतं प्रवर्तन्ते स्वतः स्वात्मनि खात्मकाः ॥ २ ॥

ही चलता है सैकड़ों प्रयत्नोंसे भी वह नहीं चलता, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥ ५६ ॥

एक सौ साठ सर्ग समाप्त

एक सौ एकसठ सर्ग

[जगद्रूप चित्रका ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है यह चिन्मात्रप्रतिभारूप है। अज्ञानवश ही इसका भान होता है, ज्ञान होनेपर यह ब्रह्म ही है, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, मुनि और व्याधका भास द्वारा वर्णित सैकड़ों सुख-दुःखादि दशाओंसे युक्त जो यह वृत्तान्त है यह क्या प्रतिदिन दिखाई दे रहे स्वप्न आदिके समान अन्य कारणसे शून्य है अथवा जैसे लवण, गाधि आदिके चाण्डालता आदि ऐन्द्रजालिक तथा भगवद्वर आदि निमित्तसे हुए थे वैसे ही किसी अन्य निमित्तसे हुआ है ॥ १ ॥

उसमें कोई अन्य निमित्त हो अथवा न हो, अज्ञात आत्मामें मोक्ष होने तक इस प्रकारकी भ्रान्तियाँ सदा ही होती रहती हैं, ऐसा श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'**ईदृशाः**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स, स्वात्मरूप परमात्ममहासागरमें इस प्रकारके शून्यात्मक प्रतिभावर्त (भ्रान्तियाँ) अपने आप निरन्तर होते रहते हैं ॥ २ ॥

यथा स्पन्दात्मनो वायोरजस्रं स्पन्दलेखिकाः ।
उद्यन्त्येव सतश्चित्त्वाच्चिद्व्योम्नि प्रतिभायुताः ॥ ३ ॥
या यथा स्वाङ्गभूताऽस्मादुदिता प्रतिभा प्रभा ।
तावत्सेह तथैवाऽऽस्ते न हता यावदन्यया ॥ ४ ॥
नानावयववानेक एवेहाऽवयवी यथा ।
चिद्ब्रह्मैकमिदं व्योम तथैवं प्रतिभात्मकम् ॥ ५ ॥
ब्रह्म काश्चित्स्थिराः काश्चिदस्थिराः प्रतिभार्थवत् ।
देहावस्था इवाऽऽत्मस्थाः स्थितमात्मनि खात्मनि ॥६॥
स्वात्मनि स्वप्नपुरवद्भानं चिति चमत्कृतिः ।
किं सारं किमसारं वा किं सत्किं वाऽप्यसद्भवेत् ॥७॥

जैसे पङ्खा आदि अन्य निमित्त रहे चाहे न रहे स्पन्दात्मक वायुसे निरन्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दलेश सदा ही निकलते रहते हैं वैसे ही सच्चित्परमात्मासे पदार्थाकार प्रथा चिदाकाशमें निरन्तर उदित होती ही है ॥ ३ ॥

सच्चित् परमात्मासे अपनी अवयवभूत जो पदार्थाकारप्रथारूपी प्रभा जैसी उदित होती है वह यहां तबतक ज्योंकी त्यों वैसी ही रहती है जबतक कि वह अन्य आकारान्तर प्रतिभासे नष्ट नहीं की जाती जैसे कि मिट्टीका पिण्डादि आकार घटादि अन्य आकारमें परिणति द्वारा नष्ट किया जाता है ॥ ४ ॥

उन अनन्त पदार्थाकार प्रतिभासोंमें अधिष्ठानभूत सन्मात्ररूप ब्रह्म शाखा-प्रशाखाओंमें वृक्षकी तरह अनुगत रहता है, ऐसा कहते हैं—'**नाना**' इत्यादिसे ।

जैसे यहाँ एक ही अवयवी वृक्ष आदि नाना अवयवोंमें (शाखा-प्रशाखा आदिमें) अनुगत रहता है वैसे ही एक सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रतिभात्मक जगदाकाशमें अनुगत है ॥ ५ ॥

जैसे देहकी पिण्ड, हाथ, पैर आदि अवस्थाएँ चिरकालतक रहनेके कारण स्थायी हैं और निमेष, उन्मेष आदि अवस्थाएँ क्षणिक होनेके कारण अस्थिर हैं वैसे ही ब्रह्मकी भूमि, अन्तरिक्ष, दिशा आदि कोई अवस्थाएँ चिरकाल स्थायी रहनेके कारण स्थिर हैं और कोई अन्य अवस्थाएँ प्रतिभात अर्थके तुल्य क्षणिक होनेसे अस्थायी हैं । स्वावयवभूत उन सबमें ब्रह्म स्थित है ॥ ६ ॥

निज आत्मामें स्वप्ननगरके समान यह चितिचमत्कार केवल भान ही

परिज्ञातमिदं यावत्सर्वं चिद्व्योममात्रकम् ।
दृश्यं जगद्भवद्बुद्धं न सन्नाऽसत्किमुच्यते ॥ ८ ॥
चिद्व्योममात्रकचनं संसारं सर्वतः शिवे ।
आस्थानास्थादि किं तज्ज्ञा यथासंस्थानमास्थित ॥ ९ ॥
समुद्यन्ति स्वतोऽम्भोधेर्वीचिवत्प्रतिभाकृताः ।
स्वात्मकाः स्वात्मनो देवात्कार्यकारणदृक्तया ॥ १० ॥
स्फारं यत्परमं व्योम्नः स्वसंकल्पस्वसर्गवत् ।
तत्तेनैव जगद्बुद्धं कुतः पृथ्व्यादयोऽत्र के ॥ ११ ॥
भात्येवमयमाभासो नैव भाति च किंचन ।
ब्रह्मण्येव स्थितं ब्रह्म तदविद्याभिधं स्वतः ॥ १२ ॥

है उसमें यह सारभूत है या निस्सार है ऐसा आग्रह क्या अथवा सत् है या असत् है ऐसा भी आग्रह क्या ? ऐसा आग्रह मूढजन वृथा ही करते हैं, यह भाव है ॥ ७ ॥

इसका जब यथार्थरूपमें परिज्ञान हो जाता है तब यह केवल चिदाकाश-मात्र है। जब आप सरीखे अज्ञानियोंसे ज्ञात होता है तब यह 'जगत्' दृश्य है। अतः न तो यह सत् है और न असत् है इसे क्या कहा जाय ? ॥ ८ ॥

हे तत्त्वज्ञ लोगो, संसार चिदाकाशका विकासमात्र है, अतः सर्वतः (सब प्रकारसे) सत्य शिव सुन्दरमें आस्था, अनास्था आदि (आदर, निरादर आदि) क्या ? आप लोग यथास्थित स्वरूपका अवलम्बन कर स्थित रहें ॥ ९ ॥

जैसे सागरसे वीचियाँ अपने आप उठती हैं, वैसे ही देदीप्यमान सच्चिदानन्द आत्मासे कार्यकारण दृष्टिसे प्रतिभानात्मक स्वात्मभूत पदार्थ उदित होते हैं ॥ १० ॥

चिदाकाशका स्वसंकल्प-सा और स्वसृष्टि-सा जो अति विशाल प्रतिभान है उसीको उसने 'जगत्' समझा है। ऐसी स्थितिमें यहाँपर पृथिवी आदि कौन हैं और कहाँसे आये ॥ ११ ॥

यह आभास ऐसे प्रतिभासित होता है और कुछ भी नहीं ही भासता है, ब्रह्ममें ही ब्रह्म स्थित है। अविद्या नामधारी जगत्का स्वतः भान होता है अन्य कारणसे उसका भान नहीं होता ॥ १२ ॥

घनता चिद्घनेनेह चिद्व्योमैवाऽखिलं जगत् ।
इत्येव परमो बोध एतत्प्रौढिस्तु मुक्तता ॥ १३ ॥
चिद्व्योमशून्यतारूपमात्रमाभास आततः ।
इदमप्रतिघं शान्तं जगदित्येव भासते ॥ १४ ॥
ध्यायिनः क्षीणदेहस्य ध्याने दृक्त्वे क्षणं स्थिते ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण शक्तत्वं स्यात्किमुच्यताम् ॥ १५ ॥
चिद्धातुव्योमभागो यो भाति यत्र यथा यथा ।
तथा तथा स तत्राऽऽस्ते यावदित्थं स्वभावतः ॥ १६ ॥
अविचारवतो दृश्यभ्रान्तिर्गगनमय्यपि ।
जातितैमिरिकद्वीन्दुदोषवन्नोपशाम्यति ॥ १७ ॥

यहाँ चिद्घनसे ही घनता है अन्य पृथिवी आदिसे घनता (निविड़ता) नहीं है । सारा जगत् चिदाकाश ही है । यही परमबोध है, इसका भूमिकाके अभ्याससे जो दृढीकार है वह मुक्ति है ॥ १३ ॥

शून्यताके (आकाशताके) रूपकी (नीलताकी) तरह स्थित अज्ञानका अवलम्बन कर भ्रम व्याप्त है । वास्तवमें यह निराकार शान्त चिदाकाश ही जगत्के रूपमें भासित होता है ॥ १४ ॥

यह सब ध्यान लगानेवाले विज्ञ पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'ध्यायिनः'** इत्यादिसे ।

निर्विकल्प समाधिकी प्रतिष्ठासे जिसका देहभान उच्छिन्न हो चुका ऐसे विज्ञ पुरुषके ध्यानमें साक्षिचिन्मात्ररूपके क्षणभर स्थित होनेपर जगद्दर्शन-सामर्थ्य क्या होगी ? कहिये इसलिए अज्ञानदृष्टिसे ही जगद्दर्शन-सामर्थ्य हो सकती है ॥१५॥

इससे ब्रह्मका ही अज्ञानी पुरुषके चित्तरूप उपाधिमें जगत्के रूपमें भान होता है अन्यत्र चिन्मात्ररूपसे ही भान होता है, ऐसी व्यवस्थासे कहते हैं—**'चिद्धातु०'** इत्यादिसे ।

जिस चिद्धातुके आकाशभागका यानी चिदाकाशांशका जहाँपर जैसे जैसे भान होता है वह वहाँपर वैसे वैसे मुक्ति पर्यन्त इस तरह बोध और अबोध स्वभावसे रहता है ॥ १६ ॥

यद्यपि यह दृश्यभ्रम आकाशमय (शून्य) है फिर भी जैसे जन्मतः

यदिदं दृश्यते किंचित्तद् ब्रह्मैव निरामयम् ।
चिदाकाशमनाद्यन्तं तत्कथं किं प्रशाम्यति ॥ १८ ॥
स्वप्नसन्त्यजतो रूपं स्वच्छसंवेदनात्मकम् ।
स्वप्नवत्कचनं स्वस्य यन्नाम तदिदं जगत् ॥ १९ ॥
शास्त्रार्थैस्तीक्ष्णया बुद्ध्या मिथो यन्नु विकल्पनैः ।
कृत्वा सुप्तमिवाऽऽत्मानं किंचिद् बुद्धेन बोध्यते ॥ २० ॥
रूढा येयमविद्येति संविदव्यभिचारिणी ।
भवतां ननु नाऽस्त्येव सा सरित्स्विव पांसुभूः ॥ २१ ॥
यथा स्वप्नेऽवनिर्नाऽस्ति स्वानुभूताऽपि कुत्रचित् ।
तथेयं दृश्यता नाऽस्ति स्वानुभूताऽप्यसन्मयी ॥ २२ ॥

तिमिर रोगसे पीड़ित नेत्रवाले व्यक्तिका आकाशमें एक चन्द्रमाके बदले दो चन्द्रमा दिखाई देना यह दोष शान्त नहीं होता वैसे ही अविचारवान् (अज्ञानी) पुरुषका यह भ्रम शान्त नहीं होता ॥ १७ ॥

ब्रह्मभावापन्न जगत्का तो विनाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं—**'यदिदम्'** इत्यादिसे ।

जो यह कुछ दिखाई देता है वह निर्दोष, आदि अन्त विहीन चिदाकाश ही है तो उसका क्यों और कैसे नाश होगा ॥ १८ ॥

अज्ञानदशामें भी जगत् स्वप्नवत् चित्का विवर्तमात्र ही है, ऐसा कहते हैं—**'स्वप्न'** इत्यादिसे ।

अपने स्वच्छ संकल्पमय रूपका परित्याग न कर रहे अपना जो स्वप्नके तुल्य विकास है वही यह जगत् है ॥ १९ ॥

वेदान्त आदि शास्त्रोंके निर्णयोंसे, तीक्ष्ण बुद्धिसे औरपरस्पर ऊहापोहसे—आत्माको सोया हुआ-सा बनाकर—प्रबुद्ध पुरुष द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह आत्मा है ॥ २० ॥

जो यह व्यभिचरित न होनेवाली संवित् अविद्या नामसे आप लोगोंमें प्रसिद्ध है वह नदियोंमें धूलिमय भूमिकी तरह हम लोगोंकी दृष्टिमें नहीं ही है ॥ २१ ॥

जैसे स्वयं भली भाँति अनुभूत होनेपर भी स्वप्नमें भूमिका अस्तित्व

चिद्व्योममात्रमेवाऽर्थोऽनलवद्भासते यथा ।
स्वप्ने तथैव जाग्रत्त्वेऽनलं स्वस्यैव लक्ष्यते ॥ २३ ॥
इदं जाग्रदयं स्वप्न इति नाऽस्त्येव भिन्नता ।
सत्ये वस्तुनि निःशेषसमयोर्याऽनुभूतितः ॥ २४ ॥
नैतदेवमिति स्वप्नप्रबोधात्प्रत्ययो यथा ।
मृत्वाऽमुत्र प्रबुद्धस्य जाग्रति प्रत्ययस्तथा ॥ २५ ॥
कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितीह धीः ।
वर्तमानानुभवनसाम्यात्तुल्ये तयोर्द्वयोः ॥ २६ ॥
बाह्ये तदेवमित्यादिगुणसाम्यादशेषतः ।
न जाग्रत्स्वप्नयोर्ज्यायानेकोऽपि यमयोरिव ॥ २७ ॥

नहीं ही है वैसे ही अपने द्वारा अनुभूत भी असन्मयी (मिथ्याभूत) यह दृश्यता नहीं है ॥ २२ ॥

जैसे स्वप्नमें रूप आदि अर्थकी तरह और रूपको प्रकाशित करनेवाले तेजकी तरह केवल चिदाकाश ही भासता है वैसे ही जाग्रत्में जाग्रत्के साक्षीका स्वप्रकाश ही पदार्थाकारसे दिखाई देता है ॥ २३ ॥

सत्य वस्तुमें (परमार्थ सत् वस्तुमें) 'यह स्वप्न है, यह जाग्रत् है' ऐसी जो भिन्नता भासती है अनुभवसे तुल्यस्वरूपवाले उनमें वह नहीं ही है ॥२४॥

जैसे प्रबोधसे (जागनेसे) स्वप्नकी प्रतीति 'यह ऐसी नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधित होती है वैसे ही परलोकमें (अन्य शरीरमें) प्रबुद्ध हुए, गर्भमें स्थित तथा पूर्व जन्मका स्मरण रखनेवाले पुरुषकी जाग्रत्में प्रसिद्ध प्रतीति भी 'यह ऐसी नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधित होती है ॥ २५ ॥

जब स्वप्न और जाग्रत् दोनों समान ही हैं तब लोगोंका उनमें असाम्य-प्रत्यय क्यों होता है ? इस प्रश्नपर कालकी अल्पता और अधिकतासे उनमें असाम्यप्रतीति होती है, अनुभवसे नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'कालम्'** इत्यादिसे।

यहाँ स्वप्न और जाग्रत् ऐसी बुद्धि क्रमशः स्वल्प समय और दीर्घ समय तक होती है उन दोनोंमें वर्त्तमान अनुभवमें साम्य है, अतः दोनों तुल्य हैं ॥ २६ ॥

जाग्रत् बाहरमें रहता है और स्वप्न अन्दर रहता है यह अन्तर

यदेव जाग्रत्स्वप्नोऽयं यः स्वप्नो जाग्रदेव तत् ।
नैतदेवं किलेत्यस्ति धीः कालेनोभयोरपि ॥ २८ ॥
आजीवितान्तं स्वप्नानां शतान्यनियतं तथा ।
अनिर्वाणमहाबोधे तथा जाग्रच्छतान्यपि ॥ २९ ॥
उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नाः स्मर्यन्ते बहवो यथा ।
तथैव बुद्धैः स्मर्यन्ते सिद्धैर्जन्मशतान्यपि ॥ ३० ॥
एवं समस्तसाधर्म्ये समस्तानुभवात्मनि ।
कचति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रद्वत्स्वप्नवेदनम् ॥ ३१ ॥
यथा दृश्यं जगच्चेति नित्यमेकार्थतां गतौ ।
उभौ शब्दौ तथैवैतज्जाग्रत्स्वप्नात्मकौ स्मृतौ ॥ ३२ ॥

भी दोनोंमें नहीं है, क्योंकि स्वप्न भी बाहरमें रहता है। अतः स्वप्न जाग्रत्‌के तुल्य ही है । सब वस्तुओंमें स्वप्न और जाग्रत् कालमें पूर्णरूपसे गुणसाम्यका अनुभव होता है, अतः स्वप्न और जाग्रत्‌में जुड़वें भाइयोंके समान कोई भी बड़ा नहीं है ॥२७॥

जो ही जाग्रत् है वही स्वप्न है और जो स्वप्न है वही जाग्रत् है, क्यों कि दोनोंमें कालान्तरमें 'यह ऐसा नहीं है यानी सत्य नहीं है' यों बाधबुद्धि तुल्य है ॥ २८ ॥

जैसे जीवनपर्यन्त सैकड़ों स्वप्न बिना किसी नियमके होते हैं वैसे ही निर्वाणको प्राप्त न हुए जीवके महा अज्ञानरूपी स्वप्नमें सैकड़ों जाग्रत् भी होते हैं ॥ २९ ॥

जैसे लोगोंको उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले अनेक स्वप्नोंका स्मरण होता है वैसे ही पूर्व जन्मकी स्मृति करानेवाले यौगिक चमत्कारसे सम्पन्न प्रबुद्ध जनोंको एक नहीं सैकड़ों जन्मोंका स्मरण होता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् दोनोंका पूर्णरूपसे साम्य होने और दोनोंके अनुभवरूप होनेपर यह सिद्ध हुआ कि स्वप्नके तुल्य ही जाग्रत्‌का स्फुरण है और जाग्रत्‌के तुल्य स्वप्नानुभवका स्फुरण है ॥ ३१ ॥

जैसे दृश्य और जगत्—दोनों ही नित्य एकार्थ हैं उनके अर्थमें जरा भी भेद नहीं है वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न—दोनों शब्द एकार्थवाले कहे गये हैं यानी दोनोंके अर्थमें रत्ती भर भी भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

एवं स्वप्नपुरं स्फारं यथा व्योमैव चिन्मयम् ।
तथैवेदं जगदतः काऽविद्या दृश्यते कुतः ॥ ३३ ॥
तदेवाऽऽकाशमात्रात्म यद्यविद्येति कथ्यते ।
तद्यदास्ते तदेवाऽहं बन्धः स्वकलनात्मकः ॥ ३४ ॥
तन्मैवं क्रियतामेतदबन्धस्यैव बन्धनम् ।
काऽन्यता अमलव्योम्नश्चिन्मयस्य निराकृतेः ॥ ३५ ॥
चिन्मयाकाशकचने काऽस्मिन्किल निराकृतेः ।
दृश्यनामन्यविद्याख्ये बन्धो मोक्षोऽथवा कुतः ॥ ३६ ॥

जाग्रत्में स्वप्न-समानताका प्रतिपादन करनेका मतलब दिखलाते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार जैसे विशालतम स्वप्ननगर चिन्मय आकाश ही है वैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी चिन्मयाकाश ही है, इसलिए अविद्या कहाँ है और उसका दर्शन ही कैसे हो सकता है ॥ ३३ ॥

यदि 'स हि स्वप्नो भूत्वा' इत्यादि श्रुतिमें जैसे स्वप्नशब्दसे ब्रह्म ही कहा जाता है वैसे ही अविद्या शब्दसे भी ब्रह्म ही कहा जाता है, तो शब्दमें हमें विवाद नहीं हैं किन्तु सकल भ्रमोंकी शान्ति होनेपर जो ही है वही मैं हूँ । पहले स्वकल्पनारूप ही बन्धभ्रान्ति रही, यही हमारा अभिमत अर्थ है वह सिद्ध हो गया, यह भाव है ॥ ३४ ॥

यदि ऐसा है तो नित्यमुक्त आत्मामें बन्धनभ्रान्ति ही नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'तद्'** इत्यादिसे ।

इसलिए इस प्रकार अबन्ध (बन्धनके अयोग्य) चिन्मयका यह बन्धन ही न कीजिये । निर्मल आकाश और निराकार चिन्मयमें कौनसा अन्तर है जिससे आकाश नहीं बाँधा जा सकता लेकिन चिदात्मा बाँधा जा सकता है ऐसा कहा जा सके । क्योंकि अमूर्तता, अलेपकता, सूक्ष्मता आदिसे दोनोंमें अत्यन्त समता है ॥ ३५ ॥

इस दृश्य नामधारी अविद्यासंज्ञक चिन्मयाकाशका स्फुरण होनेपर निराकार चिन्मयका बन्ध अथवा मोक्ष कहाँ और किससे होगा ? ॥ ३६ ॥

नाऽविद्या विद्यते नाम बन्धो बन्धो न कस्यचित् ।
मोक्षो न कस्यचिन्मोक्षश्चाऽस्ति नाऽस्तीति नाऽस्त्यलम् ॥३७॥
नाऽस्त्येव विद्याऽविद्या वा चिदेवेयं कचत्यजा ।
ख एव खाकृतिः स्वप्न इव सर्गस्वदेहिनी ॥ ३८ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
तज्जाग्रत्स्वप्नदृश्यस्य रूपमित्येव निश्चयः ॥ ३९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरे दृश्ये शान्तनिद्रस्य यद्वपुः ।
एकस्य निशि तद्रूपं जाग्रत्स्वप्नदृशामिह ॥ ४० ॥
विद्धि तद्रूपमेवेदं भेदवेदनमित्यपि ।
चित्यन्तमागतः कोऽन्यो नाम स्याद्भेदभेदने ॥ ४१ ॥
चिद्व्योमैवाऽभेदबुद्धिश्चिद्व्योमैव च भेदधीः ।
द्वैताद्वैते चैकमेव तथा शान्तमखण्डितम् ॥ ४२ ॥

जब अविद्या नहीं है तब किसीका बन्धन बन्धन नहीं है और किसीका मोक्ष भी मोक्ष नहीं है। क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त 'है' 'नहीं है' यों व्यवहारके योग्य वस्तु ही अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ३७ ॥

विद्या अथवा अविद्याका अस्तित्व नहीं ही है। यह आकाशाकृति अज चित् ही स्वप्नकी तरह सर्गाकार स्वदेहवाली होकर स्फुरित होती है ॥ ३८ ॥

एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशकी प्राप्ति होनेपर मध्यमें निर्विषय जो संवित्का स्वरूप प्रसिद्ध है वही स्वप्न और जाग्रत्में प्रसिद्ध दृश्यका परमार्थिक रूप है, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये ॥ ३९ ॥

बाह्य दृश्यमें और आभ्यन्तर दृश्यमें इन्द्रिय, मन, उनके विकार आदिमें प्रकाश करनेके लिए सदा जागरूक अद्वितीय स्वयंज्योति आत्माका जो स्वरूप है वही जाग्रत् और स्वप्नके पदार्थोंका तात्त्विक रूप है ॥ ४० ॥

इसीलिए जाग्रत् और स्वप्नके भेदकी प्रतीतिकी कल्पनाको भी उन दोनोंके साक्षीरूप ही आप जानिये न कि चिद्भेद, क्योंकि तीनों अवस्थाओंमें अनुगत साक्षिभूत चितिका अन्त दूसरे किसने देखा है जो कि चित्में भेद देखेगा ॥४१॥

चिदाकाश ही अभेदबुद्धि है और चिदाकाश ही भेदबुद्धि है ऐसा होनेपर द्वैत और दोनों ही अखण्ड शान्त एक ही हैं ॥ ४२ ॥

सदंशो बोधतद्ग्राह्यमय एव यथा तथा ।
द्रष्टा य एव दृश्यं तद्द्वैतवेदनमेककम् ॥ ४३ ॥
तद्ब्रह्म खं विदुर्द्वैतमद्वैताद्वैतमेव च ।
सर्ग एव परं ब्रह्म द्वैतमद्वैतमेव सत् ॥ ४४ ॥
नेति नेति विनिर्णीय सर्वतोऽभिभवत्यपि ।
पश्चात्त्यक्त्वा चिदाकाशे शिलां कृत्वाऽऽस्यतामिह ॥४५॥
यथाक्रमं सुभग यथास्थितिस्थिति
यथोदयं व्रज पिब भुंक्ष्व भोजय ।
अभीप्सितं गतमननो निरिङ्गनः
सुचिन्मये परमपदोपलो भवान् ॥ ४६ ॥

जैसे ब्रह्मके सत्, चित् और आनन्द रूप अंशोंमें सत् अंश बोधमय और बोधसे (ज्ञानसे) ग्राह्यमय—दोनोंमें अभिन्न है वैसे ही द्वैत और द्वैतज्ञान–दोनों एक ही हैं, इसलिए चिदंश भी अभिन्न है । क्योंकि जो ही दृष्ट हैं यानी दृष्टियोंके विषयीकृत हैं वे ही 'दृश्य' कहे जाते हैं। कोई भी चित्तादात्म्यसे अतिरिक्त विषयविषयिभावका निरूपण नहीं कर सकता ॥ ४३ ॥

एक सद् वस्तुका ही सकल द्वैतरूपसे (सर्गरूपसे) जब प्रतिभास है तब ब्रह्म ही द्वैत-अद्वैत और अद्वैताभिन्न भी है, उससे अतिरिक्त कुछ भी सिद्ध नहीं होता, यह भाव है ॥ ४४ ॥

तो क्या ब्रह्मको द्वैत-अद्वैतसमुच्चयरूप ही समझना चाहिये ? इस प्रश्नपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'नेति'** इत्यादिसे ।

पहले सर्गरूप ही परम ब्रह्म द्वैत और अद्वैत है यों मूर्तामूर्त प्रपञ्चकी ब्रह्म-रूपताका निर्णय कर पीछे 'नेति नेति' श्रुतिवाक्यसे सकल द्वैतके निषेध द्वारा चारों ओरसे सकल द्वैतका त्याग कर चौगिर्दसे आविर्भूत इस प्रत्यगात्मरूप चिदाकाशमें उत्तरोत्तर भूमिकाके अभ्याससे सैन्धव घनके समान आनन्दैकरसघन शिला बनाकर आप स्थित होइये ॥ ४५ ॥

हे सुभग, इस प्रकार सुचिन्मय ब्रह्ममें परमपदरूप शिला बने हुए निश्चिन्त और निष्क्रिय हुए आप क्रमशः अपने वर्ण और आश्रमके धर्मोंका

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अ० वि० श० निर्वाणवर्णनं नामैकषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिद्व्योमार्थतयाऽर्थानां यथास्थितमिदं जगत् ।
सरूपालोकमननमपि चिद्व्योम केवलम् ॥ १ ॥
स्वप्नचित्पुररूपत्वादन्यद्यस्मान्न विद्यते ।
जगत्तस्मान्नभः शान्तं नेह नानाऽस्ति किंचन ॥ २ ॥

उल्लंघन किये विना और लोकमर्यादाका उल्लंघन किये बिना अपने वित्तानुसार अभीष्ट देशमें जाइये, पीजिये, खाइये और अपने इष्टमित्रोंको खिलाइये ॥ ४६ ॥

एक सौ एकसठ सर्ग समाप्त

एक सौ बासठ सर्ग

[समस्त द्वैतके ब्रह्ममात्रत्व वर्णन द्वारा अविद्याका निराकरण करना]

सकल दृश्यका चिदाकाशके लिए ही स्फुरण होता है, इसलिए भी चिन्मात्रका परिशेष है, ऐसा कहते हैं—'**चिद्व्योम०**' इत्यादिसे ।

सकल पदार्थ चिदाकाशके भोगके लिए हैं अतएव जैसे गाय आदिके उपभोग्य तृण आदि गाय आदिरूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं वैसे ही बाहरी रूपालोक और आभ्यन्तरमननके साथ बाह्य और आभ्यन्तर यथास्थित यह जगत् केवल चिदाकाशरूपसे ही अवशिष्ट रहता है ॥ १ ॥

चिद्के भोग्यकी चिन्मात्रशेषता किस दृष्टान्तसे आप सिद्ध करते हैं ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर कहते हैं—'**स्वप्न०**' इत्यादिसे ।

चूँकि स्वप्नमें नगरका भोग करनेवाली चितिके ही पुररूप होनेसे चितिसे अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए जाग्रत्-जगत् भी आकाशकी तरह शान्त है । यहाँपर नाना (भेद) कुछ भी नहीं है ॥ २ ॥

चिदाभानमनानैव नानेव परिलक्ष्यते ।
अनात्मैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं स्वप्नाकाशपुरेष्विव ॥ ३ ॥
सर्गादाविव चिद्व्योम स्वप्नाकाशपुरं जगत् ।
आभातमेवाऽसत्यं च नूनं सत्यमिव स्थितम् ॥ ४ ॥
तज्ज्ञाज्ञातो न मूर्खाणामज्ञाज्ञातो न तद्विदाम् ।
विद्यते सर्गशब्दार्थः सत्यासत्यमयात्मकः ॥ ५ ॥

यदि नाना (द्वैत) नहीं है तो जो नाना-सा मालूम पड़ता है वह क्या है ? इसपर कहते हैं—**'चिदाभानम्'** इत्यादिसे ।

चित्‌का चारों ओर भान अनाना होता हुआ ही नाना-सा मालूम होता है । जो नाना है वह—जैसे स्वप्ननगरों और गन्धर्वनगरोंमें पदार्थ निस्स्वरूप ही है पर वह स्वसाक्षी आत्मासे अपनेको दर्शाता है वैसे ही—निस्स्वरूप है यानी उसका कोई स्वरूप नहीं है वह स्वसाक्षी आत्मासे अपनेको दर्शाता है ॥ ३ ॥

उसकी समताको ही और अधिक स्पष्ट करते हैं—**'सर्गादा०'** इत्यादिसे ।

सृष्टिके पूर्वकी (प्रलयकालकी) तरह इस समय भी चिदाकाशरूप जगत्‌का स्वप्ननगर और गन्धर्वनगरके समान भान ही हुआ है और उसी तरह वह असत्य भी है इसलिए स्वप्ननगर और गन्धर्वनगरके पदार्थसे उसकी समता है, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

चन्द्रमाकी प्रादेशिकता यानी चन्द्रमा केवल बित्ताभर है यह जैसे चन्द्रमण्डलके विस्तारको जाननेवालोंके अनुभवसे मेल न खानेके कारण असत् है वैसे ही ज्ञानियोंके अनुभवसे विरुद्ध होनेके कारण भी जगत् असत् है, ऐसा कहते हैं—**'तज्ज्ञा०'** इत्यादिसे ।

सत्य-असत्यमय सर्ग (सृष्टि) तत्त्वज्ञानियों द्वारा जैसा ज्ञात है वह मूर्खोंकी दृष्टिमें असत् है एवं मूर्खों द्वारा जैसा ज्ञात है वह तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें असत् है । अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिये—मूर्खों और तत्त्वज्ञानियोंके अनुभवका अनुसरण कर प्रपञ्चकी व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि उन दोनोंमें परस्पर विसंवाद होनेसे—जमीन आसमानका सा वैमत्य होनेसे—इन दोनोंको ही वह अज्ञात है ॥ ५ ॥

तज्ज्ञाज्ञयोस्तयोरन्तः प्रतिपत्तौ तु यत्स्थितम् ।
न बोद्धुं न च वक्तुं ते जानीतस्तौ परस्परम् ॥ ६ ॥
स्वबुद्धौ स्वर्गशब्दार्थो मिथोऽन्तस्तत्किलाऽनयोः ।
स्थैर्यास्थैर्ये जाग्रतो द्वे अक्षीबक्षीबयोरिव ॥ ७ ॥
द्रवस्थितिमिता यद्वत्सरिद्वारिणि वीचयः ।
चितौ स्थितिमितास्तद्वच्चेतनात्सर्गवीचयः ॥ ८ ॥
चिद्रूपं यन्न किंचित्तदिदं किंचिदवस्थितम् ।
भाति दृश्यमिवाऽदृश्यमपि स्वप्नपुरेष्विव ॥ ९ ॥

ऐसा कैसे ? ऐसा कोई कहे तो इसपर कहते हैं—'तज्ज्ञा०' इत्यादिसे ।

चूँकि तत्त्वज्ञानी केवल अन्तर्दृष्टि हैं और अज्ञानी केवल बाह्यदृष्टि हैं, अतएव उन दोनोंकी बुद्धिवृत्तिमें स्थित प्रपञ्चस्वरूपको ये दोनों स्वयं समझने तथा तुमको अथवा आपसमें एक दूसरेको समझानेके लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥ ६ ॥

उक्त अर्थका ही उपपादन करते हैं—'स्वबुद्धौ' इत्यादिसे ।

सर्ग शब्दका अर्थ जैसा स्वस्वबुद्धिमें स्थित होता है वैसा ही स्फुरित होता है उससे अन्य नहीं, यह निर्विवाद बात है । उसमें पागल और भले चंगे स्वस्थ मस्तिष्कवालेकी तरह भ्रान्त और अभ्रान्तरूप इनके परस्परके तत्-तत् प्रपञ्चका रूप आन्तरबुद्धिमें स्थित होनेके कारण अन्तःस्थ है । विद्वान्‌की बुद्धि सदा स्थिरतामें जाग्रत् रहती है इसलिए वह स्थिर आत्मतत्त्वको देखता है और अविद्वान्‌की बुद्धि अस्थिरतामें जागरूक रहती है इसलिए वह अस्थिर बाह्यको ही देखता है । बुद्धिगत प्रपञ्चस्वरूप न तो अत्यन्त आन्तर है और न अत्यन्त बाह्य है, इसलिए दोनोंको ही उसका ठीक परिज्ञान नहीं है, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

जब भ्रान्त और अभ्रान्त दोनोंसे प्रपञ्चका दीखना संभव नहीं है, तो प्रपञ्चका अस्तित्व कैसे प्राप्त हुआ ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'द्रव०' इत्यादिसे ।

जैसे तरङ्गें नदीके जलमें जलद्रवके रूपसे स्थित होती हैं वैसे ही सृष्टिरूपी तरङ्गें अज्ञात चित् स्वभावका ही अवलम्बन कर आत्मसत्तासे ही चित्‌में स्थितिको प्राप्त हुई हैं ॥ ८ ॥

जो केवल चिच्चमत्काररूप है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वही जगत्‌के

चिच्छायेयं प्रकचति जगदित्यभिशब्दिता ।
नन्वमूर्तैव मूर्तेव द्रव्यच्छायेव वै तता ॥ १० ॥
कायमात्रकमेवेदं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ।
पिशाचविभ्रमालोकप्रायमायासनं दृढम् ॥ ११ ॥
मनोराज्यमिवाऽसत्यं लोलं लम्बाम्बुबिन्दुवत् ।
द्वाभ्यामित्यनुभूतिभ्यां यदसत्तत्र काऽऽत्मता ॥ १२ ॥
विदार्यदारूववत्तरङ्गानिलशब्दवत् ।
खे शब्दाः पवनस्फोटा भान्त्यर्था वासनोदयाः ॥ १३ ॥

रूपसे स्थित है जैसे स्वप्ननगरोंमें अदृश्य भी वस्तुजात दृश्य-सा प्रतीत होता है वैसे ही यह भी अदृश्य होता हुआ ही दृश्य-सा मालूम होता है ॥ ९ ॥

यह चित्‌की प्रभा ही जगत् नामसे स्फुरित होती है यह अमूर्त (निराकार) होती हुई ही दर्पणमें घट, पट आदि पदार्थोंकी छायाके समान मूर्तिमती-सी होकर व्याप्त है ॥ १० ॥

देहमें आत्मभ्रान्ति ही सब दुःखोंका मूल है, ऐसा कहते हैं—**'काय०'** इत्यादिसे ।

यह केवल तुच्छ शरीर एकमात्र भ्रान्तिरूप असत्यमय है । पिशाचभ्रम-दर्शनकी भाँति यह अत्यन्त दुःखदायक है ॥ ११ ॥

जो मनोराज्यकी तरह असत्य है, जो पत्तोंके छोरपर लटक रहे जल-बिन्दुकी तरह चञ्चल (क्षणभंगुर) है और पूर्वोक्त विद्वान् और अविद्वानोंकी अनुभूति द्वारा भी विचारा जा रहा जो असत् है उसमें आत्मताका प्रसङ्ग क्या यानी उसमें कदापि आत्मताका संभव नहीं है ॥ १२ ॥

तब मैं राम हूँ, आप वसिष्ठजी हैं इत्यादि देहात्मव्यवहार, शब्द और अर्थ कैसे हैं ? इस संशयपर कहते हैं—**'विदार्य०'** इत्यादिसे ।

जैसे पृथिवीमें मोटा बाँसका डंडा चीरनेपर उसके अन्दर पहलेसे स्थित शब्द बाहर निकलता हुआ-सा मालूम पड़ता है किन्तु उसके अन्दर शब्द न तो था और न निकला वैसे ही जलमें तरङ्गोंसे, अग्निमें ज्वाला आदिसे, आकाशमें प्रतिध्वनि शब्द और वायुसे कण्ठ, तालु आदि प्रदेशोंमें वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट निकले हुएसे मालूम पड़ते हैं लेकिन वे उनके अन्दर पहलेसे नहीं हैं

सर्गादितः स्वपरिभा कचति स्वप्नशैलवत् ।
वस्तुतस्तु न शब्दोऽस्ति नाऽर्थोऽस्ति न च दृश्यता ॥ १४ ॥
यदिदं चाऽस्ति चाऽऽभाति तत्सर्वं परमार्थसत् ।
अन्यादृक्कारणाभावात्सर्गादावेव नोदितम् ॥ १५ ॥
निरस्तशब्दभेदार्थमनिरस्ताखिलार्थकम् ।
शाम्यामि परिनिर्वामि व्योमैवाऽस्मीति बुद्ध्यताम् ॥ १६ ॥
त्यज्यतामात्मविश्रान्त्या शुद्धबोधैकरूपया ।
जीवेऽजवं जवीभावस्त्वसदुत्थित आत्मना ॥ १७ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्माऽऽत्मना न चेत् त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १८ ॥

वैसे ही वासनामय पदार्थ भी अग्निसे चिनगारियोंकी तरह जाग्रत् और स्वप्नमें आत्मासे निकले हुएसे प्रतीत होते हैं लेकिन वे उसमें हैं नहीं ॥ १३ ॥

सृष्टिके आरम्भसे स्वात्मचित् ही स्वप्नके पर्वतके समान स्फुरित होती है वास्तवमें तो न शब्द है, न अर्थ है और न दृश्यता ही है ॥ १४ ॥

जो यह है और जो भासित होता है वह सब परमार्थ सत् ही है। सत्से अतिरिक्त रूप तो सृष्टिके आदिमें ही, कारणका अभाव होनेसे, उत्पन्न ही नहीं हुआ ॥ १५ ॥

इसलिए सदा ही एकरूप चिदाकाश ही मैं हूँ यों अपनेको आप परम-शान्त निर्वृतिरूप जानिये ऐसा कहते हैं—**'निरस्त०'** इत्यादिसे ।

शब्दभेदार्थ विहीन अखिलार्थमय चिदाकाशस्वरूप मैं परमशान्तिको प्राप्त होता हूँ परम निर्वाणको प्राप्त होता हूँ, ऐसा आप जानिये ॥ १६ ॥

एकमात्र शुद्ध बोधरूप आत्मविश्रान्ति द्वारा जीवमें प्रसिद्ध मनोविक्षेपका, जो अपने आप मिथ्या ही उदित हुआ है, त्याग कीजिये ॥ १७ ॥

अतएव आत्मविचारसे अपना उद्धार कीजिये, ऐसा कहते हैं— **'आत्मैव'** इत्यादिसे ।

निस्सन्देह जीव आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना रिपु हैं। अपनेसे अपनी रक्षा न की गई तो फिर उसकी रक्षाका दूसरा उपाय नहीं है ॥ १८ ॥

तर तारुण्यमस्तीदं यावत्ते तावदम्बुधेः ।
ननु संसारनाम्नोऽस्माद् बुद्धया नावा विशुद्धया ॥ १९ ॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन्किं करिष्यसि ।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥ २० ॥
शैशवं वार्धकं ज्ञेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च ।
तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत् ॥ २१ ॥
संसारमिममासाद्य विद्युत्संपातचञ्चलम् ।
सच्छास्त्रसाधुसम्पर्कैः कर्दमात् सारमुद्धरेत् ॥ २२ ॥
अहो बत नराः क्रूरा गतिः कैषां भविष्यति ।
कुर्वन्ति कर्दमोन्मग्ने नाऽऽत्मन्यपि निजोदयम् ॥ २३ ॥
यथा मृन्मयवेतालसभा ग्राम्यस्य भङ्गदा ।
यथाभूतार्थविज्ञानान्मृन्मय्येव न भङ्गदा ॥ २४ ॥

जबतक आपकी यह तरुणाई है तभी तक विशुद्ध बुद्धिरूपी नावसे इस संसार नामक सागरके परले पार चले जाइए । जो कल्याण है उसे आज ही कर डालिए । वृद्ध होकर क्या करेंगे ? बुढ़ापा आनेपर अपने अङ्ग भी भारभूत हो जाते हैं यानी अपने अङ्ग भी नहीं सँभाले जाते हैं ॥ १९,२० ॥

शैशव (बाल्यावस्था) और वृद्धताको आप क्रमशः पशुताकी भाँति ज्ञानकी असाधक और मृत्युरूप ही समझिए । यदि विवेकसम्पन्न हो तो यौवन ही जीवन है यदि यौवन अविवेकपूर्ण रहा तो वह पशुतासे भी गया गुजरा है ॥ २१ ॥

बिजलीके कौंधनेके समान चञ्चल इस संसारको पाकर सत् शास्त्रोंके अभ्यास और सज्जनसंगति द्वारा अज्ञानरूपी कीचड़से आत्माका उद्धार करना चाहिये ॥ २२ ॥

ओह ! खेद है, मनुष्योंकी निठुरताका कोई ठिकाना नहीं है । जो स्वयं कीचड़में गलेतक मग्न होनेपर भी शास्त्रप्रतिपादित उपायोंसे अपने उद्धारका उपाय नहीं करते उन बेचारोंकी कौनसी गति होगी ॥ २३ ॥

जैसे मिट्टीके बने हुए वेतालोंकी (पिशाचोंकी) सभा ग्रामीण पुरुषको, जो ये मिट्टीके बने हैं यह नहीं जानता किन्तु असली बेतालोंकी सभा मैंने देखी

तथा ब्रह्ममयी दृश्यलक्ष्मीरज्ञस्य भङ्गदा ।
यथाभूतार्थविज्ञाने ब्रह्मैवाऽऽस्ते न भङ्गदा ॥ २५ ॥
शाम्यत्यशान्तमेवेदं स्थितमेव विलीयते ।
दृश्यं तत्त्वपरिज्ञानाद् दृश्यमानं न दृश्यते ॥ २६ ॥
स्फुटानुभवनस्याऽपि स्वप्नकाले निजे यथा ।
परिज्ञानादसत्यत्वमेव सत्यपदं गता ॥ २७ ॥
तथाऽनुभूयमानाऽपि सर्गसंवेदनाऽम्बरे ।
चिन्मये तत्त्वविज्ञानाच्छून्यतैवाऽवशिष्यते ॥ २८ ॥
जातिज्वरज्वलितजीवितजङ्गलेषु
जीर्णानि वातहरिणाहरणक्रमेण ।

यों भ्रान्त है, भय, ज्वर आदि दुःखदायक होती हैं और जिसकी दृष्टिमें यह मिट्टीके वेतालोंकी सभा है यों यथार्थज्ञानसे वेतालसभा मिट्टीकी ही होती है उसे भय, ज्वर आदि दुःख नहीं होते वैसे ही ब्रह्ममयी यह दृश्यशोभा अज्ञानीको, जो इसे ब्रह्ममय नहीं देखता है, भय, क्लेश आदि देती है। यह दृश्य ब्रह्म ही है, यों यथार्थ विज्ञान होनेपर यह भय, क्लेश आदि नहीं देती ॥ २४,२५ ॥

यह दृश्य यथार्थज्ञान होनेपर कोई क्लेश आदि क्यों नहीं देता ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'शाम्यति'** इत्यादिसे ।

यह दृश्य यथार्थज्ञान होनेसे अशान्त होता ही शान्त हो जाता है, स्थित होता ही विलीन हो जाता है और दिखाई देता हुआ भी नहीं दिखाई देता ॥ २६ ॥

यदि कोई कहे कि स्फुट अनुभव होनेके कारण सत्यताको प्राप्त हुए जगत्‌की ज्ञानमात्रसे कैसे असत्त्वापत्ति हो सकती है ? इसपर कहते हैं— **'स्फुटा०'** इत्यादिसे ।

जैसे अपने स्वप्नसमयमें स्फुटरूपसे अनुभवमें आया हुआ भी स्वाप्न जगत् प्रबोधसे (जागनेसे) असत्य ही हो जाता है वैसे ही चिदाकाशमें अनुभूयमान भी यह सर्गसंवित् तत्त्वज्ञानसे केवल शून्य ही रह जाती है॥ २७,२८ ॥

वह तत्त्वज्ञान मनके साथ इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना नहीं प्राप्त हो

माद्यन्मनःपवनपातयुतान्यमूनि
जित्वेन्द्रियाणि जयमेहि जहीहि जन्म ॥ २९ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि०
अविद्यानिरसनो नाम द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६२ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

विनेन्द्रियजयेनेदं नाऽज्ञत्वमुपशाम्यति ।
तदिन्द्रियाणि जीयन्ते कथं कथय मे मुने ॥ १ ॥

सकता, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—'जाति०' इत्यादिसे ।

जन्मके ज्वररूप काम, क्रोध आदि वनाग्निसे जले हुए जीवनरूप जङ्गलोंमें मृगोंके सदृश कभी तृण, पत्ते आदि इष्टका लाभ होने और कभी इष्टका लाभ न होनेसे शिथिल हुए मतवाले मन और प्राणवायुके बाहर संचरणसे युक्त इन इन्द्रियोंको जीतकर ज्ञान द्वारा अविद्यापर विजय प्राप्त कीजिये । अविद्यापर विजय द्वारा मुक्ति पाकर पुनर्जन्मका निवारण कीजिये ॥ २९ ॥

एक सौ बासठ सर्ग समाप्त

एक सौ तिरसठ सर्ग

[इन्द्रियोंपर विजयप्राप्तिका उपाय तथा अद्वितीय चित्में चित्तावरोध और शास्त्राभ्यास—इन बोधहेतुओंका वर्णन]

'इन्द्रियोंको जीतकर ज्ञान द्वारा अविद्यापर विजय प्राप्त कीजिये और पुनर्जन्मका निवारण कीजिये' यों इन्द्रियजयकी आवश्यकता जो श्रीवसिष्ठजीने बतलाई है उसका श्रीरामचन्द्रजी उपाय पूछते हैं—'विना' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना यह अज्ञानिता नष्ट नहीं हो सकती है, इसलिए कृपया बतलाइये कि इन्द्रियोंपर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

न च प्रभूतभोगेषु न पुंस्त्वे न च जीविते ।
न चेन्द्रियजयोन्मुक्तौ दीपस्तनुदृशो यथा ॥ २ ॥
तदिन्द्रियजये युक्तिमिमामविकलां शृणु ।
सिद्धिमेति स्वयत्नेन सुखेन तनुरेतया ॥ ३ ॥
चिन्मात्रं पुरुषं विद्धि चेतनाज्जीवनामकम् ।
यच्चेतति स जीवोऽन्तस्तन्मयो भवति क्षणात् ॥ ४ ॥
संवित्प्रयत्नसंबोधनिशिताङ्कुशकर्षणैः ।
मनोमतङ्गजं मत्तं जित्वा जयति नाऽन्यथा ॥ ५ ॥

आपने बहुत उचित प्रश्न किया यों श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका अनुमोदन कर रहे श्रीवसिष्ठजी राम-प्रश्नको पुष्ट करते हैं—'**न च**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स, मन्द नेत्रज्योतिवाले पुरुषके सामने दीप भले ही जलता हो पर वह उसके सूक्ष्म पदार्थनिरीक्षणमें उपयोगी नहीं होता, क्योंकि नेत्रज्योति होनेपर ही दीपक उपयोगी होता है वैसे ही प्रचुर भोगोंमें आसक्त हुए, अपने पुरुषार्थका उत्कर्ष बढ़ानेमें संलग्न तथा जीवनके उपायभूत धनदौलतके उपार्जनमें दत्तचित्त पुरुषके शास्त्र आदि साधन ब्रह्मसाक्षात्कारमें उपयोगी नहीं होते उसी तरह इन्द्रियोंपर विजय न की जाय, तो भी वे उपयोगी नहीं होते ॥ २ ॥

इसलिए इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेकी अति आवश्यकता है । इन्द्रिय-जयमें उपयुक्त इस युक्तिको आप आद्योपान्त सुनिये । मुझसे आगे कही जानेवाली इस युक्तिसे थोड़ी भी साधनसम्पत्ति स्वयत्नसे मोक्षफलरूप सिद्धिको प्राप्त होती है ॥३॥

चिन्मात्र पुरुषको आप चित्तसे प्रापित अर्थका प्रकाशक होनेसे यानी चित्तके अधीन होनेके कारण जीवनायक जानिये । वह जीव अपने अन्दर जिसे चित्तवृत्तिसे व्याप्तकर प्रख्यात करता है क्षणमें तन्मय हो जाता है यानी उसमें आसक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

ऐसी परिस्थितिमें चित्तके प्रत्याहार प्रयत्नसे अन्दर आकर्षण द्वारा बाह्या-कारताका निरोधकर ब्रह्माकारताके प्रबोधनका अभ्यास करनेपर पंगु बनी हुई इन्द्रियाँ स्वतः जीती जा सकती हैं, ऐसी युक्ति कहते हैं—'**संवित्**' इत्यादिसे ।

चित्तके प्रत्याहार प्रयत्न द्वारा अन्तरुन्मुख करनेसे ब्रह्माकारताबोधनरूप

चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥ ६ ॥
संविदं संविदाकाशे संरोप्य हृदि तिष्ठतः ।
स्वयमेव मनः शाम्येन्नीहार इव शारदः ॥ ७ ॥
स्वसंविद्यत्नसंरोधाद्यथा चेतः प्रशाम्यति ।
न तथाऽङ्ग तपस्तीर्थविद्यायज्ञक्रियागणैः ॥ ८ ॥
यच्च संवेद्यते किंचित्तत्संविदि संविदा ।
नूनं विस्मार्यते यत्नाद्भोगानामिति तज्जयः ॥ ९ ॥
स्वसंवेदनयत्नेन विषयामिषतोऽनिशम् ।
किंचित्संरोधिता संवित्तत्प्राप्तं वैबुधं पदम् ॥ १० ॥

चोखे अंकुशोंके आघातोंसे मदोन्मत्त मनरूपी मातङ्गको जीतकर ही जीव इन्द्रियोंपर विजय पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ५ ॥

चित्तको इन्द्रियसेनाका सेनापति कहते हैं यानी वह इन्द्रियोंका स्वामी-रूपसे संचालक और निरोधक है, इसलिए उसपर विजय पा लेनेसे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है। जिसके पैर चर्ममय जूते आदिसे सुरक्षित होते हैं उसके लिए सारी पृथ्वी चर्मावृत हो ही जाती है ॥ ६ ॥

तब मनकी शान्तिका कौन उपाय है ? इस शङ्कापर मनकी शान्तिका उपाय बतलाते हैं—'संविदम्' इत्यादिसे ।

चित्तावच्छिन्न संविद्रूप जीवको संविदाकाशमें (ब्रह्ममें) एक करके निज आत्मामें स्थित पुरुषका मन शरद ऋतुके कुहरेकी तरह अपने-आप शान्त हो जाता है ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी, पूर्ववर्णित जीवसंवित्का जतनके साथ ब्रह्ममें एकीकरणसे जैसा चित्त शान्त होता है वैसा शान्त तपस्या, तीर्थसेवन, विद्या, यज्ञानुष्ठान आदिसे नहीं होता ॥ ८ ॥

जिस जिसका बलात् स्मरण होता है उस उसका अधिष्ठान ब्रह्मसंवित्में प्रविलापन संवित्से (एकीकरण संवित्से) निश्चय विस्मरण किया जा सकता है यानी उसके संस्कारोंके उच्छेदसे पुनः स्मरणके अयोग्य किया जाता है। उक्त उपायसे भोगहेतु विषयोंपर विजय प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

निरन्तर अभ्यासरूप प्रयत्नसे यदि चित्तवृत्ति विषयरूपी मांससे ब्रह्ममें

स्वधर्मव्यवहारेण यदायाति तदेव मे ।
रोचते नाऽन्यदित्येव पदे वज्रदृढीभव ॥ ११ ॥
संवित्प्रवृत्तिमर्थेषु विरुद्धेषु विवर्जयन् ।
अर्जयञ्छमसंतोषौ यः स्थितः स जितेन्द्रियः ॥ १२ ॥
संविद्रसिकतास्वन्तस्तथा नीरसतासु च ।
यस्य नोद्वेगमायाति मनस्तस्योपशाम्यति ॥ १३ ॥
संवित्प्रयत्नसंरोधान्मनः स्वायनमुज्झति ।
चेतश्चपलतोन्मुक्तं विवेकमनुधावति ॥ १४ ॥
विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते ।
वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते ॥ १५ ॥

कुछ संरोपित हो तो उस उपायसे तत्त्वज्ञानियोंका अनुभवसिद्ध स्वराज्यपद प्राप्त हुआ ही समझिये ॥ १० ॥

इसी प्रकार एकमात्र स्वधर्मनिष्ठताकी दृढ़ता भी वैराग्यसिद्धि द्वारा इन्द्रियजयकी हेतु होती है, ऐसा कहते हैं—'**स्वधर्म०**' इत्यादिसे ।

स्व-वर्णाश्रमधर्मके आचरण द्वारा जो पद प्राप्त होता है वही मुझे रुचता है उससे अन्य नहीं, उसी पदमें आप व्रजके समान दृढ़ होइये ॥ ११ ॥

स्वधर्मविरुद्ध देहयात्राहेतु अन्न आदिमें इच्छाका त्याग करता हुआ एवं शम और सन्तोषका उपार्जन करता हुआ जो स्थित रहता है वही विजितेन्द्रिय है ॥ १२ ॥

जिसका मन अन्दर संवित्में रसिकता और बाहर नीरसताके अभ्यासमें कभी निर्वेदको प्राप्त नहीं होता, ऊबता नहीं है, उसका मन शान्त होता है ॥१३॥

संवित्का प्रयत्नपूर्वक ब्रह्ममें आरोप करनेसे मन विषयोंके पीछे दौड़नेके दुर्व्यसनका त्याग कर देता है। वही मनकी चञ्चलता है। मन चञ्चलतासे छुटकारा पाकर विवेककी ओर अग्रसर होता है ॥ १४ ॥

विवेकवान् महाशय कहा जाता है। वह वासनारूपी तरङ्गोंके वेगसे संसारसागरमें क्लेश नहीं पाता ॥ १५ ॥

साधुसंपर्कसच्छास्त्रसमालोकनतोऽनिशम् ।
जितेन्द्रियो यथावस्तु जगत्सत्यं प्रपश्यति ॥ १६ ॥
सत्यावलोकनाच्छान्तिमेति संसारसंभ्रमः ।
मराविव जलज्ञानं मिथ्यापतनदुःखदम् ॥ १७ ॥
अचेत्यमेव चिन्मात्रमिदं जगदिति स्थितम् ।
इत्येव सत्यबोधस्य बन्धमोक्षदृशौ कुतः ॥ १८ ॥
अनाकारं यथा वारि क्षीणं वहति नो पुनः ।
अकारणं तथा दृश्यं ज्ञानच्छिन्नं न रोहति ॥ १९ ॥
वेदनं व्योममात्रं त्वमहमित्यादिरूपधृक् ।
वर्जयित्वैतदन्यत्स्यादहमित्यादिकं जगत् ॥ २० ॥
अविद्यामात्रमेवेदमहमित्यादिकं जगत् ।
चिद्व्योम्न्येव स्थितं शान्तं शून्यमात्रशरीरकम् ॥ २१ ॥

उदार पुरुष इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर निरन्तर साधु-सन्तोंकी संगति और सत् शास्त्रोंके अनुशीलनसे जगत्‌को सत्य ब्रह्ममात्र देखता है ॥१६॥

सत्य वस्तुके दर्शनसे मरुभूमिमें मिथ्यावस्तुओंमें धावनसे दुःखदायी जलज्ञानकी तरह संसारभ्रान्ति शान्त हो जाती है ॥ १७ ॥

चैत्यभिन्न चिन्मात्र ही इस जगत्‌रूपसे स्थित है इस प्रकारके सत्यबोधवालेकी (यथार्थज्ञानीकी) बन्ध-मोक्षदृष्टियाँ किससे होंगी ॥ १८ ॥

जैसे सूर्यकी गर्मीवश शोषण द्वारा क्षीण होकर अनाकार (अमूर्त) हुआ जल फिर बहता नहीं है वैसे ही अकारण (जिसका कोई कारण नहीं है) दृश्य तत्त्वज्ञानसे छिन्नमूल होकर फिर पनपता नहीं है ॥ १९ ॥

आकाशमात्रस्वरूपवाला वेदन ही अपनी अविद्यावश 'त्वम्' (तुम), 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूप धारण करता है, इसलिए अपनेमें अध्यस्त 'अहम्' इत्यादिरूप इस जगत्‌को ज्ञान द्वारा मिटाकर अध्यस्तसे भिन्न अधिष्ठानमात्र हो जाता है ॥२०॥

'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि जगत् अविद्यामात्र (भ्रममात्र) ही है। यह मिथ्या होनेके कारण स्वतः ही शान्त अतएव केवल शून्यमात्र शरीरवाला है, इसलिए चिदाकाशमें (अपने तात्त्विक रूपमें) ही स्थित है ॥ २१ ॥

इदं चिद्व्योम्नि चिच्छाया जगदित्येव भासते ।
शून्यशून्यैव चित्ताऽसौ शून्या चेत्येव निश्चयः ॥ २२ ॥
स्वप्नदर्शनदृष्टान्तः केन नामाऽत्र खण्ड्यते ।
असन्मयोऽनुभूतश्च स्वानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ २३ ॥
सोऽङ्ग संवित्तिमात्रात्मा यद्यद्राज्यं महीयते ।
न कर्तृ कर्म करणं रूपं तद्वज्जगच्चितेः ॥ २४ ॥
अकर्तृकर्मकरणमहं चिद्घनमात्रकम् ।
जगच्चेदमनिर्देश्यं स्वसंवेदनलक्षणम् ॥ २५ ॥
यथा स्वप्नेषु मरणमनुभूतं न विद्यते ।
मरौ जलेच्छाऽविद्येयं विद्यमाना न विद्यते ॥ २६ ॥

चिदाकाशमें चित्प्रभाका ही इस जगत्के रूपमें भान होता है। यह चित् जगत्रूपी शून्यसे शून्य भी शून्य ही है यह निश्चय (सिद्धान्त) है ॥ २२ ॥

अभयशून्यता कहाँ प्रसिद्ध है? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उसपर कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

यहाँपर स्वप्नदर्शन दृष्टान्तका कौन निवारण कर सकता है। 'स्वप्न असन्मय है' इससे स्वप्नमें शून्यता है 'स्वप्न अनुभूत होता है' इससे उसमें शून्यशून्यता भी है। अनुभूतकी असन्मयतामें भी स्वप्न ही दृष्टान्त है। कारण कि स्वप्न स्वानुभूत होनेपर भी असन्मय है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वप्नसंवेदनमात्रस्वरूपवाला चिदात्मा स्वप्नमें जो जो राज्यादि वैभव होकर प्रतिष्ठित होता है, वह सब चित्का ही रूप है क्योंकि वह रूप कर्ता, कर्म, करण आदि कारणोंसे निरपेक्ष है वैसे ही जाग्रत् जगत्को भी समझना चाहिये यानी वह भी कर्ता, कर्म आदि निरपेक्ष होनेसे चिद्रूप ही है ॥२४॥

जो जो कर्ता, कर्म, करण आदिसे निरपेक्ष होता है वह सब चिद्घनमात्ररूप मैं ही हूँ। सृष्टिके प्रारम्भमें इस जगत्के भी कर्ता, कर्म, करण आदिका निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा हम पहले उपपादन कर चुके हैं, इसलिए यह जगत् मेरा स्वप्रकाश आत्मरूप ही है ॥ २५ ॥

स्वप्नमें अपने मरनेकी तरह और मरुभूमिमें मृगतृष्णा नदीकी तरह प्रतीतिमें

चिद्व्योम्ना काचकच्यं स्वं सर्गादौ व्योम्नि चेतितम् ।
जगदित्येव निर्मूलं काकतालीयवत्स्वयम् ॥ २७ ॥
निर्मूलमेव भातीदमभातमपि भातवत् ।
तस्माद्यद्भासुरमिदं तत्तदेव पदं विदुः ॥ २८ ॥
जीवादिकचनं त्वत्र यद्भातीदं तदेव तत् ।
शून्यतैव भवेद् व्योम वार्येवाऽऽवर्तवृत्तयः ॥ २९ ॥
यथाऽवयविनो रूपमेकं सावयवं भवेत् ।
एकं जीवाद्यवयवं ब्रह्माऽनवयवं तथा ॥ ३० ॥
आभासमात्रं दृश्यात्म चिन्मात्रं शान्तमव्ययम् ।
स्थितमच्छं किमेतस्मिन्स्वभावे स्वे विचार्यते ॥ ३१ ॥

वश विद्यमान रहती हुई भी ज्ञानसे बाधित हुई अविद्या नहीं ही है, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नोंमें अनुभूत भी स्मरण मिथ्या है और जैसे मरुभूमिमें विद्यमान भी जलभ्रान्ति असत् है वैसे ही प्रतीतिवश विद्यमान भी यह अविद्या नहीं है ॥२६॥

चिदाकाशने सृष्टिके आरम्भमें अपने चाकचिक्यका (झलक या चमत्कारका) अपने स्वरूपमें संकल्प किया वही बिना कारणका जगत्के नामसे काकतालीयके समान स्थित है ॥ २७ ॥

यह जगत् अकारण ही स्फुरित होता है स्फुरणको प्राप्त न हुआ भी यह स्फुरित-सा प्रतीत होता है। चूँकि यह जगत् चित्प्रकाशसे देदीप्यमान होकर प्रख्यात हो रहा है इसलिए विद्वान् लोग इसे वही परम पद जानते हैं ॥ २८ ॥

इसमें जो यह जीव आदिका स्फुरण होता है। वह भी परमपद ही है क्योंकि शून्यता आकाश ही है और आवर्त, तरङ्ग, बुद्बुद आदि जल हैं ॥२९॥

अथवा अवयव-अवयवी-भावकी कल्पनाके द्वारा जीवादिकी ब्रह्मैकता समझनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे अवयवीका सावयव एक रूप होता है वैसे ही वास्तवमें निरवयव कल्पना द्वारा जीवादिरूप अवयवयुक्त ब्रह्म एक ही है ॥ ३० ॥

अथवा स्फटिक शिलाके अन्दर वन, पर्वत, नदी आदिके आभासकी तरह ब्रह्ममें जगत्का आभास है, यह समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'आभास०'** इत्यादिसे ।

नाऽऽद्यन्तमन्तःकलनाः काश्चित्सन्ति परे पदे ।
तद्रूपमेवाऽविद्येयं नाऽविद्या त्विह विद्यते ॥ ३२ ॥
जीवः स्वप्नाद् विशञ्जाग्रज्जाग्रतः स्वप्नमाविशन् ।
प्रबुद्धो वाऽस्त्वबुद्धोऽवाप्येकरूपतया स्थितः ॥ ३३ ॥
स्थिते सुषुप्ततुर्ये द्वे सदा स्वप्नेऽथ जाग्रति ।
जाग्रत्स्वप्नावेकमेव तुर्यं वेत्ति तु बुद्धधीः ॥ ३४ ॥
जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च सर्वं तुर्यं प्रबोधिनः ।
नाऽविद्या विद्यते तस्य द्वयस्थोऽप्येव सोऽद्वयः ॥ ३५ ॥
द्वैतमद्वैतमित्येतदहंत्वमिदमित्यपि ।
निरविद्यस्य कलना कुतः काऽप्यम्बरं कुतः ॥ ३६ ॥

आभासरूप दृश्य शान्त अविनाशी स्वच्छ चिन्मात्ररूपसे ही स्थित है। उसका स्वच्छता स्वभाव ही जगत्‌के रूपसे भासित होता है, इसलिए अपने स्वभावभूत इस दृश्यमें क्या विचार किया जाय यानी इसमें द्वैत या अद्वैतका विचार करना व्यर्थ है ॥ ३१ ॥

परमपदमें आदि अन्त और मध्यकी कोई कल्पनाएँ नहीं हैं। यह दृश्यरूपा अविद्या परमपदरूप ही है। अतः अविद्या नामका पृथक् पदार्थ यहाँ कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

स्वप्नसे जाग्रत्‌में प्रवेश करता हुआ और जाग्रत्‌से स्वप्नमें प्रवेश करता हुआ जीव प्रबुद्ध हो चाहे अप्रबुद्ध हो एक रूपसे स्थित है। प्रबोध और अप्रबोधावस्थामें केवल भानरूपसे ही वह स्थित है ॥ ३३ ॥

जाग्रत् और स्वप्नमें सुषुप्त (अज्ञानावृत आत्मा) और तुर्य (शुद्ध आत्मा) भ्रान्तिनिर्मित सर्पके अन्दर अज्ञानरज्जु और केवल रज्जुके तुल्य सदा स्थित है, किन्तु प्रबुद्ध पुरुष जाग्रत् और स्वप्नको एक तुर्य (शुद्ध आत्मा) ही जानता है ॥३४॥

तत्त्वज्ञानवान् पुरुषके लिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त सबकुछ तुर्य ही है। तत्त्वज्ञानीकी अविद्या नहीं है अतः वह द्वैतस्थ होनेपर भी अद्वय ही है ॥ ३५ ॥

यह द्वैत और अद्वैत तथा 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' यह ऐसी कोई भी कल्पना अविद्याविहीन पुरुषको कैसे हो सकती है, उससे शून्य भी कैसे ? ॥ ३६ ॥

द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसंदर्भविभ्रमैः ।
क्रीडन्त्यबुद्धाः शिशवो बोधवृद्धा हसन्ति तान् ॥ ३७ ॥
द्वैताद्वैतविवादेहा हृदयाकाशमञ्जरी ।
विनैतयेह नोदेति प्रबोधाकाशमार्जनम् ॥ ३८ ॥
सुहृद्भूत्वा विवादेन द्वैताद्वैतविचारणा ।
कृता हृदयगेहेऽन्तरविद्याभस्ममार्जनी ॥ ३९ ॥
तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ४० ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
जायते बुद्धियोगोऽसौ येन ते यान्ति तत्पदम् ॥ ४१ ॥

अप्रबुद्ध बालक द्वैत, अद्वैत आदि भेदोंसे युक्त वाक्यरचनाके विलासोंसे क्रीड़ा करते हैं, ज्ञानवृद्ध पुरुष उनको हँसते हैं ॥ ३७ ॥

तब ज्ञानी लोग भी शास्त्रोंमें द्वैताद्वैतविवादोंकी क्यों इच्छा करते हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'द्वैता०' इत्यादिसे ।

द्वैत और अद्वैतमें विवादकी इच्छा हृदयाकाशमें आरोपित शिष्यप्रबोधरूप फलवाली मञ्जरी है। उसके बिना यहाँ प्रबोधाकाशका संमार्जन नहीं होता है ॥३८॥

अतएव मैंने भी सुहृद्भावसे कल्पना द्वारा द्वैताद्वैतविचारणा की है। जब इसका कार्य सम्पन्न हो जायगा तब घरके झाड़ूके समान इसका त्याग कर दिया जायगा, ऐसा कहते हैं—'सुहृद्' इत्यादिसे ।

मैंने आप लोगोंका मित्र बनकर विवादसे द्वैत-अद्वैतका विचार किया है। यह हृयदरूपी घरके अन्दर अज्ञानरूपी भस्मका मार्जन करनेवाली (बुहारी) है ॥३९॥

अविद्यारूपी भस्मका संमार्जन होनेपर अधिकारी लोगोंका चित्त ब्रह्ममें रम जाता है, प्राण उसमें लीन हो जाते हैं यों वे ब्रह्मचित्त और ब्रह्मगतप्राण होकर आपसमें एक दूसरेको बोधित करते हुए और उसके स्वरूपका निरूपण करते हुए प्रसन्न होते हैं, प्रमुदित होते हैं ॥ ४० ॥

इस प्रकार भजन कर रहे और निरन्तर विचारमें निमग्न हुए उन अधिकारियोंका यह मेरे द्वारा उपदिष्ट बुद्धियोग (ज्ञानयोग) समय पाकर दृढ़ हो जाता है जिससे वे मेरे उस मोक्ष नामक पदको प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥

किलोपकुरुते यत्नात्तृणमात्रावगोपने ।
कथं सिध्यत्ययत्नेन त्रैलोक्यगणगोपनम् ।। ४२ ।।
अध्यात्मव्यसनोन्मुक्तं ततं हृत्स्थाऽधमाऽप्रभु ।
उपहासास्पदं यस्या जगदप्युत्तमस्थितेः ।। ४३ ।।
किं नामेदं किल सुखं यद्राज्यादिमनोऽङ्कुरम् ।
तत्त्वज्ञानैकविश्रान्तौ देवराजपदं तृणम् ।। ४४ ।।
सुप्ताः प्रबुद्धाः पश्यन्ति दृश्यं दृश्ये रता यथा ।
तथा दृश्येऽरताः शान्ताः सन्तः पश्यन्ति तत्पदम् ।। ४५ ।।

'सततयुक्तानाम्' यानी निरन्तर विचारमें निमग्न हुए इस प्रयत्नातिशयकी उक्तिके तात्पर्यका उद्घाटन करते हैं—**'किल'** इत्यादिसे ।

तृणमात्रके भी सर्दी, गर्मी, पशु आदिसे रक्षणमें उपाय यदि यत्नतः किया जाय तो वह उपकारी होता है उपेक्षासे उपाय किया जाय तो वह कामयाब नहीं होता एक दो त्रैलोक्योंका नहीं अपितु कोटि कोटि त्रैलोक्योंका ब्रह्मतापादन द्वारा आत्यन्तिक रक्षणरूप तत्त्वज्ञान तो बिना प्रयत्नके कैसे सिद्ध हो सकता है ॥४२॥

जिस निरतिशय आनन्दरूप उत्तम स्थितिका मानुष आनन्दसे लेकर ब्रह्मानन्द पर्यन्त उत्तरोत्तर सौ सौ गुने उत्कृष्ट सुखोपभोगके लिए चौदहों भुवनोंमें बिखरा हुआ, हृदयमें स्थित अधम कामको जीतनेमें असमर्थ यानी कामोपहत अतएव अध्यात्मव्यसनसे रहित सम्पूर्ण जीवसंघ तुच्छ भोगोंमें आसक्त होनेके कारण उपहासास्पद है वह उत्तम स्थिति क्योंकर प्रयत्नके योग्य न होगी ॥ ४३ ॥

मनका अंकुररूप (मनका संकल्पस्वरूप) राज्यादि जो सुख है, वह भी कोई सुख है तत्त्वज्ञानमें पूर्णतया विश्रान्ति होनेपर इन्द्रपद भी तृणकी तरह तुच्छ लगता है ॥ ४४ ॥

दृश्यमें (विषयभोगमें) रमे हुए पुरुष जैसे सोकर या जागते हुए दृश्यको देखते हैं वैसे ही दृश्यमें विरक्ति रखनेवाले शान्त ज्ञानी पुरुष उस परमपदको देखते हैं । अथवा अज्ञाननिद्रामें सोये हुए और विषयभोगमें निरत लोग जैसे दृश्यको अत्यन्त आसक्तिसे देखते हैं वैसे ही दृश्यमें अरत (सुप्तप्राय) शान्त सन्त तत्त्वज्ञानी उस निरतिशयानन्द पदको प्रबुद्ध होकर देखते हैं, यह अर्थ करना चाहिये ॥ ४५ ॥

विना यत्नभरेणेदं न कदाचन सिद्ध्यति ।
महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं विद्धि परं पदम् ॥ ४६ ॥
इदं बहूक्तमेतेन किमेतेनेति दुर्मतिः ।
न ग्राह्यैतावताऽप्युक्ते नाऽऽदत्ते नेदमज्ञधीः ॥ ४७ ॥
भूयो भूयः परावृत्त्या चिरमास्वाद्यते यदि ।
श्रूयते कथ्यते चेदं तज्ज्ञेनाऽज्ञेन भूयते ॥ ४८ ॥

इस प्रकारका नित्य अपरोक्ष निरतिशयानन्द रूप मोक्षपद अतिशय प्रयत्नके बिना कैसे सिद्ध हो सकता है? इसलिए उसके लिए प्रयत्नाभ्यासकी आवश्यकता है, ऐसा कहते हैं—**'विना'** इत्यादिसे ।

निरतिशयानन्दरूप परम पद निरन्तर बारबार यत्न किये बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप मोक्षरूप परम पदको महान् अभ्यासरूपी वृक्षका फल समझिये ॥ ४६ ॥

इसलिए मैंने अग्य लोगोंका अभ्यास दृढ़ हो इस बुद्धिसे पुनः पुनः प्रकारान्तरसे, दूसरी दूसरी युक्तियोंसे और कथा, आख्यान आदिके विस्तारसे यहीं एक ही बात बहुत बार कही है । और आप लोगोंको भी पुनः पुनः आप कहते हैं । हजारों पुनरुक्तियोंसे विस्तारको प्राप्त किये गये इस ग्रन्थसे और इस अभ्यासके श्रमसे क्या प्रयोजन है यों अश्रद्धारूप दुर्मतिका आश्रयण नहीं करना चाहिये । अतिकुशाग्रबुद्धिवाले किसी एक आधको ही अभ्यासकी अपेक्षा नहीं होती लेकिन मन्दबुद्धि तो यों विस्तारपूर्वक बार-बार कहे गये उपदेशवाक्यसे भी इस दुर्बोध आत्मतत्त्वको हृदयमें धारण नहीं कर सकता । अतः उसके लिए पुनः पुनः आवृत्तिरूप अभ्यास आवश्यक है ॥ ४७ ॥

अतएव मन्द और मध्यम अधिकारियोंको जबतक ज्ञानका उदय न हो तबतक इस ग्रन्थका पुनः पुनः श्रवण आदिकी आवृत्ति द्वारा आस्वादन करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'भूयो भूयः'** इत्यादिसे ।

यदि मेरे द्वारा उक्त इस शास्त्रका पुनः पुनः आवृत्ति द्वारा चिरकाल तक आस्वादन किया जाय, यह पुनः पुनः सुना जाय और कहा जाय, तो अज्ञानी भी तत्त्वज्ञानी हो सकता है ॥ ४८ ॥

यस्त्वेकवारमालोक्य दृष्टमित्येव संत्यजेत् ।
इदं स नाम शास्त्रेभ्यो भस्माऽप्याप्नोति नाऽधमः ॥ ४९ ॥
इदमुत्तममाख्यानमध्येयं वेदवत्सदा ।
व्याख्येयं पूजनीयं च पुरुषार्थफलप्रदम् ॥ ५० ॥
यदस्मात्प्राप्यते शास्त्रात्तद्वेदादवाप्यते ।
अस्मिन् ज्ञाते क्रिया ज्ञानं द्वयं याति पवित्रताम् ॥ ५१ ॥
वेदान्ततर्कसिद्धान्तस्त्वस्मिन्ज्ञाते च बुध्यते ।
इदमुत्तममाख्यानं व्याख्यातं शास्त्रदृष्टिषु ॥ ५२ ॥
कारुण्याद्भवतामेतदहं वच्मि न मायया ।
भवन्तस्त्ववगच्छन्ति मायामेतद्विचार्यताम् ॥ ५३ ॥

जो आदमी एक बार इसका अवलोकन कर मैंने इसे देख लिया है यों ही उपेक्षासे त्याग कर दे । उस अधमके हाथ अध्यात्मशास्त्रोंसे भस्म भी नहीं लगती है, यानी जो पुनः पुनः अभ्यास नहीं करता उसे इसके फलभूत मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, यह भाव है ॥ ४९ ॥

इस योगवासिष्ठरूप उत्तम आख्यानका वेदकी तरह सदा विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहिये और व्याख्यान करना चाहिये क्योंकि यह वेदवत् पूजनीय है तथा परमपुरुषार्थभूत मोक्षरूप फल देनेवाला है ॥ ५० ॥

जो परमपद इस शास्त्रसे प्राप्त होता है वही वेदसे भी प्राप्त होता है । इस शास्त्रके ज्ञात होनेपर क्रिया यानी पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) और ज्ञान यानी उत्तर काण्ड (ज्ञानकाण्ड) दोनों ही पवित्रताको प्राप्त होते हैं यानी अशुद्धिका आत्यन्तिक निरास करते हैं ॥ ५१ ॥

इस शास्त्रके ज्ञात होनेपर, समझमें आनेपर, वेदान्तोंमें महर्षि श्रीवदेव्यास आदि द्वारा प्रदर्शित तात्पर्यके निर्णयके अनुकूल उपक्रम, उपसंहार आदि लिङ्गवाले तर्कोंसे व्यवस्थापित सिद्धान्त समझमें आ जाता है । यह उत्तम आख्यान सकल शास्त्रदृष्टियोंमें श्रेष्ठरूपसे प्रख्यात है ॥ ५२ ॥

मैं यह आप लोगोंके ऊपर कृपा करके कहता हूँ किसी प्रकारके छल-कपटसे नहीं कहता हूँ । आप लोग प्रयत्नसे विचारित इस शास्त्रसे इस दृश्यसंघात-

अस्माच्छास्त्रवराद् बोधा जायन्ते ये विचारितात् ।
लवणैर्व्यञ्जनानीव भान्ति शास्त्रान्तराणि तैः ॥ ५४ ॥
अनार्यमिदमाख्यानमित्यनादृत्य दृश्यधीः ।
मा भवन्त्वात्महन्तारो भवन्तो भवभागिनः ॥ ५५ ॥
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ।
यथा भवन्तो विविचारवन्त-
स्तथाऽनिशं मा भवताऽज्ञताप्त्यै ॥ ५६ ॥

को माया यानी मिथ्या समझ सकते हैं, इसलिए आप लोग इस शास्त्रका चिन्तन करें ॥ ५३ ॥

विचारे गये इस श्रेष्ठतम शास्त्रसे जो बोध उत्पन्न होते हैं उन बोधोंसे अन्य शास्त्र ऐसे रुचिकर लगते हैं जैसे कि लवणसे व्यञ्जन रुचिकर होते हैं, इसलिए यह शास्त्र सकल शास्त्रोंका उपजीव्य है ॥ ५४ ॥

यह आख्यान काव्य होनेके कारण अनुपादेय है यों इसका अनादर कर भोगोंमें आसक्तबुद्धिवाले अतएव आत्महत्या करनेवाले यानी बार बार मृत्यु-परम्परा-प्राप्तिमें हेतुभूत मोहरूपी गड्ढेमें गिरनेवाले उससे पुनः पुनः संसार-भागी (जन्मभागी) आप लोग न हों ॥ ५५ ॥

हमारे कुलमें हमारे पुरखोंने तप और कर्ममें ही निष्ठा उपार्जित की, ब्रह्मनिष्ठा यानी ज्ञाननिष्ठाका उन्होंने उपार्जन नहीं किया । हमारे पूर्वज कर्ममीमांसक थे, हमारे पूर्वज तार्किक थे, हमारे पूर्वज सांख्य थे, हमारे पूर्वज तान्त्रिक थे, मन्त्रसिद्ध, योगसिद्ध तथा औषध और रसायनमें सिद्धहस्त थे, हम लोग भी उनके वंशज हैं, अतः उनके अनुसृत मार्गका ही अवलम्बन करेंगे, अध्यात्म-मार्गका अवलम्बन नहीं करेंगे ऐसा कह रहे जनोंका उपहास करते हुए श्रीवसिष्ठजी मुमुक्षुओंकी उस मार्गमें प्रवृत्तिका निवारण करते हैं—'**तातस्य**' इत्यादिसे ।

यह हमारे पूर्वजोंका कुआँ है अतः हम इसीका खारा जल पीएँगे यों कह रहे पुरुष निकटवर्ती जाह्नवीके स्वच्छ जलका निरादर कर खारा जल पीते हैं वैसे ही आप भी अज्ञताकी प्राप्तिके लिए यानी पुनः पुनः जन्मपरम्पराओंके

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० निर्वा उ० इन्द्रिय-
जयोपायशास्त्रवर्णनं नाम त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जीवाणवो जगत्यन्तश्चिदादित्यांशुमण्डले ।
यत्र तेऽवयवास्तुल्यास्तेनाऽनवयवात्मता ॥ १ ॥
सर्वं प्राप्य परं बोधं वस्तु स्वं रूपमुज्झति ।
पुनस्तदेकवाक्यत्वान्न किंचिद्वाऽपरं भवेत् ॥ २ ॥

हेतुभूत एकमात्र मूर्खताके ही लाभके लिए निरन्तर विरुद्ध विविध विचारवाले मत होइये ॥ ५९ ॥

एक सौ तिरसठ सर्ग समाप्त

—:०:—

एक सौ चौसठ सर्ग

[जीवभाव और जगद्भावके मार्जन द्वारा ब्रह्मभावके उद्गमसे जीव और जगत्‌में ब्रह्मसमरसताका प्रसाधन]

उनमें सर्वप्रथम जीवभावको मिटानेके लिए श्रीवसिष्ठजी ग्रन्थारम्भ करते हैं—'**जीवाणवः**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चारों ओरसे परिपूर्ण चिद्रूपी सूर्यके मण्डलका अन्दर स्फुरण होनेपर जगत्‌में प्रसिद्ध सकल जीवाणु चिद्रूपसूर्यके तुल्य हैं यानी अग्नि और स्फुलिङ्गोंकी तरह समान प्रकाशन-स्वभाववाले हैं । इस कारण चिद्रूपी सूर्यकी अनवयवात्मता सिद्ध हुई । हाथ, पैर आदि अवयव परस्पर विलक्षण आकारवाले हैं और उनका स्वभाव भी भिन्न दिखाई देता है और उधर अवयवीकी रूपरेखा (बनावट) अवयवोंसे भिन्न होती है अतः उनमें परस्पर भेद और अवयव-अवयविभाव लोकमें प्रसिद्ध है किन्तु जीव-ब्रह्मके अत्यन्त तुल्य होनेपर उनमें न तो भेद है, न लोकसिद्ध अवयव-अवयवि-भाव ही है ॥ १ ॥

यदि ऐसी बात है तो नक्षत्रोंका भी आकाशमें समानप्रकाशनस्वभाव

सर्वास्वेवाऽऽस्ववस्थासु तत्त्वज्ञविषयं तु तत् ।
परमेवाऽमलं ब्रह्म नाऽन्यत्किंचित्कदाचन ॥ ३ ॥
यच्चाऽतत्त्वज्ञविषयं तज्जानाति स एव तत् ।
वयं तु विद्मो नाऽहं त्वं नाऽतत्त्वज्ञं न वस्तु तत् ॥ ४ ॥

दिखाई देता है अतः उनमें परस्पर अभेद तथा तेजको भी निरवयवता क्यों न होगी ? यदि उनके भिन्नदेशस्थ होने और प्रकाशमें कमी-बेशी होनेके कारण उनकी परस्पर अभेदापत्तिका परिहार करो तो वह परिहार जीवोंमें भी समान है, इस शङ्कापर कहते हैं—'**सर्वम्**' इत्यादिसे ।

नक्षत्रोंके भेदके समान जीवोंका भेद नहीं है, किन्तु घड़े, मटके आदिके आकाशके भेदके तुल्य औपाधिक भेद है । वह भेदक अन्तःकरण आदि उपाधिभूत वस्तु 'मैं अखण्डाकार अपरोक्ष ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानको प्राप्त कर अपने उपाधिरूप और उपाधिकृत भेदका त्याग कर देती है । उपाधिभेदके हट जानेपर प्रतिज्ञात अर्थकी (जीवब्रह्माभेदकी) सिद्धि हो जाती है । अथवा पहले जीवोंकी अविद्यासे परस्पर विरुद्धधर्मता दिखला कर ब्रह्मैकवाक्यताके विच्छेदसे भेदसा, बन्धसा, अनर्थसा हुआ । इस समय विद्यासे अविद्याका निरासकर विरुद्ध धर्मकी निवृत्ति द्वारा फिर ब्रह्मैकवाक्यताके सम्पादनसे अवयवावयविभाव आदि दूसरा भेदक क्या होगा यानी कुछ नहीं ॥ २ ॥

तो क्या अविद्या, अन्तःकरण, देह आदिसे भेदावस्थाओंमें पहले जीव भिन्न ही थे, इस समय विद्या द्वारा ब्रह्मैक्यको प्राप्त किये गये ? इस शङ्कापर नकारात्मक उत्तर देते हैं—'**सर्वासु**' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञोंका विषयभूत जो परम निर्मल ब्रह्म है वह तो इन सभी अवस्थाओंमें भेद आदि मलसे रहित एकरस ही है । उसमें कदापि किंचिद् भी द्वैतरूपी मलका अस्तित्व नहीं है ॥ ३ ॥

यदि ऐसा है तो पहले 'अहन्त्व' आदि मलका उसमें दर्शन कैसे हुआ ? इसपर कहते हैं—'**यच्च**' इत्यादिसे ।

जो अज्ञानीकी विषयभूत मलिन वस्तु है उसको वही (अज्ञानी ही) जानता है । हम तो न 'अहम्'को जानते हैं, न 'त्वम्'को जानते हैं, न अज्ञको जानते हैं और न अज्ञके विषयभूत उस मलिन वस्तुको ही जानते हैं ॥ ४ ॥

अयं सोऽहमयं चाऽज्ञः सत्योऽयमिति बुद्धयः ।
संभवन्ति न तत्त्वज्ञे क्व मेरौ मृगतृष्णिका ॥ ५ ॥
यथैकद्रव्यनिष्ठे हि चित्तेऽन्यद्रव्यसंविदः ।
न भवन्ति परे तद्वन्नाऽन्यास्तिष्ठन्ति संविदः ॥ ६ ॥
इदं नाऽऽसीन्न चोत्पन्नं न चाऽस्ति न भविष्यति ।
जगद् ब्रह्मैव सद्रूपमिदमित्थमवस्थितम् ॥ ७ ॥
चिन्नभःकाचकच्यं च स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठते ।
जगदित्येव तत्तत्र तज्ज्ञानेनैव चेत्यते ॥ ८ ॥

क्यों नहीं जानते ? इसपर कहते हैं—'**अयम्**' इत्यादिसे ।

यह वह है, यह मैं हूँ, यह सत्य है इत्यादि भेदबुद्धियां अज्ञानीमें ही होती हैं, तत्त्वज्ञानीमें कदापि नहीं हो सकतीं । भला बतलाइये तो सुमेरुमें कहीं मृगतृष्णा हो सकती है । क्योंकि प्यासे पुरुषकी थकी-माँदी दृष्टिसे मृगतृष्णाकी प्रतीति होती है, स्वर्गभूत सुमेरुमें किसीको प्यास, थकान आदि नहीं होते, अतः वहाँ उसकी प्रतीति क्योंकर होगी ? यह भाव है ॥ ५ ॥

जैसे यह ठूँठ ही है, यह सीप ही है यों जिस पुरुषको एकरूप द्रव्यका यथार्थ निश्चय है । जिसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है । उसमें उससे विपरीत यह ठूँठ है या पुरुष है ऐसा संशयज्ञान और यह चाँदी है ऐसा भ्रान्तिज्ञान नहीं होता वैसे ही परमतत्त्वके निश्चित हो जानेपर यानी तत्त्वतः ज्ञात हो जानेपर अन्य भेदभ्रमज्ञान नहीं टिक सकते हैं ॥ ६ ॥

इस प्रकार जीवभावको मिटाकर जगद्भावको भी मिटानेके लिए उपक्रम करते हैं—'**इदम्**' इत्यादिसे ।

यह दृश्य न पहले था, न उत्पन्न हुआ, न वर्तमान कालमें है और न आगे भविष्यमें होगा इस प्रकार जगत्का मार्जन होनेपर यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही होकर स्थित है ॥ ७ ॥

इस प्रकार मार्जन द्वारा पहले जगद्रूपसे ज्ञात चिदाकाशकी झलक स्वरूपभूत शुद्धब्रह्मभावमें ही स्थित होती है । उस अवस्थामें जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा चिदाकाशकी झलक ही जगत् है यह बात उसके ज्ञानसे ही जानी जाती है । जगत् जड़रूप कुछ नहीं है ॥ ८ ॥

स्वप्नेषु कल्पनपुरेषु यथाऽन्यदस्ति
चिन्मात्रमच्छगगनं ननु वर्जयित्वा ।
नो किंचनाऽपि न च रूपमरूपकेषु
रूपं तथा जगति संप्रति जाग्रदाख्ये ॥ ९ ॥
पूर्वं किलोद्भवति किंचन नाम नेदं
तत्राऽवभाति तदनादि खमेव चित्त्वात् ।
नो कारणं न सहकारि किलाऽस्ति यत्र
तस्मात्स्वयं भवति वस्त्विति केयमुक्तिः ॥ १० ॥
तस्मात्स्वयं भवति नेह हि कश्चिदादौ
ब्रह्मादयोऽज्ञविदिता न च नाम सन्ति ।
व्योमेदमाततमयं स इतः स्वयंभू-
रित्यादि चिद्गगनमेव चिता विभाति ॥ ११ ॥

जैसे स्वप्नोंमें और मनोरथ द्वारा कल्पित नगरोंमें के ... निर्मल चिन्मात्रके सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही इस सम ... नामक जगत्में चिन्मात्रके सिवा कुछ भी उपाधिस्वरूप नहीं है ... प्रकार उपाधिका मार्जन करनेसे अरूप हुए जीवोंमें अन्य रूप नहीं है, यों चिदेकरूपता सिद्ध हुई ॥ ९ ॥

'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सौम्य, सृष्टिके पूर्व यह एक अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुतिके अनुसार जिसमें सृष्टिके पूर्वमें न परिणामी या उपादान कारण है और न सहकारी और निमित्त कारण ही है उससे जगत् उत्पन्न होता है, यह उक्ति कैसी ? अतः यह कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, जो उत्पन्न हुआ-सा मालूम पड़ता है वह अनादि ब्रह्म ही है चित्स्वभाव होनेसे वह स्वयं ही जगत्-सा मालूम पड़ता है, यह सिद्ध हुआ ॥ १० ॥

इसी अर्थको दृढ़ करते हुए पुनः स्पष्ट कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इसलिए सृष्टिके आरम्भमें कोई भी अपने-आप उत्पन्न नहीं होता, अतएव अज्ञानियों द्वारा ज्ञात ब्रह्मा आदि व्यष्टि और समष्टि जीव तथा उनके उपाधिभूत देहेन्द्रिय आदि नहीं ही हैं, किन्तु वह स्वयम्भू (ब्रह्मा) और यह प्रपञ्च ब्रह्मसे शून्यरूपमें ही फैला है । चिदाकाश ही स्वचित्से वैसा (जगत्सा) प्रतीत होता है, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

एक सौ चौसठ सर्ग समाप्त

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० जगत्पर-
मात्मनोरैक्ययोगोपदेशो नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जाग्रत्स्वप्ने स्वप्न एव जाग्रत्त्वमनुगच्छति ।
स्वप्नजाग्रति जाग्रत्तु स्वप्नतामुपगच्छति ॥ १ ॥
स्वप्नो जाग्रत्प्रविशति जाग्रत्स्वप्नात्प्रबुध्यते ।
जाग्रत्स्वप्नं प्रविशति प्रबुद्धः स्वप्नजाग्रतः ॥ २ ॥

एक सौ पैंसठ सर्ग

[परस्परमें प्रवेश करने और परस्परसे उत्पन्न होनेसे जगत्की चिन्मात्रता सुदृढ़ करनेके लिए जाग्रत् और स्वप्नकी एकताका कथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये आपसमें एक दूसरेमें प्रवेश करनेसे तीन प्रकारके हैं। जैसे—जाग्रत्-जाग्रत्, जाग्रत्-स्पप्न, जाग्रत्सुषुप्ति, स्वप्नजाग्रत्, स्वप्नस्वप्न, स्वप्नसुषुप्ति, सुषुप्ति-जाग्रत्, सुषुप्ति-स्वप्न और सुषुप्ति-सुषुप्ति। उत्पत्तिप्रकरणमें इनका उदाहरणों द्वारा विस्तारसे प्रतिपादन किया जा चुका है, विशेष वहीं देखना चाहिये। उन भेदोंमेंसे जाग्रत्स्वप्नमें मनोरथमें पदार्थोंके इन्द्रिय-व्यापार निरपेक्ष होनेसे केवल मनोमय होनेके कारण स्वप्नसाम्यसे स्वप्न ही जाग्रद्भावको प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वप्नमें भी इतने समय तक मैं सोया रहा इस समय जाग रहा हूँ ऐसी प्रतीतिके दर्शनसे प्रसिद्ध स्वप्नजाग्रत्में तो अनुभवसिद्ध जाग्रत् ही स्वप्नभावको प्राप्त होता है, यह अर्थ है ॥ १ ॥

परस्परमें प्रवेशकी तरह इनमें परस्पर निमित्तता भी है, ऐसा कहते हैं—'**स्वप्न०**' इत्यादिसे।

स्वप्न जाग्रत्में प्रवेश करता है और जाग्रत् स्वप्नसे निकलता है। इसलिए आत्मा स्वप्नरूपी ही जाग्रत्से जागकर जाग्रत्रूप स्वप्नमें ही प्रवेश करता है ॥ २ ॥

जाग्रत्स्वप्नवता स्वप्नः स्वप्न इत्यभिधीयते।
स्वप्नजाग्रद्वता जाग्रज्जाग्रदित्यभिधीयते ॥ ३ ॥
तज्जाग्रज्जाग्रतीवेह न तु स्वप्नः कदाचन।
स्वप्ने स्वप्नो जाग्रदेव न तु जाग्रत्कदाचन ॥ ४ ॥
लघुकालात्मकः स्वप्नः सर्वदैव हि जाग्रति।
लघुकालात्मकं जाग्रत्स्वप्नकाले सदैव च ॥ ५ ॥
न जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदः कश्चनाऽस्ति कदाचन।
एकस्याऽवसरोऽन्यत्र द्वयोरपि न सन्मयः ॥ ६ ॥

इनमें (स्वप्न और जाग्रत्में) परस्पर व्यपदेशसंकरता भी दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं—**'जाग्रत्०'** इत्यादिसे।

जाग्रत्स्वप्नवान् पुरुष जाग्रत्को ही 'स्वप्न' 'स्वप्न' कहता है और स्वप्न-जाग्रद्वान् पुरुष स्वप्नको ही 'जाग्रत्' 'जाग्रत्' कहता है यों जाग्रत्में स्वप्नका व्यपदेश और स्वप्नमें जाग्रत्का व्यपदेश दिखाई देता है। अतः इन दोनोंमें व्यपदेशसांकर्य स्पष्ट है ॥ ३ ॥

स्वप्नका भी जाग्रत् यहाँ जाग्रत्के जाग्रत् की तरह अनुभवसे जाग्रत् ही है स्वप्न कदापि नहीं है इसी प्रकार जाग्रत्स्वरूप मनोराज्यमें जाग्रत् अनुभवतः स्वप्न ही है न कि जाग्रत् ॥ ४ ॥

स्वप्नकी जो स्वल्पकालता है और जाग्रत्की जो दीर्घकालता है वह परस्परमें परस्परका प्रवेश होनेपर विपरीत हो जाती है, यह कहते हैं—**'लघुकालात्मकः'** इत्यादिसे।

सदा ही जाग्रत्में स्वप्नकाल लघुकालात्मक है और वैसे ही स्वप्नकालमें जाग्रत् सदा ही लघुकालात्मक है ॥ ५ ॥

इस प्रकार परस्परसंकरता होनेपर जो सिद्ध हुआ, उसे कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे।

इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें कदापि कोई भी भेद नहीं है। दोनोंमें भी एकका अन्यमें अनुप्रवेश युक्तिसे सन्मय नहीं है ॥ ६ ॥

मृतिप्रबोधसमये जाग्रत्स्वप्नः प्रशाम्यति ।
स्वप्नानुभवबोधे च शून्य एवाऽतिभास्वरः ॥ ७ ॥
जीवतः स्वप्नसमये मृतिबोधोदयं विना ।
परलोकात्मकं जाग्रत्किंचनाऽपि न दृश्यते ॥ ८ ॥
स्थिते जीवितबोधेऽस्मिञ्छून्ये नानामयात्मनि ।
परलोकात्मकः स्वप्नः कश्चनाऽपि न दृश्यते ॥ ९ ॥

यदि कोई कहे स्वप्न प्रबोधकालमें निवृत्त हो जाता है और स्वाप्न पदार्थ भी जागरणकालमें शून्य हो जाते हैं, लेकिन जाग्रत् इस प्रकार निवृत्त नहीं होता और न जाग्रत् पदार्थ असत् दिखाई देते हैं यों जाग्रत्में स्वप्नवैधर्म्यकी शङ्काका निराकरण करते हैं—'**मृति०**' इत्यादिसे ।

यह अतिभास्वर जाग्रद्रूप स्वप्न मृत्युके समय परलोकके उदयकालमें और आत्यन्तिक द्वैतनिवृत्तिरूप तत्त्वबोधकालमें निश्चय ही शान्त हो जाता है तथा प्रतिदिन स्वप्नानुभवरूप स्वप्नपदार्थ-बोधकालमें और सुषुप्तिकालमें भी शून्य ही रहता है, इसलिए जाग्रत्का स्वप्नके साथ साधर्म्य ही है, वैधर्म्य नहीं है ॥७॥

यदि कोई कहे आजके स्वप्न पदार्थ कलके स्वप्नमें असत् ही हैं लेकिन आजके जाग्रत्पदार्थ कलके जाग्रत्में रहते हैं यों जाग्रत् और स्वप्नमें वैधर्म्य है ही इस आशङ्काका अन्यान्य जन्मोंमें जाग्रत्पदार्थोंकी अनुवृत्तिके अदर्शन द्वारा परिहार करते हैं—'**जीवतः**' इत्यादिसे ।

जाग्रद्रूप स्वप्नसमयमें जीवित पुरुषको—मृत्यु हुए बिना मरनेके उपरान्त दिखाई देनेवाले दृश्योंका अभाव होनेसे—परलोकरूप जाग्रत् तनिक भी नहीं दिखाई देता, इसलिए आजके जाग्रत्के पदार्थोंकी कलके जाग्रत्में अनुवृत्ति नहीं दिखाई देती यह सिद्ध हुआ, इसलिए जाग्रत्में उक्त वैधर्म्य भी नहीं है ॥ ८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें आजके इस स्वप्नमें, जो जीवन आदि सकल स्वाप्न-पदार्थोंसे शून्य होनेपर भी भ्रान्तिसे ही नानामयात्मक मालूम होता है, 'मैं जीता हूँ' यों जीवन आदिका बोध होनेपर आगे आनेवाले दिनका (कलका) तथा बीते हुए दिनका (कलका) स्वप्न परलोकसदृश ही है, इसलिए उसमेंका कोई पदार्थ यहां (इस स्वप्नमें) अनुवर्तमान नहीं दिखाई देता यह अर्थ है ॥९॥

चिच्चमत्कृतिमात्रात्म यथा स्वप्ने जगत्त्रयम् ।
हृदि सर्गात्प्रभृत्येव तथैवाऽऽभाति जाग्रति ॥ १० ॥
सन्त्येवाऽसत्यभूतानि स्फाराणि परमार्थतः ।
नाऽस्त्येवाऽऽकारवत्तेयं स्वप्नोर्व्यामिव जाग्रति ॥ ११ ॥
नानात्मभासुरमपि स्वप्ने शून्यं यथा जगत् ।
तथैव जाग्रत्यखिलं व्योमैवेदं चिदात्मकम् ॥ १२ ॥
चिद्व्योम्नो हि स्वभावोऽयं यदिदं जगदम्बरे ।
कचतीत्थमिह स्फारमालोक इव तेजसः ॥ १३ ॥
चितेश्चमत्कृतिरियं जगन्नाम्नी चकास्त्यलम् ।
सहजा गगने कुड्ये परमाणौ स्थले जले ॥ १४ ॥
भ्रान्तावसत्यरूपायां स्थितायां सत्यवस्तुवत् ।
आकाशमात्रदेहायां क इवैनां प्रति ग्रहः ॥ १५ ॥

जैसे स्वप्नमें तीनों जगत् केवल चित्चत्काररूप ही हैं वैसे ही सृष्टिसे लेकर ही त्रिजगत्का अन्तःकरणमें केवल चित्-चमत्काररूपसे स्फुरण होता है ॥१०॥

जाग्रत्की स्वप्नके साथ एकता होनेपर जाग्रत्के पृथिवी आदिकी स्वाप्न पृथिवी आदि पदार्थोंकी भाँति निराकारता और असत्यता स्पष्ट है, ऐसा कहते हैं—'**सन्त्येव**' इत्यादिसे ।

विपुलकलेवर (विस्तीर्ण) दिखाई देनेवाले जाग्रत् पदार्थ असत्यभूत ही हैं, वास्तवमें जैसे स्वाप्न पृथिवीमें आकारवत्ता नहीं है वैसे ही जाग्रत्में भी यह आकारवत्ता नहीं ही है ॥ ११ ॥

जैसे स्वप्नमें नानारूपसे देदीप्यमान होनेपर भी जगत् (स्वाप्न जगत्) शून्य ही है वैसे ही जाग्रत्में भी यह सारा जगत् चिदात्मक आकाश ही है ॥१२॥

चिदाकाशमें जो यह जगत् स्फुरित होता है यह सूर्य आदिके तेजकी प्रभाके समान चिदाकाशका स्वभाव है। चिदाकाशमें इस प्रकार विराट्रूपसे उसीका स्फुरण होता है ॥ १३ ॥

चितिकी यह जगत् नामक स्वाभाविकी चमत्कृति है। यह आकाशमें, दीवारमें, परमाणुओंमें, जलमें और स्थलमें खूब चमकती है ॥ १४ ॥

यह मिथ्या (असत्यस्वरूप) भ्रान्ति, जिसका शरीर केवल भ्रान्तिमात्र

ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपमाशून्यमेव च ।
सदस्त्वेवाऽसदेवाऽस्तु जगदत्राऽङ्ग किंग्रहः ॥ १६ ॥
इत्थमस्त्विदमथाऽन्यथाऽस्तु वा
मैव भूद्भवतु कोऽत्र संभ्रमः ।
कोऽत्र फल्गुनि फले फलग्रहो
बुद्धमेव तदलं विकल्पनैः ॥ १७ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० जाग्रत्स्वप्नैक्योपदेशो नाम पञ्चषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६५ ॥

है, सत्य वस्तुकी नाईं सामने खड़ी है। इस जगद्भ्रान्तिके प्रति कौनसा आग्रह है, इसके प्रति आग्रह करना अनुचित है, यह अर्थ है ॥ १५ ॥

ग्रहीता (ग्रहण करनेवाला), ग्रहण और ग्राह्यरूप जगत् असत् ही है। उक्त जगत् अधिष्ठान सत्तासे सत् हो अथवा असत् ही हो इस विषयमें एकतर पक्षके व्यवस्थापनमें दुराग्रहका क्या प्रयोजन है ? यह भाव है १६ ॥

अज्ञानवश एक पक्षमें अभिमानभ्रान्ति होती है। इस समय इसका तत्त्व आपको यथार्थरूपसे ज्ञात हो ही चुका है। यह इस प्रकारका हो, अन्य प्रकारका हो अथवा नहीं हो, इस विषयमें कौनसा भ्रम है और इस तुच्छ भोगमें फलका आग्रह ही क्या है। इसलिए विविध विकल्पोंसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १७ ॥

एक सौ पैंसठ सर्ग समाप्त



षट्षष्ट्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सार्थकेनाऽऽत्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झिताम् ।
आत्मख्यातिमिमां विद्धि शिलाजठरनिर्घनाम् ॥ १ ॥
आदिसर्गात्प्रभृत्येव चिद्व्योमैवेत्थमाततम् ।
कचत्यात्मनि यत्तस्य बुद्धा तेनैव सर्गता ॥ २ ॥

एक सौ छाछठ सर्ग

आत्मख्यातिकी विशेषता, अन्य ख्यातियोंकी स्थिति तथा प्रश्नोत्तरयुक्त ब्रह्मनीलशिलाके आख्यानका वर्णन]

'चितिकी यह जगन्नामधारिणी चमत्कृति खूब स्फुरित होती है' ऐसा जो पहले कहा है, उसके विषयमें विभिन्न वादियों द्वारा स्वीकृत अख्याति, असत्-ख्याति, अन्यथाख्याति, आत्मख्याति नामकी चार ख्यातियोंमेंसे किस ख्यातिसे वह विद्वानोंको स्फुरित होती है ऐसी रामचन्द्रजीकी जिज्ञासाको चेष्टा द्वारा ताड़कर विद्वानोंकी दृष्टिसे तो बिभिन्नवादियों द्वारा स्वीकृत चार प्रकारकी ख्यातियाँ शशके सींगकी तरह ही असत् हैं अतः आगे उनका खण्डन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी विद्वत्संमत पांचवीं अलौकिक आत्मख्यातिको समझानेके लिए उपक्रम करते हैं—**'सार्थकेन'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वाच्यार्थ सहित 'आत्म' शब्दसे और 'ख्याति' शब्दसे रहित यानी अखण्डार्थवाले आत्मा और ख्यातिरूप दो पदोंकी लक्ष्यार्थरूप इस आत्मख्यातिको आप आगे कही जानेवाली शिलाके मध्यके समान घन (ठोस) जानिये ॥ १ ॥

आत्मा ही ख्याति यों दो पदोंका समानाधिकरणतासे अन्वय करनेपर आत्मा कौन है वह ख्याति किंविषयिणी है—किसको विषय करती है—ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—**'आदिसर्गात्'** इत्यादिसे ।

आदि सृष्टिसे ही चिदाकाश ही इस प्रकारसे (जगत्के रूपसे) फैला है । उसकी सर्गता आत्मामें स्फुरित होती है । चूँकि आत्माने आत्मामें ही अपने चैतन्यबलसे सर्गताका प्रख्यापन किया है, इसलिए यह आत्मा ही सर्गताको विषय करनेवाली ख्याति है ॥ २ ॥

न वहन्तीह सरितो नेहोन्मज्जनमज्जने ।
व्योम व्योम्न्येव चिद्रूपं कचत्येवमनिङ्गितम् ॥ ३ ॥
कचनोक्त्या तु रहितां समग्रेणाऽस्तकल्पनाम् ।
विनोत्तरपदार्थेन त्वात्मख्यातिमिमां विदुः ॥ ४ ॥
आत्मैवेदं जगत्सर्वं ख्यातिर्यत्र न किंचन ।
अख्यातो नाम न ख्यात्या कदाचित्ख्यापितः क्वचित् ॥ ५ ॥
ख्यातिरख्यातिरित्यत्र वाचोयुक्तिरवास्तवी ।
किं तत्र ख्यापनं नाम स्याद्वाऽप्यख्यापनं च किम् ॥ ६ ॥

आत्मशब्दके व्याख्यानभूत चिद्व्योम शब्दमें 'व्योम' शब्दका अर्थ प्रपञ्चशून्यता ही है, इसलिए प्रपञ्च और उसकी ख्याति आत्मा ही हैं, ऐसा 'एव' का अर्थ दिखलाते हैं—'**न वहन्ति**' इत्यादिसे ।

न यहाँ नदियाँ बहती हैं और न यहाँ उन्मज्जन और मज्जन (उतराना और डूबना) हैं । निष्क्रिय चिद्रूप आकाशका ही आकाशमें इस प्रकार (जगत्के रूपमें) स्फुरण होता है ॥ ३ ॥

विद्वान् लोग ख्यातिशब्द और उसके अर्थके बिना स्वप्रकाश आत्माको ही—स्वरूपभूत सर्गका प्रख्यापक होनेसे—कचन (स्फुरण) /वाचक ख्याति शब्दसे रहित समग्र रूपसे कल्पनाशून्य आत्मख्याति कहते हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार सृष्टिके चिन्मात्ररूप होनेपर विभिन्न वादियोंको अभिमत अख्याति आदि शब्दोंकी असंगति है, ऐसा कहते हैं—'**आत्मैव**' इत्यादिसे ।

जब यह सारा जगत् आत्मा ही है और वह स्वप्रकाशस्वरूप ही है यानी उसमें कोई भी ख्याति नहीं है तब वह कदापि भी कहींपर भी अपनेसे अतिरिक्त ख्यातिसे ख्यापित है यह कथन और अख्यात है यह कथन उसमें संभव नहीं हो सकता । भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अख्याति पदकी भी उसमें योजना नहीं की जा सकती है ॥ ५ ॥

भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अख्याति पदकी योजना उसमें क्यों नहीं की जा सकती ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'**ख्याति०**' इत्यादिसे ।

'ख्या' धातुका प्रथा अर्थात् प्रसिद्धि अर्थ है 'क्तिन्' प्रत्ययका 'भाव' अर्थात् 'सत्ता' अर्थ है । यों ख्याति शब्दका अर्थ हुआ ख्यानात्मक सत्ता (प्रसिद्धया-

अख्यातिरन्यथाख्यातिरसत्ख्यातिरितीतरा ।
दृश्याश्चिन्मात्ररूपस्य भासश्चित्त्वचमत्कृताः ॥ ७ ॥
यथा यथा यदा ये ये चिन्मात्रव्योमभास्वतः ।
चिदंशवः कचन्त्यच्छास्तदा ते ते तथा तथा ॥ ८ ॥
आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
इत्येताश्चिच्चमत्कृत्या आत्मख्यातेर्विभूतयः ॥ ९ ॥

त्मक सत्ता)। उस प्रकारका आत्मा ख्याति ही है। 'अख्याति' के 'नञ्के अर्थके साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता, इसलिए उसमें अन्याभिमत 'अख्याति'कथन अवास्तवहै।

शङ्का—तब हेतुमत् णयन्त ख्या धातुसे क्तिन् प्रत्यय हो। वहां भी 'णि' का लोप होनेपर 'ख्याति' रूप सिद्ध हो जायगा। जिसमें ख्याति यानी ख्यापन नहीं है वह अख्याति है इस व्युत्पत्तिसे आपका अभिमत अर्थ सिद्ध हो जायगा।

समाधान—जब सर्गको जड़ मानते हैं तब वहांपर अन्य द्वारा किया गया ख्यापन और अख्यापन उपयुक्त हो सकता है। जब स्वप्रकाश आत्मा ही सर्ग है, तब जैसे एक दीपकमें दूसरे दीपकसे प्रख्यापन या अप्रख्यापन कोई मतलब नहीं रखता वैसे ही उसमें प्रख्यापन और अप्रख्यापन अकिञ्चित्कर है। इसलिए वादीका अभिमत अर्थ किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। इससे असत्ख्याति और अन्यथाख्यातिका भी, जिन्हें अन्य वादी मानते हैं, निराकरण हो गया; क्योंकि नञर्थके समान असत् और अन्यथा शब्दोंके अर्थोंका भी ख्याति पदार्थके साथ अन्वय नहीं हो सकता, यह भाव है ॥ ६ ॥

यदि वादी लोग स्वप्न, मनोरथ आदिके अन्य दृश्योंकी तरह कल्पनामात्ररूप अख्याति आदिको चित्-चमत्काररूप ही मानें तो वैसा मानें इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**अख्याति०**' इत्यादिसे।

उस अवस्थामें अख्याति, अन्यथाख्याति, असत्ख्याति रूप दृश्य चिन्मात्ररूप सूर्यकी चित्चमत्कारभूत प्रभाएँ ही हैं जैसे जैसे जब जो जो चिन्मात्राकाशरूप सूर्यसे निर्मल चिद्रूप किरणें अग्निसे चिनगारियोंके समान स्फुरित होती हैं तब वैसी वैसी वे बन जाती हैं ॥ ७,८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें आपकी अभिमत वे अख्याति आदि मेरी आत्मख्यातिकी विभूतियाँ ही हैं, ऐसा कहते हैं—'**आत्मख्याति०**' इत्यादिसे।

वसिष्ठ उवाच

न चेतना न च जडा सा शिला विपुलोज्ज्वला।
जातिं जानाति कस्तस्याः कस्तत्राऽन्यश्च विद्यते ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

तस्याः पश्यति ता लेखाः कः कथं जठरस्थिताः।
कथं वा केन सा भग्ना कदा नामेति मे वद ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

न भेत्तुं युज्यते सोग्रा न च भेत्ता च विद्यते।
तथैवाऽपारपर्यन्तदेहिन्या सर्वमावृतम् ॥ २२ ॥
लेखामयानि विद्यन्ते तत्राऽनन्तानि कोटरे।
वृक्षपर्वतजालानि नगराणि पुराणि च ॥ २३ ॥

'जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित्' इस उक्तिसे ही इस प्रश्नका उत्तर हो चुका है, यों श्रीवसिष्ठजी रामचन्द्रजीके प्रश्नका समाधान करते हैं—'**न**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—प्रिय रामजी, विशाल तथा देदीप्यमान वह शिला न चेतन है और न जड़ है। उसकी जातिको कौन जान सकता है। उसमें दूसरा है भी कौन जो उसकी जातिको जानेगा? यह भाव है ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, यदि उसमें कोई दूसरा नहीं है तो आपने जिन आकाश, वायु आदिके आकारवाली उसके उदरमें स्थित रेखाओंका वर्णन किया है उन्हें कौन कैसे देखता है? अथवा किसने कब उसके अन्दर विचित्र रेखाओंके आकारमें हथौड़ी आदिसे उन्हें गढ़ा? और अन्दर हथौड़ी आदिका प्रवेश न हो सकनेके कारण कैसे किसने उन्हें फिर विनष्ट किया? यह मुझे बतलानेकी कृपा कीजिये ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, वह अत्यन्त दृढ़ शिला तोड़ी नहीं जा सकती और न कोई तोड़नेवाला ही है। अपारपर्यन्त यानी अतिविशाल कायावाली उसीने सब कुछ व्याप्तकर रक्खा है ॥ २२ ॥

उसके अन्दर रेखारूप असंख्य वृक्षराशियां, पर्वतश्रेणियाँ, नगर और

तत्र लेखामयाः सन्ति देवदानवनामकाः ।
सूक्ष्मासूक्ष्मा निराकाराः साकारा इव पुत्रिकाः ॥ २४ ॥
आकाशनाम्नी तत्राऽस्ति लेखा वैपुल्यशालिनी ।
उपलेखाश्च सन्त्यस्या मध्ये चन्द्रार्कनामिकाः ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

केन दृष्टा वद ब्रह्मँल्लेखास्तास्तत्र किंविधाः ।
कथं वा वद दृश्यन्ते निविण्डोपलकोशगाः ॥ २६ ॥

वसिष्ठ उवाच

मया राघव ता दृष्टास्तादृश्यस्तत्र लेखिकाः ।
तवाऽपीच्छा यदि भवेत्तत्तास्त्वमपि पश्यसि ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

तादृशी वज्रसारा सा शिला भङ्क्तुं न युज्यते ।
तथापि भवता दृष्टा लेखास्तत्कोशगाः कथम् ॥ २८ ॥

ग्राम हैं। उसमें रेखारूप ही सूक्ष्म, स्थूल, निराकार और साकार देव, दानव आदि नामधारी जीव प्रतिमाओंकी तरह विद्यमान हैं ॥ २३,२४ ॥

उसमें आकाश नामकी विशाल रेखा है तथा उसके भीतर चन्द्र और सूर्य नामकी अन्यान्य उपरेखाएँ भी हैं ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, वहाँपर उन रेखाओंको किसने देखा, वे किस तरह की हैं और अति निविड़ पत्थरके अन्दर स्थित वे कैसे देखी जा सकती हैं? कृपया यह कहिये ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अन्दर उस तरहकी वे रेखाएँ मैंने देखी हैं। यदि आपको उन्हें देखने की इच्छा हो तो आप भी उन रेखाओंको समाधि द्वारा देख सकते हैं ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, उस तरहकी वज्रसे भी मजबूत वह शिला तोड़ी नहीं जा सकती, फिर भी आपने उसके गर्भमें स्थित रेखाएँ कैसे देखीं? ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतस्या जठरे राम लेखाऽहं जठरे स्थितः ।
तेन पश्यामि तत्रस्थो लेखाजालं तदच्चतम् ॥ २९ ॥
कोऽसौ शक्तोऽन्यथा भङ्क्तुं तां शिलामहमन्तरे ।
तत्सर्वं दृष्टवांस्तस्या अहं तत्राऽन्तरस्थितः ॥ ३० ॥

श्रीराम उवाच

काऽसौ शिलाऽथ कश्च त्वं वद मे काऽसि संस्थितः ।
किमेतद्वदसि ब्रूहि किमेतद्दृष्टवानसि ॥ ३१ ॥

वसिष्ठ उवाच

परमात्ममहासत्ता कथितैषा मया तव ।
अनयैव वचोभङ्ग्या न त्वेषा विपुला शिला ॥ ३२ ॥
परमात्ममहासत्ताशिलाया जठरे वयम् ।
तच्छिलामांसमेवेमे सौषिर्यपरिवर्जिते ॥ ३३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं भी (वसिष्ठशरीर भी) इसके गर्भमें स्थित रेखारूप ही हूँ, इस कारण वहाँपर स्थित मैं सब रेखाओंको पूर्णतया देखता हूँ ॥ २९ ॥

उसके अन्दर स्थित हुए मैंने अन्दर स्थित सब रेखाओंको देखा, नहीं तो उस शिलाको तोड़ने-फोड़नेकी किसमें सामर्थ्य है ॥ ३० ॥

अब तत्त्वतः उस शिलाको और वसिष्ठजीको जाननेकी इच्छासे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'काऽसौ'** इत्यादिसे

वह शिला कौन है, और आप कौन हैं, कहाँपर स्थित हैं। यह शिलानामक किसको आप कहते हैं और क्या आपने वह शिला देखी है? कृपा करके यह सब यथार्थरूपसे मुझसे कहिये ॥ ३१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, इस शिलाख्यानवाचोयुक्तिसे (वचनभङ्गीसे) मैंने आपसे परमात्म महासत्ताका वर्णन किया है। यह विशाल शिला नहीं है। उस परमात्ममहासत्तारूप शिलाके निश्छिद्र (छिद्ररहित) गर्भमें ये हम लोग उस शिलाके मांस ऐसे ही (स्वरूपभूत ही) स्थित हैं ॥ ३२,३३ ॥

तच्छिलाङ्गं नभो विद्धि तच्छिलाङ्गं सदागतिः ।
तच्छिलाङ्गं क्रियाशब्दा वासना कालकल्पना ॥ ३४ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीदं तत्तच्छिलाङ्गमुदाहृतम् ॥ ३५ ॥
परमात्ममहासत्ताशिलामांसमिमे वयम् ।
सर्व एव ततोऽनन्येऽप्यन्ये त्विति च विद्महे ॥ ३६ ॥
चिन्मात्रैकात्मिका येयं किलाऽतिमहती शिला ।
एतस्या व्यतिरेकेण क्व तदस्ति किमुच्यताम् ॥ ३७ ॥
शुद्धं वेदनमेवेदं घटावटपटादिकम् ।
यथा स्वप्ने तथा भाति जलमूर्मितया यथा ॥ ३८ ॥

सारा जगत् उस शिलाका अङ्ग ही है, यह विस्तारसे कहते हैं—'तच्छिलाङ्गम्' इत्यादिसे ।

हे रामचन्द्रजी, आकाशको आप उस शिलाका अङ्ग जानिये । वायु आदि पांच महाभूत उसके अङ्ग हैं, यह समझिये, क्रिया, शब्द आदि यानी वायु, आकाश आदि सब भूत-भौतिकोंके धर्म, वासना आदि मनके धर्म और पक्ष, मास, वर्ष आदि कालकी कल्पनाएँ उस शिलाके अङ्ग हैं ॥ ३४ ॥

उक्तको ही स्पष्टरूपसे कहते हैं—'भूमि०' इत्यादिसे ।

भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये सब उस शिलाके अङ्ग कहे गये हैं ॥ ३५ ॥

ये सब हम लोग भी उस परमात्ममहासत्तारूप शिलाके मांसकी तरह स्वरूपभूत ही हैं । उक्त परमात्ममहाशिलासे अभिन्न होते हुए भी भ्रमवश अपनेको उससे भिन्न समझते हैं ॥ ३६ ॥

जो यह चिन्मात्रैकस्वरूप अतिमहती शिला है यदि उससे पृथक् कोई है तो वह कहाँपर है और वह कौन है यह बतलाइये ॥ ३७ ॥

यदि कोई कहे पृथिवी, घड़ा, गड्ढा, वस्त्र आदि ही उससे पृथक्रूपसे प्रसिद्ध हैं, तो इसपर 'नहीं' कहते हैं—'शुद्धम्' इत्यादिसे ।

ये भूतल, घट, पट आदि शुद्ध संवेदनरूप ही हैं जैसे स्वप्नमें केवल

इदं ब्रह्मघनं सर्वं चिन्मात्रघनमाततम् ।
परमार्थघनं शान्तं सर्वमेकघनं विदुः ॥ ३९ ॥
एकं महाचिति शिलोदरमेव सर्वं
सौषिर्यवर्जितमपारमनादिमध्यम् ।
तेनाऽत्मनैव कलिता कलनात्मनेयं
सर्गो जगद्भुवनमित्यपि दृश्यनाम्नी ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० शिलोपाख्यानं नाम षट्-षष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६६ ॥

संवेदनरूप घट, पट आदिका भान होता है और जैसे जलका ही तरङ्ग, आवर्त, बुद्बुद् आदि रूपसे भान होता है वैसे ही इनका भी भान होता है ॥ ३८ ॥

तत्त्वज्ञ लोग घट, पट आदि सकल भूत-भौतिक पदार्थोंको सर्वतः व्याप्त परमार्थघन एकरस शान्त चिन्मात्रघन ब्रह्म ही जानते हैं ॥ ३९ ॥

महाचित्में सारा जगत् ब्रह्मशिलाका गर्भ ही है और वह छिद्रोंसे रहित असीम तथा आदि, मध्य और अन्तसे शून्य है । उक्त प्रकारके ब्रह्मात्माने अपने आप ही सृष्टि, जगत्, भुवन आदि पर्यायवाली दृश्यनामधारिणी यह कल्पना की है ॥ ४० ॥

एक सौ छाछठ सर्ग समाप्त



सप्तषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिः ख्यातिरख्यातिरन्यथा।
शब्दार्थदृष्टयस्तज्ज्ञं प्रत्येताः शशशृङ्गवत् ॥ १ ॥
कदाचनाऽपि नामाऽङ्ग संभवन्ति न काश्चन।
शान्तमव्यपदेश्यात्मा ज्ञ आस्तेऽस्तङ्गतेङ्गनः ॥ २ ॥
एता उद्यन्ति चिन्मात्रादात्मख्यात्यादिका दृशः।
तच्च शुद्धतरं व्योम तन्मय्येव च दृश्यते ॥ ३ ॥
अयमात्मा त्वियं ख्यातिरित्यन्तःकलनाभ्रमः।
न संभवत्यतश्चैनं शब्दं त्यक्त्वा भवाऽर्थभाक् ॥ ४ ॥

एक सौ सड़सठ सर्ग

[विभिन्न वादियोंकी उक्त चार ख्यातियोंका तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे निराकरण और तीनों अवस्थाओंसे निर्मुक्त आत्मतत्त्वका निरूपण करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञके प्रति ये शब्दार्थ-दृष्टिरूप आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति शशके सींगोंकी तरह असत् हैं ॥ १ ॥

यदि जगत्ख्याति होती तो वह आत्मख्याति है या असत्ख्याति है या अख्याति है इत्यादि विकल्पोंका अवसर होता जब जगत्ख्याति ही नहीं है तब किसकी चतुर्विधता होगी? इस आशयसे कहते हैं—'**कदाचन**' इत्यादिसे।

हे रामजी, इन ख्यातियोंका कदापि भी संभव नहीं है। निश्चेष्ट (ख्याति आदि कल्पनाओंके मूलभूत चित्तकी चेष्टाओंसे रहित) शान्त अव्यपदेश्य ज्ञाता (द्रष्टा) ही केवल है ॥ २ ॥

ये आत्मख्याति आदि भ्रान्तिदृष्टियाँ चिन्मात्रसे उदित होती हैं और चिन्मात्र परमार्थरूपसे अत्यन्त शुद्ध (कल्पनाशून्य) आकाश है। अतः मैं सारी कल्पनाओंको तन्मयी ही देखता हूँ, क्योंकि 'तद्यदिदमयोऽदोमयः सर्वमयः' (जो यह इदंमय, अदोमय, सर्वमय है वह सब ब्रह्म ही है) ऐसी श्रुति है ॥ ३ ॥

यह आत्मा है, यह ख्याति है, यह अन्तःकरणकी कल्पनाभ्रान्ति ही

गच्छंस्तिष्ठन्ददपि सर्वं शान्तमतो जगत् ।
आकाशमौनमेवाऽच्छमच्छिन्नं वा प्रवृत्तिमत् ॥ ५ ॥
नानामहाशब्दमपि शिलामौनमवस्थितम् ।
अनारतं गच्छदपि व्योमवच्छैलवत्स्थितम् ॥ ६ ॥
नानाविधारम्भमपि महाशून्यमनङ्कितम् ।
पञ्चभूतात्मकमपि खमिवाऽलब्धपञ्चकम् ॥ ७ ॥
पदार्थसंकुलमपि शून्यं संवित्तिमात्रकम् ।
स्वप्ने महापुरमिव दृष्टमप्यच्छचिन्मयम् ॥ ८ ॥
सारम्भमप्यनारम्भं संकल्पनगरं यथा ।
आकाशमात्रं भ्रान्त्यात्म स्वप्नस्त्रीसंगमोपमम् ॥ ९ ॥

है, अतः इसका संभव नहीं है। इसलिए शब्दका त्यागकर आप परमार्थभाजन होइए। इसीलिए हमने 'सार्थकेनाऽऽत्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झिताम्' यानी सार्थक आत्मशब्दसे और ख्यातिशब्दसे परित्यक्त (विरहित) ऐसा कहा है ॥४॥

इस परमार्थदर्शनसे चल रहा, ठहर रहा और खा रहा सारा जगत् शान्त, आकाशके समान मौन, निर्मल, निरवच्छिन्न तथा अप्रवृत्तिमान् ही प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

उक्त अर्थका ही विशदरूपसे प्रतिपादन करते हैं—**'नाना'**०इत्यादिसे ।

उक्त परमार्थदर्शनसे नाना महाशब्दोंसे भरा हुआ भी यह जगत् शिलावत् मौन स्थित है। निरन्तर चलता हुआ भी आकाशके समान तथा पर्वतके समान अचल (स्थिर) है ॥ ६ ॥

भाँति-भाँतिके अनेक आरम्भोंसे (कर्मोंसे) पूर्ण भी यह महाशून्य तथा अनङ्कित है। पञ्चभूतात्मक होनेपर भी अलब्ध पञ्चभूतवाले आकाशके समान स्थित है ॥ ७ ॥

विविध पदार्थोंसे परिपूर्ण भी यह शून्य संवेदनमात्र है। स्वप्नमें देखे गये महानगरके समान दिखाई देनेपर भी निर्मल चिन्मय है ॥ ८ ॥

संकल्पनगरके समान आरम्भयुक्त होनेपर भी आरम्भशून्य है और स्वप्न-स्त्रीसंगमके तुल्य भ्रान्तिरूप अतिशून्य है ॥ ९ ॥

अनुभूतमपि व्यर्थं प्रतिबिम्बाङ्गनासमम् ।
नानाभुवननिर्माणं वस्तु शून्यं तु वस्तुतः ॥ १० ॥

श्रीराम उवाच

जाग्रत्स्वप्नात्मकमिदं मन्ये स्मृत्यैव दृश्यते ।
सद्रूपबाह्यार्थकृता स्मृतिरेवेह कारणम् ॥ ११ ॥

वसिष्ठ उवाच

यत्तच्चित्काचकच्येन काकतालीयवद्वपुः ।
व्योमात्माऽऽभाति भावानां सत्तामात्रमभित्तिमत् ॥ १२ ॥
तदेतदविनाशात्म सर्वत्र परमात्मनि ।
सर्वदा विद्यते शान्ते पयसीव तरङ्गकाः ॥ १३ ॥

दर्पणमें प्रतिबिम्बित या चित्रलिखित अङ्गनाके समान अनुभूत होनेपर भी व्यर्थ है । उसमें नाना भुवनोंका निर्माण होनेपर भी वह वस्तुतः वस्तुशून्य है ॥१०॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, यदि अविद्यमान ही जाग्रत् और स्वप्नरूप जगत् केवल वासनासे दृष्टिगोचर होता है तो स्मृतिसे ही वह दृष्टिपदारूढ़ होता है, ऐसा मैं समझता हूँ, यानी मेरी समझमें जगत्के भानमें स्मृति ही कारण है भ्रान्ति कारण नहीं है क्योंकि स्मृति अधिष्ठान, दोष, सादृश्य आदि निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं करती केवल अविद्यमान पदार्थगोचर है ॥ ११ ॥

जाग्रत्-स्वाप्न जगत्के अविद्या, निद्रा आदि दोष जनित होनेके कारण तथा स्वप्रकाश चेतनमें संप्रयोगका उपयोग न होनेके कारण यह जगद्भान चिदधिष्ठानवाली भ्रान्ति ही है, स्मृति नहीं है । जैसे वर्तमान अनुभवको स्मृति मानते हैं वैसे ही पूर्व पूर्व अनुभवोंमें भी स्मृतित्वापत्ति होनेसे स्मृतिके मूलभूत अनुभवकी अप्रसिद्धि होनेका भय है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—**'यत्तत्'** इत्यादिसे ।

चिदाकाशस्वरूप तथा पदार्थोंका सत्तामात्र जो यह चित्के चाकचिक्यसे प्रतीत होता है वही यह काकतालीयके समान आकस्मिक शरीरधारी बिना भित्तिके चित्रसा जगत् है ॥ १२ ॥

वह यह अविनाशी शान्त जलमें तरङ्गोंकी नाईं परमात्मामें सर्वत्र सदा विद्यमान रहता है ॥ १३ ॥

निर्निमित्तं स्वरूपात्म तदेतत्परमात्मनि ।
सर्वात्मन्यपि निर्वाणे व्योमात्मनि निरात्मनि ॥ १४ ॥
यदा यदाऽवभात्यन्तर्येन तेन यथा तथा ।
सर्वदा न कदाचिद्वा यत्र तत्र न किंचन ॥ १५ ॥
तस्यैव ब्रह्मभानस्य तेनैवं ब्रह्मणाऽऽत्मना ।
स्वच्छस्यैव स्वभावस्य स्वस्वभावमनुज्झता ॥ १६ ॥
इदं जाग्रदयं स्वप्नः सुषुप्तं तुर्यमित्यपि ।
कृतं नाम स्वयं चित्त्वाद् ब्रह्म वाऽऽत्मेति चाऽऽत्मनि ॥ १७ ॥
वस्तुतस्त्वस्ति न स्वप्नो न जाग्रन्न सुषुप्तता ।
न तुर्यं न ततोऽतीतं सर्वं शान्तं परं नभः ॥ १८ ॥
अथवा सर्वमेवेदं जाग्रद्रूपं सदैव च ।
सर्वदैव च वा स्वप्नः सुषुप्तं सर्वदैव च ॥ १९ ॥

सर्वात्मक निर्वाणरूप आकाशरूप निराकार परमात्मामें स्वरूपभूत यह बिना निमित्तके ही जिस किसी दोषसे जब जब जैसा अन्दर भासित होता है वास्तवमें कुछ न होता हुआ भी न सदा या न कदाचित् यत्र तत्र वैसा प्रतीत होता है ॥१४,१५॥

तब किसकी यह भ्रान्ति है और किसने ये जगत् आदि नाम किये हैं ? इसपर कहते हैं—'तस्यैव' इत्यादिसे ।

इस प्रकार अपने स्वभावका त्याग न कर रहे उसी ब्रह्मने चित् होनेके कारण स्वयं स्वभावभूत स्वच्छ उसी ब्रह्मभानके ही यह जाग्रत्, यह स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य ये नाम, ब्रह्म अथवा आत्मा ये नाम अपनेमें किये हैं ॥१६,१७॥

वास्तवमें तो न स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यावस्था है और न उनसे अतिरिक्त किन्तु सब कुछ शान्त परमाकाश ही है ॥ १८ ॥

अथवा चित्में कदापि स्वप्न न होनेसे यह सब कुछ सदा ही जाग्रद्रूप है या केवल भ्रान्तिमात्र होनेसे सदा ही स्वप्न है अथवा अविद्यावरणमात्र होनेसे सुषुप्त है अथवा स्वयं ही सदा तीनों अवस्थाओंका अतिक्रमण करनेसे सदा ही यह सब तुर्य ही है, ऐसा कहा जा सकता है। तीन अवस्थाओंकी असिद्धि होनेसे तुर्यका अन्त (असत्त्व) या निर्विकल्पमें वह है या यह इत्यादि विकल्पको भी आशान्तरूपी हम नहीं जानते हैं ॥ १९,२० ॥

सर्वदैव च वा तुर्यं तदन्तः सर्वदैव वा ।
तदिदं वा न यद्विद्यो वयमाशान्तरूपिणः ॥ २० ॥
इदं फेनो न किंचिद्वा बुद्‌बुदो वा न कश्चन ।
शून्यताम्भसि चिद्व्योममहार्णवमहोदरे ॥ २१ ॥
यथा संवेद्यते यद्यत्तथा तदनुभूयते ।
सद्वाऽसद्वा भवत्स्वप्ने व्योम्नीव सदसच्च तत् ॥ २२ ॥
संवित्कचनमेवेदं यथाभानं विभासते ।
व्योम व्योमनि चिद्रूपं चिद्रूपे वितातात्मनि ॥ २३ ॥
संविच्च चिन्नभोमज्जा सैवंरूपैव सर्वदा ।
नाऽस्तमेति न चोदेति तस्याः स्वाङ्गमिदं जगत् ॥ २४ ॥
महाप्रलयसर्गाद्या महाप्रलयरात्रयः ।
तस्या एवाऽवयवतां याताः केशनखादिवत् ॥ २५ ॥

जैसे शून्यतारूपी जलमें यह फेन है या कुछ नहीं है, यह बुद्‌बुद है अथवा कुछ नहीं है यह विकल्प व्यर्थ है वैसे ही चिदाकाशरूपी महासागरके महागर्भमें यह जाग्रत् है या यह स्वप्न है अथवा यह सुषुप्ति है यह विकल्प व्यर्थ है ॥ २१ ॥

कल्पनावेदनदृष्टिसे जिसने जब जैसा जाना उसको तब यह ऐसा ही है, यों सन्तोष करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जिस समय जिसका जिसको जैसे स्मरण होता है सत् हो चाहे असत् उसका उसको उस समय वैसे अनुभव होता है आपके स्वप्नकी तरह चित् चिदाकाशमें ही सदसत् पदार्थोंका अनुभव करती है ॥ २२ ॥

यह संवित्का स्फुरणरूप ही चिद्रूप आकाश सर्वव्यापक चिद्रूप आकाशमें भानके अनुसार भासता है ॥ २३ ॥

और चिदाकाशकी मज्जारूप (वसारूप) वह संवित् सर्वदा ऐसी ही है । न कभी अस्तको प्राप्त होती है और न कभी उदित होती है, यह जगत् उसका अङ्गरूप है ॥ २४ ॥

महाप्रलय, सृष्टि आदि काल-विभाग और उसमें महाप्रलयरूपी रात्रियाँ और सृष्टिरूपी दिन केश, नख आदिके समान उसीके अवयवभूत हुए हैं ॥२५॥

तस्या भानमभानं तद्भास्वरं जिह्ममेव वा।
नाऽन्यत्स्वभाववत्स्पन्द इव वायोर्महाचितेः ॥ २६ ॥
तस्मात्किं नाम जाग्रत्स्यात्कः स्वप्नः का सुषुप्तता।
किं तुर्यं का स्मृतिः केच्छा तुच्छा एताः कुदृष्टयः ॥ २७ ॥
अन्तःसंवेदनं भाति स्वं बाह्यार्थतया यतः।
क्व द्वैतं क्व च वाऽर्थश्रीः स्मृतिरेवमतः कुतः ॥ २८ ॥
तदिदं भाति निर्भित्ति तत्स्वभानं यदात्मना।
भानोर्नभसि भारूपमेव भूतविवर्जितम् ॥ २९ ॥
सद्रूपो यदि बाह्योऽर्थो विद्यते तत्तदुत्थिता।
स्मृतिः कारणतामेतु नामाऽऽद्यजगतः स्थितेः ॥ ३० ॥
किंतु नाऽस्त्येष बाह्योऽर्थो भूतानामत्यसंभवात्।
पञ्चानामादिसर्गादौ कारणानामभावतः ॥ ३१ ॥

उसका वह चिद्रूप भास्वर भान अथवा मायारूप अभान वायुके स्पन्दके समान महाचैतन्यका स्वभाववत् है। अन्य (भिन्न) नहीं है ॥ २६ ॥

ऐसी परिस्थितिमें क्या जाग्रत् होगा, क्या स्वप्न होगा, क्या सुषुप्ति होगी, क्या तुरीयावस्था होगी, क्या स्मृति होगी और क्या इच्छा होगी ? ये सबकी सब जाग्रदादिदृष्टियाँ कुदृष्टियाँ हैं ॥ २७ ॥

चूंकि अपना आभ्यन्तर संवेदन ही बाह्य पदार्थके रूपसे प्रतीत होता है अतः कहाँ द्वैत है और कहाँ पदार्थशोभा है ? ऐसी स्थितिमें स्मृति भी कहांसे होगी ॥ २८ ॥

भेदशून्य जो यह अपनेसे भासित होता है वह स्वभान (स्वरूपभूत ही भान) है, स्वभिन्न नहीं है जैसे सूर्यका निराश्रय आकाशमें भूतरहित प्रभारूप ही भान है वह किसी भास्यकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही यह भूतविवर्जित चिद्भान ही है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ २९ ॥

यदि बाह्य पदार्थ सद्रूप होता तो उसके अनुभवसे उत्पन्न स्मृति सर्गके आदि कालकी जगत्स्थितिकी कारण हो सकती, किन्तु सृष्टिके प्रारम्भमें उपादान, निमित्त, सहकारी आदि कारणोंका अभाव होनेसे पञ्च महाभूतोंका अत्यन्त असंभव है, अतः यह बाह्य अर्थ नहीं ही है। इस बाह्य अर्थका

शशश्रृङ्गं यथा नास्ति यथा नास्ति खपादपः ।
यथा वन्ध्यासुतो नास्ति यथा नास्त्यसितः शशी ॥ ३२ ॥
तथाऽज्ञप्रतिभातोऽर्थो जगदाद्यहमादिकः ।
अप्रेक्षितोऽस्ति नास्त्येव प्रेक्षितः सन्न कश्चन ॥ ३३ ॥
यथाऽस्तीदं महाकारं न किंचिद्रूपमेव वा ।
तत्त्वज्ञविषयं राम तथाऽस्तीदमखण्डितम् ॥ ३४ ॥
संविद्घननभोमज्जा यथोदेति यदा यदा ।
नित्योदितोपचारेण कल्पितास्तमयोदया ॥ ३५ ॥
मुधा व्योम्न्येव पृथ्व्यादितया वेत्ति तदा तदा ।
स्वस्यैव तस्य भानस्य धत्ते पृथ्व्यादिकल्पनाम् ॥ ३६ ॥
स्वमेव भानमाकाशमात्रमेव महाचितिः ।
पृथ्व्यादिव्यपदेशेन पश्चाद्व्यपदिशत्यजा ॥ ३७ ॥

वैसे ही अस्तित्व नहीं है जैसे कि शशके सींगोंका अस्तित्व नहीं है और जैसे आकाश वृक्षका अस्तित्व नहीं है। जैसे वन्ध्याका पुत्र नहीं है और जैसे काला चन्द्रमा नहीं है ठीक वैसे ही सृष्टिके आदिमें अज्ञानियोंको प्रतीत हो रहा जगत् आदि, 'अहम्' आदि पदार्थ तत्त्वदृष्टिसे न देखा जाय तो है यदि तत्त्वतः देखा जाय तो कुछ भी नहीं है ॥ ३०–३३ ॥

जैसे अज्ञानियोंके प्रति यह महाकाय है वैसे ही तत्त्वज्ञानियोंके प्रति मूर्तामूर्तरूपसे रहित चिन्मात्रैकघन अखंडित ही है ॥ ३४ ॥

संविद्घन चिदाकाशकी मज्जाभूत संवित् यद्यपि नित्य ही उदित है तथापि जब जब जैसे उदित होती है तब तब व्यवहारमें उपचारसे (गौणी वृत्तिसे) उसमें अस्तमय और उदयकी कल्पना की जाती है ॥ ३५ ॥

अज्ञानी जब जब अज्ञानसे व्यर्थ ही आकाशमें पृथिवी आदि रूपसे उसे जानता है तब तब वह उस अपने भानमें ही पृथिवी आदिकी कल्पना करता है ॥ ३६ ॥

अजन्मा (जन्म आदि विकार रहित) आकाशरूप महाचिति स्वभानका ही पीछे पृथिवी आदि नामसे व्यवहार करती है ॥ ३७ ॥

आकाश एव पृथ्वीयमिति धत्ते स्वसंविदम् ।
मनोराज्यपुरं बाल इव चिन्मात्रमव्ययम् ॥ ३८ ॥
किं भानं किमभानं स्यात्तस्येति न विकल्प्यते ।
स्पन्दास्पन्दस्वभावं तद्विद्धि वातमिवाऽम्बरे ॥ ३९ ॥
यथा भाति चिदाकाशं तथेदमवभासते ।
व्योम व्योम्न्येव नीरूपं नेदं पृथ्व्यादि सत्क्वचित् ॥ ४० ॥
यथा भाति चिदाकाशरूपत्वाद्भातमप्यलम् ।
न सन्नाऽसदिति किंचित्तन्न किंचिच्च किंचन ॥ ४१ ॥
इदमित्थमनित्थं च सद्वाऽसद्वा यथास्थितम् ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ४२ ॥

जैसे मूर्ख मनोरथनगरमें यह नगर है ऐसी संवित् करता है वैसे ही अविनाशी चिन्मात्र आकाशमें ही 'यह पृथिवी है' ऐसी संवित् धारण करता है ॥ ३८ ॥

यदि वह चिन्मात्र ही है तो उसका जगदाकारमें भान क्यों होता है और अभान भी क्यों होता है ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये, क्योंकि आकाशमें वायुके समान उसे आप स्पन्द और अस्पन्द स्वभाववाला जानिये । प्राणशक्तिसे वह स्पन्दस्वभाववाला है और चित्‌शक्तिसे अस्पन्दस्वभाववाला है, ऐसा जानिये, यह भाव है ॥ ३९ ॥

चिदाकाश जैसे जैसे वासनाके उद्भवसे स्फुरित होता है वैसे वैसे यह जगत् रूपसे भासित होता है । आकाशमें निराकार आकाश ही है, यह पृथिवी आदि कहींपर भी सत् नहीं है ॥ ४० ॥

इसलिए जिस प्रकार इस जगत्‌का भान होता है वैसा ही भान हो । भान होनेपर भी वह चिदाकाशरूप होनेसे न सर्वथा सत् है और न असत् ही है, वह प्रपञ्चरूप कुछ भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय ही है ॥ ४१ ॥

यथास्थित यह जगत् ऐसा है और ऐसा नहीं है, सत् है अथवा असत् है इस लोकपर्यायवृत्तान्तको तत्त्वज्ञ ही जानता है, अन्य (अज्ञानी) नहीं जानता ॥ ४२ ॥

स एव हृदयाकाशे कचन्त्या दृश्यसंविदा ।
बाह्यं ब्रह्माण्डमित्थं च सद्वाऽसद्वा यथास्थितम् ॥ ४३ ॥
किमत्र बाह्यं किंवाऽन्तः किं दृश्यं काऽस्य दृश्यता ।
शिवं शान्तमशान्तं च सर्वमोमिति शाम्यताम् ॥ ४४ ॥
नो वाच्यवाचकदृशा रहितो विचारः
संपद्यते स च विकल्पमयेन सिद्धैः ।
सिद्धिश्च संभवति तेन विना न काचि-
द्दीपं विना निशि यथा नयनोपलम्भः ॥ ४५ ॥

चूँकि वह प्राज्ञ (तत्त्वज्ञ) ही सबके हृदयाकाशमें आत्मरूपसे रहता है, अतः आत्मरूपसे ही स्फुरित हो रही दृश्य संवित्से यह आभ्यन्तर (शरीर) है यह बाह्य ब्रह्माण्ड है इत्यादि भेदकल्पनाओं द्वारा नाम किया गया है । इस प्रकार क्या यहाँपर बाह्य है अथवा क्या आभ्यन्तर है, क्या दृश्य है और क्या इसकी दृश्यता है ? शिव, शान्त और अशान्त सब-कुछ ॐकाररूप प्रणवमात्र है यों अभेदकल्पना द्वारा प्रविलापन कर शान्त होइये ॥ ४३,४४ ॥

जब तक विचार करना हो तब तक लोकनीतिके अनुसार वाच्यवाचक-भाव, चाहे वह असत् ही क्यों न हो, स्वीकार करके ही श्रवण, मनन आदि विधियाँ प्रवृत्त होती हैं, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'**नो**' इत्यादिसे ।

वाच्यवाचकभावके बिना शास्त्रार्थविचार नहीं हो सकता । और वह शास्त्रार्थविचार 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । प्रयोजनं च पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ॥'—शास्त्रमें विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष (सिद्धान्त) और प्रयोजन इन पांच अवयवोंवाला अधिकरण कहा गया है । यों प्रसिद्ध पञ्चावयव विकल्पसे किया जाय तो सिद्धिके लिए होता है । जैसे रात्रिमें दीपकके बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे ही उक्त विचारके बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥ ४५ ॥

तस्मादपास्य परयाऽमलया धियाऽन्तः-
संकल्पकल्पनमनल्पविकल्पजालम् ।
कृत्वा मनः सकलशास्त्रमहार्थनिष्ठ-
मुड्डीय गच्छ पदमुत्तममेकनिष्ठः ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम० वा० दे० मो० नि० उ० जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यभाव-
प्रतिपादनं नाम सप्तषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६७ ॥

—:०:—

इसलिए सम्यग् विचारसे निर्मल हुई बुद्धिसे अन्दर संकल्पकरणरूप प्रचुर विकल्पोंको हटाकर मनको सकल शास्त्रोंके निष्कर्षसिद्ध महार्थभूत सच्चिदानन्द अद्वितीय आत्मामें संलग्नकर यानी आत्मनिष्ठ होकर आप इस संसारसे उड़कर मोक्षरूप उत्तम पदको प्राप्त होइये ॥ ४६ ॥

एक सौ सड़सठ सर्ग समाप्त



अष्टषष्ट्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अबुद्धिपूर्वमेवाऽगो यथा शाखाविचित्रताम् ।
करोत्येवमजश्चित्राः सर्गाभासः ख एव खम् ॥ १ ॥

एक सौ अड़सठ सर्ग

[अबुद्धिपूर्वक सृष्टिके अध्यारोपका वर्णन और विचारसे उसकी चिन्मात्रस्वरूपता तथा चित्‌के अविकारी होनेसे सर्गका अपवाद]

सृष्टिको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए सृष्टिकी अबुद्धिपूर्वकताका विविध दृष्टान्तों द्वारा समर्थन करते हैं—'**अबुद्धिपूर्वम्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वृक्ष अबुद्धिपूर्वक ही यानी मैं विचित्र शाखाओंकी रचना करता हूँ यों बुद्धिपूर्वकताके बिना ही शाखाओं-की विचित्रताका निर्माण करता है वैसे ही जन्मादि विकार रहित परमात्मा आकाश-सदृश अपने स्वरूपमें शून्यरूप विचित्र प्रपञ्चाध्यासोंकी सृष्टि करता है ।

शङ्का—'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने विचार किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ), 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने कामना की मैं बहुत होऊँ मैं उत्पन्न होऊँ), 'स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' (उसने तपस्या की, तपस्या करके उसने इस सब चराचरकी सृष्टि की), 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमुपजायते' (स्रष्टव्य [सर्जनीय] प्रपञ्चके आलोचनरूप तपसे ब्रह्म 'मैं एक हूँ बहुत होऊँ' यों इच्छावाला होता है तदनन्तर इच्छावान् ब्रह्मसे ईश्वरोपाधिभूत अव्याकृत उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतियोंमें सृष्टि बुद्धिपूर्वक की गई है ऐसा डिंडिमघोष है । फिर आप सृष्टि अबुद्धिपूर्वक है ऐसा प्रत्यक्ष और श्रुतिके विपरीत कैसे कहते हैं ?

समाधान—सुनिये, जैसा आपने ऊपर प्रतिपादन किया है वैसा ही होता, यदि श्रुतिका तात्पर्य सृष्टि आदिके प्रतिपादनमें होता । लेकिन भगवती श्रुतिका तात्पर्य सृष्टि आदिके प्रतिपादनमें है नहीं, क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टिके ज्ञानसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि श्रुतिमें कहीं भी प्रतिपादित नहीं है । अद्वितीय ब्रह्मात्मज्ञान ही सप्रयोजन है अतः सकल श्रुतियोंमें विस्तारसे वर्णित

है। फलवान् (सप्रयोजन) अद्वितीयब्रह्मात्मज्ञानके समीपमें श्रुत अफल (निष्प्रयोजन) सर्ग आदि किमर्थ है ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर वह फलवान् ब्रह्मात्मैक्यज्ञानका अङ्ग हो जाता है। और वह शांडिल्य विद्याके अङ्गभूत शमविधिपरक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस वाक्यमें चूँकि यह सारा जगत् उससे उत्पन्न होता है, अतः 'तज्ज' है, उसमें लीन होता है, अतः 'तल्ल' है, उससे जीवित रहता है, अतः 'तदन्' है, उत्पत्ति, स्थिति और लयमें ब्रह्माधीन सत्तावाला होनेके कारण यह सब ब्रह्मरूप ही है यों ब्रह्माद्वैत बतलानेमें उपायभूत है, इस कारण श्रुतिने स्वयं श्रीमुखसे सर्गकी ज्ञानाङ्गताका सिद्धवत् कीर्तन किया है, अन्य प्रकारसे उसकी संगति नहीं बैठ सकती। 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादि सूत्र, भाष्य आदि द्वारा बतलाई गई सैकड़ों युक्तियोंसे, स्मृति, पुराण आदि हजारों वेदोपबृंहणोंसे अध्यारोप और अपवाद द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्वके प्रतिपादनमें सब श्रुतियोंका तात्पर्य निश्चित होनेपर रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, मरुमरीचिका, स्वप्न आदि अध्यारोपोंमें अबुद्धिपूर्वकता ही देखी गई है, कहींपर भी अध्यारोपमें बुद्धिपूर्वकता नहीं देखी जाती यों भगवान् श्रीवसिष्ठजी सृष्टिमें किसीको अनारोपितत्व शङ्का न हो इसलिए सृष्टिकी अबुद्धिपूर्वकताकी सिद्धि करते हैं। रह गई श्रुतियोंमें ईक्षण आदि पूर्वकत्वके कथनकी बात। उसका प्रयोजन तो ब्रह्मकी सर्वज्ञता, चिदेकरसता आदिके लाभसे सांख्य आदिके अभिमत अचेतन प्रधान आदिकी उपादानताके निराकरणमें है, क्योंकि 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रोंसे ऐसा ही श्रुतिका तात्पर्य दिखलाया गया है; 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन स्वप्न उसके तीन स्थान हैं। 'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्' (जैसे जीवित यानी चेतनरूपसे प्रसिद्ध पुरुषसे अचेतन केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्रह्मसे सृष्टिकालमें निखिल जगत् उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतिदृष्टान्तके अनुरूप है; भगवान्के ईक्षण, कामना, संकल्प आदिके, जो बुद्धितत्त्वकी उत्पत्तिसे पहलेके हैं, केवल मायावृत्तिरूप होनेसे सृष्टिके ईक्षण, कामना और संकल्पपूर्वक होनेपर भी काम, संकल्प आदि धर्मवान्में अबुद्धिपूर्वकताकी उपपत्ति होती है; त्वंपदार्थनिष्ठ ही अध्यारोपके अपवाद द्वारा निरासमें मुक्तिरूप फलता उपपन्न होती है, इसलिए तत्पदार्थमें जगत्के अध्यारोपप्रतिपादनका कोई प्रयोजन नहीं है; प्रपञ्च स्वनिष्ठ अविद्याका कार्य है, अतः स्वविद्यासे उसकी निवृत्ति

यथा करोत्यबुद्ध्यादिरावर्तादि पयोनिधिः ।
तथा करोति खे खात्मा सर्वेशः सर्ववेदनाः ॥ २ ॥
तासां स्वसंविदामेव ततः स कुरुते स्वयम् ।
मनोबुद्धिरहंकार इत्याद्या विविधाभिधाः ॥ ३ ॥
अबुद्धिपूर्वमारम्भो दृश्यरूपः स्वतश्चितेः ।
संकल्प्यमानो बुद्ध्यादिस्तरङ्गादिर्यथाऽम्बुधेः ॥ ४ ॥
चिन्मात्रात्संप्रवर्तन्ते मनोबुद्ध्यादयस्तथा ।
आवर्तकणकल्लोलवीचयो वारिधेर्यथा ॥ ५ ॥
भित्तिमात्रं यथा चित्रं जगदालोकमात्रकम् ।
चिति चिद्व्योममात्रात्म तथैवाऽऽभासमात्रकम् ॥ ६ ॥
अबुद्धिपूर्वमारम्भो नियत्या संनिवेशवान् ।
यथा संपद्यते वृक्षे तथा सर्गात्मकश्चिति ॥ ७ ॥

हो सकती है और अपनेमें अबुद्धिपूर्वक ही तीन अवस्थाओंके अध्यारोपका अनुभव होता है, इस आशयसे मुनिने यहां अबुद्धिपूर्वकताका समर्थन किया है, यह समझना चाहिये ॥ १ ॥

जैसे सागर अबुद्धिपूर्वक ही आवर्त, तरङ्ग, बुद्बुद आदिकी रचना करता है वैसे ही निराकार सर्वेश्वर परमात्मा आकाशमें जगत्-प्रतिभासोंको (जगत्-स्फुरणोंको) बनाता है ॥ २ ॥

तदनन्तर वह उन जगदाकार स्वसंविदोंकी ही स्वयं मन, बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि विविध संज्ञाएँ करता है ॥ ३ ॥

जैसे समुद्रसे तरङ्ग आदि स्वतः होते हैं वैसे ही चित्से बुद्धि आदिकी सिद्धि होनेतक दृश्यरूप आरम्भ अबुद्धिपूर्वक स्वतः ही होता है, लेकिन बुद्धिकी सिद्धि होनेके बाद संकल्प्यमान जो आरम्भ है वह बुद्धिपूर्वक होता है ॥४॥

जैसे सागरसे आवर्त (भँवर), जलकण, बड़ी बड़ी लहरें और लहरियां निकलती हैं वैसे ही चिन्मात्रसे मन, बुद्धि आदि उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

जैसे केवल दिखाई देनेवाला चित्रलिखित जगत् केवल भित्तिमात्र है वैसे ही चित्में आभासमात्र (स्फुरणमात्र) यह जगत् चिदाकाशमात्रस्वरूप ही है ॥६॥

जैसे पूर्वोक्त वृक्ष, सागर आदिके वृत्तान्तमें अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त हुआ भी

तरौ गुलुच्छकादीनां यथाऽन्यः कुरुतेऽभिधाः ।
तथा चिद्वृक्षपुष्पादिपृथ्व्यादिविहिताभिधम् ॥ ८ ॥
अनन्यत्पुष्पपत्रादि यथा नाम महातरोः ।
तथैवाऽनन्यदेवेदं चिद्व्योम्नः परमात्मनः ॥ ९ ॥
तरावयवेष्वन्यः करोति विविधाविधाः ।
चिद्व्योमात्मनि सर्वेषु भूत्वाऽन्य इव स्वात्मसु ॥ १० ॥
चित्तरोः पल्लवाः सर्गाश्चित्त्वादेव न सन्त्यलम् ।
कार्यकारणवद्भाति स एव स्वप्नवत्स्वयम् ॥ ११ ॥
वच्मि चेत्कथमेतस्माद्व्यर्थं तदनुभूयते ।
सर्गाद्यमुत्र स्वप्नादिष्वेषु कोऽपह्नवं भजेत् ॥ १२ ॥

शाखा, आवर्त आदि कार्य नियतिवश तुल्य देहकी गठनवाला होता है वैसे ही चित्‌में सृष्टिरूपी कार्य भी तुल्य शरीर संगठनवाला होगा, इसलिए उसके वास्ते भी बुद्धिपूर्वकताकी आवश्यकता नहीं है, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

जैसे वृक्षमें पत्ते, फूल, गुच्छे आदिके नाम वृक्षसे अन्य रखता है वैसे ही समष्टिबुद्धिरूप हिरण्यगर्भके अनन्तर जन्मे हुए चिद्‌रूपी वृक्षके पुष्प आदि-रूप पृथिवी आदिका चित्‌से अन्य बुद्धिसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ आदिने नामकरण किया, ऐसा समझना चाहिये ॥ ८ ॥

जैसे पत्ते, फूल, फल आदि महावृक्षसे अभिन्न (अपृथक्) हैं वैसे ही चिदाकाशरूप परमात्मासे यह जगत् अभिन्न ही है ॥ ९ ॥

जैसे वृक्षके अवयवभूत पत्र, पुष्प, फल आदिके विविध नाम वृक्षसे अन्य रखता है वैसे ही चिदाकाश अपनेमें अन्य-सा (व्यष्टिजीवसा) होकर स्वपुत्र आदिके तथा अन्यान्य सकल कार्य्योंके विविध नाम रखता है ॥ १० ॥

इस प्रकार नाम और रूपके अध्यारोपका विस्तारसे वर्णन कर अब उनका अपवाद आरम्भ करते हैं—'**चित्तरोः**' इत्यादिसे ।

चिद्रूपी वृक्षके चित् होनेके कारण ही उसकी पल्लवरूपी सृष्टियाँ सर्वथा नहीं है । किन्तु वह चिद्रूपी वृक्ष ही स्वप्नके समान स्वयं कार्य और कारणसा प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

यदि सृष्टि आदि नहीं ही है तो चित्‌को परलोकमें व्यर्थ ही उसका

तरावाकारवत्येषा कल्पना रचिता यथा ।
चितेराकाशमात्रायास्तथैषा कल्पना कृता ॥ १३ ॥
यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
यथा स्पन्दादयो वायौ तथा बुद्ध्यादयः परे ॥ १४ ॥
यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
यथा स्पन्दादयो वायौ तथेमाः सृष्टयश्चिति ॥ १५ ॥
यथा खानिलपुष्पाणां शून्यतास्पन्दगन्धदृक् ।
शून्यरूपाऽनुभूता च तथा सर्गस्थितिश्चिति ॥ १६ ॥

अनुभव होता है यह मानना पड़ेगा यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्गाभाव माननेपर वह विहित-निषिद्ध कर्मोंका फल रहा नहीं, फिर परलोकमें सर्ग आदिका अनुभव कैसे होता है ? ऐसा यदि आप आक्षेप करें तो स्वप्न आदिमें तथा इन प्रसिद्ध रज्जुसर्प, मरुमरीचिका आदि अनुभवोंमें कौन व्यर्थताका निवारण कर सकता है, क्योंकि उनमें भी तो स्वाप्न आदि भोग देनेवाले कर्मोंकी फलता समान है । यदि कहो कि वहाँपर भोगाभासमात्र देखनेसे कर्मकी सफलता है तो वह प्रकृतमें भी समान है यानी प्रकृतमें भी भोगाभासमात्रसे वह सफलता क्यों न होगी ? यह भाव है ॥ १२ ॥

साकाराध्यासमें वृक्ष आदिसे चित्‌में यह विशेषता है कि साकारमें वे सब साकाराध्यास हैं लेकिन निराकार चित्‌में साकार जगत्‌का अध्यास है, इस आशयसे कहते हैं—'तरावा०' इत्यादिसे ।

जैसे आकारवान् वृक्षमें यह शाखादिकल्पना की गई है वैसे ही निराकार चित्‌में यह जगत्‌रूप कल्पना की गई है ॥ १३ ॥

जैसे फूलमें सुगन्ध आदि हैं, जैसे आकाशमें शून्यता है तथा जैसे वायुमें स्पन्द आदि है वैसे ही परमात्मामें बुद्धि आदि हैं ॥ १४ ॥

जैसे फूलमें गन्ध आदि है, जैसे आकाशमें शून्यता आदि है और जैसे वायुमें स्पन्द आदि है वैसे ही चित्‌में ये पृथिवी आदि भी हैं ॥ १५ ॥

जैसे आकाशकी शून्यता, वायुके स्पन्द और फूलोंकी गन्धका अनुभव होनेपर भी उनसे पृथक् करनेपर वे शून्यरूप हैं यानी आकाशादिसे पृथक्

न पृथक् शून्यता व्योम्नो न पृथग्द्रवताऽम्भसः ।
न पृथक् कुसुमाद् गन्धो नाऽनिलात्स्पन्दनं पृथक् ॥ १७ ॥
अग्नेर्न पृथगुष्णत्वं पृथक् शैत्यं च नो हिमात् ।
चिद्व्योमैकात्मनः स्वच्छान्न जगत्पृथगीश्वरात् ॥ १८ ॥
सर्गादावेव यद्व्योम्नि स्वप्नाद्धृदि च दृश्यते ।
अकारणं तच्चिद्व्योम्नः कथमन्यद्भवेत् किल ॥ १९ ॥
स्वप्न एवाऽत्र दृष्टान्तो नित्यदृष्टो विचार्यताम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण सारं किं तत्र कथ्यताम् ॥ २० ॥
तदिदं बुद्धिसंस्कारदृश्यमित्यादिका स्मृतिः ।
न संभवति यत्तत्त्वं कथयेदं कथं भवेत् ॥ २१ ॥

शून्यता आदिका अस्तित्व नहीं है (वैसे ही) चित्‌में सर्गस्थिति अनुभूत होनेपर भी चित्‌के बिना शून्यरूप है ॥ १६ ॥

उक्त विषयका ही विशदरूपसे प्रतिपादन करते हैं—'न' इत्यादिसे ।

जैसे शून्यता आकाशसे अतिरिक्त नहीं है, द्रवता जलसे पृथक् नहीं है, गन्ध पुष्पसे पृथक् नहीं है, स्पन्द वायुसे अलग नहीं है, उष्णता अग्निसे अलग नहीं है और शीतलता हिमसे (बरफसे) विलग नहीं है वैसे ही निर्मल चिदाकाश-स्वरूप ईश्वरसे जगत् अतिरिक्त नहीं है ॥ १७,१८ ॥

सृष्टिके आदिमें जो आकाशमें दृष्टिगोचर होता है, स्वप्नसे जो हृदय-प्रदेशमें दृष्टिगोचर होता है वह अकारण जाग्रत् तथा स्वाप्न जगत् चिदाकाशसे कैसे अतिरिक्त हो सकता है ? ॥ १९ ॥

प्रतिदिन देखा गया स्वप्न ही इस विषयमें दृष्टान्त है, उसपर विचार कीजिये। जरा बतलाइये तो सही स्वप्नमें चिन्मात्रसे अतिरिक्त क्या सार है ? ॥२०॥

यदि कहे कि स्वप्न स्मृति ही है । अन्य स्मृतियोंमें, जो संस्कारजन्य तथा विषयशून्य होती हैं, 'सोऽयं' यों तत्ता भासित होती है। किन्तु स्वप्नमें निद्रारूपी दोषसे इदन्तागोचरत्वांशमें संस्कारका उद्बोध होनेसे तत्तांशका अपहरण हो जाता है, अतः इदन्ता भासित होती है । इसलिए यह बुद्धिजन्यसंस्कार दृश्य दोनों ही जगह एक ही वस्तु है इत्यादि शङ्का तो ठीक नहीं है । क्योंकि तत्ता इदन्ता कैसे होगी ? अपरोक्षमें (प्रत्यक्षमें) इदन्ता प्रसिद्ध है, लेकिन स्मृतिमें तो

यत्तत्र दृष्टं तदिह स्मृतिकाले भवेद्यदि ।
नाऽनुभूयेत तत्तत्र कैवैकस्य द्विधा स्थितिः ॥ २२ ॥
तस्मादावर्तवृत्त्येदं काकतालीयवज्जगत् ।
चिति यद्भाति तत्रैषा पश्चात्स्वप्नादिकल्पना ॥ २३ ॥
अबुद्धिपूर्वं संपन्ने सर्गे वीच्यादयो यथा ।
संनिवेशः स्थितिः पश्चात्स्वयं संपद्यते तथा ॥ २४ ॥
जातमेव न तज्जातं जातं यत्कारणं विना ।
यतोऽजातं तदेवाऽऽद्यं तत्समं संस्थितं तथा ॥ २५ ॥
अबुद्धिपूर्वं संजाता रत्नादीनां यथाऽर्चिषः ।
सत्तैव संनिवेशेन तथैवाऽऽसां जगद्दृशाम् ॥ २६ ॥

असन्निकृष्ट (दूरवर्ती) परोक्ष ही है, इसलिए यह कैसे घट सकता है, कहिये, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

यदि कहो कि स्वाप्न-स्मृतिके समय वन आदिमें देखा गया बाघ आदि स्वप्नदेशमें निद्रा द्वारा निकटमें लाया जाता है, यों यदि इदन्ता उसपर होगी तो उस वनमें वह बाघ आदि अन्यों द्वारा अनुभूत न होगा । निद्रा द्वारा एक ही बाघ दो तरहसे स्थापित किया जाता है यह कहो, तो एककी ही दो प्रकारसे स्थिति कैसी ? ॥ २२ ॥

इसलिए स्वाप्नबोधकी अनुभवरूपताका अपलाप न हो सकनेसे दृष्टान्त है ही, अतः जो मैंने कहा, वह सिद्ध हुआ यों उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इसलिए समुद्र आदिमें आवर्तोंकी तरह काकतालीयके समान अकस्मात् चित्‌में जो यह जगत् स्फुरित होता है उसीमें जाग्रत् और स्वप्नके अनुभवकी सिद्धिके बाद स्वप्न आदिकी कल्पना होती है ॥ २३ ॥

समुद्रमें तरङ्ग आदिकी तरह अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न सृष्टिमें स्वप्न आदिकी अनुभवसिद्धिके अनन्तर सन्निवेश और स्थिति सम्पन्न होती है ॥ २४ ॥

जो कारणके बिना उत्पन्न होता है वह उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है इसलिए अजात (अनुत्पन्न) वही आद्य जात-सा (उत्पन्न-सा) स्थित है ॥ २५ ॥

जैसे रत्न, मणि, माणिक्य आदिकी कान्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही उत्पन्न हुई हैं वैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जगतोंके वेषसे फुरती है ॥ २६ ॥

यथाकथंचिदेवेदमादौ संपद्यते जगत ।
पश्चाद् गृह्णाति नियतिमावर्तोऽब्धाविवाऽऽत्मनि ॥ २७ ॥
चिद्व्योम्नि स्वप्नजालानि चिज्जगन्त्यपकारणम् ।
प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते शून्यशून्यात्मकान्यपि ॥ २८ ॥
यावत्सर्वमथाऽन्योन्यं याति कारणतां चिरम् ।
तेषां शून्यात्मका एव पदार्था ईश्वरादयः ॥ २९ ॥
जायते शून्यमेवेदं शून्यमेव च वर्धते ।
ननु शून्यतयाऽत्यन्तं शून्यमेव विनश्यति ॥ ३० ॥
शून्यं कचत्यशून्याभं दृष्टान्तं स्वप्नमत्र यः ।
अपह्नुतेऽनुभूतं स पशुभर्तृ कुकं कुधीः ॥ ३१ ॥
असदेवेदमाभाति भ्रान्तिमात्रं सुकृत्रिमम् ।
चिच्चमत्कारमात्रात्म ज्ञे सन्मात्रमकृत्रिमम् ॥ ३२ ॥

यथाकथंचित् यानी अनिर्वचनीय मायारूप कारणके बलसे ही सृष्टिके आरंभमें सागरमें आवर्तकी भाँति यह जगत् उत्पन्न होता है पीछे अपनेमें अर्थ-क्रियाकारितारूप सत्यताका ग्रहण करता है ॥ २७ ॥

चिदाकाशमें विविध स्वप्नपरम्पराओंकी तरह चिदाकाशमें चिद्रूप जगत् अत्यन्त शून्यसे शून्य होनेपर भी धाराप्रवाहरूपसे उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं यानी आविर्भूत होते हैं और तिरोभूत होते हैं ॥ २८ ॥

तदुपरान्त सकल पदार्थ चिरकालतक परस्पर कार्यकारणभावको प्राप्त होते हैं । उनके ईश्वर*आदि पदार्थ शून्यात्मक ही हैं ॥ २९ ॥

यह दृश्य शून्य ही उत्पन्न होता है, शून्य ही यह बढ़ता है और शून्यतासे अत्यन्त अविद्यमान ही विनष्ट होता है ॥३०॥

शून्य दृश्य अशून्यसा विकासको प्राप्त होता है, इस विषयमें यानी असत्के विकासमें स्वानुभूत स्वप्नरूप दृष्टान्तका जो अपलाप करता है वह कुमति भेड़िया द्वारा अपने अपहरणका भी अपलाप करेगा ॥ ३१ ॥

सुकृत्रिम भ्रान्तिमात्र यह दृश्य मिथ्या ही प्रतीत होता है चित्की चम-

* ईश्वरता भी मायासापेक्षस्वरूप है ।

अयं चिरस्थसंकल्पः सर्गप्रलयविभ्रमः ।
ज्ञानं स्वभावकचनमज्ञानं भ्रान्तिजृम्भणम् ॥ ३३ ॥
झटित्युदेति ब्रह्मात्म दृश्यं दृष्टमकारणम् ।
खे सुषुप्तादिव स्वप्नः पश्चान्नियतिमृच्छति ॥ ३४ ॥
काकतालीयवच्चित्त्वाच्चिति दृश्यं प्रकाशते ।
स्वयमेव स्वभावस्थमावर्तादि यथाऽम्बुधौ ॥ ३५ ॥
ईदृशो नाम चिद्धातुरयमाकाशमात्रकः ।
यदित्थं नाम कचति जगद्रूपेण चिद्वपुः ॥ ३६ ॥
तेन चिद्रूपिणा पश्चाद्दृश्येनाऽऽत्मनि कल्पिताः ।
संज्ञाः स्मृत्यादिपृथ्व्यादिबुद्ध्यादिकलनात्मिकाः ॥ ३७ ॥

क्ृति ही इसका वास्तविक स्वरूप है । तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें तो यह अकृत्रिम सन्मात्र ही है ॥ ३२ ॥

यह प्रपञ्च चिरस्थायी मनोरथरूप ही है, सृष्टि और प्रलयकी भ्रान्ति इससे अतिरिक्त नहीं है । उसके वास्तविक स्वभावका स्फुरण ज्ञान है और भ्रान्तिके आकारसे इसका स्फुरण अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

जैसे दृश्यशून्य आत्मामें सुषुप्तिके बाद स्वप्न देखा जाता है वैसे ही मायासे उपहित ब्रह्मात्मा तुरन्त ही दृश्य बनकर बिना कारण ही आविर्भूत होता है यों देखा गया है । पीछे वह अर्थक्रियाव्यवस्था द्वारा कार्यकारणभावादि नियतिको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

अकस्मात् दृश्यके स्फुरणमें निमित्तकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं— **'काकतालीय०'** इत्यादिसे ।

जैसे सागरमें आवर्त आदि काकतालीयन्यायसे अकस्मात् अपने-आप प्रकाशित होते हैं वैसे ही चित्में दृश्य काकतालीयन्यायसे अकस्मात् अपने-आप ही चित्स्वभावताके कारण स्फुरित होता है ॥ ३५ ॥

चित्के स्वभावका ही स्पष्टीकरण करते हैं—**'ईदृशो'** इत्यादिसे ।

आकाशमात्ररूप (शून्यरूप) यह चिद्धातु ऐसा ही है जो कि चित्स्वरूप होनेपर भी यह इस प्रकार जगत्के रूपसे स्फुरित होता है ॥ ३६ ॥

पहले अबुद्धिपूर्वक दृश्याकारका भान होनेसे दृश्यभूत उस चिदात्माने

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते हे भगवन्बुद्धिसंस्कारतः स्मृतिः ।
इति किं प्राप्यते ब्रूहि संबुद्धा यदि न स्मृतिः ।। ३८ ।।

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम भिनद्म्येनं प्रश्नं सिंह इवेभकम् ।
अभेदं स्थापयाम्येकमालोकमिव भास्करः ।। ३९ ।।

पीछे अपनेमें अतीतरूपसे प्रतीतमें स्मृति आदिकी कल्पनारूप, वर्तमानके रूपसे स्फुरितमें पृथ्वी आदि और पृथ्वी आदि बुद्धिकी कल्पनारूप अनेक संज्ञाओंकी कल्पना की । ऐसी परिस्थितिमें अविभक्त तात्कालिक प्रतिभासमें वह सम्पूर्ण बुद्धि आदि विभाग कल्पनामात्र ही हैं ।। ३७ ।।

यदि तात्कालिक प्रतिभासोंमें ही विभागसंज्ञारूप भेदकल्पनामात्र ही जगत् है केवल प्रतिभासक्षणमें रहनेवाला जगत् अप्रतिभासकालमें नहीं ही है यह फलित हुआ । ऐसी अवस्थामें प्रतिभासके उत्तर क्षणमें प्रतिभासका विनाश होनेपर जगत्का भी नाश होनेसे क्षणभङ्गवादकी प्राप्ति होगी । हो क्षणभङ्गवाद, उस तरहके मायामय जगत्में स्थायिता सिद्ध करनेमें ब्रह्मवेत्ताका कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि लोकमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि पूर्वानुभूतकी ही होती है ऐसा नियम है । स्मृति और प्रत्यभिज्ञाके अधीन वेदशास्त्रादिके प्रामाण्यका भङ्ग होनेसे ब्रह्मवादकी जड़ उखड़ जायगी, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करतेहैं—**'एवं स्थिते'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, आपके कथनानुसार जगत्के तात्कालिक कल्पनामात्र होनेपर प्रामाणिक अनुभवसे उत्पन्न संस्कारसे पूर्वोत्पन्न बुद्धिकी स्मृति और प्रत्यभिज्ञा होती है यों सर्वशिष्टानुभवसिद्ध नियम कैसे प्राप्त होगा ? क्या आप स्मृति और प्रत्यभिज्ञाको पूर्वानुभूतविषयिणी नहीं मानते ? यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिए ।। ३८ ।।

भगवान् श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीकी आशङ्काकी प्रशंसा करते हुए उसके समाधानकी प्रतिज्ञा करते हैं—**'शृणु'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मैं आपके प्रश्नके (आक्षेपके) ऐसे ही टुकड़े टुकड़े कर डालता हूँ जैसे कि सिंह छोटेसे कमजोर हाथीके टुकड़े

विद्यते जगदात्मेदं दृश्यं चिन्मात्रकोटरे ।
अनुत्कीर्णा यथा वृक्षे वनस्था शालभञ्जिका ॥ ४० ॥
उद्धरेद् वृक्षतस्तक्षा तदा चिच्छालभञ्जिकाम् ।
अद्वितीयाच्चितिस्तम्भादुत्कीर्णाङ्कः करोति ताम् ॥ ४१ ॥
स्तम्भे जडे न सा व्यक्तिमनुत्कीर्णेह गच्छति ।
चिति त्वन्तर्गता चित्त्वादेवाऽऽत्मन्येव भात्यलम् ॥४२॥

टुकड़े कर डालता है तथा जैसे भगवान् सूर्य तिमिरराशिका उच्छेद कर एकमात्र प्रकाशकी स्थापना करते हैं वैसे ही मैं एकमात्र अद्वैतकी स्थापना करता हूँ ॥३९॥

यह आपके द्वारा लगाया गया दोष तब होता जब हम पहले असत् ही जगत् क्षणिक प्रतिभासके साथ उत्पन्न होता है ऐसे बौद्ध सिद्धान्तको स्वीकार करते। लेकिन हम वैसा स्वीकार नहीं करते, हम यह स्वीकार करते हैं कि नित्य ब्रह्मसत्तारूप ही जगत् है वह नित्य चिदात्मक ही प्रतिभाससे सदा अभिव्यक्तियोग्य है अविद्याकी आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिकी विचित्रताके चमत्कारसे कभी आविर्भूतसा, तिरोहित-सा, घट, पट आदिके आकारसा, छिन्नसा, भिन्नसा, कारणों द्वारा उत्पादितसा, अ-परोक्षसा, एकसा, नानासा, भिन्नाभिन्नसा, क्षणिकसा, स्थायीसा, अतीतसा, वर्तमानसा, भविष्यत्सा नाना चमत्कारोंसे, जो नियत, अनियत, सदृश, असदृश हैं, एकसे नहीं हैं, अवभासित होता है। उसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि सबकुछ उपपन्न ही होता है, इस आशयसे समाधानका आरम्भ करते हैं—'**विद्यते**' इत्यादिसे।

यह जगदात्मक दृश्य वैसे ही चिन्मात्रके गर्भमें विद्यमान है जैसे कि वृक्षमें बढ़ई द्वारा काट छाँटकर न गढ़ी गई वनमें स्थित शालभञ्जिका (प्रतिमा) वृक्षके अन्दर रहती है ॥ ४० ॥

शालभञ्जिकाको (काठकी प्रतिमाको) तो वृक्षसे छील-तराशकर यानी उसका आवरण करनेवाले काठके अवयवोंको हटाकर बढ़ई निकालता है (प्रकट करता है), किन्तु अद्वितीय चिद्रूपी स्तम्भसे उस जगत्रूपी शालभञ्जिकाको उससे अन्य कौन गढ़ता है यानी कारकके अधीन न होनेसे काष्ठप्रतिमाकी तरह उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, यह अर्थ है ॥ ४१ ॥

काष्ठप्रतिमा जड़ स्तम्भमें (खम्भेमें) बिना छीलेतराशे प्रकट नहीं हो सकती, किन्तु चित्में भीतर स्थित वह (जगत्रूप प्रतिमा) उसके अधिष्ठानभूत

भासमाना त्वनुत्कीर्णदेहैवाऽपि च खात्मिका ।
स्वरूपादच्युता चैव चिन्मात्रादात्मनि स्थिता ॥४३॥
सर्गादौ सर्गकलनाः करोति कलनावती ।
सा चित्स्वभावतः स्वप्ने खात्मन्यथोदितामिव ॥४४॥
आकाश एव हृदये परमाकाशरूपिणी ।
संकल्पयति चिच्छालभञ्जिकाः स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ४५ ॥
इयं ब्रह्मकला सेह चिन्मात्रकलना त्वियम् ।
इयं चितिरियं जीवस्त्वहंकारस्त्वसाविति ॥ ४६ ॥

चित्के आवरणकी निवृत्ति होनेपर चित्के प्रभावसे चिदात्मामें ही पूर्णरूपसे प्रकट होती है ॥ ४२ ॥

तब प्रलय और सुषुप्तिमें भी उसका भान क्यों नहीं होता, यह यदि कहो तो सत्तासामान्यरूपसे उस समय भी उसका भान होता ही है, ऐसा कहते हैं—**'भासमाना तु'** इत्यादिसे ।

प्रलय और सुषुप्तिमें तो शून्यरूपा जगत्-रूप प्रतिमा बिना गढ़े ही सत्तासामान्यरूपसे भासमान चिन्मात्ररूपसे अच्युत होकर ही चिदात्मामें स्थित है ॥ ४३ ॥

सृष्टिके आदिमें भी पहले पूर्वोक्त निर्विकल्प कल्पनावती होकर पीछे भोगकर्ताके अदृष्टके अनुसार उत्पन्न हुए मनोविकल्पोंसे स्वयं परमचिदाकाश-रूपिणी वह चित् अपने आकाशरूप हृदयमें चित्र विचित्र सृष्टिरूप प्रतिमाओंकी कल्पनाएँ अपनेमें स्वभावतः वैसे ही करती है जैसे स्वप्नमें उत्पन्न कल्पनाओंकी करती है॥ ४४,४५ ॥

चित् सृष्टिके आदिमें कैसे कैसे विशेष विभागोंका संकल्प करती है ? इसका विस्तारसे वर्णन करते हैं—**'इयम्'** इत्यादिसे ।

यह ब्रह्मकला सत्तासामान्यरूप जगद्बीजस्वरूप है । इस ब्रह्मकलामें ही चिन्मात्र कल्पना यानी सदा अनावृत स्वभाववाली यह प्रतिबिम्ब चित् है, यही प्राण आदिसे युक्त होनेसे जीव है तथा अभिमानवृत्तिकी प्रधानता होनेसे यही अहङ्कार है ॥ ४६ ॥

इयं बुद्धिरियं चित्तमयं काल इदं नभः ।
अयं सोऽहं क्रिया चेयमिदं तन्मात्रपञ्चकम् ॥ ४७ ॥
इन्द्रियाणामिदं वृन्दं पुर्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
इहाऽऽतिवाहिको देहस्तथाऽयं चाऽऽधिभौतिकः ॥ ४८ ॥
ब्रह्माऽहं शङ्करश्चाऽहमुपेन्द्रोऽहमहं रविः ।
इदं बाह्यमिदं चाऽन्तरयं सर्ग इदं जगत् ॥ ४९ ॥
इत्यादिकलनाजालं चिद्व्योमैवाऽतिनिर्मलम् ।
तस्मात्क्वैते पदार्थौघाः क्व स्मृतिः क्व द्वयैकते ॥ ५० ॥
अकारणकमेवेति जगदाभोगिखण्डकः ।
सर्गादौ स्वप्नवद्भाति खे खात्मैव विकारिवत् ॥ ५१ ॥
व्योम्न्येव कचति व्योम चिन्मये चिन्मयं हि यत् ।
बुद्धं तदेव तेनैव जगद्बोधात् क्व तज्जगत् ॥ ५२ ॥
क्व स्मृतिः क्व च वा स्वप्नः क्व कालाः कलनाश्च काः ।
चिदाभानमिदं भाति शान्तं शून्यमिवाऽम्बरे ॥ ५३ ॥

अध्यवसाय (निश्चय) प्रधान होनेसे यही बुद्धि है, यही चित्त है, यही काल है, यही आकाश है, यही मैं हूँ, यही क्रिया है, यही पञ्चतन्मात्राएँ हैं ॥४७॥

यही इन्द्रियोंका संघात है, यही पुर्यष्टक कही गई हैं, यहांपर यही आतिवाहिक शरीर तथा आधिभौतिक शरीर है । मैं ब्रह्मा हूँ, मैं शङ्कर हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं सूर्य हूँ, यह बाह्य है, यह आभ्यन्तर है, यह सृष्टि है, यह जगत् है इत्यादि कल्पनाजाल अतिनिर्मल चिदाकाश ही है । इसलिए ये अज्ञानियों द्वारा कथित पदार्थराशियाँ कहां ? स्मृति कहां और द्वैत तथा अद्वैत कहां ? ॥ ४८–५० ॥

इस रीतिसे यह विस्तारयुक्त जगत् बिना कारणका ही है । सृष्टिके आरम्भमें स्वप्नके तुल्य चिदाकाशमें चिदाकाश ही विकारयुक्तसा प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

चिन्मय आकाशमें ही जो चिन्मय आकाशका स्फुरण है उसीने उसे ही जगत् जाना, बोध होनेके उपरान्त वह जगत् कहां है ? ॥ ५२ ॥

जब एकमात्र चिदाकाश ही है तब प्रपञ्चित विभागोंका अस्तित्व नहीं है यह निष्कर्ष निकला, यह कहते हैं—'**क्व स्मृतिः**' इत्यादिसे ।

यदन्तश्चिद्घनस्याऽस्ति तद्बहिर्भूततां गतम् ।
वस्तुतस्तु न तद्बाह्यं नाऽन्तः सन्मात्रकादृते ॥ ५४ ॥
निरस्तावयवाच्छान्तादनाख्याद् यत्प्रवर्तते ।
अकारणं भवेद्भूतं तदन्धाः कथमन्यथा ॥ ५५ ॥
तस्माद्यादृक्परं ब्रह्म तादृग्दृश्यमिदं परम् ।
यदेव चिन्नभः स्वप्ने तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ५६ ॥
न किंचित्किंचनाऽपीदं दृश्यमस्ति मनागपि ।
क्व रजः पूर्णजलधौ क्व दृश्यं परमाम्बरे ॥ ५७ ॥
तच्चेदं भाति वा किंचित्तच्चिन्मात्रमचेत्यकम् ।
अकचत्त्वेव संशान्तमात्मनीत्थमवस्थितम् ॥ ५८ ॥

कहाँ स्मृति है, कहां स्वप्न है, कहां दिन, मास, संवत्सर आदि काल-विभाग हैं, कहां विविध सृष्टिकल्पनाएँ हैं ? यह शान्त चिद्भान ही आकाशमें शून्यरूप जगत्सा मालूम पड़ता है ॥ ५३ ॥

जो चिद्घनके अन्दर है यानी चिद्घनकी अन्तर्गत जो सत्ता है वह बाह्यता-को प्राप्त हुई है वास्तवमें तो सन्मात्रके सिवा न वह बाह्य है और न आभ्यन्तर है ॥ ५४ ॥

अरे अन्धे वादी लोगो, जो वस्तु अवयवशून्य निर्विकार निराकारसे प्रकट होती है, वह अकारण कैसे उत्पन्न होगी और वह कूटस्थ ही अन्यथा (सविकार) कैसे होगा ? ॥ ५५ ॥

इसलिए भ्रमवश ज्ञात जगत्के जाड्यादि स्वभावका त्यागकर जगत् चिन्मात्रस्वभाव है ऐसा स्वीकार करो इसीमें कुशल है, ऐसा कहते हैं— **'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा परम ब्रह्म है वैसा ही यह जगत् भी चिन्मात्रस्वभाव ही है, क्योंकि जो चिदाकाश है वही स्वप्नमें स्वप्ननगर है उसमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ५६ ॥

शून्यरूप यह दृश्य तनिक भी कुछ नहीं है । पूर्णसागरमें धूलि (बिना भीगा रजकरण) कहाँ ? वैसे ही परमाकाशमें दृश्यका अस्तित्व कहाँ ? ॥ ५७ ॥

अथवा जो यह दृश्य-सा कुछ स्फुरित होता है वह चेत्यभिन्न चिन्मात्र

पूर्णाद्धि ब्रह्मणः पूर्णमप्यनुद्धृतमुद्धृतम् ।
इवेदं भाति भारूपमाभानं परमात्मकम् ॥ ५९ ॥
इत्थं मयि प्रकथयत्यनुभूयमान-
मप्युच्चकैर्बत जनस्य विमूढताऽन्तः ।
स्वप्ने जगद्वपुषि जाग्रदिति प्रतीतिं
नाऽद्याऽपि यत्त्यजति नाम विदन्नपि द्राक् ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० शालभञ्जिकोपदेशो नामाऽष्टषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६८ ॥

ही है । चेत्य रहित होनेसे अपनेसे भिन्न दूसरेको प्रकाशित न करता हुआ ही शान्त वह स्वमात्रप्रकाश होकर अपने स्वरूपमें इस प्रकारका स्थित है ॥ ५८ ॥

उक्त अर्थमें 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस श्रुतिका स्मरण कराते हैं—**'पूर्णात्'** इत्यादिसे ।

पूर्ण ब्रह्मसे पूर्ण भी अनुद्धृत भी उद्धृतसा यह परमात्मरूप भी भान, जो भारूप ही है, भासित होता है, स्फुरित होता है ॥ ५९ ॥

इतने विस्तारके साथ प्रतिपादित प्रतिदिन दुहराये तिहराये गये उपदेशसे भी कुछ मन्दाधिकारियोंको अप्रबुद्ध जानकर भगवान् श्रीवसिष्ठजी उनके लिए शोक प्रकट करते हैं—**'इत्थम्'** इत्यादिसे ।

यद्यपि मैं अपने अनुभवमें आ रहे आत्मतत्त्वको इस प्रकार विशदरूपसे बार बार ऊँचे स्वरसे प्रकट कर रहा हूँ, फिर भी मन्दाधिकारी लोगोंके हृदयमें बद्धमूल मूढता (अज्ञान) स्वप्नतुल्य जगत्में यह जाग्रत् सत्य ही है ऐसी बुद्धिका त्याग नहीं करती है, यह महान् खेदका विषय है । जानता हुआ भी अधिकारी शीघ्र उसका त्याग नहीं करता । मोहकी प्रबलताकी बलिहारी है ॥ ६० ॥

एक सौ अड़सठ सर्ग समाप्त

एकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
अन्तर्मुखमतेर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते ॥ १ ॥
यस्य न स्फुरति प्रज्ञा चिद्व्योमन्यचलस्थितेः ।
प्रसृतेष्विव भोगेषु स मुक्त इति कथ्यते ॥ २ ॥
चिन्मात्रात्मनि विश्रान्तं यस्य चित्तमचञ्चलम् ।
तत्रैव रतिमायातं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ३ ॥
परमात्मनि विश्रान्तं यस्य व्यावृत्त्य नो मनः ।
रमतेऽस्मिन्पुनर्दृश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४ ॥

एक सौ उनहत्तर सर्ग

[विश्रान्त चित्तवाले जीवन्मुक्तके प्रचुर लक्षणोंका तथा आत्मवान्‌की सदा मुतिका कथन]

यदि आपने मन्दाधिकारियोंका अज्ञान मुखविकारादि चिह्नोंसे ताड़-लिया तो अज्ञानकी निवृत्ति किन लक्षणोंसे जानी जा सकती है यों मुक्तके लक्षणों-की जिज्ञासा करनेवाले श्रीरामचन्द्र आदिसे श्रीवसिष्ठजी मुक्तके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—**'न सुखाय'** इत्यादिसे ।

जिस नित्य अन्तर्मुख बुद्धिवाले परमात्मामें आसक्तमतिवाले ज्ञानी पुरुष-के सुखके साधनभूत विषय सुखके लिए नहीं हैं और दुःखसाधन दुःखके लिए नहीं हैं, वह मुक्त कहलाता है ॥ १ ॥

जैसे अज्ञानियोंकी बुद्धि बिखरे हुए विषयोंपर आसक्त होकर उनसे विचलित नहीं होती है वैसे ही चिदाकाशमें अचल (अटल) निष्ठावाले जिस पुरुषकी बुद्धि उससे विचलित नहीं होती है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ २ ॥

जिसका निश्चल चित्त चिन्मात्ररूप परमात्मामें विश्रान्त होकर उसीमें रतिको प्राप्त हो गया वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ३ ॥

परमात्मामें विश्रान्त हुआ जिसका चित्त उससे हट कर फिर इस दृश्यमें रतिको प्राप्त नहीं होता वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
जडमेव मुने मन्ये मानवं तमचेतनम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

चिद्व्योमैकान्तनिष्ठत्वात् प्रयत्नेन विना सुखम् ।
न वेत्ति शुद्धबोधात्मा यः स विश्रान्त उच्यते ॥ ६ ॥
सर्व एव परिक्षीणाः सन्देहा यस्य वस्तुतः ।
सर्वार्थेषु विवेकेन स विश्रान्तः परे पदे ॥ ७ ॥
यस्य कस्मिंश्चिदप्यर्थे क्वचिद्रसिकताऽस्ति नो ।
व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विश्रान्त उदाहृतः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी पूर्वोक्त प्रथम श्लोक द्वारा कथित लक्षणके जड़, उन्मत्त और मूर्छितोंमें व्यभिचारकी आशङ्का करते हैं—**'न सुखाय'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, जिसका सुखसाधन विषयसमुदाय सुखके लिए नहीं है और दुःखसाधन दुःखके लिए नहीं है उस अचेतन मनुष्यको तो मैं जड़ ही समझता हूँ ॥ ५ ॥

वहाँपर 'अन्तर्मुखमतेः' इस विशेषणसे ही उक्त व्यभिचारका निवारण हो जानेसे कोई दोष नहीं है, इस अभिप्रायसे श्रीवसिष्ठजी उसके तात्पर्यको विशद करते हुए उत्तर देते हैं—**'चिद्व्योम०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जो शुद्धबोधात्मा चिदाकाशमें अत्यन्त संलग्न होनेके कारण प्रयत्नके बिना सुखको नहीं जानता है, वह विश्रान्त कहा जाता है ॥ ६ ॥

विवेक द्वारा जिसके सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी सन्देह वास्तवमें क्षीण हो गये वह परम पदमें विश्रान्त है, सकल सन्देह अज्ञानमूलक हैं अतः मूलाज्ञानके विनाशसे सकल सन्देहोंका विनाश हो जाता है, यह भाव है । इस विषयमें भगवती श्रुति भी है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् परात्पर परमात्माके दर्शन होनेपर चिदचिदविवेकरूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं ॥ ७ ॥

व्यवहार करते हुए भी जिसके अन्दर किसी भी वस्तुमें कहींपर भी अनुराग नहीं है, वह विश्रान्त कहा गया है ॥ ८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
यथाप्राप्तं विहरतः स विश्रान्त इति स्मृतः ॥ ९ ॥
अविश्रामे निरालम्बे दीर्घे संसारवर्त्मनि ।
चित्त्वादात्मनि विश्रान्तिः प्राप्ता येन जयत्यसौ ॥ १० ॥
धावित्वा ये चिरं कालं प्राप्तविश्रान्तयः स्थिताः ।
ते सुप्ता इव लक्ष्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥ ११ ॥
ते हि चेत्यचिदाभासनभस्याभान्ति भामयाः ।
भास्करा उदिता नित्यं नेह तिष्ठन्ति ते क्वचित् ॥ १२ ॥
सदेहा व्यवहारस्था अपि सुप्ता इवोत्तमाः ।
प्रक्षीणा इव लक्ष्यन्ते जडाभा न तु ते जडाः ॥ १३ ॥
सुप्ता इवेह शय्यासु ये स्वप्ननगरे स्थिताः ।
सुप्ता इति त उच्यन्ते न तु ते जडतां गताः ॥ १४ ॥

प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल गया उससे निर्वाह कर रहे जिसके समस्त कार्य कामना और सङ्कल्पसे शून्य हैं, वह परम पदमें विश्रान्त कहा गया है ॥९॥

जिस महापुरुषने विश्रामशून्य, निराधार और लम्बे संसाररूपी मार्गमें चिन्मात्रके दर्शनसे आत्मामें विश्राम पा लिया, वह सर्वश्रेष्ठ है, सर्ववन्दनीय है ॥ १० ॥

जो लोग चिरकाल तक बीहड़ संसारमार्गमें भटककर परम पदमें विश्राम पा चुके वे लोकव्यवहारमें निरत होनेपर भी विषयोंके पीछे दौड़नेसे (भटकनेसे) उत्पन्न खेदको निवृत्त करनेके लिए सोये हुएसे दिखाई देते हैं। विषयोंके पीछे न दौड़ना ही उनका विश्राम पा जानेका स्पष्ट लक्षण है ॥ ११ ॥

वे शुद्ध चिद्रूप भास्कर चैत्य और चिदाकाशसे यानी दृश्य और द्रष्टासे शून्य स्वचित्ताकाशमें नित्य उदित होकर दीप्त होते हैं, संसारमें कहींपर नहीं रहते ॥ १२ ॥

उत्तम पुरुष सदेह होते हुए तथा व्यवहारमें निरत होते हुए भी सोये हुएसे, विदेहसे और मूढसे दिखाई देते हैं वास्तवमें वे जड़ (मूढ़) नहीं हैं ॥१३॥

'सुप्ताः' इस पदके तात्पर्यका विवरण करते हैं—'**सुप्ता इव**' इत्यादिसे।

जो लोग इस स्वप्ननगरमें शय्याओंमें सोये हुए हैं, वे सुप्त (सोये हुए) कहे जाते हैं, किन्तु वे जड़ताको प्राप्त नहीं हुए हैं, निद्रापरवश नहीं हुए हैं ॥ १४ ॥

दीर्घाध्वपरिविश्रान्तो विश्रान्तो न ददाति यः ।
वाक्यं स सुखमौनस्थः प्रोच्यते न जडाकृतिः ॥ १५ ॥
या निशा सर्वभूतानामविद्यास्तमयात्मिका ।
परो बोधः परा शान्तिस्तत्राऽसौ सममास्थितः ॥ १६ ॥
यस्मिञ्जाग्रति भूतानि दृश्येऽस्मिन्दुःखदायिनि ।
तत्राऽसौ सततं सुप्तस्तं न पश्यत्यसौ सुखी ॥ १७ ॥
यः कर्मौघमनादृत्य स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठते ।
स आत्माराम इत्युक्तो न जडोऽसौ रघूद्वह ॥ १८ ॥
दुःखादनिगतः सोऽस्मात्प्राप्तः पारं भवाम्बुधेः ।
तिष्ठत्यनुभवन्भव्यो विश्रान्तिसुखमात्मनि ॥ १९ ॥

तब किस अंशसे उसकी सुप्तसे समता है यह पूछो तो विश्रान्ति और मौनसे है, ऐसा कहते हैं—**'दीर्घा०'** इत्यादिसे ।

दीर्घमार्गमें परिश्रमणसे निवृत्त होकर श्रमसे रहित हुआ जो पुरुष वाक्य मुखसे बाहर नहीं निकालता वह सुखमौनस्थ कहा जाता है, न कि जडाकृति कहलाता है ॥ १५ ॥

अविद्यारूपी अन्धकारमें विविध व्यवहार कर रहे अतएव उल्लूके तुल्य सकल भूतोंकी जो अविद्याकी अस्तमयरूप रात्रि है वह परम बोध है, परम शान्ति है । उसमें ज्ञानी एकरसरूपसे स्थित रहता है ॥ १६ ॥

इस दुःखदायक जिस दृश्यमें सब भूत जाग्रत् रहते हैं उसमें वह सदा सुप्त है यानी वह सुखी उसे नहीं देखता है । भगवान्ने गीतामें 'या निशा सर्व-भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥" इस श्लोकमें ज्ञानीके दो लक्षण दिखलाये हैं ॥ १७ ॥

सर्वकर्मसंन्यास भी उसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं—**'यः'** इत्यादिसे ।

हे रघूद्वह, जो सकल कर्मोंका अनादर कर (त्याग कर) स्वात्मामें ही स्थित रहता है वह आत्माराम (अपनेमें ही क्रीड़ा करनेवाला) कहा गया है, वह जड़ नहीं है ॥ १८ ॥

जन्म, जरा आदि संसारक्लेशसे निर्मुक्त होकर इस संसार-सागरके पार

दीर्घाध्वनि परिश्रान्तो विपर्यैश्चतुरैश्चिरम् ।
भोगभावातुरः क्रूरैः प्रोत्थितः पथि डामरैः ॥ २० ॥
जरातुषाराशनिभिर्भूयोभूयो जडीकृतः ।
जन्मजङ्गलसारङ्गो व्यर्थव्यग्रविहारवान् ॥ २१ ॥
परमात्मा परिक्रान्तो दुःखकण्टकसंकटे ।
सुदुष्प्रापसुखच्छाये पान्थः संसारवर्त्मनि ॥ २२ ॥
दुष्कृतैः कृतपाथेयो लुठन् क्षीणः पदे पदे ।
अर्थानर्थमयैर्मार्गैः संकटैर्विवशीकृतः ॥ २३ ॥
संसारजलधेः पारं प्राप्य भूतविवर्जितम् ।
अशय्योऽतिश्रमाबुद्धः स शेते सुखमात्मवान् ॥ २४ ॥

पहुँचा हुआ उत्तम पुरुष निरन्तर विश्रान्ति सुखका अनुभव करता हुआ आत्मामें स्थित रहता है ॥ १९ ॥

'धावित्वा ये चिरं कालम्' (जो चिरकालतक परिभ्रमण कर) इस श्लोकके अर्थका विस्तार करते हैं—'**दीर्घा०**' इत्यादिसे ।

दीर्घसंसाररूपी मार्गमें भ्रमणसे परिश्रान्त, वञ्चनामें चतुर देशोपद्रवोंकी नाईं भोग-सामग्रीका अपहरण करनेवाले विषयों द्वारा चिरकालतक भोगसाधन पदार्थोंसे व्याकुल होकर संसारमार्गमें चला है, जरारूप (बुढ़ापारूप) हिमपात और वज्रपात उसे बार बार व्यवहारके अयोग्य बनाते हैं, व्यर्थ व्यग्रतापूर्वक विहार करनेवाला जन्मरूपी जङ्गलका मृगरूप वह पथिक नाना दुःखरूपी काँटोंसे आकीर्ण सुदुर्लभ सुखरूपी छायावाले संसारमार्गमें असहाय (अकेला) ही चला है ॥२०–२२॥

पापसे उपार्जित धनसे संबल बनाकर पद पदपर गिरते ठोकर खाते अर्थ अनर्थ मार्गरूपी संकटोंसे विवश हुआ जीव यों थककर भाग्यवश साधन-सम्पत्ति द्वारा सत्-शास्त्र और सद्गुरुके अनुग्रहवश तत्त्वसाक्षात्कारसे प्रबुद्ध होकर संसाररूपी सागरके परले पार पहुँच कर आत्मज्ञानवान् हो शय्याके बिना भी सुखपूर्वक सोता है । आश्चर्यकी बात है कि आत्मवान् पुरुष, ऐसे सुखसे सोता है जिसमें शयनार्थियों द्वारा अपेक्षित घर, द्वार, महल, पलंग आदिकी जरूरत नहीं रहती, न स्वप्न रहता है, न सुषुप्ति रहती है, और प्राण आदिकी कोई चेष्टाएँ भी नहीं होती

अपसर्पं निरस्तेहमस्वमसमसुप्तकम् ।
प्रबुद्धमबहिर्निद्रं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २५ ॥
जात्यश्ववदिहाऽजातिरश्नन्गच्छन्श्वसन्वदन् ।
लोकमध्ये महारण्ये हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २६ ॥
अपूर्वैव घना निद्रा काऽपि सा तत्त्वदर्शिनाम् ।
या न शाम्यति कल्पाभ्ररवैर्नाऽङ्गविकर्तनैः ॥ २७ ॥
अपूर्वैव घना निद्रा काऽपि सा तत्त्वदर्शिनाम् ।
प्रबुद्धानामपि हि या निमीलयति दृग्दृशौ ॥ २८ ॥
अनिमीलितनेत्रस्य यस्य विश्वं प्रलीयते ।
स क्षीबः परमार्थेन हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २९ ॥
विनिगीर्य जगत्सर्वं परमां पूर्णतां गतः ।
आतृप्त रमृतं पीत्वा हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३० ॥

हैं आत्मस्वरूपमें पूर्णरूपसे जागरूकता रहती है तथा स्वरूपसे बहिर्भूत निद्रा नामकी वस्तुका उसमें नाम-निशान नहीं रहता ॥ २३–२५ ॥

जैसे उत्तम नसलका घोड़ा खाते, चलते, टिकते सदा ही सोता है केवल युद्धमें जागा रहता है वैसे ही जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष खाते, चलते, सांस लेते और बोलते महारण्यरूप लोकमें सुखपूर्वक सोता है, यह महान् आश्चर्य है ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञानियोंकी वह गाढ़ी नींद कोई अलौकिक ही है जो प्रलयकालीन मेघोंके गर्जनोंसे तथा अङ्गोंके छेदन-भेदनोंसे भी नहीं टूटती है ॥ २७ ॥

तत्त्ववेत्ताओंकी वह कोई अपूर्व (अनूठी) ही गाढ़ी नींद है जो चिन्मात्रके दर्शनमें प्रबुद्धोंकी (जागरूकोंकी) भी बाह्येन्द्रियोंको बन्द कर देती है अथवा व्यवहारमें जागरूकोंकी भी बाह्येन्द्रियोंके रूपादि दर्शनको दर्शन आदिके विषयमें बन्द कर देती है ॥ २८ ॥

जिसका नेत्रोंको बन्द किये बिना ही सारा विश्व विलीन हो जाता है, वह परमार्थसे पागल (न कि मदके नशे से पागल) आत्मज्ञानी सुखपूर्वक सोता है, यहआश्चर्य है ॥ २९ ॥

अहा ! सारे जगत्को निगलकर परम पूर्णताको प्राप्त हुआ आत्मवान्

निरानन्दमहानन्दी सुखमद्वैतमव्ययम् ।
निरालोकमहालोको हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३१ ॥
लोभान्धकारोपरमो लोकलम्पटतां गतः ।
अघनत्वघनाभोगो हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३२ ॥
अनन्तदुःखमाशान्तमशान्तं जनतास्थितौ ।
अबहिर्सुखमाभोगि हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३३ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
कृत्वाऽऽत्मानं नभःशय्यं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३४ ॥
परमाणौ परमाणौ जगत्कोटिशतान्यपि ।
अणौ स्थूले दधद्देहे हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३५ ॥

पुरुष तृप्तिपर्यन्त (खूब छक कर) अपरिच्छिन्न (असीम) आनन्दरसका पान कर सुखपूर्वक सोता है ॥ ३० ॥

अहा, विषयजन्य (वैषयिक) आनन्दके अभावमें भी निरतिशय आनन्दसे महान् आनन्दवाला अक्षय अद्वैत सुखका अनुभव कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष, जिसके अन्य आलोकोंसे (प्रकाशोंसे) अप्रकाश्य आत्मामें महान् प्रकाश है, सुखपूर्वक सोता है ॥ ३१ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिरूप अन्धकारसे रहित होनेके कारण आत्माके महाप्रकाशमें आसक्तिको प्राप्त हुआ तथा अमूर्तानन्दरसमें अतिशय आस्वाद युक्त आत्मवान् पुरुष सुखसे होता है ॥ ३२ ॥

आत्मवानका ऐसा सुखशयन है जिसमें असीम दुःखानुभवके विषयमें विरति रहती है, वर्णाश्रमोचित व्यवहारमें लोकसंग्रहके लिए अविरति रहती है, बाह्य पदार्थोंमें अनासक्ति रहती है और आभ्यन्तर सुखका निरन्तर भोग रहता है ॥३३॥

अत्यन्त अणुओंमें (सूक्ष्मोंमें) सबसे अत्यधिक अणुतम (सूक्ष्मतम) तथा अत्यन्त स्थूल पदार्थोंमें सबसे अत्यधिक स्थूलतम आत्माको चिदाकाशरूपी शय्यामें स्थित (चिदाकाशनिष्ठ) कर आत्मवान् पुरुष सुखसे सोता है ॥ ३४ ॥

अहा ! सूक्ष्म होनेके कारण अत्यन्त अणु तथा व्यापक होनेके कारण अतिस्थूल चिद्देहमें प्रत्येक परमाणुमें अनन्त कोटि जगतोंको धारण कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥ ३५ ॥

कुर्वन्संहारसर्गौघानकुर्वंश्च कथंचन ।
परमालोकशय्यायां हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३६ ॥
संसारनिचयस्वप्नं परिज्ञाय सुषुप्तताम् ।
नयन्प्रकटदिग्दीर्घां हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३७ ॥
सर्वेषां जगदर्थानां सत्तासामान्यतां गतः ।
आकाशादधिको व्यापी हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३८ ॥
अच्छाच्छमम्बरं कृत्वा जगदप्यम्बरीकृतम् ।
शान्तशब्दपरश्वासं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३९ ॥
इदमस्मज्जगत्पश्यन्स्वयमाकाशकोणके ।
विशदाकाशकोशात्मा हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ४० ॥
यथा प्रवाहसंप्राप्तव्यवहारमनोरमे ।
तृणयास्तरणविश्रान्तो हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ४१ ॥

अनेक संहार (प्रलय) और सृष्टियाँ कर रहा वास्तवमें कुछ न कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष परम प्रकाशरूपी शय्यापर सुखपूर्वक सोता है ॥ ३६ ॥

संसारसमूहरूप स्वप्नको, ज्ञान प्राप्त कर, प्रकट दिशाओंकी तरह अपरिच्छिन्न सुषुप्तताको प्राप्त करा रहा ज्ञानी पुरुष सुखसे सोता है ॥ ३७ ॥

सम्पूर्ण जगत्पदार्थोंकी 'घटः सन् पटः सन्' इस प्रकार सत्‌रूपसे सर्वत्र अनुगम होनेके कारण सत्तासामान्यताको प्राप्त हुआ आकाशसे अधिक व्यापक* आत्मज्ञानी पुरुष सुखसे सोता है ॥ ३८ ॥

पहले प्रविलापन द्वारा आकाशताको प्रापित जगत्‌को अव्याकृत आकाशसे भी निर्मल चिदाकाश बनाकर आत्मवान् पुरुष शब्द और श्वास-प्रश्वास रहित सुखपूर्वक सोता है ॥ ३९ ॥

स्वयं प्रत्यगात्मभूत चिदाकाशके एक कोनेमें स्वप्नके तुल्य इस हमारे जगत्‌को देख रहा चिदाकाशकोशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥ ४० ॥

लोकप्रवाहानुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोहर तृणराशिनिर्मित चटाईपर विश्रामको प्राप्त हुआ आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥ ४१ ॥

---

* 'ज्यायानाकाशात्' (आकाशसे बड़ा विशाल) ऐसी श्रुति है ।

परमेण स्वयत्नेन परिज्ञानात् स्वरूपिणा ।
स्वप्नसंदर्शनेनैव जीवन्खमिव खेन खे ॥ ४२ ॥
ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्गगनसंनिभान् ।
ज्ञेन यत्नेन संबुद्धः परमाम्बरतां गतः ॥ ४३ ॥
प्रबुद्धः सुप्तः सुप्तोऽपि प्रबुद्धो रमतेऽनिशम् ।
सुषुप्तोऽभूत्ततो जाग्रत्स्वप्नार्थसुहृदा सह ॥ ४४ ॥
जन्मान्तरैकसहवाससमाशयेन
चित्तानुवृत्तिमधुरेण चिरंतनेन ।

जैसे जागरूक (जागे हुए) पुरुष, जिसने गाढ़ी नींदमें स्वप्नका अनुभव किया है, नींदमें अनुभूत स्वप्नका बड़े प्रयत्नसे स्मरण करता है वैसे ही आत्मविचाररूप सुषुप्तिमें सोनेवाला आत्मज्ञानवान् पुरुष अन्यके अथवा अपने अत्यन्त प्रयत्नसे बहिर्मुखवृत्ति होकर बाह्यपदार्थके परिज्ञानसे आपाततः (सरसरी) शरीरधारणादि व्यवहार ऐसे ही करता है जैसे कि निरवकाश स्थानमें रहनेमें असमर्थ आकाश दूसरे जैसे कल्पित आकाशसे आकाशस्वरूपमें सत्ता धारण करता है ॥ ४२ ॥

परम चिदाकाशको प्राप्त आत्मज्ञानी पुरुष आकाशके सदृश विशाल स्वरूपके ज्ञानसे अत्यन्त असत् होनेके कारण आकाशतुल्य (शून्यरूप) जीव-जगत् रूप धर्मोंको प्रयत्नसे देखता है, उनका ज्ञाता बनता है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका अज्ञानीकी दृष्टिका स्वप्न कह कर परमार्थ दृष्टिमें सदा वह प्रबुद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'प्रबुद्धः'** इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी पुरुष इस प्रकार सदा सुप्त होता हुआ भी लोकमें प्रसिद्ध जागरण और स्वप्नमें लोककी तरह ही प्रबुद्ध और सुप्त होकर जाग्रत् और स्वप्नके पदार्थोंके भोगमें सहायभूत आगे कहे जानेवाले मित्रके साथ सदा रमता है। उसके पश्चात् सुषुप्त होकर उसके साथ ही सुषुप्तिको प्राप्त हुआ ॥ ४४ ॥

जबतक प्रारब्धका भोग रहता है तबतक उस मित्रके साथ क्रीड़ा कर उसके पश्चात् उसकी जीवन्मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं—**'जन्मान्तरै०'** इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त पुरुष अन्यान्य जन्मोंमें एकता द्वारा चिरकालतक सहवाससे उत्पन्न प्रेमसे मानो अपनी सारी विषमताका त्यागकर समचित्तसे तथा शम, दम,

मित्रेण सार्धमखिलानि दिनानि नीत्वा
विश्रान्तिमेष्यति पदे परमे चिरं सः ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अवि० श० विश्रान्त-
चित्तवर्णनं नामैकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्कोऽस्य सुहृद् ब्रूहि येनाऽसौ रमते सह ।
रमणं किंस्वभावं स्यादुत स्वात्म वाऽस्य तत् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्वप्रवाहेहितं नाम स्वप्रायेहितनाम च ।
स्वकर्म नाम चाऽस्याऽऽस्ते मित्रमेकमकृत्रिमम् ॥ २ ॥

तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य और सन्तोषकी अनुवृत्तिसे मधुर आगे कहे जानेवाले चिर-कालके मित्रके साथ आयुके शेष दिनोंको आगे कही जानेवाली क्रीड़ाके साथ परम पदमें (निरतिशयानन्द विदेह कैवल्यपदमें) विश्रामको प्राप्त होगा ॥ ४५ ॥

एक सौ उनहत्तर सर्ग समाप्त

एक सौ सत्तर सर्ग

[पुत्र, स्त्री और भृत्योंसे युक्त कर्मनामक मित्र तथा उसके गुणोंका वर्णन और उसके साथ आनन्ददायक क्रीडाका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जीवन्मुक्तका कौन मित्र है, कृपया मुझसे कहिये जिसके साथ यह (जीवन्मुक्त) क्रीडा करता है। उस मित्रके साथ जो वह क्रीडा करता है उसका क्या स्वभाव है ? वह स्वात्मस्वरूपमें अवस्थिति ही है अथवा रमणीय भोगस्थानोंमें विहारप्रयुक्त प्रीतिरूप है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सहज स्वकर्म, लोकसंग्रहके लिए कृत शास्त्रीय स्वकर्म और अपने प्रयत्नसे अभ्यस्त सत्-शास्त्रोंके अभ्यास, विचार, सत्संगति, शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य, बाह्य और आभ्यन्तर शौच, सन्तोष,

पितृवद्विहिताश्वासं दारा इव नियन्त्रणम् ।
संकटेषु दुरन्तेषु नित्यमव्यभिचारि च ॥ ३ ॥
अशङ्कितोपचरणं सुसंपादितनिर्वृति ।
कोपेष्वकोपनतया वितीर्णावर्जनामृतम् ॥ ४ ॥
दुर्गदुर्गमदुर्वारदोषोद्धरणतत्परम् ।
सर्वविश्वासरत्नानां कोश आशैशवोषितम् ॥ ५ ॥
सहपांसुकृताक्रीडमाबाल्यादेव संगतम् ।
विनिवारितदुश्चेष्टं पितृवद्रक्षणोन्मुखम् ॥ ६ ॥
वह्नेरिवौष्ण्यं सौगन्ध्यं कुसुमस्येव सर्वदा ।
अविनाभावि विमलं रवेरिव च वासरम् ॥ ७ ॥

ईश्वर-ध्यान, संयम आदि स्वकर्म यह त्रिविध अनिषिद्ध कर्म एक ही है, उपाधिभेदसे तीन नामों द्वारा पुकारा जाता है । उक्त त्रिविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुषका एक-मात्र मित्र है ॥ २ ॥

उस मित्रके गुणोंका वर्णन करते हैं—**'पितृवत्'** इत्यादिसे ।

वह पिताके समान ढाढस देनेवाला है, स्त्रीके समान अकार्योंके विषयमें लज्जा द्वारा नियन्त्रण करता है और दुर्निवार्य संकटोंमें सदा साथ रहता है, कभी बिछुड़ता नहीं है ॥ ३ ॥

उसके सेवादि व्यवहारमें किसी प्रकारकी शङ्काका नाम-निशान नहीं है, वह निर्वाणरूप परम सुखका सम्पादन करता है तथा क्रोधके अवसरोंमें स्वयं कोपरहित होनेके कारण शान्तिसे समाधानरूपी अमृतका प्रदान करता है ॥ ४ ॥

दुर्गम जंगलोंमें उबड़-खाबड़ मार्गोंमें और अनिवार्य वैर, झगड़ा-झंझटमें फँसनेपर उनसे उद्धार करनेके लिए सदा कटिबद्ध रहता है, सब विश्वासरूपी रत्नोंकी तिजोरी है तथा अनेक जन्मोंके अभ्याससे अनुगत होनेके कारण बाल्यावस्थासे ही साथ रहता है ॥ ५ ॥

बाल्यकालमें उसने उसके साथ धूलिके खेल खेले हैं, बाल्यावस्थासे ही वह संगी-साथी बना है, अनेक दुश्चेष्टाओंका निवारण किया है तथा उसके रक्षणमें पिताके समान सदा तत्पर रहा है ॥ ६ ॥

वह अग्निकी उष्णताके समान, फूलकी सुगन्धके समान और सूर्यके

लालनैकरतं नित्यं पालनैकपरायणम् ।
सर्वसंकटसंघट्टरक्षणैकसमुद्यतम् ॥ ८ ॥
हेम्नोऽग्निरिव देहस्य सर्वावस्थस्य शुद्धिदम् ।
इदं हेयमुपादेयमिति दर्शनतत्परम् ॥ ९ ॥
आह्लादकमनिन्द्याभिः कथाभिरिव नागरम् ।
सच्चेष्टामणिमाणिक्यभाण्डसंभारमन्दिरम् ॥ १० ॥
सूर्यस्तम इवाऽजस्रमप्रदर्शयदप्रियम् ।
अनुरक्ता महेलेव प्रियमेव प्रदर्शयत् ॥ ११ ॥
जनं प्रियंवदं कुर्वन्प्रियमेव समाचरत् ।
पेशलं मधुरं स्निग्धमक्षुब्धमुदिताशयम् ॥ १२ ॥

निर्मल दिनकी तरह सदा अविनाभावी (विलग न होनेवाला) है यानी जैसे अग्निसे उष्णता पृथक् नहीं होती, फूलसे सुगन्ध नहीं बिछुड़ती तथा सूर्यसे दिन अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही वह भी उससे बिछुड़ता नहीं है ॥ ७ ॥

नित्य लाड़ करनेमें निरत, पालन करनेमें सर्वथा कटिबद्ध वह सकल संकटोंकी प्राप्ति होनेपर रक्षा करनेमें सदा कमर कसकर तयार रहता है ॥ ८ ॥

जैसे अग्नि सुवर्णको शुद्ध कर देती है वैसे ही सभी अवस्थाओंमें स्थित देहकी वह शुद्धि करनेवाला है तथा यह त्याज्य है यह ग्राह्य है इस प्रकारके विवेकमें सदा तत्पर रहता है ॥ ९ ॥

वह नगरनिवासी चतुर पुरुषके समान अनिन्दनीय (अश्लील आदि दोषोंसे रहित) कथाओंसे आह्लादित करनेवाला है तथा है वचन, मन और शरीरकी सुन्दर चेष्टारूपी मणि, माणिक्य आदि रत्नोंकी राशिका भण्डार ॥ १० ॥

जैसे सूर्य दूरसे ही अन्धकारको हटा देता है वैसे ही वह सत्कर्मरूपी मित्र अप्रिय वस्तुको दूरसे ही हटा देता है, समीपमें नहीं आने देता तथा अनुरागयुक्त स्त्रीकी नाईं सदा प्रिय वस्तु ही दिखलाता है यानी प्रिय वस्तुको ही समीपमें आने देता है ॥ ११ ॥

अपने सम्पर्कमें आये हुए जनको प्रिय बोलनेवाला बना रहा तथा सदा प्रिय ही कर रहा वह मित्र कोमल, मधुर, स्नेहमय, क्षोभरहित और अप्रमादी है। अपने सम्पर्कमें आये सत्पुरुषोंकी सेवा-शुश्रूषा करता है, पूजनीय है, स्मितपूर्वक

लोकोपचारकं पूज्यं स्मितपूर्वाभिभाषणम् ।
कामोपशान्तं सद्रूपं परमार्थैककारणम् ॥ १३ ॥
रणेऽज्ञानसमुद्भूते पूर्वं प्रहरणोद्यतम् ।
अपूर्वनर्मनिर्माणलीलाललनलालकम् ॥ १४ ॥
पालकं शीलसाराणां दाराणां च कुलस्य च ।
आधिव्याधिपरीतस्य चेतसोऽमृतमौषधम् ॥ १५ ॥
विशेषविद्यावैदग्ध्यवादवन्द्यविनोदनम् ।
समानकुलशीलत्वाद् द्विधाभाग इव स्थितम् ॥ १६ ॥
अनुरक्तान्नृपान्साधून्वदान्यान्कारयत् सदा ।
यज्ञदानतपस्तीर्थन्यायार्थप्रेरणोन्मुखम् ॥ १७ ॥
पुत्रदारद्विजातिस्त्रीभृत्यबन्धुजनैः सह ।
शुभभोजनपानार्हमुत्तमश्लाघ्यसंगति ॥ १८ ॥

बोलता है, कामनासे रहित है अतएव सज्जनोंके रूपके समान रूपवाला है तथा परमार्थका (मोक्षका) एकमात्र कारण है ॥ १२, १३ ॥

दैवात् अज्ञानी लोगोंके साथ हुए युद्धमें पहले प्रहार करनेमें उद्यत रहता है यानी अत्यन्त शूर है तथा लोकोत्तर क्रीडा, हास्य आदि कौतुकोंके निर्माणों द्वारा लीला और लाड़-प्यारोंसे विलास करानेवाला है ॥ १४ ॥

सुशीलसम्पन्न नारियोंका तथा कुलका पालन करनेवाला है और आधि-व्याधिसे परिपूर्ण चित्तका अमृतके समान जीवनौषधके तुल्य है एवं चित्तके रागको हटानेवाला है ॥ १५ ॥

विशेषरूपसे विद्वत्ता और वादों द्वारा प्रभु, गुरु आदि संमाननीय उत्कृष्ट लोगोंका मनोरञ्जन करता है यानी उनके मनमें कौतुक उत्पन्न करता है। कहींपर समान कुल और शील होनेके कारण विभागसे द्विधाभावमें (द्वैतमें) स्थित-सा है ॥१६॥

उत्तम राजा, व्यापारी आदिको अनुरक्त बनाकर सदा दानवीर बना रहा वह सदा यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थयात्रा और न्यायके लिए प्रेरणा करनेमें तत्पर रहता है ॥ १७ ॥

उससे पुत्र, पत्नी, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), दास, दासी और बन्धु-जनोंके सहित सुन्दर भोजनपानके योग्य उत्तम पुरुषोंके साथ संगति होती है ॥१८॥

भोगादिबद्धतृष्णत्वं दुःखदं विनिवारयन् ।
सुस्निग्धसंकथोदारं समाश्वासोत्तमास्पदम् ॥ १९ ॥
ईदृशेनाऽऽत्ममित्रेण सकलत्रेण संयुतः ।
स्वकर्मनाम्ना रमते स्वभावेनैव नेरितः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

कलत्रमस्य मित्रस्य तदीयस्य मुनीश्वर ।
किं तत्किंरूपमेव स्यात्समासेनैव मे वद ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्नानदानतपोध्याननामानोऽस्य महामते ।
सन्ति पुत्रा महात्मानः स्वनुरक्ताखिलप्रजाः ॥ २२ ॥
चन्द्रलेखेव लोकस्य दृष्ट्यैवाऽऽह्लाददायिनी ।
अविनाभाविनी भार्या मुदिताऽस्याऽनुरागिणी ॥ २३ ॥
करुणाकारणाकीर्णधना हृदयहारिणी ।
आनन्दजननी चाऽस्य वयस्याऽव्यभिचारिणी ॥ २४ ॥

भोग आदिमें बद्धतृष्णताका (अतितृष्णाका), जो दुःखदायी है, सदा निवारण कर रहा वह मित्र स्नेहमय सुन्दर कथा-वार्तामें अत्यन्त दक्ष है और समाश्वासनका (ढाढस बँधनेका) उत्तम स्थान है ॥ १९ ॥

इस तरहके स्वकर्मनामक सपत्नीक अपने मित्रसे संयुक्त पुरुष स्वभावसे ही रमता है न कि किसीसे प्रेरणा पाकर ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, उसके इस मित्रके स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्ग कौन हैं और उनके कैसे गुण हैं ? यह मुझसे संक्षेपतः ही कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महामते श्रीरामजी, इसके स्नान, दान, तप, और ध्यान नामके चार महात्मा पुत्र हैं, उनके सद्गुणोंसे सारी प्रजा उनपर खूब अनुरक्त है ॥ २२ ॥

चन्द्रकलाके समान दर्शनसे ही लोगोंको आह्लादित करनेवाली, कभी पृथक् न होनेवाली (सदा साथ रहनेवाली), अनुरागमयी, नित्य सन्तुष्ट (मुदिता), दयावश चारों ओर धन बांटनेवाली, मनोहारिणी, आनन्द देनेवाली

समताऽस्य मता नित्यमास्ते हृदयवल्लभा ।
प्रतीहारी पुरः प्रज्ञा संमुखं सुखदायिनी ॥ २५ ॥
धैर्ये धर्मे च धीः साधो नित्यमाधीयते च या ।
साऽस्य धीरस्य धुर्यस्य पुरो धन्यस्य धावति ॥ २६ ॥
अस्य मन्त्री समं स्कन्धे सर्वदैव महौजसः ।
विषयारिजये राज्ञो मैत्री मन्त्रप्रदायिनी ॥ २७ ॥
कार्याणामार्यमर्यादाचर्याचातुर्यशालिनी ।
सर्वेषामस्य मान्यस्य सत्यता स्वार्थदायिनी ॥ २८ ॥
इत्येवंपरिवारेण मित्रेण सह मन्त्रिणा ।
स्वकर्मणा व्यवहरन्न हृष्यति न कुप्यति ॥ २९ ॥
स यथास्थितमेवाऽऽस्ते विनिर्वाणमना मुनिः ।
चित्रार्पित इवाऽजस्रं लोके व्यवहरन्नपि ॥ ३० ॥

सदा साथ रहनेवाली वयस्या (सहचरी) समता नामकी इसकी भार्या है। वह सदा प्राणोंसे भी इसे प्रिय है। हे साधो, धैर्य और धर्मके विषयमें सदा आकृष्ट बुद्धि इसकी द्वारपालिका है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहती है और सुख देनेमें तत्पर रहती है। यह धीर धन्य उत्तम पुरुष जहाँ जाता है वह उसके आगे आगे दौड़ती है ॥ २३-२६ ॥

इस महातेजस्वी राजारूप मित्रकी विषयरूपी शत्रुओंपर विजय पानेके विषयमें मन्त्र (सलाह) देनेवाली मैत्री नामकी दूसरी स्त्री सम होनेके कारण सदा ही कन्धेसे कन्धा सटाकर रहती है ॥ २७ ॥

माननीय इसको आर्यमर्यादारूपी सब कार्योंके विषयमें अतिचातुर्य-पूर्वक उपदेश देनेवाली सत्यता इसकी धनाध्यक्षा है ॥ २८ ॥

इस तरहके उत्तम परिवारवाले मित्र और मन्त्रीरूप अपने कर्मके साथ सर्वत्र लोकव्यवहार कर रहा जीवन्मुक्त पुरुष लाभ होनेपर न तो हर्षित होता है और न हानि होनेपर कुपित ही होता है ॥ २९ ॥

निर्वाणमें (मोक्षमें) निरत मनवाला मननशील ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि व्यवहार कर रहे चित्रलिखित योद्धाके समान लोकमें निरन्तर व्यवहार करता हुआ भी यथास्थित (ज्योंका त्यों) ही रहता है ॥ ३० ॥

वस्तुशून्येषु वादेषु मूकः शैलमयो यथा।
निष्प्रयोजनशब्देषु परं बाधिर्यमागतः॥ ३१ ॥
लोकाचारविरुद्धेषु शवं सकलकर्मसु।
आर्याचारविचारेषु वासुकिर्वा बृहस्पतिः॥ ३२ ॥
प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो जिह्मानां प्रतिभानवान्।
निमेषेणैव निर्णेता वक्ताऽऽशु बहुवस्तुनः॥ ३३ ॥
समदृष्टिरुदारात्मा वदान्यः संविभागवान्।
पेशलस्निग्धमधुरः सुन्दरः पुण्यकीर्तनः॥ ३४ ॥
स्वभाव एवैष भवेत्प्रबुद्ध-
धियां प्रयत्नेन तु नेदृशास्ते।
भवन्ति नेन्द्वर्कहुताशनाद्याः
क्वचित्परप्रेरणया प्रकाशाः॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० अवि० वि० तत्त्वज्ञव्यवहारवर्णनं नाम सप्तत्यधिकशततमः सर्गः॥ १७० ॥

वह वस्तुशून्य (अतात्त्विक) वादोंमें शैलप्रतिमाकी (पत्थरकी मूर्तिकी) तरह मूक रहता है एवं निष्प्रयोजन (बेमतलबके) शब्दोंके प्रति अत्यन्त बहरा रहता है। लोकाचारसे विरुद्ध सभी कर्मोंमें मुर्देके समान निश्चेष्ट रहता है, सदाचारके विवेचनमें सहस्रजीभवाले शेषनाग अथवा देवगुरु बृहस्पतिके समान वाग्मी और पवित्रकथावाला है तथा अपने और दूसरोंके कुटिलता आदि दोषोंको ताड़ लेनेवाला, दुरूह (कठिनसे भी कठिन) सन्दिग्ध वस्तुओंका पलक भरमें निर्णय करके वक्ता तथा विविध सदुपदेशोंका उपदेष्टा है॥ ३१-३३ ॥

वह सब जीवोंपर समदृष्टि रखनेवाला, अत्यन्त उदार, दानवीर, सबको बांटनेवाला, कोमल, स्नेहमय और मधुर स्वभाववाला, सुन्दर तथा पुण्यचरित है॥३४॥

ये पूर्ववर्णित गुणगण ज्ञानी लोगोंके स्वभावसिद्ध ही हैं। वे प्रयत्नसे ऐसे उत्तम गुणगणवाले नहीं होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि किसी अन्यकी प्रेरणासे प्रकाशमय नहीं होते, किन्तु स्वभावतः ही वे प्रकाशमय हैं वैसे ही प्रबुद्ध पुरुषोंके उक्त गुणगण स्वाभाविक ही हैं॥ ३५ ॥

एक सौ सत्तर सर्ग समाप्त

एकसप्तत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संविदाकाशकचनमिदं भाति जगत्तया ।
वस्तुतो न जगन्नाऽऽभा न शून्यं न च संविदः ॥ १ ॥
यदिदं भाति चिद्व्योम जगदाख्यं न तत्ततः ।
आकाशादिव शून्यत्वमन्यदन्यदपि स्थितम् ॥ २ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
तद्दृश्यमिति भातीदं दृश्यमन्यन्न विद्यते ॥ ३ ॥
महाप्रलयसंपत्तावादिसर्गः पुनः किल ।
परस्मात्कारणाभावे कुतो दृश्यस्य संभवः ॥ ४ ॥

एक सौ एकहत्तर सर्ग

[जीवन्मुक्तिकी सिद्धि तथा सकल संशयोंकी निवृत्तिके लिए फिर तत्त्वोपदेश द्वारा दृश्यका परिमार्जन करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यह चिदाकाशका स्फुरण ही जगत्के रूपसे प्रतीत होता है। वास्तवमें तो न जगत् है, न जगत्की आभा है, न शून्य ही है और न वृत्तिसंवित् ही हैं ॥ १ ॥

जैसे शून्यता आकाशसे अतिरिक्त नहीं है वैसे ही जो यह जगत्-नामक चिदाकाशका भान है, यह अज्ञानी जनकी दृष्टिमें चिदाकाशसे भिन्न-रूपसे स्थित होनेपर भी उससे (चिदाकाशसे) भिन्न नहीं है ॥ २ ॥

निर्विषय ही चैतन्य जो एक विषयसे अन्य विषयकी प्राप्ति होनेपर बीचमें प्रसिद्ध है वही दृश्यके रूपसे स्फुरित होता है। यह दृश्य उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवलः, इत्यादि श्रुतियोंमें पहले केवल सन्मात्रशेषरूप महाप्रलय होनेपर उसके पश्चात् आदिसृष्टि होती है यह सुना गया है। उसमें 'सदेव' (सत् ही था) ऐसा अवधारण करनेसे अविकारी परमात्मासे अन्य कारणका अभाव होनेपर इस दृश्यकी कहाँसे उत्पत्ति हो सकती है ? ॥ ४ ॥

तदाऽणुमात्रमपि हि दृश्यबीजं न विद्यते ।
किल यस्मादिदं चक्रं पुनर्मूर्तं प्रवर्तते ॥ ५ ॥
उत्पन्नमेव नैवाऽतो मूर्तं दृश्यमिदं जगत् ।
वन्ध्यापुत्र इवाऽत्यन्तमतोऽस्त्येव न दृश्यधीः ॥ ६ ॥
यच्चेदं किंचिदाभाति दृश्यमित्यभितः स्थितम् ।
तच्चिन्मात्रं खमेवाऽच्छं परमेव पदं विदुः ॥ ७ ॥
यथा सुषुप्तात्स्वप्नत्वं गच्छत्यात्यनवस्थितिम् ।
चिन्मात्रमजहत्स्वच्छं निजं रूपमनामयम् ॥ ८ ॥
सर्गस्याऽऽदौ तथैवेदमात्मैव स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
व्योमात्मैव चिदाभासं दृश्यमित्यवभासते ॥ ९ ॥

उस समय अणुमात्र भी दृश्यके बीजका (कारणका) अस्तित्व नहीं, जिससे कि फिर यह मूर्त दृश्यचक्र प्रवृत्त होता । भाव यह कि उस समय, पूर्वोक्त श्रुतिसे विरोध होनेके कारण, परमाणु आदि अन्य कारणोंकी कल्पनाका तनिक भी अवकाश नहीं है ॥ ५॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि यह मूर्त जगत् वन्ध्यापुत्रकी नाईं उत्पन्न ही नहीं हुआ, अतः दृश्यबुद्धि सर्वथा नहीं है । सृष्टि-श्रुतियोंका तात्पर्य अनुत्पत्तिका प्रतिपादन करनेमें ही है, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

तब प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर हो रहे जगत्‌की क्या गति होगी ? इस प्रश्न-पर कहते हैं—**'यच्चेदम्'** इत्यादिसे ।

जो यह चारों ओर स्थित 'दृश्य' नामका कुछ प्रतीत होता है, स्फुरित होता है श्रुतियोंके तात्पर्यको जाननेवाले पुरुष उसे चिन्मात्र निर्मल आकाशरूप परम पद ही जानते हैं ॥ ७ ॥

जैसे स्वच्छ (निर्मल) चिन्मात्र निर्विकार अपने स्वरूपका त्याग न करता हुआ आत्मा ही सुषुप्तिसे स्वप्नमें जाता हुआ अनवस्थितिको (अन्यरूपके समान स्थितिको) प्राप्त होता है वैसे ही सृष्टिके आदिमें चिदाकाशरूप आत्मा ही अपनेसे अपनेमें चिदाभासरूप दृश्यसा स्फुरित होता है यानी आत्माका सुषुप्ति-से स्वप्नमें गमनकी नाईं प्रलयसे सृष्टिमें गमन भी समझना चाहिये ॥ ८,९ ॥

यथा पुरतया भाति मनः संकल्पमन्थरम् ।
तथा दृश्यमिवाऽऽभाति सर्गादौ चिन्नभः परम् ॥ १० ॥
यथाऽऽत्मन्यनिलः स्पन्दश्चक्रावर्तवदीहते ।
सर्गादौ चिन्नभः स्थित्वा दृश्यमित्येव तिष्ठति ॥ ११ ॥
अतो ज्ञातमनाभातमेव दृश्यं जगत्रयम् ।
ब्रह्मैवेदं परं भाति स्वात्मनीत्थमवस्थितम् ॥ १२ ॥
नास्त्येव मूर्तं पृथ्व्यादि किंचनाऽपि कदाचन ।
अस्तु मूर्तममूर्तं वा ब्रह्मैवेदं विराजते ॥ १३ ॥
प्रबोधकाले स्वप्नाद्रिर्यथा व्योमैव निर्वपुः ।
तथेदं शान्तचिन्मात्रं खं प्रबोधे जगत्त्रयम् ॥ १४ ॥
प्रबुद्धानां परं ब्रह्म निर्विभागमिदं जगत् ।
धीमन्तोऽपि न तद्विद्मो यदिदं त्वप्रबोधनम् ॥ १५ ॥

जैसे संकल्पसे मन्द हुआ मन मनोरथ आदिमें नगरके रूपसे स्फुरित होता है वैसे ही चिदाकाशरूप परमात्मा सृष्टिके आदिमें दृश्य-सा स्फुरित होता है ॥१०॥

जैसे वायु स्पन्दरूप होता हुआ अपनेमें ही आंधी, बवंडर आदिकी तरह चेष्टा करता है वैसे ही चिदाकाश अज्ञात होकर अपनेमें ही दृश्यरूपसे स्थित होता है ॥ ११ ॥

अतएव यदि वह ज्ञात हो जाय तो त्रिजगत्रूप दृश्य कदापि भासित न हो अपने स्वरूपमें इस प्रकार (जगत्के रूपसे) स्थित केवल परम ब्रह्मका ही भान हो ॥ १२ ॥

मूर्त पृथिवी आदिका अस्तित्व किञ्चिन्मात्र भी त्रिकालमें भी नहीं ही है। चाहे वह अज्ञानीकी दृष्टिमें मूर्त अथवा ज्ञानीकी दृष्टिमें अमूर्त हो, वास्तवमें ब्रह्म ही उस तरहसे (दृश्यरूपसे) विराजमान है ॥ १३ ॥

जैसे जागरणके समयमें (जाग्रत्कालमें) स्वप्नका पहाड़ निःस्वरूप आकाश ही है यानी शून्य ही है वैसे ही प्रबोधकालमें (आत्मज्ञानकालमें) यह त्रिजगत् शान्त चिन्मात्र आकाश ही है ॥ १४ ॥

प्रबुद्ध पुरुषोंकी दृष्टिमें यह जगत् अखण्ड परम ब्रह्म ही है। हम लोग विचार करनेपर भी यह अप्रबोध (अज्ञानरूप दृश्य) कैसा है यह नहीं जानते ॥१५॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
स्वस्वभावो हि भूतानां तत्पदं परमात्मकम् ॥ १६ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
एतत्तत्परमाकाशमत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥
यादृगेतत्पदं तादृगिदं सदसदात्मकम् ।
येनाऽर्थपञ्चकादन्यत्किंचनाऽपि न विद्यते ॥ १८ ॥
रूपालोकमनस्कारा एतदेव पदं विदुः ।
एते ते द्रवतावर्ताः पदस्याऽस्य महाम्भसः ॥ १९ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
एतस्याऽव्यतिरेकेण जगत्ता नास्ति काचन ॥ २० ॥

सब भूतोंका निर्विषय चिन्मात्र ही निज स्वभाव है, ऐसा कहते हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

एक विषयसे अन्य विषयकी प्राप्ति होनेपर मध्यमें प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वह परमात्मपद ही भूतोंका निज स्वभाव है ॥ १६ ॥

एक विषयसे अन्य विषयकी प्राप्ति होनेपर मध्यमें प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वही यह परमाकाश है । इसीमें सब कुछ प्रतिष्ठित है यानी निर्विषय चैतन्य ही सर्वाधिष्ठान भी है ॥ १७ ॥

अधिष्ठानके अनुरूप ही यह अध्यास है, ऐसा कहते हैं—'यादृग्' इत्यादिसे ।

जैसा यह परमपद है वैसा ही यह सदसत्‌रूप प्रपञ्च भी है, क्योंकि पञ्चभूतोंसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । जैसे स्वसे अतिरिक्त स्वकार्यशून्यता ब्रह्ममें है वैसे ही इसमें भी है । इसी अंशसे इसमें अधिष्ठानानुरूपता है ॥ १८ ॥

श्रुतियोंके तात्पर्यको जाननेवाले लोग रूपालोक यानी बाह्य इन्द्रियोंसे जन्य विषयाभास तथा मनस्कार यानी आभ्यन्तर इन्द्रिय मनके अधीन विषयाभास ये सभी चिन्मात्ररूप परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा जानते हैं । ये सब महासागररूपी उक्त पदकी द्रवताके (जलके) आवर्त हैं ॥ १९ ॥

इससे निर्विषय चिन्मात्रसे अतिरिक्त जगत्ता नहीं है यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

रागद्वेषादयो भावा भावाभावदृशस्तथा।
एतद्रूपममुञ्चन्त एतस्याऽवयवाः स्थिताः ॥ २१ ॥
त्यक्त्वा पूर्वापरे कोट्यौ मध्ये यत्संविदो वपुः।
स स्वभावः परो ज्ञेयो जगत्पयसि संज्ञितः ॥ २२ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विद्धि मध्यमसंविदः।
जगदित्यपरं नाम स्वरूपादच्युतात्मनः ॥ २३ ॥
आदिसर्गात्प्रभृत्येव दृश्यमुत्पन्नमेव नो।
यन्नाम तदिहाऽस्तीति मायाशम्बरडम्बरः ॥ २४ ॥

संवित्‌की एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्ति होनेपर मध्यमें निर्विषय जो चैतन्य प्रसिद्ध है उससे अतिरिक्त जगत्ता कोई नहीं है ॥ २० ॥

राग, द्वेष आदि भाव तथा जगत्‌की भाव-अभाव दृष्टियाँ—ये सब सद्रूप और भानरूपका त्याग न करते हुए इसके अङ्गरूपसे स्थित हैं ॥ २१ ॥

शाखाचन्द्रदर्शनमें पूर्वकोटि (शाखा) और अन्यकोटिको (चन्द्रको) छोड़कर बीचमें जो संवित्‌का निर्विषय शरीर प्रसिद्ध है, वह उसका परम स्वभाव है। वही जगद्रूप मरुमृगतृष्णाके जलमें अधिष्ठानसंज्ञक है ॥ २२ ॥

इसी अभिप्रायसे मैंने बार बार निर्विषय विस्तृत अपरोक्ष चैतन्यकी सर्वसाधारण प्रसिद्धिके प्रदर्शक 'देशाद्देशान्तरप्राप्तौ' इस श्लोककी घोषणा की है, इस आशयसे कहते हैं—**'देशात्'** इत्यादिसे।

कूटस्थ होनेके कारण ही स्वरूपसे अप्रच्युत संवित्‌का जाग्रत्‌से स्वप्नकी प्राप्ति होनेपर मध्यमें (सुषुप्तिदशामें) जो स्वरूप है, पूर्वसृष्टिसे पुनः सृष्टि-प्राप्ति होनेपर मध्यमें (प्रलयमें) जो संवित्‌का स्वरूप है तथा इस लोकरूप प्रदेशसे परलोकरूप प्रदेशकी प्राप्तिमें मध्यमें (मूर्छावस्थामें) जो संवित्‌का स्वरूप है वह वैसे ही सदा रहता है। उसीका अज्ञानी लोगोंने जगत् यह दूसरा नाम कपोल-कल्पनासे रक्खा है ॥ २३ ॥

आदि सृष्टिसे ही दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ। जो यहाँ प्रतीत होता है वह मायारूपी ऐन्द्रजालिकका आडम्बर-मात्र है ॥ २४ ॥

कष्टं नास्त्येव यद्दृश्यं तदप्यस्तीति संस्थितम् ।
यदप्यस्ति परं ब्रह्म कष्टं नास्तीति तत्स्थितम् ॥ २५ ॥
अब्रह्मण्यं क्व गच्छामि विपरीतमतो जगत् ।
असद्दृश्यं सदित्युक्तं ब्रह्मैवं नाम गम्यते ॥ २६ ॥
न चोत्पन्नं न चाऽऽभाति दृश्यं किंचन कुत्रचित् ।
यदिदं भाति तद् ब्रह्म व्योमैव कचति स्वयम् ॥ २७ ॥
यथा मणिः प्रचकति स्वभासाऽव्यतिरिक्तया ।
आत्मनोऽनन्यया सृष्ट्या चिद्व्योम कचितं तथा ॥ २८ ॥
तस्मिन्नेव पदे शान्ते तपत्येष दिवाकरः ।
तस्यैवाऽवयवश्चैव न नामाऽन्योऽस्ति भास्करः ॥ २९ ॥

खेद है, जो दृश्य नहीं ही है वह अस्तिरूपसे स्थित है जो परम ब्रह्म है उसकी नास्ति है इससे बढ़कर दुःख क्या होगा ? मूढोंको अभाग्यवश ही, मणि नहीं है, काच है, इस भ्रान्तिकी तरह यह वैपरीत्यभ्रम हुआ है, यह भाव है ॥ २५ ॥

मैं तो ब्रह्मभावसे शून्य अतएव विपरीत जगत्को कहाँ पाऊँ । मूढ़ जनताने असत् दृश्यको सत् कहा है वह भी ब्रह्मको ही प्राप्त होती है न कि दृश्यको, क्योंकि असत् वस्तु प्राप्तियोग्य ही नहीं है, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

यह न तो कभी कुछ उत्पन्न हुआ है और न उसका भान ही होताहै । जो यह स्फुरित होता है वह स्वयं चिदाकाशका ही स्फुरण है ॥ २७ ॥

जैसे मणि अपनेसे अभिन्न अपनी आभासे स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश अपनेसे अभिन्न सृष्टिरूपसे स्फुरित है ॥ २८ ॥

यह कैसे जाना जाय यह यदि कहो तो सूर्य आदि जगत्का सद्रूपसे ही सत्सामान्यके प्रायः एकदेशरूपसे (अङ्गरूपसे) सबको अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं—**'तस्मिन्नेव'** इत्यादिसे ।

उसी शान्त पदमें यह भगवान् सूर्य तपते हैं और उसीके अवयवभूत ही हैं । सूर्य उससे अतिरिक्त कदापि नहीं हैं ॥ २९ ॥

स्थितोऽपि तत्र न तपत्यर्को न च निशाकरः ।
प्रकाशयति देवोऽसावर्कं नाऽर्कस्तमीश्वरम् ॥ ३० ॥
तस्य भासा विभातीदं तदहो दृश्यमण्डलम् ।
सर्वचन्द्रार्कवह्नीनां पदार्थानां स दीपकः ॥ ३१ ॥
स साकारो निराकार इति शब्दार्थकल्पना ।
खपुष्पवदसद्रूपा न संभवति तद्विदाम् ॥ ३२ ॥
स्वाङ्गभूतो यथैकोऽणुर्भाति जीवार्कतेजसि ।
न भान्ति भान्ति वा तत्र तथा सूर्यादयोऽणवः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य आदिका प्रकाश ब्रह्मके अधीन है वैसे स्वप्रकाश ब्रह्म सूर्य आदिके अधीन प्रकाशवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'स्थितोऽपि'** इत्यादिसे।

उस परमपदमें स्थित होकर भी न सूर्य प्रकाश करता है और न चन्द्रमा ही प्रकाश करता है यह देव (देदीप्यमान) चिदाकाश सूर्यको प्रकाशित करता है, सूर्य उस ईश्वरको प्रकाशित नहीं करता है। इस विषयमें भगवती श्रुति है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' अर्थात् उस परम पदमें न सूर्यका प्रकाश है, न चन्द्रमा और सितारोंका, ये बिजलियाँ भी वहाँ प्रकाश नहीं करती हैं, इस अग्निका तो भान कहाँसे होगा? प्रकाशमान हो रहे उसके बाद ही सबका भान होता है उसकी आभासे इस सारे जगत्का भान (प्रकाश) होता है ॥ ३० ॥

अहो! वह यह दृश्यमण्डल उसकी प्रभासे भासित होता है। वह सब चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंका प्रदीपक (भासक) है ॥ ३१ ॥

वह साकार है, निराकार है इस तरहकी शब्दार्थ-कल्पना, जो आकाश-कुसुमके समान असद्रूप है, तत्त्वज्ञानियोंको नहीं होती ॥ ३२ ॥

जगत्को देख रहे जीवभूत इस सूर्यके तेजमें उसीका अङ्गभूत परमाणु जैसे झरोखे आदिमें भासता है वैसे ही असीम चित्प्रकाशवाले ब्रह्ममें ये सूर्य आदि परमाणु भासते हैं अथवा नहीं भी भासते ॥ ३३ ॥

चिन्मात्राकाशरत्नस्य सृष्टयोऽर्कादिसंयुताः ।
या भासस्ताः कथं तस्माद् व्यतिरिक्ताः स्युरुच्यताम् ॥ ३४ ॥
चिन्मात्रेणाऽपि रहितं शून्यत्वेनाऽपि वर्जितम् ।
पदं सर्वात्मरिक्तं तत्सर्वार्थैश्च समन्वितम् ॥ ३५ ॥
पृथ्व्यादीन्यपि सन्त्येव तत्र सन्ति न कानिचित् ।
जीवन्तोऽपि न विद्यन्ते जीवास्तत्र च केचन ॥ ३६ ॥
अत्यजन्तो द्वयस्थौल्यं तत्रैते परमाणवः ।
स्वरूपमत्यजद् द्वैतमैक्यं वाऽत्र न किंचन ॥ ३७ ॥
किंचिदत्र न किंचिद्वै न किंचिच्च न किंचन ।
किंचिन्न किंचिदित्येषा कलनाऽत्राऽतिदूरगा ॥ ३८ ॥

जो सूर्य आदिसे संयुक्त सृष्टियाँ चिन्मात्राकाशरूप महारत्नकी दीप्तियाँ हैं, जरा कहिये तो वे उससे व्यतिरिक्त कैसे होंगी ? रत्नसे उसकी कान्ति कदापि भिन्न नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ३४ ॥

वह चिद्रूप परमपद अचित्‌की असिद्धि होनेपर कोई व्यावर्त्य न होनेके कारण चिन्मात्रसे भी रहित, सर्वत्र पूर्ण होनेके कारण शून्यतासे भी रहित, सकल पदार्थोंके असिद्ध होनेके कारण सबसे रिक्त, कल्पित सब पदार्थोंका अधिष्ठान होनेके कारण सब पदार्थोंसे युक्त है ॥ ३५ ॥

उस चिद्रूप परमपदमें कल्पित पृथिवी आदि सभी भूत-भौतिक पदार्थ हैं ही पर वास्तवमें कोई भी नहीं है। उसमें कल्पित चिदाभासरूपसे निखिल जीव जीवित रहते हुए भी वास्तवमें स्वरूपसे कोई नहीं हैं ॥ ३६ ॥

उस चित्प्रकाशमें दो अवयवोंके संगठनसे उत्पन्न स्थूलताका त्याग न करते हुए ही ये सूर्य आदि परमाणु ही (निरवयव अणु ही) हैं। यथार्थमें स्वसत्ताका त्याग न करता हुआ द्वैत अथवा अद्वैत (एकत्व) इस चिद्रूपमें कुछ नहीं है ॥ ३७ ॥

इस चित्प्रकाशमें कुछ है कुछ नहीं है, न किञ्चित् है और न किंचन है यानी किञ्चित्, अकिञ्चित् आदि कल्पना इस शुद्ध निर्विषय चिद्रूपसे अत्यन्त दूर है। व्यवहारमात्रका निरास होनेपर विरोध और अविरोधका भी उसमें निरास हो गया है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

एका निरन्तराऽनन्ता नित्यमत्याततात्मना ।
चिन्मात्रव्योमसत्तैव जगन्नाम्नाऽऽत्मनि स्थिता ॥ ३९ ॥
एकं चेत्यं त्यक्तवत्या अप्राप्तायाश्रितोऽपरम् ।
यद्रूपं जगतो रूपमस्य नानाऽऽत्मनोऽपि तत् ॥ ४० ॥
नानेवेदमनानैव चिद्व्योमैवेदमाततम् ।
भूतपञ्चकरूपेण स्वप्ने चितिरिव स्थितम् ॥ ४१ ॥
सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं सुषुप्तस्थैव चिद्यथा ।
यथास्थितैव स्वप्नत्वमेत्येवं सर्गतामिमाम् ॥ ४२ ॥
यादृक्सुषुप्तं स्वप्नस्तु तादृगेव तथैव च ।
जाग्रत्तुर्यं तथैवेदमतो व्योमसमं जगत् ॥ ४३ ॥
जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यमेवाऽखिलं स्थितम् ।
तत्त्वविद्गोत्रमूढस्तु यद्वै वेत्ति न वेद्मि तत् ॥ ४४ ॥

अखण्ड, निरवकाश, असीम, निरन्तर अपने रूपसे अत्यन्त विस्तृत चिन्मात्राकाशसत्ता ही निजरूपमें जगत्‌के नामसे स्थित है ॥ ३९ ॥

'देशाद्देशान्तरप्राप्तौ' इस श्लोकके तात्पर्यका उसमें साधकरूपसे वर्णन करते हैं—**'एकम्'** इत्यादिसे ।

एक यानी चैत्यको त्याग कर चुकी और अन्य चिन्मात्ररूपको प्राप्त न हुई चित्‌का जो निर्विषय रूप है नानात्मक इस जगत्‌का भी वही रूप है ॥४०॥

अनाना (अद्वितीय) यह चिदाकाश ही स्वप्नमें जीवचैतन्यकी भाँति पञ्च महाभूतरूपसे विस्तृत नानासा (भिन्नसा) होकर स्थित है ॥ ४१ ॥

जैसे सुषुप्तिसे स्वप्नमें प्रवेश कर रहे जीवकी सुषुप्तिमें स्थित ही चित् ज्योंकी त्यों (बिना कोई अन्तर पड़े) स्वप्नताको प्राप्त होती है वैसे ही चित् ही प्रलयसे सर्गताको प्राप्त है ॥ ४२ ॥

जैसी सुषुप्ति है स्वप्न भी वैसा ही है, यह जाग्रत् भी वैसा ही है और तुर्य भी वैसा ही है इससे सिद्ध हुआ कि जगत् आकाशतुल्य है ॥ ४३ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सबके सब तुर्यरूप ही स्थित हैं । ब्रह्मवेत्ताओंके सम्प्रदायके विषयमें निपट मूढ़ पामर पुरुष जिसे जगत्‌के रूपसे जानता है, उसे मैं नहीं जानता हूँ ॥ ४४ ॥

जडानामजडानां यः सर्वार्थानामनाग्तम् ।
दुर्लक्ष्यपरिणामोऽन्तर्मनोबुद्ध्यादिवर्जितः ॥ ४५ ॥
सुशुद्धायाश्रितो रूपं पदार्थास्तन्मयाश्च ते ।
ते वसन्ति न सद्रूपास्तदेव हि तथा स्थितम् ॥ ४६ ॥
परिणामादिशब्दार्थदशामत इहाऽनघ ।
उपदेशार्थमुक्तीनां गन्धोऽप्येवं न विद्यते ॥ ४७ ॥
आदिसर्गात्प्रभृत्येव महासत्ताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
चिन्मात्रपरमाकाशं स्थितमेकं महात्मनः ॥ ४८ ॥
प्रपूर्णैकात्मनि प्रख्या सा सर्वव्यापिनी चितिः ।
स्थिता तयाऽऽत्मन्येवाऽन्तर्जगदित्यभिधाः कृताः ॥ ४९ ॥

जड़ यानी जगत् और अजड़ यानी जीवरूप सकल पदार्थोंके अन्दर स्थित होकर अन्तर्यामितासे दुर्लक्ष्य जगत्को दर्शानेवाला मन, बुद्धि आदिसे शून्य जो ईश्वर है वही शोधित जीव चैतन्यका पारमार्थिक रूप है। वे सब जगत्पदार्थ भी तन्मय हैं। वे सद्रूप नहीं हैं। किन्तु वही जगत्के आकारसे स्थित हैं ॥४५,४६॥

यदि कोई कहे पृथ्वी आदि पदार्थ चिद्रूप ही हैं चिद्रूपसे अतिरिक्त नहीं हैं तो अन्तर्यामीरूपसे चित्में उनका साक्षी होना तथा उन्हें प्रेरित करना कैसे घट सकता है? इस प्रश्नपर कहते हैं—'**सुशुद्धा**'० इत्यादिसे।

हे निष्पाप श्रीरामजी, उपदेशके लिए लौकिक परिमाण आदिको स्वीकार कर प्रवृत्त हुई उक्तियोंमें परमार्थतः परिणामपरताकी गन्ध भी नहीं है। पृथिवी आदिमें अन्तर्यामी होकर परमात्मा सबका साक्षी तथा परिणामका प्रेरक है, इत्यादि उक्तियाँ लौकिक व्यवस्थाको मानकर उपदेशार्थ प्रवृत्त हैं। वास्तवमें वे परिणामपरक नहीं हैं, यह भाव है ॥ ४७ ॥

तब उनका तात्पर्य किसमें है? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं— '**आदिसर्गात्**' इत्यादिसे।

आदि सृष्टिसे ही एकमात्र चिन्मात्र परमाकाश महासत्तारूपसे अपनेमें स्थित है, इस विषयमें तत्त्ववेत्ताओंके सर्वथा परिपूर्ण आत्मामें अनुभव प्रमाण है। वही अनुभवरूप सर्वव्यापिनी चित् सर्वत्र स्थित है। उसीने निज आत्मामें अज्ञानियोंके लिए जगत्, जीव आदि संज्ञाएँ की हैं ॥ ४८, ४९ ॥

परिज्ञाते यथा स्वप्ने स्वाङ्गीकारात्सुखं सुखम् ।
अनङ्गीकारतो दुःखं सदुःखं भवति क्षणात् ॥ ५० ॥
गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतस्तथा ।
नित्यमेकं समाधानं स्थितं शान्तस्य तद्विदः ॥ ५१ ॥
भेदेऽप्यभेदनिष्ठस्य दुःखेऽपि हि सुखस्थितेः ।
सतोऽप्येवाऽसतो ज्ञस्य किमन्यदवशिष्यते ॥ ५२ ॥
न संत्यजति नाऽऽदत्ते किंचिद् व्यवहरन्नपि ।
हृदयेन बहिःकार्येऽकार्ये एवाऽवतिष्ठते ॥ ५३ ॥

प्रबोधकालमें जिस तरहका शुद्ध आत्मा शेष रहता है, उसको स्वीकार करनेसे जो जो जगत्-कौतुक अनुभूत हुआ वह सब सुख ही होता है अप्रबोध-कालमें उसका अङ्गीकार न करनेसे दुःखयुक्त जन्म, मरण, रोग आदि जो जो अनुभवमें आता है वह सब दुःख ही होता है । स्वप्नमें प्रबोध, अप्रबोध आदिके समान, यह कहते हैं---'**परिज्ञाते**' इत्यादिसे ।

जैसे यह स्वप्न है यों स्वप्नका परिज्ञान होनेपर स्वप्नमें जो कुछ भी अनुभवमें आया वह सब सुख ही हो जाता है । यदि स्वप्नका 'यह स्वप्न है' यों परिज्ञान नहीं हुआ तो दुःखयुक्त सब वृत्त दुःखप्रद ही होते हैं वैसे ही प्रबोधकालमें (ज्ञानकालमें) जिस प्रकारके निष्कल निरञ्जन आत्माका शेष रहता है उसका अङ्गीकार करनेसे अनुभूत जगत् आदि कौतुक क्षणभरमें सुखकारक ही होता है, अज्ञानकालमें उसका अङ्गीकार न करनेसे दुःखपूर्ण जन्म, जरा, मरण आदि दुःख-दायक ही होते हैं ॥ ५० ॥

अतएव आत्मज्ञानी पुरुषमें दुःखदायी विक्षेप न होनेसे, सदा समाधि-सुख ही रहता है, ऐसा कहते हैं—'**गच्छत०**' इत्यादिसे ।

शान्त, तत्त्वज्ञानी पुरुषमें चलते, टिकते, जागते और सोते सदा एक समाधिसुख ही रहता है ॥ ५१ ॥

द्वैतमें भी अद्वैतनिष्ठ, दुःखमें भी सुख स्थितिवाले, बाहर संसारमें रहते भी मुक्त होनेके कारण उसमें नहीं ही रहनेवाले ज्ञानीके लिए कौनसी वस्तु साध्य या हेय शेष रहती है ॥ ५२ ॥

बाहरके कार्यमें व्यवहार कर रहा भी तत्त्वज्ञ पुरुष हृदयसे न कुछ त्याग

यथा हिमस्य शीतत्वं वह्नेरौष्ण्यं तथेदृशः ।
स्वभावोऽस्य भवेन्नित्यं न त्वाहार्यो गुणोऽस्य सः ॥५४॥
यस्य त्वेष स्वभावः स्यान्न नाम न स तत्त्ववित् ।
एतदेवाऽज्ञताचिह्नं यदिच्छा प्रकृतेतरा ॥ ५५ ॥
आश्वस्तान्तःकरणः
क्षीणविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृततृप्त-
स्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० निर्वा० उ० द्वैतैक्यनिरामय-योगोपदेशो नामैकसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७१ ॥

करता है और न कुछ ग्रहण करता है, किन्तु अकार्यमें (ब्रह्ममें) ही स्थित रहता है ॥ ५३ ॥

जैसे हिमकी (बर्फकी) शीतलता है और अग्निकी उष्णता है वैसे ही इस तरहका उसका स्वभाव ही हो जाता है वह उसका प्रयत्न द्वारा संपादनीय गुण नहीं है ॥ ५४ ॥

किन्तु जिसका ऐसा स्वभाव न हो वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। आत्मासे अतिरिक्त विषयकी इच्छा होना ही अज्ञताका लक्षण है ॥ ५५ ॥

जो अज्ञानावरणशून्य विद्वान् है उसका अन्तःकरण सदा समाधिसुखका अनुभव करता है, यह शत्रु है, यह मित्र है आदि विकल्पोंकी उसमें गन्धतक नहीं रहती, आत्मसुखरूपी सार वस्तु ही उसमें प्रचुरमात्रामें रहती है और वह सदा परमशान्तिरूपी अमृतसे तृप्त रहता है ॥ ५६ ॥

एक सौ एकहत्तर सर्ग समाप्त



द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं पृथ्व्यादिरहितः खमेवाऽऽद्यः प्रजापतिः ।
मनोमात्रमहं मन्ये संकल्पविटपी यथा ॥ १ ॥
मन इत्यभिधानेन पश्चादास्था प्रकल्पिता ।
वार्यावर्तविवर्तेन प्रोत्थायाऽऽवर्तता यथा ॥ २ ॥

एक सौ बहत्तर सर्ग

[विधाता केवल मनरूप है, उसका सङ्कल्प जगद्भ्रान्ति है । उसका न शरीर है और न उसे स्मृति ही हो सकती है, यह कथनपूर्वक स्मृतितत्त्वका वर्णन]

यदि कोई कहे कि श्रुतियोंमें यह जगत् विधाता द्वारा रचित सुना जाता है—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (विधाताने सूर्य और चन्द्रमाकी पूर्वकल्पानुसार सृष्टि की । द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्षलोक और स्वर्गकी भी पूर्ववत् सृष्टि की) । ऐसी परिस्थितिमें जगत् स्वप्नकी भाँति चिन्मात्रस्फुरण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका निवारण करनेके लिए विधाताके संकल्प और संकल्पमय जगत् चिन्मात्र ही हैं, यह वर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनादिकालसे जीवन्मुक्त होनेके कारण ही आदि प्रजापति पृथिवी आदिसे रहित निरावरण चिदाकाश ही है । उसे मैं केवल मनकी समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही समझता हूँ और मन संकल्पवृक्षके समान चित्स्फुरणमात्र ही है, यह प्रसिद्ध है, यों उसकी चिन्मात्रतामें कोई सन्देह नहीं रहा, यह भाव है ॥ १ ॥

कैसे उसकी चिन्मात्रताकी प्रसिद्धि है ? इसपर कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

मननाकारकी कल्पनाके पूर्व वह चिन्मात्र ही था । मननाकार कल्पनाके बाद 'मन' इस नामसे उसके चित्तादात्म्याध्यासकी कल्पना हुई । जैसे कि जलमें ही आवर्तके (भँवरके) विवर्तके आकारसे स्वयं उठकर उसने आवर्तताकी कल्पना की ॥२॥

सत्तामात्रात्मनस्तस्य कुतो बुद्ध्यादयः किल ।
अविद्यमाने पृथ्व्यादौ खस्याऽनन्तस्य किं रजः ॥ ३ ॥
न तस्य देहचित्तादि नेन्द्रियाणि न वासनाः ।
सदप्येतत्सदा तस्य न किंचिदपि विद्यते ॥ ४ ॥
प्राक्तनस्य प्रजेशस्य मुक्तत्वात्कथमेव च ।
भूयः संभवति प्राज्ञ न स्मृतिर्न च संभवः ॥ ५ ॥
न भवत्येव मुक्तानां स्मृतिर्देहोदयः पुनः ।
न देशकालावर्तत्वमावर्तानां सतामिव ॥ ६ ॥

इसलिए उसके बुद्धि आदि भी चित्से पृथक् नहीं हैं, यह कहते हैं—'सत्ता'० इत्यादिसे ।

केवल सत्तामात्रस्वरूप प्रजापतिके बुद्धि आदि कहाँसे हो सकते हैं । यदि पृथिवी आदिका ही अस्तित्व न हो तो अनन्त (असीम) आकाशमें धूलि कहांसे होगी ? ॥ ३ ॥

इसी प्रकार उसके देह आदि भी नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—'**न तस्य**' इत्यादिसे ।

उसके न देह, चित्त आदि हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न वासनाएँ ही हैं । व्यवहाराभासके निर्वाहके लिए आपाततः (सरसरी दृष्टिसे) उसके देहादिका अस्तित्व होनेपर भी परमार्थरूपसे देह आदि कुछ भी नहीं हैं ॥ ४ ॥

क्यों नहीं हैं ? यह यदि पूछो तो आदि सृष्टिके आरंभमें कारण ही कोई नहीं है, इसलिए नही हैं । यदि कहो कि प्राक्तन (पहलेका) प्रजापति ही आगेके प्रजापतिका कारण है, सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह द्विपरार्धरूप अपनी आयुके अन्तमें मुक्त हो गया, ऐसा कहते हैं—'**प्राक्तनस्य**' इत्यादिसे ।

हे महामते, प्राक्तन प्रजापतिके मुक्त हो जानेके कारण पुनः देह, बुद्धि आदिके ग्रहणमें कोई कारण नहीं है । इस कारण नूतन प्रजापतिको जगत्की रचनामें सहायक न पूर्व स्मृति होती है और न उसकी उत्पत्तिका ही संभव है ॥ ५ ॥

संसारमें स्थित तथा आवागमनके चक्करमें पड़े हुए जीवोंकी तरह विदेहमुक्त पुरुषोंके संसारस्मृति तथा पुनः देहलाभ नहीं ही होते, क्योंकि उनकी अन्यदेशमें अथवा अन्य कालमें पुनरावृत्ति ही नहीं होती है । इस विषयमें 'इमं मानव-

यदि वाऽपि भवेत्किंचित्स्मृत्या देहादि तस्य तत् ।
तदपृथ्व्यादिभिः शान्तं संकल्पनगरं तनु ॥ ७ ॥
यथा संकल्पशैलस्य दृश्यमानमपि स्फुटम् ।
पृथ्व्यादिरहितं रूपं तद्विराड्वपुषस्तथा ॥ ८ ॥
स्मृतिश्च संभवत्येव न कदाचन काचन ।
एषा लौकिकबुद्ध्या या सा सद्बुद्ध्या न विद्यते ॥ ९ ॥

मावर्तं नावर्तन्ते' तथा 'न स पुनरावर्तते' अर्थात् मुक्त पुरुष इस मनुष्य जन्मरूपी आवर्तमें नहीं पड़ते हैं। उसकी फिर यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती, इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ॥ ६ ॥

अथवा यदि प्रजापतिकी पूर्वकल्पमें की गई प्रबल उपासनासे उत्पन्न हिरण्यगर्भमें अहंभावविषयक संस्कारके बलसे उसी तरहकी स्मृतिसे उसके देहादि कुछ होगा तो वह केवल उपासनारूप मनकी कल्पनासे जन्य होनेके कारण केवल मानसिक अपृथ्वी आदिसे उत्पन्न अतितुच्छ संकल्पनगरके सदृशमिथ्याभूत ही होगा न कि सत्य होगा। इस तरह भी हमारे ही सिद्धान्तकी सिद्धि है, यह भाव है॥७॥

यदि कोई शङ्का करे कि पृथिवी आदिसे रचा हुआ दिखाई दे रहा ब्रह्माण्डरूप विराट्शरीर पृथिवी आदिसे रहित कैसे हो सकता है? इसपर कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे।

जैसे मनोरथके पर्वतका भलीभाँति दिखाई दे रहा, अनुभवमें आ रहा, रूप पृथिवी आदिसे रहित है वैसे ही उसके विराट् शरीरका रूप भी पृथिवी आदिसे रहित है ॥ ८ ॥

यदि कोई कहे कि पहले उदाहरणके रूपमें प्रदर्शित श्रुतिमें 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' यों विराट्शरीर पृथिवी आदिसे रचित ही सुना गया है और वह 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस वचनसे पूर्व कल्पकी स्मृतिपूर्वक ही रचा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्थामें आपका पूर्वोक्त कथन कैसे घट सकता है? इसपर कहते हैं—**'स्मृतिश्च'** इत्यादिसे।

प्रजापतिको आदि सृष्टिमें पहलेका कोई अनुभव न होनेके कारण स्मृति नहीं ही होती है। जो यह स्मृति श्रुतिवचन बलसे प्रतीत होती है उसका श्रुतिने जगत्को सत्य माननेवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिसे अनादिसिद्ध कर्मकांड-

श्रीराम उवाच

कथं न संभवन्त्येषां स्मृतिः स्मृतिमतां वर ।
स्मृतेश्चाऽसंभवे कस्माद् गुणो गुणगणाकर ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

दृश्ये हि संभवन्त्येषा कार्यकारणताऽऽत्मनि ।
तद्भावाभावसंपन्ना न तु संभवति स्मृतिः ॥ ११ ॥

प्रवाहके प्रवर्तनार्थ परबुद्धिके अनुसार बोधन किया है । तत्त्वज्ञानी प्रजापतिकी बुद्धिसे तो वह (स्मृति) नहीं है ॥ ९ ॥

इस प्रजापतिको पूर्वकल्पमें, जब कि वह उपासक था, पृथ्वी आदिका अनुभव था ही । यदि उस समय उसे पृथिवी आदिका अनुभव न होता तो 'मैं पृथिवी आदिसे रचित विराट् शरीरवाला हूँ' ऐसी उपासना कैसे करता । उसके अनन्तर यह उक्त अनुभवके बलसे निर्माण सामर्थ्य प्राप्तकर उसकी स्मृतिसे सृष्टिका निर्माण करेगा । स्मृतिके बिना ही उसका निर्माण करनेपर तो 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस श्रुतिवचन द्वारा बोधित पूर्वकल्पके ब्रह्माण्डकी सारी गुणराशिकी इस ब्रह्माण्ड-में कैसे सिद्धि होगी, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'कथम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे स्मृतिमानों में सर्वश्रेष्ठ गुरुवर, हे गुणराशिके आकर, इनकी स्मृति क्यों नहीं होती और स्मृतिके अभावमें पूर्वकल्पके गुण इस कल्पके ब्रह्माण्डमें कैसे आये ? ॥ १० ॥

ठीक है, हम कल्पनारूप भ्रान्तिसे जन्य निरर्थक स्मृतिका खंडन नहीं करते परन्तु सत्य पदार्थोंके अनुभवजन्य संस्कारसे उत्पन्न स्मृतिका खंडन करते हैं । यदि उक्त स्मृति हो तो पूर्व अनुभवके विषय सत्य पदार्थोंमें स्वविषय अनुभवके संस्कारसे जन्य स्मृति द्वारा इस कल्पके पदार्थोंके प्रति अन्वयव्यतिरेकवश कार्यकारणभावके सिद्ध होनेपर अपने निर्माताकी सत्तासे सत्तावान् जगत्के सत्य होनेपर ब्रह्माद्वैत सिद्धान्तको बाधा पहुँचेगी, यों श्री-वसिष्ठजी समाधान करते हैं—**'दृश्ये हि'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पृथिवी आदि दृश्यके पर-मार्थतः सत् होनेपर अन्वयव्यतिरेकवश सम्पन्न (सिद्ध) हुई स्मृतिमूलक

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यं किंचिन्न विद्यते।
यत्र तत्र कथं कीदृक् कुतः स्यात्संभवः स्मृतेः ॥ १२ ॥
भूत्वा भावे हि दृश्यस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते।
दृश्यमेव न यत्राऽस्ति तत्रैताः कलनाः कुतः ॥ १३ ॥

यह (लौकिकन्यायसिद्ध) कार्यकारणता हो सकती है, किन्तु द्वारभूत स्मृतिका ही सम्भव नहीं है ॥ ११ ॥

स्मृतिका क्यों संभव नहीं है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'**आब्रह्म०**'इत्यादिसे।

'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ भेद कुछ भी नहीं है), 'एकमेवाद्वितीयम्' (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद शून्य ब्रह्म ही है), 'अथात आदेशो नेति नेति' (नेति नेति 'यह नहीं यह नहीं' ऐसा श्रुतिका आदेश है), 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' (जहांपर दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता और दूसरेको नहीं जानता—द्वैतज्ञान नहीं रहता—वह भूमा है), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (वह यह ब्रह्म जो आत्मा है, इसका न कोई कारण है, न कार्य है, न इसके मध्यमें कोई अन्यजातीय है और न इसके कोई बाहर है, यह आत्मा ही निरन्तर ब्रह्म है जो कि सामान्यरूपसे सबका अनुभव करता है), 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (विकार वाचारम्भण नाममात्र है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा सकल प्रपञ्चका निषेध होने तथा वैसी ही तत्त्वज्ञानियोंकी अनुभूति होनेसे जहां ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त दृश्य कुछ भी नहीं है वहांपर स्मृतिका सम्भव कैसे, किस प्रकारका और कहांसे होगा। ऐसी स्थितिमें 'सह सिद्धं चतुष्टयम्' इस स्मृतिवचन द्वारा प्रदर्शित प्राक्तन स्वाभाविक प्रपञ्च तत्त्वज्ञानी विराट्के तत्त्वज्ञानसे बाधित होकर मिथ्या ही हो चुका, अतएव वह प्रजापतिकी पूर्वस्मृतिका आधान करने और उसके द्वारा सत्य सृष्टिके प्रति कारण होनेके लिए समर्थ नहीं है, यह भाव है ॥ १२ ॥

परमार्थरूपसे उत्पन्न होकर विद्यमानताको प्राप्त हुई वस्तुका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनुभव कर कालान्तरमें उसका जो स्मरण है उसे ही शास्त्रज्ञ लोग स्मृति कहते हैं। जहां दृश्य ही नहीं है वहां ये स्मृति आदि कल्पनाएँ कहाँसे हो सकती हैं ? इस दृश्यका निश्चय रूपसे सर्वदा अत्यन्त अभाव ही है,

अत्यन्ताभाव एवाऽस्य दृश्यस्य किल सर्वदा ।
सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थास्तत्स्मृतेः कलनाः कुतः ॥ १४ ॥
स्मृतिर्न संभवत्येव तस्मादाद्या प्रजापतेः ।
आकारवत्त्वमेवाऽस्य शुद्धज्ञानात्मनः कुतः ॥ १५ ॥
स्मर्तव्यं भाववशतः स्मृतिर्नास्त्येव लौकिकी ।
स्मृत्यर्थस्त्वन्यदीयोऽस्ति सत्यात्मा त्वमिमं शृणु ॥ १६ ॥
भूतस्याऽन्तः पदार्थस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते ।
पदार्थस्तु न चैवाऽस्ति न भूतो न भविष्यति ॥ १७ ॥

क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है, इत्यादि सत्यार्थक श्रुतियां हैं । ऐसी परिस्थितिमें स्मृति-कल्पनाएं कैसे हो सकती हैं या स्मृतिकी सत्यार्थक कल्पनाएं कैसे हो सकती हैं यों मूलके 'सत्यार्थाः'का कल्पनामें अन्वय करना चाहिये। या पूर्वोक्त अनुवादके अनुसार 'सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थाः श्रुतयः सन्ति' यों योजना करनी चाहिये। असत्, भ्रान्ति-कल्पित और तत्त्वज्ञानसे बाधितकी स्मृति नहीं हो सकती है, यह भाव है॥ १३,१४ ॥

पूर्वोक्त आशयको ही पुनः सूचित करते हुए समाधानका उपसंहार करते हैं—**'स्मृतिः०'** इत्यादिसे ।

इसलिए प्रजापतिकी आद्य स्मृति कदापि नहीं हो सकती है । शुद्ध-ज्ञानरूप प्रजापतिकी आकारवत्ता (मूर्तता) ही कहांसे होगी ? ॥ १५ ॥

पूर्व जन्ममें उपासनारूप अपनी जगद्देहत्वभावनाके द्वारा उपासना फलकी सिद्धिके लिए मैं जगद्देह हूं ऐसा प्रजापतिको अवश्य स्मरण करना चाहिये । लोकमें प्रसिद्ध जो स्मृति है (वह मेरी मां है वह मेरी लड़की है इत्यादि स्मृति है) उसकी तरह वह स्मृति पदार्थप्रमाजन्य नहीं ही है, क्योंकि अन्यका लौकिक स्मृत्यर्थ—माता, दुहिता आदि—घरमें है, किन्तु मनोराज्यतुल्य उपासनाका विषय नहीं है यह विषमता है । कैसे नहीं है, इस अर्थको सुनिये ॥ १६ ॥

अतीत पदार्थका संस्कारवश अन्तःकरणमें स्मरण लोकमें स्मृति कही जाती है । प्रजापतिका तो कल्पादिमें न विद्यमान पदार्थ ही है, न भूत ही पदार्थ है और न कोई आगे होनेवाला पदार्थ ही है, जिसकी कि उन्हें स्मृति होगी, यह भाव है ॥ १७ ॥

एवं हि खल्विदं ब्रह्म परमेवाऽचलं यतः ।
अनादिमध्यपर्यन्तं कुतः स्मृत्यादयस्ततः ॥ १८ ॥
सर्वात्मत्वात्पदार्थात्म चिद्व्योमकचनं तु यत् ।
व्यवहारेऽप्यलं शान्तं स्मृत्या तच्छब्दितं मया ॥ १९ ॥
तदेतत्स्मरणं नाम स्वभावकचनं हि तत् ।
तेनाऽभ्यस्तोऽथ बाह्यार्थः सादृश्यादवभासते ॥ २० ॥
यद्यत्संवेद्यते किंचित्तत्स्वभावं स्वभावयत् ।
तेनाऽवभासते योऽर्थस्तस्य स्मृत्यभिधा कृता ॥ २१ ॥
अविद्यमानं भातीव यथा दृश्यं तथा स्थितिः ।
भातेवाऽविद्यमानैवं मृगतृष्णा यथोद्यता ॥ २२ ॥

इस प्रकार चूंकि यह दृश्य आदि, मध्य और अन्तशून्य कूटस्थ परम ब्रह्म ही है, इसलिए स्मृति आदि कैसे हो सकती हैं ॥ १८ ॥

चिदाकाशका स्फुरण सर्वात्मक होनेसे स्मृत्यात्मक भी है, ऐसा यदि कहो तो ठीक है । इसी अभिप्रायसे मैंने भी पहले 'यदि वापि भवेत् किञ्चित्स्मृत्या देहादि तस्य तत्' इस श्लोकमें व्यवहारमें पूर्णरूपसे शान्त भी उस ब्रह्मको स्मृति नामसे कहा है ॥ १९ ॥

अज्ञात ब्रह्मके स्वभावका परोक्षरूपसे ही जो कचन (स्फुरण) है वही यह स्मरण है । तदनन्तर मैं ब्रह्म " इस उपासनासे पुनः पुनः अभ्यास करनेसे ब्रह्मरूप आत्मा ही उपासनाका फलभूत बाह्य अर्थसा होकर उपासनासे कल्पित आकारके समान भासता है ॥ २० ॥

जीव द्वारा अज्ञानोपहित ब्रह्म जिस जिस स्वरूपसे ज्ञात होता है भ्रान्तिसे अथवा स्मृतिपरम्परासे उसके स्वभावका ही अवलम्बन कर उसकी स्वभावत्वेन भावना करता हुआ वह स्वरूप कालान्तरमें उस आकारसे 'वही यह है' यों तत्तासे युक्त पदार्थसा अवभासित होता है, उसकी ही जीवने अपनेमें स्मृतिरूपसे कल्पना की है ॥ २१ ॥

जैसे भ्रमयुक्त अनुभवमें (भ्रमज्ञानमें) अविद्यमान भी दृश्य (रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि) भासित-सा होता है वैसे ही स्मृतिमें भी व्यवस्था समझनी चाहिये । देखिये न अविद्यमान भी (सर्वथा असती भी) मृगतृष्णा उदितसी भासित होती ही है । इसका सबको अनुभव है ॥ २२ ॥

सर्वात्मनि स्थिताः सत्ये याः कचन्ति सुसंविदः ।
ता एवाऽभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः स्मृताः ॥२३॥
काकतालीयवद्भान्ति सर्वात्मनि सुसंविदः ।
स्वाङ्गभूताः स्वतः स्वस्थास्ता एव स्मृतयः कृताः ॥ २४ ॥
यद्यत्कचति सद्रूपं स्वाङ्गं सर्वात्मनः स्वतः ।
तदभ्यस्तार्थसादृश्यात्स्मृतिरित्युच्यते बुधैः ॥ २५ ॥
हेतौ लब्धेऽप्यलब्धे वा पवनस्पन्दवद्विदः ।
ता एवाऽभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः कृताः ॥ २६ ॥
काकतालीयवद्भान्ति यास्ताः स्मृत्यभिधाः कृताः ।
यथा तवैतेऽवयवाः कचन्ति न कचन्ति च ॥ २७ ॥

सत्य सर्वात्मामें स्थित जो संवित् स्फुरित होती हैं वे ही भ्रान्त अभ्यासकी दृढ़तासे बद्धमूल होकर भ्रान्त अनुभवके समानविषयत्वरूप सादृश्यसे स्मृतियाँ कही गई हैं ॥ २३ ॥

सर्वात्मा ब्रह्ममें काकतालीयके समान आकस्मिक उद्बोधक वश जिन संविदोंका (चिद्वृत्तियोंका) भान होता है चित्की अवयवभूत सी विषयतः परोक्ष होनेके कारण विकृत भी स्वतः अपरोक्ष होनेसे अविकृत वे ही स्मृतिके नामसे विख्यात की गई हैं ॥ २४ ॥

सर्वात्माका स्वाङ्गभूत सद्रूप स्वतः अनुभवमें जिस जिस रूपसे स्फुरित होता है वह उस अभ्यासमें आये हुए पदार्थसे सादृश्य होनेके कारण विद्वान् लोगों द्वारा 'स्मृति' कहा जाता है ॥ २५ ॥

जैसे वायुका स्पन्दन व्यजन (पङ्खा) आदि हेतुके प्राप्त होनेपर भी तथा न प्राप्त होनेपर भी होता है वैसे ही उद्बोधक कारणके प्राप्त होनेपर अथवा प्राप्त न होनेपर भी वे अनुभववृत्तिसे उपलक्षित ही संवित् कालान्तरमें स्मृति नामसे ख्यात की गई ॥ २६ ॥

यदि संवित् सर्वात्माको अङ्गभूत हैं तो वे उसके समान ही सदैव क्यों स्फुरित नहीं होतीं ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'काकतालीयवत्'** इत्यादिसे ।

जो संवित् काकतालीयके समान कभी स्फुरित होती हैं उनका स्मृति नाम रक्खा गया क्योंकि उद्बोधक सामग्री सदा नहीं रहती कदाचित् ही रहती

स्थिता एवाऽऽत्मनि तथा सर्वाः सर्वात्मिका विदः ।
मिथ्याज्ञानमया यद्वदर्था घटपटादयः ॥ २८ ॥
तद्वत्स्मृतिपदार्थस्य किं भ्रमस्य विचार्यते ।
दृश्यस्याऽसंभवाज्ज्ञस्य स्मृतिर्नास्त्येव तत्त्वतः ॥ २९ ॥
स तथैकघनत्वाच्च चिद्व्योमत्वाज्जगत्स्थितेः ।
यथास्थितमिदं दृश्यमस्त्येवाऽज्ञस्य संप्रति ॥ ३० ॥
न मोक्षोपायकथनं न च जानामि तत्स्थितिम् ।
संदेहादिव जिज्ञासुस्तावन्मोक्षकथोच्यते ॥ ३१ ॥
यावद्दृश्यं स्मृतिश्चैव संस्मृतिश्चाऽस्य शाम्यति ।
अविद्यायास्तु मौर्ख्यस्य विमोहस्याऽत्यसंभवात् ॥ ३२ ॥

है । जैसे कि आपके ये हस्त, पाद आदि अङ्ग जब मन उनकी ओर आकृष्ट होता है तो स्फुरित होते हैं और जब उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता तब स्फुरित नहीं होते हैं ॥ २७ ॥

सर्वात्मक सब संवित् वैसे ही आत्मामें ही स्थित हैं जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल आदिमें मिथ्याभूत घट, पट आदि पदार्थ स्थित रहते हैं ॥ २८ ॥

उक्त प्रकारके भ्रमभूत स्मृति पदार्थके मूलका क्या विचार करते हैं । दृश्यका संभव न होनेसे अभ्रान्त तत्त्वज्ञानी प्रजापतिको वास्तवमें स्मृति होती ही नहीं है ॥ २९ ॥

तत्त्वज्ञानी प्रजापति पूर्वकी तरह निर्विकार ही रहता है । जगत्की स्थिति उसकी दृष्टिसे एकरस चिदाकाशस्वरूप है । किन्तु अज्ञानीकी दृष्टिमें इस समय यह दृश्य यथास्थित ही है ॥ ३० ॥

न मैं अज्ञके लिए मोक्षोपायकी कथा करता हूँ और न अज्ञानीके निश्चयके अनुसार तत्त्वज्ञानीकी स्थिति ही जानता हूँ लेकिन यह अवश्य जानता हूँ कि वह भाग्यवश साधन चतुष्टयको प्राप्त कर सन्देहसे जब जिज्ञासुसा होता है तब तब तक गुरु द्वारा उसके लिए मोक्षकथा कही जाती है जब तक कि उसका दृश्य प्रपञ्च, स्मृति और संस्मृति शान्त नहीं होती । जैसे अज्ञानी तत्त्वज्ञोंकी स्थितिको नहीं जानते वैसे ही हम ज्ञानी भी अज्ञोंके निश्चयको नहीं जानते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञानियोंमें अविद्या, मूर्खता तथा विमोहका अत्यन्त अभाव है । अज्ञानीके

अन्तःस्थो निश्चयोऽस्माकं न कदाचन गोचरः ।
यच्च यद्विषये नास्ति तन्नैवाऽनुभवत्यसौ ।
रजन्यनुभवो भानोर्भवत्यङ्ग कथं वद ॥ ३३ ॥
भातं वस्तुस्वरूपात्म चिन्मात्रे किंचिदेव यत् ।
तदभ्यस्तार्थसादृश्याच्चत्संस्कार इति स्मृतम् ॥ ३४ ॥
आत्मस्वभावभूतानामपि चिद्व्योमरूपिणाम् ।
सर्वेषां परिकल्प्यानामाभासेऽप्यनवस्थितेः ॥ ३५ ॥
एवं न संभवत्येव जगत्किंचित्कदाचन ।
दृष्टं मृगतृषेवाऽम्बु न तु तत्परमार्थतः ॥ ३६ ॥
यदा त्वयं तदा स्वप्ने सर्गादौ चाऽवभासते ।
चिद्व्योमैव परं सर्गपर्यायं स्वात्मनि स्थितम् ॥ ३७ ॥

अन्दर स्थित निश्चय कदापि भी हम तत्त्वज्ञानियोंकी बुद्धिका गोचर नहीं हो सकता जो जिसकी बुद्धिके गोचर नहीं है, उसका उसे कदापि अनुभव नहीं हो सकता है । भला बतलाइये तो सही रात्रिका अनुभव सूर्यको कैसे हो सकता है ? ॥ ३१–३३ ॥

अब स्मृतिके कारणभूत संस्कारका खण्डन करनेके लिए संस्कारका स्वरूप बतलाते हैं—**'भातम्'** इत्यादिसे ।

अन्तःकरणोपहित चिन्मात्रमें बाह्यवस्तुस्वरूपभूत जो कुछ भी भासित होता है उसका यदि बारबार व्यवहार द्वारा अभ्यास किया जाय तो उसके सदृश पदार्थोंके सादृश्यसे वासित चित्त उसका संस्कार कहा गया है ॥ ३४ ॥

चिन्मात्रमें परिकल्प्यमान तथा तत्त्वज्ञानसे आत्मस्वभावभूत हुए सब बाह्य अर्थोंका बाधितानुवृत्तिसे जले हुए वस्त्रके समान अवभास होनेपर भी वास्तवमें अवस्थिति न होनेसे उनके सादृश्यका चित्तसे मार्जन होनेसे तत्त्वज्ञोंका संस्कार नहीं हो सकता है ॥ ३५ ॥

ऐसी स्थितिमें फलितार्थ कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार कदापि किंचित् भी जगत्का संभव नहीं ही है जगत् मृग-तृष्णाके जलकी भाँति अज्ञानवश दृष्टिगोचर हुआ है न कि परमार्थरूपसे ॥३६॥

ऐसी स्थितिमें हमारी प्रतिज्ञाकी सिद्धिमें कौन कसर रही, ऐसा कहते हैं—**'यदा तु'** इत्यादिसे ।

चिद्व्योमैवेत्थमाभातं न च्युतं सत्स्वरूपतः ।
आत्मनाऽऽत्मनि रूपं वा सद्रूपमिव संस्थितम् ॥ ३८ ॥
सर्गादावेव कचिते मिथ्या क्वचदपि स्थितम् ।
अतः कुतः क्वचिन्नाम हेयादेयादिभासनम् ॥ ३९ ॥
नेदमाकारवत्किंचिन्नाऽपि स्मृत्यात्मकं क्वचित् ।
कारणाभावतो भाति स्वरूपं परमात्मनः ॥ ४० ॥
आकारवत्त्वे यद्दुःखं भवेत्स्मृत्यां तदेव च ।
द्वयमेतदसत्तस्माद्बन्धो नाम न विद्यते ॥ ४१ ॥
चिद्व्योम्नि भूतव्योमाभे शून्य एव यथास्थितम् ।
स्थितं स्वरूपमजहद्भुवनार्काचलादिकम् ॥ ४२ ॥

जब यह अर्थ सिद्ध हुआ तब स्वप्नमें और सृष्टिके आदिमें परम चिदाकाशका ही भान होता है वही 'सर्ग' (सृष्टि) यह दूसरा नाम रखकर आत्मामें स्थित है ॥ ३७ ॥

अपने स्वरूपसे च्युत हुए बिना सद्रूप चिदाकाश ही अपनेमें अपनेसे ही जगद्रूपसा स्थित होकर भासित हुआ है ॥ ३८ ॥

सृष्टिके आदिमें स्फुरित हुए परमब्रह्ममें मिथ्या स्फुरित होता हुआसा यह दृश्य स्थित है अतः इसमें कहींपर हेय और उपादेयका भासन कैसे हो सकता है ॥ ३९ ॥

कारणका अभाव होनेसे यह दृश्य न तो कहीं कुछ आकारवान् (साकार) है और न स्मृतिरूप ही है केवल परमात्माका स्वरूप ही दृश्यरूपसे भासता है ॥ ४० ॥

इसकी आकारवत्ताका खण्डन कीजिये पर स्मृतिरूपताका क्यों खण्डन करते हैं । वादीके इस कथनपर कहते हैं—'आकारवत्त्वे' इत्यादिसे ।

दृश्यकी आकारवत्तामें (साकारतामें) जो दुःख है स्मृतिमें भी वही दुःख है क्योंकि भार्या, पुत्र आदिके मरण-स्मरणसे भी दुःख होना दिखलाई देता है । वे दोनों असत् हैं, इसलिए बन्धनका सर्वथा अभाव है ॥ ४१ ॥

भूताकाशके समान व्यापक शून्य चिदाकाशमें भुवन, सूर्य, पर्वत आदि रूप यह सारा दृश्य अपने स्वरूपका त्याग न करता हुआ जीवन्मुक्तोंके जीवन पर्यन्त व्यवहारके योग्य होकर स्थित है ॥ ४२ ॥

यथा स्थितोऽग्रदिक्कालं जगत्स्वं रूपमत्यजत् ।
स्वमेवाऽत्यजतो रूपं चिद्व्योम्न उदरे स्थितम् ॥ ४३ ॥
स्वानुभूत्येकमात्रात्म प्रमातुस्स्वाप्नपत्तनम् ।
अपृथ्व्यादि कुतस्तत्र किल पृथ्व्यादयो वद ॥ ४४ ॥
तद्भाति केवलं शान्तं चिदाकाशं तथाऽऽत्मनि ।
सर्वादौ स्वप्नकाले च पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ॥ ४५ ॥
उद्भूयेव जगद्रूपा ब्रह्मसत्ताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
करोति पृथ्व्याद्यभिधाः पश्चात्सत्यार्थदा इव ॥ ४६ ॥
न स्मृत्यात्म न साकारं पृथ्व्यादीनामसंभवात् ।
न भ्रान्तिर्न विवर्तादि जगद् ब्रह्मात्म केवलम् ॥ ४७ ॥
ब्रह्मेदमाकचति चारु जगत्स्वरूपं
तच्चैकमेव कचनाकचनात्मनिष्ठम् ।
दृश्याभमप्यमलमेव नभः प्रशान्तं
नित्योदितं प्रलयसर्गमयोदयात्म ॥ ४८ ॥

यथास्थित विशाल दिशाकालवाला जगत् अपने स्वरूपका त्याग न करता हुआ ही अपने तात्त्विक स्वरूपका त्याग न कर रहे चिदाकाशके उदरमें स्थित है ॥४३॥

एकमात्र स्वानुभवरूप स्वरूपवाला प्रमाताका स्वप्न अपृथिवीवाला है। भला बतलाइये तो सही वहाँपर पृथिवी आदि कहाँसे आ सकते हैं ॥ ४४ ॥

इसलिए वैसे ही केवल शान्त चिदाकाशका ही अपने स्वरूपमें भान होता है। सृष्टिके आदिमें और स्वप्नकालमें पृथिवी आदिकी उत्पत्ति कहाँसे हो सकती है ? ॥ ४५ ॥

जगद्रूप ब्रह्मसत्ता अपनेसे अपनेमें मानो उत्पन्नसी होकर पीछे सत्य अर्थ देनेवाली-सी पृथिवी आदि संज्ञाएँ करती है ॥ ४६ ॥

जगद्रूप दृश्य न स्मृतिरूप है और न साकार ही है, क्योंकि पृथिवी आदिका अत्यन्त असंभव है। इसी तरह वह न भ्रान्ति है और न विवर्त, परिणाम आदि ही है। एकमात्र ब्रह्मरूप ही है ॥ ४७ ॥

चारों ओर सुन्दर जगत्स्वरूप ब्रह्मका ही स्फुरण है और वह स्फुरण और स्फुरणमें यानी सृष्टि और प्रलयकालमें निज आत्मामें (अविकृतस्वभावमें)

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा०दे०मो०नि०उ० जगतो ब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमःसर्गः

श्रीराम उवाच

सर्वानुभवरूपस्य तथा सर्वात्मनोऽप्ययम् ।
अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य देहेऽपि किमहंग्रहः ॥ १ ॥
चितःपाषाणकाष्ठत्वं स्वभ्रादिषु कथं भवेत् ।
इदं पाषाणकाष्ठादि कथं नास्त्यस्ति वा कथम् ॥ २ ॥

स्थित है। वह एक रूप ही दृश्यवत् स्फुरित होकर भी निर्मल आकाश ही है, किन्तु अज्ञानियोंकी दृष्टिमें अनादिकालसे प्रलय और सृष्टिके उदयरूपसे उदित है ॥ ४८ ॥

एक सौ बहत्तर सर्ग समाप्त

एक सौ तिहत्तर सर्ग

[जैसे चित्का भी देहादि जड़ पदार्थोंमें अहन्ताका आग्रह है और जैसे उसकी सर्वात्मकता है, उसका प्रतिपादन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, यदि स्वप्रकाश चित्का चमत्कार ही जगत् है तो तुल्य होनेके कारण चित्का सब जगह अहन्ताग्रह उचित है फिर सर्वानुभवरूप सर्वात्मक असीम आत्मतत्त्वका देहमें ही यह अहन्ताग्रह है अन्यत्र नहीं यह नियम कैसे ? यह पहला प्रश्न हुआ ॥ १ ॥

इसी प्रकार चित्का अचिद्रूप पाषाण, काठ आदिके भावमें आग्रह कैसे? क्योंकि चिद्भावका त्याग नहीं किया जा सकता और अचिद्रूपका स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह दूसरा प्रश्न है। इसी प्रकार चित् ही सर्वात्मक है ऐसी अवस्थामें यह पाषाण, काठ आदि अचिद्वर्ग नास्तित्वको (असत्ताको) कैसे प्राप्त होता है क्योंकि चित्का अपलाप किया नहीं जा सकता। यह तीसरा प्रश्न है। इसी

वसिष्ठ उवाच

शरीरिणो यथा हस्ते हस्ततायां यथा ग्रहः ।
सर्वात्मनस्तथा देहे देहतायां तथा ग्रहः ॥ ३ ॥
पादपस्य यथा पत्रे पत्रतायां यथा ग्रहः ।
सर्वात्मनस्तथा वृक्षे वृक्षतायां तथा ग्रहः ॥ ४ ॥
आकाशस्य यथा शून्ये शून्यतायां यथा ग्रहः ।
सर्वात्मनस्तथा द्रव्ये द्रव्यतायां तथा ग्रहः ॥ ५ ॥
स्वप्नोचितः स्वप्नपुरे रूपतायां यथा ग्रहः ।
सर्वात्मानस्तथा स्वप्नजाग्रदादौ तथा ग्रहः ॥ ६ ॥

प्रकार सर्वात्मक चिद् विपरीत अचिद्रूप पाषाण, काठ आदि है कैसे ? जिससे कि वह सर्वात्मक हो। यह चौथा प्रश्न है ॥ २ ॥

सारे शरीरकी अहन्तासे प्रतीति तुल्य होनेपर हाथमें ही हस्तत्वाहंभाव है पैरमें ही पादत्वाहंभाव है अन्यत्र नहीं है इस प्रकार जाति, कर्म, स्थान आदिका जैसे व्यवस्था-ग्रह अनादि तत्तदाकार संस्कारकी व्यवस्थासे ही है, उसका अन्य कोई हेतु नहीं है वैसे ही देहमें देहत्वाहन्तादिमें आग्रह समझना चाहिए, इस आशयसे विविध दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक पहले प्रथम दो प्रश्नोंका समाधान करते हैं—**'शरीरिणः'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुवर, सकल देहकी अहन्तासे प्रसिद्धि समान होनेपर भी जैसे देहीका हस्तमें ही हस्तत्वाहंभावमें आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा चित्का देहमें देहत्वाहंभावमें आग्रह है ॥ ३ ॥

जैसे वृक्षका पत्रमें ही पत्रत्वाहन्तामें आग्रह है वैसे ही सर्वात्मा चित्का वृक्षमें वृक्षताहन्तामें आग्रह है ॥ ४ ॥

जैसे आकाशका शून्यमें शून्यताहन्तामें आग्रह है वैसे ही सर्वात्माका द्रव्यमें (मणि, मोती, सुवर्ण आदि धनमें) द्रव्यतामें (प्रयत्नसे उपार्जनीयरूप भव्यतामें) आग्रह है ॥ ५ ॥

जैसे स्वप्नभोक्ताका अरूप चित्तरूपी उपादानसे उत्पन्न होनेके कारण अरूप होने योग्य स्वप्ननगरकी साकारतामें आग्रह है वैसे ही सर्वात्माका स्वप्न, जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंकी साकारतामें आग्रह है ॥ ६ ॥

यथाऽगेन्द्रे दृषद्वृक्षवार्यादौ स तथा ग्रहः ।
तथा सर्वात्मनोऽगेन्द्रपुरतायां तथा ग्रहः ॥ ७ ॥
शरीरस्य यथा केशनखादिषु यथा ग्रहः ।
सर्वात्मनस्तथा काष्ठदृषदादौ तथा ग्रहः ॥ ८ ॥
चित एव यथा स्वप्ने भवेत्काष्ठोपलादिता ।
चिदाकाशस्य सर्गादौ तथैवाऽवयवादिता ॥ ९ ॥
चेतनाचेतनात्मैकं पुरुषस्य यथा वपुः ।
नखकेशजलाकाशधर्ममाकारभासुरम् ॥ १० ॥

पर्वतराजमें, नगरमें विद्यमान पत्थर, वृक्ष, जल आदिमें वह ऐसा प्रसिद्ध आग्रह है वैसे ही पर्वत आदिके अभिमानी सर्वात्माका पर्वतता, नगरता आदिमें आग्रह है ॥ ७ ॥

अन्तिम तीसरे और चौथे दो प्रश्नोंका भी समाधान करते हैं—**'शरीरस्य'** इत्यादिसे ।

जैसे चेतनरूपसे अभिमत शरीरका केश, नख आदिमें अचेतनत्वाग्रह है वैसे ही चिद्रूप सर्वात्माका भी काष्ठ, पत्थर आदिमें अचेतनत्वाग्रह है । चित् चित्त्वका त्याग नहीं कर सकती है तथा अचितत्त्वका ग्रहण नहीं कर सकती है, इस शङ्काका मायागत आवरण और विक्षेप शक्तिसे अघटितकी घटना होनेसे परिहार करना चाहिये, यह भाव है ॥ ८ ॥

चित्के चिद्विरुद्ध अचित्त्वकी तरह निरवयव चित्की सावयवता भी स्वप्नके अनुभवके बलसे ही होती है, यह स्वीकार करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'चित एव'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें चित्से ही काष्ठभाव, उपल (पाषण) भाव आदि होते हैं वैसे ही सृष्टिके आदिमें चिदाकाशकी अवयव आदि रूपता होती है ॥ ९ ॥

किञ्च, मायाशवल चेतन और अचेतन उभय स्वरूप एक वस्तु है, अतः उसमें चेतन और अचेतन उभय-व्यवहार प्रवर्तकता विरुद्ध नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'चेतना०'** इत्यादिसे ।

जैसे पुरुषका नख, केश, जल, आकाश, धर्मवाला आकारवान् एक शरीर चेतन-अचेत दोनों रूपवाला है वैसे ही सर्वात्माका स्थावर जंगमरूप एक शरीर

चेतनाचेतनात्मैकं तथा सर्वात्मनो वपुः ।
जङ्गमं स्थावरमयं किन्तु नित्यमनाकृति ॥ ११ ॥
यथास्थितं शाम्यतीदं सम्यग्ज्ञानवतो जगत् ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञातुर्यथा दृष्टार्थसंभ्रमः ॥ १२ ॥
चिन्मात्राऽऽकाशमेवेदं न द्रष्टाऽस्ति न दृश्यता ।
इति मौनमलं स्वप्नद्रष्टुर्यत्सा प्रबुद्धता ॥ १३ ॥
कल्पकोटिसहस्राणि सर्गा आयान्ति यान्ति च ।
त एवाऽन्ये च चिद्व्योम्नि जलावर्ता इवाऽर्णवे ॥ १४ ॥
करोत्यब्धौ यथोर्म्यादौ नाना कचकचं वपुः ।
चित्करोति तथा संज्ञाः सर्गाद्याश्चेतने निजे ॥ १५ ॥
यथास्थितमिदं विश्वं ब्रह्मैवाऽनामयं सदा ।
तत्त्वज्ञं प्रत्यतत्त्वज्ञजनतानिश्चयादृते ॥ १६ ॥

चेतन और अचेतन दोनों स्वरूपवाला है, किन्तु वह नित्य निराकार है ॥१०,११॥

अतएव तत्त्वतः ब्रह्म ज्ञान होनेसे सब विरुद्ध धर्म हट जाते हैं, ऐसा कहते हैं—'**यथास्थितम्**' इत्यादिसे ।

जैसे 'यह स्वप्न है' यों स्वप्नके ज्ञाता पुरुषका स्वप्नमें देखा गया पदार्थभ्रम शान्त हो जाता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानवान् पुरुषका यह जगत् ज्योंका त्यों शान्त हो जाता है, विलुप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

स्वप्नद्रष्टा (स्वप्न देखनेवाले) पुरुषकी जो प्रातःकालके समय प्रसिद्ध प्रबुद्धता है वही प्रबुद्धता, न द्रष्टा है न दृश्यता है किन्तु यह सब मौन चिन्मात्राकाश ही है, ऐसा निश्चय करनेमें पूर्णरूपेण समर्थ है ॥ १३ ॥

सागरमें जलके भँवरोंकी तरह चिदाकाशमें हजारों करोड़ कल्पोंतक वे ही या अन्य सृष्टियाँ आती हैं जाती हैं । हजारों करोड़ रूपसे आए गये हुए अध्यासोंसे अधिष्ठानकी एकरूपताकी क्षति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ १४ ॥

जैसे जल समुद्रमें तरङ्ग आदिमें भासमान आवर्त, बुद्बुद आदि नाना स्वरूप बनाता है वैसे ही मायाशबल चेतन अपने चेतनमें सृष्टि आदि नाना संज्ञाएँ करता है ॥ १५ ॥

अतत्त्वज्ञ जनताके निश्चयके सिवा तत्त्वज्ञानीके प्रति यह यथास्थित

नाऽहं तरङ्गः सलिलमहमित्येव युक्तितः ।
बुद्धं येन तरङ्गेन कुतस्तस्य तरङ्गता ॥ १७ ॥
ब्रह्मणोऽस्य तरङ्गत्वमिवाऽऽभानं यतस्ततः ।
तरङ्गत्वातरङ्गत्वे ब्राह्म्यौ शक्ती स्थितिं गते ॥ १८ ॥
चिद्व्योम्नोऽत्यजतो रूपं स्वप्नवद् व्यस्तवेदनम् ।
तदिदं हि मनो राम ब्रह्मेत्युक्तः पितामहः ॥ १९ ॥
एवमाद्यः प्रजानाथो निराकारो निरामयः ।
चिन्मात्ररूपसंकल्पपुरवत्कारणोज्झितः ॥ २० ॥
येनाऽङ्गदत्वं नास्तीति बुद्धं हेमाङ्गदेन वै ।
अङ्गदत्वं कुतस्तस्य तस्य शुद्धैव हेमता ॥ २१ ॥

विश्व सदा निर्विकार ब्रह्म ही है। यानी तत्त्वज्ञ इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको निर्विकार ब्रह्म ही जानता है मगर अज्ञानियोंका निश्चय इससे विपरीत है ॥ १६ ॥

मैं तरङ्ग नहीं हूँ बल्कि जल ही हूँ, ऐसा युक्तिपूर्वक जिस तरङ्गने समझ लिया फिर उसकी तरङ्गता कैसे रह सकती है। अचेतनमें भी चेतनताके आरोपसे यह कथन है, यह समझना चाहिये ॥ १७ ॥

चूँकि जलकी तरङ्गताके समान इस परम ब्रह्मकी जगत्ताका भान है अतएव तरङ्गत्व-अतरङ्गत्व यानी तरङ्गके सदृश जगत्ता और अजगत्ता ब्रह्मकी दो शक्तियाँ हैं ॥ १८ ॥

हे श्रीरामजी, अपने वास्तविक रूपका त्याग न कर रहे चिदाकाशका स्वप्नकी तरह अन्योन्यके धर्मोंके आदान-प्रदानसे व्यत्यस्त चेतनतावाला, मनकी समष्टिसे उपहित जो रूप है वह यह मन, ब्रह्मा, पितामह इत्यादि शब्दोंसे कहा गया है ॥ १९ ॥

इस तरह आदिम प्रजापति निराकार, निर्विकार तथा चिन्मात्रस्वरूप संकल्पनगरके तुल्य कारणविहीन है ॥ २० ॥

जिस सुवर्णमय अङ्गदने (बाजूबन्दने) अङ्गदत्व नहीं है (सुवर्ण ही सत्य है विकारभूत अङ्गदत्व नहीं है) यह निश्चयपूर्वक जान लिया उसकी अङ्गदता कैसे हो सकती है। उसकी विशुद्ध सुवर्णता ही है ॥ २१ ॥

अजे संकल्पमात्रात्म चिन्मात्रव्योमदेहिनि ।
अहं त्वं जगदित्यादि यद्विभातं तदेव तत् ॥ २२ ॥
चिच्चमत्कृतयो भान्ति याश्चिद्व्योमनि शून्यताः ।
एतास्ताः सर्गसंहारस्थितिसंरम्भसंविदः ॥ २३ ॥
अच्छं चिन्मात्रनभसः कचनं स्वयमेव तत् ।
स्वप्नाभं चित्तामात्रं स एष प्रपितामहः ॥ २४ ॥
यथा तरङ्गस्तेनैव रूपेणाऽन्येन वाऽनिशम् ।
स्फुरत्येवमनाद्यन्तः सर्गप्रलयविभ्रमः ॥ २५ ॥
चिद्व्योम्नः कचनं कान्तं यद्विराडिति शब्दितम् ।
भवेत्संकल्पपुरवत्तस्य कुर्यान्मनोऽपि वै ॥ २६ ॥
सर्गः स्वप्नः स्वप्न एव जाग्रद्देहः स एव च ।
घनं सुषुप्तं तैमिर्याद्यथा संवेदनं भवेत् ॥ २७ ॥

चिन्मात्राकाशस्वरूपी जन्मादिविकार विहीन परम ब्रह्ममें (अहम्) (मैं), त्वम् (तुम), जगत् इत्यादि सङ्कल्पमात्ररूप जो भान हुआ है वह ब्रह्मरूप ही है। यानी समष्टिके चिन्मात्ररूप सिद्ध होनेपर उसके व्यष्टिरूप हम लोगोंका अनुक्त भी चिन्मात्रत्व स्वयम् सिद्ध हो गया, यह भाव है ॥ २२ ॥

चिदाकाशमें जो शून्यतारूप चित्के चमत्कार स्फुरित होते हैं वे ही ये सृष्टि, प्रलय और स्थितिके भ्रमज्ञान हैं ॥ २३ ॥

चिन्मात्राकाशका स्वयं ही स्वप्नतुल्य चित्तारूप जो निर्मल स्फुरण है वही यह पितामह (ब्रह्मा) है ॥ २४ ॥

जैसे समुद्रमें तरङ्ग निरन्तर उसी रूपसे (अपने पूर्वतनरूपसे) अथवा उससे विलक्षणरूपसे फुरता है वैसे ही चिदाकाशमें आदि और अन्त रहित सृष्टि और प्रलयका विभ्रम भी निरन्तर फुरता है ॥ २५ ॥

चिदाकाशका मनोहर स्फुरण विराट्के नामसे प्रसिद्ध है, उस विराट्का मनरूप ब्रह्मा भी जो कुछ भुवन, भूत आदि रचेगा वह भी संकल्प नगरवत् ही काल्पनिक होगा न कि सत्य ॥ २६ ॥

वह विराट् ही सृष्टि है वही स्वप्न है, स्वप्न ही जाग्रद् व्यष्टि समष्टि स्वरूप बन गया। जैसे घनी सुषुप्ति निद्राधिक्यरूप अन्धकारसे स्वप्न होती है

तस्य कल्पान्तरजनी शिरोरुहतयोदिता ।
प्रकाशतमसी कालक्रियाख्याः स्वाङ्गसंधयः ॥ २८ ॥
तस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
चन्द्रार्कौ दृग् दिशौ श्रोत्रे कल्पनेति विजृम्भिता ॥ २९ ॥
एवं सम्यग्दृश्यमानो व्योमात्मा विततकृतिः ।
अस्मत्संकल्पशैलाभो विराड् स्वप्नाकृतिस्थितः ॥ ३० ॥
यच्च चेतच्चिदाकाशे स्वयं कचकचायते ।
तदेतज्जगदित्येवं तेनाऽऽत्मैवाऽनुभूयते ॥ ३१ ॥
विराडात्मैवमाकाशं भाति चिन्मयमाततम् ।
स्वभावस्वप्ननगरं नगनागमयात्मकम् ॥ ३२ ॥

वैसे ही प्रलयमें अविद्यारूपी अन्धकारसे आवृत आत्मा ही जगद्रूप होता है ॥२७॥

सकल जगत्का विराट्के अङ्गरूपसे वर्णन करते हैं— 'तस्य' इत्यादिसे।

अवान्तर प्रलयरूपी ब्रह्माकी रात्रि विराड्रूपधारी परमात्माके केशरूपसे उदित है, दिन और रात्रि काल और क्रिया नामकी उसके शरीरकी सन्धियां (जोड़) हैं, अग्नि उसका मुंह है, द्युलोक मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथिवी उसके चरण हैं, चन्द्र और सूर्य दो नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, इस तरहसे मनकी कल्पना ही विराट्के आकारसे परिपुष्ट हुई है ॥ २८, २९ ॥

इस प्रकार भली भाँति दृष्टिगोचर हो रहा विस्तृताकृति वास्तवमें शून्यात्मा अतएव हमारे मनोरथसे कल्पित पर्वतके तुल्य विराट् स्वप्नके आकारसे स्थित है वास्तव नहीं है। यों उसकी हमारे स्वप्नसे तुल्यता ही सिद्ध हुई, अतः निष्प्रपञ्चता ही परमार्थ है, यह आशय है ॥ ३० ॥

जो चिदाकाशमें चेतनस्वरूप जीवभावको प्राप्त होकर स्वयं अत्यन्त प्रदीप्त होता है वही यह जगत् है, इस प्रकार वह अपने स्वरूपका (आत्माका) ही अनुभव करता है ॥ ३१ ॥

चारों ओर व्याप्त (असीम) चिन्मय आकाशका ही इस प्रकार पर्वत, वृक्ष, गज आदिरूप स्वभाव-स्वप्ननगरतुल्य विराट्के रूपसे भान होता है अथवा इस तरह निरीक्षण करनेपर विराट्रूप चिन्मय आकाश ही प्रतीत होता है ॥ ३२ ॥

अनुभवितैवाऽनुभवं
सत्यं स्वात्मानमप्यसन्तमिव ।
अनुभवतीयत्त्वेन
स्वप्ननटः स्वप्नदेशमिव ॥ ३३ ॥

वेदान्तार्हतसांख्यसौगतगुरुत्र्यक्षादिसूक्ता दृशो
ब्रह्मैव स्फुरितं तथाऽऽत्मकलया स्तादात्मनित्यं यतः ।
तेषां चाऽऽत्मविदोऽनुरूपमखिलं स्वर्गं फलं तद्भव-
त्यस्य ब्रह्मण ईदृगेव महिमा सर्वात्म यत्तद्वपुः ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा०मो०नि०उ०ब्रह्मगीतासु परमार्थोपदेशो नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥

जैसे स्वप्नमें प्राप्त हुआ नट अपनेको ही अपनेसे अतिरिक्त नाट्यदर्शक समाजसे भरा स्वप्नदेश मानकर वहांपर अपना अभिनय स्वयं ही देखता है वैसे ही अनुभव करनेवाला चिदात्मा ही अनुभवैकरस सत्य स्वस्वरूपको भी मायावरणसे असत्-सा बनाकर परिच्छिन्न प्रपञ्चरूपसे देखता है ॥ ३३ ॥

इसी अर्थमें सकल वादियोंके मतका अविरोध है और इसीसे सबके अभिलषित फलकी सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं—**'वेदान्त०'** इत्यादिसे ।

वेदान्तियों यानी शुद्धब्रह्मपरायणों, सर्वज्ञेश्वरपरायणों और उपासनानिरतों, दिगम्बरों, सांख्यों, योगियों और बौद्धोंके (सौत्रान्तिक वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक चारों प्रकारके) गुरुजन वेदव्यास, अर्हत्, कपिल, पतञ्जलि और बुद्ध एवं पशुपति या भैरव (आगमशास्त्रविशेषके निर्माता), वैष्णव, हैरण्यगर्भ आदि आगमशास्त्रके निर्माता विष्णु आदि द्वारा भली भाँति वर्णित (अपने अपने आगम शास्त्रोंमें प्रतिपादित) जो दृष्टिकोण हैं उनका रूप धारण कर हमारा अभिमत ब्रह्म ही तत् तत् वासनारूप उनके स्वरूपसे स्फुरित हुआ है । और उन वादियोंके आत्मसंवित्के (अपने अपने निश्चयके) अनुरूप स्वर्ग (पारलौकिकसुखरूप) और ऐहलौकिक सुख, सकल फल वह ब्रह्म ही बनता है, क्योंकि तदात्मक ही फल तत्-तत् द्वारा वैसे वैसे हो यों आशा की जाती है । इस ब्रह्मकी ऐसी ही महिमा प्रसिद्ध है, क्योंकि मायाशबलरूप ब्रह्म सर्वात्मक है॥३४॥

एक सौ तिहत्तर सर्ग समाप्त

चतुःसप्तत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्गादौ स्वप्नसंवित्त्या चिदेवाऽऽभाति केवला ।
जगदित्यवभासेव ब्रह्मैवाऽतो जगत्त्रयम् ।। १ ।।
सर्गास्तरङ्गा ब्रह्माब्धेस्तेषु संवेदनं द्रवः ।
सर्गान्तरं सुखाद्यात्म द्वैतैक्यादीतरत्कुतः ।। २ ।।
यथा स्वप्नसुषुप्तात्म निद्रारूपकमेव खम् ।
दृश्यादृश्यांशमेकात्म रूपं चिन्नभसस्तथा ।। ३ ।।

एक सौ चौहत्तर सर्ग

[प्रबोध (जागरण) द्वारा स्वप्नके मार्जनकी भाँति ज्ञान द्वारा दृश्यका परिमार्जन करनेपर अविशिष्ट रहे एक चिदात्माका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि सृष्टिके आदिमें केवल चित् ही स्वप्नवित्की संवित्से जगत्के रूपमें अवभासित होती है यह सिद्ध किया जा चुका है अतः तीनों जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा बोध होनेपर कैवल्य सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ।। १ ।।

सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी सागरकी तरङ्ग हैं, उनमें संवित् ही द्रव (जल) है । अज्ञानियोंमें प्रसिद्ध दुःखरूपी सृष्टिका बोध द्वारा परिमार्जन हो चुका । किन्तु उसके अनन्तर भी जीवन्मुक्त पुरुषोंके व्यवहारके लिए जो जगत् प्रसिद्ध है, वह आनन्द-सत्-चित् स्वरूप होनेसे दूसरी ही सृष्टि है, उसमें द्वैत, ऐक्य आदि असुखरूप किस निमित्तसे होगा, यह अर्थ है ।। २ ।।

जैसे स्वप्न और सुषुप्ति केवल निद्रारूप ही हैं वैसे ही दृश्य और अदृश्य स्वरूप आकाश चिदाकाशका ही एक रूप है । जैसे स्वप्नमें सुषुप्ति और स्वप्नमें भेदका आभास होनेपर भी दोनोंमें एकमात्र निद्रारूपताका व्याघात नहीं होता वैसे ही विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्तिमें भेदका आभास होनेपर भी उन दोनों-में सुखैकरसताका व्याघात नहीं होता, यह भाव है ।। ३ ।।

जाग्रति स्वप्ननगरं यादृक्तादृगिदं जगत् ।
परिज्ञातं भवेदत्र कथमास्था विवेकिनः ॥ ४ ॥
सर्गादौ सर्गसंवित्तेर्यथाभूतार्थवेदनात् ।
जाग्रति स्वाप्ननगरं यादृशं तादृशं जगत् ॥ ५ ॥
जाग्रति स्वप्ननगरवासना विविधा यथा ।
सत्या अपि न सत्यास्ता जगत्यो वासनास्तथा ॥ ६ ॥
अन्यथोपप्रपद्येह कल्प्यते यदि कारणम् ।
तत्किं नेदीयसी नाऽत्र भ्रान्तता कल्प्यते तथा ॥ ७ ॥

जाग्रत्में जैसे स्वप्ननगर है वैसे ही यथार्थतः परिज्ञात यह जगत् है इसमें विवेकी पुरुषकी आस्था कैसे हो सकती है ॥ ४ ॥

जाग्रत्में स्वप्ननगरका जैसे बाध हो जाता है वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिसंवित्के यथार्थतः ज्ञात होनेके कारण जगत् भी बाधित हो जाता है ॥ ५ ॥

जैसे विविध प्रकारकी स्वप्ननगरवासनाएँ स्वप्नकालमें सत्यत्वेन प्रतीयमान होती हुई भी जाग्रत्में सत्य नहीं हैं वैसे ही जाग्रत्के भोगाभासके लिए आविर्भूत वासनाएँ भी सत्यरूपसे प्रतीत होनेपर भी सत्य नहीं हैं । यानी दग्धवस्त्रके समान वासनामात्रसे उनकी स्थिति दुःख-देनेमें समर्थ नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ६ ॥

यदि किसीको शङ्का हो कि जगत्के भ्रान्तिरूप होनेसे तत्त्वज्ञान द्वारा उसके मूलभूत अज्ञानका मूलोच्छेद होनेपर बाध हो जायगा । किन्तु प्रधान, परमाणु आदि अन्य कारणों द्वारा अन्य प्रकारसे उसकी उत्पत्तिवश भ्रान्तिता-की कल्पना न करनेपर बाध न होगा । इसलिए उससे दुःख होगा ही, इस आशङ्कापर कहते हैं—'**अन्यथा**' इत्यादिसे ।

अन्यथा उपपादन करके यदि जगत्के कारणकी कल्पना करते हो तो स्वाप्न जगत्में प्रसिद्धतर होने तथा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि विविध श्रुतियों द्वारा बोधित होनेके कारण कारणान्तरकी कल्पनाकी अपेक्षा निकट-तम इसकी भ्रान्तिमात्रताकी ही कल्पना क्यों नहीं की जाय, यह भाव है ॥ ७ ॥

स्वानुभूयत एवेयं भ्रान्तिः स्वप्नजगत्स्विव ।
कारणं त्वनुमासाध्यं काऽनुमाऽनुभवाधिका ॥ ८ ॥
दृष्टमप्यस्ति यन्नेशे न चाऽऽत्मनि विचारितम् ।
अन्यथानुपपत्त्याऽन्तर्भ्रान्त्यात्म स्वप्नशैलवत् ॥ ९ ॥
निर्विकल्पं परं जाड्यं सविकल्पं तु संसृतिः ।
ध्यानं तेन समाधानं न संभवति किञ्चन ॥ १० ॥

किंच, वाचारम्भण श्रुति द्वारा प्रदर्शित न्यायसे पर्यालोचना करनेपर मृत्तिका, तन्तु आदिसे अतिरिक्त घट, पट, आदिका अदर्शन होनेसे उनके विषयमें स्वप्नजगतोंकी तरह अपनी यह भ्रान्ति प्रत्यक्ष ही अनुभूत होती है। प्रत्यक्षानुभवकी अपेक्षा अनुमान कहां ~~ब्बब्बान~~ देखा गया जिसके बलसे प्रधान, परमाणु आदि कारणोंकी सिद्धि होगी, बोहत्तर सर्ग ८ ॥

किञ्च, जगत् स्वप्नपर्वतकी तरनकी भाँति भ्रान्तिरूप ही हैं। इस विषयमें प्रत्यक्ष हेतु भी है वह यह कि यह जन ...त्मामें इष्टकी ही सृष्टि करने और अनिष्टकी सृष्टिका निवारण करनेके लिए समर्थ नहीं है। उसके द्वारा पहलेसे विचारित ही अर्थ निश्चयेन देखनेमें नहीं आता, अकस्मात् ही कोई भी अतर्कित अन्य पदार्थ दृष्टिगोचर हो जाता है। सृष्टिको अन्य कारणके (प्रधान, परमाणु आदिके) अधीन माननेपर तो उक्त कारणसम्पत्तिसे साध्य इष्टका ही लोग सर्जन करेंगे और अनिष्टका निवारण करेंगे, आकस्मिक दृश्यको न देखेंगे। उक्त तीनों हेतुओंकी अन्यथानुपपत्तिसे जगत् स्वप्नपर्वतके समान भ्रान्तिरूप ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अतएव जगत्के बाधके बिना निर्विकल्प समाधि पर्यन्त ध्यानमात्रसे आत्मोद्धार माननेवाले योगियोंका भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं— **'निर्विकल्पम्'** इत्यादिसे ।

योगियोंका अभिमत आत्मा आन्दचिद्रूपविहीन है। उसका साक्षात्कार होनेपर भी वह पुरुषार्थरूप नहीं है। इसलिए उसके साक्षात्कारकी कल्पनामें कोई प्रयोजन नहीं हैं, अतः नित्य अनुमेयरूप तथा मीमांसकोंके ज्ञानके तुल्य अपरोक्षभूत उसमें जड़ता ही परिशिष्ट रहती है। उसमें हुई चित्तकी निर्विकल्प समाधि केवल जड़ता ही है, उसमें हुई सविकल्प समाधि तो संसार ही है। इस

सचेत्यं संसृतिर्ध्यानमचेत्यं तूपलस्थिति ।
मोक्षो नोपलवद्ध्यानं न विकल्पात्मकं ततः ॥ ११ ॥
न च नामोपलाभेन निर्विकल्पसमाधिना ।
अन्यदाऽऽसाद्यते किंचिल्लभ्यते किं स्वनिद्रया ॥ १२ ॥
तस्मात्सम्यक्परिज्ञानाद्भ्रान्तिमात्रं विवेकिनः ।
सर्गात्यन्तासंभवतो यो जीवन्मुक्ततोदयः ॥ १३ ॥

कारण योगियोंका ध्यान और उससे सम्पन्न हुई समाधि भी नहींके बराबर है। कुछ भी पुरुषार्थरूप नहीं है, यह अर्थ है ॥ १० ॥

उक्तका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'**सचेत्यम्**' इत्यादिसे ।

चेत्ययुक्त ध्यान संसार है और चेत्यरहित ध्यान पत्थरकी-सी स्थितिवाला है, इसलिए योगियोंकी सम्मत निरानन्दरूप मोक्षावस्थामें परिशेष रहनेवाला ज्ञान मोक्ष (पुरुषार्थरूप) नहीं है, क्योंकि पत्थरके तुल्यभान मोक्ष कदापि नहीं हो सकता । विकल्पात्मक सचेत्य ध्यान तो उससे बढ़कर मोक्ष नहीं है, क्योंकि वह तो बन्धनतुल्य ही है । इससे आत्माकी ज्ञानस्वभावता न माननेवाले वैशेषिकादिके सम्मत मोक्षका भी निराकरण हो गया ॥ ११ ॥

योगियोंके अभिमत समाधिके अभ्याससे आपका अभिमत मोक्ष क्यों प्राप्त नहीं होता ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'**न च नाम**' इत्यादिसे ।

पत्थरके सदृश निर्विकल्प समाधि द्वारा सांख्योंके अभिमत मोक्षके सिवा हमारा अभिमत मोक्ष यदि प्राप्त हो तो स्वनिद्रासे भी वह प्राप्त हो जायगा, क्योंकि चित्तकी चञ्चलताकी निवृत्ति और अज्ञानरूप आवरणकी अनिवृत्ति निद्रा और उक्त योगियोंकी सम्मत निर्विकल्प समाधिमें तुल्य हैं, यह भाव है ॥ १२ ॥

इसलिए वादियोंके अभिमत पक्षोंमें मोक्षाभावरूप दोषसे छुटकारा न मिलनेके कारण जगत् केवल भ्रान्तिमात्र है निरतिशयानन्द सच्चिदेकरस ही आत्मा है इस तत्त्वज्ञानसे भ्रान्तिजन्य अज्ञानावरणके विनाशसे भ्रान्तिक्षय होनेपर परिशेष रहनेवाला परमपुरुषार्थ है यह हमारा पक्ष ही सबके लिए शरणरूप है, यों उपसंहार करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

इसलिए सम्यक् ज्ञानसे विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त असंभव होनेसे जगत् भ्रान्तिमात्र है। जो जीवन्मुक्तताका उदय है—वही निर्विकल्पक

निर्विकल्पं समाधानं तदनन्तमिहोच्यते ।
यथास्थितमविक्षुब्धमासनं सर्वभासनम् ॥ १४ ॥
तदनन्तसुषुप्ताख्यं तत्तुरीयमिति स्मृतम् ।
तन्निर्वाणमिति प्रोक्तं तन्मोक्ष इति शब्दितम् ॥ १५ ॥
सम्यग्बोधैकघनता याऽसौ ध्यानमिति स्मृतम् ।
दृश्यात्यन्तासंभवात्म बोधमाहुः परं पदम् ॥ १६ ॥
तच्च नोपलवज्जाड्यं न सुषुप्तोपमं भवेत् ।
न निर्विकल्पं न च वा सविकल्पं न वाऽप्यसत् ॥ १७ ॥
दृश्यात्यन्तासंभवात्म तदेवाऽहं हि वेदनम् ।
तत्सर्वं तन्न किंचिच्च तद्वदेवाऽङ्ग वेत्ति तत् ॥ १८ ॥

समाधि है वही वेदान्तशास्त्रमें अनन्त निर्वाण कहा जाता है। यथास्थित, विक्षोभ रहित, सर्वप्रकाशक वह आसन (स्थिति) अनन्त सुषुप्त नामक है, वही तुरीय कहा गया है। वही निर्वाण कहा गया है और वही मोक्ष कहा गया है ॥१३-१५॥

जो यह सम्यक् ज्ञानकी एकमात्रघनता (सम्यक्ज्ञानैकरसता) है वह ध्यान कहा गया है। 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' इत्यादि श्रुतियाँ और तत्त्ववेत्ता जिसमें दृश्यका अत्यन्त असम्भव हो उस बोधको ही परमपद कहते हैं ॥ १६ ॥

वह गौतम और कणाद आदिकी सम्मत मुक्तिकी तरह पत्थरके समान जड़ नहीं है, हैरण्यगर्भ सम्मत प्रकृति-प्रलयके तुल्य सुषुप्तोपम नहीं है, पातञ्जलोंकी सम्मत मुक्तिकी तरह निर्विकल्पतामात्र नहीं है, पाशुपत, पाञ्चरात्र आदिकी सम्मत मुक्तिकी तरह सविकल्पक नहीं है और बौद्धोंकी अभिमत मुक्तिकी तरह असत् (नैरात्म्यरूप शून्य) भी नहीं है ॥ १७ ॥

तब मुक्तिका यथार्थ स्वरूप क्या है? इसपर कहते हैं—'**दृश्या०**' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, जिसमें दृश्यका अत्यन्त असम्भव है 'सब कुछ ब्रह्म ही है' और 'वही शुद्ध चिद्रूप ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकारका निर्मल ज्ञान ही मुक्ति है। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मीति' तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इन श्रुतियोंके अनुसार अधिष्ठानरूपसे वह सब कुछ है और 'यत्र नान्य-

सम्यक्प्रबोधान्निर्वाणं परं तत्समुदाहृतम् ।
यथास्थितमिदं विश्वं तत्राऽलं प्रलयं गतम् ।। १९ ।।
न तत्र नानाऽनाना न न च किंचिन्न किंचन ।
समस्तसदसद्भावसीमान्तः स उदाहृतः ।। २० ।।
अत्यन्ताऽसंभवं दृश्यं यद्वै निर्वाणमासितम् ।
शुद्धबोधोदयं शान्तं तद्विद्धि परमं पदम् ।। २१ ।।
स च संप्राप्यते शुद्धो बोधो ध्यानमनुत्तमम् ।
शास्त्रात्पदपदार्थज्ञबोधिनोत्पन्नबुद्धिना ।। २२ ।।

त्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति' इत्यादि श्रुतिसे अध्यासरूपसे कुछ नहीं है वैसे ही वह जानता है ।। १८ ।।

सम्यक् ज्ञानसे वह परम निर्वाण कहा गया है, निर्वाणमें यह यथास्थित सारा विश्व अत्यन्त प्रलयको प्राप्त होता है ।। १९ ।।

उसमें न भेद है और न अभेद है, न कुछ है और किञ्चित् है वह सब सद् असद् भावोंकी चरम सीमा कहा गया है । जैसे पट सत् है या असत् इस कल्पनाकी सीमा तन्तु (सूत) है, तन्तु सत् है या असत् है इस कल्पनाकी अवधि कपास है, कपास सत् है या असत् है इस कल्पनाकी सीमा कपासका बीज है, कपासका बीज सत् है अथवा असत् इस कल्पनाकी सीमा मिट्टीरूप पृथिवी है, पृथिवी सती है अथवा असती इस कल्पनाकी सीमा जल है, जलकी सदसद्भावकल्पना की सीमा तेज है, तेजकी सदसद्भावकल्पनाकी सीमा वायु है, वायुके सदसद्भावकी कल्पनाकी सीमा आकाश है, आकाशकी सदसद्भाव-कल्पनाकी सीमा अव्याकृत है और अव्याकृतकी सदसद्भावकल्पनाकी सीमा केवल चिदात्मा ही है, इस तरह वह सीमान्त कहा गया है ।। २० ।।

जिसमें दृश्यका अत्यन्त असंभव है, शुद्ध बोधोदय स्वरूप, सकल विक्षेपोंसे रहित परमशान्त निरतिशयानन्दरूपसे जो स्थिति है उसे ही आप परमपुरुषार्थ जानिये ।। २१ ।।

उसकी प्राप्तिमें मोक्षोपाय नामका यह ग्रन्थ ही उपाय है, ऐसा कहते हैं—'स' इत्यादिसे ।

मोक्षोपायाभिधं शास्त्रमिदं वाचयताऽनिशम् ।
बुद्ध्यु पायेन शुद्धेन पुंसा नाऽन्येन केनचित् ॥ २३ ॥
न तीर्थेन न दानेन न स्नानेन न विद्यया ।
न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्न चाऽध्वरैः ॥ २४ ॥
भ्रान्तिमात्रं किलेदं सदसत्सदिव लक्ष्यते ।
व्योमैव जगदाकारं स्वप्नोऽनिद्रे चिदम्बरे ॥ २५ ॥
न शाम्यति तपस्तीर्थैर्भ्रान्तिर्नाम कदाचन ।
तपस्तीर्थादिना स्वर्गाः प्राप्यन्ते न तु मुक्तता ॥ २६ ॥
भ्रान्तिः शाम्यति शास्त्रार्थात्सम्यग्बुद्ध्याऽवलोकितात् ।
आत्मज्ञानमयान्मोक्षोपायादेवेह नाऽन्यतः ॥ २७ ॥
आलोककारिणाऽत्यर्थं शास्त्रार्थेनैव शाम्यति ।
अमलेनाऽखिला भ्रान्तिः प्रकाशेनैव तामसी ॥ २८ ॥

उत्पन्नमति (बुद्धिमान्) पुरुषको वह शुद्ध बोधरूप उत्तम ध्यान पद-पदार्थज्ञाताको बोधित करनेवाले इस शास्त्रसे प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

मोक्षोपाय नामक इस ग्रन्थका निरन्तर पारायण कर रहे पुरुषको विशुद्ध अध्यात्मशास्त्रजनित ज्ञानरूप उपायसे वह परम पद प्राप्त होता है अन्य किसी उपायसे प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥ २३ ॥

वह न तीर्थसेवनसे प्राप्त होता है, न दानसे, न स्नानसे, न विद्यासे (ब्रह्मविद्यासे अतिरिक्त विद्यासे), न ध्यानसे, न योगसे, न तपस्याओंसे और न यज्ञयागोंसे ही प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

भ्रान्तिमात्र अनिर्वचनीय यह विश्व सत्की तरह प्रतीत होता है । निद्रारहित चिदाकाशमें स्वप्नरूप यह जगदाकार आकाश (शून्य) ही है । भ्रान्तिकी तप, तीर्थ आदिसे कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती, तपस्या, तीर्थ आदिसे विविध स्वर्ग प्राप्त होते हैं किन्तु मुक्ति नहीं मिलती है ॥ २५, २६ ॥

भ्रान्तिकी निवृत्ति उत्तम (शुद्ध) बुद्धिसे विचारित आत्मज्ञानमय मोक्षोपायभूत इस शास्त्रसे ही होती है, अन्य उपायसे नहीं होती है ॥ २७ ॥

जैसे रात्रिकी आत्यन्तिक निवृत्ति सूर्योदयसे ही हो सकती है, वैसी ही

सर्गसंहारसंस्थानां भासो भान्ति चिदम्बरे ।
स्पन्दनानीव मरुति द्रवत्वानीव वारिणि ॥ २९ ॥
द्रव्यस्य हृद्येव चमत्कृतिर्निजा
नभस्वतः स्पन्द इवाऽनिशं यथा ।
यथास्थिता सृष्टिरियं तथाऽस्तिता
लयं नभस्यन्तरनन्यरूपिणी ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा०दे०मो०नि०उ० ब्रह्मगीतासु निर्वाणोपदेशो नाम चतुःसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७४ ॥

सम्पूर्ण भ्रान्तिकी आत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञानालोक उत्पन्न करनेवाले निर्मल इस शास्त्रार्थसे ही हो सकती है ॥ २८ ॥

वायुमें स्पन्दनकी तरह, जलमें द्रवत्वकी तरह चिदाकाशमें सृष्टि, प्रलय और स्थितिके स्फुरणका भान होता है ॥ २९ ॥

जैसे वटबीज आदि द्रव्यके अन्दर सदा अपनी रमणीय वटवृक्षाकार-धारणचमत्कृति स्थित है जैसे वायुके अन्दर अपनी मनोहर स्पन्दचमत्कृति स्थित है वैसे ही मायाशबल चिदाकाशके अन्दर यथास्थित यह जगत्की सृष्टि और उसकी स्थिति भी अनन्यरूपवाली है और उसीमें यह लयको प्राप्त होगी ॥३०॥

एक सौ चौहत्तर सर्ग समाप्त



पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वप्नाभमाद्यं चिद्व्योम कारणं देहसंविदाम् ।
दृश्यान्यताऽसंभवतश्चिद्व्योम्नस्तत्कुतो वपुः ॥ १ ॥
सर्गादौ स्वप्नसंवित्तिरूपं सर्वं विनाऽनघ ।
न सर्गो न परो लोको दृश्यमानोऽपि सिद्ध्यति ॥ २ ॥
असदेवाऽनुभूरित्थमेवेदं भासते जगत् ।
स्वप्नाङ्गनासङ्ग इव शान्तं चिद्व्योम केवलम् ॥ ३ ॥

एक सौ पचहत्तर सर्ग

[जब तक अज्ञान रहता है तब तक चित् ही बिना किसी कारणके जगत्की तरह प्रतीत होती है। शास्त्र द्वारा अज्ञताके हटनेपर वह मुक्त हो जाती है, यह वर्णन]

यह सृष्टि और उसकी अस्तिता अभिन्न है इस कथनसे सृष्टि चित्की देह ही है ऐसी प्राप्त हुई शङ्काका निराकरण करते हैं—**'स्वप्नाभम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, आदिम चिदाकाश अपनी अविद्यासे स्वप्न तुल्य बनकर जीवरूपसे आवागमनके चक्करमें पड़कर 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि तत्-तत् देहोंमें तादात्म्यके अध्यासोंका काम, कर्म, वासना, आदि द्वारा कारण होता है, किन्तु जीवोपाधिकी सिद्धिके पहले महाप्रलयमें स्वप्न तुल्यताकी प्राप्ति होनेपर दृश्यरूप अन्यताका संभव न होनेसे निमित्तकी असिद्धि वश उस चिद्व्योमका दृश्य सृष्टिरूप शरीर किस कारणसे होगा ? यह अर्थ है ॥१॥

स्वप्नसंविद्के रूपसे ही जीवत्वसमकालिक सृष्टि आदिकी सिद्धि होती है अन्य निमित्तसे नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'सर्गादौ'** इत्यादिसे।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टिके आदिमें न स्वप्नसंविद्रूप दृश्यमान सृष्टिकी सिद्धि होती है और न परलोककी ही सिद्धि होती है ॥ २ ॥

चिदाकाशका जीवभाव अथवा जगद्भाव वास्तविक नहीं है, जिससे कि जगत् उसका शरीर होगा, ऐसा कहते हैं—**'असदेव'** इत्यादिसे।

अनुभव करनेवाला (अनुभवैकरस) चिदात्मा इस प्रकार स्वप्नाङ्गना

एवं नामाऽस्ति चिद्धातुरनादिनिधनोऽमलः ।
शून्यात्मैवाऽच्छरूपोऽपि जगदित्यवभाति यः ॥ ४ ॥
मलस्त्वेषोऽपरिज्ञातः परिज्ञातः परं भवेत् ।
कुतः किल परे व्योमन्यनादिनिधने मलः ॥ ५ ॥
यदेतद्वेदनं शुद्धं तदेव स्वप्नपत्तनम् ।
जगत्तदेव सर्गादौ पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ॥ ६ ॥
चिद्व्योमात्मावभासस्य नभसः सर्गरूपिणी ।
कृता पृथ्व्यादिकलना मनोबुद्ध्यादिता तथा ॥ ७ ॥

सङ्ककी तरह निपट असत् जगत् बनकर अपनी अविद्यासे जगतके रूपसे भासित होता है। परमार्थतः वह केवल शान्त चिदाकाश है ॥ ३ ॥

तो क्या अनुभव भी असत् है? इसपर नकारात्मक उत्तर देते हैं— **'एवं नाम'** इत्यादिसे ।

इस तरह जो जगत्के रूपसे अवभासित होता है वह जगत्-शून्यस्वरूप अत्यन्त निर्मलरूप आदि-अन्तविहीन स्वच्छतम चिद्धातु ही है ॥ ४ ॥

यह परमात्मा ही जब तक अज्ञात रहता है तभी तक यह अविद्यारूप मल भासता है अविद्यावस्थामें संसारी हो रहा जीव-सा पृथक् होता है किन्तु ज्ञात होकर वह मल परम निर्मल ब्रह्म ही है, क्योंकि 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (जो उस परम ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। ब्रह्मभावमें मलका प्रसङ्ग ही नहीं है । अनादिनिधन परमाकाशमें मल कहाँसे हो सकता है, क्योंकि प्रबोधसे स्वप्नकी तरह ज्ञान होनेसे मलका बाध हो जाता है ॥ ५ ॥

कारणका संभव न होनेसे दृश्यकी स्वप्नतुल्यता बार बार सिद्धकी जा चुकी है, उसीको दृढ़ करनेके लिए पुनः अनुवाद करते हैं—**'यद्'** इत्यादिसे ।

जो यह शुद्ध संवित् है वही स्वप्ननगर है और वही सृष्टिके आदिमें जगत् है, अतः पृथिवी आदिका संभव कैसे हो सकता है ॥ ६ ॥

आकाशभूत चिदाकाशात्माके स्फुरणकी सृष्टिरूपधारिणी पृथिवी आदि कल्पना की गई है तथा मन, बुद्धि आदिरूप कल्पना की गई है ॥ ७ ॥

जलमें आवर्तकी (भँवरकी) तरह और वायुमें स्पन्दनकी तरह

वार्यावर्त इवाऽऽभाति पवनस्पन्दवच्च यत् ।
अबुद्धिपूर्वं चिद्व्योम्नि जगद्भानमभित्तिमत् ॥ ८ ॥
पश्चात्तस्यैव तेनैव स्वयमैश्वर्यशंसिना ।
कृतं बुद्ध्यादिपृथ्व्यादिकल्पनं सदसन्मयम् ॥ ९ ॥
स्वयमेव कचत्यच्छाऽच्छा येयं सा महाचितिः ।
सर्गाभिधानमस्यैव नभ एवेह नेतरत् ॥ १० ॥
न च किंचन नामाऽङ्ग कचत्यच्छैव सा स्मृता ।
चिन्मात्रैकैककलनं ततमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ ११ ॥
चिदाकाशश्चिदाकाशे तदिदं स्वमलं वपुः ।
चित्तं दृश्यमिवाऽऽभाति यथा स्वप्ने तथा स्थितम् ॥ १२ ॥
अन्यथानुपपत्त्याऽर्थकारणाभावतः स्वतः ।
सर्गादावेव स्वात्मैव दृश्यं चिद्व्योम पश्यति ॥ १३ ॥

चिदाकाशमें बिना भीतका जो जगद्भान होता है, उसके अनन्तर जीवभावसे उसमें प्रवेशकर मैं हिरण्यगर्भ भुवनस्रष्टा हूँ यों अपने ऐश्वर्यका बखान करनेवाले परमात्माने ही स्वयं जगद्भानकी ही बुद्धि आदि, पृथिवी आदि नामरूपव्याकरणरूप सदसन्मय मूर्तामूर्तप्रचुर या सत्यानृतमिथुनीकरणरूप कल्पना की ॥ ८,९ ॥

स्वच्छसे भी अत्यन्त स्वच्छ जो यह महाचिति है वह स्वयं ही जगत्के रूपसे स्फुरित होती है इसीका सृष्टि नाम है अतः जगत् चिदाकाश ही है उससे भिन्न नहीं है ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारदृष्टिसे तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है, क्योंकि यह महाचिति अन्यन्त स्वच्छ कही गई है, चिन्मात्ररूप जो अद्वितीय ही ब्रह्म है, केवल उसकी कल्पना ही इस प्रकार (जगत्रूपसे) निज आत्मामें विस्तृत है ॥११॥

शुद्ध संवित् आनन्द स्वरूप चिदाकाश ही चिदाकाशमें निर्विकार रूपसे ज्योंका त्यों स्थित होकर भी अज्ञात होनेसे स्वप्नकी तरह चित्त-सा दृश्य-सा अवभासित होता है ॥ १२ ॥

सत् कारणके अभाववश अन्य प्रकारसे हजारों वादी भी सृष्टिका उपपादन नहीं कर सकते हैं, अतः सृष्टिके आदिमें आत्मा ही दृश्यका रूप धारण कर स्वयं चिदाकाशरूप दृश्यको देखता है ॥ १३ ॥

स्वप्नवत्तच्च निर्धर्म मनागपि न भिद्यते ।
तस्माच्चिद्व्योम चिद्व्योम्नः शून्यत्वं गगनादिव ॥ १४ ॥
यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वरूपविवर्जितम् ।
तदेवैकं तथारूपमेवं सर्वतया स्थितम् ॥ १५ ॥
स्वप्नेऽनुभूयते चैतत्स्वप्नो ह्यात्मैव भासते ।
नानाबोधमनानैव ब्रह्मैवाऽमलमेव तत् ॥ १६ ॥
ब्रह्मैवाऽऽत्मनि चिद्भावाज्जीवत्वमिव कल्पयत् ।
रूपमत्यजदेवाऽच्छं मनस्तामिव गच्छति ॥ १७ ॥
इदं सर्वं तनोतीव तच्च खात्मकमेव खम् ।
भवतीव जगद्रूपं विकारीवाऽविकार्यपि ॥ १८ ॥
मन एव स्वयं ब्रह्मा स सर्गस्य हृदि स्थितः ।
करोत्यविरतं सर्वमजस्रं संहरत्यपि ॥ १९ ॥

स्वप्नके समान निर्धर्मक वह अपने अधिष्ठानसे तनिक भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूपसे परिशिष्ट वह आकाशसे शून्यताके समान चिदाकाशसे भिन्न नहीं है॥ १४ ॥

जो ही सकल रूपोंसे विवर्जित अद्वितीय पर ब्रह्म है वही अपने सच्चिदानन्दघन अद्वितीय रूपसे ही स्थित हो स्वमायाशक्तिसे सकलजगद्रूपसे स्थित है॥१५॥

स्वप्नमें अकारण ही इस दृश्यसृष्टिका सकल जीवोंको अनुभव होता है स्वप्नमें तो आत्मा ही स्वप्नके सकल पदार्थोंका रूप धारण कर भासित होता है, अतः जाग्रत्में भी एक ज्ञानरूप निर्मल ब्रह्म ही जगद्रूपसे (नाना पदार्थोंके रूपसे) भासता है ॥१६॥

ब्रह्म ही चिद् होनेसे आत्मामें मानो जीवत्वकी कल्पना करता हुआ और अपने निर्मल सच्चिदानन्दघन स्वरूपका त्याग न करता हुआ मनस्त्वको जैसा प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

स्वयं चिदाकाश ही वह मनकी समष्टिरूपसे आकाशात्मक ही इस सकल जगत्का विस्तार करता है और स्वयं अविकारी होता हुआ भी विकारी जगद्रूपसा प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

मन ही हिरण्यगर्भ है वह सृष्टिके हृदयमें स्थित होकर सबका निरन्तर निर्माण करता है और निरन्तर सबका संहार भी करता है ॥ १९ ॥

पृथ्व्यादिरहितो यस्मिन्मनोहृद्यङ्गवर्जिते ।
अन्यद्वा त्रिजगद्भाति यथा स्वप्ने निराकृति ॥ २० ॥
देहरूपजगद्रूपैरहमेकमनाकृति ।
मनस्तिष्ठत्यनन्तात्म बोधाबोधं पराभवम् ॥ २१ ॥
नेह पृथ्व्यादि नो देहो न चैवाऽन्याऽस्ति दृश्यता ।
जगत्तया केवलं खं मनः कचकचायते ॥ २२ ॥
विचार्यदृष्ट्यै तदपि न किंचिदपि विद्यते ।
केवलं भाति चिन्मात्रमात्मनाऽऽत्मनि निर्घनम् ॥ २३ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते तूष्णींभावोऽवशिष्यते ।
व्यवहार्यपि खात्मैव तद्वत्तिष्ठति मूकवत् ॥ २४ ॥

।रणाभ।

पृथ्वी आदिसे रहित स[illegible] ब्रह्म अवयवरहित जिस जगत्के हृदयमें स्थित है उससे भिन्नके तुल्य त्रिजगत्के रूपसे भासता है जैसे कि स्वप्नमें निराकार चिदात्मा स्वाप्न पदार्थके रूपसे भासित होता है ॥ २० ॥

एक निराकार परब्रह्म होकर भी अपनी अविद्यासे पूर्ण सच्चिदानन्द-भावसे च्युत हो मनोभावको प्राप्तकर समष्टिमनरूप ।ब्रह्मा अहंकार स्वरूपसे तथा शरीर और जगत्के रूपसे अनन्तरूप होकर जड़ और चेतन जगत्रूपमें स्थित है ॥ २१ ॥

यथार्थतः न यहाँ (चित्में) पृथिवी आदि हैं, न शरीर है, न चित्से भिन्न कुछ दृश्यरूप ही है, किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही कल्पित समष्टि मनोरूप होकर जगद्रूपमें अतिशयरूपसे स्फुरित हो रहा है ॥ २२ ॥

और सूक्ष्म विचार दृष्टिसे यह जगत्का स्फुरण भी कुछ नहीं है एकमात्र अत्यन्त घन चिन्मात्र ही अपने आप अपने स्वरूपमें भासता है ॥ २३ ॥

जिससे वचन निवृत्त हो जाते हैं यानी जहाँ मन और वाणीकी पहुँच नहीं है उस निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिसे तूष्णींभाव (आत्मस्वरूप निश्चलता) शेष रहती है । वह निश्चलता व्यवहारकालमें भी नहीं हटती । शुद्ध सच्चिदात्मा संसारके व्यवहारोंमें निरत रहनेपर भी निश्चल आत्मस्वरूपसे ज्योंका त्यों मूकवत् स्थित रहता है ॥ २४ ॥

अनन्तापारपर्यन्ता चिन्मात्रपरमेष्टका ।
तूष्णींभूत्वा भवत्येष प्रबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ २५ ॥
अबुद्धिपूर्वं द्रवतो यथाऽऽवर्तादयोऽम्भसि ।
क्रियन्ते ब्रह्मणा तद्वच्चित्तबुद्ध्यादयो जडाः ॥ २६ ॥
अबुद्धिपूर्वं वातेन क्रियते स्पन्दनं यथा ।
अनन्यदेवं बुद्ध्यादि क्रियते परमात्मना ॥ २७ ॥
अनन्यदात्मनो वायोर्यथा स्पन्दनमव्ययम् ।
अनन्यदात्मनस्तद्वच्चिन्मात्रं परमात्मनः ॥ २८ ॥
चिद्व्योम ब्रह्मचिन्मात्रमात्मा चिति महानिति ।
परमात्मेति पर्याया ज्ञेया ज्ञानवतां वर ॥ २९ ॥

वह प्रबुद्ध (ज्ञानवान्) पुरुषश्रेष्ठ निश्चल होकर अनन्त अपार चिन्मात्ररूप परम इष्ट (परमप्रेमास्पद निरतिशयानन्दघनतारूप) हो जाता है । अथवा ज्ञानरूप अग्निमें परिपाकवश दृढ़ होनेसे ब्रह्मरूप ईंट स्वयं बन जाता है, ऐसा अर्थ है ॥ २५ ॥

इस प्रकार मुक्तिको प्राप्त हुए पुरुषश्रेष्ठके फिर कालान्तरमें सृष्टि आदिसे बन्धन-प्रसंगका वारण करनेके लिए सृष्टिकी अज्ञानपूर्वकता दिखलाते हैं— **'अबुद्धिपूर्वम्'** इत्यादिसे ।

जैसे जलमें द्रवसे अबुद्धिपूर्वक ही (अज्ञानपूर्वक ही) आवर्त, बुद्बुद् आदि होते हैं वैसे ही अविद्यावृत ब्रह्माने अज्ञानपूर्वक ही चित्त, बुद्धि आदि जड़ पदार्थोंका निर्माण किया है । अविद्यावृत चैतन्य ही जलादि बनकर आवर्त आदि विकल्पोंका भाजन होता है, अतएव जलादिकी दृष्टान्तता है ॥ २६ ॥

जैसे वायु द्वारा अपनेसे अभिन्न स्पन्दका अबुद्धिपूर्वक ही निर्माण किया जाता है वैसे ही परमात्मा द्वारा अपनेसे अभिन्न बुद्धि आदि जगत्का अबुद्धिपूर्वक ही निर्माण किया जाता है ॥ २७ ॥

जैसे वायुका अविनाशी स्पन्दन वायुसे अभिन्न है वैसे चिद्भासरूप सब जीव प्रत्यग्रूप परमात्मासे अभिन्न हैं ॥ २८ ॥

अतएव जीव भी ब्रह्मके पर्यायरूप ही हैं, ऐसा कहते हैं—**'चिद्-व्योम'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मोन्मेषनिमेषात्म स्पन्दास्पन्दात्म वातवत् ।
निमेषो यादृगेवाऽस्य समुन्मेषस्तथा जगत् ॥ ३० ॥
दृश्यमस्य समुन्मेषो दृश्याभावो निमेषणम् ।
एकमेतन्निराकारं तद्द्वयोरप्युपक्षयात् ॥ ३१ ॥
निमेषोन्मेषयोरेकरूपमेव परं मतम् ।
अतोऽस्ति दृश्यं नाऽस्तीति सदसच्च सदा चितिः ॥ ३२ ॥
निमेषो नाऽन्य उन्मेषान्नोन्मेषोऽपि निमेषतः ।
ब्रह्मणः सर्गवपुषो निमेषोन्मेषरूपिणः ॥ ३३ ॥

हे ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, चिद्व्योम, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान्, परमात्मा इन सबको आप पर्यायवाची जानिये ॥ २९ ॥

अविद्यावृत ब्रह्म नेत्रके समान उन्मेष निमेषरूप है अथवा वायुके समान स्पन्द-अस्पन्दरूप है । उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है वैसा ही सर्गात्मक उन्मेष जगत् है ॥ ३० ॥

जैसे उन्मेष और निमेषकालमें एक-सा नेत्रगोलक एक ही है उसीमें निमेष उन्मेषका लय होता है वैसे ही प्रलय और सृष्टिमें एकसा ब्रह्म एक है उसीमें उनका लय होता है, ऐसा कहते हैं—**'दृश्यम्'** इत्यादिसे ।

दृश्य ब्रह्मका उन्मेष है और दृश्यका अभाव (प्रलय) निमेष है दोनों अवस्थाओंमें निराकार यह एक ही है, क्योंकि उन दोनोंका ही इसीमें लय होता है ॥ ३१ ॥

परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष—दोनों अवस्थाओंमें एकरूप ही रहता है । अतः चित्से ही दृश्यका 'अस्ति' (है) और 'नास्ति' (नहीं है) यों स्फुरण होनेसे दृश्य सत्-असत् है, किन्तु चिति सदा सत्तैकरूप ही है ॥ ३२ ॥

उन्मेष और निमेष भी उन्मेष और निमेषके हेतु पक्ष्म (पलक) सहित नेत्र स्थानीय शबलब्रह्मरूपसे परस्पर अभिन्न ही हैं, ऐसा कहते हैं—**'निमेषः'** इत्यादिसे ।

निमेष उन्मेषसे अतिरिक्त नहीं है और उन्मेष भी निमेषसे भिन्न नहीं है वैसे ही मायाशबल ब्रह्मसे उन्मेष-निमेषरूपी सर्ग और प्रलय भिन्न नहीं हैं ॥ ३३ ॥

तद्यथास्थितमेवेदं विद्धि शान्तमशेषतः ।
अजातमजरं व्योम सौम्य समसमं जगत् ॥ ३४ ॥
चिदचित्यात्मकं व्योम रूपं कचकचायते ।
चिन्नाम तदिदं भाति जगदित्येव तद्वपुः ॥ ३५ ॥
न नश्यति न चोत्पन्नं दृश्यं नाऽप्यनुभूयते ।
स्वयं चमत्करोत्यन्तः केवलं केवलैव चित् ॥ ३६॥
महाचिद्व्योममणिभा दृश्यनाम्नी निजाकरात् ।
अनन्याऽन्येव भाताऽपि भानुभास इवोष्णता ॥ ३७ ॥
सुषुप्तं स्वप्नवद्भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत् ।
सर्वमेकं शिवं शान्तं नानेवाऽपि स्थितं स्फुरत् ॥ ३८ ॥

इस दृष्टिसे जो सिद्ध हुआ, उसे कहते हैं—'**तद्**' इत्यादिसे ।

हे सौम्य श्रीरघुनायक, इस कारण निमेष और उन्मेषमें साधारण (एक समान) ब्रह्मरूपसे एकरस यथास्थित इस जगत्‌को आप अनुत्पन्न, अजर, अमर, शान्त चिदाकाश ही जानिये ॥ ३४ ॥

जैसे आकाश अपनेमें अध्यस्त नीलरूपतासे स्फुरित होता है वैसे ही चित् भी अचित्यात्मकरूपसे (अचेतन दृश्य जगत्‌रूपसे) स्फुरित होती है, इसलिए जो कुछ यह जगत्‌रूपसे भासता है, वह जगत्‌शरीरधारी चिन्मात्र ब्रह्म ही है ॥ ३५ ॥

न तो दृश्य कभी उत्पन्न हुआ है, न नष्ट होता है और न यथार्थतः अनुभवमें ही आता है केवल एकमात्र चित् ही अपने स्वरूपमें स्वयं दृश्यरूप चमत्कार करती है ॥ ३६ ॥

जैसे सूर्यसे निकली हुई सूर्यकी दीप्तिसे सूर्यकी उष्णता भिन्न-सी मालूम होती हुई भी भिन्न नहीं है वैसे ही दृश्य नामकी चिदाकाशरूपी महामणिकी प्रभा भी अपने उद्गम स्थान (आकर-स्थान) महामणिसे भिन्न-सी प्रतीत होती हुई भी उससे अभिन्न ही है ॥ ३७ ॥

जैसे सुषुप्ति ही स्वप्न-सी प्रतीत होती है यानी स्वप्नरूपमें भासती है वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टिके समान स्फुरित होता है, इसलिए नाना रूपके समान स्फुरित होता हुआ भी यह सारा जगत् एक, शान्त, शिवरूप ब्रह्म ही है ॥ ३८ ॥

यद्यत्संवेद्यते यादृक्सद्वाऽसद्वा यथा यदा ।
तथाऽनुभूयते तादृक्तत्सदस्त्वसदस्तु वा ॥ ३९ ॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या चेत्कारणं परिकल्प्यते ।
तत्स्वप्नाभो जगद्भावादन्यथा नोपपद्यते ॥ ४० ॥
प्रमातीतात्पराद्विश्वमनन्यदुदितं यतः ।
प्रमातीतमिदं चैव किंचिन्नाभ्युदितं ततः ॥ ४१ ॥
यस्य यद्रसिकं चित्तं तत्तथा तस्य गच्छति ।
ब्रह्मैकरसिकं तेन मनस्तत्तां समश्नुते ॥ ४२ ॥

चिदाभास द्वारा जब जिस जिसका जिस प्रकारसे—भाव अथवा अभाव रूपसे—जैसा संकल्प किया जाता है उसका उस प्रकारसे चाहे वह सत् हो चाहे असत् वैसे ही अनुभव किया जाता है ॥ ३९ ॥

जगत्की जड़ताकी अन्य प्रकारसे उपपत्ति न होनेके कारण उसके अनुरूप प्रधान, परमाणु आदि रूप कारणकी कल्पना करो तो स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले प्रपञ्चका प्रधान, परमाणु आदि द्वारा कदापि नहीं निर्वाह हो सकता, अतएव आत्माके जगद्भावके विना स्वप्न-प्रपञ्चकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वप्नमें आत्माका ही जगद्भाव माननेपर तो उसी न्यायसे सृष्टिके आदिमें भी ब्रह्म ही जगद्रूप धारण करेगा इससे प्रधान, परमाणु आदिकी कल्पना ठीक नहीं है, यह भाव है ॥ ४० ॥

ऐसा माननेपर जगत्की, प्रमाणोंके अविषय ब्रह्ममें अध्यासवश स्वप्नकी तरह, अनिर्वचनीयतारूप प्रमाणाविषयता भी सिद्ध होगी यों अद्वैतका अविरोध होनेसे दूसरी अनुकूलता हमारे पक्षमें हुई, ऐसा कहते हैं—**'प्रमातीतात्'** इत्यादिसे ।

चूँकि ब्रह्मसे अभिन्न यह विश्व प्रमाणोंके अगोचर परम ब्रह्मसे आविर्भूत है इसलिए प्रमाणोंका अगोचर यह कुछ भी उदित नहीं हुआ ॥ ४१ ॥

इसलिए ब्रह्मरसिक लोगोंका चित्त जगत्को ब्रह्म ही देखता है यों उनके अनुभवका अनुरसण भी हो गया, यह कहते हैं—**'यस्य'** इत्यादिसे ।

जिसका चित्त जिस ओर रसिक रहता है उसका चित्त वैसा ही अनुभव करता है इस कारण एकमात्र ब्रह्ममें रसिक तत्त्वज्ञचित्त जगत्की ब्रह्मताका अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

यच्चित्तो यद्गतप्राणो जनो भवति सर्वदा ।
तत्तेन वस्त्विति ज्ञातं जानाति तदसौ स्फुटम् ॥ ४३ ॥
ब्रह्मैकरसिकं यत्स्यान्मनस्तत्तद्भवेत्क्षणात् ।
यस्य यद्रसिकं चेतो बुद्धं तेन तदेव सत् ॥ ४४ ॥
विश्रान्तं यस्य वै चित्तं जन्तोस्तत्परमार्थसत् ।
व्यवहृत्यै करोत्यन्यत्सदाचारादतद्रसम् ॥ ४५ ॥
द्वित्वैकत्वादिकलना नेह काचन विद्यते ।
सत्तामात्रं च दृगियमितश्चेद्‌लमीक्ष्यते ॥ ४६ ॥
अदृश्यदृश्यसदसन्मूर्तामूर्तदृशामिह ।
नैवाऽस्ति न च नास्त्येव कर्ता भोक्ताऽथवा क्वचित् ॥ ४७ ॥

जिस मनुष्यके चित्त-प्राण सदा जिसपर अनुरक्त रहते हैं, लगे रहते हैं, वह उसको वास्तविक (सत्य) प्रतीत होता है अतएव उसीका स्पष्टरूपसे वह अनुभव करता है ॥ ४३ ॥

जो मन एकमात्र ब्रह्ममें रसिक होता है वह क्षणभरमें ब्रह्म बन जाता है अतः जिसका मन जिसमें रस पाता है उसने उसी पदार्थको यथार्थ (सत्) जाना है ॥ ४४ ॥

जिस जीवका चित्त दृढ़ निश्चयवश जिसमें विश्रान्त हो चुका, उसके लिए वही परमार्थ (सत्य) है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी और नास्तिक अपने निश्चित मार्गसे अतिरिक्त जो याग, दान आदि कर्म करते हैं वह केवल सदाचारसे लोकसंग्रहार्थ व्यवहारके लिए बिना इच्छाके (मानो जबर्दस्ती) करते हैं ॥ ४५ ॥

मेरे द्वारा निर्दिष्ट इस उपायसे (युक्तिसे) यदि जगत्का भलीभाँति अवलोकन कीजिये तो यह सब आपको सत्तामात्र ही प्रतीत होगा । यह दृग् (चित्) ही है इस चित्में द्वित्व, एकत्वकी कल्पना कोई नहीं है ॥ ४६ ॥

जिनकी ज्ञानदृष्टिमें दृश्य, सत्, असत् मूर्त, अमूर्त सब कुछ ब्रह्म ही है, उनकी दृष्टिमें यहाँ अथवा कहीं न कर्ता अथवा भोक्ता जीव ही हैं और न उनका अभाव ही है, क्योंकि उन्हींका ब्रह्मरूपसे शेष रहता है ॥ ४७ ॥

इदमित्थमनाद्यन्तं जगत्पर्यायमात्मनि ।
ब्रह्मैकघनमाशान्तं स्थितं स्थाणुरिवाऽध्वनि ॥ ४८ ॥
यदेव ब्रह्म बुद्ध्यादि तदेवैतन्निरञ्जनम् ।
यदेव गगनं शान्तं शून्यं विद्धि तदेव तत् ॥ ४९ ॥
केशोण्ड्रकाद्यो व्योम्नि यथा सदसदात्मकाः ।
द्वितामिवाऽऽगता भान्ति परे बुद्ध्यादयस्तथा ॥ ५० ॥
तथा बुद्ध्यादि देहादि वेदनादि परापरे ।
अनेकान्यप्यनन्यानि शून्यत्वानि यथाऽम्बरे ॥ ५१ ॥
सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नमेकनिद्रात्मनो यथा ।
सर्गस्थस्याऽपि न द्वित्वं नैकत्वं ब्रह्मणस्तथा ॥ ५२ ॥

जैसे अज्ञानी पथिकोंके चोरोंके सन्देह, भ्रान्ति आदिके योग्य वन-मार्गमें स्थाणु ही चोर आदिके रूपसे स्थित होता है वैसे ही आदि अन्त विहीन सर्वतः शान्त जगत्पर्यायवाला ब्रह्मैकघन (चिन्मात्रघन) यह ब्रह्म ही इस प्रकार (जगद्रूपसे) आत्मामें स्थित है ॥ ४८ ॥

जो ही बुद्धिसमष्टि हिरण्यगर्भ आदिरूप जगत् है उसीको आप निर-ञ्जन (निर्विकार) ब्रह्म जानिये जैसे कि जो ही प्रशान्त आकाश है वही शून्य है ॥ ४९ ॥

जैसे आकाशमें केशोंका वर्तुलाकार गोला, नीलता आदि, जो सदसद्रूप हैं, आकाशसे भिन्नसे प्रतीत होते हैं, वैसे ही परम ब्रह्ममें सदसदात्मक बुद्धि आदि भिन्नसे प्रतीत होते हैं ॥ ५० ॥

जैसे आकाशमें घट, पट आदिके सब अभाव आकाशसे अनन्य हैं, वैसे ही सर्वसामान्य सत्तारूप ब्रह्ममें बुद्धि आदि, देह आदि अनुभव आदि अनेकरूप प्रतीत होनेपर भी ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं ॥ ५१ ॥

एकमात्र निद्रारूप सुषुप्तिसे स्वप्नमें प्रवेश कररहे स्वप्न-सृष्टिमें स्थित जीवात्माका न तो द्वित्वरूपसे निर्वचन होता है और न एकत्वरूपसे ही होता है क्योंकि वहां व्यावर्त्य कोई प्रसिद्ध नहीं है वैसे ही एकमात्र निद्रारूप प्रलयसे सृष्टिमें प्रवेशकर रहे अज्ञ दृष्टिसे सर्गस्थ भी ब्रह्मका द्वित्वेन अथवा एकत्वेन निर्वचन नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

एवमेव कचत्यच्छा छायेयं स्वा महाचितेः ।
न च किंचन नामाङ्ग कचत्यच्छैवमास्थिता ॥ ५३ ॥
चिद्व्योम्नि हि चिदाकाशमेव स्वममलं वपुः ।
चेत्यं दृश्यमिवाऽऽभाति स्वप्नेष्विव यथास्थितम् ॥ ५४ ॥
अन्यथानुपपत्त्याऽर्थकारणाभावतः स्वतः ।
चिद्व्योमात्मानमेवाऽऽदौ दृश्यमित्येव पश्यति ॥ ५५ ॥
सर्गादावेव खात्मैव दृश्यं भाति निराकृति ।
संभ्रमः स्वप्नसंकल्पमिथ्याज्ञानेष्विवाऽभितः ॥ ५६ ॥
स्वप्नवत्तन्न निर्धर्म मनागपि न भिद्यते ।
विकार्यपि सधर्माऽपि चिद्व्योम्नो वस्तुनो मलात् ॥ ५७ ॥

हे श्रीरामजी, महाचेतनकी यह अपनी निर्मल कान्ति अथवा अविद्या ही जगत्के रूपसे स्फुरित होती है । वास्तवमें तो निर्मल छाया इस प्रकार स्थित है कुछ भी स्फुरित नहीं होती है ॥ ५३ ॥

चिदाकाशमें चिदाकाशरूप ही यथास्थित (ज्योंका त्यों स्थित) निज स्वच्छ विग्रह चेत्य-सा दृश्य-सा प्रतीत होता है जैसे कि स्वप्नोंमें यथास्थित चिदात्मा ही स्वाप्न पदार्थोंके रूपसे स्फुरित होता है ॥ ५४ ॥

हजारों वादियों द्वारा भी सद् वस्तुसे अतिरिक्तका उपपादन न हो सकने तथा सत्य कारणका अभाव होनेसे चिद्व्योम स्वयं अपनेको दृश्यरूपसे देखता है, यही पक्ष सिद्ध हुआ ॥ ५५ ॥

सृष्टिके आरम्भमें निराकार चिदाकाश परमात्माका ही दृश्यके रूपमें भान होता है और वह भान स्वप्न, संकल्प और मिथ्याज्ञानमें हुए भ्रमके तुल्य भ्रम ही है ॥ ५६ ॥

दृश्य स्वप्नके समान सकल धर्मशून्य चिदाकाश ही है, क्योंकि उसमें तनिक भी धर्मका अस्तित्व नहीं है । वस्तुभूत (परमार्थभूत) चिदाकाशका विकारी भी तथा धर्मवान् भी आकार अविद्यारूप मलसे प्रतीत होता है । वास्तवमें उसमें आकार, विकार और धर्म नहीं हैं ॥ ५७ ॥

तत्स्वप्ननगराकारं सधर्मोऽप्यसधर्मकम् ।
शिवादनन्यमेवेत्थं स्थितमेव निरन्तरम् ॥ ५८ ॥
दृश्यं स्वप्नाद्रिवत्स्वच्छं मनागपि न भिद्यते ।
तस्माच्चिद्व्योम चिद्व्योम्नः शून्यत्वं गगनादपि ॥ ५९ ॥
यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वरूपविवर्जितम् ।
तदेवेदं तथाभूतमेव सर्गतया स्थितम् ॥ ६० ॥
स्वप्नेऽनुभूयते चैतत्स्वप्ने ह्यात्मैव भासते ।
पुरादित्वेन न तु सत्पुरादि रचितं तदा ॥ ६१ ॥

स्वप्ननगरके तुल्य दृश्य प्रतीतितः साकार होता हुआ भी वास्तवमें निराकार है और प्रतीतितः धर्मवान् होता हुआ भी निर्धर्मक है। अधिष्ठानरूप सन्मात्रसे अभिन्न भी वह अज्ञजनोंकी दृष्टिसे इस प्रकार जगत्के आकारसे निरन्तर ही स्थित है ॥ ५८ ॥

स्वप्नपर्वतके तुल्य स्वच्छ दृश्य स्वाधिष्ठान चिन्मात्रसे रञ्च भर भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशमात्ररूपसे परिशिष्ट चिदाकाशकी आकाशकी अपेक्षा भी अतिसूक्ष्मता सिद्ध हुई, यह अर्थ है ॥ ५९ ॥

सकल रूपोंसे विरहित सच्चिदानन्दघन जो परम ब्रह्म है वही अपने सच्चिदानन्दघनस्वरूपसे रञ्चभर भी च्युत न हो यथास्थित ही सृष्टिके रूपसे स्थित है ॥ ६० ॥

स्वप्नमें दृश्यका सबको अनुभव होता है। स्वप्नमें आत्मा ही नगर आदिके रूपमें भासता है।

शङ्का—स्वप्नकालमें सत्य नगरादिका जीव द्वारा निर्माण हो, क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते स हि कर्ता' (स्वप्नकालमें जीव रथोंकी तथा रथयोग्य मार्गोंकी सृष्टि करता है) ऐसी श्रुति है।

समाधान—स्वप्नमें जीव द्वारा सत्य नगर आदिकी रचना नहीं होती है, क्योंकि 'न तत्र रथा रथयोगा पन्थानो भवन्ति' (न वहां रथ होते हैं और न रथयोग्य मार्ग होते हैं) 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्नकी सृष्टि शुक्तिरजत, रज्जुसर्प आदिके समान मायामात्र है, क्योंकि उसका स्वरूप देश, काल आदि सम्पूर्ण धर्मोंसे अभिव्यक्त नहीं होता) इत्यादि श्रुति और सूत्रोंने ने स्वप्नमें सृष्टिका प्रतिषेध किया है और उसे मायामात्र कहा है ॥ ६१ ॥

स्वप्ने च प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारस्य स्मृतेस्तथा ।
न सत्ता तदिदं दृष्टमित्यर्थस्याऽत्यसंभवात् ॥ ६२ ॥
तस्मादेतत्त्रयं त्यक्त्वा यद्भानं ब्रह्मसंविदः ।
तस्य दृष्टार्थसादृश्यान्मूढैः स्मृत्यादितोहिता ॥ ६३ ॥
यथा यत्रैव लहरी वारिण्येति पुनःपुनः ।
तत्रैवैति तथा तद्वदनन्या खे परे जगत् ॥ ६४ ॥
विधयः प्रतिषेधाश्च सर्व एव सदैव च ।
विभक्ताश्च विमिश्राश्च परे सन्ति न सन्ति च ॥ ६५ ॥

यदि कोई कहे कि 'स एवायं देवदत्तः' (वही यह देवदत्त है) 'तदिदं पूर्वदृष्टमेव मद्गृहम्' (यह वही पूर्वदृष्ट मेरा घर है) इत्यादि अबाधित प्रत्यभिज्ञा आदिसे स्वप्नमें भी पदार्थ सत्य हों ? इस शङ्कापर कहते हैं—'**स्वप्ने च**'इत्यादिसे ।

स्वप्नमें 'वही यह देखा है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञाका विषय हो रहे गृह आदि पदार्थका हृदय, कण्ठ, नाड़ीछिद्र आदि प्रदेशमें किसी प्रकार भी संभव न होनेसे प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, पदार्थका संभव न होनेसे तद्विषयक संस्कार और स्मृतिका भी असंभव स्पष्ट है ॥ ६२ ॥

स्वप्नमें प्रत्यभिज्ञा, संस्कार और स्मृतिका संभव न होनेके कारण इन तीनोंका त्याग कर ब्रह्मसंवित्का ही निद्रा आदि दोषोंसे स्वाप्न पदार्थके रूपसे अन्यथाभान होता है उसीमें जाग्रत्-दृष्ट पदार्थोंकी तुल्यताकी कल्पना कर अनुभवके व्यवहाराभासकी तरह स्मृति आदिके सादृश्यकी भी कल्पना कर उसमें स्मृत्यादिता भी मूढ़ोंने मानी है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६३ ॥

सादृश्यसे भी वही यह लहरी है, वही यह दीपशिखा है इत्यादि प्रत्यभिज्ञाभ्रम लोकमें प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जिसी जलमें जैसे लहरी एक बार आती है उसी जलमें वैसे ही अभिन्न लहरी पुनः पुनः आती है वैसी अवस्थामें 'सैवेयं लहरी' ऐसा प्रत्यभिज्ञाभ्रम होता है वैसे ही सृष्टिके आदिमें कल्पनाधिष्ठान परम ब्रह्ममें जगत्को भी भ्रमरूप समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

केवल कल्पनामात्र होनेके कारण ही ब्रह्ममें 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' (उसने इस पृथिवी और द्युलोकको धारण किया), 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी

तस्मात्सद् ब्रह्म सर्वात्म किमिवाऽत्र न विद्यते ।
सैव सत्तैव सर्वात्म चैतदप्येतदात्मकम् ॥ ६६ ॥
भ्रान्तस्य भ्रमणं भूमेर्न भूभ्रान्तैव वा गणैः ।
न शाम्यति ज्ञातुरपि तथाऽभ्यासं विनाऽत्र दृक् ॥ ६७ ॥
शास्त्रस्याऽस्य तु यन्नाम वादनं तद्विनाऽपरः ।
अभ्यासो दृश्यसंशान्त्यै न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥

चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष सब प्राणोंके साथ मन ओत-प्रोत हो केवल उसीको आत्मा जानो) इत्यादि जगत्की विधियाँ और 'नेह नानास्ति किंचन' (यहां भेद कुछ भी नहीं है) इत्यादि जगन्निषेध समानरूपसे समावेश पाते हैं, ऐसा कहते हैं– **'विधयः'** इत्यादिसे ।

परस्पर सदा ही सभी विधियाँ और प्रतिषेध अलग अलग (विभक्त) होकर और मिलकर परम ब्रह्ममें हैं और नहीं भी हैं ॥ ६५ ॥

इसलिए सद् ब्रह्म सर्वात्म है, इसमें क्या नहीं है ? वह ब्रह्मसत्ता ही सर्वात्म है इस कारण यह सब कुछ ब्रह्मसत्तात्मक (सदात्म) और सर्वात्मक है ॥ ६६ ॥

इस कारण उसमें सकल वादियोंकी सभी कल्पनाओंका अविरोधसे समावेश और कल्पनाविहीन पुरुषका मोक्ष भी उपपन्न होता है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'भ्रान्तस्य'** इत्यादिसे ।

क्रीड़ाके लिए भ्रमण कर रहे बालककी दृष्टिमें वृक्ष, पर्वत, नदी आदिके समूहके साथ भूमिका भ्रमण होता है अन्य लोगोंकी दृष्टिमें भूमि भ्रमणशील नहीं है । दोनों ही दृष्टियाँ सदात्मक हैं । भ्रमावस्थामें भूमि नहीं घूमती है ऐसा ज्ञान रखनेवाले भी बालकको जबतक स्थिरताका अभ्यास नहीं होता तबतक पहले गृहीत भूभ्रमणदृष्टि शान्त नहीं होती है वैसे ही भ्रमावस्थामें जगद्भ्रान्ति-दृष्टि भी स्थिरताके अभ्यासके विना शान्त नहीं हो सकती है ॥ ६७ ॥

प्रकृतमें दृश्यभ्रमकी निवृत्तिका उपयोगी कौन अभ्यास करना चाहिये, यह बतलाते हैं—**'शास्त्रस्य'** इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी गुरुको सेवा आदि द्वारा प्रसन्न कर उनके द्वारा इस मोक्षोपाय भूत शास्त्रका व्याख्यान कराकर जो उसके श्रवणका अभ्यास है, उसके बिना

न जीवन्न मृतं चित्तं रोधमायाति संसृतेः ।
अविनाभाविदेहत्वाद्बोधात्त्वेतन्न पश्यति ॥ ६९ ॥
सर्वदैवाऽविनाभावि चित्तं दृश्यशरीरयोः ।
इह चाऽमुत्र चैतस्य बोधान्ते शाम्यतः स्वयम् ॥ ७० ॥
चित्तदृश्यशरीराणि त्रीणि शाम्यन्ति बोधतः ।
पवनस्पन्दसैन्यानि कारणाभावतो यथा ॥ ७१ ॥

दृश्यकी निवृत्तिके लिए न कोई दूसरा मार्ग हुआ और न होगा ॥ ६८ ॥

यदि कोई यह शङ्का करे कि इस शास्त्रके अभ्याससे क्या करना है, योगशास्त्रमें प्रसिद्ध चित्तके निरोधसे ही दृश्यविलोपरूप इष्टसिद्धि हो जायगी ? तो इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

हाँ होता ऐसा यदि चित्तका निरोध शक्तिसाध्य होता । चित्त-निरोधका ही संभव नहीं है । चित्तका स्वरूप संसारसे अविनाभावी (पृथक् न होने वाला) है, अतः जाग्रत् और स्वप्नमें जीवित अथवा सुषुप्तिमें लय होनेके कारण मरे हुए चित्तका प्रयत्नपूर्वक निरोध करनेपर भी उसका संसारसे निरोध नहीं हो सकता है, किन्तु इस शास्त्रके अभ्यासके अधीन बोध होनेसे ही बाधित होकर यह संसारको नहीं देखता है, इसलिए इस शास्त्रका अभ्यास ही दृश्य निवृत्तिका उपाय है, यह भाव है ॥ ६९ ॥

जैसे चित्त सदा ही संसारसे अविनाभावी है वैसे ही दृश्यरूप संसार भी चित्त और शरीर दोनोंसे अविनाभावी है । वे दृश्य और शरीर इस शास्त्रके अभ्याससे—प्रतिबन्ध न होनेपर इसी जन्म में—तत्त्वबोध होनेपर निवृत्त हो जाते हैं, प्रतिबन्ध रहनेपर अन्य जन्ममें प्रतिबन्धका नाश होनेपर बोध होनेसे निवृत्त होते हैं । इस विषयमें भगवान् वेदव्यासजीका सूत्र है—'ऐहिकमप्रस्तुत-प्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (प्रतिबन्धका अभाव होनेपर इस जन्ममें विद्याकी उत्पत्ति हो सकती है प्रतिबन्ध होनेपर अन्य जन्ममें भी होती है इसी जन्ममें विद्या हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि श्रुतियोंमें ऐसा देखा जाता है) ॥ ७० ॥

जैसे कारणके अभावसे (शुक्रास्त, शुक्रोदय आदि कारणके न रहनेसे) वायु, स्पन्दन और उनसे होनेवाले मेघसैन्य शान्त हो जाते हैं वैसे ही बोधसे चित्त, दृश्य और शरीर तीनों निवृत्त हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

कारणं मौर्ख्यमेवाऽस्य तच्चाऽस्मादेव शास्त्रतः ।
किंचित्संस्कृतबुद्धीनां वाचितादेव शाम्यति ॥ ७२ ॥
अबुद्धमुत्तरग्रन्थात्पूर्वं पूर्वं हि बुध्यते ।
ग्रन्थं पदपदार्थज्ञः खेदवान्न निवर्तते ॥ ७३ ॥
उपायमिदमेवाऽतो बिद्धि शास्त्रं भ्रमक्षये ।
अनन्यसाधारणतां गतमित्यनुभूयते ॥ ७४ ॥
तस्मादस्मान्महाशास्त्राद्यथाशक्ति विचारयेत् ।
भागौ द्वौ भागमेकं वा तेन दुःखक्षयो भवेत् ॥ ७५ ॥
आरुषेयमिदमिति प्रमादाच्चेन्न रोचते ।
तदन्यदात्मविज्ञानशास्त्रं किंचिद्विचारयेत् ॥ ७६ ॥

तो चित्त, दृश्य और शरीर इन तीनोंका कारण क्या है ? इस प्रश्नपर उसे कहते हैं—'**कारणम्**' इत्यादिसे ।

चित्त, दृश्य और शरीररूप त्रिकका कारण अज्ञान (ब्रह्मात्मभावका आवरण करनेवाली अविद्या) ही है। और कुछ ही संस्कृतमतिवाले पुरुषोंका उक्त त्रिक बाँचे गये इस शास्त्रसे ही शान्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

यदि कोई कहे कि केवल बाँचने मात्रसे इसका सकल अर्थ कैसे अवगत होगा ? इसपर कहते हैं—'**अबुद्धम्**' इत्यादिसे ।

यदि पदपदार्थ ज्ञानवान् पुरुष बीचमें ही थककर इसके बाँचनेसे विरत न हो तो पहले पहले समझमें न आया हुआ (अबुद्ध) ग्रन्थका उत्तर ग्रन्थसे (आगेके ग्रन्थसे) बोध होता है ॥ ७३ ॥

इसलिए भ्रमकी निवृत्तिमें इसी शास्त्रको असाधारण उपाय आप जानिये। ऐसा ही ज्ञानियों द्वारा इसका अनुभव किया जाता है ॥ ७४ ॥

इसलिए इस महाशास्त्रसे दो भागोंका (पूर्व और उत्तर दो भागोंका) अथवा एक भागका (आधे ग्रन्थका) अपनी शक्तिके अनुसार अनुशीलन करना चाहिये। उससे अवश्य दुःखकी निवृत्ति होगी ॥ ७५ ॥

यह ऋषि-प्रणीत शास्त्र स्मृतिरूप है और स्मृतिका मूल (उद्गम) श्रुति है। एतावता श्रुतिका ही क्यों विचार न करें इस बुद्धिसे प्रमादवश यदि यह शास्त्र किसीको रुचिकर न हो तो वह किसी अन्य श्रुतिरूप (उपनिषद्,

अनर्थेनाऽविचारेण वयः कुर्यान्न भस्मसात् ।
बोधेन ज्ञानसारेण दृश्यं कर्तव्यमात्मसात् ॥ ७७ ॥
आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते ।
नीयते तद्वृथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥ ७८ ॥
अनुभूतमपि च नो स-
द्दृश्यमिदं द्रष्टृसहितमपि ।
स्वप्ननिजमरणबान्धव-
रोदनमिव सदिव कचितमपि ॥ ७९ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा०मो०नि०उ०अवि०वि०परमार्थगीता-
स्वद्वैतयुक्तिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७५ ॥

भाष्य आदि रूप) आत्मज्ञानप्रद शास्त्रका ही विचार करे । अध्यात्मशास्त्रके विचारसे विमुख न हों, इसीमें हमारा तात्पर्य है । इसी शास्त्रका अनुशीलन करें इसमें हमारा आग्रह नहीं है ॥ ७६ ॥

मनुष्य अविचाररूप अनर्थसे अपनी जिन्दगी बरबाद न करे । श्रवण आदि उपायसे उत्पन्न तत्त्वबोधसे सम्पूर्ण दृश्यको आत्मसात् करना चाहिए, बाधपूर्वक आत्मा द्वारा ग्रास करने योग्य बनना चाहिये । यहाँपर 'देये त्रा च' इस सूत्रसे साति प्रत्यय है जैसे कि 'ब्राह्मणसादिदमन्नं कर्तव्यम्' यहाँ पर है ॥७७॥

आत्मज्ञानके विषयमें आलसियोंको प्रोत्साहित करते हैं—'आयुषः' इत्यादिसे ।

आयुके बीते हुए एक क्षणको भी यदि कोई चाहे सुवर्ण आदिकी राशिके साथ सकल रत्नोंसे लौटा लूं, वापस कर लूं, तो पा नहीं सकता । ऐसी दुर्लभ आयुको जो वृथा गंवाता है उसके प्रमादका क्या ठिकाना है । उसके लिए खेद है, महाखेद है ॥ ७८ ॥

प्रत्यक्ष अनुभूत भी, अन्तःकरणसे उपहित जीवसे सहित भी तथा स्वप्नमें दैवात् दृष्ट अपने मरणपर चारों ओर बान्धवों द्वारा किये गये विलापकी तरह सत्-सा स्फुरित भी यह दृश्य सत् नहीं है, निपट मिथ्या ही है ऐसा ब्रह्माद्वैतका दिग्विजयका डिंडिमघोष है ॥ ७९ ॥

एक सौ पचहत्तर सर्ग समाप्त

षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

जगन्ति सन्त्यसंख्यानि भविष्यन्ति गतानि च ।
तत्कथाभिः कथं ब्रह्मन्प्रबोधयसि मामिमम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

जगत्स्वप्नेषु शब्दार्थसंबन्धोऽवगतस्त्वया ।
न नाम नच लोकेन व्यर्थं तत्कथनं ततः ॥ २ ॥

एक सौ छिहत्तर सर्ग

[सृष्टिके आरम्भमें चिदणुमें स्वप्नकी तरह ब्रह्माण्डोंका भान होता है इस विषयमें ब्रह्माजी द्वारा उक्त ब्रह्माण्डाख्यानका वर्णन]

यदि 'दृश्य असत् है' यों दृश्यके बाध द्वारा चिन्मात्रका परिशेष ही पुरुषार्थ है तो अज्ञान सहित वर्तमान ही दृश्य जगत्के बन्धनरूप होनेसे उसीकी निवृत्ति करना उचित है। अतीत तथा अनागत (भविष्यत्), प्रतीत न हो रहे तथा अवर्तमान जगतोंका परिमार्जन तो प्रकृतोपयोगी नहीं है। क्योंकि वे तो अप्रतीतिवश ही बन्धनभूत नहीं हो सकते हैं, इसलिए शास्त्रमें उनके जिक्रका कोई मतलब नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'जगन्ति'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, अतीत (भूत) और भविष्यत् असंख्य जगत् हैं उनके वृत्तान्तोंसे आप मुझे क्यों प्रबुद्ध करा रहे हैं यानी मुझे बोध करानेके लिए उनका उल्लेख उपयोगी नहीं है ॥ १ ॥

केवल वर्तमान दृश्यका ही शास्त्रमें उपन्यास करना चाहिये अतीत अनागत अन्य किसी जगत्के उपन्यासकी आवश्यकता नहीं है, यह आपके आक्षेपका निचोड़ निकलता है। वह ठीक नहीं है। पद और पदार्थका सम्बन्ध, व्याप्तिग्रह तथा दृष्टान्तसिद्धि आदि अतीत व्यवहारके अधीन हैं, अतीत जगत्के उपन्यासके बिना विचारात्मक शास्त्रमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। इसलिए अतीत, आगे होनेवाले ब्रह्माण्डोंका तथा वर्तमान अन्य ब्रह्माण्डोंका, शब्द-अर्थके सम्बन्ध ग्रह आदिमें उपयोग न होनेके कारण, उपन्यास नहीं करना चाहिये इतना ही आक्षेप करना उचित हो तो कीजिये यों अनादरसे उसका स्वीकार कर रहे-से भगवान् श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'जगत्०'** इत्यादिसे।

या कथाऽवगतात्मभ्यां शब्दार्थाभ्यां निगद्यते ।
बुध्यते सेतरा नाऽन्तः सैवेह व्यवहारिणी ॥ ३ ॥
यदा विदितवेद्यः संस्त्रिकालामलदर्शनः ।
भविष्यसि तदा तानि प्रत्यक्षेणैव भोत्स्यसे ॥ ४ ॥
स्वप्ने चिन्मात्रमेवाऽऽद्यं स्वयं भाति जगत्तया ।
यथा तथैव सर्गादौ नाऽत्राऽन्यदुपपद्यते ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शास्त्रमें जगत्‌रूप स्वप्नोंमें शब्द और अर्थका वाच्यवाचकभावसम्बन्ध क्या आपको ज्ञात नहीं हुआ ? इसलिए इस शास्त्रको सुनानेके लिए नियुक्त पुरुषने उनका कथन व्यर्थ नहीं किया ॥२॥

जो कथा सुनिश्चित वाच्यवाचकभाववाले शब्द-अर्थों द्वारा कही जाती है वही हृदयंगम होती, वही यहां व्यवहारमें उपयोगी होती है अन्य नहीं, यों केवल लौकिक बुद्धिके अनुसार आलोचन करनेपर आपने बहुत ठीक आक्षेप किया, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

यदि तत्त्वज्ञानियोंमें प्रसिद्ध त्रिकालमें निर्मल दर्शनवाले तत्त्वका पर्यालोचन करोगे तो सर्वत्र अपने ही द्रष्टा होनेके कारण अतीत, भविष्यत्, व्यवहित (व्यवधानमें स्थित), अतिदूरवर्ती अनन्त ब्रह्माण्डोंकी वर्तमान इस ब्रह्माण्डसे रञ्चमात्र भी विशेषता न होनेके कारण आपका यह आक्षेप उठ ही नहीं सकेगा, इस आशयसे कहते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

जब आप ज्ञात-ज्ञेय होकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान—तीनों कालोंमें निर्मल दृष्टिवाले होंगे तब उन सबको (अतीत, अनागत, व्यवहित, अतिदूरके ब्रह्माण्डोंको) प्रत्यक्षसे ही जानेंगे ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञानीकी वर्तमान अन्यान्य ब्रह्माण्डों तथा भविष्यत् ब्रह्माण्डोंमें पुनरावृत्तिकी शङ्काका निवारण करनेके लिए—पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड भी स्वप्नप्रपञ्चतुल्य होनेसे मूलाज्ञानके बाधसे बाधित होते हैं, यह प्रतिपादन करनेके लिए उनका भी शास्त्रमें उदाहरण देना आवश्यक ही है, ऐसा कहते हैं—**'स्वप्ने'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें आद्य चिन्मात्रका (परब्रह्म परमात्माका) ही स्वयं जगत्‌के रूपसे भान होता है वैसे ही अतीत, अनागत आदि सकल सृष्टियोंके आदिमें

अणावणावसंख्यानि तेन सन्ति जगन्ति खे ।
तेषां तान्व्यवहारौघान्संख्यातुं क इव क्षमः ॥ ६ ॥
अत्रैव मे पुरा प्रोक्तं मत्पित्रा पद्मजन्मना ।
पद्मरेणुमताख्यानं शृणु तत्कथयामि ते ॥ ७ ॥
पुरा पृष्टो मया ब्रह्मा जगज्जालमिदं कियत् ।
क वा भातीति वद मे ब्रह्मोवाच ततः स माम् ॥ ८ ॥

श्रीब्रह्मोवाच

ब्रह्मैवेदं मुने सर्वं जगदित्यवभासते ।
सतामनन्तं सत्त्वेन जगत्त्वेनाऽसतामपि ॥ ९ ॥
शुभं ममेदमाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
ब्रह्माण्डपिण्ड इत्युक्तं ब्रह्माण्डाख्यानमेव च ॥ १० ॥

चिन्मात्रका ही जगद्रूपसे भान होता है, केवल इतना अंश ही उनका उपयोगी है अन्य उनकी अनन्त विचित्रता प्रकृतके उपयोगी नहीं है ॥ ५ ॥

उनकी अनन्त विचित्रता क्यों प्रकृतोपयोगी नहीं है ऐसा यदि प्रश्न हो तो असंख्य होनेके कारण उनकी विचित्रताकी इयत्ताका शास्त्रमें वर्णन करना दुष्कर है, इस आशयसे कहते हैं—'अणावणा०' इत्यादिसे ।

आकाशमें परमाणु परमाणुमें असंख्य जगत् हैं, अतः उनके उन अनन्य व्यवहारोंका पूर्ण रूपसे वर्णन करनेकी किसमें क्षमता है ॥ ६ ॥

'अणु अणुमें असंख्य जगत् हैं' इस विषयमें कमलके परागसे व्याप्त शरीरवाले मेरे पिता श्रीब्रह्माजीने जो आख्यान पहले कभी मुझसे कहा था उसे मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ ७ ॥

पहले किसी समय मैं श्रीब्रह्माजीसे पूछ बैठा कि भगवन्, यह जगज्जाल कितना विशाल है और कहाँपर इसका भान है यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये । इसपर श्रीब्रह्माजीने मुझसे कहा ॥ ८ ॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—हे मुने, ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत्रूपसे भासता है । ज्ञानियोंकी दृष्टिमें ब्रह्मसत्तासे यह अनन्त है और अज्ञानियोंकी दृष्टिमें भी जगद्रूपसे अनन्त है ॥ ९ ॥

कानोंके लिए आभूषण स्वरूप मेरे इस सुन्दर आख्यानको, जो ब्रह्माण्ड

अस्ति खे खादनन्यात्मा चिद्व्योमपरमाणुकः ।
शून्यरूपमिवाऽऽकाशे शुद्धः स्पन्द इवाऽनिले ॥ ११ ॥
सोऽपश्यदात्मना स्वप्न इव जीवत्वमात्मनि ।
शून्यरूपमिवाऽऽकाशं पवनः स्पन्दनं यथा ॥ १२ ॥
आकाशरूपमजहदेव जीवस्ततः स्वयम् ।
अपश्यदहमित्येव रूपमाकाशरूपकम् ॥ १३ ॥
अहंकारस्त्वहंबुद्धिरित्येवाऽपश्यदात्मनि ।
एकनिश्चयनिर्माणमयी मायानुरूपिणी ॥ १४ ॥
बुद्धिर्मनोऽहमित्येवं स्वप्ने पश्यदसन्मयम् ।
नमयन्त्यात्मनाऽऽत्मानमविकल्पं विकल्पनैः ॥ १५ ॥
अपश्यत्तन्मनः स्वप्ने देहे पञ्चेन्द्रियं ततः ।
अनाकारं घनाकारं स्वप्नाद्रित्वमिवाऽज्ञधीः ॥ १६ ॥

पिण्ड और ब्रह्माण्डाख्यान इन यथार्थ नामोंसे प्रसिद्ध है, सुनो ॥ १० ॥

आकाशमें शून्यत्वके समान और वायुके शुद्ध स्पन्दनके तुल्य आकाशसे अभिन्नस्वरूप चिदाकाश-परमाणु है। उसने (चिदाकाश-परमाणुने) अपने तात्त्विकस्वरूपके अदर्शनरूप निद्रावश स्वप्नकी तरह अपने आत्मामें अपनेसे समष्टिजीवत्व वैसे ही देखा जैसे आकाश अपनेमें स्वाभिन्न शून्यरूप देखता है या जैसे वायु अपनेमें स्पन्दन देखता है ॥ ११,१२ ॥

तदुपरान्त अपनी अविकारिता, असंगता, पूर्णता और सूक्ष्मताका त्याग न कर रहे उस जीवने आकाशरूप अहंकाररूपसे अपना स्वरूप देखा ॥ १३ ॥

उस अहंकाररूपने अपनेमें 'मैं बुद्धि हूँ' यों अपनेको बुद्धिरूपसे देखा वह बुद्धि एक निश्चय निर्माणमयी (निश्चयात्मिका) असत् पदार्थोंकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेके कारण मायाकी अनुरूपिणी है ॥ १४ ॥

विकल्पाभासोंके आरोपण द्वारा अविकल्प आत्माको स्वयं निम्न स्तर पर पहुँचा रही बुद्धिने स्वप्नमें 'मैं मन हूँ' यों अपनेको असन्मय मनरूप देखा ॥ १५ ॥

तदनन्तर उक्त निराकार मनने स्वप्नमें देहवर्ती पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको वैसे ही देखा जैसे कि अज्ञानावृत जीव-चैतन्य स्वप्नमें निराकार आत्मचैतन्यको घनाकार स्वप्नपर्वतके रूपमें देखता है ॥ १६ ॥

ददर्श स मनोदेहो वपुस्त्रिभुवनात्मकम् ।
खात्मा खात्मैव निर्भित्ति भित्तिभासुरमाततम् ॥ १७ ॥
अनेकभूतवलितं नानास्थावरजंगमम् ।
कलनाकालकलितं कल्पितान्योन्यसंगमम् ॥ १८ ॥
स्वप्ने प्रत्येकमेवाऽत्र पश्यत्याऽऽदर्शबिम्बितम् ।
इव त्रैलोक्यनगरं नवरङ्गमनोहरम् ॥ १९ ॥
अथ प्रत्येकमत्राऽपि नवरङ्गमनोहरम् ।
त्रिजगद्वेत्ति हृदये स्वादर्श इव बिम्बितम् ॥ २० ॥
परमाणोः परमाणोरिति सन्ति तनूदरे ।
अतनूनि जगन्त्युच्चैर्घनानीव च तान्यपि ॥ २१ ॥
अविद्येयमनन्तेयमविद्यात्वेन चेतिता ।
ब्रह्मत्वेन परिज्ञाता भवति ब्रह्म निर्मलम् ॥ २२ ॥

उस मनदेह चिदाकाश परमाणुने इस प्रकार समष्टिरूप होकर भित्तिशून्य (भेदशून्य) होते हुए भी भित्तियोंसे पूर्ण (भेदपूर्ण) विस्तृत त्रिभुवनस्वरूप विराट शरीरको, जो अनेकों भूतोंसे वेष्टित, विविध स्थावर-जंगम जीवोंसे युक्त, कल्पना और कालसे व्याप्त तथा परस्पर अनेकोंके संगकी कल्पना करनेवाला है, देखा ॥१७,१८॥

इस स्वप्नमें प्रत्येक व्यष्टि जीव दर्पणमें प्रतिबिम्बित ऐसे, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, भोक्ता, भोग्य, भोग, कर्त्ता, कार्य और क्रिया—इन तीन त्रिपुटी रूप नौ रंगोंसे मनोहर त्रैलोक्यरूप नगरको देखता है ॥ १९ ॥

तदनन्तर स्वप्नके समान इस जाग्रत्में भी प्रत्येक व्यष्टि जीव आदर्श तुल्य हृदयमें प्रतिबिम्बित ऐसे, पूर्वोक्त त्रिपुटीरूपी नौ रंगोंसे मनोहर इस त्रिजगत्-का अनुभव करता है ॥ २० ॥

इस प्रकार जीव-भेदोंसे विभिन्नरूप सब चित्परमाणुओंके अति सूक्ष्म उदरमें भी इस प्रकार (वर्णित रीतिसे) कल्पित महान् जगत् विद्यमान हैं। और वे जीवसमूहों और पृथिवी आदिके संघातोंसे निविडसे हैं ॥ १ ॥

अविद्यारूपसे ज्ञात, यह सब स्वतत्त्वाज्ञानरूपा अविद्या ही है ब्रह्मरूपसे परिज्ञात यह निर्मल ब्रह्म ही हो जाती है ॥ २२ ॥

एवं द्रष्टाऽपि यः स्वप्नजालं दृष्टे न किंचन ।
कोऽत्र द्रष्टा कुतो दृश्यं क्व द्वैतं क्व च कारणम् ॥ २३ ॥
सर्वं निःशान्तमाभातं खात्म निर्भित्ति केवलम् ।
ब्रह्मात्मनि स्थितं स्वच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥ २४ ॥
ब्रह्माण्डलक्षनिचयाः परमात्मनीति
नित्यं स्थिता निपुणमन्यवदप्यनन्ये ।
वारिण्यवारितविसारितरङ्गवेगा-
ल्लोलं स्थिताम्बुपरमाणुचया यथैते ॥ २५ ॥

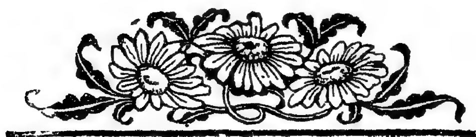
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा०मो०नि०उ०ब्रह्मगीतासु ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार ब्रह्मरूपसे देखनेपर तो जो जगत्स्वप्नजालका द्रष्टा है वह भी कुछ नहीं है । यहाँपर कौन द्रष्टा है, कहाँसे दृश्य है, कहाँ द्वैत है और कहाँ द्वैतका कारण है ॥ २३ ॥

केवल आकाशरूप पूर्णरूपसे प्रशान्त आदि-अन्तवर्जित स्वच्छ भेद-शून्य ब्रह्म ही सकल रूपसे चारों ओर भासित हो आत्मामें स्थित है ॥ २४ ॥

जैसे समुद्रमें बड़ी बड़ी तरङ्गोंके अनिवार्य वेगवश चञ्चल हुए जलके असंख्य परमाणुसमूह स्थित होते हैं वैसे ही जब तक अज्ञाननिद्रा है तब तक लाखों ब्रह्माण्डोंकी राशियाँ नित्य अनन्यरूप (अभिन्नरूप) परमात्मामें भली भाँति स्थित हैं ॥ २५ ॥

एक सौ छिहत्तर सर्ग समाप्त



सप्तसप्तत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अकारणकमेवेदं जगद्ब्रह्म परात्पदात् ।
यदि प्रवर्तते नाम स्वप्नसंकल्पनादिवत् ॥ १ ॥
तदकारणतः सिद्धेः संभवेऽन्यदकारणम् ।
कथं न जायते वस्तु क्वचित्किंचित्कदाचन ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

यद्यथा कल्पितं येन स संपश्यति तत्तथा ।
कल्पनैवाऽन्यथा न स्यात्तादृक्कारणविच्युतेः ॥ ३ ॥

एक सौ सतहत्तर सर्ग

[कल्पनासे कारणसहित किन्तु वस्तुस्थितिसे (वास्तविकतासे) अकारण यह जगत् अज्ञानसे स्वप्न-तुल्य है और ज्ञानसे ब्रह्म ही है, यह वर्णन]

यह स्वप्नतुल्य सृष्टि अकारण ही है, ऐसा पीछे अनेक बार जो कह आये हैं उसपर श्रीरामचन्द्रजी गेहूँ, धान आदि कार्यकी भी कृषि, वृष्टि आदि कारणके बिना ही उत्पत्ति होगी यों उत्पत्ति-प्रसङ्गपर आशङ्का करते हैं—**'अकारणम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, यदि परमपदसे यह जगद्रूप ब्रह्म स्वप्न, संकल्प आदिके समान निष्कारण ही प्रवृत्त होता है तो अकारण ही सकल अभिलषित पदार्थोंकी सिद्धि होनेपर अन्य गेहूँ, धान आदि खेतिहरोंकी कोई वस्तुएँ कभी बीज, जोतने आदि कारणके बिना ही क्यों नहीं होतीं ॥ १,२ ॥

हम बीज और अंकुर आदिकी कल्पनाप्रसूत कार्य-कारणताका, जो व्यवहारकी व्यवस्था करनेवाली है, निवारण नहीं करते, किन्तु जगत्में सत्यताके स्थापनसे तत्त्वज्ञानकी व्यर्थताका प्रतिपादन करनेवाले ब्रह्मातिरिक्त प्रधान, परमाणु आदि अश्रौत (श्रुति द्वारा अप्रतिपादित) कारणका, जिसकी विभिन्न वादियोंने कपोलकल्पना कर रक्खी है, निराकरण करते हैं जिससे कि जगत्की एकमात्र ब्रह्मविवर्तताकी सिद्धिसे तत्त्वज्ञानसे बाध होनेपर कैवल्यसिद्धि हो इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उक्त शङ्काका समाधान करते हैं—**'यद्यथा'** इत्यादिसे ।

यथेदं कल्पितं दृश्यं मनसा येन तत्तथा ।
वेत्त्यसौ यादृगन्येन कल्पितं वेत्त्यसौ तथा ॥ ४ ॥
कल्पनाऽकल्पनात्मैकं तच्च ब्रह्म स्वभावतः ।
कल्पनात्मेदृशं जन्तुर्यथा केशनखादिमान् ॥ ५ ॥
अकारणपदार्थत्वं सकारणपदार्थता ।
ब्रह्मणि द्वयमप्यस्ति सर्वशक्त्यात्म तद्यतः ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अनादि व्यवहारमें जिसने जिस जिस पदार्थकी जैसे दृढाभ्याससे अटल (कल्पित कार्यकारणभाव बद्ध) कल्पना की वह उसको वैसे ही कार्य या कारणरूपसे देखता है। अन्यथा कल्पित कार्यकारणभावको तोड़नेसे व्यवहारमें भी व्यावहारिक नियमोंका अपलाप होनेपर कोई कल्पना ही नहीं होगी, अतः अभ्यासके बिना ही सबकी मुक्तिका प्रसङ्ग आवेगा ॥ ३ ॥

अतएव कल्पना करनेवाले पुरुषकी बुद्धिके अनुसारसे व्यवस्थित ही वस्तु अनुभवमें आती है, ऐसा कहते हैं—**'यथेदम्'** इत्यादिसे ।

जिस पुरुषने मनसे इस दृश्यकी जिस तरहकी कल्पना की वह उसको वैसा जानता है और दूसरेने जिस तरहकी कल्पना की वह वैसा अन्यरूप जानता है। अतएव भाट्टवार्तिकमें कहा है 'परिवाट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ । कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विडम्बनाः ।' अर्थात् एक ही स्त्रीशरीरमें परिव्राजककी 'शव' बुद्धि, कामी पुरुषकी 'कामिनी' बुद्धि और कुत्तेकी 'भक्ष्य' बुद्धि यों तीन बिडम्बनाएँ होती हैं ॥ ४ ॥

तो क्या बिना किसी आलम्बनके ही कल्पना होती है ? इस प्रश्नपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'कल्पना०'** इत्यादिसे ।

जैसे कल्पनात्मक चेतन पुरुष केश, नख आदि अचेतन युक्त प्रतीत होता है वैसे ही कल्पना-कल्पनात्मक स्वभाव एक ब्रह्म ही यह जगत् है यानी ब्रह्ममें अचित् अंश कल्पित और चित् अंश अकल्पित है ये दोनों मिले अंश ही जगत् हैं ॥५॥

अतएव वास्तविक दृष्टिसे अकारण पदार्थता और कल्पना दृष्टिसे सकारण पदार्थता दोनोंका ही ब्रह्ममें अविरोधसे अस्तित्व है, क्योंकि वह सर्वशक्तिस्वरूप है ॥ ६ ॥

यतः स्याद् ब्रह्मणस्त्वन्यत्क्वचित्किंचित्कदाचन ।
तत्कारणविकल्पेन संयोगस्तस्य युज्यते ॥ ७ ॥
यत्र सर्वमनाद्यन्तं नानानानात्म भासते ।
ब्रह्मैव शान्तमेकात्म तत्र किं कस्य कारणम् ॥ ८ ॥
नेह प्रवर्तते किंचिन्न च नाम निवर्तते ।
स्थितमेकमनाद्यन्तं ब्रह्मैव ब्रह्म खात्मकम् ॥ ९ ॥
किं कस्य कारणं केन किमर्थं भवतु क्व वा ।
किं कस्य कारणं केन किमर्थं माऽस्तु वा क्वचित् ॥ १० ॥
नेह शून्यं न वा शून्यं न सन्नाऽसन्न मध्यता ।
विद्यते न महाशून्ये न नेति न न नेति च ॥ ११ ॥

यदि ब्रह्म उभयात्मक (सकारण पदार्थरूप और अकारण पदार्थरूप) है तो आपने अकारण पदार्थता पक्षकी ही क्यों स्थापना की ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'यतः' इत्यादिसे ।

यदि अज्ञानीकी दृष्टिसे ब्रह्मसे अन्य (भिन्न) कहींपर कुछ भी कदाचित् प्रतीयमान हो तो कारणोंके विकल्पसे उसका संयोग ठीक है, मेरे उसका प्रतिपादन न करनेमें यही भावहै कि तत्त्वज्ञान ही सप्रयोजन है एकमात्र तात्त्विक दृष्टिके पक्षपातसे मैंने उसकी (अकारणपदार्थता पक्षकी) स्थापना की है दूसरा रहस्य कुछ नहीं है ॥ ७ ॥

जहाँपर तत्त्वदृष्टिसे नाना अनानारूप सब कुछ आदि-अन्तरहित शान्त अद्वितीय ब्रह्म ही भासता है वहाँपर कौन किसका कारण है ॥ ८ ॥

न तो तब ज्ञानकालमें कुछ प्रवृत होता है और न कुछ निवृत्त होता है एक अद्वितीय आदि अन्त विहीन चिदाकाशात्म ब्रह्म ही केवल निज स्वरूपमें स्थित है ॥ ९ ॥

जब यथार्थमें अकाणता ही है और कारणकी केवल कल्पना ही है तब कौन किसका किससे किस प्रयोजनके लिए किस अधिकरणमें कारण होगा अथवा कौन किसका किससे किसलिए किसमें कारण न होगा ॥ १० ॥

इस ब्रह्ममें शून्यता और अशून्यता उभय विधका अभाव है, क्योंकि

इदं न किंचित्किंचिद्वा यन्नाभाऽस्त्यथ नाऽस्ति वा ।
सर्वं ब्रह्मैव तद्विद्धि यत्तथैवाऽतथैव तत् ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच

अतज्ज्ञविषये ब्रह्मन्कार्ये कारणसंभवे ।
किमकारणतात्म स्यात्कथं वेति वद प्रभो ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अतज्ज्ञो नाम नाऽस्त्येव तावत्तज्ज्ञजनं प्रति ।
असतो व्योमवृक्षस्य विचारः कीदृशस्ततः ॥ १४ ॥

अशून्यता शून्यकी अपेक्षासे होती हैं अतएव न शून्य है, न अशून्य है, न सत् है, न असत् है और न सदसत् है। महाशून्यमें 'ननेति ननेति' यों कथन होता है ॥११॥

सकल जगत्की ब्रह्मैकघनतासे शून्यता है, शून्यैकरसतासे शून्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

जो कुछ नहीं है, शून्य है, अथवा कुछ है; जो है अथवा नहीं है ऐसे इस जगत्को आप ब्रह्म ही जानिये, क्योंकि वह ब्रह्म अध्यारोपमें सबसे अनुगत होनेके कारण वैसा ही है और अपवादमें सबसे व्यावृत्त होनेके कारण अतथा (वैसा नहीं) ही है ॥ १२ ॥

जैसे अध्यारोप और अपवाद अज्ञोंकी दृष्टिसे हैं तत्त्वज्ञानी पुरुष अज्ञानियोंको प्रबुद्ध करनेके लिए उनका अङ्गीकार करते हैं वैसे ही अज्ञानियोंके संमत प्रधान, परमाणु आदिसे जन्य कारण-भावका संभव भी वे ज्ञानी क्यों नहीं स्वीकार करते, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'अतज्ज्ञ०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, अज्ञानियोंके ज्ञानगोचर पृथिवी, जल, तेज, वायु आदिरूप कार्यमें उनके अवयवोंकी परम्पराकी चरम सूक्ष्मतारूप परमाणु और सत्त्व आदि गुणरूप कारणोंका संभव होनेपर जन्य पदार्थ अकारण क्यों है, अथवा अद्वितीय ब्रह्मका परिशेष कैसे है ? हे प्रभो, यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ १३ ॥

हाँ, होता ऐसा, यदि ब्रह्मसे भिन्न प्रधान, परमाणु आदिकी कल्पना करनेवाला कोई अज्ञानी सिद्ध होता जब 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इस श्रुति द्वारा प्रदर्शित रीतिसे

एकबोधमयाः शान्तविज्ञानघनरूपिणः ।
तज्ज्ञास्तेषामसद्रूपे कथमर्थे विचारणा ॥ १५ ॥
अतज्ज्ञत्वं च बोधेऽन्तरवभाति तदज्ञता ।
गते स्वप्नसुषुप्तेऽन्तरिव निद्रात्म केवलम् ॥ १६ ॥

ब्रह्म ही अपने स्वरूपके अज्ञानसे अज्ञ होता है उसीके तत्त्वज्ञानमें उपयोगी शास्त्र तब अध्यारोप और अपवादरूप युक्तिसे ही तु तत्त्वज्ञानमें उपयुक्त होता है न कि प्रधान, परमाणु आदिकी कल्पनासे यों तु वा कां विषमता है इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजीके प्रश्नका समाधान क ऽसन्न मध्यतज्ज्ञः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—'वत्स, तत्त्वज्ञा... दृष्टिमें अज्ञानी कोई अतिरिक्त है ही नहीं । ऐसी स्थितिमें असत् आकाश वृक्षके विषयमें विचार करना कैसा ? ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञानीके प्रति अज्ञानी क्यों नहीं है ? इस प्रश्नपर कहते हैं— **'एकबोधमयाः'** इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी लोग एकबोधमय, शान्त विज्ञानघनरूपी हैं, क्योंकि 'तद्यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा विज्ञानघन एव प्रज्ञानघन एव' (जैसे नमकके ढेलेका न कुछ बाहर है न भीतर है वह साराका सारा रसघन है वैसे ही यह आत्मा विज्ञानघन ही है प्रज्ञानघन ही है) ऐसी श्रुति है । इसलिए उनकी असत् पदार्थके विषयमें विचारणा कैसे संभव है ॥१५॥

ब्रह्मसे अतिरिक्त तत्त्वज्ञानी नहीं है ऐसी संभावना कैसे करते हैं, क्योंकि तार्किक और पामर जन 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' 'मैं ब्रह्मज्ञानी नहीं हूँ' यों अपनेमें ब्रह्मभिन्नता और अब्रह्मज्ञताका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, ऐसी स्वयं आशङ्काकर उक्त अनुभवसे ही तार्किक और अज्ञोंकी ब्रह्मताका समर्थन करते हैं—**'अतज्ज्ञत्वम्'** इत्यादिसे ।

अज्ञान आदि सकल जगत्के आरोपका अधिष्ठान जो चिन्मात्र है वही ब्रह्म है । और उसका 'मैं अज्ञ हूँ' यों अनुभव करनेवाले तार्किककी आत्मामें वारण कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञता प्रबोधरूप आत्माके अन्दर भासित होती है । यदि वैशेषिकों द्वारा कल्पित यह आत्मा जड़ है तो वह आत्मामें अज्ञानका अनुभव कैसे करेगा ? अतः आत्मा अज्ञानका अधिष्ठान चिद्रूप है यह इसी अनुभवसे सिद्ध है । और जगत् केवल अज्ञानात्मा ही, है इसलिए उसका अज्ञ है । जैसे स्वप्न

तथाप्यभ्युपगम्याऽपि मूर्खनिश्चय उच्यते ।
मयेदमणु सर्वात्म यस्माद् ब्रह्म निरामयम् ॥ १७ ॥
सन्त्यकारणका एव सन्ति कारणजास्तथा ।
भावाः संविद्यथा यस्मात्कल्प्यते लभ्यते तथा ॥ १८ ॥

और सुषुप्ति दोनों निद्राके अन्दर निद्राङ्गताको प्राप्त हुए केवल निद्रारूप ही हैं उनका स्वरूप निद्रासे भिन्न नहीं है वैसे ही जगत्का स्वरूप भी अधिष्ठान चिद्रूपसे अतिरिक्त नहीं है। ज्ञानस्वभाव आत्मामें स्वभावविरुद्ध अज्ञान आरोपके बिना नहीं रह सकता, इसलिए अज्ञान आदि जगत्के आरोपकी अधिष्ठानता आत्मामें इसी अनुभवसे सिद्ध है, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

यदि अज्ञानादि जगत्की अधिष्ठानतारूप सर्वात्मकता ब्रह्मका लक्षण हो तो ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होनेपर वह अब्रह्म ही होगा, ऐसी आशङ्का उठनेपर कहते हैं—**'तथापि'** इत्यादिसे।

यद्यपि अज्ञानादि जगत्की अधिष्ठानतारूप सर्वात्मकता ही ब्रह्मका लक्षण है तथापि मूर्ख जनताको बोधित करनेके लिए मूर्खबुद्धिका अनुसरण कर शुद्ध ब्रह्मको समझानेके लिए मैंने यह ब्रह्मका तटस्थलक्षणरूप अज्ञनिश्चय कहा है ब्रह्मका शुद्ध निरामय आनन्दैकरसत्वरूप स्वरूपलक्षण तो अति सूक्ष्म होनेसे अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आ सकता है ॥ १७ ॥

अज्ञानीकी बुद्धिके अनुसार जगत्को अन्यसा मानकर सृष्टिके आदिमें कारण है ऐसा स्वीकार करनेपर भी यक्षके अनुरूप बलि होती है इस न्यायके अनुसार मिथ्याभूत प्रपञ्चकी मिथ्या माया ही कारण होगी फिर भी वास्तविक अद्वैतकी क्षति नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'सन्ति'** इत्यादिसे।

शुक्तिरजत, मरुनदी, रज्जुसर्प आदि पदार्थ अकारण ही हैं। संवित् द्वारा उनकी कारणजन्यत्वेन कल्पना करनेपर वे सकारण हैं अन्यथा कल्पना करने-पर अकारण हैं यों मिट्टीसे निर्मित गौरी और गणेशकी मातृता और पुत्रताके तुल्य कल्पनाके अनुसार ही उसकी व्यवस्था है। संवित्की जैसे कल्पनाकी जाती है वैसी ही अकारणता या सकारणताकी प्राप्ति होती है ॥ १८ ॥

सर्वकारणसंशान्तौ सर्वानुभवशालिनाम् ।
सर्गस्य कारणं नास्ति तेन सर्गस्त्वकारणः ॥ १९ ॥
हृदयंगमतात्यक्तमीश्वरादि प्रकल्प्यते ।
यदत्र किंचिद्दुःस्वादु व्यर्थं वाग्जालमेव तत् ॥ २० ॥
अन्यथाऽनुपपत्त्यैव स्वप्नाभा कलनादृते ।
स्थूलाकारात्मिका काचिन्नास्ति दृश्यस्य दृश्यता ॥ २१ ॥
स्वप्नपृथ्व्याद्यनुभवे किमबुद्धस्य कारणम् ।
चित्स्वभावादृते ब्रूहि स्वप्नार्थो नाम कीदृशः ॥ २२ ॥

तत्त्वदृष्टिसे सदा अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म ही है कदाचित् भी अणुमात्र भी इसमें हेर फेर नहीं है इसलिए सृष्टिके कारणका (परमाणु आदिका) कोई निरूपण नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सकल कारणोंकी निवृत्ति होनेपर सकल तत्त्ववेत्ताओंकी दृष्टिमें सृष्टिका कोई कारण नहीं है । इससे सृष्टि अकारण है ॥ १९ ॥

इस प्रकारके स्वप्न, गन्धर्वनगर, मरुमरीचिका सदृश जगत्में सत्यता सिद्ध करनेके आग्रहसे वैशेषिक आदि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध मायोपहित ब्रह्मसे भिन्न तटस्थ ईश्वर, प्रधान, परमाणु कुछ कारणकी कल्पना करते हैं पर वह प्रत्यक्ष श्रुति और विद्वानोंके अनुभवसे विरुद्ध होने और वेदान्तशास्त्रमें विविध युक्तियोंसे निराकृत होनेके कारण कड़ुवा, सृष्टि करनेवाले ईश्वर अथवा भोग करनेवाले जीवका पुरुषार्थप्रद न होनेसे निरर्थक, अतएव ज्ञानियोंका अहृदयंगम (अरुचिकर) वृथा कण्ठशोषणकरनेवाला वाग्जाल (वाग्विलास) ही है ॥ २० ॥

ज्ञानबाध्यताकी अन्यथा उपपत्ति न होनेके कारण भी जगत् स्वप्नतुल्य ही है, इसलिए उसके लिए कार्यकारण-कल्पनाका अवसर नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**अन्यथानुपपत्त्या**' इत्यादिसे ।

ज्ञानबाध्यताका अन्यथा संभव न होनेसे ही कल्पनाके सिवा दृश्यकी स्वप्नतुल्य स्थूलाकाररूप कोई दृश्यता नहीं है ॥ २१ ॥

उसी बातका विशदीकरण करते हैं—'**स्वप्न०**' इत्यादिसे ।

स्वप्नार्थो ह्यपरिज्ञातो महामोहभरप्रदः ।
परिज्ञातो न मोहाय यथा सर्गास्तथैव च ॥ २३ ॥
शुष्कतर्कहठावेशाद्यद्वाऽप्यनुभवोज्झितम् ।
कल्प्यते कारणं किंचित्सा मौर्ख्याभिनिवेशिता ॥ २४ ॥
अग्नेरौष्ण्यमपां शैत्यं प्राकाश्यं सर्वतेजसाम् ।
स्वभावो वाऽखिलार्थानां किमबुद्धस्य कारणम् ॥ २५ ॥
किं ध्यातृशतलब्धस्य ध्येयस्यैकस्य कारणम् ।
किंच गन्धर्वनगरे पुरे भित्तिषु कारणम् ॥ २६ ॥

अप्रबुद्ध (सुप्त) पुरुषके स्वप्नके पृथिवी आदि पदार्थोंके अनुभवमें क्या कारण है ? चित्स्वभावके सिवा स्वाप्न पदार्थ क्या है, कहिये ॥ २२ ॥

स्वाप्न पदार्थ जब तक अज्ञात रहता है यानी यह स्वप्न है वास्तव नहीं है यों ज्ञात नहीं होता है तभीतक महामोहराशिका प्रदान करता है जब यह स्वप्न है यों ज्ञात हो जाता है तब मोह नहीं करता वैसे ही सर्ग भी जबतक उसकी वास्तविकताका ज्ञान नहीं होता तभी तक मोहप्रद है उनकी असत्यताका ज्ञान होनेपर मोह नहीं करते हैं ॥ २३ ॥

शुष्क तर्कके दुराग्रहसे अनुभवमें आरूढ़ न होनेवाला जो यत् किञ्चित् कारण (प्रधान, परमाणु आदि) कल्पित होता है, वह मूर्खतावश एकमात्र दुराग्रह ही है ॥ २४ ॥

अग्निकी उष्णता, जलकी शीतलता, सकल तेजोंकी प्रकाशता जैसे स्वभाव है वैसे ही अज्ञात ब्रह्मका स्वभाव ही सब पदार्थोंका कारण है । भाव यह कि यदि कारण अपेक्षित है तो अज्ञानोपहित आत्माका स्वभाव ही कारण हो ॥ २५ ॥

मनोरथसे कल्पित नगरकी तरह ध्याताके भेदसे व्यवस्थित आकारवाला होनेके कारण भी इसका सर्वसाधारण एक कारण नहीं कहा जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'किम्'** इत्यादिसे ।

सैकड़ों ध्यानकर्त्ताओं द्वारा प्राप्त हुए एक ध्येयका (ध्यानयोग्यका) क्या कारण है ? और गन्धर्वनगर, स्वप्नपुर और भित्तियोंमें क्या कारण है ॥ २६ ॥

धर्माद्यमुत्राऽमूर्तत्वान्मूर्ते देहे न कारणम् ।
देहस्य कारणं किं स्यात्तत्र सर्गादिभोगिनः ॥ २७ ॥
भित्त्यभित्त्यादिरूपाणां ज्ञानस्य ज्ञानवादिनः ।
किंकारणमनन्तानामुत्पन्नध्वंसिनां मुहुः ॥ २८ ॥
स्वभावस्य स्वभावोऽसौ किल कारणमित्यपि ।
यदुच्यते स्वभावस्य सा पर्यायोक्तिकल्पना ॥ २९ ॥
तस्मादकारणा भ्रान्तिर्भावा भान्ति च कारणम् ।
अज्ञे ज्ञे त्वखिलं कार्यं कारणाद्भवति स्थितम् ॥ ३० ॥

धर्म-अधर्म तो अमूर्त होनेके कारण ही मूर्त देह आदिके उपादान कारण नहीं हो सकते हैं यों कर्ममीमांसकोंके पक्षका भी निराकरण करते हैं—**'धर्मादि'** इत्यादिसे ।

अमूर्त (निराकार) होनेके कारण धर्म आदि परलोकमें मूर्त साकारदेहके कारण नहीं हैं फिर स्वर्ग आदिका भोग करनेवाले शरीरका क्या कारण होगा ॥२७॥

विज्ञानवादीके मतमें भी अमूर्त और क्षणिक विज्ञानमें मूर्त अक्षणिककी कारणता दुर्वच है, ऐसा कहते हैं—**भित्त्य०'** इत्यादिसे ।

विज्ञानवादीका ज्ञान भी भित्तियाँ (विशाल दीवार आदि) और अभित्तियाँ उनसे विलक्षण परमाणु आदिरूप मुहुर्मुहुः उत्पन्न होकर ध्वंस होनेवाले अनन्त पदार्थोंका उपादान कारण नहीं है ? ॥ २८ ॥

स्वभाववादी चार्वाकके मतका निराकरण करते हैं—**'स्वभावस्य'** इत्यादिसे ।

अङ्कुरादि स्वभावका काल, खेत, जलादि सहित स्वभाव कारण है ऐसी चार्वाकोंकी उक्ति है । बीज और स्वभाव इन दो पदोंके अर्थमें पार्थक्य न होनेसे 'अङ्कुरस्वभावस्य' इस स्वभावपदमें षष्ठ्यर्थका सम्बन्ध प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंके पर्याय होनेके कारण दोनोंका साथ प्रयोग नहीं हो सकता अतः यह कल्पना व्यर्थ है ॥ २९ ॥

इससे परिशेषात् हमारा अभिमत सिद्धान्त सिद्ध हुआ, यों दिखलाते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इसलिए सब पदार्थ और उनके कारण ये सब अज्ञानीमें निष्कारण भ्रान्ति ही है । तत्त्वज्ञमें तो सन्मात्ररूपसे स्थित ही कार्य सन्मात्ररूप कारणसे ही

यद्वत्स्वप्नपरिज्ञानात्स्वप्ने द्रव्यापहारिभिः ।
न दुःखाकरणं तद्वज्जीवितं तत्त्वदर्शनात् ॥ ३१ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं चिद्गगनं त्विदम् ।
स्वरूपं स्वप्नवद्भाति नाऽन्यदत्रोपपद्यते ॥ ३२ ॥
अन्या न काचित्कलना दृश्यते सोपपत्तिका ।
अस्मान्न्यायादृते कस्माद् ब्रह्मैवैषाऽनुभूतिभूः ॥ ३३ ॥
ऊर्म्यावर्तद्रवत्वादि शुद्धे जलघने यथा ।
तथेदं सर्गपर्यायं ब्रह्मणि ब्रह्म भासते ॥ ३४ ॥
स्पन्दावर्तविवर्तादि निर्मले पवने यथा ।
तथाऽयं ब्रह्मपवने सर्गस्पन्दोऽवभासते ॥ ३५ ॥

चित्के चमत्काररूपसे आविर्भूत होता है और तिरोहित होता है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह भाव है ॥ ३० ॥

अतएव ज्ञानीको अकृत करोड़ों अपराधोंसे भी मनमें दुःख नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**यद्वत्**' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें डाकुओं द्वारा किया गया वध, बन्धन आदि प्रबुद्ध पुरुषको स्वप्न मिथ्यात्वका ज्ञान होनेसे दुःखदायी नहीं होता वैसे ही तत्त्वज्ञानके अनन्तर जीवन भी दुःखप्रद नहीं होता ॥ ३१ ॥

सृष्टिके आदिमें उत्पन्न नहीं हुआ यह दृश्य चिदाकाशस्वरूप स्वप्नके तुल्य भासता है, इसलिए इसमें अन्य (दुःख) और दुःखके कारणकी उपपत्ति नहीं होती है ॥ ३२ ॥

इस युक्तिके सिवा और कोई कल्पना युक्तियुक्त नहीं दिखाई देती, इसलिए यह जगत्कल्पना ब्रह्मानुभूति ही है, यह अर्थ है ॥ ३३ ॥

जैसे शुद्ध जलराशिमें लहर, भँवर, द्रवता आदि भासते हैं वैसे ही ब्रह्ममें यह सर्गपर्याय (सर्गापरनामक) ब्रह्म भासता है ॥ ३४ ॥

जैसे निर्मल वायुमें स्पन्दन, आवर्त, विवर्त आदि भासते हैं वैसे ही ब्रह्मरूपी वायुमें सृष्टिरूपी स्पन्द भासता है ॥ ३५ ॥

यथाऽनन्तत्वसौषिर्यशून्यत्वादि महाम्बरे ।
स सन्नासन्नबोधात्म तथा सर्गः परापरः ॥ ३६ ॥
एषु निद्रादिकेष्वेते सूपलब्धा अपि स्फुटम् ।
भावा असन्मया एवमेतेऽनन्यात्मका यतः ॥ ३७ ॥
सर्गप्रलयसंस्थानान्येवमात्मनि चिद्घने ।
सौम्ये स्वप्नसुषुप्ताभा शुद्धे निद्राघने यथा ॥ ३८ ॥
स्वप्नात्स्वप्नान्तराण्यास्ते निद्रायां मानवो यथा ।
सर्गात्सर्गान्तराण्यास्ते स्वसत्तायामजस्तथा ॥ ३९ ॥
पृथ्व्यादिरहितोऽप्येष ब्रह्माकाशो निरामयः ।
अतद्वांस्तद्वदाभाति यथा स्वप्नानुभूतिषु ॥ ४० ॥
स्थिता यथाऽस्यां पश्यन्त्यां शब्दा घटपटादयः ।
जाताजाताः स्थिताः सर्गास्तथानन्ये महाचिति ॥ ४१ ॥

जैसे महाकाशमें अनन्तता, छिद्रता, शून्यता आदि धर्म हैं वे सब आकाशरूप हैं वैसे ही सृष्टि भी परात्पररूप है उससे भिन्न नहीं है ॥ ३६ ॥

जैसे इन निद्रा आदिमें स्फुटरूपसे उपलब्ध भी ये सब पदार्थ असन्मय ही हैं वैसे ही ये सृष्टिके पदार्थ सत्‌से अनन्यरूप ही हैं ॥ ३७ ॥

जैसे निद्राघनमें स्वप्न और सुषुप्ति है वैसे शुद्ध सौम्य चिद्‌घन आत्मामें सृष्टि, प्रलय और स्थिति हैं ॥ ३८ ॥

जैसे मनुष्य एक स्वप्नसे अन्य स्वप्नमें स्थित होता है वैसे ही अजन्मा परमात्मा स्वसत्तामें एक सर्गसे अन्य सर्गके रूपमें स्थित होता है ॥ ३९ ॥

जैसे स्वप्नानुभवोंमें पृथिवी आदिसे रहित स्वाप्नपदार्थ पृथिवी आदिसे युक्त-सा प्रतीत होता है वैसे ही पृथिवी आदिसे रहित भी यह निर्दोष ब्रह्माकाश पृथिवी आदिसे युक्त-सा प्रतीत होता है ॥ ४० ॥

जैसे अनन्तरूप इस साम्प्रतिक परमात्मामें वर्तमान घट, पट आदि शब्द उनके अर्थ स्थित हैं वैसे ही अनन्य महाचैतन्यमें भूत और भविष्यत् सृष्टियाँ स्थित हैं ॥ ४१ ॥

पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती यथा भाति तथैव च ।
यथा शब्दास्तथा सर्गाश्चितैव चिति चिन्मयाः ॥ ४२ ॥

किं शास्त्रकं तत्र कथाविचारै-
निर्वासनं जीवितमेव मोक्षः ।
सर्गे त्वसत्येवमकारणत्वा-
त्सत्येव नास्त्येव न नाम काचित् ॥४३॥

एषा च सिद्धेह हि वासनेति
सा बोधसत्त्वैव निरन्तरैका ।
नानात्वनानारहितैव भाति
स्वप्ने चिदेवेह पुरादिरूपा ॥ ४४ ॥

जब अनन्य है तब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग ब्रह्ममें हैं इस उक्तिका 'पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती तिष्ठति' यों अभिन्न ही पश्यन्तीमें भेदोपचारसे औपचारिक आधाराधेयभावमें पर्यवसान होता है, ऐसा कहते हैं—**'पश्यन्त्यामेव'** इत्यादिसे ।

जैसे साम्प्रतिक अनन्यभूत परमात्मामें सृष्टिरूप परमात्माका भान होता है वैसे ही चित्में चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गोंका चित्से ही भान होता है ॥ ४२ ॥

जब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग चिन्मय ही हैं तब वहाँ कार्य कर चुका शास्त्र भी जिसपर शासन किया जाय ऐसे व्यक्तिविशेषके अभावमें मोक्षरूप फलके पृथक् न होनेसे और निराकरणीय प्रपञ्चरूप बन्धन न रहनेसे निवृत्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'किम्'** इत्यादिसे ।

वहाँपर शास्त्रका क्या प्रयोजन है वहाँ कथाओंके विचारसे भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि शास्त्रफल निर्वासन (वासनाशून्य) जीवनरूप मोक्ष सिद्ध हो चुका, पूर्वोक्त रीतिसे अकारण होनेके कारण सृष्टिका अभाव होनेसे नाना प्रपञ्चरचना प्रत्यक्ष दिखाई देनेपर भी कुछ नहीं है यानी पूर्णतया मार्जित हो जाती है ॥ ४३ ॥

और यहाँ वासनाके नामसे प्रसिद्ध जो यह प्रपञ्चके बीजरूपसे भासित

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम०वा०दे०मो०नि०उ० ब्रह्मगीतासु सत्यवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७७

अष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

पदार्था द्विविधाः सन्ति मूर्तामूर्ता जगत्त्रये ।
यत्र सप्रतिघाः केचित्केचिदप्रतिघा अपि ॥ १ ॥

होती है वह भेद रहित बोधसत्ता ही भेदरूपसे भासित होती है जैसे कि स्वप्नमें चिदात्मा ही नगर आदिके रूपसे भासित होता है ॥ ४४ ॥

एक सौ सतहत्तर सर्ग समाप्त

—:०:—

एक सौ अठत्तर सर्ग

[इस सर्गमें अमूर्त (निराकार) चित् द्वारा समूर्त (साकार) जगत्के परिचालनमें युक्तिवर्णनपूर्वक ऐन्दवाख्यानसे जगत् अमूर्त चिन्मात्र ही है, यह सिद्ध किया गया है]

'धर्म आदि अमूर्त होनेके कारण परलोकमें मूर्त देहके कारण नहीं हो सकते यह कथन सुनकर अमूर्त चिदात्मा द्वारा मूर्त देह आदिके चालनमें युक्तिकी जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसकी अनुपपत्ति दिखलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—**'पदार्थाः'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, त्रैलोक्यमें मूर्त और अमूर्त भेदसे दो प्रकारके पदार्थ हैं जिनमें से कुछ सप्रतिघ (आपसमें टकरानेवाले) हैं और कुछ अप्रतिघ (आपसमें न टकरानेवाले) हैं । भाव यह कि यहाँपर मूर्त अमूर्त ब्रह्म-रूपसे दिखलाया गया विभाग अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रतिघातकी योग्यता और प्रतिघातकी अयोग्यतारूप उपाधि द्वारा कृत विभाग अभिप्रेत है ॥ १ ॥

तानिहाऽप्रतिघानाहुर्नाऽन्योन्यं वेल्लयन्ति ये ।
तांश्च सप्रतिघानाहुरन्योन्यं वेल्लयन्ति ये ।। २ ।।
इह सप्रतिघानां तु दृष्टमन्योन्यवेल्लनम् ।
न त्वप्रतिघरूपाणां केषांचिदपि किंचन ।। ३ ।।
तत्र संवेदनं नाम यदिदं चन्द्रमण्डले ।
इतः पतत्यप्रतिघं तत्सर्वेणाऽनुभूयते ।। ४ ।।
अर्धप्रबुद्धसंकल्पविकल्पाद्वैतकल्पितम् ।
वदाम्यभ्युपगम्येदं न तु बोधदशास्थितम् ।। ५ ।।

फूल, कपास (रुई), मक्खन आदि अत्यन्त कोमल पदार्थ कठिन शिलाओंकी नाईं प्रतिघातके (टक्करके) योग्य नहीं हैं, अतः उनमें कोई अमूर्तता न समझ जाय इसलिए सप्रतिघ, अप्रतिघ आदि विशेषणोंके तात्पर्यका अलग अलग लक्षणोंसे उद्घाटन करते हैं—'तान्' इत्यादिसे ।

यहाँ अप्रतिघ उन्हें कहते हैं, जो परस्पर टकराते नहीं है और सप्रतिघ उन्हें कहते हैं जो परस्पर टकराते हैं ।। २ ।।

इसी बातको लोकप्रसिद्धिसे स्पष्ट करते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

लोकमें सप्रतिघ पदार्थोंका तो परस्पर टकराना दिखलाई देता है, किन्तु अप्रतिघरूप किन्हीं पदार्थोंका किंचित् भी आपसमें टकराना नहीं दिखाई देता ।। ३ ।।

उनमें संवेदन नामसे प्रसिद्ध जो पदार्थ है वह अप्रतिघ ही है । क्योंकि चन्द्रमाका निरीक्षण कर रहे पुरुषके यहाँसे नयन-रश्मियोंका अनुगमन करनेवाले चित्‌के साथ चित्तोपहित संवेदन चन्द्रमण्डलमें बिना आघातके (टक्करके) ही गिरते हैं, इसलिए वे अमूर्त हैं । यह सभी चन्द्रदर्शियों द्वारा अनुभूत होता है ।। ४ ।।

यदि कहिये कि आपका यह आक्षेप प्रबुद्ध दृष्टिसे है अथवा अप्रबुद्ध दृष्टिसे है ? प्रथम पक्षमें तो मूर्त प्रसिद्ध ही नहीं है और दूसरे पक्षमें अमूर्त चित् देह आदिको प्रवर्तित करती है यह अप्रसिद्ध है, क्योंकि देहसे लेकर अहंकारपर्यन्त संमिलित समुदायका ही व्यवहारी लोगोंको आत्मरूपसे अनुभव होता है ऐसी शङ्का उठाकर कहते हैं— 'अर्ध०' इत्यादिसे ।

कः प्राणमारुतः क्षोभं जनयत्याशयस्थितः ।
प्रवेशनिर्गममयं कथं वा वद मे प्रभो ॥ ६ ॥
कथमप्रतिघं नाम वेदनं प्रतिघात्मकम् ।
इमं देहं चालयति भारं भारहरो यथा ॥ ७ ॥
यदि सप्रतिघं वस्तु वेल्लत्यप्रतिघात्मकम् ।
कथं संवित्तिमात्रेण पुंसः शैलो न वल्गति ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

विकासमथ संकोचमत्र नाली हृदि स्थिता ।
यदा याति तदा प्राणश्छेदैरायाति याति च ॥ ९ ॥

अर्द्धप्रबुद्ध लोगोंके (दूसरी तीसरी भूमिकाके बीचके लोगोंके) संकल्प-विकल्परूप द्वैतसे कल्पित इस जगत्को मानकर मैं आक्षेप करता हूँ, बोधदृष्टिसे परिशिष्ट चिन्मात्र मानकर आक्षेप नहीं करता हूँ ॥ ५ ॥

यद्यपि आशयमें स्थित मूर्त प्राणवायु ही प्रवेश और निर्गमरूप वृत्तियोंसे क्षुब्ध होकर देहको प्रवृत्त करता है यह कहा जा सकता है तथापि हे प्रभो, उसमें प्रवेश-निर्गममय क्षोभ कौन पैदा करता है, यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ६ ॥

यदि कहा जाय कि जीवरूप चिदाभास ही प्राणवायुका क्षोभ पैदा करेगा, तो उसपर कहते हैं—**'कथम्'** इत्यादिसे ।

जैसे बोझा ढोनेवाला बोझको ढोता है, परिचालित करता है, वैसे ही अमूर्त चिदाभास समूर्त प्राण आदि देह पर्यन्त इस भारका परिचालित कैसे कर सकता है ॥ ७ ॥

यदि अमूर्त संवेदनमात्र चिदाभास प्राणादि देहान्त मूर्त पदार्थको व्याप्त कर संचालित कर सकता है, तो पुरुषके केवल संकल्प संवित्से पर्वत क्यों नहीं चलता ॥ ८ ॥

जैसे बाहरका वायु लोहारकी धौंकनीमें भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलनेसे धौंकनीको चलाता है वैसे ही प्राणवायुमें भी कण्ठनालीके छिद्रके संकोच और विकाससे अनुमित अपने प्रवेश और निर्गमसे देह आदिका चालकत्व प्रत्यक्ष है हृदय आदि प्रदेशमें भी यों ही उसकी संचालकता समझनी चाहिये यों

बाह्योपस्करभस्त्रायां यथाऽऽकाशास्पदात्मकः ।
वायुर्यात्यपि चाऽऽयाति तथाऽत्र स्पन्दनंहृदि ॥ १० ॥

श्रीराम उवाच

बहिर्भस्त्रामयस्कारः संकोचनविकासनैः ।
योजयत्यान्तरं नाडीं कश्चालयति चालकः ॥ ११ ॥
शतं कथं भवेदेकं कथमेकंशतं भवेत् ।
कथं सचेतना एते काष्ठलोष्टोपलादयः ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजी गूढ अभिप्रायसे समाधान करते हैं—**'विकासम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, देहमें, हृदयमें स्थित नाडी जब संकोच और विकासको प्राप्त होती है तब प्राण गलेके छेदसे बाहर आता है और भीतर जाता है ॥ ९ ॥

जैसे छिद्रमें रहनेवाले यानी छिद्रवान् सकल द्रव्योंके अन्दर संचार करनेवाला वायु बाहर स्थित लोहारकी आजीविकाकी साधनभूत धौंकनीमें प्रवेश करता है और बाहर निकलता है वैसे ही वायु प्रवेश और निर्गमसे हृदयमें स्पन्दन पैदा करता है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जैसे बाहर स्थित धौंकनीको लोहार उसके संकोच और विकासोंसे युक्त करता है वैसे ही भीतर स्थित नाड़ीको कौन परिचालित करता है । भाव यह है कि यद्यपि वायु परिचालन करता है तथापि लोहार आदि चेतनसे अधिष्ठित धौंकनीमें ही वह उस तरह स्पन्द पैदा करता है अन्यत्र नहीं करता इसलिए चेतनको ही अचेतनके नियत व्यवहार चेष्टामें निमित्त अवश्य कहना चाहिये ॥ ११ ॥

यदि प्रश्न हो कि 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' ('एक सौ एक हृदयकी नाड़ियाँ हैं') इस श्रुतिमें चारों ओर फैली हुई सौ नाड़ियाँ सुनी जाती हैं । एक सौ नाड़ियोंकी प्रत्येक शाखासे बहत्तर बहत्तर नाड़ियाँ निकली हैं यों हजारों नाड़ियाँ होती हैं, उनमें 'व्यान' नामक वायुका संचार होता है । उन सकल नाड़ियोंमें व्यान वायुके संचारको देहादिके संचलनमें निमित्त मानें तो सदा ही सर्वाङ्गका संचलन होना चाहिये एक एक हस्त, पाद आदिका व्यापार नियत नहीं होना चाहिये । यदि कहिये एक अङ्गका उद्यमन होनेमें सौकी सौ नाड़ियाँ उस अङ्गमें एक हो

कस्मान्न स्थावरं वस्तु प्रस्पन्द्यपि चमत्कृतम् ।
वस्तुजंगममेवेह स्पन्दि मात्रेव किं वद ॥ १३ ॥
वसिष्ठ उवाच
अन्तः संवेदनं नाम चालयत्यान्त्रवेष्टनम् ।
बहिर्भस्त्रामयस्कार इव लोकेऽनुचेष्टनम् ॥ १४ ॥
श्रीराम उवाच
वाय्वन्त्रादि शरीरस्थं सर्वं सप्रतिघं मुने ।
कथमप्रतिघा संविच्चालयेदिति मे वद ॥ १५ ॥

जाती हैं, सर्वाङ्गका संचलन उपस्थित होनेपर एकाकार भी सौ नाड़ियाँ सर्वाङ्ग-व्यापिनी हो जाती हैं, तो उसपर भी कहते हैं—'**शतम्**' इत्यादिसे ।

समयविशेषपर यानी एक एक अङ्गके चालनके समय सौ नाड़ियाँ कैसे एक हो जायँगी और समयविशेषपर यानी सर्वाङ्गके चालनके समय कैसे एक नाड़ी सौ हो जायँगी तथा दूसरी बात यह भी है कि अमूर्त चैतन्यका संश्लेष देहमें भी नहीं है आध्यासिक सम्बन्ध तो काष्ठ, लोष्ट आदिमें भी तुल्य है, इसलिए उन्हें भी सचेतन कहना चाहिये और वह कैसे संभव है ॥ १२ ॥

लोकमें जंगम पदार्थ ही क्यों स्पन्दयुक्त होते हैं । वृक्ष, लता, काष्ठ, पाषाण आदि स्थावर वस्तु चेतन यदि है, तो उसमें स्पन्दन क्यों नहीं होता ? वह देहके समान भोगके उपयोगसे चमत्कृत भी क्यों नहीं होती, नियन्त्रण करनेवाले कुलाल (कुम्हार) आदिसे अधिष्ठित चक्र आदिकी तरह नियतकालमें ही स्पन्दनवाली क्यों होती है ? यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ १३ ॥

कार्य-कारणकी स्वामिनी भोग करनेवाली जीवसंवित्का जिसमें अनादि प्रवाहसे प्राप्त काम, कर्म और वासनासे प्रयुक्त तादात्म्याध्यास है, उसके चालनमें आध्यासिक स्वतादात्म्यशाली प्राणके संश्लेषसे वह स्वतन्त्र है अन्य जगह परतन्त्र है इस तरहकी व्यवस्था है, यों गूढ अभिप्रायसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'**अन्तः**' इत्यादिसे ।

जैसे बाहर लोहार धौंकनीको संचालित करता है वैसे ही जीव संवित् अन्दर आन्त्रवेष्टनको (हड्डी-समूहको) संचालित करती है, उसके अनुसार ही लोकमें सब लोग बाहर चेष्टा करते हैं ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, शरीरमें स्थित वायु, अँतड़ी आदि

संविदप्रतिघाकारा यदि सप्रतिघात्मकम् ।
चालयेदचलिष्यत्तद्दूरमम्भो यदिच्छया ॥ १६ ॥
सप्रतिघाप्रतिघयोर्मिथो यदि पदार्थयोः ।
वेल्लनं स्यात्तदिच्छैव कर्तृ कर्मेन्द्रियैः क किम् ॥ १७ ॥
सप्रतिघाप्रतिघयोः श्लेषो नास्ति बहिर्यथा ।
तथैवाऽन्तरहं मन्ये शेषं कथय मे मुने ॥ १८ ॥
अन्तः स्वयं योगिना वा यथैतदनुभूयते ।
अमूर्तस्यैव मूर्तेन वेल्लनं तद्वदाशु मे ॥ १९ ॥

सब कुछ सप्रतिघ (साकार) है उसको अप्रतिघ निराकार जीवसंवित् कैसे संचालित करेगी ? यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ १५ ॥

यदि अप्रतिघाकार संवित् सप्रतिघरूप देह आदिका संचालन करेगी, तब तो दूर स्थित भी जल प्यासे पथिककी इच्छासे स्वयं ही आ जायगा ॥१६॥

यदि सप्रतिघ और अप्रतिघ पदार्थोंका परस्पर संश्लेष हो तब तो इच्छा ही बाहर बोलना, लेना, देना, विहार आदि करेगी फिर कर्मेन्द्रियोंसे कहाँपर क्या होगा ॥ १७ ॥

हे मुनिवर, जैसे सप्रतिघ (प्रतिघातयोग्य) और अप्रतिघका (प्रतिघातके अयोग्यका) बाहर श्लेष (संपर्क) नहीं है वैसे ही भीतर भी उनका श्लेष नहीं है ऐसा मैं मानता हूँ । अर्थात् बाहर उनका श्लेष न होनेपर भी भीतर श्लेष हो ऐसा मेरा मत नहीं है । इस प्रकार आपसे समाधानमें दी गई युक्तियोंका खण्डन हो जानेपर अन्य युक्तियाँ आप दीजिये खंडित युक्तियोंको ही बार बार मत दुहराइये ॥ १८ ॥

अथवा आप योगिराज हैं आपको स्वयं जैसे इसका (अमूर्तका ही मूर्तसे सम्पर्कका), जो लोकमें अत्यन्त अप्रसिद्ध है, योगबलसे जिस उपायसे अनुभव होता है उसे मुझसे शीघ्र कहनेकी कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीरामजीकी ओरसे आक्षेप होनेपर श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त गूढाभिसन्धिवाला उत्तर भी वासनाओंके बाहरी और भीतरी परिच्छेदरूप भ्रान्तिमूलक होनेसे वह अनवस्थाग्रस्त, सूक्ष्म विचार करनेपर न टिकनेवाला है यों श्रीरामचन्द्रजी उसे समझ गये हैं पुनः मैं उनको दुहराऊँगा तो श्रीरामचन्द्रजी उसका अवश्य खंडन करेंगे यों सोचते हुए उस उत्तरकी उपेक्षाकर सिद्धान्तके

वसिष्ठ उवाच

सर्वसन्देहवृक्षाणां मूलकाषमिदं वचः ।
सर्वैकतानुभूत्यर्थं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ २० ॥
नेह किंचिन्न नामाऽस्ति वस्तु सप्रतिघं क्वचित् ।
सर्वदा सर्वमेवेदं शान्तमप्रतिघं ततम् ॥ २१ ॥
शुद्धं संविन्मयं सर्वं शान्तमप्रतिघात्मकम् ।
पदार्थजातं पृथ्व्यादि स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ २२ ॥
आदावन्ते च नास्तीदं कारणाभावतोऽखिलम् ।
भ्रान्त्यात्मा वर्तमानाऽपि भाति चित्स्वप्नगा यथा ॥ २३ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
महता कारणौघेन बोधमप्रतिघं विदुः ॥ २४ ॥

अवलम्बनसे ही एक उक्तिसे सबका समाधान करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सकल सन्देहरूपी वृक्षोंकी जड़ तत्त्व वस्तुका अज्ञान ही है, अतएव सब वस्तुओंके एकतानुभवरूप तत्त्व-साक्षात्कारकी अनुभूतिके लिए उक्त सन्देहरूपी वृक्षकी जड़ खोदनेवाला कानोंको भूषणोंके समान आनन्द देनेवाला यह वचन आप सुनिये ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजी, आपने जो अनेक आक्षेप किये हैं वे लागू हो सकते यदि हम प्रपञ्चको सप्रतिघ और यथार्थ मानते । हमारे मतमें यहाँ कहींपर भी कोई वस्तु सप्रतिघ है ही नहीं । यह सभी कुछ प्रपञ्च सदा शान्त अप्रतिघ ही सब ओर व्याप्त है । स्वप्न और संकल्पोंकी तरह पृथिवी आदि सब पदार्थराशि शुद्ध संविन्मय शान्त अप्रतिघरूप है ॥ २१,२२ ॥

कारणका अभाव होनेसे यह सब प्रपञ्च आदिमें और अन्तमें नहीं है जैसे स्वप्नमें स्थित चित्का पर्वत, नदी, नगर आदिके रूपमें भान होता है वैसे ही वर्तमान सृष्टि भी भ्रान्तिरूप ही है ॥ २३ ॥

इसलिए तत्त्ववेत्ता लोग विवेक, वैराग्य, त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि प्रयत्नसे साध्य कारणोंसे वासना सहित मूर्ताकारको हटाकर द्युलोक, पृथिवी वायु, आकाश, पर्वत, नदी, दिशा आदिरूप जगत्को अप्रतिघ बोधमात्र ही जानते हैं ॥ २४ ॥

अन्तःकरणभूतादि मृत्काष्ठदृषदादि वा ।
सर्वं शून्यमशून्यं च चेतनं विद्धि नेतरत् ॥ २५ ॥
तत्रैवमैन्दवाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
मया च पूर्वमुक्तं तत्किं चाऽन्यदभिवर्ण्यते ॥ २६ ॥
तथापि वर्तमानोक्तप्रश्नबोधाय तच्छृणु ।
यथेदं सर्वमद्र्यादि चिदित्येव तु भोत्स्यते ॥ २७ ॥
कस्मिंश्चित्प्राक्तनेनैव जगज्जालेऽभवद् द्विजः ।
तपोवेदक्रियाधारो ब्रह्मबिन्दुरिति स्मृतः ॥ २८ ॥
दश तस्याऽभवन्पुत्रा जगतो दिक्तटा इव ।
महाशया महात्मानो महतामास्पदं सताम् ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अन्तःकरण, भूत आदि तथा मिट्टी, काठ, पत्थर आदि सबको शून्य और चेतनको अशून्य समझिये चेतनके सिवा अन्य अशून्य नहीं है ॥ २५ ॥

चिन्मात्र ही सर्व जगत् है, मूर्त कुछ भी नहीं है, इस विषयमें पूर्वोक्त ऐन्दवाख्यानको पुनः सुनानेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'**तत्र**' इत्यादिसे ।

इस विषयमें कानोंको भूषित करनेवाले इसी प्रकारके ऐन्दवाख्यानको आप सुनिये । मैंने पहले उत्पत्तिप्रकरणमें मनोमात्र ही जगत् है यह दिखलानेके लिए वह आख्यान कहा था यहाँपर चिन्मात्र ही जगत् है यों निर्वाण-निष्कर्षके लिए उसे कहता हूँ ॥ २६ ॥

प्रस्तुत प्रश्नके पूर्णतया समाधानरूप प्रयोजनभेदसे भी इसकी पुनरुक्ति दोषावह नहीं है, यह कहते हैं—'**तथापि**' इत्यादिसे ।

प्रस्तुत प्रश्नके बोधके लिए फिर भी उसे आप सुनें । जिससे कि यह सब पर्वतादि जगत् अमूर्त चित् ही है इस प्रश्नका समाधान आपको विदित हो जायगा ॥२७॥

उत्पत्ति-प्रकरणमें वर्णित ही आकार-प्रकारसे युक्त किसी जगज्जालमें तपस्या और वेद-प्रतिपादित आचार-विचारका आधारभूत 'इन्दु' नामसे प्रख्यात कोई ब्राह्मण हुआ ॥ २८ ॥

उसके ब्रह्माण्डोदरवर्ती आकाशके दस दिक्तटोंकी तरह महानों और सज्जनोंके आस्पदभूत (आश्रयभूत) महात्मा महाशय दस पुत्र हुए ॥ २९ ॥

स तेषां कालवशतः पिताऽन्तर्धिमुपाययौ ।
दशानां भगवान् रुद्र एकादश इव क्षये ॥ ३० ॥
तस्याऽनुगमनं चक्रे भार्या वैधव्यभीतिभिः ।
अनुरक्ता दिनस्येव संध्या ताराविलोचना ॥ ३१ ॥
तयोस्ते तनया दुःखकलिता विपिनं गताः ।
कृतौर्ध्वदेहिकास्त्यक्त्वा व्यवहारं समाधये ॥ ३२ ॥
धारणानां समस्तानां का स्यादुत्तमसिद्धिदा ।
धारणा यन्मयाः सन्तः स्याम सर्वेश्वरा वयम् ॥ ३३ ॥
इति ते तत्र संचिन्त्य बद्धपद्मासना दश ।
इदं संचिन्तयामासुर्निर्विघ्ने कन्दरोदरे ॥ ३४ ॥
पद्मजाधिष्ठिताशेषजगद्धारणया स्थिताः ।
भवाम पद्मजोपेतं जगद्रूपमविघ्नतः ॥ ३५ ॥

जैसे दसोंके मध्यमें ग्यारवें भगवान् रुद्र महाप्रलयमें अन्तर्धानको प्राप्त होते हैं वैसे ही उन दसोंका पिता इन्दु कालवश अन्तर्धानको प्राप्त हो गया ॥ ३० ॥

उसकी अनुरागवती भार्याने वैधव्यके कष्टोंसे जैसे तारारूपी चञ्चल नेत्रवाली अनुरागवती (लालिमापूर्ण) सन्ध्या दिनका अनुगमन करती है वैसे ही उसका अनुगमन किया ॥ ३१ ॥

उनके वियोगजन्य दुःखसे व्याप्त हुए उनके उन पुत्रोंने उनका और्ध्वदेहिक संस्कार कर लोकव्यवहारका परित्याग कर समाधिके लिए वनका मार्ग पकड़ा ॥ ३२ ॥

धारणाओंमेंसे (विषयविशेषाकारित मनकी स्थिरतारूप धारणाओंमेंसे) किंविषयिणी (किसमें बाँधी गई) धारणा उत्तम सिद्धि देनेवाली होगी। हम लोग यन्मय (यत्स्वरूप) होकर सबके अधिपति हो जायँगे ॥ ३३ ॥

ऐसा विचार कर उन दसोंने वहां निर्विघ्न कन्दराके मध्यमें पद्मासन बाँधकर यह विचार किया ॥ ३४ ॥

ब्रह्मासे अधिष्ठित सकल जगत्की धारणासे (ब्रह्मासे अधिष्ठित सकल जगतके आकारसे आकारित मनकी स्थिरतारूप धारणासे) स्थिर (निश्चल) हुए

इति संचिन्त्य सब्रह्मजगद्धारणया चिरम् ।
निमीलितदृशस्तस्थुस्ते चित्ररचिता इव ।। ३६ ।।
अथैतद्धारणाबद्धचित्तास्ते तावदच्युताः ।
आसन्मासान्दशाऽष्टौ च यावत्ते तत्र देहकाः ।। ३७ ।।
शुष्काः कंकालतां याताः क्रव्यादैश्चर्वितांङ्गकाः ।
नाशमभ्याययुस्तत्र च्छायाभागा इवाऽऽतपैः ।। ३८ ।।
अहं ब्रह्मा जगच्चेदं सर्गोऽयं भुवनान्वितः ।
इति संपश्यतां तेषां दीर्घकालोऽभ्यवर्तत ।। ३९ ।।
तानि चित्तान्यदेहानि दशैकध्यानतस्ततः ।
संपन्नानि जगन्त्येव दश देहानि वै पृथक् ।। ४० ।।
इति तेषां चिदिच्छा सा संपन्ना सकलं जगत् ।
अत्यन्तस्वच्छरूपैव स्थिता चाऽऽकारवर्जिता ।। ४१ ।।

हम लोग बिना किसी विघ्नबाधाके ब्रह्माधिष्ठित जगद्रूप हो जायँगे ।। ३५ ।।

यह सोच विचार ब्रह्मयुक्त जगत्की धारणासे निमीलित नेत्रकमलवाले वे चिरकाल तक चित्रलिखित ऐसे बैठ रहे ।। ३६ ।।

इसके पश्चात् जब पूरे अठारह महीने तक ब्रह्मसहित जगत्की धारणामें बँधे हुऐ चित्तवाले वे मनके अन्यवृत्तिधारण द्वारा उससे च्युत न होकर स्थित रहे तब उनके शरीर सूखकर हड्डी हड्डी हो गये, मांसाहारी जीव नोच नोचकर उनके अवयवोंको खा गये अतएव घाम द्वारा नष्ट किये गये छायाभागकी तरह उनके शरीर वहाँपर नष्ट हो गये ।। ३७, ३८ ।।

मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यह जगत् हूँ, मैं यह भुवनोंसे पूर्ण सृष्टि हूँ यों ध्यान कर रहे उनका महान् काल व्यतीत हुआ ।। ३९ ।।

उसके पश्चात् ध्यानके परिपाकसे देहरहित वे दस चित्त पृथक् पृथक् दस ब्रह्माण्डरूप जगत् बन गये, क्योंकि जैसा पुरुषका ध्यान होता है वैसा ही वह बन जाता है यह बात तत्क्रतुन्यायसे प्रसिद्ध है ।। ४० ।।

इस प्रकार ऐन्दवोंकी चित् ही इच्छा बनकर सम्पूर्ण जगत् बन गई । आकारसे रहित अत्यन्त निर्मलरूप ही वह स्थित रही यानी अपने स्वभावके कुछ त्यागसे जगत् नहीं बनी किन्तु निर्मल चित्स्वभावरूपसे ही स्थित रही ।। ४१ ।।

संविन्मयत्वाज्जगतां तेषां भूम्यचलादि तत् ।
सर्वं चिदात्मकं विद्धि नोचेदन्यत्किमुच्यताम् ॥ ४२ ॥
किल यत्त्रिजगज्जालं तेषां किमात्म तत्तथा ।
संविदाकाशशून्यत्वमात्रमेवेतरन्न तत् ॥ ४३ ॥
विद्यते न यथा किंचित्तरङ्गः सलिलादृते ।
संवित्तत्त्वादृते तद्वद्विद्यते नाऽचलादिकम् ॥ ४४ ॥
ऐन्दवानि यथैतानि चिन्मयानि जगन्ति खे ।
तथा चिन्मयमेतेषु काष्ठलोष्टोपलाद्यपि ॥ ४५ ॥
यथैवैन्दवसंकल्पास्ते जगत्त्वमुपागताः ।
तथैवाऽब्जजसंकल्पो जगत्त्वमयमागतः ॥ ४६ ॥
तस्मादिहेमे गिरयो वसुधा पादपा घनाः ।
महाभूतानि सर्वं च चिन्मात्रमयमाततम् ॥ ४७ ॥
चिद्वृक्षाश्चिन्मही चिद्द्यौश्चिदाकाशं चिदद्रयः ।
नाऽचित्क्वचित्संभवति तेष्वैन्दवजगत्स्विव ॥ ४८ ॥

यों सब जगतोंकी संविद्रूपता सिद्ध हुई । जगतोंके संवित्रूप होनेसे उनके वे भूमि, पर्वत, नदी आदि सभीको आप चिदात्मक ही जानिये । यदि उनका दस प्रकारका त्रिजगज्जाल चिदात्मक नहीं है तो किमात्मक है आप ही कहिये । वह संविदाकाशशून्यत्वमात्र ही है उससे अन्य नहीं है ॥ ४२,४३ ॥

जैसे तरङ्ग जलके सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही अचल आदि संवितत्त्वके सिवा अन्य कुछ नहीं है ॥ ४४ ॥

ऐन्दव जगतोंकी तुल्यता प्रस्तुत जगत्में भी समझनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'ऐन्दवानि'** इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें चिन्मय ये ऐन्दव जगत् हैं वैसे ही इन प्रस्तुत जगतोंमें भी काठ, ढेले, पत्थर आदि चिन्मय ही हैं । जैसे वे ऐन्दवोंके सङ्कल्प जगत्ताको प्राप्त हुए वैसे ही ब्रह्माका यह संकल्प भी जगत्ताको प्राप्त हुआ है ॥ ४५,४६ ॥

इसलिए ये पर्वत, पृथिवी, वृक्ष, बादल, आकाशादि पञ्चमहाभूत ये सब कुछ चिन्मात्रमय ही विस्तृत हैं ॥ ४७ ॥

जैसे उन ऐन्दव जगतोंमें सब कुछ चित् ही था वैसे ही यहाँपर भी

चिन्मात्रखकुलालेन स्वदेहचलचक्रके ।
स्वशरीरमृदा सर्गः कुतोऽयं क्रियतेऽनिशम् ॥ ४९ ॥
संकल्पनिर्मिते सर्गे दृषदश्चेन्न चेतनाः ।
तदत्र लोष्टशैलादि किमेतदिति कथ्यताम् ॥ ५० ॥
कलनस्मृतिसंस्कारा दधत्यर्थं च नोदरे ।
प्राङ्मृष्टं कल्पनादीनामन्यैवाऽर्थकलावताम् ॥ ५१ ॥

वृक्ष चित् हैं, पृथिवी चित् है, द्युलोक चित् है, आकाश चित् है और पर्वत चित् हैं, कहींपर भी अचित्का संभव नहीं है ॥ ४८ ॥

चिन्मात्राकाशरूप कुम्हार द्वारा अपने शरीररूपी चञ्चल (घूम रहे) चाकमें अपने शरीररूपी मिट्टीसे इस सृष्टिकी रचना निरन्तर क्यों की जाती है । 'कुतः' यों असम्भावनाकी उक्ति सृष्टिका मिथ्यात्व जतानेके लिए है ॥ ४९ ॥

इस कथनसे 'कथं सचेतना एते काष्ठलोष्टोपलादयः' इस प्रश्नका भी समाधान हो गया, इस आशयसे कहते हैं—**'संकल्प०'** इत्यादिसे ।

संकल्पसे विरचित सृष्टिमें यदि पत्थर चेतन नहीं हैं, तो इस सृष्टिमें ढेले, पत्थर, चट्टान आदि क्या हैं यह कहिये ॥ ५० ॥

अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कार, इच्छा और कृति ये सब संविद्विशेष अर्थविषयक हैं । इनके अन्दर अर्थ प्रतीत होता है । और ये अपने अन्दर अभिव्यक्त चिन्मात्रको ही धारण करते हैं जड़ अर्थको धारण नहीं करते, इसलिए अर्थ चिद्रूप ही हैं । हम इस बातपर पहले ही विचार कर चुके हैं कि अर्थशून्य कल्पनाओंकी अन्य ही स्थिति है और तत्त्वके अवगाहनके चमत्कार-से शोभित होनेवाली कल्पना आदिका अन्य ही चमत्कार है ।

अथवा यों दूसरा अर्थ करना चाहिये—यदि कोई कहे लोष्ट आदिकी अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कारमें एकरूपता है, इसलिए लोष्ट आदि अचिद्रूप ही हैं फिर उनको सचेतन कैसे कहते हैं, तो इस प्रश्नपर कहते हैं— **'कलना०'** इत्यादिसे ।

कलन (अनुभव) आदि चिन्मात्र लोष्ट, शैल आदि तत्त्वको अपने उदरमें धारण करते हैं, किन्तु उसका अवगाहन नहीं कर सकते, क्योंकि वह कल्पना आदिके उत्थानसे पहलेसे ही है, इस विषयका हम पहले परामर्श कर चुके हैं । अज्ञात विषयमें चक्षु आदिसे अनुभव होता है ज्ञात विषयमें स्मृति और

तद्धाम संविदो धाम्नि मणिराशौ मणिर्यथा ।
सर्वात्मनि तथा चित्ते कश्चिदर्थ उदेत्यलम् ॥ ५२ ॥
अकार्यकरणस्याऽर्थो न भिन्नो ब्रह्मणः क्वचित् ।
स्वभाव इति तेनेदं सर्वं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ५३ ॥
यथाप्रवृत्तं चिद्वारि वहत्यावर्ततेऽवनौ ।
स्वयत्नेनाऽतितीव्रेण परात्मीयात्मना विना ॥ ५४ ॥
पद्मलीला जगदिव प्रकचन्ति जगन्ति यत् ।
चिन्मात्राद् ब्रह्मणः स्वस्मादन्यानि न मनागपि ॥ ५५ ॥

संस्कार होते हैं । इसलिए उनसे पहले अज्ञात विषयकी सिद्धि अवश्य माननी होगी । अचित्रूप तृण, काष्ठ, शैल आदि अज्ञात नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जड़ोंमें अज्ञानरूपी आवरणका कोई प्रयोजन नहीं है, अतएव जड़ोंसे अन्य ही ब्रह्मसत्ता तृण आदिकी तत्त्वभूत है उसीका कलन, स्मृति और संस्कारोंसे जडत्वेन विमर्श होता है ॥ ५१ ॥

इस कारण भी काष्ठ, लोष्ट आदि सचेतन हैं, ऐसा कहते हैं—**'तत्'** इत्यादिसे ।

चूँकि वह परम चिद्धाम ही सर्वात्मक संवित्-धाम समष्टिव्यष्टि चित्तमें मणियोंकी राशिमें मणिकी तरह देदीप्यमानरूपसे भीतर स्थित होकर किसी तृण, काष्ठ, शैल आदि अर्थकी तरह उदित होता है क्योंकि 'तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' ऐसी भगवती श्रुति है ॥ ५२ ॥

इस कारण भी तृण, काष्ठ आदि सचेतन हैं, चूँकि ये (तृण, काष्ठ आदि) कार्यकारणरहित ब्रह्मकी सृष्टि हैं । जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यकी स्वभावभूत ही है अप्रकाशरूप नहीं है, इसलिए ये भी ब्रह्मके स्वभावभूत ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं । जब भिन्न नहीं हैं तब यह सब सचेतन ब्रह्मरूप ही है यह निश्चय हुआ ॥ ५३ ॥

जैसे ढालू जमीनपर प्रवृत्त हुआ जल परात्मीयरूप अन्य कारणके बिना अपने ही अतितीव्र यत्नसे स्वतः ही आवर्त, प्रवाह, तरङ्ग आदिकी विचित्रतासे बहता है वैसे ही सृष्टिके उन्मुख चित् भी परात्मीयरूप अन्य कारणके बिना अपने ही अतितीव्र यत्नसे स्वतः ही सृष्टिरूपसे बहती है ॥ ५४ ॥

जैसे पाद्मकल्पमें भगवान्‌की नाभिकमल-लीला ही जगतोंकी तरह

अजातमनिरुद्धं च सन्मात्रं ब्रह्म खात्मकम् ।
शान्तं सदसतोर्मध्यं चिद्भामात्रमिदं जगत् ॥ ५६ ॥
यत्संविन्मयमद्र्यादि संकल्पजगति स्थितम् ।
तदसंविन्मयमिति वक्ताऽज्ञो ज्ञैर्विहस्यते ॥ ५७ ॥
जगन्त्यात्मेव संकल्पमयान्येतानि वेत्ति खे ।
खात्मकानि तथेदं च ब्रह्म संकल्पजं जगत् ॥ ५८ ॥
यावद्यावदियं दृष्टिः शीघ्रं शीघ्रं विलोक्यते ।
तावत्तावदिदं दुःखं शीघ्रं शीघ्रं विलीयते ॥ ५९ ॥
यावद्यावदियं दृष्टिः प्रेक्ष्यते न चिराच्चिरा ।
तावत्तावदिदं दुःखं भवेत्प्रतिघनं घनम् ॥ ६० ॥

स्फुरित होती है, इसलिए भी वे ब्रह्मसे तनिक भी भिन्न नहीं हैं ॥ ५५ ॥

इसलिए यह जगत् अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, सन्मात्र, शान्त, भाव और अभाव दोनोंका ही मार्जन होनेसे उनका मध्यरूप, चिदाकाशभूत, चिद्भामात्र है ॥५६॥

अतएव तृण, काष्ठ, शैल आदिको अचेतन समझनेवाले मूढ़ोंका विद्वान् लोग उपहास करते हैं, ऐसा कहते हैं—'**यद्**' इत्यादिसे ।

जो संविन्मय (चिन्मात्र) पर्वत आदि जगत्में स्थित हैं उनको अचिन्मय कहनेवाले अज्ञका अभिज्ञों द्वारा उपहास किया जाता है ॥ ५७ ॥

ब्रह्माके संकल्पसे जन्य होनेके कारण भी अपने मनोराज्यके तुल्य जगत्की चिन्मात्रताका अनुमान करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—'**जगन्ति**' इत्यादिसे ।

जैसे आत्मा संकल्पमय इन जगतोंको आकाशमें चिदाकाशात्मक जानता है वैसे ही ब्रह्माके सकल्पसे उत्पन्न यह जगत् भी चिदाकाशात्मक ही है ॥ ५८ ॥

आप इसी एक दृष्टिका अन्यान्य प्रकारोंसे पुनः पुनः क्यों समर्थन करते हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'**यावत्**' इत्यादिसे ।

यह प्रपञ्चदृष्टि दृढ़ की गई चिद्दृष्टिसे ज्यों ज्यों देखी जाती है त्यों त्यों यह दुःख शीघ्रातिशीघ्र मिट जाता है ॥ ५९ ॥

ज्यों ज्यों यह प्रपञ्चदृष्टि चिन्मात्ररूपसे चिरकालतक नहीं विचारी

दीर्घदुष्कृतमूढानामिमां दृष्टिमपश्यताम् ।
संसृतिर्वज्रसारेयं न कदाचित्प्रशाम्यति ॥ ६१ ॥
नेहाऽऽकृतिर्न च भवाभवजन्मनाशाः
सत्ता न चैव न च नाम तथाऽस्त्यसत्ता ।
शान्तं परं कचति केवलमात्मनीत्थं
ब्रह्माऽथवा कचनमप्यलमत्र नास्ति ॥ ६२ ॥
आद्यन्तवर्जितमलभ्यलताग्रमूल-
निर्माणमूलपरिवेशमशेषमच्छम् ।
अन्तस्थनिर्गगनसर्गकपुत्रकौघं
नित्यं स्थितं ननु घनं गतजन्मनाशम् ॥ ६३ ॥

जाती त्यों त्यों यह प्रपञ्च-क्लेश अत्यन्त घन होता जाता है ॥ ६० ॥

महापापोंसे मूर्ख हुए अतएव इस दृष्टिको न देख रहे लोगोंका यह संसार वज्रके तुल्य दृढ़ हो जाता है कदापि शान्त नहीं होता है ॥ ६१ ॥

अतएव महाफलवती होनेके कारण इस दृष्टिको दृढ़ करना चाहिये, यों सर्गका उपसंहार करते हैं—**'नेहेति'** इत्यादिसे ।

इस जगत्‌में न आकृति है, न संसार है,न असंसार(मोक्ष) है, न जन्म है, न नाश है, न दूसरा कोई भावविकार है और न उसका अभाव है, परमार्थ चित्स्वभाव आत्मामें इस तरह परम शान्त ब्रह्मका स्फुरण होता है अथवा ब्रह्मसे अतिरिक्त कचन (स्फुरण) भी यहाँ सर्वथा नहीं है ॥ ६२ ॥

यदि कोई कहे कि कचनके (स्फुरणके) भी अभावमें ब्रह्म कैसे स्थित रहता है? तो इसपर कहते हैं—**'आद्यन्त०'** इत्यादिसे ।

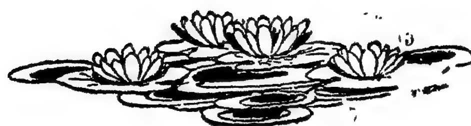
यद्यपि वह ब्रह्म स्फटिकके स्तम्भकी नाईं आकाश रहित अनेकों सृष्टि-रूपी पुतलियोंकी राशिसे भरा हुआ है तथापि उसमें जगत्‌रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, उनकी जड़, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ोंका भूमिमें प्रवेश ये सब अलभ्य हैं, वह आदि अन्त विहीन है, कालसे भी उसके जन्म और नाश नहीं होते, वह पूर्ण रूपसे अत्यन्त निर्मल है ऐसा वह चिदानन्दैकघन नित्य कैवल्यरूप स्थित है ॥ ६३ ॥

सन्मात्रमन्तररहिताखिलहस्तजातं
पर्यन्तहीनगणनाङ्गममुक्तरूपम् ।
आत्माऽम्बरात्मकमहं त्विदमेव सर्वं
सुस्तम्भरूपमजमौनमलं विकल्पैः ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतास्वैन्दवो-
पाख्यानं नामाऽष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७८ ॥

यही जब अमुक्तरूप (संसारी) था तब इसके असंख्य हाथ चारों ओरसे भरे थे, असंख्य आँख, कान, सिर, कण्ठ, उदर, पैर आदि अङ्ग थे। मुक्तरूप तो आत्माकाशरूप, सुस्तम्भरूप, सन्मात्र अजमौन यह मैं ही हो गया, इसलिए फिर विकल्पोंमे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ६४ ॥

एक सौ अठहत्तर सर्ग समाप्त



एकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं चिन्मात्रमेवैकं शुद्धं सत्त्वं जगत्त्रयम् ।
संभवन्तीह भूतानि नाऽज्ञबुद्धानि कानिचित् ॥ १ ॥
तस्मात्कुतः शरीरादि वस्तु सप्रतिघं कुतः ।
यदिदं दृश्यते किंचित्तदप्रतिघमाततम् ॥ २ ॥
स्थितं चिद्व्योम चिद्व्योम्नि शान्ते शान्तं समं स्थितम् ।
स्थितमाकाशमाकाशे ज्ञप्तिर्ज्ञप्तौ विजृम्भते ॥ ३ ॥
सर्वं संविन्मयं शान्तं सत्स्वप्न इव जाग्रति ।
स्थितमप्रतिघाकारं काऽसौ सप्रतिघा स्थितिः ॥ ४ ॥
क्व देहावयवाः काऽन्त्रवेष्टनी काऽस्थिपञ्जरम् ।
व्योमैवाऽप्रतिघं विद्धि देहं सप्रतिघोपमम् ॥ ५ ॥

एक सौ उन्यासी सर्ग

[यतः सारा विश्व निराकार चिन्मात्ररूपसे स्थित है अतः पूर्वोक्त शङ्काका अवसर कहाँ है, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार त्रैलोक्य केवल शुद्ध चिन्मात्र सत्त्व ही है । इसमें अज्ञानियों द्वारा मूर्तरूपसे ज्ञात भूतोंका संभव ही नहीं है ॥ १ ॥

इसलिए कहाँसे शरीर आदि हो सकते हैं और कहाँसे समूर्त वस्तु हो सकती है । जो यह कुछ दिखाई देता है वह अमूर्त ब्रह्म ही व्याप्त है ॥ २ ॥

चिदाकाशमें चिदाकाश स्थित है, सकल वैषम्यसे मुक्त शान्त ब्रह्म शान्त ब्रह्ममें स्थित है, आकाश आकाशमें स्थित है, ज्ञान ज्ञानमें स्फुरित है ॥ ३ ॥

जैसे जाग्रत् कालमें स्वप्न संविन्मय शान्त अमूर्ताकार रहता है वैसे ही सब कुछ संविन्मय (चिन्मात्रमय) शान्त होकर अमूर्ताकारसे स्थित है । आपके द्वारा कही गई यह सप्रतिघ स्थिति कहाँ है ? जहाँपर कि यह आपकी शङ्का अग्रसर हो, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

देह, उसके अवयव आदि प्रबुद्ध (जागे हुए) पुरुषकी दृष्टिसे स्वप्न

संवित्करौ शिरः संवित्सर्वविदिन्द्रियवृन्दकम् ।
शान्तमप्रतिघं सर्वं न सप्रतिघमस्ति हि ॥ ६ ॥
ब्रह्मव्योम्नः स्वप्नरूपस्वभावत्वाज्जगत्स्थितेः ।
इदं सर्वं संभवति सहेतुकमहेतुकम् ॥ ७ ॥
न कारणं विना कार्यं भवतीत्युपपद्यते ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते ॥ ८ ॥

शरीरके समान चिन्मात्र ही हैं इसलिए उनमें समूर्तताकी शङ्का अज्ञानीकी दृष्टिसे ही हो सकती है तात्त्विक दृष्टिसे नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'क' इत्यादिसे ।

देहके अवयव कहाँ है, कहाँ अँतड़ियाँ हैं, कहाँ अस्थिपञ्जर (कंकाल) है आकाशके समान अमूर्त देहको आप स्वप्नदेहके समान समूर्त जानिये ॥५॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध मूर्त शरीर आदिका अपलाप केवल साहस ही है यह समझना ठीक नहीं, ऐसा कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

हाथ संवित् (चिन्मात्र) हैं, सिर संवित् है, सब इन्द्रियाँ सविद्रूप हैं सब कुछ शान्त अमूर्त है समूर्त कुछ भी नहीं है । सहेतुक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध भी मूर्तता अहेतुक प्रमाणवाली और सकारण भी अकारण है, क्योंकि 'तस्य त्रय आवस्थास्त्रयः स्वप्नाः', 'नेह नानास्ति किंचन', 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति', 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोंसे ही जगत्का अपलाप किया जाता है ॥ ७ ॥

कारणके बिना कार्य नहीं होता है, ब्रह्म निर्विकार और अद्वितीय है अन्य कारण कोई है नहीं, अतः जगत्की अनुत्पत्ति ही है तत्त्वदृष्टिसे यों जगत्के अपलापकी उपपत्ति होती है । अज्ञानीकी दृष्टिसे तो सृष्टिके अनादि होनेसे कारणपरम्पराका संभव होनेके कारण तथा ब्रह्मकी प्रसिद्धि न होनेसे उत्पत्ति आदि सबकी उपपत्ति होती है । इसलिए जिसने जैसा निर्णय किया उसको वह वैसा प्रतीत होता है यों अपने अपने निश्चयके अनुसार दोनोंकी उपपत्ति होती है ॥ ८ ॥

कारणेन विना कार्यं सद्वदित्युपपद्यते ।
यथाभावितमेवाऽर्थं संविदाप्नोत्यसंशयम् ॥ ९ ॥
यथा संभवति स्वप्ने सर्वं सर्वत्र सर्वथा ।
चिन्मयत्वात्तथा जाग्रत्यस्ति सर्वात्मरूपता ॥ १० ॥
सर्वात्मनि ब्रह्मपदे नानानानात्मनि स्थिता ।
अस्त्यकारणकार्याणां सत्ता कारणजाऽपि च ॥ ११ ॥
एकः सहस्रं भवति यथा ह्येते किलैन्दवाः ।
प्रयाताभूतलक्षत्वं संकल्पजगतां गणैः ॥ १२ ॥
सहस्रमेकं भवति संविदां च तथा हि यत् ।
सायुज्ये चक्रपाण्यादेः सर्गैरेकं भवेद्वपुः ॥ १३ ॥

युक्तिदृष्टिसे तो कारणके बिना उत्पन्न संवित्‌रूप लब्ध यह जगत् न तो अत्यन्त असत् है और न अत्यन्त सत् है किन्तु सद्वत् है, यह कहते हैं— **'कारणेन'** इत्यादिसे ।

कारणके बिना कार्य सद्वत् सिद्ध होता है संभावनाके अनुसार ही अर्थको संवित् निस्सन्देह प्राप्त करती है ॥ ९ ॥

जैसे स्वप्नमें चिन्मय आत्माके सर्वरूप होनेसे सब कुछका सर्वत्र सर्वथा संभव है वैसे ही जाग्रत्‌में भी चैतन्यमय होनेसे ब्रह्मकी सर्वात्मरूपताका संभव है ॥ १० ॥

मायावादमें तो सब अविरुद्ध है, यह कहते हैं—**'सर्वात्मनि'** इत्यादिसे ।

नाना और अनानारूप सर्वात्मक ब्रह्मपदमें यथार्थमें बिना कारणके कार्योंकी सत्ता स्थित है और कल्पितरूपसे कारणजन्य भी सत्ता है ॥ ११ ॥

एक भी सहस्र हो जाता है जैसे कि ये ऐन्दव सङ्कल्पजनित जगतोंके समूहोंके साथ लाखों भूत बन गये वैसे ही हजारों संवित् भी एक हो जाती हैं क्योंकि सायुज्य मुक्तिमें सब सृष्टियोंके साथ विष्णु आदिका (आदिसे ब्रह्म, रुद्र चन्द्र, इन्द्र, सूर्य आदि ग्रहण करना चाहिये) एक शरीर होता है ॥ १२,१३ ॥

एक एव भवत्यब्धिः स्रवन्तीनां शतैरपि ।
एक एव भवेत्काल ऋतुसंवत्सरोत्करैः ॥ १४ ॥
संविदाकाश एवाऽयं देहः स्वप्न इवोदितः ।
स्वप्नाद्रिवन्निराकारः स्वानुभूतिस्फुटोऽपि च ॥ १५ ॥
संवित्तिरेवाऽनुभवात्मैवाऽननुभवात्मिका ।
द्रष्टृदृश्यदृशा भाति चिद्व्योमैकमतो जगत् ॥ १६ ॥
वेदनावेदनात्मैकं निद्रास्वप्नसुषुप्तवत् ।
वातस्पन्दाविवाऽभिन्नौ चिद्व्योमैकमतो जगत् ॥ १७ ॥
द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चिद्भानं परमार्थखम् ।
शून्यं स्वप्न इवाऽऽभाति चिद्व्योमैकमतो जगत् ॥ १८ ॥

भिन्नसत्तावाली वस्तुओंमें सत्ताकी ऐक्यप्राप्ति तो लोकमें भी प्रसिद्ध है यह कहते हैं—**'एक एव'** इत्यादिसे ।

सैकड़ों नदियोंसे भिन्न होता हुआ भी समुद्र एक ही है, ऋतु, संवत्सर आदिसे भिन्न भी काल एक ही है ॥ १४ ॥

वैसे ही एक ही आत्मा भ्रान्तिसे देहादि नानात्वको प्राप्त हुआ जैसा प्रतीत होता है, यह कहते हैं—**'संविदाकाश'** इत्यादिसे ।

यह संविदाकाश ही स्वप्नमें उदित देहकी तरह प्रकट हुआ है, स्वानुभूतिसे स्फुट भी स्वप्नपर्वतकी तरह निराकार है ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त अनुभवसे जगत् संवित्रूप ही है वह संवित् ही द्रष्टा और दृश्यकी दृष्टिसे (अर्थात् भ्रान्तिसे उनको पृथक् पृथक् मानकर) अननुभवात्मिका (जगत्रूप) प्रतीत होती है, इसलिए जगत् एकमात्र चिदाकाश ही है ॥ १६ ॥

जिस प्रकार एक ही निद्रा, स्वप्न और सुषुप्तिमें क्रमसे वेदनात्मिका और अवेदनात्मिका हो जाती है । जैसे वात और स्पन्द अभिन्न हैं वैसे ही चित् और जगत् अभिन्न हैं, इसलिए यह जगत् एकमात्र चिदाकाश ही है ॥ १७ ॥

द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूपसे सर्वपदार्थशून्य चिद्भान परमार्थाकाश ही स्वप्नकी भाँति प्रतीत होता है, इसलिए यह जगत् एक चिदाकाश ही है ॥ १८ ॥

जगत्त्वमसुदेवेशे भ्रान्त्या प्रथमसर्गतः ।
स्वप्ने भयमिवाऽशेषं परिज्ञातं प्रशाम्यति ॥ १९ ॥
एकस्याः संविदः स्वप्ने यथा भानमनेकधा ।
नानापदार्थरूपेण सर्गादौ गगने तथा ॥ २० ॥
बहुदीपे गृहे छाया बह्वयो भान्त्येकवद्यथा ।
सर्वशक्तेस्तथैवैका भाति शक्तिरनेकधा ॥ २१ ॥
यत्सीकरस्फुरणमम्बुनिधौ शिवाख्ये
व्योम्नीव वृक्षनिकरस्फुरणं स सर्गः ।
व्योम्न्येष वृक्षनिकरो व्यतिरिक्तरूपो
ब्रह्माम्बुधौ न तु मनागपि सर्गबिन्दुः ॥ २२ ॥

इत्यार्षे वा० महारामायणे वा०दे०मो०नि०उ०ब्रह्म०ब्रह्ममयत्वप्रतिपादनं नामैकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७९ ॥

चूँकि प्रथम सर्गसे ही ईश्वरमें भ्रान्तिसे प्रतीत हुआ जगत्त्व असद् ही है इसलिए स्वप्नमें प्राप्त व्याघ्रादिके भयकी तरह परिज्ञात होते ही यह सम्पूर्णतया शान्त हो जाता है ॥ १९ ॥

एक ही संवितका स्वप्नमें जिस प्रकार अनेकरूपसे भान होता है उसी प्रकार सृष्टिके आदिमें एक ही संवित्का चिदाकाशमें नाना पदार्थरूपसे भान होता है ॥ २० ॥

अनेक दीप प्रभाओंके एकवद् भानकी तरह एक ही माया शक्तिका अनेकधा भान हो सकता है, यह कहते है—**'बहुदीपे'** इत्यादिसे ।

जैसे बहुत दीपकोंवाले घरमें बहुत-सी छायाएँ (कान्तियाँ) एकवत् प्रतीत होती हैं वैसे ही सर्वशक्ति परमात्माकी एक शक्ति (माया) भी अनेकधा प्रतीत होती है ॥ २१ ॥

आकाशमें भ्रान्तिसे वृक्ष-समूहके स्फुरणकी भाँति इस ब्रह्मरूप समुद्रमें जो सीकर-स्फुरण है वही यह सृष्टि है । अन्तर केवल इतना ही है कि आकाशमें जो वृक्ष-समूह है वह आकाशधर्म शून्यतासे अनुविद्धरूपसे स्फुरण न होनेके कारण अत्यन्त भिन्नरूप है और ब्रह्माम्बुधिमें यह स्फुरित हो रहा सर्गबिन्दु किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं है ॥ २२ ॥

एक सौ उन्यासी सर्ग समाप्त

अशीत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

इमं मे संशयं छिन्धि भगवन्भास्करं तमः ।
भुवनस्येव भावानां सम्यग्रूपानुभूतये ॥ १ ॥
कदाचिदहमेकाग्रो विद्यागेहे विपश्चिताम् ।
संसदि स्थितवान्यावत्तावत्तापसः कश्चिदागतः ॥ २ ॥
विद्वान् द्विजवरः श्रीमान्विदेहजनमण्डलात् ।
महातपाः कान्तियुतो दुर्वासा इव दुःसहः ॥ ३ ॥
स प्रविश्याऽभिवाद्याऽऽशु सभामाभास्वरद्युतिम् ।
उपविश्याऽऽसने तिष्ठन्नस्माभिरभिवादितः ॥ ४ ॥

एक सौ अस्सी सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजी द्वारा वर्णित कुन्ददन्तोपाख्यानमें पर्वतपर वृक्षमें लटके हुए तपस्वीके वरप्राप्तिपर्यन्त वृत्तान्तका वर्णन]

स्वयं प्रबुद्ध राम चिरकाल तक तत्त्वजिज्ञासासे अपने आश्रयमें स्थित कुन्ददन्त नामक द्विजको प्रस्तुत उपदेशके श्रवणसे तत्त्वबोध हुआ या नहीं इस अपने सन्देहको गुरुमुखसे परिमार्जित करनेकी इच्छासे आश्चर्यभूत उसकी कथाकी भूमिका रचते हुए गुरुसे प्रार्थना करते हैं—'**इमम्**' इत्यादिसे ।

हे भगवन्, जिस प्रकार संसारकी समग्र वस्तुओंके रूपकी सम्यक् अनुभूतिके लिए भास्कर अन्धकारका नाश करता है उसी प्रकार आप मेरे इस संशयका नाश कीजिए ॥ १ ॥

सन्देहका बीज दर्शानेके लिए आख्यान प्रारम्भ करते हैं—'**कदाचित्**' इत्यादिसे ।

किसी एक समय जब कि मैं विद्यामन्दिरमें विद्वानोंकी सभामें स्थित था उस समय कोई द्विजश्रेष्ठ जो विद्वान्, श्रीमान्, महातपस्वी, कान्तियुक्त और दुर्वासाकी तरह दुर्धर्ष था, विदेह राजाके राज्यसे आया ॥ २,३ ॥

उस द्विजश्रेष्ठने प्रवेश करके शीघ्र ही चारों ओर देदीप्यमान द्युतिवाली द्विजसभाको प्रणाम किया और आसन ग्रहण किया हमने भी खड़े होकर उसका अभिवादन किया ॥ ४ ॥

वेदान्तसांख्यसिद्धान्तवादान् संहृत्य सत्तमम् ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तं तमहं पृष्टवानिदम् ॥ ५ ॥
दिर्घाध्वना परिश्रान्तः सयत्न इव लक्ष्यसे ।
वदाऽद्य वदतां श्रेष्ठ कुत आगमनं कृतम् ॥ ६ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतन्महाभाग सुमहायत्नवानहम् ।
यदर्थमागतोऽस्मीह तस्याऽऽकर्णय निर्णयम् ॥ ७ ॥
वैदेहो नाम देशोऽस्ति सर्वसौभाग्यसंयुतः ।
स्वर्गस्याऽम्बरसंस्थस्य प्रतिबिम्बमिवाऽवनौ ॥ ८ ॥
तत्राऽहं ब्राह्मणो जातः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः ।
कुन्दावदातदन्तत्वात्कुन्ददन्त इति श्रुतः ॥ ९ ॥
अथाऽहं जातवैराग्यः प्रविहर्तुं प्रवृत्तवान् ।
देवद्विजमुनीन्द्राणां संभ्रमाच्छ्रमशान्तये ॥ १० ॥

तब प्रकरणप्राप्त अपने अधीयमान वेदान्त, सांख्य आदिके सिद्धान्तोंके वादोंको बन्द करके सुखपूर्वक विश्राम करनेके अनन्तर बैठे हुए उस श्रेष्ठ ब्राह्मणसे मैंने पूछा ॥ ५ ॥

हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ, दीर्घमार्गमें चलनेसे थके हुए आप किसी अर्थको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील मालूम पड़ते हैं। कहिये कहाँसे आपका आगमन हुआ ॥ ६ ॥

ब्राह्मणने कहा—हे महाभाग, यह ठीक है कि मैं किसी विशेष अर्थके लिए महा प्रयत्नशील हूँ, मैं यहाँ जिसलिए आया हूँ उसका निर्णय सुनिये ॥७॥

इस पृथिवीमें, आकाशमें स्थित स्वर्गके प्रतिबिम्बकी तरह, वैदेह नामका सर्वसौभाग्योंसे युक्त देश है ॥ ८ ॥

उसी वैदेह देशमें ब्राह्मणवंशमें मैं उत्पन्न हुआ और विद्या प्राप्त करके स्थित रहा, कुन्दपुष्पकी तरह चमकीले दाँत होनेसे कुन्ददन्त नामसे मेरी प्रसिद्धि हुई ॥९॥

इसके उपरान्त हृदयमें वैराग्यवान् हुआ मैं भ्रान्तिसे उत्पन्न संसार क्लेशोंकी निवृत्तिके लिए देवता, द्विज और मुनीन्द्रोंके स्थानोंमें भ्रमण करनेमें प्रवृत्त हुआ ॥ १० ॥

श्रीपर्वतमखण्डेहं कदाचित्प्राप्तवानहम् ।
तत्राऽवसं चिरं कालं मृदु दीर्घं तपश्चरन् ॥ ११ ॥
तत्राऽस्त्यरण्यं विदितं मुक्तं तृणावनादिभिः ।
त्यक्ततेजस्तमोऽभ्रादि भूमाविव नभस्तलम् ॥ १२ ॥
तत्राऽस्ति मध्ये विटपी लघुः पेलवपल्लवः ।
स्थित एषोऽम्बरे शून्ये मन्दरश्मिरिवांऽशुमान् ॥ १३ ॥
लम्बते तस्य शाखायां पुरुषः पावनाकृतिः ।
भानुर्भानाविव रश्मिगृहीतो ग्रथिताकृतिः ॥ १४ ॥
मौञ्जदामनि बद्धोर्ध्वपादो नित्यमवाक्शिराः ।
अष्ठीलत्वं दधदिव महाष्ठीलस्य शाल्मलेः ॥ १५ ॥
दृष्टः भ्राम्येन तं देशं स कदाचिन्मया पुमान् ।
विचारितो निकटतो वक्षःस्थाञ्जलिसंपुटः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार घूमता हुआ मैं कभी श्रीपर्वतपर जा पहुँचा और वहाँ चिर कालतक मृदु (अतीक्ष्ण) तथा दीर्घकालीन तपस्या करता हुआ अखण्ड-चेष्टापूर्वक रहा ॥ ११ ॥

उस श्रीपर्वतमें तृणवनादिसे विहीन एक ऐसा वन प्रसिद्ध है जो भूमिमें तेज, तम, बादल आदिसे रहित (अर्थात् केवल शून्य) आकाश-सा है ॥ १२ ॥

उस वनके मध्यमें एक कोमल पल्लवोंवाला छोटा-सा वृक्ष इस प्रकार स्थित है जैसे शून्य आकाशमें मन्दकिरण सूर्य स्थित हो ॥ १३ ॥

उस वृक्षकी शाखामें एक पवित्र आकृतिवाला पुरुष रस्सीसे बँधा हुआ लटक रहा था मानो भानु ही अपनी रश्मियोंसे पाद बाँधकर लटकता हो ॥१४॥

मूँजकी रस्सीसे ऊपरकी ओर बाँधे हुए पैरोंवाला नित्य नीचेको लटके सिर-वाला वह बड़ी बड़ी अष्ठीलोंवाले (गाँठोंवाले) शाल्मलिवृक्षकी अष्ठीलताको (लम्बायमान पर्वग्रन्थिताको) धारण करता हुआ-सा स्थित था ॥ १५ ॥

भ्रमण करते करते उस देशको प्राप्त हुए मैंने वक्षस्थलमें अञ्जलि बाँधकर प्रणाम करते हुए उस पुरुषको देखा और उसके निकट जाकर विचार किया ॥ १६ ॥

यावज्जीवत्यसौ विप्रो निःश्वसित्यहताकृतिः ।
शीतवातातपस्पर्शान्सर्वान्वेत्ति च कालजान् ॥ १७ ॥
अनन्तरमसावेको नोपचर्य मया बहून् ।
दिवसातपखेदेन विश्रम्भे पातितः शनैः ॥ १८ ॥
पृष्टश्च कोऽसि भगवन्किमर्थं दारुणं तपः ।
करोषीदं विशालाक्ष लक्ष्यालक्ष्यात्मजीवितः ॥ १९ ॥
अथ तेनोक्तमर्थस्ते क इवाऽनेन तापस ।
अर्थेनाऽतिविचित्रा हि भवन्तीच्छाः शरीरिणाम् ॥ २० ॥
इत्युक्तवान्प्रयत्नेन सोऽनुबन्धेन वै मया ।
यदा पृष्टस्तदा तेन ममोक्तमिदमुत्तरम् ॥ २१ ॥
मथुरायामहं जातो वृद्धिं यातः पितुर्गृहे ।
बाल्ययौवनयोर्मध्ये स्थितः पदपदार्थवित् ॥ २२ ॥

उसी विचारको स्पष्ट करते हैं—'**यावत्०**' इत्यादिसे ।

तो यह ब्राह्मण अभी तक जीवित तो है, क्योंकि बराबर अहताकृति होकर श्वास लेता है और तत्तत्समयजन्य शीत, वात, घाम आदि स्पर्शोंको जानता है ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर उस पुरुषको मैंने बहुत दिनों तक दिवसकी धूप सहकर नाना प्रकारकी उपचर्यासे धीरे धीरे अपने प्रति विश्वस्त कर लिया ॥१८॥

फिर पूछा भी हे भगवन्, आप कौन हैं और हे विशालाक्ष, चिरकालके दीर्घ उच्छ्वासोंसे लक्ष्य और अलक्ष्य हो रहा है जीवन जिसमें ऐसा दारुण-तप क्यों कर रहे हैं ॥ १९ ॥

तब उस पुरुषने कहा—हे तापस, इस मेरे कुल, देश, तपस्या आदिको जाननेसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है, क्योंकि शरीरियोंकी अत्यन्त विचित्र इच्छाएँ किसी प्रयोजनसे ही होती हैं निष्प्रयोजन अर्थकी जिज्ञासा नहीं होती ॥ २० ॥

इतना कहनेपर मैंने प्रयत्नसे तथा विनयपूर्ण आग्रहसे जब पूछा तब उस तपस्वीने मुझे यह उत्तर दिया ॥ २१ ॥

मैं मथुरामें उत्पन्न हुआ और पिताके घरमें ही वृद्धिको प्राप्त हुआ,

समग्रसुखसंभारकोशो भवति भूमिपः ।
इत्यहं श्रुतवांस्तत्र भोगार्थी नवयौवनः ॥ २३ ॥
अथ सप्तमहाद्वीपविस्तीर्णाया भुवः पतिः ।
स्यामित्यहमुदारात्मा परिविम्बितवांश्चिरम् ॥ २४ ॥
इत्यर्थेन समागत्य देशमित्थमहं स्थितः ।
अत्र द्वादश वर्षाणि समतीतानि मानद ॥ २५ ॥
तदकारणमित्र त्वं गच्छेष्टं देशमाशुगः ।
अहं चाऽभिमतप्राप्तेरित्थमेव दृढस्थितिः ॥ २६ ॥
इति तेनाऽहमुक्तः संस्तमित्थं प्रोक्तवाञ्छृणु ।
आश्चर्यश्रवणे चेतः खेदमेति न धीमतः ॥ २७ ॥
साधो यावत्त्वया प्राप्तो न नामाऽभिमतो वरः ।
त्वद्व्रतापरिचर्यार्थमिह तावदहं स्थितः ॥ २८ ॥

बाल्यावस्था और यौवनके मध्यमें (अर्थात् कुमार अवस्थामें) ही पद (शब्दशास्त्र) और पदार्थ ((अर्थशास्त्र) का ज्ञाता बन गया ॥ २२ ॥

उन शास्त्रोंमें मैंने सुना कि राजा समग्र भोगसामग्रीका आश्रय होता है अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्यका उपभोक्ता होता है। नवयौवन भोगका इच्छुक होता ही है ॥ २३ ॥

ऐसा सुननेके अनन्तर सप्तमहाद्वीपोंमें विस्तृत इस पृथ्वीका पति और उदारात्मा (याचकोंकी सारी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ) होऊँ ऐसी मैं चिरकाल तक इच्छा करता रहा ॥ २४ ॥

इसी प्रयोजनसे इस देशमें आकरके इस प्रकार मैं स्थित हूँ और हे मानद, मेरे यहाँ बारह वर्ष बीत गये हैं ॥ २५ ॥

तुम्हारा पूछा हुआ अर्थ मैंने कह दिया, इसलिये हे अकारणमित्र, शीघ्रतासे पर्यटन करते हुए तुम अपने अभीष्ट स्थानको जाओ और मैं भी अपनी अभीष्ट-प्राप्ति तक तपश्चर्यामें दृढ़तासे संलग्न होता हूँ ॥ २६ ॥

उसके इतना कहनेपर मैंने उससे जो कहा सो सुनिये, क्योंकि आश्चर्य वृत्तान्त सुननेमें किसी भी धीमान्‌का चित्त खिन्न नहीं होता ॥ २७ ॥

मैंने कहा हे साधो, जबतक तुम अपना अभिलषित वर प्राप्त नहीं कर

मयेत्युक्ते स पाषाणमौनवानभवच्छमी ।
निमीलितेक्षणः क्षीणरूपस्त्वकलनो बहिः ॥ २९ ॥
तथाऽहं पुरतस्तस्य काष्ठमौनवतोऽवसम् ।
षण्मासान्विगतोद्वेगं वेगान्कालकृतान्सहन् ॥ ३० ॥
अर्कबिम्बाद्विनिष्क्रम्य तत्प्रदेशान्तरे स्थितम् ।
एकदा दृष्टवानस्मि पुरुषं भानुभास्वरम् ॥ ३१ ॥
स तेन पूज्यते यावन्मनसा कर्मणा मया ।
उवाच तावद्वचनममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥ ३२ ॥
शाखाप्रलम्बनपर हे ब्रह्मन्दीर्घतापस ।
तपः संहर संहारि गृहाणाऽभिमतं वरम् ॥ ३३ ॥
सप्ताब्धिद्वीपवलयां पालयिष्यसि मेदिनीम् ।
सप्तवर्षसहस्राणि देहेनाऽनेन धर्मतः ॥ ३४ ॥

लेते तबतक तुम्हारी रक्षा और परिचर्याके लिए मैं यहीं रहूँगा ॥ २८ ॥

मेरे इतना कहनेपर वह जितेन्द्रिय पाषाणमूर्त्तिकी तरह मौन हो गया, उसने आँखें बन्द कर लीं उसका शरीर मृतकी तरह हो गया क्योंकि वह बाहरसे हिलता डुलता न था ॥ २९ ॥

तब उस काष्ठवत् मौन तपस्वीके आगे उद्वेग रहित होकर कालजन्य शीतोष्णादि वेगोंको सहता हुआ मैं छः महीने तक रहा ॥ ३० ॥

एक दिन सूर्यबिम्बसे निकलकर उस प्रदेशमें स्थित हुए भानुकी तरह चमकते हुए किसी पुरुषको मैंने देखा ॥ ३१ ॥

जब उस तपस्वीने मनसे और मैंने कर्मसे (अर्घादिसे) उसकी (पुरुषकी) पूजा की तब वह अमृतद्रवकी भाँति सुन्दर वचन बोला ॥ ३२ ॥

हे शखाओंमें लटके हुए दीर्घकालसे तपस्यामें निरत ब्रह्मन्, देहका संहार करनेवाली इस तपश्चर्याको समाप्त करो और अपना अभिमत वर ग्रहण करो ॥ ३३ ॥

तुम इसी देहसे सप्त समुद्रोंसे वेष्टित सप्तद्वीपवती महीका सात हजार वर्षतक धर्मपूर्वक पालन करोगे ॥ ३४ ॥

एवं समीहितं दत्त्वा स द्वितीयो दिवाकरः ।
गन्तुमस्तमथाऽर्काब्धिमविशत्प्रोदितो यतः ॥ ३५ ॥
तस्मिन् याते मया प्रोक्तं तस्य शाखातपस्विनः ।
श्रुतदृष्टानुभूताग्र्यवरदस्य विवेकिनः ॥ ३६ ॥
संप्राप्ताभिमतं ब्रह्मंस्तरुशाखावलम्बनम् ।
तपस्त्यक्त्वा यथाप्राप्तं व्यवहारं समाचर ॥ ३७ ॥
एवमङ्गीकृतवतः पादौ तस्य मया ततः ।
मुक्तौ विटपिनस्तस्मादालानात्कालभाविव ॥ ३८ ॥
स्नातः पवित्रहस्तोऽसौ चक्रे जप्त्वाऽघमर्षणम् ।
फलेन पुण्यलब्धेन विटपाद् व्रतपारणम् ॥ ३९ ॥
तत्पुण्यवशतः प्राप्तैः स्वादुभिस्तैस्तरोः फलैः ।
समाश्वस्तावसंक्षुब्धावावां तत्र दिनत्रयम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार अभीप्सित वर देकर वह द्वितीय सूर्य-सा पुरुष जहाँसे उदित हुआ था उसी अर्काब्धिमें (सूर्यमण्डलमें) अस्त होनेके लिए प्रवेश कर गया ॥ ३५ ॥

उस सूर्य-पुरुषके चले जानेपर मैंने शास्त्रोंमें जैसा सुना था वैसे ही श्रेष्ठ आदित्य पुरुषको जिसने प्रत्यक्ष देखा था और वरदानव्यवहारसे अनुभव किया था ऐसे उस विवेकी शाखातपस्वीसे कहा ॥ ३६ ॥

हे ब्रह्मन्, वृक्षशाखामें लम्बायमान होकर जो आपने तपस्या की थी, उसका फल आपको प्राप्त हो गया, अब आप तप छोड़कर यथाप्राप्त गृहगमनादि व्यापार करें ॥ ३७ ॥

यह स्वीकार कर लेनेपर उस पुरुषके बँधे पैरोंको मैंने वृक्षसे इस प्रकार मुक्त किया जैसे आलानसे (बन्धनस्तम्भसे) हाथीके बच्चेके पैरोंको मुक्त करते हैं ३८ ॥

स्नान करके पवित्र-हस्त हो अघमर्षणका जप करके तपकी सिद्धिके बलसे उसी वृक्षसे प्राप्त फलोंसे मेरे साथ उसने व्रतकी पारणा की। उसीके पुण्य-प्रतापसे प्राप्त हुए वृक्षके स्वादयुक्त फलोंसे आश्वस्त हुए हम दोनों तीन दिनतक आरामके साथ वहाँ रहे ॥ ३९,४० ॥

सप्तद्वीपसमुद्रमुद्रितदिशं भोक्तुं समग्रां महीं
विप्रः पादपलम्बितेन वपुषा तप्त्वोर्ध्वपादस्तपः ।
संप्राप्याऽभिमतं वरं दिनकृतो विश्वस्य चाऽह्नां त्रयं
सार्धं मत्सुहृदा स्वमेव सदनं गन्तुं प्रवृत्तोऽभवत् ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु तापसोपाख्यानं नामाऽशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८० ॥

इसी उपरोक्त कथाका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'सप्त' ० इत्यादिसे ।

सप्तद्वीप और समुद्रोंसे व्याप्त दिशाओंवाली समग्र पृथ्वीका उपभोग करनेके लिए वृक्षमें शरीर लटका कर ऊपरकी ओर पैर कर कठिन तपस्या करनेके अनन्तर सूर्यपुरुषसे अपना अभिलषित प्राप्त करके, उसी वृक्षके नीचे तीन दिन विश्राम कर पादपीड़ादिकी निवृत्ति हो जानेपर वह ब्राह्मण मुझ मित्रको साथ लेकर अपने भवन मथुराको जानेके लिये प्रवृत्त हुआ ॥ ४१ ॥

एक सौ अस्सी सर्ग समाप्त



एकाशीत्यधिकशततमः सर्गः

कुन्ददन्त उवाच

आवासमन्तरे गन्तुं प्रवृत्तौ मुदिताकृती ।
मथुरानगरीं चन्द्रसूर्याविन्द्रपुरीमिव ॥ १ ॥
प्राप्य रोधाभिधं ग्रामं विश्रम्याऽऽम्रवणाचले ।
उषितौ द्वे दिने तस्मिन्सालीसे नगरे सुखम् ॥ २ ॥
अध्वाऽऽनन्दितचित्ताभ्यामावाभ्यामतिवाहितः ।
द्वितीयेऽहनि शीताम्बुस्निग्धच्छायावनद्रुमाः ॥ ३ ॥
नदीतीरलतोन्मुक्तपुष्पप्रकरपाण्डुराः ।
तरत्तरङ्गझांकारगायनानन्दिताध्वगाः ॥ ४ ॥
स्निग्धद्रुमवनच्छायरणन्मृगविहंगमाः ।
स्थूलशाद्वलशाखाग्रप्रोतावश्यायमौक्तिकाः ॥ ५ ॥

एक सौ इक्यासी सर्ग

[मथुरा जाते जाते मार्ग भूल जानेसे उनका गौरीवनमें गमन तथा वहाँपर वृद्ध तपस्वीके साथ वार्तालापका वर्णन]

कुन्ददन्तने कहा—भगवन्, जैसे चन्द्र और सूर्य इन्द्रपुरीको, जो पूर्व दिशामें हैं, जानेके लिए प्रवृत्त हो सायंकालमें पश्चिम दिशामें आवास लेते हैं वैसे ही प्रसन्नवदन हम लोग भी मथुरापुरीके लिए रवाना हो शाम तक चलकर मध्यमें आवासमें जानेके लिए प्रवृत्त हुए ॥ १ ॥

क्रमसे अपने आवासस्थानोंका वर्णन करते हैं—'**प्राप्य**' इत्यादिसे ।

रोध नामक गाँवमें पहुँचकर आमके वनोंकी अधिकतावाले पर्वतपर विश्राम कर हम लोग दो दिन प्रसिद्ध सालीस नामके नगरमें सुखपूर्वक रहे ॥२॥

दूसरे दिन मार्गमें परस्परके वृत्तान्तोंके श्रवणसे आनन्दमग्न चित्तवाले हम लोगोंने अपना बहुतसा मार्ग लांघा । शीतल जलके झरनों तथा ठण्ढी छाया-वाले वनवृक्षोंसे पूर्ण, नदीतटपर उगी हुई लताओं द्वारा वर्षाई गई पुष्पराशियोंसे सफेद, तैर रही तरङ्गोंके झनकार रूपी गायनसे पथिकोंको आनन्दित करनेवाली, स्निग्ध छायावाले वनवृक्षोंके तले बैठे मृग और पक्षियोंके भाँति भाँतिके शब्दोंसे कूजित,

जंगलाद्रिपुरग्रामश्वभ्रानूपस्थलावनीः
समुल्लङ्घ्य दिने तस्मिन्सरित्स्रोतः सरांसि च ॥ ६ ॥
नीतवन्तौ निशामावां कदलीकानने घने ।
तुषारशिशिरे श्रान्तौ कदलीदलतल्पके ॥ ७ ॥
प्राप्तावावां तृतीयेऽह्नि अब्जषण्डकमण्डितम् ।
जङ्गलं जनविच्छेदविभक्तं खमिवाऽऽकृतम् ॥ ८ ॥
तत्र स प्रकृतं मार्गं परित्यज्य वनान्तरम् ।
प्रविशन्समुवाचेदमकार्यकरणं वचः ॥ ९ ॥
गच्छावोऽत्राऽऽश्रमे गौर्या मुनिमण्डलमण्डिते ।
भ्रातरो मे स्थिताः सप्त वनेष्वेवमिवाऽर्थिनः ॥ १० ॥
भ्रातरोऽष्टौ वयमिमे जातानेकतया तया ।
एकसंविन्मया जाता एकसंकल्पनिश्चयाः ॥ ११ ॥

जिनकी बड़ी बड़ी हरी घासोंकी शाखाओंके अग्रभागपर ओसकी बूंदरूपी मोती गुंथे हुए थे, कहींपर जंगलरूप, कहीपर पर्वतप्राय, कहींपर गांव-नगररूप, कहींपर गर्तरूप और कहींपर दलदलरूप पृथिवीको तथा नाना नदियों, सोतों और सरोवरोंको पारकर उस दिन बर्फसे अत्यन्त शीतल केलेके घने वनमें केलेके पत्तोंके विस्तरपर लेटकर हम लोगोंने रात बिताई ॥ ३—७ ॥

तीसरे दिन हम लोग कमलराशियों तथा लतानिकुञ्जोंसे परिवेष्टित जंगलमें जो चारों ओर घास और लकड़ियाँ ले जानेवाले लोगों द्वारा काट काट कर विभक्त बनाया गया था अतएव बादलोंके विच्छेदोंसे (खण्डोंसे) विभक्त आकाश-सा था, पहुँचे ॥ ८ ॥

वहाँपर प्रस्तुत मार्गको छोड़कर दूसरे वनमें प्रवेशकर रहे उस तपस्वीने मुझसे वृथा कालविलम्ब द्वारा प्रस्तुत गृहगमनरूप कार्यमें विघ्न डालनेवाला अकार्य-करणरूप वचन कहा ॥ ९ ॥

हम लोग यहाँ गौरीके आश्रममें चलें, यह आश्रम मुनियोंके मण्डलसे सुशोभित है । मेरे सात भाई मेरी ही नाईं पृथिवीपति बननेके अभिलाषी होकर यहाँपर-स्थित हैं ॥ १० ॥

हम सब मिलकर ये आठ भाई हैं । पूर्ववर्णित सप्तद्वीपोंके राज्यभोगकी

तेन तेऽप्यत्र तपसे स्वनिश्चयममाश्रयाः ।
स्थिता आगत्य विविधैस्तपोभिः क्षपितैनसः ॥ १२ ॥
तैः सार्धं भ्रातृभिः पूर्वमागत्याऽहमिहाऽवमम् ।
षण्मासानाश्रमे गौर्यास्तेन दृष्टो मयैष सः ॥ १३ ॥
पुष्पखण्डतरुच्छायासुप्तमुग्धमृगार्भकः ।
पर्णोटजाग्रविश्रान्तशुकोद्ग्राहितशास्त्रदृक् ॥ १४ ॥
तद् ब्रह्मलोकसंकाशमेहि मुन्याश्रमं श्रिये ।
गच्छावोऽच्छतरं तत्र चेतः पुण्यैर्भविष्यति ॥ १५ ॥
विदुषामपि धीराणामपि तत्त्वविदामपि ।
त्वरते हि मनः पुंसामलंबुद्धिविलोकने ॥ १६ ॥
तेनेत्युक्ते च तावावां प्राप्तौ मुन्याश्रमं च तम् ।
यावत्तत्र महारण्ये पश्यावश्राऽन्तरूपिणम् ॥ १७ ॥

इच्छासे उत्पन्न अनेक मनोरथोंसे युक्त होनेसे हम आठों भाई तपस्याके लिए एक संविन्मय एक ही दृढ़निश्चयवान् हुए ॥ ११ ॥

इस कारण वे शेष सात भाई भी अपने दृढ़ निश्चयका अवलम्बन कर यहाँ गौरीकाननमें तपस्याके लिए आकर स्थित हैं। विविध तपस्याओंसे उन्होंने अपने सब पाप काट डाले हैं ॥ १२ ॥

उन भाइयोंके साथ आकर यहाँ गौरी आश्रममें पहले छः महीने मैं रहा हूँ इस कारण पहले मैंने जो देखा था वही यह गौरी-कानन है ॥ १३ ॥

यहाँपर पुष्पराशिसे परिपूर्ण सुन्दर वृक्षोंकी छायामें सुलौने मृगछौने सोये रहते हैं। पर्णशालाओंके छप्परोंके किनारोंपर बैठे हुए सुग्गे विविध शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका विस्तारसे वर्णन करते हैं ॥ १४ ॥

इसलिए आओ सर्वविध मंगलके लिए ब्रह्मलोक-सदृश मुनि-आश्रममें चलें। वहाँपर पुण्योंसे हमारा मन, सकल दोषोंका विनाश होनेसे, अत्यन्त स्वच्छ हो जायगा ॥ १५ ॥

तत्त्वदर्शनसे परिपूर्ण मनवाले महात्माओंके दर्शनके लिए विद्वान्, सुधीर और तत्त्वज्ञानी पुरुषोंका भी मन छटपटाता है हमारी तो कौन बात है ॥ १६ ॥

उक्त तपस्वीके यह कहनेपर हम दोनों उस मुनि-आश्रममें जो पहुँचे

न वृक्षं नोटजं किंचिन्न गुल्मं न च मानवम् ।
न मुनिं नाऽर्भकं नाऽन्यन्न वेदिं न च वा द्विजम् ॥ १८ ॥
केवलं शून्यमेवाऽति तदरण्यमनन्तकम् ।
तापोपतप्तमभितो भूमौ स्थितमिवाऽम्बरम् ॥ १९ ॥
हा कष्टं किमिदं जातमिति तस्मिन्वदत्यथ ।
आवाभ्यां सुचिरं भ्रान्त्वा दृष्ट एकत्र वृक्षकः ॥ २० ॥
स्निग्धच्छविर्घनच्छायः शीतलोऽम्बुधरोपमः ।
तले तस्य समाधाने संस्थितो वृद्धतापसः ॥ २१ ॥
आवामग्रे मुनेस्तस्य च्छायायां शाद्वलस्थले ।
उपविष्टौ चिरं यावन्नाऽसौ ध्यानान्निवर्तते ॥ २२ ॥
ततश्चिरेण कालेन मयोद्वेगेन चापलात् ।
उक्तं मुने प्रबुध्यस्व ध्यानादित्युच्चकैर्वचः ॥ २३ ॥

तो हमने उस महावनमें आश्रमको प्रलयरूपसे रूपवान् यानी शून्य देखा ॥१७॥

न वहाँ कोई वृक्ष देखा, न कोई कुटिया देखी, न कोई झाड़ी देखी, न कोई मनुष्य देखा, न कोई मुनि देखा, न कोई बच्चा देखा, न वेदी देखी और न कोई ब्राह्मण देखा । इनके अतिरिक्त और भी वहाँ कुछ न था ॥ १८ ॥

वह असीम जंगल केवल अत्यन्त शून्य ही था चारों ओर सूर्यके तापसे सन्तप्त वह भूमिमें स्थित आकाशसा लगता था ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् उस तपस्वीके हाय यह क्या अनर्थ हो गया यह कहनेपर हम लोगोंने चिरकालतक भटक कर एक जगह एक वृक्ष देखा ॥ २० ॥

उस शीतल वृक्षकी छवि आकर्षक थी, छाया अतिघन थी, वह जलपूर्ण मेघके समान गहरी हरियाली लिये काला था । उसके नीचे एक बूढ़ा तपस्वी समाधि लगाये बैठा था ॥ २१ ॥

हम दोनों उस मुनिके आगे छायामें हरी घाससे आच्छन्न भूमिपर बैठ गये । जब चिरकालतक प्रतीक्षा करनेपर भी वह तपस्वी ध्यानसे निवृत्त नहीं हुआ तब चिरकालकी प्रतीक्षासे उत्पन्न उद्वेगवश अपने चञ्चल स्वभावसे मैंने 'हे मुने ध्यानसे जागिये' यह वचन जोरसे कहा ॥ २२,२३ ॥

शब्देनोच्चैर्मदीयेन संप्रबुद्धोऽभवन्मुनिः ।
सिंहोऽम्बुदरवेणेव जृम्भां कृत्वाऽभ्युवाच च ॥ २४ ॥
कौ भवन्ताविमौ साधू क्वाऽसौ गौर्याश्रमो गतः ।
केन वाऽहमिहाऽऽनीतः कालोऽयं कश्च वर्तते ॥ २५ ॥
तेनेत्युक्ते मयाऽप्युक्तं भगवन्विद्धि चेदृशम् ।
न किंचिदावां बुद्धोऽपि कस्माज्जानासि न स्वयम् ॥ २६ ॥
इति श्रुत्वा स भगवान्पुनर्ध्यानमयोऽभवत् ।
ददर्शोदन्तमखिलमस्माकं स्वात्मनस्तथा ॥ २७ ॥
मुहूर्तमात्रेणोवाच प्रबुध्य ध्यानतो मुनिः ।
श्रूयतामिदमाश्चर्यमार्यौ हि कार्यवेदिनौ ॥ २८ ॥
यमिमं पश्यथः साधू कदम्बतरुपुत्रकम् ।
मदास्पदमरण्यान्या धम्मिल्लमिव पुष्पितम् ॥ २९ ॥
केनाऽपि कारणेनाऽस्मिन्सती वागीश्वरी सती ।
अवसद्दश वर्षाणि समस्तर्तुनिषेविता ॥ ३० ॥

मेरे ऊँचे स्वरसे मुनि ध्यानसे जाग गये और सिंहके समान मेघ-ध्वनिसे जंभाई लेकर उन्होंने कहा ॥ २४ ॥

हे साधु, आप लोग कौन हैं, यह गौरी-आश्रम कहाँ गया, मुझे यहाँ शून्यवनमें कौन लाया और यह कौन काल (युग) है ॥ २५ ॥

उस वृद्ध तपस्वीके यह कहनेपर मैंने भी कहा, भगवन्, यह सब हम कुछ नहीं जानते इसलिए आप ही जानें । आप सर्वज्ञ होते हुए योग-बलसे यह सब स्वयं क्यों नहीं जान लेते ? ॥ २६ ॥

यह सुनकर वह भगवान् तपस्वी फिर ध्यानमें मग्न हो गये । समाधि द्वारा उन्होंने हमारा और अपना सारा वृत्तान्त जान लिया ॥ २७ ॥

एक मुहूर्तमें ध्यानसे जागकर मुनिने कहा—हे कार्यज्ञ आर्यो, आप लोग आश्चर्यभूत इस वृत्तान्तको सुनें ॥ २८ ॥

हे साधु लोगो, मेरा आवासभूत सुन्दरताके कारण इस काननदेवीकी चोटी-सा जो यह कदम्बवृक्षरूपी बच्चा आप लोगोंको दिखाई देता है यहाँ किसी विशेष कारणसे भगवती पार्वतीजी सरस्वती बनकर सकल ऋतुओंसे सेवित हो दस वर्ष रहीं ॥ २९,३० ॥

तदा तेनेह विस्तीर्णमभवद्धनकाननम् ।
गौरीवनमिति ख्यातं भूषितं कुसुमर्तुभिः ॥ ३१ ॥
भृङ्गाङ्गनाजनमनोहरहारिगीत-
लीलाविलोलकलकण्ठविहंगमङ्ग ।
पुष्पाम्बुवाहशतचन्द्रनभोवितानं
राजीवरेणुकणकीर्णदिगन्तरालम् ॥ ३२ ॥
मन्दारकुन्दमकरन्दसुन्धिताशं
संसूच्छ्वसत्कुसुमराशिशशाङ्कनिष्ठम् ।
संतानकस्तबकहासविकासकान्त-
मामोदिमारुतसमस्तलताङ्गनौघम् ॥ ३३ ॥
पुष्पाकरस्य नगरं नवगीतभृङ्गं
भृङ्गाङ्गनाकुसुमखण्डकमण्डपाढ्यम् ।
चन्द्रांशुजालपरिकोमलपुष्पदोला-
दोलायमानसुरसिद्धवधूसमूहम् ॥ ३४ ॥

उनके यहाँ रहनेके कारण यहाँ विशाल निविड जंगल हो गया, यह पुष्पप्रधान ऋतुओंसे विभूषित वन गौरी-वन नामसे विख्यात हुआ ॥ ३१ ॥

हे सज्जनो, जहाँपर भ्रमरियोंके मनोमोहक गीत विलासोंसे कोयल चञ्चल रहते थे, फूलोंकी वर्षा करनेवाले मेघसदृश वृक्षोंसे आकाशरूपी चँदवेमें सैकड़ों चन्द्रमा स्थित थे और कमलके पराग-कणोंसे दिगन्तराल व्याप्त रहते थे। जो मन्दार, और कुन्दके मकरन्दोंसे (पुष्परसों) दिशाओंको सदा सुगन्धित करता था, जहाँ चारों ओर विकसित हो रही (खिल रही) पुष्पराशिरूपी चन्द्रबिम्बोंमें शोभा व्याप्त थी, सन्तानक (एक तरहका कल्पवृक्ष) के पुष्पस्तवकरूपी हासके विकाससे जो अत्यन्त रमणीय था, जहाँ लतारूपी अङ्गनाएँ सुगन्धित वायुसे पूर्ण रहती थीं, ऐसा यह गौरी-वन वसन्तऋतुका नगर-सा सुरम्य था, इसके भँवरोंका गाना अपूर्व था, यह गुंजारकर रहीं भँवरियोंसे व्याप्त पुष्पराशिके मण्डपोंसे परिपूर्ण था, चन्द्रकिरणराशिके समान चारों ओरसे कोमल फूलरूपी झूलोंमें देवाङ्गनाएँ और सिद्धाङ्गनाएँ यहाँ झूला झूलती थीं ॥ ३२–३४ ॥

हारीतहंससशुककोकिलकोककाक-
चक्राह्वभासकलविङ्ककुलाकुलाङ्गम् ।
भेरुण्डकुक्कुटकपिञ्जलहेमचूड-
गंढामयूरबककल्पितकेलिरम्यम् ॥ ३५ ॥
गन्धर्वयक्षसुरसिद्धकिरीटघृष्ट-
पादाब्जकर्णिककदम्बसरस्वतीकम् ।
वातायनं कनककोमलचम्पकौघ-
ताराम्बराम्बुधरपूरगृहीतगन्धम् ॥ ३६ ॥
मन्दानिलस्खलितपल्लवबालवल्ली-
विन्यासगुप्तदिवसाधिपरश्मिशीतम् ।
पीतं कदम्बकरवीरकनालिकेर-
तालीतमालकुलपुष्पपरागपूरैः ॥ ३७ ॥
कह्लारकीर्णकुमुदोत्पलपद्मखण्ड-
वल्गच्चकोरबककोककदम्बहंसम् ।

इस वनका प्रत्येक भाग हारीत, हंस, सुग्गे, कोकिल, चक्रवाक, सारस और गौरैयाके झुण्डोंसे भरा रहता था, भेरुण्ड, गौरैया, तीतिर, राढा, मयूर, बगुला आदि द्वारा की गई विविध क्रीडाओंसे रमणीय था ॥ ३५ ॥

यहाँपर कदम्बवृक्षतलनिवासिनी श्रीसरस्वतीदेवीजीके चरणकमलोंमें गन्धर्व, यक्ष, देवता और सिद्ध अपने मुकुटोंको रगड़ते थे (प्रणाम करते थे)। यह वन सुगन्ध वायुका आवास था, अतएव इसके सुवर्णके समान रमणीय चम्पकोंसे सितारों और मेघोंने सुगन्ध ग्रहण की ॥ ३६ ॥

मन्द वायुसे अपने स्थानसे हटनेवाले पल्लवोंसे युक्त छोटी छोटी नवीन लताओंके विस्तारोंसे छिपे हुए निकुञ्जोंमें सूर्यकी रश्मियोंके न पहुँचनेके कारण यह वन खूब ठण्डा रहता था, कदम्ब, कनेर, नारियल, ताड़ और तमालके वृक्षोंकी इसमें इतनी अधिकता थी कि उनके फूलोंके कणोंसे यह सारा वन पीला रहता था ॥ ३७ ॥

इसमें रक्त कमलोंसे मिले हुए कुई और कमलोंसे पूर्ण तड़ागोंमें हंस चकोर आदि जलचर पक्षियोंके झुण्डोंके साथ अपनी मस्त चालसे चलते थे तथा

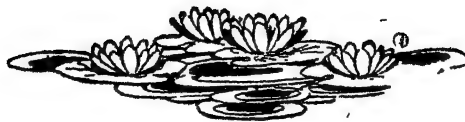
तालीसगुग्गुलकचन्दनपारिभद्र-
भद्रद्रुमोदरविहारिविचित्रशक्ति ॥ ३८ ॥
तस्मिन्वने चिरमुवास हरार्धदेहा
केनाऽपि कारणवशेन चिराय गौरी ।
भूत्वा प्रसन्नशशिबिम्बमुखी कदम्ब-
वागीश्वरी शशिकलेव शिवस्य मूर्ध्नि ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु तापसोपा० गौर्याश्रमवर्णनं नामैकाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८१ ॥

तालीस, गुग्गुल, चन्दन, निम्ब आदि वृक्षोंके अन्दर विहार करनेवाली (रहनेवाली) बड़ी विचित्र सर्वाभिलषितपूर्ण करनेवाली शक्ति थी ॥ ३८ ॥

इस प्रकारके उत्तम वनमें भगवान् शङ्करजीकी अर्धाङ्गिनी जगदम्बा भगवती गौरी किसी कारणसे भगवान् श्रीशिवजीके मस्तकपर विराजमान शशिकला-सी मनोहर प्रसन्न चन्द्रबिम्बवदना कदम्बसरस्वती बनकर चिरकाल तक रहीं । उनका रहना ही इस वनकी अलौकिक सम्पदाओंका कारण था ॥ ३९ ॥

एक सौ इक्यासी सर्ग समाप्त



द्व्यशीत्यधिकशततमः सर्गः

वृद्धतापस उवाच

तस्मिन्नेव कदम्बेऽस्मिन्वर्षाणि स्वेच्छया दश।
स्थित्वा गौरी जगामाऽथ हरवामार्धमन्दिरम् ॥ १ ॥
तत्स्पर्शामृतसिक्तोऽयं कदम्बतरुपत्रकः।
उत्सङ्ग इव चामीनो न यात्येव पुराणताम् ॥ २ ॥
ततो गौर्यां प्रयातायां तद्वनं तादृशं महत्।
सामान्यवनतां यातं जनवृन्दोपजीवितम् ॥ ३ ॥
मालवो नाम देशोऽस्ति तत्राऽहं पृथिवीपतिः।
कदाचित्त्यक्तराज्यश्रीर्मुनीनामाश्रमान्भ्रमन् ॥ ४ ॥
इमं देशमनुप्राप्त इह चाश्रमवासिभिः।
पूजितोऽस्य कदम्बस्य ध्याननिष्ठस्तले स्थित ॥ ५ ॥

एक सौ ब्यासी सर्ग

[कदम्ब वृक्ष के नीचे स्थित तपस्वी द्वारा घरमें उसके भाइयोंका समागम और वर तथा शापों की हेतुसिद्धिका वर्णन]

वृद्ध तपस्वीने कहा—हे सज्जनो, भगवती गौरी उसी इस कदम्बमें अपनी इच्छासे दस वर्ष बैठकर शिवजीके वामभाग रूप मन्दिरको चली गईं ॥ १ ॥

उनके स्पर्शरूपी अमृतसे सींचा गया यह कदम्बवृक्षरूपी देवीपुत्र गोदमें बैठा हुआ-सा हो कभी पुराना नहीं होता ॥ २ ॥

उसके अनन्तर भगवती श्रीगौरीके चले जानेके बाद उस प्रकारकी विभूतिवाला वह महावन साधारण वनोंकी तरह जनसाधारणका घास, लकड़ी, फल, फूल आदि आहरणसे जीविकाका साधन बन गया ॥ ३ ॥

मालव नामका प्रसिद्ध देश है। उसमें मैं राजा था। किसी समय राज्यका परित्याग कर मुनियोंके आश्रमोंमें घूमता घूमता मैं इस प्रदेशमें आ पहुँचा। यहांपर आश्रमवासियोंका आदर सत्कार पाकर इस कदम्बके पेड़के नीचे समाधि लगा कर बैठ गया ॥ ४, ५ ॥

केनचिच्त्वथ कालेन भ्रातृभिः सप्तभिः सह ।
भवानभ्यागतः पूर्वं तपोर्थमिममाश्रमम् ॥ ६ ॥
तपस्विनोऽष्टाविह ते तथा नाम तदाऽवसम् ।
यथा तपस्विनोऽन्ये ते तेषां मान्यास्तपस्विनः ॥ ७ ॥
कालेनाऽनन्तरमसावेकः श्रीपर्वतं गतः ।
स्वामिनं कार्तिकेयं च द्वितीयस्तपसे गतः ॥ ८ ॥
वाराणसीं तृतीयस्तु चतुर्थोऽगाद्धिमाचलम् ।
इहैव ते परे धीराश्चत्वारोऽन्ये परं तपन् ॥ ९ ॥
सर्वेषामेव चैतेषां प्रत्येकं त्वेतदीप्सितम् ।
यथा समस्तद्वीपाया भुवोऽस्याः स्यां महीपतिः ॥ १० ॥
अथ संपादितं तेषां सर्वेषामेतदीप्सितम् ।
तपस्तुष्टाभिरिष्टाभिर्देवताभिर्वरैर्वरैः ॥ ११ ॥
तपतस्ते ततो याता भ्रातुरः सदनं निजम् ।
भूमौ धर्मयुगं भुक्त्वा वेधा ब्रह्मपुरीमिव ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् कुछ समय बीतनेपर आप अपने सात भाइयोंके साथ तपस्या करनेके लिए पहले इस आश्रममें आये ॥ ६ ॥

वे आठ तपस्वी उस समय उस प्रकारके तपस्वी बनकर यहां रहे जिस प्रकार अन्य जो तपस्वी उस समय थे उनके भी संमान्य (पूज्य) वे हो गये ॥७॥

तदुपरान्त कुछ कालके अनन्तर उनमेंसे यह आप तपस्याके लिए श्री-पर्वतको चले गये, दूसरा भाई स्वामी कार्तिकेयके समीप क्रौञ्चपर्वतको गया, तीसरा भाई काशीको गया और चौथा हिमालयको गया। अवशिष्ट चार धृति-मान् भाइयोंने यहींपर परम तपस्या की ॥ ८, ९ ॥

उनमेंसे सबकी एकमात्र यहीं अभिलाषा थी कि मैं समस्तद्वीपवाली इस पृथिवीका अधिपति होऊं ॥ १० ॥

इसके पश्चात् तपस्यासे सन्तुष्ट हुए इष्ट देवताओने श्रेष्ठतम वरोंसे उन सभीका वह अभिलाष पूर्ण किया ॥ ११ ॥

तदनन्तर आपको तपस्या करते छोड़कर शेष सब भाई जैसे धर्मप्रधान

तैर्भवद्भ्रातृभिर्भव्यवरदानविधौ तदा ।
इदं वरोद्यता यत्नात्प्रार्थिताः स्वेष्टदेवताः ॥ १३ ॥
देव्यस्माकमिमे सर्वे सप्तद्वीपेश्वरस्थितौ ।
सन्त्याः प्रकृतयः सन्तु सर्वे आश्रमवासिनः ॥ १४ ॥
तमिष्टदेवतासार्थमुररीकृत्य सादरम् ।
तेषामस्त्वेवमित्युक्त्वा जगामाऽन्तर्द्धिमीश्वरी ॥ १५ ॥
ते ततः सदनं यातास्तेषामाश्रमवासिनः ।
सर्व एव गताः पश्चादेक एवाऽस्मि नो गतः ॥ १६ ॥
अहं केवलमेकान्ते ध्यानैकगतमानसः ।
वागीश्वरीकदम्बस्य तले तिष्ठामि शैलवत् ॥ १७ ॥
अथ काले वहत्यस्मिन्नृतुसंवत्सरात्मनि ।
इदं सर्वं वनं छिन्नं जनैः पर्यन्तवासिभिः ॥ १८ ॥

कृतयुगका भूमिमें उपभोग कर उसके अन्तमें ब्रह्मा ब्रह्मलोकको जाते हैं वैसे ही अपने घर चले गये ॥ १२ ॥

उत्तम वरदानके समय आपके उन भाइयोंने वर देनेके लिए तयार अपनी इष्टदेवियोंकी प्रयत्नतः यह प्रार्थना की ॥ १३ ॥

हे देवि, हमारी सप्तद्वीपेश्वरताकी स्थितिके समय प्रजाभूत सब लोग झूठे व्यवहारका परित्याग कर दें यानी सच्चे रहें, ये सब आश्रमवासी लोग भी स्वस्वधर्मनिरत रहें तथा सभी सप्तद्वीपनिवासी अपने अपने आश्रमधर्म और वर्णधर्ममें रत रहें ॥ १४ ॥

वह भगवती इष्टदेवी उनके अभिलषित अर्थको, आदरपूर्वक स्वीकार कर तथा उनसे 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धानको प्राप्त हो गई ॥ १५ ॥

तदुपरान्त वे अपने घर गये । उनके पीछे सभी आश्रमवासी भी गये, केवल एक मैं नहीं गया ॥ १६ ॥

मैं अकेले एकान्तमें वागीश्वरीकदम्बके नीचे एकमात्र ध्यानमें चित्त लगाकर शिलाकी नाईं बैठा रहता हूं ॥ १७ ॥

इसके बाद इस ऋतु, संवत्सर आदिरूप समयके बीतनेपर आसपासमें रहनेवाले लोगोंने सम्पूर्ण वन छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ १८ ॥

इदं कदम्बमम्लानं जनताः पूजयन्त्यलम् ।
वागीश्वरीगृहमिति मां चैवैकसमाधिगम् ॥ १९ ॥
अथैनं देशमायातौ भवन्तौ दीर्घतापसौ ।
एतत्तत्कथितं सर्वं ध्यानदृष्टं मयाऽखिलम् ॥ २० ॥
तस्मादुत्थाय हे साधू गच्छतं गृहमागतौ ।
तत्र ते भ्रातरः सर्वे संगता दारबन्धुभिः ॥ २१ ॥
अष्टानां भवतां भव्यं सदने स्वे भविष्यति ।
महात्मनां ब्रह्मलोके वसूनामिव संगमः ॥ २२ ॥
इत्युक्ते तेन स मया पृष्टः परमतापसः ।
संदेहादिदमाश्चर्यमार्यास्तद्वर्णयाम्यहम् ॥ २३ ॥
एकैव सप्तद्वीपाऽस्ति भगवन्भूरियं किल ।
तुल्यकालं भवन्त्यष्टौ सप्तद्वीपेश्वराः कथम् ॥ २४ ॥

कदम्बतापस उवाच

असमञ्जसमेतावदेव नो यावदुच्यते ।
इदमन्यदसंबद्धतरं संश्रूयतां मम ॥ २५ ॥

कभी न मुरझानेवाले इस कदम्ब वृक्षको, इसे वागीश्वरीका मन्दिर समझकर, लोग खूब पूजते हैं । एकमात्र समाधिमें मग्न रहनेवाले मुझे भी खूब पूजते हैं ॥१९॥

इसके पश्चात् आप दोनों महातपस्वी इस प्रदेशमें आये । यह सब ध्यानसे देखा गया सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने साकल्येन आप लोगोंसे कहा ॥ २० ॥

इसलिए हे साधुपुरुषो, यहाँ आये हुए आप लोग उठकर घर जायँ वहाँ आपके सब भाइयोंका स्त्री-बन्धुओंके साथ समागम हो चुका है । जैसे ब्रह्मलोकमें (देवलोकमें) आठ वसुओंका भव्य समागम हुआ वैसे ही अपने घरपर आप आठों महात्माओंका भव्य समागम होगा ॥ २१,२२ ॥

हे आर्य सभासदो, उसके यह कहनेपर मैंने सन्देहसे उस महातपस्वीसे यह आश्चर्य वृत्तान्त पूछा, उसे मैं आप लोगोंसे कहता हूँ ॥ २३ ॥

भगवन्, सुननेमें आता है कि यह एक ही सप्तद्वीपा भूमि है । ऐसी अवस्थामें तुल्यकालमें आठों सप्तद्वीपा वसुमतीके अधिपति कैसे होंगे ? ॥ २४ ॥

कदम्बतपस्वीने कहा—हे सज्जनो, इन लोगोंके सम्बन्धमें यही केवल

एतेऽष्टौ भ्रातरस्तत्र तापसा देहसंक्षये ।
सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे भविष्यन्ति गृहोदरे ॥ २६ ॥
अष्टौ ह्येते महीपीठेष्वेतेष्वेतेषु सद्मसु ।
सप्तद्वीपेश्वरा भूपा भविष्यन्तीह मे शृणु ॥ २७ ॥
अस्त्येतेषां किलाऽष्टानां भार्याष्टकमनिन्दितम् ।
दिगन्तराणां नियतं ताराष्टकमिवोज्ज्वलम् ॥ २८ ॥
तद्भार्याष्टकमेतेषु यातेषु तपसे चिरम् ।
बभूव दुःखितं स्त्रीणां यद्वियोगो हि दुःसहः ॥ २९ ॥
दुःखिताः प्रत्यये तेषां चक्रुस्ता दारुणं तपः ।
शतचान्द्रायणं तासां तुष्टाऽभूत्तेन पार्वती ॥ ३० ॥
अदृश्योवाच सा तासां वचोऽन्तःपुरमन्दिरे ।
देवी सपर्यावसरे प्रत्येकं पृथगीश्वरी ॥ ३१ ॥

असंबद्ध वृत्तान्त है यह बात नहीं है यह दूसरा वृत्त भी अधिक असंबद्ध मैं कहता हूँ, उसे आप लोग मुझसे सुनें ॥ २५ ॥

ये आठ तपस्वी भाई देह-नाश होनेपर वहाँ घरके अन्दर ही सब सप्त-द्वीपके अधिपति होंगे ॥ २६ ॥

ये आठ भाई इन्हीं घरोंमें इन्हीं महासिंहासनोंपर सप्तद्वीपाधिपति राजा होंगे यह मुझसे सुनिये ॥ २७ ॥

इन आठ भाइयोंकी पूर्व आदि दिशाओंकी नियत आठ ताराओंकी तरह आठ श्लाघनीय भार्याएँ हैं ॥ २८ ॥

वे आठों पत्नियाँ इनके तपस्याके लिए चले जानेपर चिरकालतक अति दुःखी रहीं, क्योंकि स्त्रियोंको वियोग असह्य होता ही है ॥ २९ ॥

पतियोंका बार बार स्मरण होनेपर दुःखी होकर उन्होंने शतचान्द्रायण-रूप घोर तप किया । उससे भगवती पार्वती उनके ऊपर प्रसन्न हुईं ॥ ३० ॥

अन्तःपुरगृहमें पूजाके समय अदृश्य होकर भगवती पार्वतीजी उनसे अलग अलग बोलीं ॥ ३१ ॥

देव्युवाच

भर्त्रर्थमथ चाऽऽत्मार्थं गृह्यतां बालिके वरः ।
चिरं क्लिष्टाऽसि तपसा निदाघेनेव मञ्जरी ॥ ३२ ॥
इत्याकर्ण्य वचो देव्या दत्तपुष्पा चिरंटिका ।
स्ववासनानुसारेण कुर्वाणैवेश्वरीस्तवम् ॥ ३३ ॥
आनन्दमन्थरोवाच वचनं मृदुभाषिणी ।
आकाशसंस्थितां देवीं मयूरीवाऽभ्रमालिकाम् ॥ ३४ ॥

चिरंटिकोवाच

देवि देवाधिदेवेन यथा ते प्रेम शम्भुना ।
भर्त्रा मम तथा प्रेम स भर्ताऽस्तु ममाऽमरः ॥ ३५ ॥

देव्युवाच

आसृष्टेर्नियतेर्दार्ढ्यादमरत्वं न लभ्यते ।
तपोदानैरतोऽन्यं त्वं वरं वरय सुव्रते ॥ ३६ ॥

देवीजीने कहा—हे पुत्रि, जैसे गर्मीसे मञ्जरी (बौर) चिरकालतक क्लेश पाती है वैसे ही दीर्घ तपस्यासे तुमने क्लेश पाया है अब तुम पतिके लिए और अपने लिए वरदान लो ॥ ३२ ॥

देवीका उक्त वचन सुनकर देवीके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित कर मृदुभाषिणी सौभाग्यवती वधूने मारे आनन्दके विह्वल होकर अपनी वासनाके अनुसार भगवतीकी स्तुति करते हुए जैसे आकाशमें स्थित मेघमालासे मयूरी बोलती है वैसे ही आकाशमें स्थित देवीसे कहा ॥ ३३,३४ ॥

सुवासिनीने (सौभाग्यवतीने) कहा—हे देवि, देवदेव भगवान् श्री-शिवजीके साथ जैसा आपका प्रेम है वैसा ही पतिदेवके साथ मेरा प्रेम हो और मेरे वे पतिदेव अमर हों ॥ ३५ ॥

देवीने कहा—भद्रे, आदि सृष्टिसे लेकर चली हुई ईश्वराज्ञारूप नियतिका भङ्ग करना संभव न होनेके कारण तपस्या, दान आदि द्वारा अमरता प्राप्त नहीं की जा सकती, इसलिए हे सुव्रते, तुम दूसरा कोई वर माँगो ॥ ३६ ॥

चिरंटिकोवाच

अलभ्यमेतन्मे देवि तन्मद्भर्तुर्गृहान्तरात् ।
मृतस्य मा विनिर्यातु जीवो बाह्यमपि क्षणात् ॥ ३७ ॥
देहपातश्च मे भर्तुर्यदा स्यादात्ममन्दिरे ।
तदेतदस्त्विति वरो दीयतामम्बिके मम ॥ ३८ ॥

देव्युवाच

एवमस्तु सुते त्वं च पत्यौ लोकान्तरास्थिते ।
भविष्यसि प्रिया भार्या देहान्ते नाऽत्र संशयः ॥ ३९ ॥
इत्युक्त्वा विररामाऽसौ गौर्या गीर्गगनोदरे ।
मेघमालाध्वनिरिव निरवद्यसमुद्यता ॥ ४० ॥
देव्यां गतायां भर्तारस्तासां कालेन केनचित् ।
ते ककुब्भ्यः समाजग्मुः सर्वे प्राप्तमहावराः ॥ ४१ ॥
अद्याऽयमपि संयातु भार्याया निकटं पतिः ।
भ्रातॄणां बान्धवानां च भवत्वन्योन्यसंगमः ॥ ४२ ॥

सुवासिनीने कहा—हे देवि, मेरे लिए यह वर अलभ्य है तो जब अपने घरमें मेरे पतिका देहपात हो तो मृत मेरे पतिका जीव घरके अन्दरसे एक क्षणके लिए भी बाहर न जाय। हे अम्बिके, 'यह हो' ऐसा वर मुझे दीजिये ॥ ३७,३८ ॥

देवीजीने कहा—हे पुत्रि, ऐसा ही हो, (उस मूर्खाको उत्तम वर-याचनामें अकुशल देखकर देवी स्वयं दूसरा वर देती हैं) और पतिका देहान्त होनेपर सप्तद्वीपाधिपत्यमें स्थित होनेपर तुम उसकी प्रिय भार्या होओगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ३९ ॥

जैसे लोक-कल्याणके लिए निर्दोषरूपसे उद्यत हुई मेघमालाकी ध्वनि बन्द होती है वैसे ही उत्तम कल्याणके लिए उद्यत हुई भगवती पार्वतीजीकी वाणी यह कहकर विरत हुई ॥ ४० ॥

श्रीदेवीके चले जानेपर कुछ समयके पश्चात् उनके वे सब पति महा वर प्राप्त कर दिशाओंसे वापस आये । ४१ ॥

आज यह (आठवाँ भाई) पति भी अपनी पत्नीके समीप जाय, भाइयों और बन्धुबान्धवोंका आपसमें समागम हो ॥ ४२ ॥

इदमन्यदथैतेषामसमञ्जसमाकुलम् ।
शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमार्यकार्योपरोधकम् ॥ ४३ ॥
तप्यतां तप एतेषां पितरौ तौ वधूयुतौ ।
तीर्थमुन्याश्रमश्रेणीं द्रष्टुं दुःखान्वितौ गतौ ॥ ४४ ॥
शरीरनैरपेक्ष्येण पुत्राणां हितकाम्यया ।
गन्तुं कलापग्रामं तं यत्नवन्तौ बभूवतुः ॥ ४५ ॥
तौ प्रयातौ मुनिग्राममार्गे ददृशतुः सितम् ।
पुरुषं कपिलं ह्रस्वं भस्माङ्गं चोर्ध्वमूर्धजम् ॥ ४६ ॥
धूलीलवमनादृत्य तं जरत्पान्थशङ्कया ।
यदा तौ जग्मतुस्तेन स उवाचाऽन्वितः क्रुधा ॥ ४७ ॥
सवधूक महामूर्ख तीर्थार्थी दारसंयुतः ।
मां दुर्वाससमुल्लङ्घ्य गच्छस्यविहितानतिः ॥ ४८ ॥

हे साधो, सत्कर्मोंके फलोंमें बाधा डालनेवाली इनकी यह दूसरी असमञ्जसपूर्ण आश्चर्यकारी दुर्घटना आप सुनिये ॥ ४३ ॥

इन आठों भाइयोंके तप करते समय इनके दुःखी माता-पिता इनकी बहुओंके साथ तीर्थ और मुनियोंके तपोवनोंके दर्शनके लिए गये ॥ ४४ ॥

वे शरीर सुखकी कोई परवाह न कर अपने पुत्रोंकी कल्याणकामनासे प्रसिद्ध कलापग्राम नामक तीर्थको जानेके लिए प्रयत्नवान् हुए ॥ ४५ ॥

जब वे अपने घरसे रवाना हुए तो मुनियोंके आश्रमके मार्गमें एक सफेद (वृद्ध) पुरुष उन्हें दीख पड़ा। उसका रङ्ग कपिल (कोहड़ेके समान लाली लिये पीला) था, कद नाटा था, शरीरपर भस्म रमी थी और सिरके बाल खड़े थे ॥ ४६ ॥

वे आठों भाइयोंके माता-पिता यह कोई बूढ़ा बटोही होगा, इस आशङ्कासे उस मुनिका अपमान कर (नमस्कार, पूजा, स्तुति आदि आदर न कर) प्रत्युत गमनत्वरासे उसके ऊपर धूलिकणोंका प्रक्षेप करते हुए जब आगे बढ़े तब उक्त अपराधसे क्रुद्ध हुए उस मुनिने कहा ॥ ४७ ॥

अरे वधूसहित महामूर्ख, स्त्रीके साथ तीर्थाभिलाषी होकर मुझ दुर्वासा ऋषिका अपमान कर मुझे नमस्कार आदि किये बिना जाता है ॥ ४८ ॥

वधूनां ते सुतानां च गच्छतस्तपसाऽर्जिताः ।
विपरीता भविष्यन्ति लब्धा अपि महावराः ॥ ४९ ॥
इत्युक्तवन्तं तं यावत्सदारोऽथ वधूयुतः ।
सन्मानं कुरुते तावन्मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥ ५० ॥
अथ तौ पितरौ तेषां सवधूकौ सुदुःखिनौ ।
कृशीभूतौ दीनमुखौ निराशौ गृहमागतौ ॥ ५१ ॥
अतो वदाम्यहं तेषां नैकं नामाऽसमञ्जसम् ।
असमञ्जसलक्षाणि गण्डे स्फोटाः स्फुटा इव ॥ ५२ ॥
चिद्व्योमसंकल्पमहापुरेऽस्मिन्नित्थं विचित्राण्यसमञ्जसानि ।
निःशून्यरूपेऽपि हि संभवन्ति दृश्ये यथा व्योमनि दृश्यजृम्भाः ॥५३॥
इत्यार्षे श्रीवा० वा० मो० नि० उ० ब्र० तापसोपाख्यानान्तर्गतसप्तद्वीपेश्वरोपाख्याने सप्त० नाम द्व्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार जा रहे तुम्हारे बहुओं और पुत्रोंकी तपस्यासे उपार्जित प्राप्त हुए भी महावर विपरीत (दुःखदायी) हो जायँगे ॥ ४९ ॥

इसके बाद दुर्वासा मुनिके यह कहनेके अनन्तर स्त्री और बहुओंके साथ वह मुनिका प्रणाम आदि द्वारा आदर करनेके लिए ज्यों प्रवृत्त हुआ त्यों ही मुनि अन्तर्हित हो गये ॥ ५० ॥

फिर उनके माता-पिता उनकी बहुओंके साथ अति दुःखी हुए । दुःखके मारे उनका शरीर सूखकर कृश हो गया और मुँह फीका पड़ गया, वे पुत्रोंके कल्याणकी आशा छोड़कर घर लौट आये ॥ ५१ ॥

इसलिए मैं कहता हूँ कि उनका एक ही वृत्तान्त असमञ्जस नहीं है, अपितु जैसे गलेमें हुए घेघेपर अनेक फोड़े हों और वे फूट जायँ वैसे ही उनके लाखों असमञ्जस हैं ॥ ५२ ॥

इस प्रकार अन्यत्र भी (इस मायामय जगत्‌में भी) लाखों असमञ्जसोंका संभव है, ऐसा कहते हैं—'**चिद्व्योम०**' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें उत्पातवश गन्धर्वनगर, धूमकेतु, कबन्ध, उल्का आदि दृश्योंका विकास होता है वैसे ही चिदाकाशके सङ्कल्पभूत सर्वथाशून्य दृश्यरूप इस महानगरमें लाखों असमञ्जस होते हैं ॥ ५३ ॥

एक सौ बयासी सर्ग समाप्त

त्र्यशीत्यधिकशततमः सर्गः

कुन्ददन्त उवाच

ततः पृष्टो मया तत्र स गौर्याश्रमतापसः ।
तापसंशुष्कदर्भाग्रजराजर्जरमूर्धजः ॥ १ ॥
एकैव सप्तद्वीपाऽस्ति वसुधा यत्र तत्र ते ।
सप्तद्वीपेश्वरा अष्टौ भवन्ति कथमुत्तमाः ॥ २ ॥
यस्य जीवस्य सदनान्नाऽस्ति निर्गमनं बहिः ।
स करोति कथं सप्तद्वीपेशत्वेन दिग्जयम् ॥ ३ ॥
यैर्वरा वरदैर्दत्ताः शापैस्ते तद्विरुद्धताम् ।
कथं गच्छन्ति गच्छन्ति कथं छाया हि तापताम् ॥ ४ ॥
मिथोऽशक्यां कथं धर्मौ स्थितिमेकत्र गच्छतः ।
आधार एवाधेऽऽयत्वं करोति कथमात्मनि ॥ ५ ॥

एक सौ तिरासी सर्ग

[परस्पर विरुद्ध वर और शापोंमेंसे सारवानोंका श्रीब्रह्माजीके वचनसे परस्पर अविजयका निरूपण]

कुन्ददन्तने कहा—हे आर्य सभासदो, तदनन्तर वहाँपर मैंने उस गौरी-आश्रमके तपस्वीसे, जिसके बाल बुढ़ापेके कारण घामसे सूखे हुए कुशोंके अग्र-भागके समान जर्जर थे, पूछा ॥ १ ॥

भगवन्, जहाँ एक ही सप्तद्वीपवाली पृथिवी है वहाँ वे आठ उत्तम सप्तद्वीपाधिपति कैसे हो सकते हैं ॥ २ ॥

जिस जीवका घरसे बाहर निकलना ही संभव नहीं है वह सप्तद्वीपाधीश्वर-रूपसे दिग्विजय कैसे कर सकता है ? ॥ ३ ॥

जिन वरदाताओंने वर दिये वे वर शापोंसे विपरीत फलदायकताको कैसे प्राप्त हो सकते हैं, शीतल छाया ग्रीष्मकी धूप कैसे बन सकती है ? ॥ ४ ॥

एक ही फल वर और शाप दोनोंका फल हो यह कठिन ही नहीं असंभव है, ऐसा कहते हैं—'मिथः' इत्यादिसे ।

वर और शापकी फलतावाले शुभत्व और अशुभत्व धर्म एक ही धर्मीमें स्थितिको, जो संभव नहीं है, कैसे प्राप्त होते हैं ।

गौर्याश्रमतापस उवाच

संपश्यसि किमेतेषां भो साधो शृण्वनन्तरम् ।
अष्टमेऽस्मिन्सुसंप्राप्ते तं प्रदेशं सबान्धवम् ॥ ६ ॥
इतो भवन्तौ तं देशमासाद्य सुखसंस्थितौ ।
स्वबन्धुसुखसंस्थानौ कंचित्कालं भविष्यतः ॥ ७ ॥
ततस्तेऽष्टौ मरिष्यन्ति भ्रातरः क्रमशो गृहे ।
बन्धवोऽथ करिष्यन्ति तेषां देहांस्तदग्निसात् ॥ ८ ॥
तेषां ते संविदाकाशाः पृथक्पृथगवस्थिताः ।
मुहूर्तमात्रं स्थास्यन्ति सुषुप्तस्था जडा इव ॥ ९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तेषां तानि कर्माणि धर्मतः ।
एकत्र संघटिष्यन्ति वरशापात्मकानि खे ॥ १० ॥

शङ्का—यद्यपि वे एक धर्मीके आश्रित नहीं हो सकते तथापि परस्पराश्रित तो हो सकते हैं ।

समाधान—आधार ही अपनेमें आधेयता कैसे कर सकता है ? एक ही का अपनेमें आधाराधेयभावका संभव नहीं है, यह भाव है ॥ ५ ॥

गौरी-आश्रमके तपस्वीने कहा—हे साधो, इनका क्या असमञ्जस देखते हो । इसके बाद इनकी जो घटना घटेगी उसे सुनो । उसीसे तुम्हारे सन्देहका समाधान हो जायगा । आजके दिनसे आठवें इसी दिनके प्राप्त होनेपर आप दोनों लोग अपने बन्धु-बान्धवोंसे पूर्ण उस मथुराप्रदेशमें पहुँचेंगे । मथुराप्रदेशमें पहुँचकर कुछ कालतक अपने बन्धुबान्धवोंके साथ सुखस्थितिवाले आप लोग सुखसे रहेंगे ॥ ६,७ ॥

तदुपरान्त क्रमशः वे आठों भाई घरपर मरेंगे । तब उनके बन्धु-बान्धव उनके शरीरोंको उनके द्वारा आहित अग्नियोंके अधीन करेंगे यानी अन्त्येष्टियों द्वारा तत् तत् अग्नियोंमें दाहसे संस्कृत करेंगे ॥ ८ ॥

पृथक् पृथक् स्थित उनके वे जीव जड़ोंकी नाईं मुहूर्तभर सुषुप्तिमें स्थित रहेंगे ॥ ९ ॥

कर्मोंके विरोधका परिहार कहनेके लिए उपक्रम करते हैं—**'एतस्मिन्'** इत्यादिसे ।

कर्माणि तान्यधिष्ठातृदेवरूपाणि पेटकम् ।
वरशापशरीराणि करिष्यन्ति पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥
वरास्तेऽत्र गमिष्यन्ति सुभगाः पद्मपाणयः ।
ब्रह्मदण्डायुधाश्चन्द्रधवलाङ्गाश्चतुर्भुजाः ॥ १२ ॥
शापास्तत्र भविष्यन्ति त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
भीषणाः कृष्णमेघाभा द्विभुजा भ्रुकुटीमुखाः ॥ १३ ॥

वरा वदिष्यन्ति

सुदूरं गम्यतां शापाः कालोऽस्माकमुपागतः ।
ऋतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥ १४ ॥

शापा वदिष्यन्ति

गम्यतां हे वरा दूरं कालोऽस्माकमुपागतः ।
ऋतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

इसी बीचमें उनके वे वरशापरूप कर्म फलोंके अवश्यम्भावी स्वभावसे एक जगह आकाशमें (तत् तत् चित्तावच्छिन्न आकाशमें) संघटित होंगे ॥१०॥

वे कर्म तत् तत् फलप्रद देवतारूप होकर अपने अपने अनुकूल समूहोंसे घटित संपुट अलग अलग बनायेंगे। इस प्रकार संपुटरूप हुए वर और शाप अलग अलग वरशाप-शरीरोंका निर्माण करेंगे ॥ ११ ॥

वर और शापोंका स्वरूप कहते हैं—'वराः' इत्यादिसे ।

यहाँपर वे वर सुन्दर, कमल हाथमें लिये हुए, ब्रह्मदण्डरूपी अस्त्रसे विभूषित, चन्द्रमाके समान शुभ्र शरीरवाले और वे चतुर्भुज होंगे ॥ १२ ॥

वहाँ शाप तीन नेत्रवाले, शूल हाथमें लिये हुए, भयानक, काले बादलसे शरीरवाले, दो हाथोंसे युक्त और मुँहपर भौंह चढ़ाये हुए होंगे ॥ १३ ॥

वर कहेंगे—हे शापो, आप लोग दूर भाग जायँ। यह ऋतुओंकी तरह हम लोगोंका समय उपस्थित है। उसका कौन उल्लंघन कर सकता है ॥ १४ ॥

शाप कहेंगे—हे वरो, आप लोग दूर चले जायँ। ऋतुओंकी तरह हमारा समय आ गया है उसे उल्लंघन करनेकी किसमें सामर्थ्य है ॥ १५ ॥

वरा वदिष्यन्ति

कृता भवन्तो मुनिना वयं दिनकृता कृताः ।
मुनीनां चाऽधिको देवो भगवन्तं पुरा यतः ॥ १६ ॥
प्रवदत्सु वरेष्वेवं शापाः क्रुद्धधियो वरान् ।
विवस्वता कृता यूयं वयं रुद्रांशतः कृताः ॥ १७ ॥
देवानामधिको रुद्रो रुद्रांशप्रभवो मुनिः ।
इत्युक्त्वा प्रोद्यता तेषां चक्रुः शृङ्गाण्यगा इव ॥ १८ ॥
शापेषूद्यतशृङ्गेषु वरा इदमरातिषु ।
विहसन्तः प्रवक्ष्यन्ति प्रमेयीकृतनिश्चयम् ॥ १९ ॥
हे शापाः पापतां त्यक्त्वा कार्यस्याऽन्तो विचार्यताम् ।
यत्कार्यं कलहस्याऽन्ते तदेवाऽऽदौ विचार्यताम् ॥ २० ॥
पितामहपुरीं गत्वा कलहान्ते विनिर्णयः ।
कर्तव्योऽस्माभिरेतत्किमादौ नेह विधीयते ॥ २१ ॥

वर कहेंगे—आप लोगोंका निर्माण मुनिजीने (दुर्वासाने) किया है और हमारी रचना सूर्यने की है । भगवान् सूर्य मुनियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि पहले ब्रह्माने भगवान् सूर्यकी मुनियोंसे सृष्टि की ॥ १६ ॥

वरोंके ऐसा कहनेपर क्रोधसे झुँझलाये हुए शापोंने, आप लोगोंकी सृष्टि सूर्यने की और हम रुद्रांशसे बनाये गये हैं । देवताओंमें रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं और मुनि (दुर्वासा) रुद्रांशसे उत्पन्न हैं यों वरोंसे कहकर जैसे पर्वत शिखरोंको उद्यत करते हैं वैसे ही वरोंके प्रति त्रिशूलाग्र उद्यत किये ॥ १७,१८ ॥

शापरूपी शत्रुओंके त्रिशूल उठानेपर उनका उपहास कर रहे वे सम्यक् विचार द्वारा निश्चित अपने स्वार्थका निश्चय कहेंगे ॥ १९ ॥

हे शापो, दुष्टता (अनुचितकारिता) का त्यागकर कार्यका अन्त विचारो । कलहके अन्तमें जो कुछ करना है वही पहले कर लेना चाहिये यह विचार लेना ठीक है ॥ २० ॥

कलहके अन्तमें ब्रह्मलोकमें जाकर हमें निर्णय करना ही पड़ेगा इस झगड़ेमें वही बात पहले क्यों न कर ली जाय ॥ २१ ॥

शापैर्वरोक्तमाकर्ण्य बाढमित्युररीकृतम् ।
को न गृह्णाति मूढोऽपि वाक्यं युक्तिसमन्वितम् ॥ २२ ॥
ततः शापा वरैः सार्धं यास्यन्ति ब्रह्मणः पुरम् ।
महानुभावा हि गतिः सदा संदेहनाशने ॥ २३ ॥
प्रणामपूर्वं तत्सर्वं यथावृत्तं परस्परम् ।
ब्रह्मणे कथयिष्यन्ति श्रुत्वा तेषां स वक्ष्यति ॥ २४ ॥

ब्रह्मोवाच

वरशापाधिपा भो भो यतः सारा जयन्ति ते ।
केऽन्तःसारा इति मिथो नूनमन्विष्यतां स्वयम् ॥ २५ ॥
इति श्रुत्वा प्रविष्टास्ते सारतां समवेक्षितुम् ।
वराणां हृदयं शापाः शापानां हृदयं वराः ॥ २६ ॥
ते परस्परमन्विष्य स्वयं हृदयसारताम् ।
ज्ञात्वा च समवायेन प्रवक्ष्यन्ति पितामहम् ॥ २७ ॥

शापोंने वरोंका वचन सुनकर 'बहुत अच्छी बात है' यों उनकी सलाह मान ली । चाहे मूढ़ ही क्यों न हों, युक्तियुक्त वचन कौन न मानेगा ॥ २२ ॥

तदनन्तर शाप वरोंके साथ ब्रह्मलोकमें जायँगे । सदा ही सन्देहकी निवृत्ति करनेके लिए महानुभाव लोग ही शरण होते हैं ॥ २३ ॥

वे ब्रह्माजीको प्रणाम कर आपसमें जो तकरार हुआ था उसे सब ज्योंका त्यों कहेंगे । उनका कथन सुनकर ब्रह्माजी कहेंगे ॥ २४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—हे वराधिपो और हे शापाधिपो, जो अन्तःसारवान् होंगे वे जीतेंगे इसलिए आप लोग आपसमें कौन अन्तःसारवान् हैं यह स्वयं अवश्य अन्वेषण करें ॥ २५ ॥

यह सुनकर वरोंके हृदयोंमें शाप और शापोंके हृदयोंमें वर सारता देखनेके लिए प्रविष्ट हुए ॥ २६ ॥

वे परस्पर टटोलकर स्वयं हृदय-सारताको जानकर ब्रह्माजीसे परस्पर ऐकमत्यरूप मेलसे कहेंगे ॥ २७ ॥

शापा वक्ष्यन्ति

जिताः प्रजानाथ वयं नाऽन्तःसारा वयं यतः
अन्तःसारा वरा एव वज्रस्तम्भा इवाऽचलाः ॥ २८ ॥
वयं किलेमे भगवन् वराः शापाश्च सर्वदा ।
ननु संविन्मया एव देहोऽन्योऽस्माकमस्ति नो ॥ २९ ॥
वरदस्य हि या संविद्वरो दत्त इति स्थिता ।
सैवाऽर्थिनि मया लब्धो वरोऽयमिति तिष्ठति ॥ ३० ॥
विज्ञप्तिमात्रकचनं देहं सैव फलं ततः ।
पश्यत्यनुभवत्यत्ति देशकालशतभ्रमैः ॥ ३१ ॥
वरदात्मगृहीतत्वाच्चित्कालान्तरसंभृता ।
यदा तदाऽन्तःसाराऽसौ दुर्जया न तु शापजा ॥ ३२ ॥

शाप कहेंगे—हे प्रजापते, चूँकि हम लोग अन्तःसारवान् नहीं हैं इसलिए हम ही वरों द्वारा जीते गये हैं। वज्रस्तम्भोंके समान अचल वर ही अन्तःसारवान् हैं ॥ २८ ॥

भगवन्, ये वर और शापरूप हम लोग सदा संविन्मय ही हैं। हमारा स्वरूप संवित्के सिवा दूसरा नहीं है ॥ २९ ॥

वरदाताकी 'मैंने वर दिया' इस तरह स्थित जो संवित् है वही वर-प्रार्थीमें 'मैंने यह वर पाया' यों स्थित होती है ॥ ३० ॥

वरका फल सुखभोगायतन देह विज्ञप्तिमात्र स्फुरण ही है, इसलिए वह विज्ञप्ति ही देहाकार बनकर देश, काल आदिकी कल्पनारूप सैकड़ों भ्रमोंसे तत् तत् भोग्य पदार्थोंको देखती है, उनका अनुभव करती है और भक्षणीय वस्तुओंका भक्षण करती है ॥ ३१ ॥

शास्त्रीय तपस्याकालिक दृढ़ निश्चयसे अपने वशमें किये हुए संवित्स्वरूप वरदातासे गृहीत होनेके कारण वरकल्पनारूप चित् फलावस्थामें जब पूर्णरूपसे परिपुष्ट होती है तब अन्तःसारयुक्त वही दुर्जय होती है शाप जनित चित् अन्तःसारयुक्त नहीं होती है ॥ ३२ ॥

वरप्रदानं वरदैर्वरदानां वरार्थिभिः ।
यदा सुचिरमभ्यस्तं वराणां सारता तदा ॥ ३३ ॥
यदेव सुचिरं संविदभ्यस्यति तदेव सा ।
सारमेवाऽऽशु भवति भवत्याशु च तन्मयी ॥ ३४ ॥
शुद्धानामतिशुद्धैव संविज्जयति संविदाम् ।
अशुद्धानां त्वशुद्धैव कालात्साम्यं न विद्यते ॥ ३५ ॥
क्षणांशेनाऽपि यो ज्येष्ठो न्यायस्तेनाऽवपूर्यते ।
नाऽर्थे न्यायान्तरं किंचित्कर्तुमुत्सहते मदम् ॥ ३६ ॥
समेनोभयकोटिस्थं मिश्रं वस्तु भवेत्समम् ।
वरशापविलासेन क्षीरमिश्रं यथा पयः ॥ ३७ ॥

जब वर देनेवाले और वर प्रार्थी पुरुषों द्वारा वर देनेवालोंके वर-प्रदानका चिरकाल तक अभ्यास किया जाता है तब वरोंकी अन्तःसारता होती है ॥ ३३ ॥

संवित् जिसीका चिरकाल तक अभ्यास करती हैं तन्मयी वह शीघ्र वही हो जाती है और वही ससार हो जाता है ॥ ३४ ॥

शास्त्रीय होनेके कारण शुद्ध संविदोंमें से अति विशुद्ध जो संवित् होती है वही सबसे प्रबल होती है लेकिन अशुद्ध संविदोंमें अशुद्ध ही प्रबल होती है, इसलिए उनके फलमें भी तुल्यता नहीं है ॥ ३५ ॥

ज्येष्ठ होनेके कारण भी वरसंवित्की प्रबलता है, ऐसा कहते हैं— **'क्षणांशेनाऽपि'** इत्यादिसे।

क्षणांशसे भी जो श्रेष्ठ है उससे ज्येष्ठत्व न्यायकी पूर्त्ति होती है, क्योंकि ज्येष्ठके उत्पत्तिके समय वह (उसका विरोधी) उत्पन्न नहीं हुआ रहता, इससे वह भलीभाँति बद्धमूल हो जाता है। अप्रमाणजन्यकी ज्येष्ठता बाध्य होनेमें कारण है जैसे कि प्रमाण द्वारा दृढ़ीकृत अर्थमें अनपेक्षित रजतभ्रम ज्ञानकी ज्येष्ठता बाध्यतामें कारण है यह प्रसिद्ध है। अन्य न्याय शापकी प्रबलता सिद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥ ३६ ॥

अतएव जहाँपर विरुद्ध कर्मोंकी अथवा वर और शापका प्रमाणाभ्यासादि-

समाभ्यां वरशापाभ्यामथवा चिद्‌द्विरूपताम् ।
स्वयमेवाऽनुभवति स्वप्नेष्विव पुरात्मिका ॥ ३८ ॥
शिक्षितं त्वत्त एवेति यत्तदेव तव प्रभो ।
पुनः प्रतीपं पठितं शीघ्रं यामो नमोऽस्तु ते ॥ ३९ ॥
इत्युक्त्वा स स्वयंशापः क्वाऽपि शापगणो ययौ ।
प्रशान्ते तिमिरे दृष्टे व्योम्नि केशोण्ड्रकं यथा ॥ ४० ॥

साम्य हो वहाँपर दोनोंका मिश्रित ही फल होता है, ऐसा कहते हैं—**'समेन'** इत्यादिसे ।

दूधमिश्रित जलकी तरह समान बलवाले वर और शापके विलाससे शुभ अशुभ उभय कोटिस्थ समानरूपसे मिश्रित वस्तु होती है जैसे कि मनुष्यशरीर ॥ ३७ ॥

जहाँपर एक कालमें भिन्न देशमें भोग्य समानबलवाले वर और शाप होते वहाँपर विपश्चित् उपाख्यानमें वर्णित न्यायसे उपाधिके विभाग द्वारा एक ही जीव-चित् एक ही समय देहभेदसे दो रूपकी हो जाती है, ऐसा कहते हैं—**'समाभ्याम्'** इत्यादिसे ।

अथवा जैसे स्वप्नोंमें नगरात्मक चित् नगरवासी लोगोंके देह-भेदसे विभिन्न-सी मालूम होती है वैसे ही जीवचित् एक समयमें भिन्न देशमें भोग्य समानबली वर और शापोंसे अपनी द्विरूपताका स्वयं अनुभव करती है ॥ ३८ ॥

श्रीब्रह्माजीके आगे अपनी तात्त्विक बातोंका बखानरूप धृष्टता अनुचित है, यह सोचकर कहते हैं—**'शिक्षितम्'** इत्यादिसे ।

हे प्रभो, जो आपके चरणोंके समीप बैठकर आपसे सीखा था उसका आपके सामने ही पुनः पारायण करना धृष्टताका सूचक होनेसे हमारे अपराधको क्षमा करें अतः आपके लिए नमस्कार है, हम लोग शीघ्र अपने स्थानको जाते हैं ॥ ३९ ॥

जैसे दृष्टिके तिमिर रोगके हट जानेपर आकाशमें भ्रान्तिकृत केशोंका वर्तुलाकार गोला कहीं चला जाता है वैसे ही स्वयं ही वृथा आयास करनेवाले अपनी मूर्खता प्रकट करनेवाले अपनेको लज्जासे शाप देनेवाला वह शापगण यह कहकर कहीं चला गया ॥ ४० ॥

अथाऽन्यो वरपूगोऽत्र गृहनिर्गमरोधकः ।
स्थानिस्थानमिवाऽऽदेशः समानार्थोऽभ्यपूरयत् ॥ ४१ ॥

शापस्थानका वदिष्यन्ति

सप्तद्वीपेशजीवानां निर्याणं शवसद्मनः ।
देवेश विद्मो न वयमन्धकूपादिवाऽम्भसाम् ॥ ४२ ॥
सप्तद्वीपेश्वरानेतानिमे द्वीपेषु सद्मसु ।
कारयन्ति वरा वर्या वीरा दिग्विजयं रणे ॥ ४३ ॥
तदेवमनिवार्येऽस्मिन्विरोधे विबुधेश्वर ।
यदनुष्ठेयमस्माभिस्तदादिश शिवाय नः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच

सप्तद्वीपेश्वरवरा गृहरोधवराश्च हे ।
कामः संपन्न एवेह भवतां भवतामपि ॥ ४५ ॥

इस प्रकार दुर्वासाजीके शापोंके चले जानेपर सप्तद्वीपाधिपताके विरुद्ध घरसे निर्गमनका निरोधक उनकी भार्याओंको गौरी द्वारा दिये गये वरसंघने जैसे वैयाकरण-प्रक्रियामें आदेश स्थानीके स्थानकी पूर्ति करता है वैसे ही शापोंके स्थानकी पूर्ति की ॥ ४१ ॥

शापोंके स्थानोंपर बैठे हुए वर ब्रह्माजीसे कहेंगे—हे देवाधिदेव, अन्धे कुओंसे जलोंके बाहर निर्गमनकी तरह सप्तद्वीपोंके अधिपति जीवोंका शवगृहसे बाहर निकलना हम नहीं जानते हैं, कारण कि उनका बाहर निर्गमन हम लोगों द्वारा अवरुद्ध है ॥ ४२ ॥

ये श्रेष्ठ वीर वर इन सप्त द्वीपेश्वरोंको गृहरूपी द्वीपोंमें रणमें दिग्विजय कराते हैं ॥ ४३ ॥

हे देवाधिदेव, इसलिए इस तरह अनिवार्य इस विरोधमें जो हमें करना चाहिये उसका हमारे कल्याणके लिए हमें आदेश दीजिये ॥ ४४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—हे सप्तद्वीपेश्वर बनानेवाले वरो, और हे घरमें रोकने वाले वरो, आप सब लोगोंकी अभिलाषा पूर्ण ही हो गई है ॥ ४५ ॥

व्रजतैतदपेक्षत्वं यावन्नेष्टावपि क्षणात् ।
चिरं चिराय सदने सप्तद्वीपेश्वराः स्थिताः ॥ ४६ ॥
समनन्तरमेवैते देहपातान्स्वसद्मसु ।
सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे संपन्नाः परमं वराः ॥ ४७ ॥
सर्वे वरा वदिष्यन्ति
कुतो भूमण्डलान्यष्टौ सप्तद्वीपानि भूतयः ।
एकमेवेह भूपीठं श्रुतं दृष्टं च नेतरत् ॥ ४८ ॥
कथं चैतानि तिष्ठन्ति कस्मिंश्चिद् गृहकोशके ।
पद्माक्षकोशके सूक्ष्मे कथं मान्ति मतंगजाः ॥ ४९ ॥
ब्रह्मोवाच
युक्तं युष्माभिरस्माभिः सर्वं व्योमात्मकं जगत् ।
स्थितं चित्परमाण्वन्तरन्तःस्वप्नोऽनुभूयते ॥ ५० ॥

हम सब लोगोंकी अभिलाषा कैसे सम्पन्न हुई है ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—**'व्रजत'** इत्यादिसे ।

आप लोग इस परस्परापेक्षताको प्राप्त हो जाओ । क्योंकि आप लोगोंके इच्छा न करनेपर भी वे आठों भाई मरनेके उत्तर क्षणमें ही बहुत कालसे अपने घरमें ही सप्तद्वीपेश्वर बनकर विराजमान हैं ॥ ४६ ॥

हे वरो, देह छूटनेके बाद ही ये सब लोग अपने घरोंमें सप्तद्वीपेश्वर बन गये हैं ॥ ४७ ॥

सब वर कहेंगे—भगवन्, सात द्वीपवाले आठ भूमण्डल कहाँ हैं और उनके विविध ऐश्वर्य कहाँ हैं ? यहाँ एक ही भूपीठ सुना और देखा गया है उससे अतिरिक्त भूपीठ सुनने और देखनेमें नहीं आया ॥ ४८ ॥

किसी एक घरके अन्दर वे सात द्वीपवाले भूखण्ड कैसे रह सकते हैं, छोटेसे कमलगट्टेके अन्दर बहुतसे हाथी कैसे समा सकते हैं ? ॥ ४९ ॥

स्वप्नके समान ही यह अविरुद्ध है, यों उत्तर देते हैं—**'युक्तम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्माजीने कहा—हे वरो, चूँकि आप लोग और हम लोग व्यष्टि-समष्टियोंसे युक्त व्योमात्मक सारे जगत्का, जो सच्चित्परमाणुके अन्दर स्थित है, अन्दर स्वप्नरूपसे ही अनुभव करते हैं, अतः वह परमाणुके भी अन्दर स्थित

माति यत्परमस्याऽणोरन्तस्थस्वगृहोदरे ।
स्फुरितं तत्किमाश्चर्यं कः स्मयः प्रकृतेः क्रमे ॥ ५१ ॥
मृतेरनन्तरं भाति यथास्थितमिदं जगत् ।
शून्यात्मैव घनाकारं तस्मिन्नेव क्षणे चितः ॥ ५२ ॥
अणावपि जगन्माति यत्र तत्र गृहोदरे ।
सप्तद्वीपा वसुमती स्फुरन्तीति किमद्भुतम् ॥ ५३ ॥
यद्भातीदं च चित्तत्त्वं जगत्त्वं न जगत्क्वचित् ।
चिन्मात्रमेव तद्भाति शून्यत्वेन यथाऽम्बरम् ॥ ५४ ॥
इति ते ब्रह्मणा प्रोक्ता वरदेन वरास्ततः ।
तानाधिभौतिकभ्रान्तिमयान् संत्यज्य देहकान् ॥ ५५ ॥
प्रणम्याऽजं समं जग्मुरातिवाहिकदेहिनः ।
सप्तद्वीपे च देवानां गृहकोशान्कचज्जनान् ॥ ५६ ॥
यावत्ते तत्र संपन्नाः सप्तद्वीपाधिनायकाः ।

स्वगृहके भीतर जो स्फुरित होकर समाता है वह क्या आश्चर्य है (क्या अपूर्व है), प्रकृतिके क्रममें कौन विस्मय है ॥ ५०,५१ ॥

जगत्की स्वप्नतुल्यताका प्रदर्शन करते हुए पूर्वोक्त बातको स्पष्ट करते हैं—**'मृते'** इत्यादिसे ।

मृत्युके बाद उसी क्षणमें शून्यात्मक होता हुआ भी घनाकार यह जगत् ज्योंका त्यों स्फुरित होता है। जहाँ सच्चित्-परमाणुमें भी जगत् समा जाता है वहाँ उस घरके अन्दर सप्तद्वीपा पृथ्वी स्फुरित होती है, इसमें क्या अनहोनी बात है ॥ ५२,५३ ॥

जो यह जगत्का भान होता है वह तत्त्वतः चित्तत्त्व ही है। चूँकि जैसे शून्यरूपसे आकाश स्फुरित होता है वैसे ही चिन्मात्र ही जगत्रूपसे भासित होता है, इसलिए जगत् कहीं परम मूर्त नहीं है जिससे कि घरके भीतर वह न समा सके ॥ ५४ ॥

तदनन्तर वरदान देनेवाले श्रीब्रह्माजी द्वारा यों समझाये गये वे वर पहले कल्पित अपने आधिभौतिक भ्रान्तिमय शरीरोंका त्यागकर आतिवाहिक शरीरवाले बनकर ब्रह्माजीको प्रणाम कर विरोध न रहनेके कारण सब साथ ही

अष्टावप्याप्तपुष्टानां दिनाष्टकमहीभुजाम् ॥ ५७ ॥
ते परस्परमज्ञाता अज्ञाश्चाऽन्योन्यबन्धवः ।
अन्योन्यभूमण्डलगा अन्योन्याऽभिमते स्थिताः ॥ ५८ ॥
तेषां कश्चिद् गृहस्याऽन्तरेव तारुण्यसुन्दरः ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां राजधान्यां सुखे स्थितः ॥ ५९ ॥
शाकद्वीपास्पदः कश्चिन्नागलोकजिगीषया ।
विचरत्यब्धिजठरे सर्वदिग्विजयोद्यतः ॥ ६० ॥
कुशद्वीपराजधान्यां निराधिः सकलप्रजाः ।
कृतदिग्विजयः कश्चित्सुप्तः कान्तावलम्बितः ॥ ६१ ॥
शाल्मलिद्वीपशैलेन्द्रशिरःपुर्याः सरोवरे ।
जललीलारतः कश्चित्सह विद्याधरीगणैः ॥ ६२ ॥

तत् तत्के मनसे कल्पित सप्तद्वीपमें तत्-तत् देवताओंके गृहोंको, जिनमें विविध जन स्फुरित हो रहे थे, गये ॥ ५५,५६ ॥

वे आठों भाई उस घरमें यज्ञ आदि सत्कर्म और बन्धुजनोंसे परिपुष्ट तथा आठ जगतोंके विभागसे ब्रह्माके आठ दिनों तक आदि राजा स्वायंभुव मनुओंके कुलमें सप्तद्वीपोंसे युक्त पृथिवीके अधिनायक हो गये ॥ ५७ ॥

प्रत्येकके मैं भ्रातृसहित हूं यों कल्पना करनेसे अन्योन्य बन्धु, सबके भिन्न-भिन्न राज्य होनेके कारण आधिपत्यके अंशके विषयमें अज्ञ, परस्पर एक दूसरेको राजा न जाननेवाले, अतएव अन्योन्यके अभिमतमें हित न कि विरुद्ध-चेष्टावाले वे अन्योन्यके भूमिमण्डलमें स्थित हुए ॥ ५८ ॥

उनमेंसे प्रत्येकके चरित्रभेदकी कल्पना कहते हैं—**'तेषाम्'** इत्यादिसे ।

उनमें यौवनसे सुन्दर एक भाई घरके भीतर ही उज्जयिनी नामकी महापुरीरूप राजधानीमें सुखसे स्थित है । शाकद्वीपनिवासी दूसरा भाई, जो सकल दिशाओंके विजयमें उद्योगशील है, नागलोकको जीतनेकी इच्छासे सागरके गर्भमें विचरण करता है । तीसरा भाई, जिसकी सकल प्रजा निश्चिन्त है और जो सम्पूर्ण दिशाओंका विजय कर चुका है, कुशद्वीपकी राजधानीमें कान्तासे आलिङ्गित होकर सोया है । चौथा भाई शाल्मलिद्वीप-पर्वतके शिखरपर स्थित नगरीके क्रीडा-सरोवरमें विद्याधरियोंके साथ जलक्रीडामें निरत है ॥ ५९—६२ ॥

क्रौञ्चद्वीपे हेमपुरे सप्तद्वीपविवर्धिते ।
प्रवृत्तो वाजिमेधेन कश्चिद्यष्टुं दिनाष्टकम् ॥ ६३ ॥
उद्यतः शाल्मलिद्वीपे कश्चिद् द्वीपान्तचारिणा ।
योद्धुमुद्धृतदिग्दन्तिदन्ताकृष्टकुलाचलः ॥ ६४ ॥
गोमेदद्वीपकः कश्चित्पुष्करद्वीपराट्सुताम् ।
समानेतुं वशाद्याति कषत्सेनोऽष्टमोऽभवत् ॥ ६५ ॥
पुष्करद्वीपकः कश्चिल्लोकालोकाऽद्रिभूभुजः ।
दूतेन सह निर्यातो धनभूमिदिदृक्षया ॥ ६६ ॥
प्रत्येकमित्थमेतेषां द्वीपद्वीपाधिनाथताम् ।
कुर्वतां स्वगृहाकाशे दृष्ट्वा स्वप्रतिभोचिताम् ॥ ६७ ॥
त्यक्ताभिमानिकाकारा द्विविधास्ते वरास्ततः ।
तत्संविद्भिर्गृहेष्वन्तरेकतां खानि खैरिव ॥ ६८ ॥
यास्यन्ति ते भविष्यन्ति संप्राप्ताभिमताश्चिरम् ।
सप्तद्वीपेश्वरास्तुष्टा नन्वष्टावपि तुष्टिमत् ॥ ६९ ॥

पाँचवाँ भाई क्रौञ्चद्वीपमें सातों द्वीपोंसे लाई गई महा ऋद्धियोंसे सुसमृद्ध हेमपुरमें ब्रह्माके आठ दिनों तक बराबर अश्वमेध यज्ञ द्वारा भगवान्का पूजन करनेके लिए प्रवृत्त है ॥ ६३ ॥

छठा भाई शाल्मलिद्वीपमें उखाड़े गये दिग्गजोंके दाँतोंसे कुलाचलों को खींचकर दूसरे द्वीपके राजा के साथ युद्ध करनेके लिए उद्यत है ॥ ६४ ॥

गोमेदद्वीप निवासी आठवाँ भाई, कामवश पुष्कर द्वीपके राजाकी पुत्रीको जीतकर लानेके लिए शत्रु-देशोंको रौंद रही सेनावाला हुआ ॥ ६५ ॥

पुष्कर द्वीपमें रहनेवाला सातवां भाई लोकालोक पर्वतके राजाके दूतके साथ निधि-स्थानोंको देखनेकी इच्छासे अपने घरसे गया ॥ ६६ ॥

इस प्रकार स्वगृहाकाशमें अलग अलग स्थित हुए इनकी स्वप्रतिभोचित द्वीपद्वीपाधिपतिताको देखकर वे दोनों प्रकारके वर आतिवाहिक देहाकारमें भी आभिमानिक आकारका त्याग कर उन आठोंके जीवोंके साथ ऐसे ही एकता को प्राप्त होंगे जैसे कि आकाश आकाशोंके साथ एकताको प्राप्त होते हैं। चिरकाल-

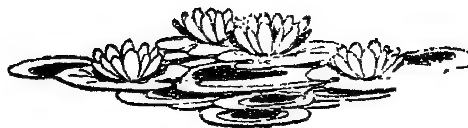
इत्येते प्रविकसितोदितक्रियार्था:
प्राप्स्यन्ति प्रविततबुद्धयस्तपोभिः ।
अन्तर्यत्स्फुरति विदस्तदेव बाह्ये
नाऽऽप्तं कैस्तदुचितकर्मभिः किलेति ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा० मो० नि० उ० ब्रह्म० ताप० द्वीपसप्तकाष्टकवर्णनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८३ ॥

में अभिलषित सप्तद्वीपेश्वरताको प्राप्त हुए वे आठों भाई भी तुष्टियुक्त राज्यको प्राप्त कर सप्त द्वीपोंके अधिपति बनकर सन्तुष्ट होंगे ॥ ६७-६९॥

विशाल बुद्धिवाले वे जिनका पूर्वोक्त वररूप क्रियार्थ पूर्णरूपसे विकसित हो चुका था, पूर्वोक्त प्रकारकी सप्तद्वीपाधिपतिताको तपस्याओं द्वारा प्राप्त होंगे। प्रत्येक चैतन्यके अन्दर दृढ़ निश्चयरूपसे जिसका स्फुरण होता है वही बाहर उसके अनुकूल तप, जप आदि कर्मोंसे किसे प्राप्त नहीं हुआ ? ॥ ७० ॥

एक सौ तिरासी सर्ग समाप्त



चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः

कुन्ददन्त उवाच

इत्युक्तवानसौ पृष्टः कदम्बतलतापसः ।
सप्तद्वीपा भुवोऽष्टौ ताः कथं भाता गृहेष्विति ॥ १ ॥

कदम्बतापस उवाच

चिद्धातुरीदृगेवाऽयं यदेष व्योमरूप्यपि ।
सर्वगो यत्र यत्राऽऽस्ते तत्र तत्राऽऽत्मनि स्वयम् ॥ २ ॥
आत्मानमित्थं त्रैलोक्यरूपेणाऽन्येन वा निजम् ।
परिपश्यति रूपं स्वमत्यजन्नेव खात्मकम् ॥ ३ ॥

कुन्ददन्त उवाच

एकस्मिन्विमले शान्ते शिवे परमकारणे ।
कथं स्वभावसंसिद्धा नानाता वास्तवी स्थिता ॥ ४ ॥

एक सौ चौरासी सर्ग

[घरके अन्दर कोटि-कोटि आठ जगतोंका संभव है, क्योंकि अज्ञात चिन्मात्रका ही जगतोंके रूपसे भान होता है, यह वर्णन]

कुन्ददन्तने कहा—मेरे यह पूछनेपर कि भगवन्, घरोंके छोटेसे अवकाशमें उन पचास करोड़ योजन विस्तारवाले जगतोंका कैसे भान हुआ ? कदम्बतलनिवासी उस तपस्वीने यह कहा ॥ १ ॥

कदम्बतपस्वीने कहा—यह चिदाकाश ऐसा ही है । सर्वव्यापी यह प्रपञ्च शून्य होनेपर भी जहाँ जहाँ रहता है, वहाँ वहाँ अपने स्वरूपको अपनेमें त्रैलोक्यके रूपसे अथवा सुषुप्त और तुरीयके रूपसे अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपका त्याग किये बिना ही देखता है ॥ २,३ ॥

कुन्ददन्तने कहा—भगवन्, अद्वितीय, निर्मल, शान्त, शिव परम कारणमें स्वभावसिद्ध (नैसर्गिक) वास्तवी नानाता (भिन्नता) कैसे स्थित है । एकमें नानाता विरुद्ध है यह शङ्का करनेवालेका भाव है ॥ ४ ॥

कदम्बतापस उवाच

सर्वं शान्तं चिदाकाशं नानाऽस्तीह न किंचन ।
दृश्यमानमपि व्योम्नावर्तात्मा यथाऽम्भसि ॥ ५ ॥
असत्स्वेषु पदार्थेषु पदार्था इति भान्ति यत् ।
चित्त्वं स्वप्नसुषुप्तात्म तत्स्याऽच्छं निजं वपुः ॥ ६ ॥
सस्पन्दोऽपि हि निःस्पन्दः पर्वतोऽपि न पर्वतः ।
यथा स्वप्नेषु चिद्भावः स्वभावोऽर्थगतस्तथा ॥ ७ ॥
न स्वभावा न चैवाऽर्थाः सन्ति सर्वात्मकोचिते ।
सर्गादौ कचितं रूपं यद्यथा तत्तथा स्थितम् ॥ ८ ॥
न च नाम परं रूपं कचनाकचनात्मकम् ।
द्रव्यात्माचिच्च चिद्व्योम स्थितमित्थं हि केवलम् ॥ ९ ॥

यह नानाता वास्तविक नहीं है, किन्तु भ्रान्तिजन्य है, वह जैसे चन्द्रमाके एक होनेपर भी दो चन्द्रमाओंकी प्रतीति होती है वैसे ही अविरुद्ध है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'सर्वम्'** इत्यादिसे ।

कदम्बतपस्वीने कहा—हे मुने, जैसे जलमें दृश्यमान भी आवर्त जलातिरिक्त नहीं है वैसे ही यहाँपर सब कुछ शान्त चिदाकाश ही है यह विस्ताररूपसे दिखाई देता भी नाना (भेद) कुछ नहीं है ॥ ५ ॥

इन सकल पदार्थोंकी असत्तामें पदार्थरूपसे जो ये भासित होते हैं वह स्वप्न और सुषुप्तिके समान अपने यथार्थ स्वरूपको भूला हुआ निज निर्मल चिदाकाशरूप अज्ञात स्वरूप ही है ॥ ६ ॥

इसलिए कोई विरोध नहीं है, यह दर्शाते हैं—**'सस्पन्द'** इत्यादिसे ।

स्पन्द सहित होनेपर भी वह निस्पन्द है पर्वत होनेपर भी पर्वत नहीं है जैसे स्वप्नोंमें चिद्भाव पदार्थगत है वैसे ही सन्मात्रात्मा चिद्भाव कल्पितार्थगत भी है, यह समझना चाहिये ॥ ७ ॥

सर्वात्माके अनुरूप यानी वास्तविकरूपमें न सृष्टि आदि स्वभाव हैं और न सृष्टिस्वभावसे किये गये पदार्थ हैं। सृष्टिके आदिमें जो रूप जैसे स्फुरित हुआ वह आज भी वैसे ही स्थित है ॥ ८ ॥

परमरूप कचन अकचन स्वरूप (स्फुरण-अस्फुरणरूप) नहीं है द्रव्य-

एकैव चिद्यथा स्वप्ने सेनायां जनलक्षताम् ।
गतेवाऽच्छैव कचति तथैवाऽऽस्था पदार्थता ॥ १० ॥
यत्स्वतः स्वात्मनि स्वच्छे चित्त्वं कचकचायते ।
तत्तेनैव तदाकारं जगदित्यनुभूयते ॥ ११ ॥
असत्यपि यथा वह्नावुष्णसंविद्धि भासते ।
संविन्मात्रात्मके व्योम्नि तथाऽर्थः स्वस्वभासकः ॥ १२ ॥
असत्यपि यथा स्तम्भे स्वप्ने खे स्तम्भता विदः ।
तथेदमस्या नानात्वमनन्यदपि चाऽन्यवत् ॥ १३ ॥
आदिसर्गे पदार्थत्वं तत्स्वभावाच्छमेव च ।
चिद्व्योम्ना यद्यथा बुद्धं तत्तथाऽद्यापि विन्दते ॥ १४ ॥

रूपसे अचित् भी नहीं है। केवल चिदाकाश इस प्रकारसे (जगत्के रूपसे) स्थित है ॥ ९ ॥

जैसे स्वप्नमें केवल एकमात्र निर्मल जीवचित् सेनारूपमें लाखों मनुष्य रूपताको प्राप्त हुई सी प्रतीत होती है वैसे ही इस चित्की पदार्थता स्फुरित होती है ॥ १० ॥

चूँकि चिदाकाश स्वच्छतम अपने स्वरूपमें अपने आप अतिशयरूपसे देदीप्यमान होता है इसलिए उसके द्वारा स्फुरणाकारका जगत्रूपसे अनुभव होता है ॥ ११ ॥

जैसे स्वप्नमें अग्निके न रहनेपर भी स्वप्नचिद् ही उष्णरूपसे भासित होती है वैसे ही संविन्मात्ररूप आकाशमें असत् भी पदार्थ अपने स्वरूपको भासित करता है ॥ १२ ॥

जैसे स्वप्नाकाशमें स्तम्भके न रहनेपर भी जीवचित्की स्तम्भता प्रतीत होती है वैसे ही यद्यपि इस चित्का नानात्व (भेद) इससे अभिन्न है तथापि भिन्नवत् भासता है ॥ १३ ॥

तब अर्थक्रियाका नियम कैसे है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'आदिसर्गे'** इत्यादिसे ।

आदि सृष्टिमें पदार्थता स्वभावसे स्वच्छ ही थी चिदाकाशने जिसका जैसे अनुभव किया वह आज भी अपने स्वरूपका वैसे ही लाभ करता है ॥१४॥

पुष्पे पत्रे फले स्तम्भे तरुरेव यथा ततः ।
सर्वं सर्वत्र सर्वात्म परमेव तथाऽपरम् ॥ १५ ॥
परमार्थाम्बराम्भोधावापः सर्गपरम्परा ।
परमार्थमहाकाशे शून्यता सर्गसंविदः ॥ १६ ॥
परमार्थश्च सर्गश्च पर्यायौ तरुवृक्षवत् ।
बोधादेतदबोधात्तु द्वैतं दुःखाय केवलम् ॥ १७ ॥
परमार्थो जगच्चेदमेकमित्येव निश्चयः ।
अध्यात्मशास्त्रबोधेन भवेत्सैषा हि मुक्तता ॥ १८ ॥
संकल्पस्य वपुर्ब्रह्म संकल्पकचिदाकृतेः ।
तदेव जगतो रूपं तस्माद् ब्रह्मात्मकं जगत् ॥ १९ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते न निवर्तन्त एव वा ।
विधयः प्रतिषेधाश्च भावाभावदृशस्तथा ॥ २० ॥

जैसे फूल, पत्ते, फल और तनेमें वृक्ष ही व्याप्त है वैसे ही सर्वत्र सारा जगत् सर्वात्मा परब्रह्म ही है ॥ १५ ॥

सृष्टिपरम्परा परमार्थाकाशरूपी (चिदाकाश रूपी) सागरमें जलरूप हैं तथा सृष्टिसंवित् परमार्थरूप महाकाशमें शून्यता रूप है अर्थात् जैसे जल सागरसे अभिन्न है और जैसे शून्यता आकाशसे अभिन्न है वैसे ही परम ब्रह्मसे सृष्टियाँ अभिन्न हैं ॥ १६ ॥

जैसे तरु और वृक्ष पर्यायवाची हैं वैसे ही परमार्थ और सृष्टि पर्याय-वाची (अभिन्नार्थ) हैं । बोध होनेसे इस तरह अद्वैत होता है बोध और न होनेसे तो केवल दुःखके लिए द्वैत ही है ॥ १७ ॥

इस अध्यात्मशास्त्रके बोधसे परमार्थरूप परम ब्रह्म और जगत् यह एक ही है यह निश्चय होता है, वही मुक्ति है ॥ १८ ॥

ब्रह्म संकल्प करनेवाले चिदाकारके संकल्पका स्वरूप है । वही जगत्का रूप है, इसलिए जगत् ब्रह्मस्वरूप है ॥ १९ ॥

जिसमें वाणियाँ निवृत्त होती हैं (जहाँ वाणियोंकी पहुँच नहीं है) अथवा सकल शब्दोंके ब्रह्मनिष्ठ होनेसे जिससे वाणियाँ नहीं ही निवृत्त होती हैं वैसे ही विधियाँ, प्रतिषेध और भावाभावदृष्टियाँ जिससे निवृत्त होती हैं अथवा

अमौनमौनं जीवात्म यत्पाषाणवदासनम् ।
यत्सदेवाऽसदाभासं तद् ब्रह्माभिधमुच्यते ॥ २१ ॥
सर्वस्मिन्नेकसुघने ब्रह्मण्येव निरामये ।
का प्रवृत्तिर्निवृत्तिः का भावाभावादिवस्तुनः ॥ २२ ॥
एकस्यामेव निद्रायां सुषुप्तस्वप्नविभ्रमाः ।
यदा भान्त्यविचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥ २३ ॥
एतस्यां चित्खसत्तायां तथा मूलकसर्गकाः ।
बहवो भान्त्यचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥ २४ ॥
द्रव्ये द्रव्यान्तराश्लिष्टं यत्कार्यान्तरमाक्षिपेत् ।
तद्वदन्तस्तथाभूतचित्सारं स्फुरणं मिथः ॥ २५ ॥

सबके एकमात्र तदाश्रित होनेसे उक्त विधि आदि जिससे निवृत्त नहीं ही होते हैं ॥ २० ॥

अमौन मौनके मध्यमें जीवात्माकी जो पाषाणके समान चिद्घन स्थिति है, जो सत् होते हुए ही असत्के सदृश प्रतीत होता है वह ब्रह्म नामका कहा जाता है ॥ २१ ॥

सर्वात्मा अद्वितीय सुघन निरामय ब्रह्ममें ही भाव अभाव आदि वस्तुकी क्या सृष्टि होगी और क्या प्रलय होगा ? ॥ २२ ॥

जैसे एक ही अविचित्र निद्रामें विचित्र-सी अविच्छिन्न सुषुप्ति और स्वप्नकी भ्रान्तियोंका भान होता है वैसे ही इस अविचित्र चिदाकाशसत्तामें बहुतसे विचित्र अविच्छिन्न बीजभूत प्रलयों और सर्गोंका भान होता है ॥२३,२४॥

कैसे उनका भान होता है ? यह कहते हैं—'**द्रव्ये**' इत्यादिसे ।

जैसे दही आदि द्रव्यमें शक्कर आदि मिला दिया जाय तो मिला हुआ वह दही और शक्कर प्रत्येकके गुणकी अपेक्षा अन्य गुणको (रुचि, पुष्टि, पित्तनाश आदि करना रूप गुणको) उत्पन्न करता है वैसे ही प्राणियोंके अन्तःकरणमें अभिव्यक्त प्रमातारूप चित्सार चक्षु आदि द्वारा बाहर निकलकर घटादिके आकारकी वृत्तिके सम्बन्धसे मिलकर घट, पट आदि तत् तत् विषयोंके अधिष्ठान चित्के आवरणभङ्गसे परस्पर द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटीके स्फुरणको उत्पन्न करता है ॥ २५ ॥

सर्वे पदार्थाश्चित्सारमात्रमप्रतिघाः सदा ।
यथा भान्ति तथा भान्ति चिन्मात्रैकात्मतावशात् ॥२६॥
चिन्मात्रैकात्मसारत्वाद्यथासंवेदनं स्थिताः ।
निःस्पन्दा निर्मनस्काराः स्फुरन्ति द्रव्यशक्तयः ॥ २७ ॥
अविद्यमानमेवेदं दृश्यतेऽथाऽनुभूयते ।
जगत्स्वप्न इवाऽशेषं सरुद्रोपेन्द्रपद्मजम् ॥ २८ ॥
विचित्राः खलु दृश्यन्ते चिज्जले स्पन्दरीतयः ।
हर्षामर्षविषादोत्थजङ्गमस्थावरात्मनि ॥ २९ ॥
स्वभाववाताधूतस्य जगज्जालचमत्कृतेः ।
हा चिन्मरीचिपांश्वभ्रनीहारस्य विसारिता ॥ ३० ॥

इसलिए घट, पट आदि पदार्थ भी अपने अधिष्ठान भूत चित्‌की सत्ता और स्फूर्तिवाले होनेसे चिन्मात्रसार हैं, ऐसा कहते हैं—**'सर्वे'** इत्यादिसे ।

सदा अमूर्त चिन्मात्रसार सब पदार्थ सृष्टिके आदिमें एकमात्र चिन्मात्र-स्वरूप होनेके कारण स्फुरित होते हैं ॥ २६ ॥

उनकी स्थिति भी संवित्‌के अनुसार ही है । स्पन्दशून्य चिदधिष्ठान-वाली होनेके कारण सब द्रव्यशक्तियाँ भी अपने आश्रयसे विचलित नहीं होतीं और न उनका ह्रास ही होता है, ऐसा कहते हैं—**'निःस्पन्दा'** इत्यादिसे ।

एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप होनेके कारण संविद्‌के अनुसार स्थित, निश्चल तथा द्वैताकारके ग्रहणसे रहित द्रव्यशक्तियाँ स्फुरित होती हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार एकमात्र प्रतिभासके अधीन सर्वस्ववाला यह जगत् प्रातिभासिक ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'अविद्यमानम्'** इत्यादिसे ।

यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित यह सारा जगत् अविद्यमान ही है फिर भी स्वप्नकी तरह दिखाई देता है और अनुभवमें आता है ॥ २८ ॥

स्थावर जंगमस्वरूप चित्‌रूपी जलमें हर्ष, क्रोध और विषादसे अत्यन्त विचित्र स्पन्दरीतियाँ दिखाई देती हैं ॥ २९ ॥

स्वभावरूप अर्थात् अज्ञातस्वरूपनिष्ठ विक्षेपशक्तिरूप वायुसे कँपाये गये, जगज्जालाकार चमत्कारसे युक्त चित्‌की, जो सत्त्वगुणरूप प्रकाशसे किरणरूप है, रजोगुणसे धूलिराशिरूप है, आवरण और जाड्यप्रधान तमोगुणसे मेघ और

यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि भाति व्यामलचक्षुषः ।
तथैवेयं जगद्भ्रान्तिर्भात्यनात्मविदोऽम्बरे ॥ ३१ ॥
यावत्संकल्पितं तावद्यथा संकल्पितं तथा ।
यथा संकल्पनगरं कचतीदं जगत्तथा ॥ ३२ ॥
संकल्पनगरे यावत्संकल्पं सकला स्थितिः ।
भवत्येवाऽप्यसद्रूपा सतीवाऽनुभवे स्थिता ॥ ३३ ॥
प्रवहत्येव नियतिर्नियतार्थप्रदायिनी ।
स्थावरं जङ्गमं चैव तिष्ठत्येव यथाक्रमम् ॥ ३४ ॥
जायते जङ्गमं जीवात्स्थावरं स्थावरादपि ।
नियत्याऽधो वहत्यम्बु गच्छत्यूर्ध्वमथाऽनलः ॥ ३५ ॥

कुहरारूप है, आकाशमें विस्तारशीलता खेदजनक है अर्थात् किस किस प्रकारके जन्म, मरण आदि करोड़ों अनर्थोंके रूपसे सम्पन्न है ॥ ३० ॥

जैसे रोगाक्रान्त दृष्टिवाले पुरुषको आकाशमें केशोंका वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है वैसे ही अज्ञानावृत चिद्दृष्टिवाले पुरुषको स्वात्माकाशमें इस जगद्भ्रान्तिका भान होता है ॥ ३१ ॥

उसकी काल और प्रकारकी व्यवस्था भी संकल्पके अनुसार ही होती है, ऐसा कहते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे ।

जैसे संकल्पनगर जबतक संकल्प किया जाय और जिस जिस प्रकारसे संकल्प किया जाय तब तक और उस उस प्रकारसे स्फुरित होता है वैसे ही यह जगत् भी जबतक तथा जिस प्रकार इसका संकल्प किया जाय तब तक उस प्रकार स्फुरित होता है ॥ ३२ ॥

जैसे कि संकल्पनगरमें संकल्पपर्यन्त सकल स्थिति, जो असद्रूप होनेपर भी सत् के समान अनुभव में आती है, अवश्यमेव रहती है ॥ ३३ ॥

वही ब्रह्माकी संकल्परूप नियति, जो नियत अर्थका प्रदान करती है, आज भी धाराप्रवाहरूपसे चलती है आगे भी अवश्य ही चलेगी । उसीसे स्थावर और जंगम आदि प्राणिसंघ नियमितरूपसे रहता है ॥ ३४ ॥

प्राणियोंके जन्म, कर्म, स्वभाव आदिकी व्यवस्था भी उसीसे होती है, यह कहते हैं—**'जायते'** 'इत्यादिसे ।

वहन्ति देहयन्त्राणि ज्योतींषि प्रतपन्ति च ।
वायवो नित्यगतयः स्थिताः शैलादयः स्थिराः ॥ ३६ ॥
ज्योतिर्मयं निवृत्तं तु धारासारास्वरीकृतं ।
युगसंवत्सराद्यात्म कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ३७ ॥
भूतलैकान्तराब्ध्यद्रिसंनिवेशः स्थितायते ।
भावाभावग्रहोत्सर्गद्रव्यशक्तिश्च तिष्ठति ॥ ३८ ॥

कुन्ददन्त उवाच

प्राग्दृष्टं स्मृतिमायाति ततस्तत्संकल्पनान्यतः ।
भाति प्रथमसर्गे तु कस्य प्राग्दृष्टभासनम् ॥ ३९ ॥

उक्त नियतिसे ही जिसमें स्फुट जीव है ऐसे जंगमसे जंगमकी उत्पत्ति होती है और स्थावरसे स्थावरकी उत्पत्ति होती है, जल नीचेकी ओर बहता है और अग्नि ऊपरको धधकती है ॥ ३५ ॥

उसी नियतिके कारण ही सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियाँ देह-यन्त्र धारण करती हैं और तपती हैं । वायु सदा गतिशील रहते हैं और पर्वत आदि स्थिर (अचल) रहते हैं ॥ ३६ ॥

उसी नियतिसे ही ज्योतिर्मय युग, संवत्सर आदि रूप कालचक्र दक्षिणायनरूपसे लौटकर वर्षा ऋतुमें आकाशको मूसलाधार वृष्टिसे व्याप्त करता हुआ चलता है ॥ ३७ ॥

नियतिसे ही भूतलमें एकके बाद एक सागर और पर्वतोंका संनिवेश स्थिरसा होता है तथा भाव, अभाव, ग्रहण, त्यागरूप द्रव्यशक्ति भी रहती है ॥३८॥

हम सब लोगोंका व्यवहार ब्रह्माके संकल्परूप नियतिसे सुव्यवस्थित हो । लेकिन ब्रह्माकी संकल्पव्यवस्था ही पूर्वानुभवजन्यसंस्कारसे अतिरिक्त हेतुका संभव न होने तथा आदि सृष्टिमें पूर्वानुभवके प्रसिद्ध न होनेके कारण कैसे सिद्ध हो सकती है, यों कुन्ददन्त शङ्का करता है—**'प्राग्'** इत्यादिसे ।

कुन्ददन्तने कहा—भगवन्, पहले देखी गई वस्तु स्मृति-पथमें आरूढ होती है उसके अनन्तर तदनुसारी संकल्प होते हैं उक्त संकल्पोंसे नियत सृष्टिका भान होता है । यह बात द्वितीय, तृतीय आदि कल्पोंकी सृष्टिमें संभव है ।

तापस उवाच

अपूर्वं दृश्यते सर्वं स्वप्ने स्वमरणं यथा।
प्राग्दृष्टं दृष्टमित्येव तत्रैवाऽभ्यासतः स्मृतिः ॥ ४० ॥
चित्त्वाच्चिद्व्योम्नि कचति जगत्संकल्पपत्तनम्।
न सन्नाऽसदिदं तस्माद् भाताभातं यतः स्वतः ॥ ४१ ॥
चित्प्रसादेन संकल्पस्वप्नाद्याद्यनुभूयते।
शुद्धं चिद्व्योम संकल्पपुरं मा स्मर्यतां कथम् ॥ ४२ ॥

किन्तु आदि सृष्टिमें किसको पूर्व सृष्टिका भान प्रसिद्ध है जिससे कि ब्रह्माजी पूछें अथवा स्वयं स्मरण करें ॥ ३९ ॥

ब्रह्माका संकल्प स्मरणके अधीन नहीं है किन्तु दिव्य ज्ञान द्वारा अतीत अनागत सकल वस्तुओंके दर्शनके अधीन है, क्योंकि 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत' इत्यादि श्रुति है। उस क्षणमें सब अतीत और अनागत जगत् अपूर्वदृष्ट ही दिखाई देता है और दृष्टकी अनुसारिणी चिद् विवर्तरूप सांकल्पिक सृष्टि प्रवृत्त होती है। उसीमें यह मैंने 'प्राग्दृष्टम्' (पहले देखा) यों कहींपर अध्यास भी किया है इस तरह तपस्वी शङ्काका समाधान करते हैं—**'अपूर्वम्'** इत्यादिसे।

स्वप्नमें स्वमरणके तुल्य अपूर्व ही सब कुछ दिखई देता है उसीमें पहले देखा गया, देखा गया यों अभ्यासवश ब्रह्माको स्मृति होती है। ४० ॥

चित् होनेके कारण जगत्रूपी संकल्पनगर चिदाकाशमें स्फुरित होता है। चूँकि वह स्वतः कभी भासित होता है और कभी भासित नहीं होता, इसलिए वह न सत् है और न असत् है ॥ ४१ ॥

दर्शनकी सामर्थ्य न होनेपर स्मृतिकी कल्पना करनी पड़ती है। स्वप्नमें केवल कल्पनासे दर्शनमें समर्थ चित्की स्मृतिकल्पना नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं—**'चित्प्रसादेन'** इत्यादिसे।

चित्के प्रसादसे आज भी संकल्प, स्वप्न आदिका अनुभव होता है शुद्ध चिदाकाशरूप नगरका (जगत्का) चित्के प्रसादसे कैसे स्मरण न होगा ॥ ४२ ॥

हर्षामर्षविनिर्मुक्तैर्दुःखेन च सुखेन च ।
प्रकृतेनैव मार्गेण ज्ञैश्चक्रैरिव गम्यते ॥ ४३ ॥
निद्राव्यपगमे स्वप्ननगरे यादृशं स्मृतौ ।
चिद्व्योमात्म परं विद्धि तादृशं त्रिजगद्भ्रमम् ॥ ४४ ॥
संविदाभासमात्रं यज्जगदित्यभिशब्दितम् ।
तत्संविद्व्योम संशान्तं केवलं विद्धि नेतरत् ॥ ४५ ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम् ॥ ४६ ॥
यथेयं संसृतिर्ब्राह्मी भवतो यद् भविष्यति ।
यथा भानं च दृश्यस्य तदेतत्कथितं मया ॥ ४७ ॥

अतएव गुण, दोष आदिमें स्मरणसे हर्ष, क्रोध रहित तत्त्वज्ञानी कुम्हारके चाककी तरह प्रारब्धके वेगसे ही भ्रमण करते हैं, ऐसा कहते हैं—**'हर्षा०'** इत्यादिसे ।

हर्ष, क्रोध आदिसे विहीन ज्ञानी पुरुष चक्रोंके समान दुःखपूर्ण हो चाहे सुखप्रद हो प्रस्तुत (प्रारब्ध प्राप्त) मार्गसे ही चलते हैं ॥ ४३ ॥

बाधित स्मृति स्मृति नहीं है किन्तु वह अधिष्ठानमात्रका परिशेष है, ऐसा कहते हैं—**'निद्रा०'** इत्यादिसे ।

निद्राकी समाप्ति होनेपर स्वप्ननगरविषयक स्मृतिमें जैसे अधिष्ठान-मात्रका परिशेष रहता है वैसे ही तीनों जगत्के भ्रमको भी परम चिदाकाशात्मक समझो ॥ ४४ ॥

संवित्का आभासमात्र ही जो 'जगत्' शब्दसे कहलाता है उसे भी तुम केवल शान्त चिदाकाश ही जानो अन्य कुछ नहीं ॥ ४५ ॥

क्योंकि सब प्रकार शान्त चित् ही सब कुछ है, यह कहते हैं—**'यस्मिन्'** इत्यादिसे ।

जिसमें सब है, जिससे सब है, जो सब है, जो सब तरफसे है वही सर्वात्मा सर्वदा सर्वरूपसे सर्वत्र स्थित है ॥ ४६ ॥

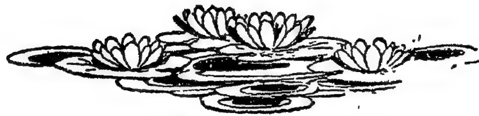
यह ब्राह्मी सृष्टि जिस प्रकार है, आगे जो होगा और जिस प्रकार इस दृश्य जगत्का भान होता है यह सब मैंने आपसे कहा ॥ ४७ ॥

उत्तिष्ठतं व्रजतमास्पदमह्नि पद्मं
भृङ्गाविवाऽभिमतमाशु विधीयतां स्वम् ।
तिष्ठामि दुःखमलमस्तसमाधिसंस्थं
भूयः समाधिमहमङ्ग चिरं विशामि ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ता० कुन्द-दन्तोपदेशो नाम चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८४ ॥

हे ब्राह्मणो ! अब आप दोनों उठिये, प्रातःकाल होते ही भ्रमर जिस प्रकार कमल पुष्पके पास जाते हैं वैसे ही अपने अभीष्ट सत्कर्मोंका शीघ्र विधान कीजिये । मुझे समाधिसे रहित अवस्थामें अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए मैं फिर समाधिमें प्रवेश करता हूँ ॥ ४८ ॥

एक सौ चौरासी सर्ग समाप्त



पञ्चाशीत्यधिकशततमः सर्गः

कुन्ददन्त उवाच

जरन्मुनिरपीत्युक्त्वा ध्यानमीलितलोचनः ।
आसीदस्पन्दितप्राणमनाश्चित्र इवाऽर्पितः ॥ १ ॥
आवाभ्यां प्रणयोदारैः प्रार्थितोऽपि पुनः पुनः ।
वाक्यैः संसारमविदन्न वचो दत्तवान्पुनः ॥ २ ॥
आवां प्रदेशतस्तस्माच्चलित्वा मन्दमुत्सुकौ ।
दिनैः कतिपयैः प्राप्तौ गृहं मुदितबान्धवम् ॥ ३ ॥
अथ तत्रोत्सवं कृत्वा कथाः प्रोच्य चिरंतनीः ।
स्थितास्तावद्वयं यावत्सप्ताऽपि भ्रातरोऽथ ते ॥ ४ ॥
क्रमेण विलयं प्राप्ताः प्रलयेष्वर्णवा इव ।
मुक्तोऽसौ मे सखैवैक एकार्णव इवाऽष्टकः ॥ ५ ॥

एक सौ पचासी सर्ग

[उन दोनोंका गृहागमन, वहां भाइयोंका क्रमशः क्षय और श्रीरामचन्द्रजीकी प्राप्तिसे कुन्ददन्तके मोहोच्छेदका वर्णन]

कुन्ददन्तने कहा—वृद्ध मुनिने भी इतना कहकर ध्यानसे आँखें मूंद लीं। प्राणवायु और मनके स्पन्दन रहित होनेसे वह चित्रलिखित जैसा हो गया ॥१॥

हम दोनोंके विनय और स्तुतिमय वाक्योंसे बार बार प्रार्थना करनेपर भी बाह्यवृत्तिशून्य होनेके कारण संसारको न जानते हुए उसने फिर उत्तर नहीं दिया ॥ २ ॥

मुनिके वियोगसे उदास हुए हम दोनों उस प्रदेशसे धीरे धीरे चलकर कुछ दिनोंके बाद प्रसन्न बन्धु-बान्धवोंसे युक्त घरमें पहुँचे ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर घरमें कुलदेवताके आराधनादि उत्सव कर नाना प्रकारकी प्राचीन कथाएँ कहकर हम तबतक स्थित रहे जबतक वे सातों भाई प्रलयकालमें सप्त समुद्रोंकी भाँति क्रमसे विलीन न हो गये। केवल वह एक मेरा मित्र ही आठवें समुद्रकी भाँति विलीन होनेसे बचा रह गया ॥ ४, ५ ॥

ततः कालेन सोऽप्यस्तं दिनान्तेऽर्क इवाऽऽगतः ।
अहं दुःखपरीतात्मा परं वैधुर्यमागतः ॥ ६ ॥
ततोऽहं दुःखितो भूयः कदम्बतरुतापसम् ।
गतो दुःखोपघाताय तज्ज्ञानं प्रष्टुमादृतः ॥ ७ ॥
तत्र मासत्रयेणाऽसौ समाधिविरतोऽभवत् ।
प्रणतेन मया पृष्टः सन्निदं प्रोक्तवानथ ॥ ८ ॥

कदम्बतापस उवाच

अहं समाधिविरतः स्थातुं शक्नोमि न क्षणम् ।
समाधिमेव प्रविशाम्यहमाशु कृतत्वरः ॥ ९ ॥
परमार्थोपदेशस्ते नाऽभ्यासेन विनाऽनघ ।
लगत्यत्र परां युक्तिमिमां शृणु ततः कुरु ॥ १० ॥
अयोध्या नाम पूरस्ति तत्राऽस्ति वसुधाधिपः ।
नाम्ना दशरथस्तस्य पुत्रो राम इति श्रुतः ॥ ११ ॥

फिर कुछ कालके अनन्तर वह मेरा मित्र भी दिनके अन्तमें सूर्यकी भाँति अस्त हो गया (मर गया) और उसके विरहदुखसे व्याप्त हुआ मैं अत्यन्त दुःखी हुआ ॥ ६ ॥

तब दुःखी हुआ मैं उस दुखका नाश करनेके लिए और उस प्राक्तन ज्ञान-को आदरपूर्वक पूछनेके लिए फिर उसी कदम्बतरु-तापसके पास गया ॥ ७ ॥

वहाँ तीन महीनेके अनन्तर वह मुनि समाधिसे विरत हुआ । नम्रताके साथ मेरे प्रश्न करनेपर वह इस प्रकार बोला ॥ ८ ॥

कदम्बतरु-तापसने कहा—मैं समाधिसे विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता । मैं फिर शीघ्र ही त्वरापूर्वक समाधिमें ही प्रवेश करता हूँ ॥ ९ ॥

हे निष्पाप, इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यासके बिना तुम्हें नहीं लगेगा, अतः दूसरी युक्ति सुनो और वैसा ही करो ॥ १० ॥

अयोध्या नामकी नगरी है । वहाँ दशरथ नामके राजा हैं । उनके पुत्र राम नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ११ ॥

सकाशं तत्र गच्छ त्वं तस्मै कुलगुरुः किल ।
वसिष्ठाख्यो मुनिश्रेष्ठः कथयिष्यति संसदि ॥ १२ ॥
मोक्षोपायकथां दिव्यां तां श्रुत्वा सुचिरं द्विज ।
विश्रान्तिमेष्यसि परे पदेऽहमिव पावने ॥ १३ ॥
इत्युक्त्वा स समाधानरसायनमहार्णवम् ।
विवेशाऽहमिमं देशं त्वत्सकाशमुपागतः ॥ १४ ॥
एषोऽहमेतद् वृत्तं मे सर्वं कथितवानहम् ।
यथावृत्तं यथादृष्टं यथाश्रुतमखण्डितम् ॥ १५ ॥

श्रीराम उवाच

स कुन्ददन्त इत्यादिकथाकथनकोविदः ।
स्थितस्ततःप्रभृत्येव मत्समीपगतः सदा ॥ १६ ॥
स एष कुन्ददन्ताख्यो द्विजः पार्श्वे समास्थितः ।
श्रुतवान्संहितामेतां मोक्षोपायाभिधामिह ॥ १७ ॥

वहाँ तुम उनके पास जाओ, क्योंकि उनके कुलगुरु वसिष्ठनामक मुनिश्रेष्ठ उन श्रीरामचन्द्रके लिए सभामें मोक्षोपायकी दिव्य कथा कहेंगे । हे द्विज, चिरकालतक उसे सुनकर तुम उस पावन परम पदमें मेरी ही तरह विश्रान्तिको प्राप्त हो जाओगे ॥ १२,१३ ॥

इतना कहकर वह मुनि समाधानरूप औषधिके समुद्रमें अर्थात् समाधिमें प्रविष्ट हुआ और मैं यहाँ आपके पास प्राप्त हुआ हूँ ॥ १४ ॥

यही मैं हूँ और यह मेरा वृत्तान्त जैसा हुआ, जैसा देखा और जैसा सुना वह सम्पूर्ण मैंने कह दिया ॥ १५ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे गुरुवर, इत्यादि कथाओंको कहनेमें चतुर वह कुन्ददन्त उस दिनसे सदा मेरे समीप ही रहता है ॥ १६ ॥

वही यह कुन्ददन्त नामक द्विज मेरे पास बैठा हुआ इस सभामें मोक्षोपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिताको सुनता था ॥ १७ ॥

स एष कुन्ददन्ताख्यो मम पार्श्वगतो द्विजः ।
अद्य निःसंशयो जातो न वेति परिपृच्छ्यताम् ॥ १८ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ते राघवेणाऽथ प्रोवाच वदतांवरः ।
स वसिष्ठो मुनिश्रेष्ठः कुन्ददन्तं विलोकयन् ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

कुन्ददन्त द्विजवर कथ्यतां किं त्वयाऽनघ ।
बुद्धं श्रुतवता ज्ञेयं मदुक्तं मोक्षदं परम् ॥ २० ॥

कुन्ददन्त उवाच

सर्वसंशयविच्छेदि चेत एव जयाय मे ।
सर्वसंशयविच्छेदो ज्ञातं ज्ञेयमखण्डितम् ॥ २१ ॥
ज्ञातं ज्ञातव्यममलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं विश्रान्तोऽस्मि परे पदे ॥ २२ ॥

इस प्रकार प्रश्नका उपोद्घात करके अब प्रष्टव्य अंश कहते हैं—**'स एष'** इत्यादिसे ।

वही यह मेरे समीपमें बैठा हुआ कुन्ददन्त नामक द्विज है यही आज संशयरहित हुआ या नहीं यह इससे कृपा कर पूछिये ॥ १८ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजीके इतना कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिप्रवर वसिष्ठजी कुन्ददन्तकी ओर देखकर बोले ॥ १९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे अनघ, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, कुन्ददन्त, कहो मेरे कहे हुए मोक्ष देनेवाले इस शास्त्रको सुनकर तुमने किस ज्ञातव्यको जाना ॥ २० ॥

कुन्ददन्तने कहा—भगवन्, सम्पूर्ण संशयोंका विनाशक मेरा चित्त ही मेरी विजयके लिए है। मेरे सभी सन्देहोंकी निवृत्ति हो गई है, क्योंकि अवश्यज्ञेय अखंडित ब्रह्मतत्त्व मैं जान चुका हूँ ॥ २१ ॥

ज्ञानमात्रसे मोहकी निवृत्ति हो जानेसे अन्य ज्ञातव्य, द्रष्टव्य और लब्धव्यका भी परिशेष न रह जानेसे अपनी कृतकृत्यता दर्शाते हैं—**'ज्ञातम्'** इत्यादिसे ।

ज्ञातव्य जो अमल था उसे मैं जान चुका, अक्षत द्रष्टव्यको मैंने देख लिया, सम्पूर्ण प्राप्तव्यको मैं प्राप्त कर चुका अब इस ब्रह्मरूप परम पदमें विश्रान्त हूँ ॥२२॥

बुद्धेयं त्वदिदं सर्वं परमार्थघनं घनम् ।
अनन्येनाऽऽत्मनो व्योम्नि जगद्रूपेण जृम्भितम् ॥ २३ ॥
सर्वात्मकतया सर्वरूपिणः सर्वगात्मनः ।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदा संभवत्यलम् ॥ २४ ॥
संभवन्ति जगन्त्यन्तः सिद्धार्थकणकोटरे ।
न संभवन्ति च यथा ज्ञातमेतदशेषतः ॥ २५ ॥
गृहेऽन्तः संभवत्येव सप्तद्वीपा वसुंधरा ।
गेहं च शून्यमेवाऽऽस्ते सत्यमेतदसंशयम् ॥ २६ ॥
यद्यद्यदा वस्तु यथोदितात्म
भातीह भूतैरनुभूयते च ।
तत्तत्तदा सर्वघनस्तथाऽऽस्ते
ब्रह्मेत्थमाद्यन्तविमुक्तमस्ति ॥ २७ ॥

यह आत्मचित् आपसे मैंने जान ली है। यह सब अखण्ड परमार्थघन आकाशमें आत्मासे अनन्य जगत्‌रूपसे स्फुरित है ॥ २३ ॥

सर्वात्मक होनेसे सर्वरूपी सर्वव्यापी आत्माका सभी कुछ सब प्रकारसे सर्वत्र सर्वदा पूर्णरूपसे संभव होता है ॥ २४ ॥

सरसोंके कणके अन्दर भी सर्वकल्पनाशक्तियुक्त अधिष्ठान भूत चित्‌का अस्तित्व होनेसे उसके अन्दर भी मायादृष्टिसे अनन्त जगतोंका संभव है, किन्तु इस चित्‌का पूर्णरूपसे ज्ञान होनेपर तो वास्तविक दृष्टिसे कहींपर भी जगतोंका संभव नहीं है ॥ २५ ॥

गृहके अन्दर यह सप्तद्वीपा पृथ्वी उत्पन्न होती है और गृह शून्य ही है। यह निःसन्देह सत्य है ॥ २६ ॥

अब मायासहित ब्रह्मतत्त्वका निष्कर्ष निकालकर उपसंहार करते हैं—**'यद्‌यद्'** इत्यादिसे।

जो जो वस्तु जब जिस प्रकारसे भासित होती है और प्राणियोंसे उसका अनुभव किया जाता है वह वह वस्तु उस उस समय केवल सर्वघन आत्मा ही उस रूपसे है अर्थात् सर्वघन आत्मा ही सब प्राणियोंके लिये सभी समय सर्व-

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० ब्रह्म० ता० कुन्ददन्तप्रबोधो नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

कुन्ददन्ते वदत्येवं वसिष्ठो भगवान्मुनिः ।
उवाचेदमनिन्द्यात्मा परमार्थोचितं वचः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच ।

बत विज्ञानविश्रान्तिरस्य जाता महात्मनः ।
करामलकवद्विश्वं ब्रह्मेति परिपश्यति ॥ २ ॥

भावेन बोधका विषय है । अणुमात्र भी उससे भिन्न किसीसे कहीं किसी प्रकार अनुभूत नहीं होता । इस प्रकार आद्यन्तसे विहीन ब्रह्म ही सब कुछ है ॥ २७ ॥

एक सौ पचासी सर्ग समाप्त

एक सौ छियासी सर्ग

[इस सर्गमें 'सब कुछ ब्रह्म ही है' यह सिद्धान्त अटल किया जाता है और ब्रह्माजीके संकल्पसे वर और शापोंकी अर्थसिद्धि अटल की जाती है]

पहले कुन्ददन्त द्वारा वर्णित मायाशबल ब्रह्मतत्त्वको दृढ़कर श्रीवसिष्ठजी मायारहित शुद्ध ब्रह्मका वर्णन करनेके लिए प्रवृत्त हुए, ऐसा कहते हैं—'कुन्द-दन्ते' इत्यादिसे ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—कुन्ददन्तके यों कहनेपर परम श्लाघनीय भगवान् श्रीवसिष्ठ मुनिजीने यह परमार्थोचित वचन कहा ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हर्षकी बात है कि इस महात्माके, शास्त्रके श्रवणसे उत्पन्न ज्ञानकी पूर्णता हो चुकी है । यह, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है यह बात करामलकवत् देखता है ॥ २ ॥

किलेदं भ्रान्तिमात्रात्म विश्वं ब्रह्मेति भात्यजम् ।
भ्रान्तिर्ब्रह्मैव च ब्रह्म शान्तमेकमनामयम् ॥ ३ ॥
यद्यथा येन यत्राऽस्ति यादृग्यावद्यदा यतः ।
तत्तथा तेन तत्राऽस्ति तादृक्तावत्तदा ततः ॥ ४ ॥
शिवं शान्तमजं मौनममौनमजरं ततम् ।
सुशून्याशून्यमभवमनादिनिधनं ध्रुवम् ॥ ५ ॥
यस्या यस्यास्त्ववस्थायाः क्रियते संविदा भरः ।
सा सा सहस्रशाखत्वमेति सेकैर्यथा लता ॥ ६ ॥
परो ब्रह्माण्डमेवाऽणुश्चिद्व्योम्नोऽन्तःस्थितो यतः ।
परमाणुरेव ब्रह्माण्डमन्तःस्थितजगद्यतः ॥ ७ ॥
तस्माच्चिदाकाशमनादिमध्य-
मखण्डितं सौम्यमिदं समस्तम् ।
निर्वाणमस्तं गतजातिबन्धो
यथास्थितं तिष्ठ निरामयात्मा ॥ ८ ॥

केवल भ्रान्तिमात्र स्वरूप यह विश्व जन्मादिरहित ब्रह्म इसे मालूम होता है, अतः भ्रान्ति भी इसे शान्त, एक और निर्विकार ब्रह्म ही प्रतीत होती है ॥ ३ ॥

शबलब्रह्मनिष्कर्ष-दृष्टिसे इसने जो यह वर्णन किया है वह भी उचित ही है, ऐसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

जो जैसे जिसके द्वारा जिस अधिकरणमें जिस प्रकारका जबतक जिस कालमें जिससे होता है वह वैसे उसके द्वारा उस अधिकरणमें उस प्रकारका तबतक उस कालमें शिव, शान्त, जन्मादिरहित, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्याप्त, सुशून्य, अशून्य आदि-अन्तशून्य, अक्षय ब्रह्म ही है ॥ ४, ५ ॥

मायाशबल चित्के द्वारा जिस जिस अवस्थाका संकल्पातिशय किया जाता है वह वह अवस्था जलसे सींची गई लताकी तरह सहस्रों शाखाओंको प्राप्त होती है ॥६॥

ब्रह्माण्ड ही परम अणु है, क्योंकि वह चिदाकाशके मध्यमें स्थित है और परमाणु ही ब्रह्माण्ड है, क्योंकि उसमें सारा जगत् व्याप्त है ॥ ७ ॥

जगत्के ही ब्रह्म होनेका फल कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए यह समस्त जगत् चिदाकाश, आदिमध्यरहित, अखण्ड, सौम्य

स्वयं दृश्यं स्वयं द्रष्टृ स्वयं चित्त्वं स्वयं जडम् ।
स्वयं किंचिन्न किंचिच्च ब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९ ॥
यथा यत्र जगत्येतत्स्वयं ब्रह्म खमात्मनि ।
स्वरूपमजहच्छान्तं यत्र संपद्यते तथा ॥ १० ॥
ब्रह्म दृश्यमिति द्वैतं न कदाचिद्यथास्थितम् ।
एकत्वमेतयोर्विद्धि शून्यत्वाऽऽकाशयोरिव ॥ ११ ॥
दृश्यमेव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव दृश्यता ।
एतन्न शान्तं नाऽशान्तं नाऽनाकारं न चाऽऽकृतिः ॥ १२ ॥
यादृक् प्रबोधे स्वप्नादिस्तादृग्देहो निराकृतिः ।
संविन्मात्रात्मा प्रतिघः स्वानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ १३ ॥

और मोक्षरूप है। अतः जिसका शारीरादिवैचित्र्यरूप बन्धन अस्त हो चुका ऐसे तुम निरामय आत्मस्वरूप ब्रह्म ही होकर स्थित रहो ॥ ८ ॥

व्यवहारमें तो ब्रह्म स्वयं दृश्य है, स्वयं द्रष्टा है, स्वयं चेतन है, स्वयं जड़ है, स्वयं सब कुछ है और स्वयं कुछ नहीं भी है, वास्तमें तो वह अद्वितीय स्वप्रकाशानन्द एकरस आत्मामें ही स्थित है ॥ ९ ॥

यह ब्रह्म जगत्‌रूप आत्मचिदाकाशमें जहां जैसा रूप धारण करता है वहां अपने स्वरूपको न छोड़ता हुआ वैसा ही हो जाता है ॥ १० ॥

ब्रह्म अपनी मायासे दृश्यजगत्‌रूपमें उत्पन्न हुआ इससे ब्रह्म और जगत् यों द्वैतकी सिद्धि नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि वह तो यथावत् अविकृत ही है। शून्यत्व और आकाशकी तरह ब्रह्म और जगत्—इन दोनोंको एक ही समझो ॥११॥

दृश्य जगत् ही परम ब्रह्म है और परम ब्रह्म ही दृश्यता है। यह तो न शान्त है, न अशान्त है, न आकृतिविहीन है और न आकृतिवाला ही है १२ ॥

प्रतीयमान देहादि आकृतिका कैसे अपलाप करते हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'यादृग्०' इत्यादिसे।

जिस प्रकार प्रबोध होनेपर (जागनेपर) स्वप्नादि निराकार भासते हैं, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो जानेपर यह देह भी निराकृति भासता है, केवल संवित्‌स्वरूप साकार और स्वानुभूत होनेपर भी जैसे स्वप्नादि असन्मय हैं वैसे ही देह भी असत् ही है ॥ १३ ॥

संविन्मयो यथा जन्तुर्निद्रात्माऽऽस्ते जडोऽभवन् ।
जडीभूता तथैषाऽऽस्ते संवित्स्थावरनामिका ॥ १४ ॥
स्थावरत्वाज्जडाच्चित्त्वं जङ्गमात्म प्रयाति चित् ।
जीवः सुषुप्तात्मा स्वप्नं जाग्रच्चैव जगच्छतैः ॥ १५ ॥
आमोक्षमेषा जीवस्य भुव्यम्भस्यनिलेऽनले ।
खे खात्मभिर्जगल्लक्षैः स्वप्नाभैर्भासते स्थितिः ॥ १६ ॥
चिच्चिनोति तथा जाड्यं नरो निद्रास्थितिर्यथा ।
चिनोति जडतां चित्त्वं न नाम जडतावशात् ॥ १७ ॥

संवित्का भी जड़स्थावरतामें दृष्टान्त देते हैं—**'संविन्मयः०'** इत्यादिसे।

जैसे चेतन स्वरूपवाला (संविन्मय) जन्तु भी निद्रात्मा होकर जड़ हो जाता है उसी प्रकार यह स्थावरनामिका संवित् भी जड़ हो जाती है ॥ १४ ॥

चित्के स्थावरभावकी प्राप्तिके अनन्तर जङ्गमभावमें अभिव्यक्तिमें दृष्टान्त देते हैं—**'स्थावरत्वात्'** इत्यादिसे ।

जैसे सुषुप्तात्मा जीव स्वप्न और जाग्रत्को सैकड़ों जगतोंकी कल्पनाओंसे जाता है वैसे ही चित् स्थावरत्वरूप जड़से जङ्गमस्वरूप चित्त्वको प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

जीवकी कितने समय तक स्थावरत्व औरजङ्गमत्वकी स्थिति रहती है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'आमोक्षम्'** इत्यादिसे ।

मोक्ष होनेतक जीवकी यह स्थिति भूमि, जल, वायु, तेज और आकाशमें स्वप्नतुल्य आकाशस्वरूप (शून्यरूप) लाखों जगतोंके साथ भासती है ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य निद्रास्थितिका ग्रहण करता है वैसे ही चित् जड़ताका अपनेमें आरोप करती है फिर भी उसका चित्त्व अव्याहत ही रहता है। वह अध्यस्त जड़तासे अपनेमें जड़ताका आरोप नहीं करती, वास्तवमें जड़ताको प्राप्त नहीं होती ॥ १७ ॥

चिता वेदनवेत्तारं स्थावरं क्रियते वपुः ।
चिता वेदनवेत्तारं जङ्गमं क्रियते वपुः ॥ १८ ॥
यथा पुंसो नखाः पादावेकमेव शरीरकम् ।
तथैकमेवाऽप्रतिघं चितः स्थावरजंगमम् ॥ १९ ॥
आदिसर्गे स्वप्न इव यत्प्रथामागतं स्थितम् ।
चितो रूपं जगदिति तत्तथैवाऽन्त उच्यते ॥ २० ॥
तच्चैवाऽप्रतिघं शान्तं यथास्थितमवस्थितम् ।
न प्रथामागतं किंचिन्नाऽऽसीदप्रथितं हितम् ॥ २१ ॥
अयमादिरयं चाऽन्तः सर्गस्येत्यवभासते ।
चितः सुघननिद्रायाः सुषुप्तस्वप्नकोष्ठतः ॥ २२ ॥

जैसे चित् जाड्यवेदनवेत्ता जीवके प्रति स्थावर शरीर बनाती है वैसे ही चित् जाड्यवेदनवेत्ता जीवके प्रति जंगम शरीर भी बनाती है ॥ १८ ॥

वैसा करनेपर भी (जीवके प्रति अपने स्थावर और जङ्गम शरीर बनानेपर भी) चित्का भेद नहीं होता, किन्तु महाचित्का अपनेमें अध्यस्त सब अचेतन और चेतन नख, पैर आदिके समान अवयवरूप ही हैं, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे पुरुषके नख, पैर आदि एक ही शरीर हैं (शरीरके अवयव हैं) वैसे ही चित्का स्थावर और जंगम एक ही अमूर्त शरीर है ॥ १९ ॥

आदिम सृष्टिमें हिरण्यगर्भका (ब्रह्माका) प्राथमिक सृष्टिमें हेतुभूत संकल्प होनेपर चित्का जगत् नामका जो रूप जिस तरह प्रथाको (प्रसिद्धिको) प्राप्त हुआ वह इस समय भी वैसे ही स्थित है । इस तरह चिरकालसे जड़के रूपसे यद्यपि वह स्थित है तथापि चिन्मय होनेके कारण अप्रतिघ (अमूर्त), शान्त, ज्यों-का-त्यों स्वरूपसे स्थित, कुछ भी प्रथाको नहीं प्राप्त हुआ, अतः वह अप्रथित है, यों उसके-अपवाद द्वारा सृष्टिका अन्त कहा जाता है ॥ २०,२१ ॥

इस प्रकार सृष्टिमात्रकी त्रिकालमें असत्ता होनेके कारण उसकी आदि और अन्त कल्पना भी मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वाप्नप्रपञ्चकी सुषुप्तादि प्रबोधान्तता निद्राकोष्ठके अन्दर ही कल्पित होती है न कि प्रबोधकोष्ठके अन्दर वैसे ही सुघन निद्रावाली चित्के

स्थित एको ह्यनाद्यन्तः परमार्थघनो यतः ।
प्रलयस्थितिसर्गाणां न नामाऽप्यस्ति मां प्रति ॥ २३ ॥
प्रलयस्थितिसर्गादि दृश्यमानं न विद्यते ।
एतन्न चाऽऽत्मनश्चाऽन्यच्चित्रे चित्रवधूर्यथा ॥ २४ ॥
कर्तव्यचित्रसेनाऽस्माद्यथा चित्रान्न भिद्यते ।
नानाऽनानैवम्र तिधा चित्तत्वे सर्गता तथा ॥ २५ ॥
विभागहीनयाऽप्येष भागश्चिद्धननिद्रया ।
सुषुप्तान्मुच्यते मोक्ष इति स्वप्नस्तु चित्तकम् ॥ २६ ॥
प्रलयोऽयमियं सृष्टिरयं स्वप्नो घनस्त्वयम् ।
भासोऽप्रतिघरूपस्य चित्सहस्ररुचेरिति ॥ २७ ॥

सुषुप्ति-स्वप्नकोष्ठसे ही सृष्टिका यह आदि है, यह अन्त है यों आदि-अन्तका भान होता है वास्तवमें असत् सृष्टिका आदि और अन्त क्या हो सकता है ? ॥ २२ ॥

चूँकि मुझ ज्ञानीके प्रति अद्वितीय (अखण्ड), आदि और अन्तसे शून्य (जन्म-नाशविहीन) परमार्थघन ही है, अतः सृष्टि, स्थिति और प्रलयों-का नाम भी नहीं है, उनके रूपकी बात तो दूर रही ॥ २३ ॥

भ्रान्तिवश दिखाई दे रहे सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदिका अस्तित्व नहीं है जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्रसे व्यतिरिक्त नहीं है वैसे ही दृश्यमान यह सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप जगत् आत्मासे अन्य नहीं है ॥ २४ ॥

जैसे चित्रकार द्वारा बनाई जानेवाली चित्रलिखित सेना बुद्धिस्थ चित्रसे भिन्न नहीं है वैसे ही मूर्त सर्गता (सृष्टि) भी स्रष्टाकी चित्ततादशामें नाना प्रतीत होती हुई भी अनाना ही है ॥ २५ ॥

यद्यपि चिद्धन निद्रारूप अविद्या विभागहीन है तथापि वह सुषुप्तिरूप आवरणसे वास्तविक स्वरूपभूत भी मोक्ष नामसे प्रसिद्ध भागको चुरा लेती है, यानी उसके अस्तित्वका अपलाप कर देती है इतना ही नहीं करती प्रत्युत चित्त बनकर वह इस जाग्रद्भाग और स्वप्नको दिखलाती है ॥ २६ ॥

यह प्रलय है, यह सृष्टि है, यह स्वप्न है, यह जागरण है ये सब प्रज्ञानघनतारूप सुषुप्तिवाले आत्मसूर्यके इस तरहके विभिन्न प्रकाश हैं, स्फुरण हैं ॥ २७ ॥

चिन्निद्रायाः स्वप्नमयो भागश्चित्तमुदाहृतम् ।
तदेव मुच्यते भूतं जीवो देवासुरादिदृक् ॥ २८ ॥
एष एव परिज्ञातः सुषुप्तिर्भवति स्वयम् ।
यदा तदा मोक्ष इति प्रोच्यते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २९ ॥

श्रीराम उवाच

चित्तं देवासुराद्यात्म चिन्निद्रा स्वात्मदर्शनम् ।
कियत्प्रमाणं भगवन्कथमस्योदरे जगत् ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

विद्धि चित्तं नरं देवमसुरं स्थावरं स्त्रियम् ।
नागं नगं पिशाचादि खगकीटादि राक्षसम् ॥ ३१ ॥
प्रमाणं तस्य चाऽनन्तं विद्धि तद्यत्र रेणुताम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्याति सहस्रशः ॥ ३२ ॥

उनमें चिन्निद्राका उद्भूतवासनावाला जो स्वप्नभाग है वही उपाधिरूप अंशकी प्रधानतासे चित्त कहा गया है, चिदंशकी प्रधानतासे जीव हो वही देवता, असुर, मनुष्य आदि अधिकारियोंके शरीरोंका द्रष्टा होकर तत्त्वज्ञानसे चिन्निद्राको हटाकर मुक्त होता है ॥ २८ ॥

चौथी और पाँचवीं भूमिकाओंमें ज्ञात हुआ वही जब छठी भूमिकामें स्वयं सुषुप्ति होता है तब सातवीं भूमिकामें मुक्तिकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषों द्वारा 'मोक्ष' कहा जाता है ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, देवता, असुर, मनुष्य आदि स्वरूप चित्त देवता, असुर, मनुष्य आदिके भेदसे कितना बड़ा है और उसके अवयवोंकी बनावट कैसी है ? चिन्निद्रा कैसी है और उसके पेटमें जगत् कितना बड़ा और कितने समयतक रहता है एवं स्वात्मदर्शन कैसे होता है ? ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, चित्तको आप मनुष्य, देवता, असुर, स्थावर, स्त्री, हाथी, पर्वत, भूत, प्रेत, पिशाच आदि, पक्षी, कीट, पतंग आदि और राक्षस जानिये । उसका प्रमाण भी आप अनन्त जानिये जहाँपर परमाणुसे लेकर ब्रह्मादिस्थावरात्मक हजारों जगत् समाते हैं ॥ ३१,३२ ॥

यदेतदादित्यपथादूर्ध्वं संयाति वेदनम् ।
एतच्चित्तं भूतमेतदपर्यन्तामलाकृति ॥ ३३ ॥
एतदुग्रं चितो रूपमस्याऽन्तर्भुवनर्द्धयः ।
यदाऽऽयान्ति तदा सर्गश्चित्तादागत उच्यते ॥ ३४ ॥
चित्तमेव विदुर्जीवं तदाद्यन्तविवर्जितम् ।
खं घटेष्विव देहेषु चाऽऽस्ते नाऽस्ति तदिच्छया ॥ ३५ ॥
निम्नोन्नतान्भुवो भागान् गृह्णाति च जहाति च ।
सरित्प्रवाहोऽङ्ग यथा शरीराणि तथा मनः ॥ ३६ ॥
अस्य त्वात्मपरिज्ञानादेव देहादिसंभ्रमः ।
शाम्यत्याश्ववबोधेन मरुवाःप्रत्ययो यथा ॥ ३७ ॥

चित्तके विपुलत्वातिशयको भी अनुभवमें आरूढ़ कराते हैं—**'यदेतत्'** इत्यादिसे ।

ऊपरकी ओर दृष्टि फेंकनेपर जो यह सूर्यमार्गसे ऊपर ध्रुव, अन्धकारादि प्रदेशमें चाक्षुष ज्ञान जाता है इतने बड़े प्रमाणवाला चित्त है यों उसकी निःसीमता और निर्मल आकृति सबके अनुभवसे सिद्ध है ॥ ३३ ॥

यह चित्का उग्र (असहनीय संसारदुःखमय होनेके कारण उग्र) रूप है इसी समष्टि स्वरूप चिद्रूपके अन्दर भुवनसमृद्धियाँ जब ब्रह्माण्ड आदिकी कल्पना द्वारा आती हैं तब सृष्टि होती है उसे हम लोग चित्तसे आई हुई कहते हैं ॥ ३४ ॥

चित्तको ही ज्ञानी लोग 'जीव' जानते हैं, वह आद्यन्तविहीन (व्यापक) है । अतएव वह जैसे आकाश घड़ोंमें रहता है वैसे ही सकल देहोंमें रहता है । व्यष्टिरूपसे देहसे उत्क्रमण होनेके कारण ब्रह्माकी इच्छासे देहोंमें नहीं भी रहता है ॥३५॥

हे वत्स, जैसे नदीका धाराप्रवाह नीचे-ऊँचे भूमिभागोंको ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है वैसे ही मन विविध शरीरोंको ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है ॥ ३६ ॥

जैसे यह मरुभूमि है जल नहीं है इस ज्ञानसे मरुभूमिमें जलकी प्रतीति शान्त हो जाती है वैसे ही आत्माके परिज्ञानसे इसकी यह देहादिभ्रान्ति शीघ्र शान्त हो जाती है ॥ ३७ ॥

जगत्यन्तरणुर्यत्र तत्प्रमाणं हि चेतसः ।
तदेव च पुमांस्तस्मात्पुंसामन्तःस्थितं जगत् ॥ ३८ ॥
यावत्किंचिदिदं दृश्यं तच्चित्तं स्वप्नभूष्विव ।
तदेव च पुमांस्तस्मात्को भेदो जगदात्मनोः ॥ ३९ ॥
चिदेवाऽयं पदार्थौघो नाऽस्त्यन्यस्मिन्पदार्थता ।
व्यतिरिक्ता स्वप्न इव हेम्नीव कटकादिता ॥ ४० ॥
यथैकदेशे सर्वत्र स्फुरन्त्यापोऽम्बुधौ पृथक् ।
ब्रह्मण्यनन्या नित्यस्थाश्चितो दृश्यात्मिकास्तथा ॥ ४१॥

इस प्रकार सकल जगद्गर्भित मनकी परमाणुरूपता ही है, ऐसा कहते हैं—**'जगति'** इत्यादिसे ।

जगत्में जालान्तर्गत सूर्यकिरणोंमें सबसे छोटे अणुका जो प्रमाण प्रसिद्ध है वही चित्तका परिमाण है । वही जीव है, क्योंकि 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' ऐसी श्रुति है। इसलिए पुरुषोंके (जीवोंके) अन्दर जगत् स्थित है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार जीव और जगत्के भेदका भी परिमार्जन हो गया, ऐसा कहते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नभूमियोंमें जो कुछ भी दृश्य है वह सबका सब चित्त ही है वैसे ही जाग्रज्जगत्में भी जो कुछ भी दृश्य है वह सम्पूर्णतया चित्त ही है वही जीव है, इसलिए जगत् और जीवमें कौन भेद है ॥ ३९ ॥

जीव और जगत्का अभेद सिद्ध होनेपर जगत्की चिन्मात्रता भी अपने आप सिद्ध हो गई, ऐसा कहते हैं—**'चिदेव'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें सकल पदार्थसमूह चित् ही हैं और जैसे सुवर्णमें कुण्डल, कटक आदि रूपता सुवर्ण ही है वैसे ही यह सम्पूर्ण पदार्थराशि चित् ही है । यदि इसे चित्से भिन्न मानो तो इसमें सत्ता और स्फूर्तिका लाभ न होनेके कारण यह अलीक (मिथ्या) हो जायगी, इससे व्यतिरिक्त पदार्थता ही सिद्ध न होगी ॥४०॥

जैसे सागररूप एक प्रदेशमें एकत्र होकर स्थित हुई ही जलराशि फेन, बुद्बुद्, लहर, आवर्त आदि पृथक् रूपसे स्फुरित होती है वैसे ही ब्रह्ममें भी नित्यस्थित अभिन्न दृश्यरूप चितियाँ पृथक् रूपसे स्फुरित होती हैं ॥ ४१ ॥

यथा द्रवत्वमम्भोधावापो जठरकोशगाः ।
स्फुरन्त्येवं विदाऽनन्याः पदार्थौघास्तथा परे ॥ ४२ ॥
यथास्थितजगच्छालभञ्जिकाकाशरूपधृक् ।
चित्स्तम्भोऽयमपस्पन्दः स्थित आद्यन्तवर्जितः ॥ ४३ ॥
यथास्थितमिदं विश्वं संविद्व्योम्नि व्यवस्थितम् ।
स्वरूपमत्यजच्छान्तं स्वप्नभूमाविवाऽखिलम् ॥ ४४ ॥
समता सत्यता सत्ता चैकता निर्विकारिता ।
आधाराधेयताऽन्योन्यं चैतयोर्विश्वसंविदोः ॥ ४५ ॥
स्वप्नसंकल्पसंसारवरशापदृशामिह ।
सरोऽब्धिसरिदम्बूनामिवाऽन्यत्वं न वाऽथवा ॥ ४६ ॥

उनकी ब्रह्माभिन्नतामें जलद्रवताका दृष्टान्त देते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे।

जैसे सागरमें सागरकुक्षिस्थित जलराशि द्रवरूपसे स्फुरित होती है वैसे ही अभिन्न पदार्थराशियाँ परमब्रह्ममें स्फुरित होती हैं ॥ ४२ ॥

यथास्थित जगद्रूप प्रतिमाओंकी अत्यन्त शून्यताको धारण करनेवाला चित्‌रूपी यह स्तम्भ, जो आद्यन्तविहीन है, अटल होकर खड़ा है ॥ ४३ ॥

स्वप्नभूमिके तुल्य संविदाकाशमें यथास्थित यह साराका सारा विश्व अपने शान्त निर्मल स्वरूपका त्याग किये बिना स्थित है ॥ ४४ ॥

कैसे शान्त है कैसे अपने स्वरूपका त्याग नहीं करता है? इस आशङ्का-पर कहते हैं—**'समता'** इत्यादिसे ।

इन विश्व और संवित्‌की परस्पर समता, सत्यता, सत्ता, एकता, निर्विकारता—पांच प्रकारोंसे भेदकी प्रतीति न होनेके कारण वह शान्त है और आधाराधेयभावसे स्तम्भ और प्रतिमाके तुल्य थोड़ा-बहुत भेदका आभास होनेसे वह स्वरूपका त्याग नहीं करता यह अर्थ है ॥ ४५ ॥

विश्व और संवित्‌में प्रातिभासिक भेद है वास्तवमें तो भेदका अभाव है, ऐसा कहते हैं—**'स्वप्न०'** इत्यादिसे

स्वप्न और संकल्पके संसारकी तरह वर और शापसे नन्दी और नहुषके देवत्व और सर्पत्व प्रतिभान दृष्टियोंका तालाब, सागर और नदीके जलों-की तरह व्यवहारयोग्य भेद है, परमार्थतः भेद नहीं है ॥ ४६ ॥

श्रीराम उवाच

वरशापार्थसंवित्तौ कार्यकारणता कथम् ।
उपादानं विना कार्यं नाऽस्त्येव किल कथ्यताम् ॥ ४७ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्ववदातचिदाकाशकचनं जगदुच्यते ।
स्फुरणे पयसामब्धावावर्तचलनं यथा ॥ ४८ ॥
अनन्तोऽब्धिजलानीव भान्ति भावाश्चिदात्मकाः ।
संकल्पादीनि नामानि तेषामाहुर्मनीषिणः ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, वर और शापरूप अर्थसंवित्में कार्य-कारणता कैसे हो सकती है ? उपादानके बिना कार्य हो ही नहीं सकता इसे आप कृपाकर कहें। नन्दीके मनुष्य-शरीरमें देव-शरीरका उपादानभूत चन्द्रामृत नहीं है इसी तरह चन्द्रामृतरचित नहुषके देव-शरीरमें सांपके शरीरके उपादानभूत सर्प अंड़े आदि नहीं हैं। उपादानके बिना संसारमें कहींपर भी कार्य नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें वहां दोनों जगह नन्दी और नहुषमें देवता और सर्पके शरीरकी सिद्धि कैसे हुई ? यह श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका आशय है ॥ ४७ ॥

निरावरण ज्ञानवाले भगवान् श्रीशङ्कर और अगस्त्यादि ऋषियोंकी सत्य-संकल्पावच्छिन्न चित् ही वहांपर देव और सर्पके शरीररूपसे विवर्तित होती है, इसलिए विवर्तवादमें इस आक्षेपका अवकाश ही नहीं है, यों उत्तर देनेके लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बांधते हैं—'स्ववदात०' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागरमें जलराशिका स्फुरण होनेपर आवर्तगति होती है वैसे ही अत्यन्त अवदात यानी तत्त्वज्ञानसे खूब विमृष्ट होनेके कारण अत्यन्त निर्मल चिदाकाशका सत्यसंकल्पानुसारी जो स्फुरण है वही जगत् कहा जाता है, यह बात मैं अनेक बार कह आया हूँ ॥ ४८ ॥

विधाताकी आत्मचित्में समुद्रमें जलराशिकी तरह जगद्भावोंका, जो चिदात्मस्वरूप ही हैं, अकस्मात् भान होता है। उन भानोंका 'सोऽकामयत', 'तदैक्षत', 'समकल्पतां द्यावापृथिवी' इत्यादि श्रुतियाँ और मनीषी ऋषि लोग संकल्प आदि नाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

कालेनाऽभ्यासयोगेन विचारेण नयेन च ।
जातेर्या सात्त्विकत्वेन सात्त्विकेनाऽमलात्मना ॥ ५० ॥
सम्यग्ज्ञानवतो ज्ञस्य यथाभूतार्थदर्शिनः ।
बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥ ५१ ॥
निरावरणविज्ञानमयी चिद् ब्रह्मरूपिणी ।
संवित्प्रकाशमात्रैकदेहा देहविवर्जिता ॥ ५२ ॥
सोऽयं पश्यत्यशेषेण यावत्संकल्पमात्रकम् ।
स्वमात्मकचनं शान्तमनन्यत्परमार्थतः ॥ ५३ ॥
अस्या इदं हि संकल्पमात्रमेवाऽखिलं जगत् ।
यथा संकल्पनगरं यथा स्वप्नमहापुरम् ॥ ५४ ॥
आत्मा स्वसंकल्पवरः स्ववदातो यथा यथा ।
यद्यथा संकल्पयति तथा भवति तस्य तत् ॥ ५५ ॥

दीर्घकालसे, अभ्याससे, विचारसे, शत्रुमित्र आदिमें समदर्शनसे, देवताकी जातिकी सात्त्विकतासे और सात्त्विक निर्मल स्वरूपसे सम्यक् ज्ञानवान् अतएव वास्तविक अर्थको देखनेवाले ज्ञानी पुरुषकी बुद्धि द्वैत और ऐक्यसे वर्जित चिन्मात्ररूप होती है ॥ ५०,५१ ॥

निरावरण (आवरणरहित) विज्ञानमयी ब्रह्मरूपिणी चित्का एकमात्र संवित् प्रकाश ही शरीर है उसके अतिरिक्त उसका कोई शरीर नहीं है ॥ ५२ ॥

आवरणशून्य विज्ञानवाला पुरुष शान्त अपने आत्मस्फुरणरूप सम्पूर्ण संकल्पमात्रको साकल्येन देखता है उस सबको परमार्थसे अभिन्न देखता है, यह उसके संकल्पकी सत्यतामें उपपत्ति है ॥ ५३ ॥

जैसे हमारा संकल्पनगर संकल्पमात्र है जैसे स्वप्नका शहर संकल्पमात्र है वैसे ही इस प्रकारके यानी निरावरण ज्ञानवाले ब्रह्माका चारों ओर दिखाई दे रहा यह सारा जगत् संकल्पमात्र ही है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार दूसरा भी अपने संकल्पमें श्रेष्ठ निरावरण आत्मा ही यों जैसे जैसे जिसका संकल्प करता है उसके प्रति वह वैसा वैसा होता है ॥ ५५ ॥

संकल्पनगरे बालः शिलात्रोड्डयनं यथा ।
सत्यं वेत्त्यनुभूयाऽऽशु स्वविधेयनियन्त्रणम् ॥ ५६ ॥
स्वसंकल्पात्मभूतेऽस्मिन्परमात्मा जगत्त्रये ।
वरशापादिकं सत्यं वेत्त्यनन्यत्तथाऽऽत्मनः ॥ ५७ ॥
स्वसंकल्पपुरे तैलं यथा सिद्धयति सैकतात् ।
कल्पनात्सर्गसंकल्पैर्वरादीह तथाऽऽत्मनः ॥ ५८ ॥
अनिरावरणज्ञप्तेर्यतः शान्ता न भेदधीः ।
ततः संकल्पनाद् द्वैताद्वराद्यस्य न सिद्धयति ॥ ५९ ॥
या यथा कलना रूढा तावत्साऽद्याऽपि संस्थिता ।
न परावर्तिता यावद्यत्नात्कल्पनयाऽन्यया ॥ ६० ॥
ब्रह्मण्यवयवोन्मुक्ते द्वितैकत्वे तथा स्थिरे ।
यथा सावयवे तत्त्वे विचित्रावयवक्रमः ॥ ६१ ॥

जैसे बालक संकल्प-नगरमें शिलाओंके उड़ानेका, जिसमें स्वाधीन नियन्त्रण है, अनुभव कर शीघ्र ही उसे सत्य समझता है वैसे ही हिरण्यगर्भादि निरावरणात्मा भी अपने संकल्परूप इस त्रिजगत्‌में वर, शाप आदिको अपनेसे अभिन्न सत्य जानता है ॥ ५६,५७ ॥

जैसे संकल्पनगरमें अपनी कल्पनासे बालूसे तेल निकलता है वैसे ही यहाँपर ब्रह्माके संकल्परूप जगत्‌में सृष्टिके संकल्पोंसे कल्पनावस हिरण्यगर्भादि आत्मासे वर, शाप आदि अर्थकी विना उपादान कारणके सिद्धि होती है ॥५८॥

जिसके ज्ञानका आवरण नहीं हटा उसकी भेदबुद्धि शान्त नहीं होती, इसलिए द्वैतके संकल्पमे उस अज्ञानीके वर, शाप आदि अर्थ सिद्ध नहीं होते ॥ ५९ ॥

निरावरण ज्ञानवालोंकी कल्पना वैसी दूसरी कल्पनाका उदय होने तक नहीं मिटती, यह कहते हैं—'**या**' इत्यादिसे ।

निरावरण ज्ञानवाले ब्रह्माकी जिस कल्पनाकी पहले जड़ जमी वह आज भी ज्यों की त्यों स्थित है तबतक ज्यों की त्यों रहेगी जबतक अन्य कल्पना द्वारा प्रयत्नसे परिवर्तित नहीं होगी ॥ ६० ॥

निरवयव निरावरण ज्ञानवालेमें उससे विपरीत (सावयव और सावरणज्ञान)

श्रीराम उवाच

अनिरावरणज्ञानाः केवलं धर्मचारिणः ।
शापादीन्संप्रयच्छन्ति यथा ब्रह्मंस्तथा वद ॥ ६२ ॥

वसिष्ठ उवाच

संकल्पयति यन्नाम सर्गादौ ब्रह्म ब्रह्मणि ।
तत्तदेवाऽनुभवति यस्मात्तत्ताऽस्ति नेतरत् ॥ ६३ ॥
ब्रह्म वेत्ति यदात्मानं स ब्रह्माऽयं प्रजापतिः ।
स च नो ब्रह्मणो भिन्नं द्रवत्वमिव वारिणः ॥ ६४ ॥

वर, शाप आदि कल्पना कैसे रह सकती है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'ब्रह्मणि'** इत्यादिसे ।

अवयवशून्य ब्रह्ममें द्वित्व और एकत्व वैसे ही स्थित है जैसे कि साव-यव वस्तुमें विचित्र अवयवोंका क्रम स्थित रहता है ॥ ६१ ॥

तब तो निरावरणज्ञानशून्य केवल उग्र तपस्वियोंके वर, शाप आदि मोघ (निष्फल) होंगे ? इस आशयसे कहते हैं—**'अनिरावरण०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, निरावरण ज्ञानसे शून्य केवल उग्र तप आदि धर्म करनेवाले तपस्वी जैसे क्रोधवश शाप और अनुग्रहसे वर आदि देते हैं वैसा मुझसे कहिये ॥ ६२ ॥

उनके भी वर और शाप आदिकी सत्यता हो, सृष्टिके आदिमें ब्रह्माके संकल्पसे ही उनकी मोघता (निष्फलता) नहीं होती है यह उत्तर देनेके लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—**'संकल्प०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, चूँकि आदिम सृष्टिमें ब्रह्म ब्रह्ममें जिसका संकल्प करता है वह उसीका अनुभव करता है इसलिए सबकी ब्रह्मता है, उसका (ब्रह्मताका) प्रतिबन्धक अन्य नहीं है ॥ ६३ ॥

चूँकि यह प्रजापति ब्रह्मा अपनेको ब्रह्म जानता है, इसलिए यह ब्रह्म ही है, । जैसे जलसे द्रवत्व भिन्न नहीं है वैसे ही यह भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । श्रुति भी कहती है—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तद्भवत्' इत्यादि ॥६४॥

संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः ।
तत्तदेवाऽऽशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत् ॥ ६५ ॥
निराधारं निरालम्बं व्योमात्म व्योम्नि भासते ।
दुर्दृष्टेरिव केशोण्ड्रं दृष्टमुक्तावलीव च ॥ ६६ ॥
संकल्पिताः प्रजास्तेन धर्मो दानं तपो गुणाः ।
वेदाः शास्त्राणि भूतानि पञ्च ज्ञानोपदेशनाः ॥ ६७ ॥
तपस्विनोऽथ वादैश्च यद् ब्रूयुरविलम्बितम् ।
यद्यद्वेदविदस्तत्स्यादिति तेनाऽथ कल्पितम् ॥ ६८ ॥
इदं चिद् ब्रह्म च्छिद्रं खं वायुश्चेष्टाऽग्निरुष्णता ।
द्रवोऽम्भः कठिनं भूमिरिति तेनाऽथ कल्पिताः ॥ ६९ ॥
चिद्धातुरीदृशो वाऽसौ यद्यत्खात्माऽपि चेतति ।
तत्तथाऽनुभवत्याशु त्वमहं स इवाऽखिलम् ॥ ७० ॥

यह प्रथम प्रजापति जो जो संकल्प करता है शीघ्र वह वैसा ही हो जाता है। उसीकी कल्पना यह जगत् है ॥ ६५ ॥

वह कल्पना कैसी है ? यह बताते हैं,—**'निराधारम्'** इत्यादिसे।

आधार रहित, निरालम्ब चिदाकाश ही अपने स्वरूपमें जगत्‌रूपसे भासमान होता है जैसे कि किसी दूषित दृष्टिवाले पुरुषको आकाशमें वर्तुलाकार केशोंका गुण्ठ या मुक्ताओंकी पङ्क्ति दीखती है ॥ ६६ ॥

उस प्रजापतिने (ब्रह्माने) विविध प्रजा, धर्म, दान, तपस्या, गुण और ज्ञानका उपदेश करनेवाले वेद, शास्त्र तथा पञ्चभूतोंका संकल्प (सृष्टि) किया है ॥६७॥

उस प्रजापतिने यह भी कल्पना की कि वेदवेत्ता तपस्वी लोग वादोंसे अथवा स्वाभाविक वृत्तिसे जो कहें वह शीघ्र ही हो जाय ॥ ६८ ॥

इस प्रकार समग्र वस्तुओंके भिन्न-भिन्न स्वभावोंकी भी उसीने रचना की है, यह कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

इस ब्रह्मकी चेतनता, आकाशकी सच्छिद्रता, वायुकी सचेष्टता, अग्निकी उष्णता, जलका द्रवत्व, भूमिका काठिन्य आदि सब उसीने रचा है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार यह सब कल्पना प्रजापतिरूप चिदाकाशकी ही रचना है, यह कहते हैं—**'चिद्धातु०'** इत्यादिसे।

यद्यथा वेत्ति चिद्व्योम तत्तथाऽऽशु भवत्यलम् ।
स्वप्ने त्वमहमादीव महात्माऽप्यसदात्मकम् ॥ ७१ ॥
शिलानृत्तं यथा सत्यं संकल्पनगरे तथा ।
जगत्संकल्पनगरं सत्यं ब्रह्मण ईप्सितम् ॥ ७२ ॥
चित्स्वभावेन शुद्धेन यद् बुद्धं यच्च यादृशम् ।
तदशुद्धोऽन्यथा कर्तुं न शक्तः कीटको यथा ॥ ७३ ॥
अभ्यस्तं बहुलं संवित्पश्यतीतरदल्पकम् ।
स्वप्ने जाग्रत्स्वरूपे च वर्तमानेऽखिलं च सत् ॥ ७४ ॥

इस चिदात्माका ऐसा स्वभाव है कि आकाशात्मा भी यह जो जो विचार करता है सत्यसंकल्प होनेसे उस सबका शीघ्र ही तुम्हारे, मेरे और उसके सदृश अनुभव करता है ॥ ७० ॥

वह चिदाकाश जिस वस्तुको जैसा समझता है वह वस्तु पूर्णरूपसे वैसी ही हो जाती है, जैसे स्वप्नमें तुम, हम आदि स्वप्नपदार्थ हो जाते हैं, सद् आत्मा भी वह असद्रूप (जगत्स्वरूप) हो जाता है ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार संकल्पनगरमें शिलानृत्य भी सत्य होता है उसी प्रकार ब्रह्माके अधिकाररूप प्रारब्धके भोगके लिए अभीष्ट संकल्पनगररूप यह जगत् भी सत्य है ॥ ७२ ॥

श्रेष्ठ पुरुषके संकल्पसे जन्य वरशापादिको लोग उसके विपरीत संकल्पसे क्यों नहीं उलट सकते ? इसपर कहते हैं—**'चित्स्वभावेन०'** इत्यादिसे ।

शुद्ध चित्स्वभाववाले प्रजापति आदिने जो जाना है और जो जैसा है उसे कीड़ेकी तरह अशुद्ध कोई पुरुष अन्यथा करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥ ७३ ॥

अशुद्ध स्वभाववालोंको अस्वतन्त्र कल्पनाओंके अभ्यासकी दृढ़ता रहती है । इससे भी तद्विरुद्ध कल्पनाकी स्वतन्त्रता उनमें नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'अभ्यस्तम्०'** इत्यादिसे ।

जिसे जाग्रत्कालमें 'मैं लोहेकी सिकड़ियोंसे जकड़ा हुआ हूँ' ऐसा दृढ़तर संस्कार है वह जैसे स्वप्नमें भी अपनेको लोहेकी सिकड़ियोंमें जकड़ा हुआ देखता है वैसे ही वर्तमान जाग्रत्में भी यह सब सत् है यों बारबार अभ्यस्तको ही संवित् देखती है अनभ्यस्त 'यह असत् है' यह नहीं देखती ॥ ७४ ॥

सदा चिद्व्योम चिद्व्योम्नि स्फुरदेकमिदं निजम् ।
द्रष्टृदृश्यात्मकं रूपं पश्यदाभाति नेतरत् ॥ ७५ ॥
एकं द्रष्टा च दृश्यं च चिन्नभः सर्वगं यतः ।
तस्माद्यथेष्टं यद्यत्र दृष्टं तत्तत्र सत्सदा ॥ ७६ ॥
वाय्वङ्गस्पन्दनवज्जलाङ्गद्रवभाववत् ।
यथा ब्रह्मणि ब्रह्मत्वं तथाऽजस्याऽङ्गजं जगत् ॥ ७७ ॥
ब्रह्मैवाऽहं विराडात्मा विराडात्मवपुर्जगत् ।
भेदो न ब्रह्मजगतोः शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥ ७८ ॥
यथा प्रपाते पयसो विचित्राः कणपङ्क्तयः ।
विचित्रदेशकालान्ता निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ ७९ ॥

इसी प्रकार कल्पित त्रिपुटीविपसे स्फुरण होनेपर भी चित्का उदासीन साक्षिस्वभावसे भी सर्वदा स्फुरण होता ही है, यह कहते हैं— **'सदा०'** इत्यादिसे।

चिदाकाश चिदाकाशमें स्फुरित हो रहे एक इस अपने द्रष्टृदृश्यात्मक स्वरूपको देखता हुआ सर्वदा प्रकाशित होता है। वह उससे भिन्न नहीं है ॥७५॥

साक्षिचैतन्य त्रिपुटीकी (द्रष्टृ, दृश्य और दर्शनकी) व्याप्तिके बलसे ही उसकी सत्ताका सम्पादक है, यह कहते हैं—**'एकम्०'** इत्यादिसे ।

एकचित्सत्ताके उपजीवी होनेसे द्रष्टा और दृश्य एक ही हैं, क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है। इसलिए जो जो अभिलषित पदार्थ जहाँ दीखे वह वहाँ सर्वदा सत् ही है ॥ ७६ ॥

वायु-शरीरवर्ती स्पन्दनकी तरह तथा जलाङ्गवर्ती द्रवत्वकी तरह जैसे ब्रह्ममें ब्रह्मत्व अर्थात् जगदाकारसे परिणत होनेमें हेतुभूत मायाशक्तिमत्त्व है वैसे ही जन्मरहित इस विराट्के अङ्गसे उत्पन्न यह जगत् है ॥ ७७ ॥

पहिले तो बारबार ब्रह्ममें जगत् अध्यस्त है ऐसा कह चुके हैं अब यह जन्मरहित विराट्का अङ्गवर्ती है यह कैसे कहते हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं— **'ब्रह्मैवाऽहम्'** इत्यादिसे ।

विराट्रूप ब्रह्म ही मैं हूँ, विराट्रूप आत्माका देह ही जगत् है। ब्रह्म और जगत्में शून्यत्व और आकाशकी तरह कोई भेद नहीं है ॥ ७८ ॥

जैसे पर्वतसे गिरनेवाले झरनेमें जलकी विचित्र कणपङ्क्तियाँ गिरती हैं

निपत्यैवैकया कल्पं मनोबुद्ध्यादिवर्जिताः ।
आत्मन्येवाऽऽत्मनो भान्ति तथा या ब्रह्मसंविदः ॥ ८० ॥
ताभिः स्वयं स्वदेहेषु बुध्याादिपरिकल्पनाः ।
कृत्वोररीकृता सर्गश्रीरद्भिर्द्रवता यथा ॥ ८१ ॥
तदेवं जगदित्यस्ति दुर्बोधेन मम त्विदम् ।
अकारणकमद्वैतमजातं कर्म केवलम् ॥ ८२ ॥
अस्तास्थितिः शरीरेऽस्मिन्यादृग्रूपाऽनुभूयते ।
उपलादौ जडा सत्ता तादृशी परमात्मनः ॥ ८३ ॥

और ऊपर उछलती हैं वैसे ही विचित्र देश और काल भी इस ब्रह्ममें ही आविर्भूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैं ॥ ७९ ॥

जैसे कल्पपर्यन्त एक ही धारामें गिरकर जलकण, जो मन, बुद्धि आदिसे रहित हैं, सहस्रों करोड़ भेदोंमें विभक्त होकर भी फिर अपने एक प्रवाहरूपमें ही भासते हैं वैसे ही विचित्र ब्रह्मसंविद् (जगद्भेद) भी आत्मासे निकलकर करोड़ों भेदोंमें विभक्त होकर फिर स्वात्मामें ही भासती हैं ॥ ८० ॥

केवल इतनी ही विशेषता है कि कणपङ्क्तियाँ मनोबुद्ध्यादिसे वर्जित हैं किन्तु उन ब्रह्मसंविदोंने तो स्वस्वदेहोंमें मनोबुद्ध्यादिकी स्वयं कल्पना करके, जलोंकी द्रवताकी भाँति सर्गकी शोभाको भोग्यरूपसे स्वीकार किया है ॥ ८१ ॥

मनोबुद्ध्यादि कल्पनाका त्याग होनेपर तो जगत् अज्ञानमात्र पर्यवसित होता है, इस आशयसे कहते हैं—**'तदेवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार मनोबुद्ध्यादिविक्षिप्त अज्ञानस्वरूप दुर्बोधसे यह जगत् है । अज्ञानसे रहित मेरी दृष्टिमें तो यह सारा जगद्रूपी कर्म कारण रहित, द्वैतविहीन अनुत्पन्न (त्रिकालमें अनुत्पन्न) केवल ब्रह्म ही है ॥ ८२ ॥

इस शरीरमें मृतावस्था जिस तरह मनोबुद्ध्यादि रहित ही अनुभूत होती है, उपल आदिमें जड़ सत्ता जैसी है वैसी ही परमात्माकी भी मनोबुद्ध्यादि रहित निर्विक्षेप सत्ता समझनी चाहिए ॥ ८३ ॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलय ये दोनों अज्ञाननिद्राके अवान्तर भेद हैं, यह कहते हैं—**'यथा०'** इत्यादिसे ।

यथैकस्यां सुनिद्रायां सुषुप्तस्वप्नकौ स्थितौ ।
तथैते सर्गसंहारभासौ ब्रह्मणि संस्थिते ॥ ८४ ॥
सुषुप्तस्वप्नयोर्भातः प्रकाशतमसी यथा ।
एकस्यामेव निद्रायां सर्गासर्गौ तथा परे ॥ ८५ ॥
यथा नरोऽनुभवति निद्रायां दृषदः स्थितिम् ।
परमात्माऽनुभवति तथैवाजडसंस्थितिम् ॥ ८६ ॥
अङ्गुष्ठस्याऽथवाऽङ्गुल्या वाताद्यस्पर्शने सति ।
योऽन्यचित्तस्याऽनुभवो दृषदादौ स आत्मनः ॥ ८७ ॥
व्योमोपलजलादीनां यथा देहानुभूतयः ।
तथाऽस्माकमचित्तानामत्र नानाऽनुभूतयः ॥ ८८ ॥

जैसे सुन्दर गाढ़निद्रामें सुषुप्ति और स्वप्न स्थित हैं वैसे ही सृष्टि और प्रलयके आभास भी ब्रह्ममें स्थित हैं ॥ ८४ ॥

सृष्टिमें तो सूर्यादि-प्रकाश वर्तमान है किन्तु प्रलय तो तमोरूप है अतः परस्पर विरुद्ध ये दोनों एक ब्रह्ममें कैसे स्थित हैं ? इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'**सुषुप्त०**' इत्यादिसे ।

जैसे एक ही निद्रामें स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें प्रकाश और अन्धकारका भान होता है वैसे ही परब्रह्ममें सर्ग और प्रलयका भान भी होता है ॥ ८५ ॥

चित्‌में ही जड़ और अजड़ भेदकी कल्पनामें भी स्वप्न ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'**यथा०**' इत्यादिसे ।

जैसे मनुष्य निद्रावस्थामें निज पाषाणकी स्थितिका अनुभव करता है वैसे ही परमात्मा भी इस जड़ पदार्थोंकी स्थितिका अनुभव करता है ॥ ८६ ॥

चेतनमें जाड्यानुभवकी अप्रसिद्धिका वारण करते हैं—'**अङ्गुष्ठस्या०**' इत्यादिसे ।

जैसे विषयान्तरमें आसक्तचित्तवाले पुरुषके अङ्गुष्ठ या अन्य अंगुलीसे पवन, आतप या धूलिका स्पर्श होनेपर उत्पन्न हुआ भी अनुभव अनुत्पन्न प्राय ही होता है यह प्रसिद्ध है । वैसा ही पाषाण आदिमें विद्यमान भी अविद्यमानप्राय अनुभव जड़तारूप है ॥ ८७ ॥

ऐसे ही जड़को भी चेतनभावका अनुभव प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'**व्योम०**' इत्यादिसे ।

कालेे कल्पेषु भान्त्येता यथाऽहोरात्रसंविदः ।
तथाऽसंख्याः परे भान्ति सर्गसंहारसंविदः ॥ ८९ ॥
आलोकरूपमननानुभवैषणेच्छा-
मुक्तात्मनि स्फुरति वारिघने स्वभावात् ।
आवर्तवीचिवलयादि यथा तथाऽयं
शान्ते परे स्फुरति संहृतिसर्गपूगः ॥ ९० ॥

इत्यार्षे श्रीवासि० वाल्मी० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनयोगोपदेशो नाम षडशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८६ ॥

आकाश, उपल, जलादिको जैसे विराट् देहभावमें अथवा तत्तद्धिष्ठातृदेवता-देहभावमें अनुभव होता है वैसे ही प्रलयकालमें चित्तादिसे रहित हम लोगोंको आज यानी सृष्टिकालमें नाना प्रकारकी अनुभूतियाँ होती हैं ॥८८॥

अखण्डकालमें ब्रह्माके दिनभेदरूप जो कल्प हैं, उनमें जैसे हमारे असंख्य दिन रात्रिकी प्रतीति होती है वैसे ही परब्रह्ममें भी असंख्य सृष्टि और प्रलय संविदोंका भान होता है ॥ ८९ ॥

जिस प्रकार एकमात्र जलस्वभाववाले समुद्रमें स्वभावसे ही आवर्त और तरङ्गवलय आदिका स्फुरण होता है उसी प्रकार विषयोंका दर्शन, उनका मनन, उनका भोगरूप अनुभव और उनकी एषणा (राग), उनकी प्राप्तिकी इच्छा आदि विक्षेपोंसे निर्मुक्तस्वरूप शान्त परमपदमें यह प्रलय और सृष्टिका पुञ्ज भी स्वभावसे ही भासमान होता है प्रमाणसे तत्त्वदर्शन हो जानेपर वह स्फुरित नहीं होता ॥९०॥

एक सौ छियासी सर्ग समाप्त

सप्ताशीत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

विचित्राणामसंख्यानां भावानां नियतिः कुतः ।
कथं स्वभावो भावानामेकरूपः स्थितोऽचलः ॥ १ ॥
सत्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम् ।
दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

काकतालीयवद्भानं यत् परे नियतं स्वतः ।
यथास्थितं यथारूपं स्थितं तज्जगदुच्यते ॥ ३ ॥

एक सौ सतासी सर्ग

[सम्पूर्ण पदार्थोंका स्वभाव, नियति (कार्यकारणभाव आदिका नियम) तथा जीवत्वकी प्राप्तिके हेतुओंकी उत्पत्ति और ब्रह्मशुद्धताका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, विचित्र असंख्य पदार्थोंका कार्यकारण-भावादि नियमरूप नियति तथा अग्निजलादिका उष्णता, द्रवत्व आदिरूप स्वभाव इस संसारमें किस हेतुसे एकरूप और अचल होकर स्थित हैं। क्योंकि स्वप्न, मनोरथ आदि अन्य मिथ्या पदार्थोंमें तो यह स्थिर नहीं दिखाई देता ॥ १ ॥

असंख्य देवताओंमें सूर्यकी ही इतनी उग्र प्रभा कैसे हुई और दिवसोंकी दीर्घता (लम्बा होना) और ह्रस्वता (छोटा होना) किसने की ॥ २ ॥

आदि सृष्टिमें जो जो काकतालीयन्यायसे विधाताको जैसा जैसा प्रतीत हुआ वह वैसा ही अर्थक्रियादि द्वारा नियतरूपसे स्थित है, विधाताकी इच्छा ही उसके अव्यभिचारमें हेतु है यही बात वस्तुओंके स्वभावके विषयमें भी जाननी चाहिए, इस आशयसे प्रथम दो प्रश्नोंका श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं— **'काकतालीय०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, आदि सृष्टिमें उस निश्चल परम ब्रह्ममें स्वभावसे ही काकतालीयवत् नियत जो भान हुआ वह जैसा था और जिस प्रकारके कार्यकारणभावसे स्थित था वैसा ही आज भी स्थित वह जगत् शब्दसे कहलाता है ॥ ३ ॥

सर्वशक्तेर्यथा यद्यद्भाति तत्तत्तथैव सत् ।
संवित्सारतया यायात्कथं भानमभानताम् ॥ ४ ॥
यथा स्थितं यथा भाति चित्त्वाद् ब्रह्म चिराय यत् ।
तस्य भानमभानाभं नियत्यभिधमेव तत् ॥ ५ ॥
इदमित्थमिदं चेत्थं स्वयं ब्रह्मेति भाति यत् ।
तन्नियत्यभिधं प्रोक्तं सर्गसंहाररूपधृक् ॥ ६ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं यत्स्वतः कचनं चिति ।
तत्ततोऽनन्यदेकाच्छं द्रवत्वमिव वारिणि ॥ ७ ॥

नियत ईश्वर शक्तिका अन्यथाभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए नियतिमें कोई व्यभिचार नहीं हुआ, इस आशयसे कहते हैं—**'सर्वशक्ते०'** इत्यादिसे ।

सर्वशक्तिमान परमात्माको जिस जिसका जैसे भान होता है वह वह वैसे ही सत् है । सत्यसंकल्पसंवित् संवित्सार है उसे जिसका भान होता है वह अभान कैसे होगा । उक्त संवित्सार सत्यसंकल्पसंवित् हम लोगोंके स्वप्न और मनोरथकी संवित्के समान असार नहीं है जिससे उसका भान अभानताको प्राप्त हो ॥४॥

ज्योंके त्यों अपने स्वरूपमें स्थित ब्रह्मका, चित् होनेके कारण, चिरकाल तक जैसा स्फुरण होता है मायाके उदरमें स्थित उसीका सृष्टिकालमें भान होता है तथा प्रलयकालमें सूक्ष्म होनेके कारण वही अभानसदृश हो जाता है । वही अनादि सकल वस्तुओंकी अर्थक्रियाशक्ति है और वही नियति है ॥ ५ ॥

अथवा नियत सकल अर्थक्रियामें समर्थ ब्रह्म ही जगदाकारता धारण करता है, इसलिए भी नियतिप्रतिष्ठाकी सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

यह इस प्रकारका है और यह इस प्रकारका है यों स्वयं ब्रह्मका ही जो स्फुरण है सृष्टि और प्रलयका रूप धारण करनेवाला वही नियतिनामवाला कहा गया है ॥ ६ ॥

अथवा चूंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंका अज्ञात आत्मा ही स्वभाव है, इसलिए यथादृष्ट नियतिका व्यभिचार नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—**'जाग्रत्'०** इत्यादिसे ।

चित्में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंका जो स्वतः स्फुरण

यथा शून्यत्वमाकाशे कर्पूरे सौरभं यथा ।
यथौष्ण्यमातपे नाऽन्यज्जाग्रदादि तथा चिति ॥ ८ ॥
सर्गप्रलयनाम्न्येकप्रवाहानन्यसत्तया ।
चिन्मात्रगगनात्मैकब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९ ॥
सर्गोऽयमिति तद् बुद्धं क्षणं यत्कचनं चितः ।
कल्पोऽयमिति तद्बुद्धं क्षणं तत्कचनं चितः ॥ १० ॥
तत्कालस्तत्क्रिया तत्खं देशद्रव्योदयादि तत् ।
यत्स्वप्न इव चिन्मात्रकचनं स्वस्वभावतः ॥ ११ ॥

है अत्यन्त निर्मल वह उससे वैसे ही अभिन्न है जैसे कि जलसे द्रवत्व अभिन्न है ॥ ७ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओंकी चित्स्वभावताका विविध दृष्टान्तोंसे समर्थन करते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें शून्यता भिन्न नहीं है, जैसे कपूरमें सुगन्धि अतिरिक्त नहीं है तथा जैसे घाममें उष्णता भिन्न नहीं है वैसे ही चित्में जाग्रत् आदि अवस्थाएँ अन्य (भिन्न) नहीं हैं ॥ ८ ॥

बीजाङ्कुरन्यायसे सृष्टि और प्रलय प्रवाहके अनादि होनेसे चिन्मात्राकाशरूप सृष्टि-प्रलयनामक एक ब्रह्मस्वरूपमें ही यह एक प्रवाहकी अनन्य सत्तासे स्थित है इससे भी नियत अर्थक्रियाकी सिद्धि है, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

अतएव चित्के स्फुरणके अनुसारसे ही सब नियमव्यवस्था है । क्षणमें भी 'यह कल्प है' यों चित्का स्फुरण होनेपर उसके अकल्पत्वका साधक दूसरा कुछ नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'**सर्गोऽयम्**' इत्यादिसे ।

क्षणभर जो चित्का स्फुरण है वह यह सर्ग है यों जाना गया है और क्षणभर जो चित्का स्फुरण है वह यह कल्प है यों जाना गया है ॥ १० ॥

अतएव काल, क्रिया, देश, द्रव्य आदि वस्तुभेद रूपसे चित्कचन ही सकल वस्तुओंका स्वभाव और नियति है, यह कहते हैं—'**तत्**' इत्यादिसे ।

जो स्वप्नके समान अपने स्वभावसे चित्का स्फुरण है वह काल है, वह क्रिया है, वह आकाश है, वह देश, द्रव्य आदिका आविर्भाव है ॥ ११ ॥

रूपालोकमनस्कारदेशकालक्रियादि तत् ।
चित्त्वं कचति चिद्व्योम्नि यन्नामाऽनाकृति स्वतः ॥ १२ ॥
यद्यथा कचितं कालं यत्किंचित्कल्पितं तथा ।
तेनैवेयं हि नियतिरित्यप्याकाशरूपकम् ॥ १३ ॥
आकल्पाख्यं निमेषं यत्कचनं चैकरूपकम् ।
स्वाभाविकाः स्वभावं तं प्राहुः प्रसृतबुद्धयः ॥ १४ ॥
एकस्य संविन्मात्रस्य पदार्थशतता तथा ।
यथेदं संविदंशस्य रूपं स्वं स्वमनुज्झतः ॥ १५ ॥
संविन्मये संविदो याः कचन्तीव परे तथा ।
ताभिस्तेषां स्वदेहानां यासां सा कलना कृता ॥ १६ ॥

चिदाकाशमें निराकार चित्ताका जो स्वाभाविक स्फुरण है, वह बाह्य पदार्थ-दर्शन, आन्तरिक पदार्थ मनन, देश, काल, क्रिया आदि है ॥ १२ ॥

जो पदार्थ जिस कालमें जैसा चित्से स्फुरित है जिसकी उसीने वैसी कल्पना कर रक्खी है वह नियति भी आकाशरूप ही है, उससे अन्य नहीं है ॥१३॥

अब 'कथं स्वभावो भावानाम्' इस प्रश्नका समाधान करते हैं—**'आकल्पाख्यम्'** इत्यादिसे ।

कल्पनामके ब्रह्मके निमेषतक पदार्थोंका जो एक रूपसे (अग्नि उष्ण, जल शीत आदि रूपसे) स्फुरण है उसीको स्वभावतत्त्ववेत्ता मतिमान् पुरुष स्वभाव (प्रत्येक वस्तुमें नियमसे रहनेवाला स्वभाव) कहते हैं ॥ १४ ॥

जैसे संवित् अंशभूत जीवका सर्वानुगत चित्स्वरूप ही स्वभाव है वैसे ही अपने स्वरूपका त्याग न कर रहे वह्नि आदि एक ही वस्तुका, देश, काल आदि भेदसे अनेकताको प्राप्त होनेपर भी, जो एक सर्वानुगत उष्णत्व, प्रकाशरूप स्वभाव है वही उसके विविध भेदोंमें अनुगत स्वभाव है ॥ १५ ॥

भद्र, संविन्मय विभिन्न वृत्तियोंमें भी जो चिदाभाससंविदोंका स्फुरण होता है वही उनका स्वभाव है । वृत्तियोंके विषय पृथिवी, जल, तेज, वायु आदिमें उन वृत्त्याभास संविदोंने अपने शरीर-तुल्य उन वृत्तिभेदोंके मध्यमें जिन जिन वृत्तियोंकी जैसे जैसे आकारकी कल्पना की, वह आकार ही उनका स्वभाव है ॥ १६ ॥

चिदुर्वी सलिलं तेजः स्पन्दः शून्यत्वमेव च ।
प्रत्येकमाकरस्त्वेषां तानि स्वप्न इवाऽम्बरम् ॥ १७ ॥
तत्र सप्रतिघस्याऽस्य कठिनस्याऽऽकरो महान् ।
भूपीठं जनताधारो राजन्राजेव राजते ॥ १८ ॥
अपामब्धिः प्रधानानां तेजसामेष भास्करः ।
स्पन्दस्य पवनो व्योम शून्यताया जगद्गतम् ॥ १९ ॥
पञ्चानामिति भूतानामाकरत्वेन संविदः ।
पञ्च तान्युदिता ब्राह्म्यः प्रश्नः किं भास्करं प्रति ॥ २० ॥

विविध आकारोंको दर्शाकर उनका पारमार्थिक स्वभाव अधिष्ठानभूत चिदाकाश ही है, यह दर्शाते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

उक्त पृथिवी आदि प्रत्येक अपने अपने कार्योंके आकर (खान) हैं। यथा—पार्थिव सब वस्तुओंका पृथिवी अनुगत स्वभाव है, जलीय सकल वस्तुओंका जल अनुगत स्वभाव है, तैजस सकल वस्तुओंका तेज अनुगत स्वभाव है, स्पन्द आदि वायवीय सकल वस्तुओंका वायु अनुगत स्वभाव है और शून्यत्वादि आकाशीय सकल पदार्थोंका आकाश अनुगत स्वभाव है। उन सबका स्वप्नकी तरह मायाशबल ब्रह्म ही आकर (खान) है ॥ १७ ॥

हे राजन्, उनमें इस कठिन समूर्त भागका महान् आकर (खान) भूमि है वह जनताका आधार और राजाकी तरह जीवनदाता (पालक) है ॥ १८ ॥

गङ्गा आदि प्रधानभूत जलोंका सकल स्व स्व विशेषोंमें अनुगत सागर महान् आकर तथा राजाकी तरह जीवनप्रद है, अग्नि आदि तेजोंका स्व स्व विशेषोंमें अनुगत यह सूर्य महान् आकर तथा राजाकी तरह जीवनप्रद है, स्पन्दका स्व स्व विशेषोंमें अनुगत पवन महान् आकर तथा जीवनप्रद है तथा शून्यताका स्व स्व विशेषोंमें अनुगत आकाश महान् आकर है ॥ १९ ॥

इस प्रकार संवित्के आकर होनेके कारण वे पञ्चमहाभूत ब्राह्मी संवित् रूपसे ही उदित हैं इस प्रकार ब्रह्म ही उनके अनुगत होकर उनका स्वभाव है। इससे 'सत्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्नका भी समाधान हो गया। स्वभाव-प्रश्नके उत्तरसे ही उसका भी समाधान हो गया; अतः सूर्यके प्रति पृथक् प्रश्न नहीं उठता है, यह अर्थ है ॥ २० ॥

बुधा संविच्चिदित्युक्ता सर्वगा सर्वरूपिणी ।
सर्वत्र स्वमहिम्नैषा सर्वेणैवाऽनुभूयते ॥ २१ ॥
ब्रह्मात्मा ब्रह्मबालोऽयं स्वसंवित्स्फुरणामिमाम् ।
व्योमात्मक्षौमसन्नाह्नीं स्फारयत्यम्बराकृतिः ॥ २२ ॥
सा यदैतत्तथैतच्च चिद्ग्रसत्यजसंविदा ।
तदा तदङ्गस्याऽर्कादिर्नाऽतो नोत्पादि चञ्चलम् ॥ २३ ॥
संकल्पपूर्वमशकजालवद्धिष्ण्यचक्रकम् ।
आवर्तवर्तिना भाति चिद्व्योमेदं च दृश्यवत् ॥ २४ ॥

चित् ही संवित् कही गई है। सब कुछकी प्रकाशक होनेके कारण सर्वज्ञ सर्वरूप सर्वगामिनी वह स्वप्रकाशतारूप स्वमहिमासे ही सर्वत्र स्वभावरूप परमाकार और नियति रूपसे सबके द्वारा अनुभूत होती है ॥ २१ ॥

यह चतुर्मुखनामधारी ब्रह्म-बालक स्वात्मभूत संवित्के स्फुरण आकाशरूप आवरणवाली इस पृथिवीका स्वयं—ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण आकाशाकृति ही होकर—अपनेमें विस्तार करता है ॥ २२ ॥

जब वह मायाशबल सर्वज्ञसंवित् ब्रह्माकी संवित्के साथ स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चका अपनेमें संहार करती है तब चतुर्मुखसंवित्के अङ्गभूत सूर्य आदिका चञ्चलरूप उसने उत्पन्न नहीं किया। चूंकि ऐसा है अतः उपसंहारसे अत्ता (भक्षक) पुरुष ही होता है ॥ २३ ॥

'दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम्' इस प्रश्नका उत्तर तो ज्योतिश्चक्रमें सूर्यके दक्षिणायण और उत्तरायण गतिके भेदकी प्रसिद्धिसे ही हो गया, यों सूचित करते हुए ज्योतिश्चक्रको दर्शाते हैं—**'संकल्प०'** इत्यादिसे।

मकड़ी द्वारा संकल्पपूर्वक बाह्य साधनोंके विना ही विरचित मक्खियोंको बांधनेके जालकी तरह ब्रह्मासे केवल विविध संकल्पों द्वारा निर्मित ग्रह, नक्षत्र आदिका गृहभूत शिशुमारचक्र ज्योतिषशास्त्र आदिमें प्रसिद्ध ही है। सूर्य द्वारा उसीके दक्षिणायण और उत्तरायण मार्गोंका अवलम्बन करनेके कारण आपसे पूछा गया दिवसोंका ह्रस्वत्व और दीर्घत्व जैसे यह चिदाकाश दृश्यके समान प्रतीत होता है वैसे ही प्रतीत होता है ॥ २४ ॥

तत्र प्रभास्वराः केचित् केचिदप्यल्पभास्वराः ।
केचिच्चाऽभास्वरा भाताः पदार्थाश्चित्ररूपिणः ॥ २५ ॥
पदार्थजातं त्वेतावन्न जातं न च दृश्यते ।
ज्ञस्याऽजातमिदं भाति खमात्मा स्वप्नदृश्यवत् ॥ २६ ॥
चिन्मात्रमात्मा सर्वेशः सर्व एवाऽतिदृश्यवत् ।
नश्यतीव विदेहे स्वे न च भाति न नश्यति ॥ २७ ॥
स्वप्नदर्शनवद्भाति यच्चिद्व्योम चिदम्बरे ।
चिद्व्योमत्वादृते रूपं तदस्य जगतः कुतः ॥ २८ ॥
यद्यथा स्फुरितं तस्य यावत्सत्त्वं स्फुरद्वपुः ।
तत्स्वभावनियत्याख्यैः शब्दैरिह निगद्यते ॥ २९ ॥

'सत्स्वनेकेषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्नमें जो अनेक देवता कहे गये हैं, उनको ज्योतिश्चक्रमें नक्षत्ररूपसे स्थित दिखलाते हैं—**'तत्र'** इत्यादिसे।

उनमें कोई (सूर्य आदि) अत्यन्त भास्वर हैं, कोई (चन्द्र आदि) अल्प भास्वर हैं और कोई (पूर्वोक्त राहु आदि तामस नक्षत्र) अभास्वर हैं। सब पदार्थ विविध रूपसे भासित होते हैं ॥ २५ ॥

वास्तवमें तो ये सकल पदार्थ न उत्पन्न ही हुए हैं और न दिखाई ही देते हैं। ज्ञानी पुरुषको यह सब स्वप्नके दृश्यके समान चिदाकाश ही प्रतीत होता है ॥ २६ ॥

चिन्मात्रस्वरूप सर्वेश्वर आप, मैं और सब रूपसे अत्यन्त दृश्यके समान प्रसिद्ध होकर स्फुरित होता है। वास्तवमें न स्फुरित ही होता है और न नष्ट ही होता है ॥ २७ ॥

चूंकि चिदाकाशका चिदाकाशमें स्वप्नदर्शनकी भाँति स्फुरण होता है अतएव चिदाकाशताके सिवा इस जगत्का पारमार्थिक रूप क्या हो सकता है ॥ २८ ॥

वह पारमार्थिक सद्रूप ही अध्यस्तमें जितने समयतक घट आदिकी विद्यमानता रहती है तबतक तद्रूपसे स्फुरित होता है उसीका स्वभाव, नियति आदि विविध शब्दोंसे कथन होता है ॥ २९ ॥

गगनाङ्कस्य सत्ताऽन्तः शब्दतन्मात्रकल्पया ।
कुशूलबीजाङ्कुरवत्तिष्ठत्याशान्तरूपिणी ॥ ३० ॥
संपद्यते तत इदमितीयं रचनेह या ।
कृता सा मुग्धबोधाय मूर्खैर्विरचिता मुधा ॥ ३१ ॥
नाऽस्तमेतीह नोदेति तत्कदाचन किंचन ।
शिलाजठरवच्छान्तमिदं नित्यं सदप्यसत् ॥ ३२ ॥
यथाऽवयविनो नाऽन्तः सदैवाऽऽवयवाणवः ।
नाऽस्तं यान्ति न चोद्यन्ति जगन्त्यात्मपदे तथा ॥ ३३ ॥

वह ब्रह्मसत्ता आकाशरूप प्रथम उत्पन्न अपने अङ्कके अन्दर शब्दतन्मात्र रूप स्थितिसे कुसूलके (कोठिलाके) भीतर रक्खे हुए बीजोंमें आविर्भूत न हुई अंकुरशक्तिके तुल्य वायु आदि जगत्‌की बीजभूत शक्तिके रूपसे अनाविर्भूत होकर रहती है ॥ ३० ॥

उससे यह वायु, तेज, जल, पृथिवीरूप भूत-भौतिक जगत् क्रमसे उत्पन्न होता है इस तरहकी जो यहां कल्पना है वह अज्ञानी लोगोंके तत्त्व बोधके लिए जगत्सृष्टि-प्रतिपादनकी इच्छासे श्रुतियों और मुनियों द्वारा की गई है न कि सृष्टि ही तात्त्विकी (वास्तवी) है, यह प्रतिपादनके लिए की गई है। यदि सृष्टि ही वास्तविकी है यह प्रतिपादनके लिए हो तो यह सृष्टिकथा मूर्खों द्वारा ही विरचित और व्यर्थ होगी, क्योंकि यह सृष्टि वास्तविक है यह ज्ञान होनेपर किसीका न तो कोई प्रयोजन शास्त्रोंमें सुना गया है और न लोकमें कहीं देखा गया है ॥ ३१ ॥

वह यहां कभी न तो अस्तको प्राप्त होता है और न उदित होता है। शिलागर्भके समान नित्य शान्त यह सत् भी असत् है, क्योंकि तात्त्विक ब्रह्मरूप न अस्तको प्राप्त होता है और न उदित होता है। इस कारण परसत्तासे सत् भी यह प्रपञ्चरूप स्वतः असत् है ॥ ३२ ॥

अभिन्न सत्तावाला होनेपर ब्रह्मके अन्दर जगत् अवयववत् उदय और अस्तमय रहित ही है, यह सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे।

जैसे अवयवीके अन्दर अवयवाणु सदा ही न तो अस्तको प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं वैसे ही परमात्मपदमें अनन्त जगत् भी न तो अस्तको प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं ॥ ३३ ॥

ब्रह्मव्योम्नि जगद्व्योम व्योम व्योम्नीव विद्यते ।
तत्कथं किल संशुद्धमस्तमायात्युदेति वा ॥ ३४ ॥
तस्याऽनन्तप्रकाशात्मरूपस्याऽऽततचिन्मणेः ।
सत्तामात्रात्मकचनं यदजस्रं स्वभावतः ॥ ३५ ॥
तदात्मना स्वयं किंचिच्चेत्यतामिव गच्छति ।
अगृहीतात्मकं संविदूहामर्शनसूचकम् ॥ ३६ ॥
भाविनामार्थकलनैः किंचिदूहितरूपकम् ।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन्भाविबोधनम् ॥ ३७ ॥
ततः सा परमा सत्ता सती तच्चेतनोन्मुखी ।
चिन्नामयोग्या भवति किंचिल्लभ्यतया तया ॥ ३८ ॥

ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त जगत्सत्ताका अपलाप करनेपर जगत् शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है, इसलिए इसके उदय, अस्तमय आदि वैचित्र्यका विनाश हुआ, यह कहते हैं—'**ब्रह्मव्योम्नि**' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश आकाशमें रहता है वैसे ही ब्रह्माकाशमें जगताकाश रहता है, यों अत्यन्त विशुद्ध जगत्का कैसे विनाश होता है, कैसे उदय होता है ॥३४॥

इस तरह जगत्के मूल तत्त्वका विचार करनेपर जगत्की ब्रह्ममात्रताका प्रतिपादनकर ब्रह्म ही स्वतात्त्विक (वास्तविक) रूपका विस्मरण होनेपर जगद्रूप होता है, यह कहनेके लिए भूमिका रचते हैं—'**तस्य**' इत्यादिसे ।

अनन्त प्रकाशरूप उस निस्सीम चिन्मणिका निरन्तर स्वभावतः जो सत्तामात्ररूप आत्मस्फुरण है अज्ञात अतएव प्रथम प्रथम अन्यथाभाव होनेके कारण ऊहके अविमर्शका सूचक यानी अतर्कित वह उस रूपसे स्वयं कुछ चेत्यताको जैसा प्राप्त होता है ॥ ३५,३६ ॥

तदनन्तर भावी नाम और अर्थोंकी कल्पनाओं द्वारा कुछ तर्कितरूपवाला आकाशसे भी अणु और शुद्ध वह भावी प्रपञ्चके पर्यालोचनसे उसका सबमें बोध करनेवाला होता है ॥ ३७ ॥

तदुपरान्त उस किञ्चित चेत्यतासे वह परम सत्ता पर्यालोचित पदार्थको भलीभाँति चेतन बनानेमें तत्पर होकर 'चित्' (चेतयतीति चित् इस व्युत्पत्तिके अवसरकी प्राप्तिसे) नामके योग्य होती है ॥ ३८ ॥

घनसंवेदनात्पश्चाद्भाविजीवादिनामिका ।
सा भवत्यात्मकलना यद्भवन्ती परं पदम् ॥ ३९ ॥
गर्भीकृत्य स्थिताऽनाख्या चिदाकाशापिधानताम् ।
संप्रति त्वतिशुद्धस्य पदस्याऽनन्यरूपिणी ॥ ४० ॥
स्वतैकभावनामात्रसारसंसरणोन्मुखी ।
तदा विनाभावक्लान्ता अनुतिष्ठन्ति तामिमाः ॥ ४१ ॥
शून्यरूपा स्वसत्तैका शब्दादिगुणगर्भिणी ।
चिद्भावनाभिसंपन्ना भविष्यदभिधार्थता ॥ ४२ ॥
अहन्तोदेति तदनु सह वै कालसत्तया ।
भविष्यदभिधार्थे ते बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥ ४३ ॥

उसके बाद जो होता है, उसे कहते हैं—**'घन०'** इत्यादिसे ।

घनसंवेदनके बाद जीव नामवाली वह आत्मकल्पना जीवादि रूपोंको प्राप्त होती हुई अधिकारी शरीरकी प्राप्ति होनेपर फिर परमपद (ब्रह्म) हो जाती है ॥ ३९ ॥

यदि कोई कहे कि वह सदा ही परम पदरूप ब्रह्म है, उसका अधिकारी-देहमें ज्ञानप्राप्तिसे कौन उत्कर्ष है ? इसपर कहते हैं—**'गर्भीकृत्य'** इत्यादिसे ।

चूँकि वह परम सत्ता जीवत्वदशामें चिदाकाशका आवरण करनेवाली अविद्याको धारण करके स्थित है अतएव उसका परमपद स्वभाव प्रकट नहीं रहता इस समय ज्ञानप्राप्ति होनेपर अतिविशुद्ध वह परमपदकी (ब्रह्मकी) अभिन्नरूपिणी (प्राप्त-अभेदवाली) हो जाती है ॥ ४० ॥

उस समय जब कि उसकी अविद्यासे आवृत अवस्था रहती है, वह एकमात्र आत्मतादात्म्याध्यासकी भावनारूप सारवाले देह, इन्द्रिय आदिसे संसारोन्मुखी होकर निज स्वरूपके विरहसे उत्पन्न हुई ग्लानिसे होनेवाली विविध चेष्टाएँ करती है ॥ ४१ ॥

अद्वितीय तथा अन्य वस्तुओंसे शून्यस्वरूपवाली ही वह स्वसत्ता सविकल्प चित्की भावनाकी भ्रान्तिसे शब्द आदि गुणोंसे पूर्ण गर्भवाली होकर होनेवाले आकाश आदि पञ्चभूतोंकी प्रवृत्तिनिमित्तभूत सूक्ष्मभूतात्मिका हो गई ॥ ४२ ॥

उससे अहङ्कारप्रधान लिङ्गदेह-कल्पना होती है, यह कहते हैं—**'अहन्तो०'** इत्यादिसे ।

चितिशक्तेः परायास्तु स्वसंवेदनमात्रकम् ।
जगज्जालमसद्रूपं चेतनात्सदिव स्थितम् ॥ ४४ ॥
एवंप्रायात्मिका सा चिद्बीजं संकल्पशाखिनः ।
अहन्तां भावयत्यन्तः सैवेह भवति क्षणात् ॥ ४५ ॥
जीवाभिधाना सैषाऽद्य भावाभावस्रवभ्रमैः ।
भ्रमत्यात्मपदे वीचिरूपैर्वारीव वारिणि ॥ ४६ ॥
चिदेवंभावनवती व्योम तन्मात्रभावनाम् ।
स्वतो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं प्रचेतति ॥ ४७ ॥
भाविनामार्थरूपं तद्बीजं शब्दौघशाखिनः ।
पदवाक्यप्रमाणाढ्यवेदार्थादिविकारि च ॥ ४८ ॥

उसके बाद लिङ्गदेहवर्ती प्राणक्रियासे होनेवाली कालसत्ताके साथ अहन्ताका उदय होता है होनेवाले व्यवहारके प्रयोजनभूत वे दोनों (कालसत्ता और अहन्ता) जगत्की स्थितिके बीजभूत हैं ॥ ४३ ॥

परम चितिशक्तिका स्वस्फुरण असद्रूप यह जगज्जाल उसके चेतनसे सत्के समान स्थित है ॥ ४४ ॥

इस तरहकी संकल्परूपी महावृक्षकी बीजभूत वह चित् अपने अन्दर अहन्ताकी भावना करती है और क्षणभरमें अहन्तास्वरूप हो जाती है ॥ ४५ ॥

वही यह आज हिरण्यगर्भरूपसे समष्टि-जीव नामको प्राप्तकर उत्पत्ति, नाशरूप भ्रान्तियोंसे मायाशबल ब्रह्ममें वैसे ही भ्रमण करती है जैसे जलमें जल लहरियोंसे भ्रमण करता है ॥ ४६ ॥

उसकी जीवसमष्टिहिरण्यगर्भरूपसे स्थूल पञ्चभूत कल्पनाको कहते हैं— **'चित्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार भावनावाली चित् सूक्ष्म आकाशतन्मात्र भावनाको धीरे धीरे घनी करके स्वयं स्थूल आकाशकी भावना करती है ॥ ४७ ॥

वह स्थूलाकाशरूप चित् भावी नाम और अर्थरूप शब्दराशिलक्षण महावृक्षकी बीजभूत और पद, वाक्य, प्रमाणोंसे पूर्ण वेद, शास्त्रके अर्थकी आधारभूत है ॥ ४८ ॥

तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः शब्दतत्त्वनः ।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणी ॥ ४९ ॥
चिदेवंव्यवसाया सा जीवशब्देन कथ्यते ।
भाविशब्दार्थजालेन बीजं भूतौघशाखिनः ॥ ५० ॥
चतुर्दशविधं भूतजातमावलिताम्बरम् ।
जगज्जठरकर्णौघं तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥ ५१ ॥
असंप्राप्ताभिधाचारा जीवत्वाच्चेतनेन चित् ।
काकतालीयवत्स्पन्दचिन्मात्रं चेतति स्वयम् ॥ ५२ ॥
पवनस्कन्धरूपस्य बीजं त्वक्स्पर्शशाखिनः ।
सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥ ५३ ॥

उस वेदरूप शब्दसारसे शब्दराशिसे निर्मित अर्थोंकी राशिके परिणामसे विस्तारवाली सम्पूर्ण जगत्-शोभा उदित होगी, क्योंकि 'स भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत । एत इति वै प्रजापतिर्देवान् । इन्दव इति पितॄन् (प्रजापति ने 'भू' का उच्चारण कर देवताओंकी सृष्टि की 'असृग्' इससे मनुष्योंकी सृष्टि की, 'इन्दवः' इसका उच्चारण कर पितरोंकी सृष्टि की) ऐसी श्रुति है ॥ ४९ ॥

इस प्रकारके विचित्र संकल्पवाली ब्रह्म चित् ही जीव शब्दसे कही जाती है, उससे अन्य नहीं है । वही भावी शब्द और अर्थराशिसे भूतसंघरूपी वृक्षकी बीजभूत है ॥ ५० ॥

चौदह भुवनोंमें निवास करनेके कारण चौदह प्रकारकी भूतराशि और आकाशको व्याप्त किये हुए जगत्रूप जीर्णपत्रोंकी राशि उक्त समष्टिजीवभूत हिरण्यगर्भरूप चित्से प्रकट होगी ॥ ५१ ॥

उसके स्वनिर्मित भूतभौतिक प्रपञ्चके भोगके लिए समष्टित्वग् आदि इन्द्रियोंकी कल्पनाका प्रकार कहते हैं—**'असंप्राप्त०'** इत्यादिसे ।

उक्त चित् अद्यावधि शाब्द व्यवहार और शरीरादि द्वारा व्यवहारको प्राप्त न होकर, जीव होनेके कारण, चेतनसे काकतालीयके समान स्वयं स्पन्द-चिन्मात्रकी कल्पना करती है ॥ ५२ ॥

उक्त चित् वायुसमूहरूप त्वक्स्पर्शरूपी वृक्षकी बीजभूत है, क्योंकि उसमें सब प्राणियोंकी क्रियारूपी स्पन्दका हेतु वायु उत्पन्न होगा ॥ ५३ ॥

तत्र यच्चिद्विलासस्य प्रकाशानुभवो भवेत् ।
रूपतन्मात्रकं तद्भद्भविष्यदभिधार्थदम् ॥ ५४ ॥
प्रकाशचेतनं तेजो न तेजोऽन्यकृतं भवेत् ।
स्पर्शसंवेदनं स्पर्शो नेतरस्पर्शसंभवः ॥ ५५ ॥
शब्दसंवेदनं शब्दः स्वत एवाऽनुभूयते ।
खं खेनेव स्वयं कोशे नाऽन्यच्छब्दकृदग्नि हि ॥ ५६ ॥
किल तस्यामवस्थायां कोऽपरः शब्दकृद्भवेत् ।
यथा तथा तदाऽद्याऽपि द्वैतैक्यस्यात्यसंभवात् ॥ ५७ ॥

उसी तरह पवनस्कन्धभूत उस हिरण्यगर्भ चित्में चिद्‌विलासके प्रकाशसे जो अनुभव होता है वह रूपतन्मात्र है वह भावी तेज आदि भूतोंका स्वरूपप्रद है ॥ ५४ ॥

प्रकाशानुभवकी ही रूपतन्मात्रताका उपपादन करते हैं—**'प्रकाशचेतनम्'** इत्यादिसे ।

प्रकाशचेतन ही तेज है । तेज अन्यकृत नहीं है, स्पर्शकी कल्पना ही स्पर्श है अन्य स्पर्शका कारण नहीं है ॥ ५५ ॥

शब्दसंवेदनरूप शब्द स्वतः ही अनुभूत होता है । जैसे आकाश आकाशसे ही आकाशरूप कोशमें अवकाश पाकर स्थित होता है अन्यसे नहीं वैसे ही संवेदन भी आकाशात्मक ही शब्दसे शब्दग्राहक है, उससे अन्य नहीं है, यह अर्थ है ॥ ५६ ॥

सृष्टिके आदिमें समष्टिकी तरह इस समय व्यष्टिमें भी तत् तत्की संवित् ही अपनेमें तत् तत् अर्थके आकारका अध्यासकर जगत्‌के स्वरूपसे भासती है अन्य नहीं भासता है, ऐसा समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'किल'** इत्यादिसे ।

उस अवस्थामें दूसरा शब्दकर्ता कौन होगा जैसे उस समय द्वैत और ऐक्यका अत्यन्त असंभव था वैसे ही इस समय भी द्वैत और ऐक्यका अत्यन्त असंभव है ॥ ५७ ॥

एवं हि रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमेव च ।
असत्यमेव सदिव स्वप्नाभमिव चेत्यते ॥ ५८ ॥
तेजः सूर्यादिजृम्भाभिर्बीजमालोकशाखिनः ।
तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ ५९ ॥
भविष्यदभिधस्याऽथ खतः स्वत इवाऽसतः ।
स्वदनं तस्य संघस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ ६० ॥
भविष्यद्रूपसंकल्पनामाऽसौ सकलो गणः ।
संकल्पात्माऽथ तन्मात्रं गन्धाद्यमनुचेतति ॥ ६१ ॥
भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशाखिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ ६२ ॥
अजात एव संजातस्तन्मात्राणां गणस्त्विति ।
अनाकारोऽपि साकारः संपन्नः कल्पनावशात् ॥ ६३ ॥

शब्दमें प्रदर्शित न्याय रस आदिमें भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—'**एवं हि**' इत्यादिसे ।

इस प्रकार रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्रकी भी, जो निपट असत्य होते हुए भी सत्के तुल्य हैं, स्वप्नके समान कल्पना की जाती है ॥ ५८ ॥

तेज सूर्य आदिके विकासोंसे प्रकाशरूपी महावृक्षका बीजभूत है, उसमें रूपभेद द्वारा संसारकी उत्पत्ति होगी ॥ ५९ ॥

विकारशून्य आकाशसे जैसा आगे होनेवाले उस पञ्चीकृत अन्नपान आदिका स्वतः माधुर्य-स्वदन होता है वह रसतन्मात्र कहलाता है ॥ ६० ॥

उसके पश्चात् जिसका रूप, संकल्प नाम आगे होनेवाला है ऐसा यह कार्यकारणसमुदायरूप जीव संकल्पभूत गन्धादि तन्मात्रकी कल्पना करता है ॥ ६१ ॥

भावी भूगोलके रूपसे आधाररूपी महावृक्षका बीजभूत सकलके आधाररूप उस गन्धतन्मात्रसे संसारका प्रसार होगा ॥ ६२ ॥

वास्तवमें अनुत्पन्न ही शब्दस्पर्शरूप आदि तन्मात्रोंका समूह इस प्रकार उत्पन्न हुआ वास्तवमें निराकार भी वह कल्पनावश साकार हो गया ॥ ६३ ॥

एष तन्मात्रकगणः काकतालीयवत्स्वयम् ।
रूपं येन प्रदेशेन वेत्त्यक्षीति तदुच्यते ॥ ६४ ॥
शब्दं येन प्रदेशेन वेत्ति श्रोत्रं तदुच्यते ।
स्पर्शं येन प्रदेशेन वेत्ति तत्तु त्वगिन्द्रियम् ॥ ६५ ॥
रसं येन प्रदेशेन वेत्ति तद्रसनेन्द्रियम् ।
गन्धं येन प्रदेशेन वेत्ति घ्राणेन्द्रियं तु तत् ॥ ६६ ॥
दिक्कालभेदाज्जीवोऽयं नियतामाकृतिं गतः ।
सर्वेणाऽङ्गेन नो सर्वं वेत्त्यसर्वात्मतावशात् ॥ ६७ ॥
इति कलनमनन्तमात्मनोऽन्तर्गतमनुमेयमनन्यदात्मभूतम् ।
न तदुदयमुपैति नाऽस्तमेति स्थितमुपलोदरवद्धनं सुमौनम् ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासि० वाल्मी० दे० मो० नि० उ० जीवत्वसंसृतिप्रतिपादनं नाम सप्ताशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८७ ॥

यह तन्मात्रोंका समूह काकतालीयके समान जिस प्रदेशसे स्वयं रूपको जानता है वह नेत्र कहलाता है, जिस प्रदेशसे शब्द सुनता है वह श्रोत्र (कान) कहलाता है, जिस प्रदेशसे स्पर्शका अनुभव करता है वह त्वगिन्द्रिय कहलाता है, जिस प्रदेशसे रसका स्वाद लेता है वह रसनेन्द्रिय कहलाता है, एवं जिस प्रदेशसे गन्धका अनुभव करता है वह घ्राणेन्द्रिय कहलाता है ॥ ६४–६६ ॥

पूर्वोक्त द्विविध परिच्छेदकी तरह देहपिण्डमें अहंभावप्रयुक्त इसकी दिक्कालके भेदकी कल्पना कहते हैं—'**दिक्काल०**' इत्यादिसे ।

नियत आकृतिको प्राप्त हुआ यह जीव दिक्कालकी कल्पना करता है। और असर्वात्मताके दोषसे सकल अङ्गसे यानी नेत्र, श्रोत्र, आदिसे रस, गन्ध आदि सब कुछ नहीं जानता है ॥ ६७ ॥

इस रीतिसे प्रत्येक जीवमें अनुक्त भी अनन्त सांसारिक कल्पना आत्माके अन्तर्गत ही अनुमेय है अनन्त होनेके कारण प्रत्येकका पृथक् पृथक् कथन अशक्य है और वे अनन्त कल्पनाएँ आत्मासे अभिन्न (आत्मभूत) ही हैं, इसलिए वे परमार्थरूपसे न उदित होती हैं और न नष्ट होती हैं किन्तु पत्थरके गर्भके समान सच्चिदानन्दैकघन निर्व्यापार ही स्थित हैं ॥ ६८ ॥

एक सौ सतासी सर्ग समाप्त

अष्टाशीत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

आदिमत्त्वमिदं प्रोक्तमेतस्य कलनस्य यत् ।
परस्मादद्वितीयं तत्त्वद्बोधाय न वास्तवम् ॥ १ ॥
एवंविधं तत्कलनमात्मनोऽङ्गमकृत्रिमम् ।
चेत्योन्मुखचिदाभासं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥

एक सौ अठासी सर्ग

[जीव ब्रह्म ही है । उसकी यह उत्पत्ति उपचारतः (गौणावृत्तिसे) लिङ्ग देहकी भ्रान्तिसे प्रतीत होती है, इस बातका स्पष्टतः निरूपण]

पिछले सर्गमें 'घनसंवेदनात् पश्चाद् भाविजीवादिनामिका' इत्यादिसे जीवकी उत्पत्तिका उपपादन किया गया है । वह उचित नहीं है, क्योंकि नवीन उत्पन्न हुए जीवके संसारके (आवागमनके) हेतु काम, कर्म, वासना आदिके अभावसे संसारकी सिद्धि नहीं होगी और घट, पट आदिके समान मिथ्या होनेसे ब्रह्मात्मभाव न होनेके कारण मोक्षकी सिद्धि भी नहीं होगी ऐसी आशङ्का श्रीरामचन्द्रजीको न हो, इसलिए उक्त जीवोत्पत्तिप्रतिपादनका तात्पर्य भगवान् श्रीवसिष्ठजी स्वयं कहते हैं—**'आदिमत्त्वम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस चिदाभासात्मक जीवकी जो वह उत्पत्ति कही है वह चिदाभासात्मक जीव ब्रह्मसे अभिन्न है ऐसा आपको बोध करानेके लिए कही है, किन्तु जीवकी उत्पत्ति आदि वास्तव है इस आशयसे नहीं कही है ॥ १ ॥

किस रीतिसे जीव परम ब्रह्मसे अभिन्न है यह बोध करानेके लिए उसे कहते हैं—**'एवंविधम्'** इत्यादिसे ।

वह कलन (चिदाभास) परब्रह्मका इस प्रकारका औपाधिक अवयव है, अतएव अकृत्रिम है । चेत्यकी ओर प्रवण चिदाभास जीवशब्द-से कहा जाता है, ऐसी दशामें ब्रह्मसे चिदाभासका जो पृथक्त्व है वह औपाधिक है, उससे होनेवाले जीव आदि भिन्न भिन्न नाम परम ब्रह्मके ही हैं जैसे कि आकाशके घटाकाश, मठाकाश आदि भिन्न भिन्न रूप और नाम हैं ॥ २ ॥

कलनस्याऽस्य नामानि बहूनि रघुनन्दन ।
शृणु तानि विचित्राणि चेत्योन्मुखचिदात्मनः ॥ ३ ॥
जीवनाच्चेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते ।
चेत्योन्मुखतया चित्तं चिदित्येव निगद्यते ॥ ४ ॥
इदमित्थमिति स्पष्टबोधाद्बुद्धिरिहोच्यते ।
कल्पनान्मननज्ञत्वान्मन इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥
अस्मीति प्रत्ययादन्तरहंकारश्च कथ्यते ।
चेतनाढ्यमृतं चित्तमिति शास्त्रविचारिभिः ॥ ६ ॥
प्रौढसंकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ।
संसृतेः प्रकृतत्वेन प्राथम्यात्प्रकृतिः स्मृता ॥ ७ ॥

जीवके औपाधिक प्रवृत्तिनिमित्त और उनके भेदोंसे जनित विविध नामोंको सुनाते हैं—**'कलनस्य'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस चिदाभासात्मक जीवके बहुतसे नाम हैं । चेत्यकी ओर प्रवण चिदात्माके उन विचित्र नामोंको आप सुनें ॥ ३ ॥

जीवनसे यानी मुख्य प्राण और कर्मेन्द्रियोंके धारणसे तथा चेतनसे यानी ज्ञानेन्द्रियोंके धारणसे वह जीव कहलाता है, पहले अनुभवमें आये हुए अतीत (भूत) और अनागत (भावी) चेत्योंकी ओर प्रवण होनेसे वह चित्त कहलाता है एवं निकटवर्ती चेत्योंकी ओर प्रवण होनेके कारण वह चित् कहलाता है ॥ ४ ॥

यह इस प्रकारका है यों स्पष्टरूपसे बोधनके कारण वह यहाँ बुद्धि कहलाता है, संकल्प करने तथा ऊहापोहरूप मननका ज्ञाता होनेके कारण वह मन कहलाता है ॥ ५ ॥

अपने अन्दर 'मैं हूँ' यों अभिमान करनेसे अहंकार कहलाता है। पामर लोगोंकी साधारण व्युत्पत्तिसे 'चित्त' नामकी व्याख्या की जा चुकी है, किन्तु विद्वानोंकी प्रसिद्धिसे 'चिती संज्ञाने' इस धातु-व्युत्पत्तिसे स्वतत्त्व चेतनासे पूर्ण परमार्थ-वस्तु आत्मा ही चित्तपदका मुख्य वाच्य है ऐसा शास्त्रोंका विचार करनेवाले पुरुषोंने कहा है, यह अर्थ है ॥ ६ ॥

वह जीव प्रौढ संकल्पराशिसे पुर्यष्टक (संकल्पादिभिः पूर्यन्ते इति पुर्य-

बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः ।
इत्यादिकलनस्याऽस्य नामानि कथितानि ते ॥ ८ ॥
एतत्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम् ।
आतिवाहिकदेहोक्त्या समुदाह्रियते बुधैः ॥ ९ ॥
इत्येवं स्वप्नसंकल्पपुरवत्त्रिजगद्भ्रमः ।
भात्यर्थकार्यप्यवपुः शून्यमप्रतिघात्मकम् ॥ १० ॥
इत्यातिवाहिकः प्रोक्तो देहो देहभृतां वर ।
चिन्नभश्चित्तदेहोऽसौ शून्य आकाशतोपि च ॥ ११ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति जगत्यामोक्षसंविदः ।
चतुर्दशविधस्यैका भूतसर्गस्य चित्तभूः ॥ १२ ॥
अत्र संसारलक्षाणि भविष्यन्ति भवन्ति च ।
भूतानि च फलानीव यथा कालव्यवस्थया ॥ १३ ॥

स्तासाम् अष्टकम् यानी संकल्प आदिसे जो पूर्ण की जाती हैं वे पुरियाँ हैं, उनका अष्टक यानी आठ पुरियाँ इस व्युत्पत्तिसे) कहा गया है। सृष्टिके आदिकालमें प्रस्तुत होनेसे प्रथम होनेके कारण वह प्रकृति कहा गया है, तत्त्वदर्शनसे औपाधिकरूपसे अविद्यमान होनेके कारण विद्वानों द्वारा 'अविद्या' कहा जाता है। चिदाभासरूप जीवके इत्यादि अनेक नाम मैंने आपसे कहे हैं ॥ ७,८ ॥

निराकार निर्विकार यह चिदाभासरूप जीव आतिवाहिक देहके नामसे विद्वानों द्वारा उत्पित्तिनाशवान् कहा जाता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार स्वप्ननगर और संकल्पपुरके समान यह त्रिजगद्भ्रम भोग और मोक्षरूप अर्थका कर्त्ता होनेपर भी निस्स्वरूप, शून्य और अमूर्तरूप (प्रतिघातके अयोग्य) प्रतीत होता है ॥ १० ॥

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार यह आतिवाहिक शरीर चिदाकाशभूत चित्तशरीरवाला और आकाशसे भी शून्य कहा गया है ॥ ११ ॥

यह आतिवाहिक शरीर मोक्षसंवित्पर्यन्त जगत्में न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है। चौदह भुवनोंके निवासी होनेसे चौदह प्रकारके प्राणियोंका एकमात्र यह प्ररोहस्थान है ॥ १२ ॥

ऋतुकी व्यवस्थासे वृक्षोंमें फलोंकी तरह लाखों संसार इस चित्तरूपी

एष चित्तमयो देहो जगन्त्यन्तर्बहिस्त्वपि ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शः शून्य एव नभो यथा ॥ १४ ॥
महाकल्पस्य पर्यन्ते सर्वनाशे स्थिरे स्थिते ।
महाशून्यपदे प्रौढे ब्रह्मात्मनि निरामये ॥ १५ ॥
स्वतश्चितीघनोऽचित्त्वाच्चिद्भानमिदमात्मनः ।
आतिवाहिकदेहाभं क्रमेणाऽनेन चेतति ॥ १६ ॥
स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः ।
कश्चिद् ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कश्चिद्विराडिति ॥ १७ ॥
कश्चित्सनातनाभिख्यः कश्चिन्नारायणाभिधः ।
कश्चिदीश इति ख्यातः कश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥ १८ ॥
काकतालीयवद्भानाः पञ्च स्वेन्द्रियसंविदः ।
यत्र यत्र तथा तेषां स्थितास्तत्र तथा स्थिताः ॥ १९ ॥

भूमिमें हो गये हैं, होंगे और होते हैं ॥ १३ ॥

यह चित्तमय शरीर अन्दर और बाहर जगतोंको वैसे ही धारण करता है जैसे कि दर्पण प्रतिबिम्बोंको धारण करता है ॥ १४ ॥

जब महाकल्पमें प्राकृत प्रलयके अन्तिम क्षणमें सर्वनाश स्थिर हो जाता है, उस समय महाशून्यपद अवकाशदायक प्रौढ निरामय (निर्विकार) ब्रह्मात्मा शेष रहता है ॥ १५ ॥

तब चैतन्यघन परमात्मा चैतन्यका आवरण करनेवाले अज्ञानरूप निमित्तसे पूर्वोक्त क्रमसे आत्माके आतिवाहिक देहतुल्य चिद्भानकी स्वतः कल्पना करता है ॥ १६ ॥

वह जीव ही आतिवाहिक देह है, उसका जो जगदालोचनरूप आलोक है उससे प्रवर्तित कोई भाग शास्त्रोंमें मैं चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ यों और कोई भाग मैं विराट् हूँ यों वर्णित है ॥ १७ ॥

कोई भाग सनातन, सनक, सनन्दन आदि कहा गया है, कोई भाग ईश्वरके नामसे प्रख्यात है, कोई भाग प्रजापति कहा गया है ॥ १८ ॥

जिस जिस भागमें पाँच स्वेन्द्रियसंवितोंका काकतालीयवत् भान हुआ वहाँ वहाँ उन इन्द्रियोंके विषय वैसे ही व्यवस्थित हुए ॥ १९ ॥

एवमत्यन्तविततै संपन्ने दृश्यविभ्रमे ।
न किंचिदपि संपन्नं सर्वशून्यं ततं यतः ॥ २० ॥
अनादिमत्परं ब्रह्म न सद्ब्रह्माऽसदुच्यते ।
तदेवेदमनाद्यन्तं तथा स्थितमवेदनम् ॥ २१ ॥
आतिवाहिकदेहस्य तस्याऽनुभवतः स्वयम् ।
याति रूपमनिशः स्वप्नः कान्तेव परिपुष्टताम् ॥ २२ ॥
शून्योऽप्यनाकृतिरपि घटाकारोऽनुभूयते ।
स्वप्नसंकल्पयोः स्वस्य देहस्य जगतो यथा ॥ २३ ॥
भवन्त्यर्थकरोऽप्युच्चैस्तच्चित्खस्वप्नवस्तुवत्
आकाशात्मक एवोग्रः पदार्थ इव भासते ॥ २४ ॥
आतिवाहिकदेहोऽसौ स्वतोऽनुभवति क्रमात् ।
अनाकारोऽपि शून्योऽपि स्वप्नाभोऽसन्नपि स्थितः ॥ २५ ॥

अत्यन्त विस्तारयुक्त इस दृश्यभ्रमके सम्पन्न होनेपर कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि यह सब सर्वदृश्यशून्य आत्मा ही विस्तृत है ॥ २० ॥

जन्म, विनाश आदि शून्य परब्रह्म न आविर्भूत है और न तिरोभूत है। आदि-अन्तरहित वही जब स्वरूपसाक्षात्कारसे विहीन होता है तब सत् (आविर्भूत) और असत्के (तिरोभूतके) आकारमें यानी जगद्रूपसे स्थित होता है ॥२१॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म आतिवाहिक देहधारी ब्रह्माके स्वानुभवसे यह प्रपञ्च निरन्तर कान्ताका अनुसन्धान करनेवाले विधुर पुरुषकी स्वप्नकान्ताके समान परिपुष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

जगत्से सर्वथा शून्य ब्रह्मका जगद्रूपसे भान होनेमें दूसरा दृष्टान्त देते हैं—**'शून्योऽपि'** इत्यादिसे ।

स्वप्न और मनोरथमें शून्य भी निराकार भी घटाकारका अनुभव होता है, यही स्वदेह और जगत्के भानमें दृष्टान्त है ॥ २३ ॥

जगत्प्रपञ्च चिदाकाशस्वरूप स्वप्नपदार्थके समान पूर्णतया अर्थक्रियाकारी होता है, आकाशात्मक होता हुआ ही कठिन (ठोस) पदार्थ-सा प्रतीत होता है ॥ २४ ॥

यह आतिवाहिक जीव निराकार, शून्य स्वप्नतुल्य असत् होनेपर भी क्रमसे अपने देहादि आकारका स्वयं अनुभव करता है ॥ २५ ॥

चेतत्यस्थिगणैः स्थूलं कराद्यवयवावलिम् ।
त्रिकलोमशिरास्नायुसंनिवेशतया स्थितम् ॥ २६ ॥
जन्मकर्मेहितस्थानं परिणामवयःस्थितम् ।
देशकालक्रमाभोगभावार्थायोद्भवभ्रमम् ॥ २७ ॥
जरामरणमाधानदशदिङ्मण्डलक्रमम् ।
ज्ञानज्ञेयज्ञातृभावमादिमध्यान्तवेदनम् ॥ २८ ॥
क्षितिजलगगनदिवाकर-
जनताव्यवहारनगरशिखरात्मा ।
स्वाधाराधेयमयं
पश्यति वपुषः पुरातनः पुरुषः ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे०मो०नि०उ०जीवरूपवर्णनं नामाऽष्टाशीत्यधिकशततमः सर्गः

उक्त आतिवाहिक देहरूप जीव अस्थिपञ्जरसे स्थूल, रीढ़, रोम, नसों और नाडियोंके संनिवेशरूपसे स्थित हस्त, पाद आदि अवयवोंसे युक्त स्थूल शरीरकी, जो जन्म, कर्म और अभिलाषाका स्थान है और परिणामावस्थामें स्थित है, देश, काल क्रम, शब्द इत्यादि विषयोंके भोगके लिए कल्पना करता है। और उस स्थूल देहमें जन्म-भ्रमकी कल्पना करता है ॥ २६, २७ ॥

तथा बुढ़ापा और मृत्युकी, गुण, दोष आदि के आधानकी, दश दिशाओंमें भ्रमणकी, ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञानस्वरूप त्रिपुटीकी तथा सब पदार्थोंके जन्म, स्थिति और नाशके ज्ञानकी भी कल्पना करता है ॥ २८ ॥

इस प्रकार आतिवाहिक देहभूत पुराण पुरुष अपनेसे कल्पित ही व्यष्टि-समष्टिरूप स्थूल शरीरसे स्वयं ही पृथिवी, जल, आकाश, सूर्य, जनता-व्यवहार, नगर और शिखररूप होकर पृथिवी आदि मेरे आधार हैं और स्वयं मैं उनका आधेय हूँ इस प्रकार भ्रान्तिरूप संसार स्वप्नको देखता है ॥ २९ ॥

एक सौ अठासी सर्ग समाप्त

एकोननवत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

आतिवाहिकदेहोऽसौ तस्याऽऽद्यस्य प्रजापतेः ।
काकतालीयवच्चित्त्वाद्यथेत्यादि चेतति ॥ १ ॥
तत्तथा स्थितिमायाति चिरं संवित्स्वभावतः ।
वत विश्वमिदं भातमत्राऽसत्ये कुतः स्मयः ॥ २ ॥
द्रष्टाऽसत्यमसत्यं दृगसत्यं दर्शनं ततम् ।
सत्यमेवाऽथवा सर्वं ब्रह्मैवाऽऽत्मतया तया ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

इत्यातिवाहिकालोकः स तस्याऽऽद्यप्रजापतेः ।
कठिनत्वं कथं यातः कथं स्वप्नस्य सत्यता ॥ ४ ॥

एक सौ नवासी सर्ग

[आतिवाहिकदेहवाले प्रजापतिके मनोरथरूप इस जगत्में आधिभौतिकता भ्रमरूप है, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस आद्य प्रजापतिका यह आतिवाहिक शरीर चित् होनेके कारण 'कश्चित् ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कश्चिद् विराडिति' यों विस्तारसे वर्णित रीतिसे जिस जिसकी जैसी कल्पना करता है काकतालीयन्यायसे वह चिरकाल तक वैसे ही स्थित होता है, सत्य संकल्पवती संवित्के स्वभावसे इस विश्वका भान हुआ है । इस जगत्की असत्यताके विषयमें क्या आश्चर्य है ॥ १,२ ॥

इस कारण केवल भ्रमस्वरूप होनेसे द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी असत्य है यानी द्रष्टा असत्य है, दृश्य असत्य है और दर्शन (वृत्ति) असत्य है, अथवा उक्त ब्रह्मात्मताके कारण सब कुछ ब्रह्म ही है और सत्य ही है ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, इस रीतिसे उक्त आदि प्रजापतिका केवल आतिवाहिक शरीर यदि भ्रान्तिदर्शनमात्र है, वह कठिनताको (शिलादिके तुल्य पुष्टताको) कैसे प्राप्त हुआ ? भला स्वप्नमें पारलौकिक फल आदिकी अर्थक्रियाकारिता कैसे संभव है ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

आतिवाहिक आलोकः स्वत एवाऽनुभूयते ।
सदाऽनवरतं तेन स एवाऽऽभाति पुष्टवत् ॥ ५ ॥
यथा स्वप्नस्य पुष्टत्वं चिरानुभवनोचितम् ।
अतिसत्यमिवाऽऽभाति स्वातिवाहिकता तथा ॥ ६ ॥
आतिवाहिकदेहस्य चिरस्वानुभवोदये ।
आधिभौतिकताबुद्धिरुदेति मृगवारिवत् ॥ ७ ॥
जगत्स्वप्नभ्रमाभासं मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ।
असदेवेदमाभाति सत्यप्रत्ययकार्यपि ॥ ८ ॥
आतिवाहिकरूपाणामाधिभौतिकता स्वयम् ।
असती सत्यवद्दूरमर्वाग्दर्शिभिरर्थिता ॥ ९ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इमा गिरिनभोदिशः ।
इति मिथ्याभ्रमो भाति भास्वरस्वप्नशैलवत् ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, आतिवाहिक शरीरके भ्रमरूप दर्शनकी स्वतः ही अनुभूति होती है । सदा निरन्तर भानसे वह चिरकालके अभ्याससे घनीभूतसा मालूम होता है ॥ ५ ॥

जैसे राजा हरिश्चन्द्र आदिके स्वप्नकी चिरानुभूतके अनुरूप पुष्टता हुई वैसे ही ब्रह्माको अपनी आतिवाहिकता अत्यन्त सत्यसी प्रतीत होती है ॥ ६ ॥

आतिवाहिक शरीरके चिरकालतक स्वानुभवमें आरूढ़ होनेपर मरुभूमिमें मृगतृष्णाके तुल्य उसमें फिर आधिभौतिकता-बुद्धि उदित होती है ॥ ७ ॥

स्वप्न और भ्रमके सदृश भासित होनेवाला मृगतृष्णा जलके समान स्थित यह जगत् सत्य प्रतीतिकारी होनेपर भी असत् ही स्फुरित होता है ॥ ८ ॥

आतिवाहिक (संकल्पमय) स्वरूपवाले पदार्थोंकी आधिभौतिकता असत्य होनेपर अविवेकी पुरुषों द्वारा सत्यवत् स्वीकृत की गई है ॥ ९ ॥

यह मैं, ये मेरे शरीर आदि, ये मुझसे भिन्न, ये पर्वत, आकाश, दिशाएँ इस प्रकारका मिथ्याभ्रम देदीप्यमान स्वाप्न पर्वतके समान प्रतीत होता है ॥१०॥

आतिवाहिकदेहोऽसौ स्रष्टुराद्यस्य भाविनः ।
आधिभौतिकतां चैतत्पिण्डाकारं प्रपश्यति ॥ ११ ॥
चिन्नभश्चेतनं त्यक्त्वा ब्रह्माऽहमिति पश्यति ।
अयं देहोऽयमाधार इति बध्नाति भावनाम् ॥ १२ ॥
असत्ये सत्यबुद्ध्यैव बद्धो भवति भावनात् ।
बहुशो भावयत्यन्तर्नानात्वमनुधावति ॥ १३ ॥
शब्दान्करोति संकेतं संज्ञाश्च स्पन्दनानि च ।
ओमित्युक्ते ततो वेदाञ्छब्दराशीन्प्रगायति ॥ १४ ॥
तैरेव कल्पयत्याशु व्यवहारमितस्ततः ।
मनो ह्यसौ कल्पयति यच्चेतति तदेव हि ॥ १५ ॥
यो हि यन्मय एवाऽसौ स न पश्यति तत्कथम् ।
असत्यैव जगद्भ्रान्तिरेवं प्रौढिमुपागता ॥ १६ ॥

आदि प्रजापतिका यह आतिवाहिक शरीर आधिभौतिक रूपसे भावित होकर पृथिवी, शरीर आदि रूप पिंडाकारको देखता है ॥ ११ ॥

चिदाकाश 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ चेतना छोड़कर यह मनुष्य आदि शरीर मैं हूँ, यह पृथिवी आदि मेरा आधार है, यों देखता है और उसमें वैसी ही आस्था करता है ॥ १२ ॥

असत्य वस्तुमें यह सत्य है इस बुद्धिसे भावना करनेके कारण जीव बन्धनमें पड़ता है अपने अन्दर बारबार भावना करता है उससे नानात्वका (द्वैतका) अनुसरण करता है ॥ १३ ॥

पहले वैदिक, लौकिक शब्दोंकी सृष्टि करता है और उनका जाति आदि तत् तत् उपाधियुक्त अर्थमें संकेत करता है यानी यह शब्द इस अर्थका वाचक है, ऐसा संकेत करता है । संकेतसे संज्ञाएँ और चेष्टाएँ करता है । तदनन्तर ॐ उच्चारण करनेके उपरान्त शब्दराशिरूप वेदोंका गान करता है ॥ १४ ॥

शब्दराशिरूप वेदोंसे ही शीघ्र इतस्ततः चारों ओरके व्यवहारोंकी कल्पना करता है, क्योंकि समष्टिमनरूप यह प्रजापति जो कुछ कल्पना करता है निश्चयेन वही हो जाता है ॥ १५ ॥

जो जिसमें अत्यन्त आसक्तिमान् होगा वह उसे क्यों न देखेगा । यों असत्यरूपा ही जगद्भ्रान्ति प्रौढ़ताको प्राप्त हुई है ॥ १६ ॥

आब्रह्मणो मुधा भाति चिरस्वप्नेन्द्रजालवत् ।
इत्यातिवाहिकस्येयमाधिभौतिकतोचिता ॥ १७ ॥
आधिभौतिकता नास्ति काचित्किंचिदपि क्वचित् ।
आतिवाहिकतैवैनामभ्यासाद्याति भावनाम् ॥ १८ ॥
मूलादेवैवमायातो मिथ्यानुभवनात्मकः ।
मोहो ब्रह्मण एवाऽयमित्यस्त्येष महात्मनाम् ॥ १९ ॥
एवमित्थं दशा राम पिण्डबन्धः क्व विद्यते ।
भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाऽऽभातमेव वा ॥ २० ॥
न शाश्वतादन्यदिहाऽस्ति कारणान्न कारणं तत्खलु कार्यतां विना।
न कार्यताकारणतादिसंभवोऽस्त्यनामये तत्किमपीदमाततम् ॥ २१ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० निर्वा० उ० ब्रह्मैकताप्रतिपादनं नामैकोननवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८९ ॥

ब्रह्मसे लेकर थ्याभ्रमो — यह चिरकालिक स्वप्नसा और इन्द्रजालसा असत् जगत् मिथ्या ही होता है । इस प्रकार आतिवाहिककी आधिभौतिकता (कठिनस्वभावता) उचित ही है, अनुचित नहीं है ॥ १७ ॥

कहींपर कुछ भी आधिभौतिकता नहीं है । आतिवाहिकता ही अभ्यासवश इस आधिभौतिक भावनाको प्राप्त होती र्जा, आतिवाहि

मूलभूत सर्जनहार ब्रह्मासे ही इरन्तर भानमें यह मिथ्यानुभवरूप महान् मोह चला आया है, इसलिए यह जगद्दर्शनरूप भ्रम जबतक प्रारब्धका क्षय नहीं होता तबतक तत्त्वज्ञोंमें भी रहता ही है ॥ १९ ॥

चिदेकरस ब्रह्मकी इस तरहकी दुर्दशा कहाँ संभव है, किन्तु यह सब संसारदुर्दशादि भ्रान्ति ही है । अथवा ब्रह्म ही कौतुकसे जगत्, जीव आदिके आकारमें स्फुरित हुआ है । अपना आकार अपनी दुर्दशा कदापि नहीं कहा जा सकता, यह अर्थ है ॥ २० ॥

जगत्का अव्यय सकलकारण-कारण ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है । वह कार्यताके बिना कारण नहीं है । निर्विकार कूटस्थ-चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्ममें कार्यता-कारणताका कदापि संभव ही नहीं है। इस कारण यह जगदाकार कुछ भ्रान्तिमात्ररूप ही विस्तृत है । वास्तविक नहीं है, यह तात्पर्यार्थ है ॥२१॥

एक सौ नवासी सर्ग समाप्त

नवत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बन्ध इत्यभिधीयते ।
तस्यैव ज्ञेयताशान्तिर्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयताशान्तिः कथं ब्रह्मन्प्रवर्तते ।
सा रूढा बन्धताबुद्धिः कथं वाऽत्र निवर्तते ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

सम्यग्ज्ञानेन बोधेन मन्दबुद्धिर्निवर्तते ।
निराकारा निजा शान्ता मुक्तिरेवं प्रवर्तते ॥ ३ ॥

एक सौ नब्बे सर्ग

[भूत और भावी सकल सन्देहोंका युक्तियोंसे मार्जनकर ज्ञानकी ज्ञेयत शान्तिरूप मुक्तिका वर्णन]

'भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाऽऽभातमेव वा'। अर्थात् यह सब ब्रह्मकी संसार-रूप दुर्दशा भ्रान्ति ही है अथवा ब्रह्म ही कौतुकवश जीव और जगत्के आकारसे स्फुरित हुआ है। यों अन्तमें जो बन्ध और मोक्षका निष्कर्ष प्रदर्शन किया उसका परिष्कार कर कहते हैं—**'ज्ञानस्य'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, ज्ञानकी ज्ञेयतापत्ति बन्ध कहलाता है और ज्ञानकी ही ज्ञेयता-शान्ति मोक्ष कहलाता है॥ १ ॥

यहाँपर श्रीरामचन्द्रजी जिन शङ्काओंका पहले समाधान हो चुका था उनका भी सबके उपकारके लिए प्रश्नोत्तर मालाके क्रमसे उद्घाटनकर समाधान क्रमको प्रख्यात करानेके लिए उनका उपाय पहले पूछते हैं—**'ज्ञानस्य'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यहाँपर ज्ञानकी ज्ञेयता शान्ति कैसे होती है और उसका दृढ़ाभ्यास होनेपर बन्धता-बुद्धि कैसे निवृत्त होती है॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, शम, दम आदि साधनोंसे युक्त सम्यक् ज्ञानरूप प्रबोधसे भ्रान्ति हट जाती है। भ्रान्तिरूप स्वप्नके हट जानेपर इस प्रकारकी ज्ञेयताशान्तिरूप मुक्ति भूमिकाकी पुष्टिके क्रमसे होती है॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

बोधः केवलतारूपः सम्यग्ज्ञानं किमुच्यते ।
येन बन्धादयं जन्तुरशेषेण विमुच्यते ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ।
अवाच्यमिति बोधोऽन्तः सम्यग्ज्ञानमिति स्मृतम् ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयता भिन्ना त्वन्तः केति मुने वद ।
उत्पाद्यो ज्ञानशब्दश्च भावे वा करणेऽथ किम् ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

बोधमात्रं भवेज्ज्ञानं भावसाधनमात्रकम् ।
न ज्ञानज्ञेययोर्भेदः पवनस्पन्दयोरिव ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, सम्यक् ज्ञानमय कैवल्यरूप बोध क्या कहलाता है ? जिस बोधसे यह जीव बन्धनसे पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। शङ्काका भाव यह है कि अनेक विशेषताओंसे युक्त रत्न आदिके कतिपय विशेषोंका ज्ञान होनेपर भी अन्य विशेषताओंके ज्ञानके लिए पर्यालोचनजन्य सम्यक् ज्ञान दूसरा हो, किन्तु ब्रह्मरूप निर्विशेष वस्तुमें आपात ज्ञानकी अपेक्षा सम्यक् ज्ञान दूसरा क्या होगा जिससे कि जीवके बन्धनकी निवृत्ति होगी यह श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका तात्पर्यार्थ है ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अधिष्ठानभूत चिन्मात्ररूप ज्ञानकी ज्ञेयता तीनों कालोंमें भी नहीं है। अव्यय केवल ज्ञान अवाच्य है, इसलिए सर्वदृश्यबाधपर्यन्त ही तत्त्वसाक्षात्कार कहा गया है। आपात ज्ञान वैसा नहीं है ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, चिदेकरस आत्माके अन्दर उससे भिन्न ज्ञेयता कौन है यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये। इस ज्ञानशब्दकी 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यों भावमें व्युत्पत्ति करनी चाहिये अथवा 'ज्ञायतेऽनेन तत् ज्ञानम्' यों करणमें ? ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्र, 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यों भावमें व्यु-

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तत्कथमयं ज्ञानज्ञेयादिविभ्रमः ।
सिद्धः शशविषाणाभो भविष्यद्भूतभव्यशः ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

बाह्यार्थभ्रान्तितो ज्ञेया भ्रमबुद्धिरिहोदिता ।
बाह्यश्चाऽऽभ्यन्तरश्चाऽर्थो न संभवति कश्चन ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

योऽयं प्रत्यक्षदृश्योऽर्थो मुने त्वमहमादिकः ।
भूतादिरनुभूतात्मा स कथं नाऽस्ति मे वद ॥ १० ॥

स्वच्छ ज्ञान केवल बोधमात्ररूप है। पवन और स्पन्दके समान ज्ञान और ज्ञेयका भेद नहीं है। श्रीवसिष्ठजीके उत्तरका भाव यह है कि भाव अर्थमें ही ज्ञान शब्दकी व्युत्पत्ति करनी चाहिये ज्ञेय जगद्रूपता ज्ञानका ही मायिक भेद है वह ज्ञानकी एकरसताका विघातक नहीं है ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे गुरुवर, यदि ऐसी बात है तो ज्ञान, ज्ञेय आदि भ्रम कैसे सिद्ध हुआ? वह ज्ञानका ज्ञेय जगद्रूपताभूत विकल्प शशके सींगोंकी तरह है। वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे भूत, वर्तमान और भविष्यत् विभागोंसे व्यवहार योग्य कैसे मालूम होता है? ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, बाहरी पदार्थोंकी भ्रान्तिसे यहांपर भ्रमबुद्धि उदित हुई यह जानना चाहिये। बाह्य और आभ्यन्तर किसी भी पदार्थका सम्भव नहीं है। भाव यह कि असत्ता अभान अथवा अर्थक्रियाकी असामर्थ्यमें कारण नहीं है क्योंकि स्वप्न और भ्रान्ति ज्ञानमें हजारों असत् पदार्थोंमें भान और अर्थक्रिया सामर्थ्य देखी जाती है, किन्तु बाध ही अभाव और अर्थक्रियाकी असामर्थ्यमें प्रयोजन है। बाध विचारवानोंको प्रत्यक्ष ही है ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, जो यह प्रत्यक्ष दृश्य त्वम्, अहम् आदि भूतादि अर्थ अनुभूत है वह कैसे नहीं है यह मुझसे कहिये यानी लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध पदार्थका अपलाप कैसे संभव है? यह कहनेकी कृपा करें ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

आदिसर्गविधावेव विराडात्मादिकोऽनघ ।
जातो न कश्चिदेवाऽर्थो ज्ञेयस्याऽतो न संभवः ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

भविष्यद्भूतभव्यस्था जगद्दृष्टिरियं मुने ।
नित्यानुभूयमानाऽपि न जातेति किमुच्यते ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्वप्नार्थमृगतृष्णाम्बुद्वीन्दुसंकल्पितार्थवत् ।
मिथ्या जगदहं त्वं च भाति केशोण्ड्रकं यथा ॥ १३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप, आदि सृष्टिमें ही विराट् आदिरूप कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए ज्ञेयका संभव नहीं है। आदि सृष्टिमें जगत्की मायासे अतिरिक्त सामग्री कथमपि नहीं कही जा सकती, अतएव उस समय मायिक जगत् भ्रान्तिसे अतिरिक्त न था यह अवश्य मानना होगा इस समय भी वह वैसे ही भ्रान्तिमात्र ही है यह कहना होगा। रह गई लौकिक प्रत्यक्ष आदिकी बात सो वे केवल व्यवहारके अविसंवादसे चरितार्थ हैं, अतः तत्त्वपूर्ण युक्तियों और श्रुतियों द्वारा बाधित हो जाते हैं। इस विषयमें भगवती श्रुति भी है—'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता—यानी न विनाश है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है और न कोई साधक है एवं न कोई मुमुक्षु है और न मुक्त है यह परमार्थता है ॥११॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें स्थित यह जगद्दृष्टि, जिसका कि प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, उत्पन्न नहीं हुई यह आप क्या कहते हैं? भूत, भविष्यत् आदि अनन्त वस्तु गोचर अनन्त सर्वजनहित प्रत्यक्ष आदिका एक तत्त्वज्ञानसे कैसे बाध हो सकता है? यह श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका तात्पर्यार्थ है ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, स्वप्न पदार्थ, मृगतृष्णा, जल, द्विचन्द्र तथा संकल्पित पदार्थोंकी तरह अहं त्वम् आदि मिथ्या जगत् केशोण्ड्रकके समान स्फुरित होता है। उस प्रकारके अनन्त स्वाप्न ज्ञानोंका एक जागरणसे बाध दिखलाई देता है ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

अहं त्वमयमित्यादिजगज्जठरमप्यलम् ।
कथं न जातं भगवन्सर्गादावनुभूतिमत् ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कारणाज्जायते कार्यं नाऽन्यथेत्येव निश्चयः
सर्वोपशान्तौ जगतामुत्पत्तौ नास्ति कारणम् ॥ १५ ॥

श्रीराम उवाच

महाप्रलयसंपत्तौ शिष्टं यदजमव्ययम् ।
तत्कथं नाम सर्गस्य न भवेत्कारणं मुने ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदस्ति कारणे कार्यं तत्तस्मात्संप्रवर्तते ।
न त्वसज्जायते राम न घटाज्जायते पटः ॥ १७ ॥

श्रीराम उवाच

जगत्सूक्ष्मेण रूपेण महाप्रलय आगते ।
आस्ते ब्रह्मणि तत्तस्मात्पुनरेव प्रवर्तते ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! अहम्, त्वम्, अयम् इत्यादि पूर्णरूपसे अनुभूयमान जगज्जठर सर्गके आदिमें कैसे उत्पन्न नहीं हुआ ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है अन्यथा वह उत्पन्न नहीं होता यह ही निश्चय है प्रलयकालमें सबका विलय होनेपर जगतोंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं है ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, महाप्रलय होनेपर जो जन्म-नाशविहीन परमतत्त्व अवशिष्ट रहता है वह सृष्टिका कारण क्यों नहीं होगा ? ॥१६॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, कारणमें जो कार्य है वह उससे उत्पन्न होता है किन्तु कारणमें असत् कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है, घटसे पटकी उत्पत्ति कदापि नहीं होती है । भाव यह है कि ब्रह्म चिदेकरस है उसमें जगद्बीज शक्ति नहीं है ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, महाप्रलय होनेपर जगत् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें रहता है, वह उससे फिर उत्पन्न होता है । भाव यह कि जैसे

वसिष्ठ उवाच

महाप्रलयपर्यन्ते केन सर्गास्तिताऽनघ ।
अनुभूता महाबुद्धे तत्रस्था सा च कीदृशी ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

ज्ञप्त्यात्मिका श्रीस्तत्रस्था तादृशैरनुभूयते ।
व्योमात्मिका तु न भवेन्न सत्तामसदेति हि ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं चेत्तन्महाबाहो ज्ञप्तिरेव जगत्त्रयम् ।
विशुद्धज्ञानदेहस्य कुतो मरणजन्मनी ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

तदेवमाहितो नास्ति सर्गस्तदियमागता ।
कुतः कथमिव भ्रान्तिरिति मे भगवन् वद ॥ २२ ॥

सांख्योंके अभिमत गुणोंमें सूक्ष्मरूपसे जगत् रहता है वैसे ही ब्रह्ममें सूक्ष्मरूपसे जगत् रहे ॥ १८ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हे अनघ, महाप्रलय पर्यन्त उस ब्रह्ममें स्थित इस सर्गकी सत्ताका कौन अनुभव करता है और हे महाबुद्धे, वह सत्ता कैसी है ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—उस ब्रह्ममें स्थित ज्ञप्तिरूपा सत्ताका तो ज्ञानियोंसे अमुभव होता है और वह स्वयंप्रकाश चिद्रूपाभिन्न सत्ता ही उस समय रहती है मायाकाशरूपा नहीं रहती, क्योंकि मायाकाशरूप तो असत् जगत्सत्ताको कैसे प्राप्त हो सकता है ॥ २० ॥

वसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, यदि इस प्रकार चिद्रूप ही जगत्की सत्ता मानोगे तो ज्ञप्ति (चिद्रूप) ही यह तीनों लोक हैं। फिर विशुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्माके जनम, मरण आदि कैसे हो सकते हैं ? ॥ २१ ॥

श्री रामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, यदि सृष्टि उस ब्रह्ममें स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहांसे कैसे आ गई, यह मुझसे कहिए। अर्थात् यह जगत्का भ्रम क्यों होता है, यह तात्पर्य है ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

कार्यकारणताभावाद् भावाभावौ स्त एव नो ।
इदं च चेत्यते यद्यत्स्वात्मा चेतति चेतितम् ॥ २३ ॥

श्रीराम उवाच

चेतिता चेतति यन्त्रं द्रष्टा दृश्यत्वमीश्वरः ।
कथमेति कथं वह्निं दहत्काष्ठं कदा किल ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्रष्टा न याति दृश्यत्वं दृश्यस्याऽसंभवादतः ।
द्रष्टैव केवलो भाति सर्वात्मैकघनाकृतिः ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

चिन्मात्रं तदनाद्यन्तं चेत्यं चेतयते तदा ।
तदिदं जगदाभानं कुतः स्याच्चेत्यसंभवः ॥ २६ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, कार्यकारणताका अभाव होनेसे ब्रह्ममें न तो भाव (उत्पत्ति) है और न अभाव (प्रलय) ही, यह जो जगत् भासमान होता है, जिसको भासमान होता है और जिस रूपमें भासमान होता है वह (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी) केवल आत्मा ही है ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, यह असमंजस है, यन्त्रके सदृश इस अचेतन (कार्यकारणसंघ न देहेन्द्रियादि) रूपताको वह चेतिता (चेतना करने-वाला-चलानेवाला) कैसे प्राप्त कर सकता है। चैतन्यरूप सर्वद्रष्टा अचेतन (जड़) दृश्यत्वको कैसे प्राप्त हो सकता है । भला काष्ठ जो दाह्य (जलनेवाला) है वह दग्धा (जलानेवाला) होकर वह्निको दाह्य बनाकर कब और कैसे जला सकता है ॥२४॥

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, द्रष्टा दृश्यत्वको नहीं प्राप्त होता क्योंकि दृश्यका सर्वथा असम्भव है, इसलिए केवल द्रष्टा ही सर्वात्मा एकघनाकृति रूपसे भासमान होता है अतः कोई असामञ्जस्य नहीं प्रत्युत सब असामञ्जस्योंकी निवृत्ति ही हो जाती है ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सृष्टिके आदिमें अचेतित जगत्के भानकी सिद्धि नहीं है, अतः अनादि अनन्त शुद्ध चिन्मात्र ही सृष्टिके आदिमें जगत्का संकल्प करता है तब इस जगत्का भान होता है यह अवश्य मानना पड़ेगा । उस चिन्मात्रमें

वसिष्ठ उवाच

चेत्यं हि कारणाभावान्न संभवति किंचन ।
चेत्याभावाच्चेतनस्य मुक्तताऽवाच्यता सदा ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तदहन्तादि चेत्यं कथमिदं कुतः ।
कथं जगद्वेदनं च कथं स्पन्दादिवेदनम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

कारणासंभवादादावेवोत्पन्नं न किंचन ।
कुतश्चेत्यमतः शान्तं सर्वं सर्गस्तु विभ्रमः ॥ २९ ॥

श्रीराम उवाच

अत्र मे विगतोल्लेखे निश्चेत्यचलनादिके ।
सकृद्विभाते विमले विभ्रमः कस्य कीदृशः ॥ ३० ॥

चेत्यका संभव कैसे हो सकता है यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, कारणका अस्तित्व न होनेके कारण चेत्यका तनिक भी संभव नहीं है । चेत्यका अभाव होनेसे चेतनकी सदा मुक्तता तथा वर्णनातीतता सिद्ध हुई । उत्तरका भाव यह है कि चेत्य यदि सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होता तो वह किससे उत्पन्न हुआ इस प्रश्नका अवसर आता । अत्यन्त असंभूत बन्ध्यापुत्रकी उपपत्ति-जिज्ञासासे क्या प्रयोजन है ? नित्यमुक्त ही आत्माको स्वीकार करना चाहिये ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, यदि चेतनकी नित्य मुक्तता है तो यह अहन्ता आदि चेत्य कहांसे और कैसे है ? यह जगद्वेदन कैसे तथा स्पन्द आदिका ज्ञान कैसे है ? शङ्काका तात्पर्य यह है कि यदि नित्यमुक्तता है तो अहन्ताका प्रतिभास ही कदापि न होगा । इस तरह गुरु, शास्त्र आदिकी निष्फलता होगी ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, कारणका संभव न होनेके कारण सृष्टिके आदिमें कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ । ऐसी परिस्थितिमें चेत्यका संभव कहांसे होगा ? इसलिए सब कुछ शान्त है । सृष्टि तो रज्जुमें सर्पत्वभानकी तरह सीपमें रजतबुद्धिकी तरह तथा मरुमें जलभानकी तरह भ्रममात्र है ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, वचनोंके अगोचर, चेत्य और चलनादि

वसिष्ठ उवाच

कारणाभावतो राम नास्त्येव खलु विभ्रमः ।
सर्वं त्वमहमित्यादि शान्तमेकमनामयम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्भ्रममिवाऽऽपन्नः प्रष्टुं जानामि नाऽधिकम् ।
नाऽत्यन्तं च प्रबुद्धोऽस्मि पृच्छामि किमिहाऽधुना ॥ ३२ ॥

वसिष्ठ उवाच

कारणस्यैव निकषं पृच्छ मा कारणक्षयात् ।
परे स्वभावेऽनिर्वाच्ये स्वयं विश्रान्तिमेष्यसि ॥ ३३ ॥

क्रिया शून्य, सदा स्वप्रकाश, नित्यमुक्त, निर्विकार ब्रह्ममें भ्रम ही किसको, किस निमित्तसे तथा किस तरहका हो सकता है ? इस विषयमें मुझे उत्तर दीजिये । अद्वितीय द्वैतलेशका भी सहन नहीं कर सकता है, यह प्रश्नका भाव है ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, कारणका अभाव होनेसे सृष्टिरूप विशिष्ट भ्रमका अस्तित्व ही नहीं है । त्वम्, अहम् इत्यादि सब कुछ अद्वितीय निर्विकार शान्त ब्रह्म ही है । भाव यह कि शास्त्रोंके अनुशीलनसे ज्ञात ब्रह्म-तत्त्वकी दृष्टिसे विभ्रम भी अनुपपन्न हो, इससे कृतकृत्य शास्त्र विफल नहीं कहा जा सकता है, यह उत्तरका आशय है ॥ ३१ ॥

यों श्रीवसिष्ठजी द्वारा निरुत्तर किये किये गये श्रीरामचन्द्रजी प्रबोधकी दृढ़ताके अभावसे पूर्णरूपसे निस्सन्देह न होनेके कारण प्रश्न करनेमें अपनी अशक्ति ही दिखलाते हैं—**'ब्रह्मन्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, भ्रान्तिको जैसा प्राप्त हुआ मैं अब और क्या पूछूं यह नहीं जान रहा हूं । मैं पूर्णरूपसे प्रबोधवान् नहीं हुआ हूं इस विषयमें अब क्या पूछूं ॥ ३२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, निरुत्तर करनेके कारण केवल अप्रतिभासे प्रश्न करनेसे विरत न होओ, किन्तु प्रश्न करनेमें कारणभूत सन्देहबीजके निकषोपलके समान (कसौटीके तुल्य) सार और असारकी परीक्षाका स्थान मुझसे तबतक पूछते जाओ जबतक कि कारणका नाश होनेसे आप निश्शङ्क न होओ । तब क्रमसे प्रश्नके कारणभूत सन्देहोंका और उनके कारण अज्ञानका

श्रीराम उवाच

मन्येऽहंकारणाभावात्पूर्वमेव न सर्गता ।
उदिता तेन कस्याऽयं चेत्यचेतनविभ्रमः ॥ ३४ ॥

वसिष्ठ उवाच

अकारणत्वात्सर्वत्र शान्तत्वाद् भ्रान्तिरस्ति नो ।
अनभ्यासवशादेव न विश्राम्यति केवलम् ॥ ३५ ॥

श्रीराम उवाच

कुतो भवेदनभ्यासो भवेदभ्यसनं कुतः ।
कुतोऽभ्यासात्मिका भ्रान्तिरेषा पुनरुपस्थिता ॥ ३६ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनन्तत्वादनन्तस्य भ्रान्तिर्नाऽस्ति च संप्रति ।
अभ्यासभ्रान्तिरखिलं महाचिद्घनमक्षतम् ॥ ३७ ॥

पूर्णरूपसे विनाश होनेके कारण आप परम स्वभावमें विश्रान्तिको प्राप्त होओगे ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, कारणका अस्तित्व न होनेसे पहले सृष्टिके आदिमें ही सृष्टिका आविर्भाव नहीं हुआ यह आपका कहा हुआ सिद्धान्त यद्यपि मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ तथापि मेरा यह चेत्यचेतन भ्रम किसको है यह सन्देह नहीं मिट रहा है । इसका क्या कारण है ? ॥ ३४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, कारणका अस्तित्व न होने तथा सर्वत्र शान्त ब्रह्मकी सत्ता होनेसे दृश्य आदिकी भ्रान्ति नहीं है । आपको केवल अभ्यास न होनेके कारण ही परमपदमें विश्रान्ति नहीं प्राप्त हो रही है । यदि आप मेरे द्वारा वर्णित सिद्धान्तको जानते हैं तो अनभ्यासवश ज्ञानकी परिपक्वता न होनेसे परमपदमें अविश्रान्ति ही आपके वृथा विविध सन्देहोंकी जननी है, यह श्रीवसिष्ठजीके उत्तरका आशय है ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, कहाँसे अनभ्यास होगा, कहाँसे अभ्यास होगा तथा अभ्यासात्मक यह जगद्भ्रान्ति ही कहांसे उदित हुई है जब कि जगद्भ्रान्तिका कोई कारण ही नहीं है ॥ ३६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स, यथार्थतः कोई भ्रान्ति नहीं है। यद्यपि अनन्त (असीम परमब्रह्म) निज मायासे अनन्त भासता है उसीमें सम्पूर्ण अक्षत महा-

श्रीराम उवाच

उपदेश्योपदेशादावनया शब्दसंपदा ।
किमन्यद्वद मे ब्रह्मन्सर्वस्मिञ्छान्ततां गते ॥ ३८ ॥

वसिष्ठ उवाच

उपदेश्योपदेशात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ।
बोधात्मनि न मोक्षोऽस्ति न बन्धोऽस्तीति निश्चयः ॥ ३९ ॥

श्रीराम उवाच

देशकालक्रियाद्रव्यभेदवेदनचेतसाम् ।
सर्वस्याऽसंभवे सर्वसत्ता कथमुपस्थिता ॥ ४० ॥

वसिष्ठ उवाच

देशकालक्रियाद्रव्यभेदवेदनचेतसाम् ।
अज्ञानमात्रादितरा सत्ता नाऽन्याऽस्ति नो पुरा ॥ ४१ ॥

चिद्घन अभ्यासभ्रान्ति है। भाव यह कि जैसे जीवन्मुक्त पुरुषोंकी चिद्घनस्वरूप सकल वस्तुओंसे व्यवहार-प्रवृत्ति होती है वैसे ही आपकी भी उनसे अभ्यास-प्रवृत्ति हो, इसमें क्या क्षति है ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा— भगवन्, आप सरीखे जीवन्मुक्त पुरुषोंके इस सकल जगद्भ्रमके शान्त होनेपर इस अध्यात्मशास्त्ररूप शब्दसम्पत्तिसे उपदेशयोग्य हम लोगोंके उपदेश, कायप्रवेश, शक्तिपात आदि द्वारा प्रबोधन-रूप व्यवहारमें क्या कारण है? यह कहिये ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, हमारे सदृश जीवन्मुक्त लोगोंके उपदेश आदि सकल व्यवहाररूपसे ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्थित है। बोधात्मामें (चिदात्मामें) न मोक्ष है, न बन्धन है और न बन्धननिवृत्तिके उपाय हैं। यानी भिन्नवत् दिखाई देने-वाले बन्ध, मोक्ष और मुक्तिके उपायोंकी तत्त्वदृष्टिसे अत्यन्त अप्रसिद्धि है ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, देश, काल, क्रिया और द्रव्यका भेद-ज्ञान रखनेवाले अज्ञानियोंको सबका संभव न होनेसे यह जगद्दृष्टि कैसे उपस्थित हुई? भाव यह कि तब अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रख्यात यह जगत्सत्ता किस कारणसे उपस्थित हुई? ॥ ४० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जीवन्मुक्तिके पूर्व देश, काल, क्रिया और

श्रीराम उवाच

बोध्यबोधकतापत्तेरभावाद्बोधता कथम् ।
द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मन् कारणासंभवे सति ॥ ४२ ॥

वसिष्ठ उवाच

बोधेन बोधतामेति बोधशब्दस्तु बोध्यताम् ।
भवाद्विषयमेवाऽयमुचितो नाऽस्मदादिषु ॥ ४३ ॥

श्रीराम उवाच

बोध एव यदाऽहन्त्वमेति बोधान्यता तदा ।
कुत एषा परेऽनन्ते नाऽसावर्तिजलेऽमले ॥ ४४ ॥

द्रव्यके भेदज्ञानी अज्ञोंकी दृश्य सत्ता अज्ञानमात्रसे अन्य नहीं है यानी अज्ञानसे ही यह जगत्सत्ता उपस्थित है, इसका अन्य कारण नहीं है ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, तत्त्वदृष्टिसे कारणके अभावमें द्वैत और ऐक्यका संभव न होनेपर बोध्यबोधकताका अभाव होनेसे बोधता (ज्ञान) कैसे हो सकती है । जिसका बोध हो वह कर्म अवश्य होना चाहिये । लोकमें अकर्मक बोधशब्द प्रसिद्ध नहीं है ॥ ४२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, अज्ञात ब्रह्म बोधसे अपने अज्ञानविनाशरूप फलका आश्रय होनेसे बोधताको (बोधकर्मताको) प्राप्त होता है उसीसे बोध-शब्द भी बोध्यताको (बोधफलवत्तारूप सकर्मकताको) प्राप्त होता है । यह सब अज्ञानवान् जो आप लोग हैं आप लोगोंके विषयमें ही लागू होता है जीव-न्मुक्त हम लोगोंमें अज्ञान न रहनेके कारण बोधकी सकर्मकताका निरूपण नहीं किया जा सकता, यह भाव है ॥ ४३ ॥

श्रीरामचन्द्रने कहा—भगवन्, 'जीवन्मुक्त हम लोगोंमें नहीं' यह कह रहे आपने जीवन्मुक्तोंमें भी अस्मत्-शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत अहन्ता प्रदर्शित की है । और वह अहन्ता अबोधका कार्य नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उनमें अबोधकी प्रसिद्धि नहीं है । अतः बोध ही अहन्तारूप परिणामको प्राप्त होता है, यह कहना पड़ेगा । उस अवस्थामें उसकी बोधभिन्नताका निवारण करना कठिन ही नहीं असंभव है । यह

वसिष्ठ उवाच

यत्तद्बोधस्य बोधत्वं तदत्राऽहन्त्वमुच्यते ।
द्वित्वमत्राऽनिलस्पन्दयोरिव निगद्यते ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

सौम्याऽब्ध्यन्तस्तरङ्गादिर्यथाऽऽदत्ते यथास्थितम् ।
तथा स्वरूपमात्रात्म बोध्यं बोधोऽप्रबुद्धवान् ॥ ४६ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं चेत्तत्कथं कः स्याद्दोषो द्वित्वादिदोषनः ।
अनन्ते स्थित एकस्मिञ्छान्ते पूर्णे परे पदे ॥ ४७ ॥

श्रीराम उवाच

कोऽत्र कल्पयिताऽहन्त्वं भुङ्क्ते भोक्ता च कश्च वा ।
यन्मूलं यज्जगद्भ्रान्तिरनन्ता प्रविजृम्भते ॥ ४८ ॥

अहन्ता जब जीवाख्य पुरुष नहीं है तब इसका अनन्त त्रिविध परिच्छेदशून्य निर्मल चिन्मात्र आपमें कहाँसे संभव है ? ॥ ४४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, एकमात्र बोधस्वरूप हम लोगोंकी स्वरूपभूत जो बोधता है वही वायुके स्पन्दनकी तरह वैकल्पिक व्यपदेशसे हम लोगोंसे अहम् और त्वम् कही जाती है अज्ञानवान् अभिमानप्रधान पुरुषसे नहीं कही जाती है ॥ ४५ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, ऐसी यदि बात है तो जैसे शान्त सागरमें तरङ्ग आदि अपना आकार धारण करता है वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिमें स्वरूपमात्ररूप चिन्मय ही अहन्तादि रूप जगत् तथा बोध्य, बोध आदि त्रिपुटीका आकार धारण करता है, यह सिद्ध हुआ ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, यदि ऐसी स्थिति ही तत्त्व है तो 'द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मन् कारणासंभवे सति ।' यों आपने द्वित्व आदिकी प्रसक्तिसे जिस अद्वैतहानिरूप दोषका उद्घाटन किया वह कैसे होगा और क्या होगा ? इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं है । इस कारण आप शुद्ध अद्वैतका ही अवलम्बन कीजिए ॥ ४७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, तब शुद्ध अद्वैतपक्षमें पवनके स्पन्दकी

वसिष्ठ उवाच

ज्ञेयसत्तावबोधे हि बन्धनं तच्च नास्त्यलम् ।
ज्ञप्तेः सर्वार्थरूपत्वाद् बन्धमोक्षावतः कुतः ॥ ४९ ॥

श्रीराम उवाच

ज्ञप्तबाह्यार्थता दीपान्नीलादीव प्रवर्तते ।
बाह्यस्त्वर्थोऽस्ति सद्रूपो ननु दृष्टोपलम्भतः ॥ ५० ॥

वसिष्ठ उवाच

अकारणस्य कार्यस्य बाह्यस्याऽर्थस्य सत्यता ।
येयं सा भ्रान्तिमात्रात्मरूपिणी नेतराङ्गिका ॥ ५१ ॥

तरह अहन्ता विकल्पकी कल्पनाकर कौन व्यवहारका भोग करता है अथवा भोक्ता ही कौन है जिसके कारण यह अनन्त जगद्भ्रान्तिका उल्लास होता है। जगद्भ्रांन्ति विकल्पका भी वैसे निषेध न होनेपर फिर बन्धन और मोक्षकी कल्पना भी होगी ? यह श्रीरामजीके प्रश्नका आशय है ॥ ४८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, ज्ञेय अर्थमें सत्यताका आग्रह होनेपर पुनः बन्धनकी प्रसक्ति होती है। किन्तु तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह (ज्ञेय) निपट नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उसका बाध हो जाता है। ज्ञप्ति ही उनके प्रारब्ध-के भोगके लिए सकल पदार्थोंके आकारसे भासती है, इसलिए उनके पुनर्बन्धन आदिकी कल्पनाका प्रसंग नहीं है ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, ज्ञप्ति सर्वार्थरूपा नहीं है, क्योंकि जैसे प्रकाशक दीपक या नील, पीत आदि रूप या घट, पट आदि अपनी स्थिति को प्राप्त होते हैं वैसे ही ज्ञप्तिवश बाह्य घट, पट आदि पदार्थस्थिति प्रथित होती है अतः प्रत्यक्ष-रूपसे ग्रहण होनेसे बाह्य पदार्थोंकी चेतन से पृथक् सत्ता सिद्ध हो गई ॥ ५० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, कारण रहित बाह्यार्थरूप कार्यकी जो यह सत्यता है वह केवल भ्रान्तिरूपी है उसका, भ्रान्तिरूपसे अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है ॥ ५१ ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नः सत्योऽस्त्वसत्यो वा दुःखं तावत्प्रयच्छति ।
तथैवेयं जगद्भ्रान्तिः क उपायोऽत्र कथ्यताम् ॥ ५२ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं तावद्यथा स्वप्नस्तथेयं चेज्जगत्स्थितिः ।
तत्पिण्डग्रहताऽर्थानां सर्वैव भ्रान्तिनोदिता ॥ ५३ ॥

श्रीराम उवाच

किमेतावति संपन्ने संपन्नं भवति प्रियम् ।
कथं च शाम्यत्यर्थानां स्वप्नादौ पिण्डरूपता ॥ ५४ ॥

वसिष्ठ उवाच

पूर्वापरपरामर्शात्पिण्डताऽर्थेषु शाम्यति ।
स्वप्नेऽप्येवं स्थिते स्थूला भावना विनिवर्तते ॥ ५५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जबतक रहता है तबतक अर्थक्रिया-कारी होनेसे स्वप्न सत्य हो चाहे प्रबोधसे बाध्य होनेके कारण असत्य हो जबतक रहता है तबतक दुःख देता है वैसे ही यह जगद्भ्रान्ति जबतक रहती है तबतक दुःख देती है। इसकी चिकित्साका (निवृत्तिका) कौन उपाय है ? ॥ ५२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जैसा स्वप्न है, वैसी ही जगत्-स्थिति है यानी जगत्की स्वप्नतुल्यता है यह जब सिद्ध हो गया तब जैसे जागरण होनेपर स्वप्नके पदार्थोंका बाध हो जाता है वैसे ही आत्म-ज्ञान होनेपर जागतिक पदार्थोंमें पिण्डग्रहताका (साकारता यानी स्थूलताका) बाध हो जानेसे सब दुःख शान्त हो जाता है। ऐसी परिस्थितिमें पदार्थोंकी पिण्डग्रहता (स्थूलता) सारीकी सारी भ्रान्तिरूप ही है, यह बात अर्थतः कही ही गई है ॥५३॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, संसारको स्वप्नवत् एकमात्र मिथ्या माननेसे आनन्दावाप्तिरूप अभीष्ट कैसे सिद्ध होता है ? केवल मिथ्या ज्ञानसे स्वप्न आदिमें पदार्थोंकी पिण्डरूपता (साकारता) कैसे शान्त होती है ? ॥५४॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, अध्यात्मशास्त्रके पूर्वापरके विचारसे

श्रीराम उवाच

भावना तनुतां याता यस्यासौ किं प्रपश्यति ।
कथं शाम्यति तस्याऽयं संसारकुहरभ्रमः ॥ ५६ ॥

वसिष्ठ उवाच

उद्ध्वस्तमसदाभासमुत्पन्ननगरोपमम् ।
वर्षप्रोन्मृष्टचित्राभं जगत्पश्यत्यवासनः ॥ ५७ ॥

श्रीराम उवाच

ततः किं तस्य भवति वासानातानवे स्थिते ।
पिण्डग्रहे गतेऽर्थानां स्वप्नोपमजगत्स्थितेः ॥ ५८ ॥

श्रीराम उवाच

संकल्परूपजगतः क्रमात्माऽपि विलीयते ।
वासना तस्य तेनाऽऽशु स निर्वाति विवासनः ॥ ५९ ॥

ज्ञानोदय होनेपर पदार्थोंमें साकारता निवृत्त होती है और इसी प्रकार स्वप्नके पदार्थोंमें जाग्रत् होनेपर स्थूल भावना निवृत्त हो जाती है ॥ ५५ ॥

जिसकी अध्यात्मशास्त्रके पूर्वापरके पर्यालोचनसे जगत्स्थूलताकी भावना सूक्ष्मताको प्राप्त हो चुकी वह जीवन्मुक्त पुरुष जगत्को कैसा देखता है ? और उसकी यह संसारगर्तरूपी भ्रान्ति कैसे मिटती है ? ॥ ५६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, वासनाविहीन जीवन्मुक्त पुरुष जगत्को उजड़ा हुआ, असत्के सदृश, गन्धर्वनगरोपम और वृष्टिसे मिटाये गये चित्रके तुल्य देखता है ॥ ५७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, तदुपरान्त वासनाओंके सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेपर स्वप्नोपम जगत्स्थितिवाले जिस पुरुषकी दृष्टिमें जगत्के पदार्थोंकी स्थूलता विनष्ट हो चुकी उस जीवन्मुक्तका फिर क्या होता है ? ॥ ५८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्र, जो जगत्को संकल्परूप जानता है उस जीवन्मुक्त पुरुषकी वह अतिसूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं-के परिपाकक्रमसे विलीन हो जाती है। इससे वासनाविहीन हुआ वह शीघ्र निर्वाण पदको प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

श्रीराम उवाच

अनेकजन्मसंरूढा शाखाप्रसवशालिनी ।
भवबन्धकरी घोरा कथं शाम्यति वासना ॥ ६० ॥

वसिष्ठ उवाच

यथाभूतार्थविज्ञानाद् भ्रान्तिमात्रात्मनि स्थिते ।
पिण्डग्रहविमुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमात्क्षयः ॥ ६१ ॥

श्रीराम उवाच

पिण्डग्रहविमुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमान्मुने ।
संपद्यते किमपरं कथं शान्तिः प्रजायते ॥ ६२ ॥

वसिष्ठ उवाच

पिण्डग्रहभ्रमे शान्ते चित्तमात्रात्मतां गते ।
निरोधगौरवोन्मुक्ते जगत्यास्थोपशाम्यति ॥ ६३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, अनेक जन्म जन्मान्तरोंसे बद्धमूल, शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त, जन्म-मरणरूपी बन्धनमें डालनेवाली भीषण वासना कैसे शीघ्र शान्त हो जाती है ? ॥ ६० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स रघुवर, केवल भ्रममात्रस्वरूप यह दृश्यचक्र (संसारचक्र) यथार्थ तत्त्वज्ञानसे स्थूलाकारतासे विमुक्त हो जाता है यानी जले हुए वस्त्रके समान इसका केवल ढाँचा ही शेष रह जाता है । अवशिष्ट प्रारब्धके भोगके क्रमसे उसका भी विनाश हो जाता है ॥ ६१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, इस संसारचक्रके क्रमशः पिंडग्रह-विहीन (स्थूलाकारशून्य) होनेपर निर्विक्षेपताका साधक दूसरा क्या है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ? ॥ ६२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुपुङ्गव, साकारता भ्रमके निवृत्त होनेपर जब जगत् केवल चित्तमात्रताको प्राप्त हो जाता है, विनाशाभावरूप गौरवसे उन्मुक्त हो जाता है तब जगत्में भोगोंकी आस्थाका शमनरूप परम वैराग्य हो जाता है ॥ ६३ ॥

श्रीराम उवाच

बालसंकल्परूपेऽस्मिन्स्थिते जगति भासुरे ।
कथमास्थोपशमनं तादृग्दुःखाय किं नरः ॥ ६४ ॥

वसिष्ठ उवाच

संकल्पमात्रसंपन्ने नष्टे दुःखं कथं भवेत् ।
संकल्पचित्तमात्रं यत्तत्तावत्प्रविचार्यताम् ॥ ६५ ॥

श्रीराम उवाच

कीदृशं भगवंश्चित्तं कथं तत्प्रविचार्यते ।
किंच संपद्यते ब्रूहि तस्मिन्सम्यग्विचारिते ॥ ६६ ॥

वसिष्ठ उवाच

चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तमिति कथ्यते ।
विचार एष एवाऽस्य वासनाऽनेन शाम्यति ॥ ६७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा— हे मुनिश्रेष्ठ, बालकके संकल्पभूत अतितुच्छ-रूपसे स्थित देदीप्यमान इस जगत्में दुःखहेतुभूत आस्थाकी निवृत्ति कैसे होती है? अत्यन्त तुच्छ संकल्पवाला बालकरूप नर भी दुःखका अनुभव करता हुआ कैसे दिखाई देता है? ॥ ६४ ॥

अविचारसे तुच्छताका ज्ञान न होनेके कारण ही बालकको भी दुःख होता है, किन्तु विचार द्वारा तुच्छताका ज्ञान होनेपर उसके नाश आदिमें दुःख नहीं होता है यह आप भी विचार कीजिये, ऐसा कहते हैं— 'संकल्प' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा— संकल्पमात्रसे संपन्न जगत्के नष्ट होनेपर दुःख कैसे हो सकता है । जो जगत् संकल्पमात्र तथा चित्तमात्र है उस चित्तका आप भी विचार कीजिये ॥ ६५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, चित्त कैसा है कैसे उसका विचार किया जाता है? उक्त चित्तका भली भाँति विचार करनेपर क्या होता है? यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ६६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा— वत्स, चित्का जो विषयोंकी ओर झुकना है वही चित्त कहलाता है । इस समय मेरे सामने आपसे किया जा रहा महारामायण श्रवण ही इसका विचार है । इससे वासना निवृत्त हो जाती है ॥ ६७ ॥

श्रीराम उवाच

क्रियन्नाम भवेद् ब्रह्मन्नचेत्योन्मुखता चितेः ।
चित्तस्याऽचित्ततोदेति कथं निर्वाणकारिणी ॥ ६८ ॥

वसिष्ठ उवाच

चेत्यं न संभवत्येव चित्किं चेतयते कुतः ।
चेत्यासंभवतश्चित्तसत्ता नास्ति ततश्चिरम् ॥ ६९ ॥

श्रीराम उवाच

कथं न संभवत्येतच्चेत्यं यदनुभूयते ।
अपह्नवश्चाऽनुभवे क्रियते कथमीदृशः ॥ ७० ॥

वसिष्ठ उवाच

यादृक्स्यादज्ञविषयं जगत्तस्य न सत्यता ।
यादृक् च तज्ज्ञविषयं तदनाख्यं यदद्वयम् ॥ ७१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, चित्तके स्थितिकालमें चित्तके निरोधसे होनेवाली चित्की अचेत्योन्मुखता (परमात्माकी ओर प्रवण होना) कितने काल-तक रहेगी ? यानी बहुत थोड़े समय तक रहेगी, इसलिए निर्वाणपद प्रदान करने-वाली चित्तकी अचित्तता कैसे उदित होती है ? यह मुझसे कहिये यानी चित्तके नाशका ही उपाय मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ६८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चेत्यका जब संभव ही नहीं है तब चित् कैसे और कहाँसे चेत्यकी कल्पना करती है । इस कारण चेत्यके असंभवसे चित्तसत्ता नितरां नहीं है । चेत्यके असंभवके दर्शनसे चेत्यका परिमार्जन ही चित्तनाशका उत्तम उपाय है, यह श्रीवसिष्ठजीके उत्तरका आशय है ॥ ६९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जिस चेत्यका (दृश्यका) सबको अनु-भव होता है, उसका कैसे संभव नहीं है । सकल जनोंसे और अपनेसे अनुभूत विषयमें इस प्रकारका अपलाप आप कैसे करते हैं अर्थात् चेत्यका सर्वथा असंभव है तो लोगोंके अनुभवका विषय कौन होगा ? ॥ ७० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुवर, अज्ञानियोंका दृष्टिगोचर जैसा जगत है वह सत्य नहीं है, ज्ञानियोंका ज्ञानगोचर जो है वह अद्वितीय तथा वाणीका अगोचर

श्रीराम उवाच

त्रिजगत्कीदृगज्ञानां कथं तस्य न सत्यता ।
तज्ज्ञानां तु जगद्यादृक्तद्वक्तुं किं न युज्यते ॥ ७२ ॥

वसिष्ठ उवाच

आद्यन्तद्वैतमज्ञानां तज्ज्ञानां तन्न विद्यते ।
जगच्च नो संभवति नित्यानुत्पन्नमादितः ॥ ७३ ॥

श्रीराम उवाच

आदितो यदनुत्पन्नं न संभवति कर्हिचित् ।
असद्रूपमनाभासं कथं तदनुभूयते ॥ ७४ ॥

वसिष्ठ उवाच

असदेव सदाभासमनुत्पन्नमकारणम् ।
जाग्रत्स्वप्नवदुद्भूतमर्थकृच्चाऽनुभूयते ॥ ७५ ॥

है। भाव यह कि अज्ञपरिज्ञात भौतिक जगत्का अपलाप करनेपर उसकी (अज्ञकी) तत्त्वज्ञानियों द्वारा परिज्ञात नामरूप विहीन तत्त्ववस्तु विषय होगी ॥ ७१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अज्ञानियोंका त्रैलोक्य कैसा है और वह सत्य कैसे नहीं है? और ज्ञानियोंका जैसा जगत् है वह वाणीका विषय कैसे नहीं हो सकता है? ॥ ७२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, अज्ञानियोंका जो जगत् है वह देश, काल, और वस्तुकृत परिच्छेदसे युक्त है किन्तु उस तरहका यानी देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेदवाला जगत् ज्ञानियोंकी दृष्टिमें न इस समय है और न सृष्टिके आदिमें ही उसका संभव है, अतएव ज्ञानियोंकी दृष्टिमें वन्ध्यापुत्रके समान मिथ्या है॥७३॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जो जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न नहीं हुआ और जिसका कभी संभव नहीं है, जो असद्रूप और आभासशून्य है उसका अनुभव कैसे होता है? यदि वह अत्यन्त असत् है तो वह अर्थक्रिया समर्थरूपसे अनुभूत कैसे होता है, यह भाव है ॥ ७४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जाग्रत्-जगत् स्वप्न जगत्के समान असत् होता हुआ भी सत्सा प्रतीत होता है इसका कोई कारण नहीं है, यह कभी उत्पन्न

श्रीराम उवाच

स्वप्नादौ कल्पनादौ च यद्दृश्यमनुभूयते ।
तज्जाग्रद्रूपसंस्कारादनुष्ठानानुभूतितः ॥ ७६ ॥

वसिष्ठ उवाच

किं जाग्रद्रूपमाहोस्विदन्यत्स्वप्नेऽनुभूयते ।
संकल्पे च मनोराज्ये इति मे वद राघव ॥ ७७ ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नेषु कल्पनाद्येषु जाग्रदेवाऽवभासते ।
संस्कारात्मतया नित्यं मनोराज्यभ्रमेषु च ॥ ७८ ॥

वसिष्ठ उवाच

तदेव जाग्रत्संस्कारात्स्वप्नश्चेदवभासते ।
तत्स्वप्ने लुठितं गेहं कथं प्रातरवाप्यते ॥ ७९ ॥

नहीं हुआ है और स्वप्नके समान उद्भूत हुआ यह स्वप्नवत् अर्थक्रियाकारी भी प्रतीत होता है ॥ ७५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, स्वप्न आदिमें और मनोरथ, वितर्क आदिमें जो दृश्यका अनुभव होता है वह जगद्व्यवहारके अनुभवसे उत्पन्न जाग्रद्रूप संस्कारसे होता है, किन्तु यह जाग्रत् किससे अनुभवमें आता है ॥७६॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, संस्कारसे स्वप्नमें क्या जाग्रत्में प्रसिद्ध ही अर्थका अनुभव होता है अथवा अन्य अर्थका वैसे ही स्वप्न और मनोराज्यमें जाग्रत् प्रसिद्ध ही अर्थका अनुभव होता है अथवा अन्य पदार्थका यह मुझसे कहिये ॥ ७७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, स्वप्न और मनोराज्य आदि कल्पनाओंमें संस्काररूपसे जाग्रत्में प्रसिद्ध अर्थका ही नित्य भान होता है यही बात मनोरथ, भ्रम आदिमें भी समझनी चाहिये ॥ ७८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुनाथ, जाग्रत्के संस्कारसे जाग्रत्प्रसिद्ध अर्थका ही स्वप्नमें यदि भान होता है तो स्वप्नमें गिरा हुआ घर प्रातः काल जागनेपर कैसे प्राप्त होता है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत्के पदार्थोंके अभिन्न होनेपर स्वाप्न पातन जाग्रत्पातनरूप ही ठहरा, यह भाव है ॥ ७९ ॥

श्रीराम उवाच

न जाग्रद्राजते स्वप्ने तद्ब्रह्माऽन्यत्तदेव हि ।
बुद्धमेतत्कथं त्वन्यदपूर्वमिव भासते ॥ ८० ॥

वसिष्ठ उवाच

नाऽनुभूतोऽनुभूतश्च चेतस्यर्थोऽवभासते ।
सर्गाद्यन्तादिमध्येषु स्वभ्यस्तस्त्विति भासते ॥ ८१ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्वप्नात्मकं भाति जगदित्येव बुद्धवान् ।
गृहवत्स्वप्नयक्षोऽयं कथं ब्रह्मंश्चिकित्स्यते ॥ ८२ ॥

वसिष्ठ उवाच

योऽयं संसरणस्वप्नः स किंकारणको भवेत् ।
कार्यान्न कारणं भिन्नमिति दृष्टं विचारय ॥ ८३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा भगवन्, जाग्रत्पदार्थका स्वप्नमें भान नहीं होता, किन्तु अन्य अर्थ ही स्वप्नमें भासता है किन्तु वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है यह आपका अभिमत अर्थ मेरी समझमें आ गया है। किन्तु इतना सन्देह अभी शेष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म जगत्सा कैसे भासता है ॥ ८० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, सब कुछ अपूर्वसा भासित होता है ऐसा ही नियम नहीं है, किन्तु कोई अर्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ, चित्तमें अपूर्व प्रतीत होता है कोई तो जिसका पहले अनुभव हो चुका, अपूर्व प्रतीत नहीं होता और वह अनुभव जिस आकारसे सृष्टिके आदि, अन्त और मध्यमें अभ्यास होता है उस आकारसे भासता है। ब्रह्माकारताके अभ्यासके खूब अभ्यस्त होनेपर वैसे ही भासेगा, यह भाव है ॥ ८१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, इस प्रकारसे आपसे बोधित हुआ मैं जाग्रत् जगत् भी स्वप्न जगत्स्वरूप ही भासित होता है यों जान गया हूँ स्वप्नवत् ज्ञात हुआ भी यह जगद्रूपी पिशाच क्रूर ग्रहकी तरह मुझे दुःख देता है अतः किस तरह उसकी चिकित्सा की जाय यानी निवृत्ति की जाय ? ॥ ८२ ॥

उसके कारणकी विवेचना द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी स्वप्नसंसारका कारण पूछते हैं—**'योऽयम्'** इत्यादिसे ।

श्रीराम उवाच

चित्तं स्वप्नोपलम्भानां हेतुस्तस्मात्तदेव ते ।
विश्वं चाऽऽद्यन्तरहितमनासारमनामयम् ॥ ८४ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं चित्तं महाबुद्धे महाचिद्घनमेव तत् ।
तथा स्थितं न स्वप्नादि किंचनाऽस्तीतरात्मकम् ॥ ८५ ॥

श्रीराम उवाच

अवयवावयविनोर्यथा भिन्नस्तथा म हि ।
तत्राऽनवयवे ब्रह्मण्येकता जगदादिना ॥ ८६ ॥

श्रीसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो यह संसाररूपी स्वप्न है इसका कारण क्या है ? कार्यसे कारण भिन्न नहीं होता यह बात शतशः देखी गई है, इसीका आप विचार कीजिये ॥ ८३ ॥

चूँकि कारण चित्त ही है, अतएव स्वप्नज्ञान चित्तरूपी ही हैं वैसे ही आद्यन्त विहीन असार निर्विकार विश्व भी चित्त ही है ॥ ८४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महामते श्रीरामजी, चेत्यके उन्मुख चित् ही चित्त है यह बात मैं पीछे अनेक बार कह चुका हूं । ऐसी स्थितिमें चित्त महाचिद्घन ही है और वही जगत्के आकारकी तरह स्थित है यह सिद्ध हुआ । अतएव स्वप्न, जाग्रत् आदि कुछ भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ ८५ ॥

जब चित् जगत् है और विषयाभिमुख चित् ही चित्त है तब जैसा शाखा-प्रशाखारूप अवयव और वृक्षरूप अवयवीका भेदसहिष्णु अभेद है इसी प्रकार भेदाभेदसे ब्रह्ममें जगत् स्थित है ऐसा ही क्यों नहीं कहते हैं, स्वप्न आदि कुछ नहीं है यों निषेध क्यों करते हैं? ऐसी श्रीरामजी शङ्का करते हैं—'अवयवा०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जैसे शाखादि अवयवों और वृक्षरूप अवयवीका तादात्म्यरूप एकता (अभेद) भेदसहिष्णु है वैसे ही चित्त और जगत्का भी तादात्म्यरूप अभेद भेदसहिष्णु हो। उस स्थितिमें समष्टिचित्तरूप जगत् आदिसे अवयव रहित ब्रह्ममें एकता हो ॥ ८६ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं न संभवत्येव नित्यानुत्पन्नमादितः ।
जगत्तेनाऽजरं शान्तमजं सर्वमवेक्षितम् ॥ ८७ ॥

श्रीराम उवाच

काकतालीयवन्मन्ये सर्गाद्यन्तादयो भ्रमाः ।
भ्रान्तिद्रष्टृत्वभोक्तृत्वसहिताः परमे पदे ॥ ८८ ॥

वसिष्ठ उवाच

या व्यापारवती रसाद्रसयितुं
काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ-
विषयोन्मेषा च वैपश्चिती

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी कल्पना कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि विचार-विमर्श किया जाय तो सृष्टिके आरम्भमें जगत् कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, इसलिए भासित हो रहा यह सब प्रपञ्च अजर, शान्त, अजन्मा, अखण्ड परमात्मरूप ही है ॥ ८७ ॥

श्री रामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपके सदुपदेशसे मैं यह मानता हूँ कि भ्रान्तिसे द्रष्टृत्व और भोक्तृत्व आदि सहित सृष्टिके जन्म, नाश आदि भ्रम परम पदरूप ब्रह्ममें काकतालीयन्यायसे अकस्मात् उदित हुए हैं ॥ ८८ ॥

इस प्रकार जगत् केवल भ्रान्ति ही है, यों निश्चय कर चुके श्रीरामचन्द्रजीके प्रति जगत् सादि है इस भ्रान्तिमय दृष्टिका यौक्तिकदृष्टि और तत्त्वदृष्टि मूलक शास्त्रीयविचारसे मैं निराकरण कर चुका हूं, यों श्रीवसिष्ठजी सर्गका उपसंहार करते हैं—'या' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, लोकमें तीन प्रकारकी दृष्टियाँ प्रसिद्ध हैं—(१) पामरदृष्टि, (२) यौक्तिकदृष्टि और (३) तत्त्वदृष्टि । उनमें से प्रथम दृष्टिका दूसरी और तीसरी दो दृष्टियोंसे खंडन करना चाहिये और अन्तमें दूसरी दृष्टिका तीसरी यानी तत्त्वदृष्टिसे खण्डन करना चाहिये । इस अभिप्रायसे पिछली दो दृष्टियोंका अवलम्बन कर मैंने इस समग्र विश्वका यथार्थरूपसे अवलोकन किया है । दो दृष्टि-

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विभ्रम-
खिलं निर्वर्णितं निर्वृतं
यावद्दृष्टिदृशो न सन्ति कलिता
नो शून्यता नो भ्रमः ॥ ९० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि उ० रामविश्रान्तिर्नाम नवत्यधिकशतमः सर्गः ॥ १९० ॥

योंमें सारमें से भी निर्मथन करके मुख्य सारभूत पदार्थका ग्रहण करनेमें समर्थ तथा प्रमाण और प्रमेय तत्त्वकी परीक्षा करनेमें कुशल विद्वानोंकी दृढ़तर विचार करनेवाली अति निष्कर्षभूत होनेसे अभिनव (नवीन) जो लोकोत्तर दृष्टि है वह पहली है और अध्यात्मशास्त्रके श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिके परिपाकसे सिद्ध परम-तत्त्वरूप अर्थमात्रका अपरोक्षरूपसे जिसमें स्फुरण होता है ऐसी जीवन्मुक्त पुरुषोंमें पाई जानेवाली दृष्टि दूसरी है। उक्त दो दृष्टियोंका अवलम्बन करके इस शास्त्रमें मैंने तबतक निरीक्षण किया है जबतक कि सकल दृष्टियाँ, द्रष्टा, जीव तीनों कालोंमें नहीं रहे, जगत्की शून्यताका भी ग्रहण नहीं हुआ और भ्रमका ज्ञान भी नहीं हुआ एवं जबतक नित्य अपरोक्ष परमानन्दरूप ब्रह्मात्मैक्यवस्तु स्थित नहीं हुई ॥ ८९ ॥

एक सौ नब्बे सर्ग समाप्त



एकनवत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तन्मुनिश्रेष्ठ परमार्थमयं जगत् ।
सर्वदा सर्वभावात्मा नोदेति न च शाम्यति ॥ १ ॥
भ्रान्तिरेवेयमाभाति जगदाभासरूपिणी ।
भ्रान्तिरेवाऽपि वा नैव ब्रह्मसत्तैव केवला ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

काकतालीयवद् ब्रह्म यद् भातीवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
स तेनैवाऽऽत्मनाऽऽत्मैव जगदित्यवबुध्यते ॥ ३ ॥

एक सौ एकानबे सर्ग

[अज्ञानसे ब्रह्मका ही जगत्‌रूपसे जैसे भान होता है तथा प्रबुद्धमात्रका जैसे परमपद-स्थितिरूप निर्वाण होता है, इस विषयका भली भाँति वर्णन]

पूर्वसर्गमें वर्णित रीतिसे प्रबोधको प्राप्त हुए श्रीरामचन्द्रजी सिद्धान्त पक्षको स्वीकार कर कहते हैं—**'एवं चेत्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, ऐसी यदि बात है तो परतत्त्व विवर्तभूत यह जगत् सदा सर्वपदार्थात्मा ब्रह्म ही है। यह न कभी उदित होता है और न कभी नष्ट होता है ॥ १ ॥

यौक्तिक दृष्टिसे जगदाकार दिखाई देनेवाली यह भ्रान्ति (विक्षेपशक्ति प्रधान अविद्या) ही स्फुरित होती है। तत्त्वदृष्टिसे तो वह भ्रान्ति भी नहीं ही है, केवल ब्रह्मसत्ता ही है ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके कथनका अनुमोदन कर रहे श्रीवसिष्ठजी वही कहते हैं—**'काकतालीय०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, आपने ठीक समझा है। काकतालीयके समान अतर्कनीय अविद्यासे अपनेमें अपनेसे जिस ब्रह्मका भान होता है जीवभूत उसी ब्रह्मसे आत्मा ही (स्वरूप ही) 'जगत्' जाना जाता है ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

कथं तपत्यहोऽदिकं सर्गस्याऽऽदौ परत्र च ।
कथं भित्त्या विना भाति वद दीपप्रभा शुभे ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्थंरूपमिदं भाति चितिरूपप्रभाप्रभा ।
पश्य सैवाऽऽत्मनाऽऽस्ते यत्प्रकाशादिभिरेव च ॥ ५ ॥
भित्तौ प्रकाशो भातीव तत्कुड्यं भासनं च तत् ।
दृश्यस्याऽसंभवादादौ वक्ता द्रष्टा प्रदृश्यताम् ॥ ६ ॥

महाप्रलयकालमें अपने अवलम्बनभूत दिग्विभागके विना अपरिच्छिन्न चित्प्रकाशकी असंभावना कर रहेसे श्रीरामजी विस्मयपूर्वक पूछते हैं—**'कथम्'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अविच्छिन्न चित्प्रकाश दिग्विभागके बिना सृष्टिके आदिमें, प्रलयकालमें और मोक्षमें कैसे प्रकाशित होता है, यह महान् आश्चर्य है। आलम्बनरूप भित्तिके (दीवारके) बिना भला दीपप्रभाका कैसे भान होता है। भाव यह कि आलम्बनके विना जैसे प्रभाकी प्रथाका असंभव है वैसे ही दिग्विभागरूप आलम्बनके बिना परमात्माकी भी प्रथा असंभाव्य है ॥४॥

अन्यत्र न देखे गये (उदाहरणशून्य) अत्यन्त आश्चर्यभूत इसकी प्रमाणानुभवके बलसे संभावना करनी चाहिये यों श्रीवसिष्ठजी संभावना करते हैं—**'इत्थं रूपम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यह इस प्रकारका यानी अत्यन्त आश्चर्यरूप ही है, क्योंकि 'विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' (सर्वव्यापक चिदानन्दस्वरूप रूपरहित अद्भुत) ऐसी श्रुति है और 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (कोई इसे आश्चर्यसा देखता है) यों भगवान्का वाक्य है तथापि असंभावना नहीं करनी चाहिये। अन्वय और व्यतिरेकरूपसे परीक्षा कर आप देखिये। क्योंकि वही चितिरूप सूर्यादि प्रभाकी भी प्रभा अन्धकार कालमें अपनेसे ही प्रथित होती रहती है। सूर्योदय होनेके बाद प्रकाश आदिके साथ भी वह रहती है ॥ ५॥

सूर्यादिका प्रकाश भी भित्ति आदिमें निरपेक्ष स्वभाववाला होकर भित्तिमें प्रकाशितसा होता है। उसकी प्रकाशतामें भित्तिका कोई हाथ नहीं है। बल्कि भित्ति और भित्तिका भासना उसकी स्वप्रकाशताके बलसे ही होता है।

तस्माद्द्रष्टाऽस्ति नो दृश्यं नैवाऽस्तीदमनामयम् ।
चित्प्रभैवाऽऽत्मना भित्तिर्भवत्याभासनं तथा ॥ ७ ॥
द्रष्टृदृश्यात्मिकैकैव स्वात्मनैव विराजते ।
स्वप्नादिषु यथेहाऽद्य द्रष्टृदृश्यात्मिका सती ॥ ८ ॥
चित्प्रभैव हि सर्गादौ कचन्ती भाति सर्गवत् ।
भासनीयं च भानं च रूपं यत्र स्वयंप्रभा ॥ ९ ॥
एकैव चित् त्रयं भूत्वा सर्गादौ भाति सर्गवत् ।
एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा ॥ १० ॥

प्रकाशकी स्वरसतासे ही भित्तिकी प्रतीति होती है। वहाँपर जैसे भित्ति आदिके सम्बन्धसे पहले आकाशमें प्रकाश दिखाई देता है जैसे सृष्टिके आदिमें और प्रलयमें भी वक्ता श्रोता इस निर्विषय आत्माको ही आप देखिये ॥ ६ ॥

इस तरह निरालम्ब चित्की संभावनाकी सिद्धि होनेसे वही सृष्टिके आदिमें जगत्के आकारसे सम्पन्न हुई यह आप संभावना कीजिये, ऐसा कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इसलिए न द्रष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि त्रिपुटी कुछ नहीं है केवल निर्विकार चिदाकाश ही है। चित्प्रभा ही अपनेसे भित्ति (मूर्त आलम्बन) तथा उसका भासन आदि रूप धारण करती है ॥ ७ ॥

एक रूप ही चित्की द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप त्रिपुटी स्वप्न आदिमें भी प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं —'द्रष्टृ०' इत्यादिसे ।

जैसे एक ही चित्प्रभा स्वप्न आदिमें द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटीरूप होती है वैसे ही जाग्रत्में भी एकमात्ररूपा वह चित् द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटीको धारण कर विराजमान होती है ॥ ८ ॥

जिस सृष्टिकालमें भासने योग्य पदार्थ, भान तथा भासयित्री (भासिका) स्वयं चित्प्रभा ही है उस सर्गादिमें सृष्टिके तुल्य भास रही चित्प्रभा ही विराजमान है ॥ ९ ॥

एक ही चित्प्रभा द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन यों त्रिपुटीरूप होकर सृष्टिके आदिमें सृष्टिके सदृश स्फुरित होती है। इसका (चित्का) यही स्वभाव (मायाशक्ति) है कि यह इस तरह देदीप्यमान रूपमें भासित होती है ॥ १० ॥

एतत्तु स्वप्नसंकल्पननगरेष्वनुभूयते ।
इत्थंनाम तपत्येषा चिद्दीप्तिः प्रथमोदिता ॥ ११ ॥
नभस्येव नभोरूपा यदिदं भासते जगत् ।
अनाद्यन्तमिदं तस्याः सर्गाः सर्गात्मभासनम् ॥ १२ ॥
स्वभावभूतमस्माकं त्विदं भाति महात्मनाम् ।
भास्यभासकसंवित्तिर्नश्यति प्रतिभासिता ॥ १३ ॥
तदा तु नाम सर्गादौ नाऽऽसीद् भास्यो न भासकः ।
मिथ्याज्ञानवशादेव स्थाणौ पुंस्प्रत्ययो यथा ॥ १४ ॥
तथाऽऽत्मनि द्विताभानाच्चित्ते द्वैतविभासनम् ।
सर्गादौ न च भास्योऽस्ति न च वा नाऽस्ति भासकः ॥ १५ ॥

यह बात जाग्रत्में ही नहीं अपि तु स्वप्न, संकल्प (मनोराज्य) और गन्धर्वनगरमें भी अनुभवमें आती है यानी वहां भी एक ही चित् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य होकर स्फुरित होती है । प्रथम उदित हुई यह चित्प्रभा इस प्रकार प्रकाशित होती है ॥ ११ ॥

अपने चिदाकाशरूपमें चिदाकाशस्वरूपा यह इस जगत्के रूपसे भासती है । सृष्टिरूपसे इसका जो यह आदि-अन्तशून्य भान है वही सृष्टियां हैं ॥ १२ ॥

अज्ञानियोंको ही यह आश्चर्यवत् मालूम होती है हम ज्ञानियोंका तो यह स्वभावभूत ही है आश्चर्यवत् नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'स्वभावभूतम्'** इत्यादिसे ।

अज्ञानी लोगोंको ही यह सृष्टि आश्चर्यके तुल्य प्रतीत होती है, किन्तु हमारे सदृश ज्ञानियोंकी दृष्टिमें तो यह स्वभावभूत (ब्रह्मरूप) ही है, क्योंकि कदाचित् अकस्मात् इस भास्य-भासक-भानरूप त्रिपुटीके हम लोगोंकी दृष्टिमें प्रतिभात होनेपर भी तत्त्वज्ञानके अनुसन्धानसे वह शीघ्र ही मिट जाती है ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञानका अनुसन्धान कैसे होता है ? इस प्रश्नपर तत्त्वज्ञानका अनुसन्धान कहते हैं—**'तदा तु'** इत्यादिसे ।

कारणाभावतोऽद्वैतं चिद्व्योमाऽऽभाति केवलम् ।
किं नाम कारणं ब्रूहि सर्गादौ चिति वस्तुतः ॥ १६ ॥
अभावादर्थदृष्टीनां चिदेवेत्थं प्रकाशते ।
जगद्भानमिदं यत्तन्न जाग्रन्न सुषुप्तकम् ॥ १७ ॥
न स्वप्नोऽसंभवाद् दृश्यं केवलं ब्रह्म भासते ।
चिन्मात्रव्योम सर्गादावित्थं कचकचायते ॥ १८ ॥
यत्स्वमेव वपुर्वेत्ति जगदित्यजगन्मयम् ।
चिन्मात्रव्योम सर्गादावित्थं भाति विकासनम् ॥ १९ ॥
यदिदं जगदित्येव शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥ २० ॥
बुद्ध्वा च यावत्स्वनुभूतियुक्तं
स्थातव्यमेतेन विकल्पमुक्तम् ।

उस समय सर्गके आदिमें न दृश्य था, न दर्शक था और न दर्शन ही था । मिथ्याज्ञानके कारण ही जैसे स्थाणुमें पुरुषप्रतीति होती है वैसे ही आत्मामें द्वैतका भान होनेके कारण चित्तमें भेदका भान होता है सृष्टिके आदिमें भास्य आदि नहीं है भासक चिदात्मा तो अवश्य है । उस समय कारणका अभाव होनेसे केवल चिदाकाश ही द्वैतके रूपमें भासता है । भला बतलाइये तो सृष्टिके आदिमें शुद्ध चेतनमें वस्तुतः क्या कारण हो सकता है? पदार्थ-दृष्टिके अभावसे चित् ही इस प्रकार जगत्‌के रूपसे प्रकाशित होती है । जो यह जगत्‌का भान है, यह न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है और न स्वप्न है, किन्तु तुरीय चित् ही यों प्रकाशित होती है । दृश्यका कथमपि संभव न होनेसे केवल ब्रह्म ही द्वैतके रूपसे भासता है ॥१४-१८॥

जो चिदाकाशस्वरूप परमात्मा अजगन्मय अपने ही स्वरूपको जगत् जानता है वही सृष्टिके आरम्भमें इस प्रकार जगत्‌के रूपसे भासता है । जो यह जगत् है वह परमात्मा ही है। शून्यता और आकाशके भेद विकल्पके विकासनके समान जगत् और परमात्माका भेद विकल्प विकासन अज्ञान विजृम्भित है ॥१९,२०॥

वर्णित तत्त्वज्ञानुसन्धान प्रकारका उपसंहार करते हैं—'बुद्ध्वा' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानानुसन्धानोपायसे तत्त्वका ज्ञान प्राप्तकर जब तक भूमिकाओंके परिपाकके क्रमसे यह सुन्दर अनुभवसे युक्त हो दृढ़ नहीं होता है तब तक विकल्पमुक्त होकर पाषाणकी तरह सकल

पाषाणमौनं कुजनेन तूक्तं
न ग्राह्यमज्ञेन हि भुक्तमुक्तम् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम० वा० मो० नि० उ० महावादबोधनं (तत्त्वानुसंधानं) नामैकनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अहो नु सुचिरं कालं संभ्रान्ता वयमन्तरे ।
अपरिज्ञातमात्रेण संसारपरमाम्बरे ॥ १ ॥
बुद्धे यावदियं नाम जगद्भ्रान्तिर्न किंचन ।
न चाऽभून्न च वाऽस्तीयं न च नाम भविष्यति ॥ २ ॥

व्यापारोंको त्यागकर रहना चाहिये । अनादि संसारमें बार बार भोगे हुए इस कालमें वैराग्यातिशय वश त्यागे हुए बाह्य विषयका अज्ञानी कुपुरुष द्वारा इसका भोग करो यों कहनेपर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

एक सौ एकानबे सर्ग समाप्त

एक सौ बानबे सर्ग

[प्रबुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजीका अपने प्रबोधको श्रीवसिष्ठजीकी शुभसन्निधिमें—जैसा यह चिन्मात्र है वैसा—विस्तारसे कथन]

सकल सन्देहोंकी निवृत्ति होनेसे भली भाँति प्रबुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी जैसे सोकर जागा हुआ पुरुष स्वप्नभ्रान्तिका स्मरण करता है वैसे ही संसार-भ्रान्तिका आश्चर्यरूपसे स्मरण करते हुए कहते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे गुरुवर, महान् आश्चर्य है हम लोग चिरकाल तक संसाररूप निःसीम आकाशमें वर्त्तमान इस ब्रह्माण्डके एक प्रदेशमें एकमात्र आत्मतत्त्वके अपरिज्ञात होनेके कारण भ्रान्तिमें पड़े हैं ॥ १ ॥

किन्तु आत्मतत्त्वके परिज्ञात होनेपर यह सम्पूर्ण जगद्भ्रान्ति कुछ भी नहीं है । न तो यह कभी हुई, न है और न होगी । बृहदारण्यवार्तिकमें

सर्वं शान्तं निरालम्बं विज्ञानं केवलं स्थितम् ।
अनन्तं चिद्घनं व्योम नीरागमपकल्पनम् ॥ ३ ॥
परमाकाशमेवेदमपरिज्ञातमात्रकम् ।
संसारतामिवाऽस्माकं गतं चित्रमहो नु भोः ॥ ४ ॥
इत्थं द्वैतमिदं भातमिमे लोका इमेऽद्रयः ।
परमाकाशमित्यच्छमेवाऽनच्छमिव स्थितम् ॥ ५ ॥
सर्गादौ परलोकादौ स्वप्नादौ कल्पनादिके ।
चिदेव चेत्यवद् भाति कुतोऽन्या किल दृश्यधीः ॥ ६ ॥
स्वर्गे वा नरके वाऽपि स्थितोऽस्मीति मतिर्यदि ।
तत्तस्या नरकस्याऽन्तो दृश्यं संविन्मयात्मकम् ॥ ७ ॥

श्रीसुरेश्वराचार्यजीने कहा है—'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥'—अर्थात् 'तत् त्वमसि' इत्यादि वेदान्त वाक्योंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे उत्पन्न सम्यक् ज्ञानके (तत्त्वबोधके) जन्ममात्रसे अपने कार्यभूत जगत्के साथ अविद्या (भ्रान्ति) नहीं थी, न है और न भविष्यमें रहेगी ॥ २ ॥

यह सारा जगत् शान्त, आलम्बन रहित, विज्ञानघन, असीम, कल्पना-शून्य, नीराग, अद्वितीय, चिद्घनाकाश ही स्थित है ॥ ३ ॥

हे गुरुवर, यथार्थरूपसे अपरिज्ञात यह परमाकाश ही हम लोगोंकी दृष्टिमें संसारसदृश बन गया है, यह महान् आश्चर्य है ॥ ४ ॥

अत्यन्त सुनिर्मल चिदाकाशका ही ये लोक हैं, ये पर्वत हैं इस प्रकार द्वैत-रूपसे भान हुआ है। निर्मल परमाकाश ही अनिर्मलसा होकर द्वैतरूपसे स्थित है ॥५॥

हे भगवन्, सृष्टिके आदिमें, परलोक आदिमें, स्वप्न आदिमें, काव्यरच-नामें तथा मनोराज्य आदिमें चित्का ही चेत्यकी भाँति भान होता है। अन्य दृश्यका कहाँसे संभव है ? ॥ ६ ॥

मैं नरकमें स्थित हूँ अथवा स्वर्गमें स्थित हूँ ऐसी यदि पुरुषको भ्रान्ति हो तो उस भ्रान्तिके कारण ही उसको नरकबन्धन अथवा स्वर्गबन्धन प्राप्त होता है, अतः स्वर्ग या नरक रूप दृश्य संविन्मय (काल्पनिक) ही है ॥ ७ ॥

नेदं दृश्यं न च द्रष्टा न सर्गो न जगन्न चित् ।
न जाग्रत्स्वप्नसिद्धादि किमपीदं तदप्यसत् ॥ ८ ॥
कुतोऽस्याः संभवो भ्रान्तेरिति चेद्दृश्यते मुने ।
तदेतदपि नो युक्तं भ्रान्त्यभावानुभूतितः ॥ ९ ॥
भ्रान्तिर्न संभवत्येव निर्विकारे ज्ञतापदे ।
यच्चिदं भ्रान्तिताज्ञानं तत्तदेवेतरन्न तत् ॥ १० ॥
निरन्तरे निराद्यन्ते व्योम्नि शैलोदरेऽथवा ।
कुतोऽन्यताकल्पकं स्याज्ज्ञपदे चाऽविकारिणि ॥ ११ ॥
मिथ्यैवाऽनुभवो भ्रान्तेः स्वप्ने स्वमरणोपमः ।
यदनालोकनं नाम शाम्यतीदं विलोकनात् ॥ १२ ॥
मृगतृष्णाम्बुगन्धर्वनगरद्वीन्दुविभ्रमः ।
तथा विद्याभ्रमश्चाऽयं विचारान्नोपलभ्यते ॥ १३ ॥

न यह दृश्य है, न द्रष्टा जीव है, न सृष्टि है, न जगत् है, न चिदाभास है और न जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि ही हैं। जो कुछ भी यह अज्ञानियोंका दृग्-विषय अविद्या अथवा अविद्याकार्य है वह भी सब शशशृङ्गवत् असत् है ॥८॥

हे मुनिनायक, इस भ्रान्तिकी कहाँसे उत्पत्ति होती है ऐसी यदि आलोचना की जाय तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्तिके अभावका अनुभव होनेसे यानी भ्रान्तिके असत् होनेसे उसके कारणका विचार करना कहाँ उचित है ?॥९॥

विकारविहीन तत्त्वज्ञानके आस्पदमें भ्रान्तिका कदापि संभव नहीं है। जो कुछ भी यह भ्रमज्ञान है वह भी चित्स्वरूप परमात्मा ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥ १० ॥

निरवकाश आदि-अन्तशून्य (असीम) आकाशमें या पर्वतके (चट्टानके) मध्यमें अथवा स्फटिक शिलाके गर्भमें और निर्विकार ज्ञानरूप परमपदमें भेदकी कल्पना करनेवाला अन्य कौन हो सकता है ? ॥ ११ ॥

ब्रह्मन्, स्वप्नमें अपने मरणके अनुभवकी तरह भ्रान्तिका अनुभव मिथ्या ही है उक्त भ्रमानुभव—अविचारजनित है विचार करनेसे इसकी शान्ति हो जाती है ॥ १२ ॥

जैसे मृगतृष्णा जल, गन्धर्वनगर और द्विचन्द्रका भ्रम विचार करनेसे

बालवेतालवद् भ्रान्तिर्न विद्या जाग्रगाऽपि हि ।
अविचारेण संरूढा विचारेणोपशाम्यति ॥ १४ ॥
कुत आसीदिति मुने नाऽत्र प्रश्नो विराजते ।
सत एव विचारेण लाभो भवति नाऽसतः ॥ १५ ॥
प्रामाणिकविचारेण प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
तदेतदसदेवाऽऽदि तत्तदनुभवो भ्रमः ॥ १६ ॥
यन्नास्तीति परिच्छिन्नं प्रमाणैः सुविचारितम् ।
खपुष्पशशशृङ्गाभं तत्कथं लभ्यतेऽसतः ॥ १७ ॥
सर्वतः प्रेक्ष्यमाणोऽपि यः कुतश्चिन्न लभ्यते ।
तस्य स्यात्कीदृशी सत्ता वन्ध्यातनयरूपिणः ॥ १८ ॥

प्रतीत नहीं होता वैसे ही यह अविद्याजनित भ्रम भी तत्त्वविचारविमर्श करनेसे शेष नहीं रहता है ॥ १३ ॥

बालकके वेतालकी (भूतकी) तरह जागरणकालमें प्रत्यक्ष दिखाई देने-पर भी यह भ्रान्ति यथार्थ नहीं है। अविचारसे बद्धमूल हुई यह विचारसे शान्त हो जाती है ॥ १४ ॥

हे मुनिवर, यह भ्रान्ति किस कारणसे थी यह प्रश्न भी इसके विषयमें शोभा नहीं देता। विचारके लिए ही प्रश्न है वह इस विषयमें सफल नहीं है, क्योंकि विचारसे सत्का ही लाभ होता है असतका नहीं होता। भ्रान्तिमूल अज्ञान असत् है उसका निर्णय ही नहीं हो सकता, यह भाव है ॥ १५ ॥

अज्ञानकी असत्ता प्रमाणपूर्वक विचारसे अलभ्य होनेके कारण ही है, ऐसा कहते हैं—'**प्रामाणिक०**' इत्यादिसे।

प्रामाणिक विचारसे निरीक्षण करनेपर जिसकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा यह जगत्का मूलभूत अज्ञान असत् ही है। इसी कारण उसका अनुभव भ्रम है ॥१६॥

श्रुति आदि प्रामाणिक विचारोंसे सुविचारित होनेपर भी जो परिच्छिन्नरूपसे प्राप्त नहीं होता वह आकाशपुष्प, शशशृङ्गवत् असत्के तुल्य है ॥ १७ ॥

चारों ओरसे विचारपूर्वक देखनेपर भी जो कहींसे भी नहीं प्राप्त होता वन्ध्याके पुत्रके तुल्य उसकी सत्ता कैसे हो सकती है ? ॥ १८ ॥

भ्रान्तिर्न संभवत्येव तस्मात्क्वाचित्कदाचन ।
निरावरणविज्ञानघनमेवेदमाततम् ॥ १९ ॥
यत्किंचिज्जगदद्याऽत्र भातीदं परमेव तत् ।
परं परे परापूर्णे पूर्णमेवाऽवतिष्ठते ॥ २० ॥
न भातं न च नाऽभातमिह किंचित्कदाचन ।
इदमित्थं स्थितं स्वच्छं शान्तमेव जगद्वपुः ॥ २१ ॥
अजममरमहार्यमार्यजुष्टं
परमविकारि निरामयं समन्तात् ।
पदमहमुदितं ततं हि शुद्धं
निरहमनेकमथाऽद्वयं विकासि ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० विश्रान्त्युपगमवर्णनं नाम द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९२ ॥

इसलिए कदापि किसी भी भ्रान्तिका संभव नहीं ही है । यह निरावरण विज्ञानघन ही सर्वतः व्याप्त है ॥ १९ ॥

आज जो कुछ भी जगत्-नाम-धारी यह भासता होता है । वह परम ब्रह्म ही है । निरतिशय आनन्दसे परिपूर्ण परम ब्रह्मस्वरूपमें वह पूर्ण परम ब्रह्म ही अपनी महिमामें स्थित है ॥ २० ॥

इस जगतीतलमें कभी कुछ भी न भासित है और न अभासित है यह सुनिर्मल शान्त ब्रह्म ही इस प्रकार जगत्के रूपमें स्थित है ॥ २१ ॥

किस प्रकारका वह परमपद स्थित रहता है ? इस प्रश्नपर उसे कहते हैं—'अजम्' इत्यादिसे ।

जन्म रहित, मरणशून्य, अन्य लोगों द्वारा हरनेके अयोग्य, विद्वान् पुरुषों द्वारा सेवित, अविकारी, निर्दोष, चारों ओरसे परिपूर्ण, 'अहम्' ही निरहं (निरहङ्कार) होकर बोधसे उदित, सर्वत्र व्याप्त, शुद्ध आवरण-परिच्छेदका नाश होनेसे विकासयुक्त, अनेक और अद्वितीय रूपसे परमपद स्थित रहता है ॥ २२ ॥

एक सौ बानबे सर्ग समाप्त

त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः ।

श्रीराम उवाच

अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ।
यत्पदं तदिदं भाति क्व जगत्क्व च दृश्यता ॥ १ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भेदवाक्यसंदेहविभ्रमैः ।
अलमस्माकमाशान्तमाद्यं रूपमनामयम् ॥ २ ॥
व्योमनि व्योमभावानां प्रशान्तं यादृगासितम् ।
तादृक्चिद्व्योमनि स्फारत्रिजगद्व्योमभासनम् ॥ ३ ॥
यथा व्योमनि व्योमत्वं दृषत्त्वं दृषदि स्थितम् ।
जलत्वं च जलस्याऽन्तर्जगत्त्वं चिद्घने तथा ॥ ४ ॥

एक सौ तिरानबे सर्ग

[प्रबोधसे क्षणभर अज्ञानरूपी निद्राका विनाश होनेपर श्रीरामचन्द्रजीने निखिल द्वैतसे निर्मुक्त नित्य आत्ममें स्थितिका वर्णन किया, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आदि और अन्त रहित जिस परमपदरूप ब्रह्मको न तो कर्मकी उपासनासे सिद्धिको प्राप्त हुए देवता लोग जानते हैं और न तपोयोगसे सिद्ध ऋषि लोग जानते हैं अथवा यहाँपर चक्षु आदि बाहरी और आभ्यन्तर करण ही देवता और ऋषि कहे गये हैं। 'ते ह देवा उद्गीथमाजह्रुः। इमावेव गौतम-भारद्वाजौ' इत्यादि श्रुति है। वही यह जगत्के रूपमें स्फुरित है, कहाँ जगत् है और कहाँ दृश्यता है ॥ १ ॥

द्वैत और अद्वैतका अनुसन्धान करनेपर मनमें उदित हुआ जो द्वैत और अद्वैतका समुन्मेष है उससे जनित वाक्य व्यवहारों, सन्देहों और विभ्रमोंसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। सबसे पहले 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध जो निर्मल परमब्रह्म है, उसीका यह सब कुछ भान है ॥ २ ॥

इस समय जगद्भान कैसे सम्पन्न हुआ? इस प्रश्नपर उसे कहते हैं—**'व्योमनि'** इत्यादिसे।

जैसे आकाशमें केशोण्डुक, मोतीकी माला, गन्धर्वनगर आदिकी अभेदसे स्थिति है। वैसे ही चिदाकाशमें त्रिजगत्रूप आकाशकी अभेदसे स्थिति है ॥३॥

जैसे आकाशमें आकाशत्व अभेदसे सामान्यरूपसे और आकाशरूपसे

साऽहन्तादिजगद्दृश्यमाशाकाशविसार्यपि ।
महाचिदुदरं विद्धि खं शान्तं शून्यतोदितम् ॥ ५ ॥
जीवस्याऽस्मिन्विमूढस्य परेऽपरिमितोदये ।
प्रस्फुरंश्चाऽपि संसारपिशाच उपशाम्यति ॥ ६ ॥
भेदोपलब्धिर्गलति व्यवहारवतोऽप्यलम् ।
जडस्येवाऽजडस्यैव वीचेरिव जलोदरे ॥ ७ ॥
क्वाऽप्यज्ञानरवौ याते प्रतापाद्याकरे भृशम् ।
संसारसत्तादिवसो यात्यस्तं स निशागमः ॥ ८ ॥
भावाभावेषु कार्येषु जरामरणजन्मसु ।
ज्ञ आजवं जवीभावे तिष्ठन्नपि न तिष्ठति ॥ ९ ॥

स्थित है, जैसे पाषाणमें पाषाणत्व, जलमें जलत्व अभेदसे स्थित है वैसे ही चिद्घन ब्रह्ममें जगत् अभेदसे ब्रह्मरूपसे स्थित है ॥ ४ ॥

भगवन्, दिशाओंमें और आकाशमें असंख्यरूपसे विस्तृत भी अहङ्कारादिसहित त्रिलोकीरूप दृश्यको आप शान्त आकाशरूप शून्यतासे उदित महाचेतनका उदर ही समझिये ॥ ५ ॥

अपरिच्छिन्न उदयवाले यानी सर्वव्यापी इस परम ब्रह्मका शास्त्राभ्यास तथा गुरुकृपासे साक्षात्कार होनेपर अज्ञ जीवकी दृष्टिमें देदीप्यमान भी यह संसाररूपी पिशाच शान्त हो जाता है ॥ ६ ॥

जड़की (मूर्खकी) भाँति सांसारिक व्यवहारमें अत्यन्त लिप्त हुए भी अजड़की (ज्ञानी पुरुषकी) भेदबुद्धि (द्वैतबुद्धि) वैसे ही अवश्य विनष्ट हो जाती है जैसे कि जलके अन्दर तरङ्ग नष्ट हो जाती है ॥ ७ ॥

आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि त्रिविध संतापके आकरभूत अज्ञानरूपी सूर्यके सर्वदाके लिए कहीं विदा होनेपर संसारसत्तारूपी दिन सर्वथा अदर्शनको प्राप्त हो जाता है यानी लुप्त हो जाता है वह मोक्षसुखमें विश्रामहेतु रात्रिका आगमन है ॥ ८ ॥

उत्पत्ति और विनाशयुक्त कार्योंमें, जरा, जन्म, मरण आदिमें तथा व्यवहारविक्षेपोंमें वेगसे स्थित भी ज्ञानी पुरुष उनमें स्थित नहीं रहता ॥ ९ ॥

नाऽविद्याऽस्तीह न भ्रान्तिर्न दुःखं न सुखोदयः।
विद्याऽविद्या सुखं दुःखमिति ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ १० ॥
परिज्ञातं सदेतत्तु यावद् ब्रह्मैव निर्मलम्।
अपरिज्ञातमस्माकमब्रह्मात्म न विद्यते ॥ ११ ॥
प्रबुद्धोऽस्मि प्रशान्ता मे सर्वा एव कुदृष्टयः।
शान्तं समं सोऽहमिदं खं पश्यामि जगत्त्रयम् ॥ १२ ॥
सम्यग्ज्ञातं यावदिदं जगद् ब्रह्मैव केवलम्।
अज्ञातात्माऽभवद् ब्रह्म ज्ञातात्मन्यधुना स्थितम् ॥ १३ ॥
ज्ञाताज्ञातमनिर्भासं ब्रह्मैकमजरं तथा।
शून्यत्वैकत्वनीलत्वरूपमेकं नभो यथा ॥ १४ ॥
निर्वाणमासे गतशङ्कमासे
निरीहमासे सुसुखेऽहमासे।

यहाँ वास्तवमें न अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और सुखोदय है। ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है ॥ १० ॥

यथार्थरूपसे परिज्ञात यह सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। हम तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें अपरिज्ञात अब्रह्मात्म (ब्रह्मभिन्न) कुछ नहीं है यानी सब कुछ परिज्ञात होकर ब्रह्मरूप ही है ॥ ११ ॥

हे गुरुवर, आपकी कृपासे मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मेरी सकल कुदृष्टियाँ शान्त हो गई हैं। इस प्रकारका (ज्ञानवान् मैं) त्रैलोक्यको शान्त, सकलद्वैत-वैषम्य-शून्य चिदाकाशरूप देखता हूँ ॥ १२ ॥

भली भाँति परिज्ञात यह सारा जगत् केवल ब्रह्म ही है। न मैं पहले कोई दूसरा था और न इस समय कोई दूसरा हूँ। पहले मैं अज्ञतात्म (जिसने अपने रूपको नहीं जाना) ब्रह्म था इस समय ज्ञात आत्मामें ब्रह्म ही स्थित है ॥ १३ ॥

जैसे शून्यत्व, एकत्व तथा नीलतामें आकाश एकमात्र है वैसे ही एक अजर अमर ब्रह्म अपनेसे अतिरिक्त ज्ञानअज्ञाननिर्भास शून्य है ॥ १४ ॥

इसलिए ज्ञान होनेके कारण मैं निर्वाणरूप होकर स्थित हूँ, अज्ञानकी निवृत्तिसे ही सकल शङ्काओंकी निवृत्ति होनेके कारण निःशङ्क होकर स्थित हूँ,

यथास्थितं नित्यमनन्तमासे
तदेवमासे न कथं समासे ॥ १५ ॥
सर्वं सदैवाऽहमनन्तमेकं
न किंचिदेवाऽप्यथवाऽतिशान्तः ।
सर्वं न किंचिच्च सदेकमस्मि
न चाऽस्मि चेतीयमहो नु शान्तिः ॥ १६ ॥
अधिगतमधिगम्यं प्राप्तमप्राप्तमन्यै-
र्गतमिदमलमस्तं वस्तुजातं समस्तम् ।
उदितमुदितबोधं तादृशं यत्र भूयोऽ-
स्तमयसमुदयानां नाम नामाऽपि नास्ति ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० विश्रान्तिकथनं नाम त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९३ ॥

सकल अभिलाषाओंकी निवृत्तिसे मैं निस्पृह होकर स्थित हूँ, विक्षेपशून्य आत्मसुखमें ही धाराप्रवाहसे चित्तवृत्ति जैसे रहे वैसे मैं स्थित हूं। यथास्थित नित्य मैं अनेकरूपसे स्थित हूं। इस प्रकार प्रबुद्ध हुआ मैं समस्तात्मरूप ब्रह्ममें कैसे स्थित नहीं हूं, क्योंकि ब्रह्मभावसे प्रच्युतिके हेतुभूत मेरे अज्ञानका बाध हो चुका है ॥ १५ ॥

भगवन्, सदा ही सब कुछ एक अनन्त मैं ही हूँ अथवा सब कुछ और कुछ भी नहीं तथा सकल उपद्रवोंसे रहित एक होकर मैं ही हूं अथवा देश, काल रूप आधारकी अप्रसिद्धि वश मैं कहींपर नहीं हूं इस प्रकारकी यह निर्वाण-नामकी सकलशान्ति अत्याश्चर्य रूप है ॥ १६ ॥

गुरुवर, जानने योग्य परमपुरुषार्थरूप वस्तुको मैं जान चुका हूं, अज्ञानी पुरुषोंको दुष्प्राप्य मोक्षसुख मुझे मिल गया है, संसारानर्थरूप वस्तु-राशियाँ सबकी सब चली गई हैं। चरम साक्षात्कारसे उदित बोधरूप वह निज स्वरूप मेरा उदित हो गया है जिस स्वरूपमें फिर मृत्यु, तिरोधान, दुःख आदि अनर्थोंका नाम-निशान तक नहीं रहता है ॥ १७ ॥

एक सौ तिरानबे सर्ग समाप्त

चतुर्नवत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

सर्वात्मसर्वभावेषु येन येन यदा यदा ।
यथा भाति स्वयं बोधस्तथाऽनुभवति स्वयम् ॥ १ ॥
स्वभाव एव तिष्ठन्ति सर्गाः संमिलिता अपि ।
अत्राऽपि स्वीकृता एव नानारत्नांशवो यथा ॥ २ ॥
अत्र दृष्टमदृष्टं च मिथो विशति गच्छति ।
जगद्रश्मिघनं रत्नं नानारत्नघनं यथा ॥ ३ ॥
दीपानामिव सर्गाणां बहूनां ज्वलतां परम् ।
केषांचिदस्त्यनुभवो मिथः केषांचिदेव नो ॥ ४ ॥

एक सौ चौरानबे सर्ग

[मोक्षसाधन आत्मतत्त्व और जगत्तत्त्व जिस भाँति श्रीरामचन्द्रजीने जाना, उसका गुरुजी के समीप निवेदन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सब जीवोंकी सब मनोवृत्तियोंमें जब जब जिस जिस भोगके लिए जिस प्रकार स्वप्रकाश चिदात्माका भान होता है यानी विवर्त होता है उस प्रकार स्वयं ही भोक्ता नाना जीवोंके रूपसे अनुभव करता है यानी द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी बनकर अपनी मायासे विवर्तित होता है॥१॥

एकमात्र निरवयव परम सूक्ष्म ब्रह्ममें सब जीवों द्वारा एक ही समयमें अध्यास वश प्राप्त हुई भी अनन्त सृष्टियाँ प्रत्येक ब्रह्माण्ड, भुवन आदि भेदसे विस्तीर्ण स्वभावमें ही परस्पर असंलग्न होकर रहती हैं, क्योंकि वे सब जीवसृष्टियाँ इस प्रकारके निरवयव ब्रह्ममें तादात्म्याध्याससे आत्मीकृत हैं (परम सूक्ष्म बनाई गई हैं)। अपने स्वरूपमें किसीकी अनवकाशता अथवा अवरोध नहीं है। जैसे सूक्ष्मतम विभिन्न रत्नोंकी किरणें एक घरमें मिलकर भी अलग अलग रहती हैं वैसे ही ब्रह्ममें जीवसृष्टियाँ भी अलग अलग स्थित हैं, यह भाव है ॥ २ ॥

दृष्ट यानी समीपवर्ती (प्रत्यक्ष), देश और कालके व्यवधानसे परोक्ष जगद्रूपी रश्मियाँ इस परमात्मामें परस्पर सटे बिना (पृथक् पृथक्) वैसे ही प्रवेश करती हैं, संचार करती हैं जैसे कि एक घरमें नाना रत्नोंकी रश्मियाँ ॥ ३ ॥

उनमें जिन जीवोंका समान कर्मवासनानिमित्त अध्यास होता है उनको

अप्स्वप्स्विव रसोऽम्भोधावावर्तरमणावनौ ।
सर्गेऽस्ति प्रत्यणुं तस्मिन्नाऽपि सर्गास्तथा क्रमः ॥ ५ ॥
सर्वत्र सर्वतो नित्यं चिद्घनस्याऽम्बुवेदनम् ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते सर्गाधारपरम्पराः ॥ ६ ॥
यथाऽवयविता भिन्ना नैवाऽवयविनः क्वचित् ।
शब्दभेदादृते भिन्ना न तथा सर्गता परे ॥ ७ ॥
एकस्याऽनन्तरूपस्य कारणाभावतः स्वयम् ।
नोदेति न च यात्यस्तं जगदादिस्वभावता ॥ ८ ॥

आपसमें एक दूसरेका अनुभव होता है उनसे अतिरिक्तोंका नहीं होता है, इस आशयसे कहते हैं—'केषांचित्' इत्यादिसे ।

भगवन्, जैसे जल रहे बहुतसे दीपकोंका नेत्रवान् लोगोंको अनुभव होता है नेत्रहीन लोगोंको नहीं होता वैसे ही देदीप्यमान हो रहे बहुतसे सर्गोंका समानकर्मवासनाजनित अध्यासवाले किन्हीं लोगोंको परस्पर अनुभव होता है उनसे अतिरिक्तोंको नहीं ही होता ॥ ४ ॥

आवर्तोंके (भँवरोंके) क्रीडास्थलभूत सागरमें प्रत्येक जलीय भागमें लवण आदि रस जैसे रहता है वैसे ही उस सृष्टिमें भी जर्रे जर्रेमें ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डोंमें प्रत्येक अणुमें सृष्टियाँ हैं । वास्तविक दृष्टिसे न सर्ग है और सर्गोंका क्रम ही है ॥ ५ ॥

समुद्रमें जलपरमाणुके रसके तुल्य सर्वत्र सर्वतः व्याप्त चिद्घन परमात्माका जो नित्य आत्मवेदन है । सृष्टिके आधारपरम्परारूप उनकी गणना कौन कर सकता है ? ॥ ६ ॥

जैसे कहींपर भी अवयवीसे अवयविता शब्दभेदके सिवा भिन्न नहीं है वैसे ही परमब्रह्म परमात्मामें सृष्टि शब्दभेदके सिवा भिन्न नहीं है ॥ ७ ॥

वास्तवमें एक रूप (अद्वितीय) मायासे अनन्त रूपवाले परमात्माकी जगदधिष्ठानस्वभावता कारणका अभाव होनेसे न उदित होती है और न अस्तको प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

तपन्ती ज्ञप्तिरेवेयमखण्डज्ञेयतामिमाम् ।
करोत्यकर्तृरूपैव समालोकमिवाऽर्कभाः ॥ ९ ॥
वैतृष्ण्यात्सर्वभावानां समाप्त्यैवाऽक्षयं स्वयम् ।
संपद्यते समाधानं यत्तन्निर्वाणमुच्यते ॥ १० ॥
न बुद्ध्या बुद्ध्यते बोधो बोधाबुद्धेर्न बोध्यते ।
न बुद्ध्यते वा तेनाऽपि बोध्यो बोधः कथं भवेत् ॥ ११ ॥

जैसे स्फुरित हो रही सूर्यकी दीप्ति घट, पट आदिका प्रकाश करती है वैसे ही स्फुरित हो रही अकर्तृरूपा यह ज्ञप्ति ही इस सम्पूर्ण ज्ञेय घट, पट आदि पदार्थोंका निर्माण करती है ॥ ९ ॥

तब कब और किस उपायसे वह अध्यात्म-व्यसनका त्याग करती है? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'वैतृष्ण्यात्'** इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानवश बाध होनेके कारण सकल पदार्थोंकी निवृत्ति होनेसे ही स्वयं अक्षयस्वरूप क्षयशील (विनाशी) देहादिके तादात्माध्याससे उन्मुक्त होता है । इस प्रकारका वह स्वरूप ही सकल विक्षेपोंके विनाशसे समाधान और निर्वृति (सुख) रूप होनेसे निर्वाण कहलाता है ॥ १० ॥

अध्यास परम्पराओंकी समाप्तिसे ही स्वयं अपना परमपुरुषार्थ अवशिष्ट रहता है, यह कैसे संभव है? क्योंकि बुद्धिसे जिसका अनुभव हो रहा हो वही पुरुषार्थ है । बुद्धिसे जो अननुभूयमान है उसमें पुरुषार्थता नहीं देखी जाती है। इसलिए पुरुषार्थताकी प्रयोजिका चरमसाक्षात्कारवृत्ति मुक्तिमें परमावश्यक है, इसलिए सर्व पदार्थोंकी निवृत्ति मुक्ति है, यह मानना ठीक नहीं है ऐसी आशङ्का-पर कहते हैं—**'न बुद्ध्या'** इत्यादिसे ।

परमपुरुषार्थरूप बोध परमात्मबुद्धिसे यानी चरम साक्षात्कार वृत्तिसे ज्ञात नहीं होता है, क्योंकि जड़ बुद्धिमें बोधशक्ति नहीं है और बोध बुद्धिका विषय नहीं हो सकता ।

शङ्का—तब बोधशक्तिमान् परमात्माका जैसे सोये हुए राजाका बन्दियों द्वारा बोध कराया जाता है वैसे ही बुद्धि द्वारा बोध कराया जाय ।

समाधान—नहीं, बुद्धि द्वारा आत्माका बोधन नहीं होता, क्योंकि जैसे राजाको सोया हुआ जानकर उसके बोधनके लिए बन्दीजन प्रवृत्त होते हैं वैसे

प्रबुद्ध एव सुप्ताभः स्वयं बोधो विबुध्यते ।
देशकालाद्यभावेऽपि मध्याह्नेऽर्कातपो यथा ॥ १२ ॥
सर्वकर्मवितृष्णानां शान्तेच्छानां प्रबोधतः ।
सतामनिच्छतामेव निर्वाणं संप्रवर्तते ॥ १३ ॥
प्रबुद्धबोधो ध्यानस्थः स्वभावे केवले स्थितः ।
न किंचिदपि गृह्णाति न किंचिदपि चोज्झति ॥ १४ ॥

बुद्धिको सोये हुए बोधका परिज्ञान ही नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें उसके बोधनके लिए वह कैसे प्रवृत्त होगी ?

शङ्का—तब बोध ही बोधको जाने ।

समा०—बोध भी बोधको नहीं जान पाता, क्योंकि बोध स्वयं बोध्य (बोध-कर्म) कैसे हो सकता है । क्रियासे जन्य अतिशयका आधार कर्म है बोधमें न तो क्रिया है और न क्रियाजन्य अतिशयकी आधारताका ही संभव है । बोध निष्क्रिय, निर्विकार है ॥ ११ ॥

इसलिए अध्यासपरम्परा चरम साक्षात्कारबुद्धिपर्यन्तकी परिणामपरम्परासे अपने आप ही समाप्त हो जाती है । उसके समाप्त होनेपर स्वप्रकाश होनेके कारण प्रबुद्ध ही आत्मा कुहरेके आगमनसे सोये हुएसे मध्याह्नमें कुहरेके बिलकुल हट जानेपर सूर्यके समान और सूर्यके आतपके समान प्रबुद्ध होता है । वही जीवका नित्यप्राप्त निरतिशय आनन्दाभिव्यक्तिरूप परम पुरुषार्थ है, इस आशयसे कहते हैं—**'प्रबुद्ध एव'** इत्यादिसे ।

जैसे प्रातःकालमें कुहरेके आगमनसे सोया हुआ-सा प्रतीत होनेवाला सूर्य और सूर्यातप मध्याह्नमें कुहरेके निश्शेष होनेपर प्रबुद्ध हो जाता है वैसे ही प्रबुद्ध ही बोध देश, काल आदिका अभाव होनेपर भी अध्यासवश सुप्तके तुल्य प्रतीत होता है । अध्यासके हट जानेसे स्वयं प्रबुद्ध हो जाता है ॥ १२ ॥

बोध होनेके कारण ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलोंमें तृष्णा न रखनेवाले, प्रशान्त इच्छावाले सज्जन पुरुषोंको इच्छा न करनेपर भी निर्वाण (मोक्ष) अपने आप प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

जिसका चिदात्मा मोहरूप निद्रासे जाग चुका है तथा जिसकी बाह्य वृत्तियां निरुद्ध हो चुकी हैं इस तरहका महात्मा पुरुष केवल अपने चित् स्वभाव-

यो यथास्थित एवाऽऽस्ते पश्यन्दीप इवाऽक्रियः ।
अमनोमानमननो मनोमननवानपि ॥ १५ ॥
व्युत्थाने विश्वरूपाख्यमन्यत्र ब्रह्मसंज्ञितम् ।
सर्गासर्गात्म चिन्मात्रं सत्यं सर्वत्र भासते ॥ १६ ॥
अभिन्नबोधसद्रूपस्वरूपानुभवे स्थितः ।
व्युत्थितः संनिरुद्धश्च यः पश्यति स शाम्यति ॥ १७ ॥
जगत्पदार्थसार्थानां बोधमात्रैकनिष्ठताम् ।
विना नास्त्यपरा सत्ता व्योम्नः शून्येतरा यथा ॥ १८ ॥
शिष्यते स्फीतबोधानां केवलाऽनन्तबोधता ।
साऽपि स्वपरिणामेन परेणाऽऽयात्यवाच्यताम् ॥ १९ ॥

में स्थित होकर न तो कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है ॥१४॥

व्युत्थान कालमें मनके मननसे युक्त भी (लोक-व्यवहारमें तत्पर भी) ज्ञानी पुरुष विषयोंमें आसक्ति न होनेसे मनके मननसे रहित है अतएव दीपकके तुल्य प्रकाश करता हुआ भी निष्क्रिय वह यथास्थित स्वरूप ही रहता है ॥ १५ ॥

उस योगीको व्युत्थान कालमें विश्वरूपनामक और अन्यत्र (समाधि-कालमें) ब्रह्मनामक सृष्टि-असृष्टिरूप चिन्मात्र सर्वत्र भासता है ॥ १६ ॥

जो योगी समाधिसे व्युत्थित तथा समाधिस्थ होकर अभिन्नबोधरूप सद्रूपस्वरूपानुभवमें ही स्थित हो व्युत्थान और समाधिको उदासीन वृत्तिसे देखता है यानी किसी एकमें विशेष आसक्ति नहीं रखता, वही संसाररूपी विक्षेपसे शान्ति प्राप्त करता है, अन्य नहीं ॥ १७ ॥

जैसे आकाशकी शून्यसे अतिरिक्त दूसरी वास्तविकता नहीं है वैसे ही जगत्के समस्त पदार्थोंकी केवल बोधमात्र यथार्थरूपताके बिना अन्य वस्तु-स्थिति नहीं है, इस प्रकारका जिसमें बोध होता है इस प्रकारकी उस योगीकी सद्रू स्वरूपानुभवमें स्थिति है ॥ १८ ॥

अन्य सत्ता क्यों नहीं है ऐसा यदि कहो तो तत्त्वसाक्षात्कारसे जगद्रूपका बाध होनेपर चिन्मात्रसत्ताका ही परिशेष रहता है, इस आशयसे कहते हैं— **'शिष्यते'** इत्यादिसे ।

पूर्णरूपसे प्रबुद्ध यानी अपरिच्छिन्न ब्रह्मावगाहनमें खूब प्रसृत होनेवाले

तद्विश्रान्तौ परा सत्ता शिष्यते वा न शिष्यते।
या काऽप्यत्यन्तशान्तानां न वाग्गोचरमेति सा ॥ २० ॥
या समस्य परा काष्ठा सैव बोधस्य सन्मयी।
सर्गस्तन्मय एवाऽतः सकलं शान्तमव्ययम् ॥ २१ ॥
निर्वाणाय वितृष्णाय स्वच्छशीतलसंविदे।
स्पृहयन्ति सदा सत्तां ब्रह्मविष्णुहरा अपि ॥ २२ ॥
सर्वार्थात्मैव सर्वत्र सर्वदा सर्वथोदितम्।
चेतनं शुद्धमेवाऽस्ति नाशो नाऽस्योपपद्यते ॥ २३ ॥
अत्यन्ततप्तः संसारो निर्वाणमतिशीतलम्।
अतिशीतलमेवाऽस्ति तप्तस्त्वेव न विद्यते ॥ २४ ॥

बोधसे पूर्ण महात्माओंकी वह केवल प्रत्यगात्मरूप बोधता भी अपने ब्रह्म सन्मात्र परिशेषरूप अखण्डाकारवाक्यार्थलक्षण दूसरे परिणामसे अखण्डार्थक वाक्य-लक्ष्यताको प्राप्त हो जाती है ॥ १९ ॥

अखण्डार्थक वाक्यलक्ष्यताकी विश्रान्ति होनेपर यानी अखण्डार्थक वाक्यलक्ष्यत्वेन स्थिति होनेपर अत्यन्त शान्त हुए योगी जनोंकी जो कोई अवर्णनीय परासत्ता है वह शेष रहती है अथवा नहीं भी रहती है। दोनों ही प्रकारोंमें वाणियोंकी भी गोचरताको वह दशा प्राप्त नहीं होती है ॥ २० ॥

जो सत्तासामान्यकी पराकाष्ठा (परम अवधि) शोधित तत्पदार्थरूपा है वही बोधकी भी शोधित त्वम्पदार्थरूप परम अवधि है। आकाश आदिरूप तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप सृष्टि सत्ताबोधमय ही है, इसलिए सब कुछ शान्त अविनाशी ही है ॥ २१ ॥

निर्वाणके लिए, वैतृष्ण्यके लिए तथा निर्मल शीतल बोधके लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा अन्यान्य प्राणी भी मैं सदा ही रहूँ कदापि मेरा अभाव न हो यों सदा उस सत्ताकी स्पृहा करते हैं ॥ २२ ॥

सब लोगोंका सार्वदिक स्पृहास्पद वस्तुभूत सकल प्रदेशमें, सकल कालमें सकल वस्तु रूपसे उदित चेतन स्वतः स्फुरित रूपवाला शुद्ध ही है उसका विनाश (लोप) क्षणभरके लिए भी नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

संसार निरतिशय दुःखस्वरूप है और निर्वाण आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप

संचेतन्ति शिलान्तस्था यथाऽलं शालभञ्जिकाः ।
अनुत्कीर्णास्तथा ब्रह्म चेततीदमखण्डितम् ॥ २५ ॥
यथा चेतति सौम्याम्बुकोशस्थं वीचिमण्डलम् ।
तथा चेतति कोशस्थं महाचिच्चेत्यमव्ययम् ॥ २६ ॥
अविभक्तो विभागस्थैरिव शान्तैरनन्तकैः ।
परमार्थाम्बराभोगैस्स्वबोधात्मत्वमन्थरैः ॥ २७ ॥
यैर्यैर्यथा स्व आत्माऽन्तर्भावितश्चेतितश्चिरम् ।
भोगमोक्षप्रभेदेषु तेषां तेषां तथोदितः ॥ २८ ॥
मृते वाऽप्यमृते बन्धौ स्वप्ने स्वप्नविबोधिनः ।
न यथोदेति सत्याख्या तथा दृश्येषु तद्विदः ॥ २९ ॥

है । अतिशीतल निर्वाणका ही अस्तित्व है । तप्त यानी निरतिशय दुःखरूप संसार नहीं ही है ॥ २४ ॥

जैसे शिल्पीकी बुद्धिमें न गढ़ी हुई शिलाके भीतर स्थित प्रतिमाएँ यथेष्ट रूपसे स्फुरित होती हैं वैसे ही भावोपहित अखंडित (अविच्छिन्न) ही ब्रह्म जगत्के रूपमें स्फुरित होता है ॥ २५ ॥

जैसे जलाशयमें स्थित लहरियाँ स्फुरित होती हैं वैसे ही महाचित् स्वयं अन्नमयादिकोशमें स्थित तथा ब्रह्माण्डकोशमें स्थित चेत्य होकर स्फुरित होती है ॥ २६ ॥

अज्ञानावृत आत्माके रूपसे जड़ तुल्य परमार्थाकाशके (सन्मात्रके) कृत्रिमवेषसे युक्त अविभक्त (अद्वितीय) आत्माकी विभक्त ऐसे शान्त अनन्त जिन जिन जीवोंने जैसे जैसे भीतर भावना की और जैसे जैसे संकल्प किया उन उन जीवोंके भोग और मोक्षके भेदोंमें वह वैसे ही उदित हुआ है ॥२७,२८॥

जैसे स्वप्नमें अपने बन्धुबान्धवके मरने अथवा जीनेपर भी स्वप्नसे जागे हुए पुरुषकी स्वप्नमें सत्यताबुद्धि उदित नहीं होती वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुषकी सकल दृश्यपदार्थोंमें सत्यता बुद्धि उदित नहीं होती अतएव उससे उनके लाभ और नाशसे हर्ष और शोककी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २९ ॥

यदिदं किल दृश्यादि तच्छान्तमखिलं शिवम् ।
भाविते‌ऽवगतेऽप्यन्तरिति भ्रान्तेः क उद्भवः ॥ ३० ॥
सर्वथा देहसंस्थेषु वैतृष्ण्यमुपजायते ।
सम्यग्बोधे सति स्वप्न इवाऽपि स्वार्थकादिषु ॥ ३१ ॥
वैतृष्ण्याद्वर्धते बोधो बोधाद्वैतृष्ण्यवर्धनम् ।
परस्परेण प्रकटे एते कुड्यप्रकाशवत् ॥ ३२ ॥
येन बोधेन वैतृष्ण्यं धनदारसुतादि वा ।
स्वनूनमपि संपन्नं जाड्यं तत्संस्थितं तथा ॥ ३३ ॥
एतावदेव बोधस्य बोधत्वं यद्वितृष्णता ।
पाण्डित्यं नाम तन्मौर्ख्यं यत्र नास्ति वितृष्णता ॥ ३४ ॥

जो दृश्य, द्रष्टा और दर्शन—त्रिपुटीरूप है वह सबका सब शान्त शिव सन्मात्र ही है ऐसी भीतर भावना करने और भलीभांति ज्ञात होनेपर फिर भ्रान्तिका उद्भव कैसा ? ॥ ३० ॥

ज्ञान होनेपर किस क्रमसे भ्रान्तिका अनुद्भव होता है ? इस प्रश्नपर उसे कहते हैं—**'सर्वथा'** इत्यादिसे ।

भगवन्, सम्यग् ज्ञान होनेपर देहसे सम्बन्ध रखनेवाले भोग और भोगों-के उपायोंमें ऐसे ही अवितृष्णा (विरक्ति) हो जाती है जैसे कि यह स्वप्न है यह जाननेपर स्वप्नके पदार्थोंमें विरक्ति होती है ॥ ३१ ॥

अवितृष्णासे (वैराग्यसे) बोधकी अभिवृद्धि होती है और बोधसे वैतृष्ण्यकी वृद्धि होती है । बोध और अवैतृष्ण्य ये दोनों भीत और प्रकाशके तुल्य एक दूसरेसे प्रगट होते हैं ॥ ३२ ॥

जिस कारण वैतृष्ण्य (वैराग्य) अथवा स्त्री, पुत्र, धन आदि तत्त्वा-भिनिवेशरूप बोधसे ही पूर्णरूपसे सम्पन्न है उसका (वैतृष्ण्यका) विरोधी अथवा उसका (धन दारादिका) अनुकूल जाड्य भी तत्-तत्में अभिनिवेशके अनुसार ही स्थित है ॥ ३३ ॥

वितृष्णा होना ही बोधकी बोधता (सार्थकता) है । वह पंडिताई केवल मूर्खता ही है जिसमें वितृष्णता (विरक्ति) नहीं है ॥ ३४ ॥

न तु वैतृष्ण्यबोधाढ्यौ न परस्परवर्धितौ ।
असत्यावेव तौ नाम नष्टौ चित्रहुताशवत् ॥ ३५ ॥
परमा बोधवैतृष्ण्यसंपत्तिर्मोक्ष उच्यते ।
तत्राऽनन्ते पदे शान्ते वसता च न शोच्यते ॥ ३६ ॥
गतं गम्यं कृतं कार्यं दृष्टं दृश्यमशेषतः ।
यावत्सर्वं शिवं शान्तमेकमाद्यमनामयम् ॥ ३७ ॥
आत्मारामस्य शान्तस्य वैतृष्ण्यस्याऽनहंकृतेः ।
असंकल्पैव भवति स्थितिः ख्रस्येव निर्मला ॥ ३८ ॥
सहस्रेभ्यः सहस्रेभ्यः कश्चिदुत्थाय वीर्यवान् ।
भिनत्ति वासनाजालं पञ्जरं केसरी यथा ॥ ३९ ॥

जो वैतृष्ण्य और बोध पूर्ण होनेपर भी परस्परसे वर्धित न हों वे असत्य ही हैं चित्रलिखित अग्निकी भांति स्वकार्यमें अक्षम ही हैं। वे नष्ट हैं (लुप्त हैं) ऐसा नहीं समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

बोध और वैतृष्ण्यकी निरतिशयसम्पत्ति ही निरतिशय आनन्दरूप होने और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप होनेसे भी मोक्ष कही जाती है, क्योंकि अज्ञान ही बन्धनमूल है और तृष्णा ही बन्धन है उन दोनोंका विनाश ही मोक्ष है। मोक्षरूप अनन्त शान्त पदमें स्थित पुरुषको शोक नहीं होता ॥ ३६ ॥

बोध और वैतृष्ण्यके परस्परसे परिवर्धित होनेके कारण मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं—**'गतम्'** इत्यादिसे ।

मेरी निराकरणीय (खण्डनीय) दृश्यरूपी वस्तुका निराकरण हो चुका है, सम्पादनीय कार्य मैंने कर लिया है, तथा दर्शनीय वस्तु पूर्णतया देख ली है। यह सब मंगलमय, शान्त अद्वितीय चिन्मात्र ही है ॥ ३७ ॥

आत्मामें रमण करनेवाले शान्त, निरभिलाप, अहङ्कारशून्य ज्ञानी पुरुषकी आकाशकी निर्मलस्थितिकी भाँति संकल्प-विकल्परहित ही स्थिति होती है ॥ ३८ ॥

प्रयत्न कर रहे कई हजार लोगोंमें से कोई बिरला ही बलवान् उत्साही पुरुष जैसे शेर लोहेके पिंजड़े को तोड़ डालता है वैसे ही वासनाजालके टुकड़े टुकड़े कर डालता है ॥ ३९ ॥

प्राप्तज्योतिर्बोधशुद्धिः परमन्तःप्रकाशवान् ।
नीहारः शरदीवाऽऽशु स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ४० ॥
ज्ञातज्ञेयस्त्वसंकल्पः संकल्पातिशयाशयः ।
अवासनो व्यवहृतौ वातवत्स्पन्दते न वा ॥ ४१ ॥
आसीद्धीरान्मनस्कारैर्भ्रान्तिमात्रैकनिश्चयात् ।
यः सर्वत्र खवद्भावस्तदवासनमासितम् ॥ ४२ ॥
निर्वासने भाव उदारसत्त्वे
ब्रह्माऽखिलं दृश्यमिति प्रबुद्धे ।
स्थिरैकनिर्वाणमतावनन्तो
मोक्षाभिधानः प्रशमोऽभ्युदेति ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० रामविश्रान्त्युपगमो नाम चतुर्नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९४ ॥

जैसे शरत् ऋतुमें वह कुहरा जिसे सूर्य आदिका बोध हो गया जिसके भीतर तक प्रकाश पड़ चुका अपने आप विलीन हो जाता है वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष जिसे पूर्णतया आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका ज्ञानसे जिसका हृदय देदीप्यमान हो चुका अपने आप शान्त हो जाता है ॥ ४० ॥

जिसको ज्ञातव्य सद् वस्तुका ज्ञान हो चुका, संकल्प-विकल्प जिसके मनमें नहीं उठते तथा जिसका हृदय संकल्पोंका अतिक्रमण कर चुका ऐसा वासनाविहीन महात्मा पुरुष लोकव्यवहारमें वायुकी तरह चेष्टा करता है अथवा व्यवहार नहीं करता यानी समाधिमें ही विश्राम लेता है ॥ ४१ ॥

तत्त्वके मननसे स्थिर हुए भ्रान्तिमात्रके निश्चयसे (ये केवल भ्रमरूप हैं इस प्रकारके दृढ़ निश्चयसे) जो सब वस्तुओंमें शून्यता बुद्धि है, वही निर्वासन स्थिति है ॥ ४२ ॥

पूर्ववर्णित निर्वासन (वासनाविहीन) भावके उदित होनेपर और सकल जगत् ब्रह्म ही है यों ज्ञान होनेपर एकमात्र निर्वाणमें स्थिरमतिवाले शुद्धान्तःकरण पुरुषमें मोक्ष नामक असीम प्रशम उदित होता है ॥ ४३ ॥

एक सौ चौरानबे सर्ग समाप्त

पञ्चनवत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अहो नु संप्रबुद्धोऽसि राघवाऽघविघातिनी ।
वागियं तव संपन्ना प्रबुद्धेष्ववहासिनी ॥ १ ॥
विभातीवाऽसदेवेदमसंकल्पेन शाम्यति ।
एतच्छान्तिस्तु निर्वाणमित्येव परमार्थता ॥ २ ॥
कल्पनाकल्पने रूपं परस्यैवेतरस्य नो ।
स्पन्दनास्पन्दने वायोर्यथा नाऽत्रैकताद्विते ॥ ३ ॥
प्रबुद्धस्यैव या पुंसः शिलाजठरवत्स्थितिः ।
शान्तौ व्यवहृतौ वाऽपि साऽमला मुक्ततोच्यते ॥ ४ ॥

एक सौ पचानबे सर्ग

[प्रबुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजीकी सुन्दर उक्तियोंकी प्रशंसा कर गुरु द्वारा किये गये प्रश्नोंका श्रीरामचन्द्रजी द्वारा समाधान]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, बड़े हर्षकी बात है आप प्रबुद्ध हो गये हैं। आपकी यह वाणी अप्रबुद्ध लोगोंके पापोंका नाश करनेवाली तथा अनुभवसिद्ध अर्थका अनुवादरूप होने और युक्तियुक्त होनेसे प्रबुद्ध पुरुषोंको प्रहर्षसे प्रसन्नवदन बनानेवाली हो गई है ॥ १ ॥

असत् ही यह जगत् अज्ञान जनित संकल्पवश जो स्फुरित-सा होता है यही बन्धन है। असंकल्पकी दृढ़तासे परिपुष्ट तत्त्वज्ञानसे शान्त हो जाता है यही मुक्तिसाधन है। इसकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही निर्वाण है यही मोक्ष-निष्कर्ष है। वही परमार्थता है ॥ २ ॥

कल्पन और अकल्पनरूप बन्धन और मोक्ष अज्ञात और ज्ञात ब्रह्मके ही रूप हैं यह निष्कर्ष भी फलित हुआ, यह कहते हैं—**'कल्पनाकल्पने'** इत्यादिसे।

वत्स, जैसे स्पन्दन और अस्पदन—दोनों वायुके ही रूप हैं वैसे ही कल्पन और अकल्पन पर ब्रह्मके ही रूप हैं, अन्यके नहीं ॥ ३ ॥

ज्ञानवान् पुरुषकी ही समाधि-अवस्थामें अथवा व्यवहार कालमें शिलागर्भके समान जो स्थिति है वह निर्मल मुक्तता कही जाती है ॥ ४ ॥

वयमस्मिन्पदे स्थित्वा राघवाऽघविघातिनि ।
शान्तत्वे व्यवहारे च सममित्थमवस्थिताः ॥ ५ ॥
अस्मिन्नेव पदे नित्यं ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
तिष्ठन्ति व्यवहारस्था अपि शान्ता ज्ञरूपिणः ॥ ६ ॥
शैलोदरस्थितिमतां प्रबुद्धानामनामयम् ।
अस्माकं पदमेवं तदालभ्यैतदिहोष्यताम् ॥ ७ ॥
श्रीराम उवाच
ब्रह्मण्येवमसद्रूपमनुत्पन्नमभासुरम् ।
अनारम्भमनाकारमेवेदं भासते जगत् ॥ ८ ॥
मृगतृष्णाम्बुसदृशं तरङ्गावर्तिवारिवत् ।
रुचकादीव कनके स्वप्नसंकल्पशैलवत् ॥ ९ ॥

इस पदमें स्थिति ही हम ऐसे जीवन्मुक्तोंकी समाधि और व्युत्थानमें तुल्यरूप स्थिति है, ऐसा कहते हैं—'**वयम्**' इत्यादिसे ।

हे राघव, दुःखविनाशक इस पदमें स्थित होकर हम लोग समाधि और व्यवहारमें समानरूपसे इस तरह स्थित हैं ॥ ५ ॥

प्रबुद्ध अतएव प्रशान्तस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि व्यवहारपरायण होते हुए भी सदा इसी परमपदमें स्थित रहते हैं ॥ ६ ॥

शिलाके गर्भके समान विक्षेपशून्य स्थितिवाले हम प्रबुद्ध लोगोंका यह निर्दोष पद है । आप भी आजसे लेकर हमारे सदृश ही इसे प्राप्त कर इसमें (जीवन्मुक्तिमें) विराजमान होइए ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवसिष्ठजीकी उक्तिसे जीवन्मुक्तिपदमें प्रतिष्ठित श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्त पुरुषोंको जैसा जगत् भासता है उसका वर्णन करते हैं—'**ब्रह्म०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जैसे मृगतृष्णामें जल भासता है, जैसे जलमें तरङ्ग, आवर्त आदि पृथक्‌से भासते हैं, जैसे सुवर्णमें कटक, कुण्डल आदि भासते हैं और जैसे स्वप्न और संकल्पका पर्वत भासता है वैसे ही असद्रूप, कभी उत्पन्न न हुआ, उत्पन्न न होने कारण ही अप्रकाशमान (पृथक् प्रतीत न होनेवाला), आरम्भ रहित और आकार शून्य ही यह जगत् ब्रह्ममें भासता है ॥ ८,९ ॥

वसिष्ठ उवाच

बुद्धवानसि चेद्राम तत्त्वबोधविवृद्धये ।
कुरु संशयविच्छेदं पृच्छतः प्रच्छकस्य मे ॥ १० ॥
इत्थं नित्यानुभूतोऽपि शिरस्थोऽप्यतिभासुरः ।
जगदाख्योऽयमाभासः कथं नाम न विद्यते ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

पूर्वमेवेदमुत्पन्नं न किंचन कदाचन ।
तेन वन्ध्यासुतस्याऽस्य न सत्ता कल्पनादृते ॥ १२ ॥
किमिवाऽस्या जगद्भ्रान्तेः कारणं प्रोत्थिता यतः ।
न कारणं विना कार्यं किंचित्संभवति क्वचित् ॥ १३ ॥

अब श्रीवसिष्ठजी महाराज श्रीरामचन्द्रजीको जीवन्मुक्ति-स्थितिका वर्णन करनेके लिए वक्ताके सिंहासनपर आरूढ़ कर मैं आपसे शिष्यकी भाँति पूछता हूँ आप अपना संशय दूर कीजिये, यह कहते हैं—'बुद्धवानसि' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप तत्त्वबोध प्राप्त कर चुके हैं तो अपने बोधकी अभिवृद्धिके लिए प्रश्नकर्ताके रूपमें पूछ रहे मेरा संशय दूर कीजिये ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी, भला बतलाइये तो सही, इस प्रकार नित्य अनुभूत भी सिरपर सदा सवार हुआ भी* अत्यन्त जगमगा रहा यह 'जगत्' नामक आभास कैसे नहीं है ? ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे गुरुवर, यह पहले ही कभी कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है । अतः वन्ध्यापुत्रके तुल्य इस जगत्का अस्तित्व कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं है । यदि इसकी सत्ता है तो काल्पनिकी सत्ता ही है वास्तविक सत्ता इसकी नहीं है ॥ १२ ॥

इस जगद्भ्रान्तिका कारण ही क्या है जिससे कि इसका आविर्भाव हुआ है ? कारणके बिना कहीं कोई कार्य हो ही नहीं सकता ॥ १३ ॥

---

* प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा दृढ़ तथा अर्थक्रियामें अविसंवादी होनेके कारण स्पष्टतः सत्य होनेसे सिरपर चढ़ा हुआ भी, यह अर्थ है ।

न चाऽविकारमजरं सविकारं क्षयाद्दते ।
कारणं क्वचिदेवेह किंचिद् भवितुमर्हति ॥ १४ ॥
ब्रह्मैवेदमनाख्यात्म कारणं प्रविजृम्भते ।
तत्क कस्य कथं नाम जगच्छब्दार्थसंविदः ॥ १५ ॥
तदनाख्ये पदे शान्ते चिरात्प्रथमचेतनम् ।
कंचित्काललवं तिष्ठत्यातिवाहिकदेहभृत् ॥ १६ ॥
क्षणे वत्सरसंवित्तिं स्वप्ने त्वमिव चेतति ।
काकतालीयवत्तत्र चन्द्रार्कादींश्च पश्यति ॥ १७ ॥
संकल्पैकात्मनस्तस्य देशकालक्रियान्वितम् ।
अत्यन्तमेव व्योम्न्येव भुवनं भासते स्वयम् ॥ १८ ॥

अविकार अजर अमर ब्रह्म कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्व अवस्थाके नाशके बिना यहाँ कोई भी वस्तु कहींपर भी सविकार नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

यदि कहिये कि निर्विकार ब्रह्म ही विवर्तोपादानकारण होकर मायासे जगत्के आकारमें स्फुरित होता है तो जगत् शब्दका अर्थ सत्य प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**ब्रह्मैव**' इत्यादिसे ।

यदि निर्विकार अजर अमर यह ब्रह्म ही विवर्तोपादन कारण है कहो तो जगत् शब्दार्थकी यथार्थ प्रतीतियां कहांपर किसको कैसे होंगी ॥ १५॥

उस निर्विकार शान्त पदमें हिरण्यगर्भ नामधारी पहला चेतन द्विपरार्ध-परिमित कुछ काल तक विवर्तरूप आतिवाहिक देह धारण कर स्थित-सा होता है इसलिए वही जगत्की भ्रान्तिका विषय सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

जैसे आपको स्वप्नमें एक क्षण कालमें एक वर्षकी प्रतीति होती है वैसे ही उसे भी एक क्षणमें वर्ष आदि कालविस्तारकी भ्रान्ति होती है उसमें वह काकतालीयके समान चन्द्र, सूर्य आदिको देखता है ॥ १७ ॥

एकमात्र संकल्पस्वरूप उस हिरण्यगर्भनामक प्रथम चेतनको देश, काल और कर्मसे युक्त सम्पूर्ण भुवन एकमात्र चिदाकाशमें ही अपने आप खूब भासित होता है ॥ १८ ॥

तस्मिन् मिथ्योपसंपन्ने स मिथ्यापुरुषस्ततः ।
मिथ्यैव तत्समाचारं कुर्वन्विपरिवर्तते ॥ १९ ॥
अधस्तादूर्ध्वमायाति पुनरुर्ध्वाद् व्रजत्यधः ।
कल्पितानन्तसंभारपदार्थानर्थसंभ्रमः ॥ २० ॥
काकतालीयवत्तस्य संकल्पस्य भवेद्यदि ।
यद्यथा तत्तथाऽद्याऽपि सुस्थिरामात्तवान्स्थितिम् ॥ २१ ॥
शिला वन्ध्यासुतमुखे व्योमचूर्णेन रञ्जनम् ।
करोतीत्यादिवदिदं मिथ्या जगदुपस्थितम् ॥ २२ ॥
सत्यमेवेदमथवा मिथ्यात्वं तु कुतः किल ।
न मिथ्यात्वं न सत्यत्वं किमपीदमजं ततम् ॥ २३ ॥

तदुपरान्त यह मिथ्या पुरुष (काल्पनिक पुरुष) हिरण्यगर्भ मिथ्या ही सम्पन्न भुवनमें मिथ्या ही भूत, भुवन आदिकी सृष्टि क्रिया करता हुआ विवर्तताको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

वही हिरण्यगर्भ अनन्त पदार्थोंके अनर्थरूपी भ्रमकी कल्पना कर सुकृत आदि फलका भोग करनेके लिए नीचेसे ऊपर जाता है और फिर ऊपरसे नीचे जाता है ॥ २० ॥

यदि उसके संकल्पकी काकतालीयके समान जैसी पहले स्थिति थी वैसी ही आज भी स्थिति हुई तो उसीसे 'वही यह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कर उसने जगत्‌में भ्रान्तिसे सुस्थिर (दृढ़) स्थिति ग्रहण की ॥ २१ ॥

इस प्रकार भ्रान्तिसे उपस्थित यह मिथ्या जगत् शिलारूपी नायिका वन्ध्यापुत्ररूपी अपने पतिके ललाटमें आकाशके चूर्णसे तिलक लगाकर शोभाभिवृद्धि करती है इत्यादि वाक्यार्थके समान केवल विकल्प ही है ॥ २२ ॥

यदि अत्यन्त असत्‌में मिथ्यात्व धर्मकी भी अप्रसिद्धिका अवलोकन करें तो केवल अधिष्ठानमात्र होनेसे यह सत्य ही है, ऐसा कहते हैं—**'सत्यमेव'** इत्यादिसे ।

भगवन्, अथवा यह सत्य ही है इसका मिथ्यात्व कहांसे हो सकता है यदि व्यावर्तन करने योग्य (निवर्तनीय) मिथ्यात्वकी अप्रसिद्धिसे व्यावर्तक सत्यत्वकी कल्पना भी उसमें नहीं घटती ऐसा विचार करते हैं तो निर्वचन

आकाशकोशवत्स्वच्छं शिलाजठरवद्घनम् ।
पाषाणमौनवच्चेदं शान्तमेवाऽक्षयं जगत् ॥ २४ ॥
चिन्मात्रे सर्वसंकल्पे विराडात्मातिवाहिके ।
देहे संवेदनं व्योम जगदित्यवभासते ॥ २५ ॥
एवं ब्रह्ममहाकाशमेवेदं क्व जगत्कथा ।
शान्तं समसमाभोगमेकमाद्यन्तवर्जितम् ॥ २६ ॥
यथा पयसि वीचीनामुन्मज्जननिमज्जनैः ।
न जलान्यत्वमेवं हि भावाभावैः परैः पदे ॥ २७ ॥
परावरविदः केचिदेतस्मिन् परमे पदे ।
शुद्धे परिणमन्त्यन्तर्वारिबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥ २८ ॥
परेऽपरमिदं भाति परस्यैव परात्मकम् ।
संभवन्त्यमले शान्ते न जगन्ति न तत्क्रियाः ॥ २९ ॥

वाणीका प्रसार न होनेसे यह अवर्णनीय कुछ अजन्मा विस्तृत है ॥ २३ ॥

यह जगत् आकाशकोशके सदृश निर्मल, शिलागर्भके समान ठोस और पाषाणके समान मौन शान्त अक्षय (ब्रह्म) ही है ॥ २४ ॥

चिदात्माके मायिक सर्वाकार संकल्परूप विराट् आतिवाहिक देहमें संवेदनरूप जो आकाश है वही जगत्‌के रूपमें भासता है ॥ २५ ॥

ऐसा होनेपर जो फलित हुआ उसे कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार यह समोंसे भी सम (सर्वथा वैषम्य रहित) विग्रहवाला जन्मनाशशून्य अद्वितीय शान्त ब्रह्म महाकाश ही है, जगत्कथा कहां है ? ॥ २६ ॥

जैसे जलमें लहरियोंके उतराने और डूबनेसे जलमें भिन्नता नहीं आती वैसे ही ब्रह्ममें अन्य जन्म और विनाशोंसे यानी सृष्टि और प्रलयोंसे अन्यता नहीं आती है ॥ २७ ॥

जैसे जलमें जलबिन्दु एकरस हो जाता है वैसे ही सारासारविवेकवान् कोई महात्मा पुरुष इस शुद्ध परम पदमें ऐकरस्यको प्राप्त होते हैं ॥२८॥

परब्रह्ममें परब्रह्मका वेषसा, कार्यसा अथवा अवयवसा यह अपरका (जगज्जीवरूपका) भान होता है, वास्तविक विचार करनेपर वह परब्रह्म ही

स्वप्ने स्वप्न इति ज्ञाते दृश्ये ब्रह्मतयाऽपि च ।
मृगाम्बुनि परत्वेन को भावयति भावनाम् ॥ ३० ॥
परमार्थचमत्कारमन्तःस्थानुभवं विना ।
अन्यस्याऽन्यं न जानाति मीधुस्वादुमिव द्विजः ॥ ३१ ॥
निर्वाय निज आत्माऽयं परिवृत्याऽवलोकितः ।
चेत्योन्मुखत्वमुत्सृज्य संतिष्ठेच्छान्त आत्मनि ॥ ३२ ॥

हो जाता है। निर्मल शान्त परब्रह्ममें न जगतोंका संभव है और जागतिक व्यवहारोंका ही संभव है ॥ २९ ॥

स्वप्नके 'यह स्वप्न है' यों ज्ञात होने पर, मृगतृष्णा के 'यह केवल ऊषर भूमि है' यों परिज्ञात होनेपर इसी प्रकार दृश्यके भी ब्रह्मरूपसे ज्ञात होनेपर फिर उसमें सत्यताबुद्धिकी भावना कौन करता है अर्थात् जैसे स्वप्नके 'यह स्वप्न है' यह ज्ञात होने तथा मरीचिकाके 'यह केवल ऊषर भूमि है' यह ज्ञात होनेपर फिर उनमें सत्यताबुद्धि किसीको भी नहीं होती वैसे ही दृश्यके ब्रह्मरूपसे परिज्ञात होनेपर उसमें सत्यताबुद्धिकी किस मूढ़को भावना होगी ॥ ३० ॥

जैसे ब्राह्मण मदिराके माधुर्यको नहीं जानता वैसे ही प्रबुद्ध पुरुष परमार्थ चमत्कारसे अपने अन्दरके अनुभवके बिना अन्यके (अपवित्र प्रपञ्चके) भोग-रसको नहीं जानता है। अथवा जैसे ब्राह्मण मदिराके माधुर्यको नहीं जानता वैसे ही अन्य (अज्ञ) पुरुष अपने अन्दरके अनुभवके बिना अन्यके (प्रबुद्धके) परमार्थचमत्कारको नहीं जानता है यह अर्थ करना चाहिए। इस अर्थमें 'अन्यस्याऽन्यं न जानाति' पाठके स्थानपर 'अन्यस्याऽन्यो न जानाति' पाठ मानना पड़ेगा ॥ ३१ ॥

यह निज आत्मा बाह्यदृष्टिसे लौटकर, चेत्योन्मुखताका त्यागकर समाधिमें चरमसाक्षात्कारवृत्तिसे अवलोकित होकर शान्त मुक्तात्मामें स्थित होता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।' अर्थात् मोक्षकी इच्छा कर रहे किसी धीर महात्माने विषयोन्मुखताका त्यागकर (अन्तर्मुख-इन्द्रिय होकर) प्रत्यगात्माका साक्षात्कार किया। ऐसी श्रुति है ॥ ३२ ॥

वसिष्ठ उवाच

दृश्यं बीजाङ्कुर इव स्थितं ब्रह्मणि कारणे ।
इति सर्गादिसद्भावः कस्मान्नेहोपपद्यते ॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच

बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संश्रितो नोपलभ्यते ।
बीजोदरे तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्तैवं जगत्तैवोपलभ्यते ।
अस्ति चेत्तद् भवेन्नित्यं सा ब्रह्मैवाऽविकारि तत् ॥ ३५ ॥
अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम् ।
उदेतीति किलाऽस्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके श्रीवसिष्ठजीकी शङ्काका समाधान करनेपर फिर वसिष्ठजी बीजाङ्कुरन्यायसे ब्रह्ममें जगत्सत्यताकी शङ्का करते हैं—**'दृश्यम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, दृश्य कारणभूत ब्रह्ममें बीजमें अङ्कुरके समान स्थित है । ऐसी परिस्थितिमें यहाँ सर्गादिके अस्तित्वकी उपपत्ति क्यों नहीं होती है ? ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यदि अंकुर सत्य हो तो बीजके अन्दर स्थित ही वह बीजपुटको तोड़कर बाहर निकलता है यह मानना होगा किन्तु ऐसी बात है नहीं। बीजको फोड़नेपर उसके अन्दर अंकुररूपसे स्थित अंकुर दिखाई नहीं देता । बीजके अन्दर जो सूक्ष्म अवयवोंका अस्तित्व है वह बीज ही है, अंकुर नहीं है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मके अन्दर जगत्सत्ता वैसी (बीजमें अंकुरके तुल्य) नहीं है किन्तु जगत्ता ही उपलब्ध होती है । यह बीज और अंकुरकी अपेक्षा ब्रह्म और जगत्में विशेषता है । यदि कहिये प्रलयकालमें ब्रह्ममें जगत् बीजमें अंकुरकी नांई ही है तो वह जगत्सत्ता नित्य ब्रह्म ही होगी, क्योंकि ब्रह्म अविकारी हैं । इसलिए बीजांकुरन्यायकी यहाँपर उपपत्ति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ३५ ॥

निर्विकार निराकारसे विकारवान् और साकारका आविर्भाव होता है यह हमने कहीं लोकमें न देखा है और न शास्त्रोंमें सुना ही है ॥ ३६ ॥

अनाकृतावाकृतिमन्न चैतत्स्थातुमर्हति ।
परमाणौ न चैवाऽन्तरिव संभान्ति मेरवः ॥ ३७ ॥
समुद्‌गके रत्नमिव जगद् ब्रह्मणि तिष्ठति ।
महाकारं निराकार इत्युन्मत्तवचो भवेत् ॥ ३८ ॥
शान्तं परं च साकारस्याऽऽधार इति राजते ।
न वक्तुं राजते क्वेव साकारस्याऽविनाशिता ॥ ३९ ॥
बोध एवाऽयमाकार इति कल्पनयाऽपि धीः ।
अपूर्वैः स्वप्नवद्रूढैः संसारैर्नोपलभ्यते ॥ ४० ॥
अपूर्व एव स्वप्नोऽयं यद्ध सर्गोऽनुभूयते ।
स्वप्नः किलाऽनुभूतार्थः स्वभ्यस्त इव दृश्यते ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार निर्विकार और निरवयवमें साकार और सावयवकी (स्थूलकी) स्थिति भी प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणोंसे विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'अनाकृता०'** इत्यादिसे ।

निराकार निरवयव ब्रह्ममें साकार और सावयव इस दृश्यकी स्थिति वैसे ही असंभाव्य है जैसे कि परमाणुके अन्दर अनेक सुमेरु पर्वतोंका भासना असंभाव्य है ॥ ३७ ॥

पेटीमें रत्नकी तरह निराकार ब्रह्ममें महाकार (विशाल) जगत् स्थित है यह कथन तो उन्मत्तके प्रलापके तुल्य ही होगा, अतएव अश्रद्धेय है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

शान्त (सर्वोपरतिरूप) परमब्रह्म साकार जगत्का तादात्म्यसे (अभेद-सम्बन्धसे) आधार है यह कथन शोभा नहीं देता, क्योंकि साकार पदार्थ अविनाशी है यह कथन कहां शोभा पा सकता है ? ॥ ३९ ॥

ऐसी स्थितिमें अपूर्व, स्वप्नके समान बद्धमूल आकारोंसे क्षणिक बोध ही साकार होता है यह उपपत्तिशून्य है, ऐसा कहते हैं—**'बोध एव'** इत्यादिसे ।

बौद्धोंकी कल्पनासे भी अपूर्व स्वप्नके समान बद्धमूल हुए संसारोंके रूपसे क्षणिक बोध ही साकार होता है, यह बुद्धि उपपन्न नहीं होती ॥ ४० ॥

क्यों उपपन्न नहीं होती ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'अपूर्व'** इत्यादिसे ।

क्योंकि यह सर्गरूप स्वप्न अपूर्व (पहले अननुभूत) ही चक्षु आदि

यदेव जाग्रत्तत्स्वप्न इति नाऽत्रोपपद्यते ।
स्वप्ने प्रदग्धः पुरुषः कथं प्रातर्विलोक्यते ॥ ४२ ॥
अशरीरस्य न स्वप्न इत्येतदपि नोचितम् ।
संभवन्ति पिशाचाद्यास्तेषां च स्वप्नवत्स्थितिः ॥ ४३ ॥
तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ ४४ ॥
स्वप्ने चिदेव शैलादिरूपेणाऽऽत्मनि तिष्ठति ।
ब्रह्मात्माऽखिलमुक्तोऽसावन्येनाऽसौ कृतो यदि ॥ ४५ ॥

प्रमाणोंसे अनुभूत होता है किन्तु स्वप्न जाग्रत्कालमें अनुभूत अर्थवाला संस्कार-मात्रसे भासमानार्थ हैं यानी जगत्में खूब अभ्यस्त अर्थ ही स्वप्नमें दिखाई देता है ऐसा लोकमें सर्वजनप्रसिद्ध है ॥ ४१ ॥

इसलिए बौद्ध लोगोंका जाग्रत् और स्वप्नके भेदका अभाव कथन भी असंगत ही है, ऐसा कहते हैं—**'यदेव'** इत्यादिसे ।

जो ही जाग्रत् है वही स्वप्न है इस प्रकारका बौद्धाभिमत जाग्रत् और स्वप्नका अभेद यहाँ उपपन्न नहीं होता, क्योंकि स्वप्नमें मरा हुआ श्मशानमें ले जाकर जलाया गया पुरुष प्रातःकालमें फिर कैसे दिखलाई देता है । यदि जाग्रत् और स्वप्नका अभेद होता तो स्वप्नमें मरे हुए जलाये गये पुरुषका फिर दर्शन न होता । इसलिए चित्की साकारत्व, क्षणिकत्व आदिकी कल्पनासे प्रपञ्चकी स्वप्न-तुल्यता सकल प्रमाणोंसे विरुद्ध सिद्ध होती है अतः कूटस्थ ब्रह्ममें अध्यस्त होनेके कारण ही बाध्य होनेसे प्रपञ्चकी स्वप्नतुल्यता सिद्ध है, यह अभिप्राय है ॥ ४२ ॥

चार्वाकके आक्षेपका समाधान करते हैं—**'अशरीरस्य'** इत्यादिसे ।

जिसका स्थूल शरीर नहीं होता उसका स्वप्न देखनेमें नहीं आता है अतः अशरीर प्रत्यगात्मामें तीन अवस्थारूप स्वप्नका आरोप है यह उक्ति उचित नहीं है, यह चार्वाकोंका कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि पिशाच आदि स्थूल शरीर रहित होते हैं और उनकी स्वप्नवत् स्थिति रहती है ॥ ४३ ॥

इसलिए परिशेषसे निर्दोष अपना पक्ष स्थित रहा, यह कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादि डेढ़ श्लोकसे ।

नेहाऽस्तित्वं न नास्तित्वमुपलब्धेऽनुभूयते ।
नैवाऽनुभवितृत्वं च न चाऽनुभवनक्रमः ॥ ४६ ॥
किमपीदमनाख्येयं बुद्धेनैवाऽनुभूयते ।
स्वसंवेदनसंवेद्यं सत्तासत्ताविजृम्भितम् ॥ ४७ ॥
अभावरूपिणो भावा अभावा भावरूपिणः ।
सर्वदा सर्वथा सर्वे भान्ति भासुरतां गताः ॥ ४८ ॥
बृंहति ब्रह्मणि ब्रह्म व्योम व्योमनि वर्धते ।
न चोपपद्यते किंचिद् ब्रह्मव्योम्नि विबृंहणम् ॥ ४९ ॥

इस कारण जैसे स्वप्नमें चित् ही पर्वत आदिके रूपसे आत्मस्वरूपमें स्थित रहती है वैसे ही निराकार परमात्मा ही सर्ग आदि नानाकारोंके रूपसे संविद्रूप स्वात्मामें स्वप्नके समान स्थित है ॥ ४४ ॥

ब्रह्मात्मैकताका ज्ञान होनेपर प्रपञ्चका स्वप्नकी नाँई ही बोध होनेसे सत्ता और असत्तासे निर्वचन करनेके अयोग्य तुच्छता ही परिशिष्ट रहती है, ऐसा कहते हैं—'**ब्रह्मात्मा**' इत्यादिसे ।

यदि यह प्रत्यगात्मा सकल बन्धनोंसे रहित ब्रह्म ही है और यह प्रपञ्च अज्ञान द्वारा ही स्वप्नवत् कृत है यह सिद्धान्त है तो इस सिद्धान्तमें उस प्रकारके ब्रह्मात्माके उपलब्ध होनेपर इस प्रपञ्चमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का अनुभव नहीं ही होता है तथा इसमें अनुभविता और अनुभव आदिका क्रम भी उपलब्ध नहीं होता ॥ ४५,४६ ॥

अतः अनिर्वचनीय यह जगत् परमात्माके स्वरूपके प्रबुद्ध होने यानी ज्ञानवान् होनेपर कदापि अनुभूत नहीं होता । उस समय ब्रह्मस्वरूप ही शेष रहता है । अज्ञानतादशामें भी सत्ता और असत्तासे परिपुष्ट स्वसंवेदनवेद्यरूप यह अनिर्वचनीय ही है ॥ ४७ ॥

भाव यानी आत्माके अस्तित्व, प्रियत्व आदि धर्म अभावरूप तथा अभाव (जगत्के आदि धर्म) भावरूप होकर सबके सब सदा सर्वथा देदीप्यमान हो भासते हैं ॥ ४८ ॥

ब्रह्ममें ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त होता है और आकाशमें आकाश वृद्धिको

द्रष्टृदृश्यदृगात्माऽयमहं सर्गादिविभ्रमः ।
शान्तचिद्व्योमविस्तारो न कुड्याद्युपपद्यते ॥ ५० ॥
यथा न सन्न कुड्यादि स्वसंकल्पनपत्तनम् ।
तथैवाऽयं जगदिति शान्तमेकमनामयम् ॥ ५१ ॥
पूर्णं हि परमं शान्तमिदं सर्वमखण्डितम् ।
अनिङ्गनमनाभासमनाद्यन्तमचेतितम् ॥ ५२ ॥
अजन्ममरणं शान्तमनादिनिधनं महत् ।
अनुपाधि निराकारं स्वपदं बुद्धवानहम् ॥ ५३ ॥
या संविदन्तः स्फुरति सैवोपायाति वाक्यताम् ।
यद्बीजं लीनमवनौ तद्यात्यङ्कुरतां किल ॥ ५४ ॥
शुद्धज्ञानामयैकात्मा द्वैतैक्यपरिवर्जितः ।
मनागपि न जानामि द्वैतैक्यकलनाकलाम् ॥ ५५ ॥

प्राप्त होता है । जगत्के आकारसे वृद्धि ब्रह्मरूपी आकाशमें (निराकार ब्रह्ममें) कुछ भी उपपन्न नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥

द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप यह मैं इत्याकारक सृष्टि आदिका भ्रम शान्त चिदाकाशका ही विस्तार है, यह कुड्य आदि (साकार) नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

जैसे अपना मनोरथकल्पित नगर सत् नहीं है और उसमें दीवार आदि तो सर्वथा ही असत् हैं वैसे ही यह जगत् भी सुतरां असत् है । यों केवल अद्वितीय निर्विकार ब्रह्म ही यह है ॥ ५१ ॥

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च परम शान्त, निष्क्रिय, वैषयिक आभासहीन, आदि-अन्तशून्य स्वप्रकाश अखण्ड ब्रह्म ही है ॥ ५२ ॥

जन्म मृत्यु विहीन, शान्त, आदि अन्त रहित, असीम, निरुपाधि, निराकार निज परमात्मपदको मैं जान चुका हूँ ॥ ५३ ॥

मेरा यह वाक्य यथार्थ ही है, क्योंकि यह अनुभवमूलक है, यों युक्तिके साथ कहते हैं—'**या**' इत्यादिसे ।

भगवन्, जैसी संवित् (वृत्ति) भीतर स्फुरित होती है वही वाक्यरूपमें परिणत होती है जो बीज भूमिमें पड़ता है वही अंकुरताको प्राप्त होता है ॥५४॥

सर्वे तूष्णीमया एव जीवन्मुक्ता इमे जनाः ।
संशान्तसर्वसंरम्भाः खे खभाव इव स्थिताः ॥ ५६ ॥
जगत्स्पर्शमहारम्भमपि तूष्णीमिदं स्थितम् ।
चित्रं भित्ताविव कृतं मनोराज्य इवोदितम् ॥ ५७ ॥
शैलादिवोत्कीर्णसमं कथायामिव वर्णितम् ।
शम्बरेणेव रचितं व्योम्नि स्वप्न इवोदितम् ॥ ५८ ॥
किल स्वप्नवदेवेदं सर्गादावेव भाति यत् ।
अभित्तिकं निष्प्रतिघं जगत्केवाऽस्य सत्यता ॥ ५९ ॥
जगद्बुद्धाविदं सत्यं परिज्ञानवतो मृषा ।
ब्रह्मात्मक इदं ब्रह्म शान्ते शान्तं पराम्बरम् ॥ ६० ॥

शुद्ध ज्ञानमय अद्वितीय आत्मारूप द्वैत और ऐक्यसे परिवर्जित मैं द्वैत और ऐक्य की कल्पनाका तनिक लेश भी नहीं जानता हूँ ॥ ५५ ॥

ये सब लोग अपने अज्ञानसे जीते हुए भी मेरी दृष्टिमें एकमात्र ब्रह्म होनेसे मौनमय सकल चेष्टाओंसे रहित जीवन्मुक्त ही हैं। जैसे आकाशमें शून्यता स्थित है वैसे ही वे भी मौन तथा सकल चेष्टाओंसे रहित ही स्थित हैं ॥ ५६ ॥

उनका भोग्य यह जगत् त्वगिन्द्रियसे वेद्य होनेपर भी भीतपर अङ्कित चित्रकी तरह तथा मनोरथमें उदित हुए नगरकी तरह चुपचाप स्थित है ॥५७॥

पत्थरसे गढ़ी हुई प्रतिमाके तुल्य, उपन्यासमयी काल्पनिक कथामें वर्णित वृत्तकी भाँति, शम्बरसे रचित जैसा यह जगत् आकाशमें स्वप्नकी तरह उदित है ॥ ५८ ॥

जो यह जगत् सृष्टिके आरम्भमें ही स्वप्नकी तरह ही निराधार (आधार स्तम्भ, भित्ति आदिके बिना) भासता है उसकी भला क्या सत्यता हो सकती है ? ॥ ५९ ॥

दृष्टिभेदसे जगत् चार प्रकारका सम्पन्न हुआ, यह कहते हैं—**'जगत्'** इत्यादिसे।

यह जगत् अज्ञानीकी दृष्टिमें सत्य है, विवेकवान् पुरुषकी दृष्टिमें मिथ्या है। इसे ब्रह्मरूप देख रहे पुरुषकी दृष्टिमें ब्रह्म, है तथा पहली, दूसरी, तीसरी भिन्न भिन्न भूमिकाओंमें आरोहण क्रमसे शान्त हुए पुरुषमें अन्धकारकी तरह क्रमसे शान्त होकर अन्तमें शून्य ही हो जाता है ॥ ६० ॥

सर्व एव इमे भावाः सह स्थावरजंगमाः ।
अस्मदादय आकाशं जगज्ज्ञविषयं तथा ॥ ६१ ॥
खमहं खं भवांश्चित्खं जगत्खं खं खमेव च ।
चिदाकाशैकतामेत्य भजैकाकाशरूपताम् ॥ ६२ ॥
ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन सर्वात्म गगनोपमम् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबोधात्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ ६३ ॥
चिद्रूपत्वादुदेतीदं जगत्तत्रैव लीयते ।
अकारणकमेवाऽतः परं व्योमैव निर्मलम् ॥ ६४ ॥
एतत्सर्वपदातीतं सर्वशास्त्रकलातिगम् ।
पदमासाद्य निर्द्वन्द्वं त्वमाकाशात्मकोऽभवः ॥ ६५ ॥
अहं जगच्च नो पादपाण्यादि न घटादि च ।
सर्वमाकाशमाकाशमेवाऽच्छं सूक्ष्मचिद् भवेत् ॥ ६६ ॥

स्थावर और जंगम सहित सकल अस्मदादि भावरूप जगत् तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें आकाशरूप ही है ॥ ६१ ॥

हे गुरुवर, मैं आकाश हूँ, आप आकाश हैं, चित् आकाश है, आकाश आकाश ही है। आप चिदाकाशरूपताको प्राप्त होकर मेरे कथन-की परीक्षाके लिए एकाकाशरूपताका भजन कीजिये ॥ ६२ ॥

हे गुरुवर, ब्रह्माकाशभावसे स्थित, आकाशकल्प स्वरूप-ज्ञानसे सर्वात्मकचिदाकाश सदृश दो चरणवाले जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ आपको मैं ज्ञेय पूर्णानन्द ब्रह्मके अभेदसे जाननेके कारण प्रणाम करता हूँ ॥ ६३ ॥

जो सर्वात्मक है वह गगनतुल्य भी है यह कथन विरुद्ध है? इस शङ्काका निवारण करते हुए कहते हैं—**'चिद्रूपत्वात्'** इत्यादिसे।

ब्रह्मके चिद्रूप होनेसे यह जगत् अकारण ही उसमें उदित होता है और उसीमें लीन हो जाता है, इसलिए यह निर्मल परम व्योम ही है ॥ ६ ॥

सकल शास्त्रीय युक्तियोंका अतिक्रमण करनेवाला यानी सकल शास्त्र-युक्तियोंका अगम्य सकलपदोंसे अतीत उस निर्द्वन्द्व पदको प्राप्तकर आप सदा ब्रह्माकाशस्वरूप थे ॥ ६५ ॥

मैं यानी राम और उसके अवयव पैर, हाथ आदि तथा उसके बाह्य घट

सर्वापह्नव एवाऽयं मया यो दर्शितस्तव ।
स निन्द्यो वादिनां वादेष्वात्मज्ञानेषु राजते ॥ ६७ ॥
काष्ठमौनात्मको वादे न सर्वापह्नवो यदा ।
क्रियते तेन वादेषु नाऽऽत्मज्ञानं प्रसीदति ॥ ६८ ॥
प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यदगम्यमचिह्नितम् ।
स्वानुभूतिमयं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥ ६९ ॥
सर्वागमार्थसमतीतमचिह्नमच्छ-
माकाशमेकमजमाद्यमनामरूपम् ।
शुद्धं चिदात्मकमिहाऽस्त्यनुभूतिमात्रं
शान्ताभिधानकलनं मलशङ्कयाऽलम् ॥ ७० ॥

आदि प्रसिद्ध जगत् नहीं ही है, क्योंकि सब कुछ निर्मल सूक्ष्म चिदाकाश ही है ॥ ६६ ॥

यद्यपि यह सकल पदार्थोंका अपह्नव (अपलाप) मेरी माता बांझ है, मेरे मुँहमें जीभ नहीं है इत्यादि वाक्यके समान व्याघात, वैतण्डिकत्व आदि दोषोंका आधायक होनेसे तार्किक लोगोंके वादोंमें निन्दनीय है, इसलिए तार्किकों-की सभामें शोभा नहीं पा सकता तथापि बहुतसे वादियों द्वारा बहुत प्रकारसे उपन्यस्त आत्मज्ञानोंमें परमपुरुषार्थपर्यवसायी ज्ञान कौन होगा ऐसी परीक्षा (विवेचन) करनेवालोंकी सभामें शोभा देता ही है । सर्वापह्नवके बिना अनर्थकी आत्यन्तिक निवृत्तिसे उपलक्षित निरतिशय आनन्दमें प्रतिष्ठा सिद्ध नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ ६७ ॥

चूँकि काष्ठमौनपर्यवसायी होनेसे काष्ठमौनरूप सर्वापह्नव वादविवादमें नहीं हो सकता है, इसलिए सर्वापह्नवके न करनेसे निर्विशेषरूप आत्माका परिचय न होनेके कारण वादोंमें आत्मज्ञानका उदय नहीं होता ॥ ६८ ॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका जो अगम्य है निराकार निर्विकार स्वानुभववेद्य वह ब्रह्म वादविवादोंसे कैसे प्राप्त (ज्ञात)हो सकता है ? ॥ ६९ ॥

उक्त विषयका ही साररूपसे संक्षेप कर उपसंहार करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० उ० बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशो नाम पञ्चनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

एवमुक्त्वा महाबुद्धे रामो राजीवलोचनः ।
मुहूर्तमात्रं विश्रम्य तूष्णीं स्थित्वा परे पदे ॥ १ ॥
परमां तृप्तिमापन्नो विश्रान्तः परमात्मनि ।
मुनिं पुनरपृच्छत्तं जानन्नपि हि लीलया ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन्संशयाम्भोदशरत्काल मुनीश्वर ।
इदानीं संशयोऽयं मे जातो मनसि पेलवः ॥ ३ ॥

सकल शास्त्रोंके अर्थोंसे अतीत, अनुभवमात्रैकगम्य, चिह्न (आकृति) रहित, अतएव नाम और कल्पनासे रहित, शुद्ध, चिदात्मक, एक, निर्भय, नामरूप रहित आद्य चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है। उसके मलकी शङ्काके लिए तनिक भी स्थान नहीं है ॥ ७० ॥

एक सौ पचानबे सर्ग समाप्त

एक सौ छानबे सर्ग

[जिस प्रकार गुरु, शास्त्र आदिसे उपदिष्ट उपायसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है वैसे दारु वैवधिकोंके आख्यानका संक्षेपमें वर्णन]

वाल्मीकिजीने कहा—हे महाबुद्धिसम्पन्न भरद्वाज, यह कहकर मुहूर्त भर चुप रहकर परमपदमें विश्राम लेकर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीने, जो परमपदमें विश्रान्त हो चुके थे अतः परमतृप्त थे, जानते हुए भी गुरुमुखसे सुननेके कौतुकसे श्रीवसिष्ठमुनिजीसे पुनः पूछा ॥ १,२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, हे मुनिनायक, आप संशयरूपी मेघके

एवमेतन्महाज्ञानं संसारार्णवतारणम् ।
समस्तमेव वाग्जालं समतीत्याऽवतिष्ठते ॥ ४ ॥
यदिदं किल सद्ब्रह्म स्वसंविन्मात्रनिश्चयम् ।
तदवाच्यं किल गिरां महतामपि मानद ॥ ५ ॥
एवं स्थिते परं ज्ञेयं सर्वसंकल्पनोज्झितम् ।
स्वसंवित्तुर्यतन्मात्रलभ्यं दुर्गमतां गतम् ॥ ६ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्याभेदैषिणां किल ।
कथं शास्त्रपदैस्तुच्छैः सविकल्पैरवाप्यते ॥ ७ ॥
विकल्पसारशब्दार्थैर्ज्ञानं शास्त्रैर्न लभ्यते ।
तत्किमर्थमनर्थाय गुरुशास्त्रादि कल्पितम् ॥ ८ ॥

लिए शरत्कालके सदृश हैं। इस समय मेरे मनमें एक हल्का-सा सन्देह उत्पन्न हो गया है। पूर्वोक्त प्रकारसे संसाररूपी सागरसे पार लगानेवाला यह महाज्ञान सकल वाक्प्रपञ्चके परे है। यानी वाक्प्रपञ्चका विषय नहीं है ॥ ३,४ ॥

हे सम्मानकारिन्, जो यह सद् ब्रह्म केवल स्वानुभवमात्रज्ञेय है वह महान् पुरुषोंकी वाणीसे भी अवाच्य है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इस श्रुतिसे वह शब्दप्रवृत्तिनिमित्त धर्मसे रहित है ॥ ५ ॥

ऐसी अवस्थामें सकल संकल्प-विकल्पोंसे शून्य परम ज्ञेय ब्रह्म केवल संविद्रूप तीनों अवस्थाओंसे अतीत स्वप्रकाश वस्तुसे लभ्य है, अतएव जाग्रत् अवस्थाके अन्तर्गत गुरु और शास्त्र आदिका अगम्य होनेके कारण अति दुर्गमताको प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद और संख्याभेद माननेवाले वादियोंके तुच्छाति-तुच्छ यानी क्षुद्रतर प्रतियोगी, व्यवच्छेद आदिकी अपेक्षा रखनेके कारण उसका बोध करानेमें असमर्थ सविकल्प शास्त्रोंसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? ॥ ७ ॥

विकल्परूपी सारवाले शब्द-अर्थरूप शास्त्रोंसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती है, फिर हजारहाँ विकल्पोंके अनुसंधान और भ्रान्ति परम्परारूप अनर्थके लिए गुरु, शास्त्र आदिकी कल्पना क्यों की है ? ॥ ८ ॥

गुरुशास्त्रादिविज्ञाने कारणं याऽस्त्यकारणम् ।
तदत्र निश्चयं ब्रह्मन्ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमेतन्महाबाहो न शास्त्रं ज्ञानकारणम् ।
नानाशब्दमयं शास्त्रमनाम च परं पदम् ॥ १० ॥
तथापि राघवश्रेष्ठ यथैतद्धेतुतां गतम् ।
शास्त्राद्युत्तमबोधस्य तत्समासेन मे शृणु ॥ ११ ॥
सन्ति कचिद्वैवधिकाः कीरकाश्चिरदुर्भगाः ।
दुःखेनाऽभ्यागताः शोषं ग्रीष्मेणेव जरद्द्रुमाः ॥ १२ ॥
दारिद्र्येण दुरन्तेन कन्थासंस्थानकारिणा ।
दीनाननाशयाः पद्मा निर्गतेनेव वारिणा ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन्, इसलिए तत्त्वके विज्ञानमें गुरु, शास्त्र आदि कारण हैं, अथवा अकारण है? इस संशयके विषयमें मुझसे निश्चय कहने की कृपा कीजिये, क्योंकि आप वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः आप ही मेरे संशयका उच्छेद करनेमें समर्थ हैं ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, यद्यपि यह शास्त्र ज्ञानका कारण नहीं है, क्योंकि शास्त्र नाना शब्दों और अर्थोंका भण्डार है और परमपद अनाम है। यानी शब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्य होने और असंसृष्ट होनेके कारण परमपद न पदार्थ है और न वाक्यार्थ ही है ॥ १० ॥

हे रघुकुलदीपक, तथापि जैसे यह शास्त्र आदि उत्तम ज्ञान तथा उसके फल मोक्षके प्रति कारण हुआ है वह संक्षेपरूपमें मुझसे सुनिये ॥ ११ ॥

कहींपर चिरकालसे दुर्भाग्यमें पड़े हुए बंहगी ढोनेवाले कीरक (कीरक देशके) लोग थे। वे जैसे ग्रीष्मसे पुराने वृक्ष सूख जाते हैं वैसे ही दुःखसे शोषको (कृशताको) प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

चिथड़ोंकी कन्थासे ओढ़नी बनवानेवाले दुरन्त दारिद्र्यने वैसे ही उनका मुँह और अन्तःकरण दीन-हीन बना दिया जैसे कि बाँध टूट जानेसे निकल गये जलसे कमल निष्प्रभ हो जाते हैं ॥ १३ ॥

दौर्गत्यपरितप्तास्ते जीवितार्थमचिन्तयन् ।
जठरस्य कया युक्त्या वयं कुर्मः प्रपूरणम् ॥ १४ ॥
इति संचिन्त्य विधिना दिनान्तेन दिनंप्रति ।
दारुभारेण जीवामो विक्रीतेनेति संस्थिताः ॥ १५ ॥
इति संचिन्त्य ते जग्मुर्दार्वर्थं विपिनान्तरम् ।
ययैवाऽऽजीव्यते युक्त्या सैवाऽऽपदि विराजते ॥ १६ ॥
इति ते प्रत्यहं गत्वा काननं भवचारिणः ।
दारूण्यानीय विक्रीय चक्रुर्देहस्य धारणम् ॥ १७ ॥
यत्प्रयान्ति वनान्तं ते तस्मिन्सन्त्यखिलानि हि ।
गुप्तागुप्तानि रत्नानि दारूणि कनकानि च ॥ १८ ॥
तेषां भारभृतां मध्यात्केचित्कतिपयैर्वनात् ।
जातरूपाणि रत्नानि तानि संप्राप्नुवन्ति हि ॥ १९ ॥
केचिच्चन्दनदारूणि केचित्पुष्पाणि मानद ।
केचित्फलानि विक्रीय जीवन्ति चिरकीरकाः ॥ २० ॥

दारिद्र्यसे अत्यन्त सन्तप्त हुए उन लोगोंने आजीविकाके लिए विचार किया कि हम लोग किस युक्तिसे अपने उदरकी पूर्ति करें ॥ १४ ॥

ऐसा विचार कर प्रतिदिन दिनभरके परिश्रमसे साध्य लकड़ीके बोझके विक्रय कार्यसे हम अपनी आजीविका करेंगे, यों उन्होंने निश्चय किया ॥ १५ ॥

ऐसा निश्चय कर वे लकड़ियाँ काटनेके लिए जंगलमें गये जिस वृत्तिसे आजीविका चलती है वही वृत्ति आपत्तिमें विराजती है ॥ १६ ॥

उस दिनकी कमाईको उसी दिन खानेवाले वे प्रतिदिन जंगलमें जाकर, लकड़ियाँ लाकर और उन्हें बेचकर अपना जीवननिर्वाह करते थे ॥ १७ ॥

जिस वनप्रान्तमें वे जाते थे उसमें गुप्त और अगुप्त सम्पूर्ण रत्न, सुवर्ण और लकड़ियाँ थीं ॥ १८ ॥

उन लकड़हारोंमें से कुछ भाग्यशाली लोग कुछ ही दिनोंमें वनसे उन विविध-रत्नों और सुवर्णको पा गये। कुछ कीराक लोग चन्दनकी लकड़ियाँ,

केचित्सर्वमनासाद्य दुर्दारूण्येव दुर्धियः ।
नीत्वा विक्रीय जीवन्ति वनवीथ्युपजीविनः ॥ २१ ॥
दार्वर्थमुद्यताः सर्वे ते संप्राप्य महावनम् ।
केचित्प्राप्य स्थिताः सर्वे झटित्येवं गतज्वरम् ॥ २२ ॥
इति यावदजस्रं ते सेवन्ते तन्महावनम् ।
प्रदेशात्तावदेकस्मात्प्राप्तश्चिन्तामणिर्मणिः ॥ २३ ॥
तस्माच्चिन्तामणेः प्राप्ताः समग्रा विभवश्रियः ।
परमं सुखमायातास्तत्र ते संस्थिताः सुखम् ॥ २४ ॥
दार्वर्थमुद्यताः सन्तः प्राप्य सर्वार्थदं मणिम् ।
सुखं तिष्ठन्ति निर्द्वन्द्वा दिवि देववरा इव ॥ २५ ॥
सर्वार्थसारपरिपूर्णतया तया ते
काष्ठोद्यमाजिगतसन्मणयो महान्तः ।

कुछ केवड़े और चम्पाके फूल, कुछ लोग अच्छे अच्छे फल बेचकर चिरकाल तक आजीविका चलाते थे ॥ १९,२० ॥

कुछ अभागे और अच्छी चीजोंको खोजनेमें अकुशल जंगली कीरक अच्छी वस्तुएँ न पाकर खराब खराब जलावनकी लकड़ियाँ लाकर, बेचकर जीवनयापन करते थे ॥ २१ ॥

लकड़ियाँ बीननेके लिए उद्योगशील वे सबके सब जंगलमें पहुंचे । वहाँ जाकर उनमें से कुछ लोग रत्न आदि पाकर सबके सब दारिद्र्यरूपी ज्वरसे शीघ्र ही उन्मुक्त होकर स्थित हुए ॥ २२ ॥

इस प्रकार जब तक कि वे लोग नित्य उस वनमें आते जाते थे इसी बीचमें एक स्थानपर उन्हें मणिश्रेष्ठ चिन्तामणि मिली ॥ २३ ॥

उक्त चिन्तामणिसे उन्हें समग्र विभूतियाँ प्राप्त हुईं अतः परम सुखी होकर वे वहाँ सुखसे रहने लगे ॥ २४ ॥

वे लकड़ियोंके पानेके लिए उद्योगशील हुए थे । सब पदार्थोंको देनेवाली बहुमूल्य मणिको पाकर जैसे देवता स्वर्गमें सुखसे रहते हैं वैसे ही शीतोष्णादि दुःख रहित होकर रहने लगे ॥ २५ ॥

उन कीरकदेशनिवासी बंहगी ढोनेवाले लोगोंको लकड़ियोंके लिए

तिष्ठन्ति शान्तभयमोहविषाददुःख-
मानन्दमन्थरधियः समतामुपेताः ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासि० वा० दे० मो नि० उ० काष्ठवैवधिकोपाख्याने चिन्तामणिलाभो नाम षण्णवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९६ ॥

सप्तनवत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

तथा कुरु मुनिश्रेष्ठ यथा वैवधिकक्रमम् ।
असंदेहमिमं सम्यगवगच्छामि मानद ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ये ते वैवधिका राम ते एते मानवा भुवि ।
तेषां दारिद्र्यदुःखं यत्तदज्ञानं महातपः ॥ २ ॥

किये गये उद्योगसे ही बहुमूल्य उत्तम मणि मिली उक्त सकल पदार्थों तथा उत्तमोत्तम धनोंसे प्राप्त हुई पूर्णता वश भय, मोह, विषाद और क्लेशसे रहित हो आनन्दपूर्णबुद्धिवाले वे अन्य लाभ-हानियोंके विषयमें समताको प्राप्त होकर रहते थे ॥ २६ ॥

एक सौ छानबे सर्ग समाप्त

एक सौ सतानबे सर्ग

[वैवधिकाख्यान-तात्पर्यके व्याख्यान क्रमसे आत्मज्ञानमें गुरु, शास्त्र आदि की स्पष्टतः हेतुताका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, जैसे मैं इस वैवधिकोंके (बँहगी ढोनेवाले कीरकोंके) क्रमका - तात्पर्य भली भाँति निस्संदेहरूपसे समझ जाऊँ, हे सम्मानकारिन्, कृपया आप वैसा स्पष्ट विवरण कीजिये ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, जिन वैवधिकोंका (बंहगी ढोनेवालोंका) जिक्र मैंने आपसे किया है हे महातपस्विन्, उन्हें आप ये भूतलवर्ती मानव जानिये और उनका जो दारिद्र्य दुःख है उसे आप अज्ञान जानिये ॥ २ ॥

यत्तन्महावनं प्रोक्तं गुरुशास्त्रक्रमादि तत् ।
यदुद्यतास्ते ग्रासार्थं जना भोगार्थिनो हि ते ॥ ३ ॥
भोगौघाः सिद्धिमायान्तु मम निष्कृपणो जनः ।
अनपेक्षितकार्यार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥ ४ ॥
भोगार्थं संप्रवृत्तोऽपि प्राप्नोत्यभ्यासतः क्रमात् ।
जन्तुश्चिन्तितमेवाऽऽद्यपदं परवशोऽपि सन् ॥ ५ ॥
दार्वर्थमुद्यतो भावी यथा संप्राप्तवान्मणिम् ।
भोगार्थमात्तशास्त्रोऽयं तथाऽऽप्नोति जनः पदम् ॥ ६ ॥

जो वह महावन मैंने कहा है उसे आप गुरु, शास्त्र आदि जानिये । जो उन्हें भोजनके लिए उद्यत हुए कहा वह भोगार्थी लोगोंकी ओर इशारा है ॥ ३ ॥

अत्यन्त कृपण पुरुष अन्य कार्योंकी उपेक्षा कर मेरी भोगराशियाँ सिद्धिको प्राप्त हों इस बुद्धिसे शास्त्रोंमें (शास्त्रप्रतिपादित उपायोंमें) प्रवृत्त होता है ॥ ४ ॥

अत्यन्त कृपण मानव अपने भोगोंकी इच्छासे ही शास्त्रोंमें प्रवृत्त होता है तथापि शास्त्र गुड़जिह्विकाके न्यायसे इसे पहले फलास्वादों द्वारा (भोग-लाभों द्वारा) आकृष्ट कर अन्तमें अपने परम तात्पर्यके विषयभूत परम पदमें अवश्य ले ही जाता है, ऐसा कहते हैं—**'भोगार्थम्'** इत्यादिसे ।

भोगपरवश भोगार्थी पुरुष पहले भोगके लिए ही शास्त्रोंमें प्रवृत्त होता है । शास्त्रसे पहले भोगरूप फलकी प्राप्ति होनेपर उनमें क्रमशः दृढ़ विश्वास हो जानेसे उनमें वर्णित साधनोंके अभ्याससे भिन्न भिन्न भूमिकाओंके आरोहणके क्रमसे चिन्तित शास्त्रके परम तात्पर्यके विषयभूत मोक्षनामक ब्रह्मको परवश होता हुआ भी अवश्य प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

जैसे सार असारके विचार और अन्वेषणादि युक्त वैवधिक काष्ठ ढूंढ़नेको उद्यत हो वनमें गया पर वहां उसे मणि प्राप्त हुई वैसे ही पुरुष भोगके लिए शास्त्रको ग्रहण करता हुआ परमपदको प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

किं स्याच्छास्त्रविचाराभ्यामिति संदेहलीलया ।
कश्चित्प्रवर्तते पश्चादाप्नोति पदमुत्तमम् ॥ ७ ॥
अदृष्टोत्तमतत्त्वार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ।
संदेहेनाऽर्थभोगार्थं जनः प्राप्नोति तत्पदम् ॥ ८ ॥
अन्यथा संप्रवर्तन्ते शास्त्रैर्वासनया जनाः ।
अन्यदासादयन्त्याद्यं मणिं वैवधिका इव ॥ ९ ॥
परोपकारेऽविरतं स्वभावेन प्रवर्तते ।
यः स साधुरिति प्रोक्तः प्रमाणं त्वस्य चेष्टितम् ॥ १० ॥
साध्वाचारवशाल्लोको भोगसंप्राप्तिशङ्कया ।
संदेहश्चाऽप्यतत्त्वज्ञः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥ ११ ॥

पहले शास्त्र और विचारोंसे क्या होगा इस सन्देहके कौतूहलसे पुरुष शास्त्रोंमें प्रवृत्त होता है पश्चात् उस उत्तम पदको प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

जिस पुरुषको परमब्रह्मरूप उत्तम तत्त्वका साक्षात्कार नहीं हुआ वह विषयभोगके लिए सन्देहसे (इससे विषयभोगकी प्राप्ति होगी या नहीं यों संशयसे) शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होता है फिर उससे परम पदको प्राप्त होता है॥ ८॥

अपनी अपनी वासनाके अनुसार शास्त्रके अन्यादृश फलकी संभावना करते हुए लोग उसमें प्रवृत्त होते हैं पर जैसे वैवधिक लोगोंको मणि मिली थी वैसे ही शास्त्रोंसे वाणी और मनका अगोचर निर्विषय निरतिशय सुख प्राप्त करते हैं। यानी जैसे वैवधिक लकड़ियोंके लिए वनमें गये थे मिली उन्हें मणि वैसे ही शास्त्रों द्वारा लोगोंको अन्य परमोत्तम फल प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

सब लोगोंकी स्वभावतः सन्मार्गप्रवृत्तिमें साधुओंका सदाचार दर्शन ही कारण है, इसलिए साधुओंका लक्षण दर्शाते हुए कहते हैं—**'परोपकारे'** इत्यादिसे।

जो निरन्तर परोपकारमें प्रवृत्त होता है वह साधु कहा गया है । उसकी चेष्टा सब लोगोंके लिए प्रमाण है ॥ १० ॥

साधुओंके आचारके कारण ही अज्ञानी लोग शास्त्र-फलमें सन्देह रहते भी भोगप्राप्तिकी आशा आदिसे प्रवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥

भोगार्थं संप्रवृत्तोऽसौ भोगमोक्षावुभावपि ।
तस्मात्प्राप्नोति दार्वर्थी वनाच्चिन्तामणिं यथा ॥ १२ ॥
केचिच्चन्दनदारूणि केचिच्चिन्तामणिं मणिम् ।
केचित्सामान्यरत्नानि प्राप्नुवन्ति यथा वनात् ॥ १३ ॥
केचित्कामं केचिदर्थं केचिद्धर्मं त्रयं तु वा ।
केचिन्मोक्षमशेषं च लभन्ते शास्त्रतस्तथा ॥ १४ ॥
वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव ।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥ १५ ॥
केवलं सर्ववाक्यार्थैर्ध्वन्यमानाऽवगम्यते ।
कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा ॥ १६ ॥

भोगके लिए शास्त्र आदिमें प्रवृत्त हुआ अज्ञानी पुरुष जैसे काष्ठार्थी वैवधिकको जंगलमें चिन्तामणि मिली थी वैसे ही उससे भोग और मोक्ष दोनों पाता है ॥ १२ ॥

जैसे वैवधिकोंमें से किन्हींको वनसे चन्दनकी कीमती लकड़ियां मिलीं, किन्हींको चिन्तामणि नामकी उत्तम मणि मिली और किन्हींको सामान्य रत्न मिले वैसे ही शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होनेवालोंमें से किन्हींको कामकी प्राप्ति होती है, किन्हीं-को अर्थकी प्राप्ति होती है, किन्हींको धर्मकी प्राप्ति है और किन्हींको धर्म, अर्थ और काम तीनों मिलते हैं एवं कोई शास्त्रसे पूर्ण मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १३,१४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, शास्त्र आदिमें त्रिवर्गका (धर्म, अर्थ और कामका) मुख्य वृत्तिसे (अभिधासे) ही उपदेश है लेकिन ब्रह्मप्राप्ति (ब्रह्मबोध) अवाच्य (अनभिधेय) होनेके कारण ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें भी पद और वाक्यकी मुख्यवृत्तिसे नहीं है ॥ १५ ॥

जैसे वसन्त आदि काल-शोभा तत्-तत् ऋतुओंके फूल, फल, पल्लव आदिकी उत्पत्तिसे सूचित होती हुई स्वानुभवसे प्रतीत होती है वैसे ही ब्रह्म-प्राप्ति केवल सकल वाक्यार्थोंसे आलङ्कारिकोंके मतमें व्यञ्जनावृत्तिसे और अन्योंके मतमें लक्षणा वृत्तिसे सूचित (ध्वनित) होती हुई स्वयं अपने अनुभवसे अवगत होती है ॥ १६ ॥

सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम् ।
सर्वगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति ॥ १७ ॥
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात् ।
एष सर्वपदातीतो बोधः संप्राप्यते परः ॥ १८ ॥
एतान्यकारणान्येव कारणत्वं गतान्यलम् ।
परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव तच्छृणु ॥ १९ ॥
शास्त्रादभ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् ।
अनिच्छदेवमेवाऽऽशु पदं पश्यति पावनम् ॥ २० ॥
एतच्छास्त्रादविद्यायाः सात्त्विको भाग उच्यते ।
तामसः सात्त्विकेनाऽस्या भागेनाऽऽयाति संक्षयम् ॥ २१ ॥

यद्यपि शास्त्रमें मुख्यवृत्तिसे (अभिधासे) ब्रह्म-बोधनकी सामर्थ्य नहीं है तथापि लक्षणा आदि उपायोंसे बोधनमें सामर्थ्य है ही, इसलिए उससे अधिकारी लोगोंको ब्रह्मज्ञान होता ही है अतः शास्त्र व्यर्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं— **'सर्वार्थ०'** इत्यादिसे ।

जैसे स्त्रीरत्नमें मणि, दर्पण, चन्द्रमा आदि सबकी सुन्दरताको मात करनेवाली निर्मल लुनाई रहती है वैसे ही सकल दृश्यवर्ग अथवा त्रिवर्गको मातकर सर्वोत्कृष्ट रूपसे स्थित निर्मल ब्रह्मबोध शास्त्रमें विद्यमान है ॥ १७ ॥

सब पदोंको मातकर उत्कृष्टताको प्राप्त यह परम बोध न शास्त्रसे, न गुरुजीके उपदेशवाक्यसे, न दानसे और न ईश्वरके पूजनसे ही प्राप्त होता है यानी इन सबसे ब्रह्मबोध साक्षात् प्राप्त नहीं होता परम्परया तो ये उसकी प्राप्तिमें साधन हैं ही ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अकारण ही ये शास्त्र, गुरु-उपदेश आदि एकमात्र परमात्मामें विश्रान्तिमें (परमब्रह्मावाप्तिमें) जैसे चित्तशुद्धि आदि साधनोंकी वृद्धि द्वारा पूर्णतया कारण हुए हैं, यह मुझसे सुनिए ॥ १९ ॥

बार बार अभ्यास करनेसे शास्त्रसे विशुद्ध हुआ, सकल भोगोंकी इच्छासे रहित तथा प्रतिदिन अन्तर्मुख होनेके कारण प्रत्यगात्माकी ओर झुका हुआ चित्त परम पुनीत ब्रह्मपदका साक्षात्कार करता है ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शास्त्रसे अविद्याका सात्त्विक अंश उत्कृष्ट (उत्तम)

नूनं मलं प्रधानेन क्षालयञ्छास्त्ररूपिणा ।
पुरुषः शुद्धतामेति परमां वस्तुशक्तितः ॥ २२ ॥
अनिच्छयोरेव यथा सप्तसप्तिसमुद्रयोः ।
प्रागदृश्यं तृतीयन्तु स्वभाववशतः स्वतः ॥ २३ ॥
स्वसंनिधानमात्रेण विदितप्रतिभासनम् ।
सदसन्मयमाभोगि प्रतिबिम्बं प्रवर्तते ॥ २४ ॥
मुमुक्षुशास्त्रयोरेवं मिथः संबन्धमात्रतः ।
सर्वसंवित्पदातीतमात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ २५ ॥
अनयोः प्रेक्षणाद्देहे विवेको जायते यथा ।
तथा स्वभावतः शास्त्रविवेकाज्ज्ञेयवेदनम् ॥ २६ ॥
लोष्टेन लोष्टं सलिले क्षालयन्बालको यथा ।
क्षयेण लोष्टयोर्हस्तनैर्मल्यं लभते परम् ॥ २७ ॥

बनाया जाता है अविद्याके अभ्युन्नत हुए सात्त्विक भागसे तामसिक अंश क्षीण हो जाता है ॥ २१ ॥

शास्त्ररूपी जलसे मलको धोनेवाला पुरुष अचिन्त्य शास्त्रादिके प्रभाव वश ज्ञेय नित्य शुद्ध आत्मवस्तुकी सामर्थ्यसे परम शुद्धिको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २२ ॥

जैसे सूर्य और समुद्रका आमना-साभना होनेपर उनकी इच्छा न होनेपर भी पहलेसे अदृश्य भी तीसरा (प्रतिबिम्ब) स्वच्छ और प्रकाश स्वभावसे स्वतः हो जाता है। वहांपर जैसे केवल अपनी सन्निधिसे सदसन्मय विशाल अनुभवसिद्धस्फुरणवाला प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही मुमुक्षु (मुक्ति चाहनेवाले) और शास्त्रका परस्पर सम्बन्ध होनेसे ही सकल ज्ञानोंके विषयसे परे आत्मज्ञान होता है ॥ २३-२५ ॥

जैसे सूर्य और समुद्रके दर्शनसे देहमें उनके वैधर्म्य आदिका बोधरूप विवेक होता है वैसे ही शास्त्रकृत विवेकसे भी देहमें स्वभावतः सकल उपाधियोंसे असंस्पृष्ट अद्वितीय ज्ञेयका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

शास्त्रकृत विचाररूप विकल्पोंसे भ्रान्तिजनित विकल्पोंके क्षालनसे आत्मनैर्मल्यकी प्राप्तिमें भी दृष्टान्त देते हैं—**'लोष्टेन'** इत्यादिसे ।

तथा शास्त्रविकल्पोघैर्विकल्पांश्चेतनाद् बुधः ।
क्षालयन्स्वविचारेण परमां याति शुद्धताम् ॥ २८ ॥
महावाक्यार्थनिष्यन्दं स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
शास्त्रादेरिक्षुरसतः स्वाद्विव स्वानुभूतितः ॥ २९ ॥
प्रभाभित्त्योः समासङ्गाद्यथा लोकोऽनुभूयते ।
श्रुतश्रुतवतोः सङ्गादात्मज्ञानं तथा भवेत् ॥ ३० ॥
त्रिवर्गमात्रसंसिध्यै यत्न मोक्षाय च तच्छ्रुतम् ।
विपुलश्रुतचर्चासु तुच्छमश्रुतमेव तत् ॥ ३१ ॥

जैसे जलमें एक ढेलेसे दूसरे ढेलेको धो रहे बालकको ढेलोंके क्षयसे हाथमें परम निर्मलता प्राप्त होती है वैसे ही शास्त्रीय विचाररूप अनेक विकल्पोंसे भ्रान्तिजनित विकल्पोंको पुनः पुनः आत्मतत्त्वके परीक्षणसे धो रहे विद्वान्‌को अपने विचारसे परम शुद्धता प्राप्त होती है ॥ २७, २८ ॥

ऊपर 'पुनः पुनः आत्मतत्त्वके परीक्षणसे' कहा है उसपर किस प्रमाणसे कैसे परीक्षणसे ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'महावाक्या०'** इत्यादिसे

जैसे कोल्हूमें पेरनेसे निकले हुए ईखके रससे स्वादिष्ट माधुर्यास्वाद अपने अनुभवसे प्राप्त होता है वैसे ही सूत्र, भाष्य, उनके विविध व्याख्यान, महारामायण (योगवासिष्ठ) आदि शास्त्र और गुरुके उपदेशरूप उपायसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थका साररूप ('तत्' पद और 'त्वम्' पद वाच्य अर्थके परिशोधनसे प्राप्त रसभूत अखण्ड वाक्यार्थका अपरोक्ष अनुभवरूप) स्वात्मज्ञान प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

जैसे यद्यपि आकाशमें आलोक चारों ओर फैला रहता है तथापि प्रभा और भीतके संगसे ही अभिव्यक्त होकर साफ साफ अनुभवमें आता है वैसे ही नित्य स्वप्रकाशरूप भी आत्मज्ञान महावाक्यके श्रवण और उसके अधिकारीके मेलनसे स्पष्टतः अनुभवमें आता है ॥ ३० ॥

आत्मज्ञानावाप्तिमें अन्यान्य (आत्मज्ञानानुपयोगी) शास्त्रोंके श्रवण अथवा उनकी विद्वत्ताका कदापि उपयोग नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—**'त्रिवर्ग०'** इत्यादिसे ।

तच्छ्रुतं यत्किल ज्ञप्त्यै सा ज्ञप्तिः समता यया ।
तत्साम्यं यत्र सौषुप्ती स्थितिर्जाग्रति जायते ॥ ३२ ॥
एवं हि सर्वमेतत्तच्छास्त्रादेः समवाप्यते ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्राद्यभ्यासमाहरेत् ॥ ३३ ॥
शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरूणां
सत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम ।
तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं
सर्वेश्वरं परममाद्यमनादिशर्म ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० शास्त्रमाहात्म्यं नाम सप्तनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९७ ॥

जिस शास्त्र श्रवणका केवल त्रिवर्गकी (धर्म, अर्थ और कामकी) सिद्धि ही फल है मोक्षफल नहीं है तत्त्ववेत्ताओंकी तत्त्वबोधोपाय चर्चामें वह शास्त्र-श्रवण केवल मूर्खता ही है क्योंकि मिथ्याविषयफलवाला होनेसे वह तुच्छ ही है ॥ ३१ ॥

जो शास्त्रश्रवण ज्ञानकी प्राप्तिके लिए होता है वही शास्त्रश्रवण है, वही ज्ञान है जिससे समता होती है, वही समता है जिसमें जाग्रत्में भी सुषुप्तिकी स्थिति (निर्विकल्पस्वरूपस्थिति) होती है ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्त सबकुछ शास्त्रके अधीन है, इसलिए शास्त्राध्ययन आवश्यक है ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त यह सब ज्ञान, समता, निर्विकल्प स्वरूपस्थिति आदि शास्त्र आदिसे प्राप्त होता है, इसलिए सकल प्रयत्नोंसे शास्त्र आदिका अभ्यास करे ॥३३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मलोक पर्यन्तके ऐश्वर्यसे भी बढ़ा चढ़ा हुआ परम पवित्र मोक्ष नामका अनादि सुख गुरुओंकी वाणीसे शास्त्रार्थबोधन द्वारा ही प्राप्त होता है और शास्त्रार्थबोध सन्त पुरुषोंकी संगति, नियम और शमसे प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

एक सौ सतानबे सर्ग समाप्त

अष्टनवत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भूयो निपुणबोधाय शृणु किंचिद्रघूद्वह ।
पुनः पुनर्यत्कथितं तदज्ञेऽप्यवतिष्ठते ॥ १ ॥
राघव प्रथमं प्रोक्तं स्थितिप्रकरणं मया ।
येनेदमित्थमुत्पन्नमिति विज्ञायते जगत् ॥ २ ॥
ततो जगति जातेन परोपशमशालिना ।
भवितव्यमिति प्रोक्तं मयोपशमयुक्तिभिः ॥ ३ ॥
उपशान्तिप्रकरणे प्रोक्तैरुपशमक्रमैः ।
परमोपशमं गत्वा वस्तव्यमिह विज्वरम् ॥ ४ ॥

एक सौ अठानबे सर्ग

[प्रबुद्ध पुरुषोंकी निर्विक्षेप सुख स्थितिमें सर्वत्र समदर्शन ही हेतु है, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, बोध दृढ़ बनानेवाली निर्वि-क्षेपताकी सिद्धिके लिए कुछ कहे जा रहे रहस्यको आप पुनः सुनिये ।

शङ्का—जो बात पुनः पुनः उपशमप्रकरणमें कही जा चुकी है उसीका यहाँ क्यों वर्णन करते हैं ?

समाधान—जो बात बारबार कही जाती है वह निपट मूर्खके भी हृदयमें जम जाती है विद्वान्के हृदयमें तो कहना ही क्या है ? इसलिए मैं बार बार कहता हूँ ॥१॥

उत्पन्न हुआ जगत् यों केवल भ्रम ही है उत्पत्ति और स्थिति प्रकरणसे यह ज्ञात होनेपर समदर्शनकी प्रतिष्ठासे उपशम प्रकरणमें समदर्शनका वर्णन किया । उसीका यहांपर जीवन्मुक्तिसुखकी प्रतिष्ठाके लिए पुनः वर्णन किया जाता है, ऐसा कहते हैं—**'राघव'** इत्यादिसे ।

हे रघुवर, पहले मैंने आपसे स्थितिप्रकरणका वर्णन किया जिससे उत्पन्न हुआ यह जगत् इस प्रकार केवल भ्रान्तिमात्र है यह ज्ञान होता है ॥ २ ॥

उसके पश्चात् उपशमप्रकरणमें वर्णित युक्तियों द्वारा मैंने जगत्में उत्पन्न हुए व्यक्तिको अत्यन्त उपशमवान् होना चाहिये यह बात उपशमप्रकरण में कही है । उसशान्तिप्रकरणमें कहे गये उपशमके क्रमोंसे परम शान्तिको प्राप्त होकर इस प्रकरणमें कहे जानेवाले निर्वाणसुखमें सन्तापरहित होकर रहना चाहिये ॥ ३,४ ॥

प्राप्तप्राप्येन तज्ज्ञेन यथा संसारदृष्टिषु ।
विहर्तव्यं हि नः किंचित्स्वल्पं श्रोतव्यमस्ति ते ॥ ५ ॥
जन्म संप्राप्य जगति बाल्य एव जगत्स्थितिम् ।
यथाभूतामिमां बुद्ध्वा वस्तव्यमिह विज्वरम् ॥ ६ ॥
सर्वसौहार्दजननीं सर्वस्याऽऽश्वासकारिणीम् ।
समतामलमाश्रित्य विहर्तव्यमिहाऽनघ ॥ ७ ॥
सर्वसंपत्तिसुभगं सर्वसौभाग्यवर्धनम् ।
समतासुलतायास्तु फलं भवति पावनम् ॥ ८ ॥
समतासुभगेहानां कुर्वतां प्रकृतं क्रमम् ।
सर्वैवेयं जगल्लक्ष्मीर्भृत्यतामेति राघव ॥ ९ ॥

ज्ञातव्य परम ब्रह्मको पा चुके तत्त्वज्ञानीको सांसारिक व्यवहारोंमें जिस प्रकार व्यवहार करना चाहिये वह थोड़ा-बहुत रहस्य आपको हमारे मुँहसे सुनना बाकी है, उसे मैं कहता हूँ, यह अर्थ है ॥ ५ ॥

जगत्में जन्म पाकर बाल्यावस्थामें ही (आपकी-सी छोटी अवस्थामें ही) जगत्की इस वास्तविक स्थितिका परिज्ञान कर आगे कहे जा रहे प्रकारसे विक्षेप-शून्य होकर रहना चाहिए ॥ ६ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी, सबका सौहार्द (मैत्री) उत्पन्न करनेवाली सबको आश्वासित करनेवाली समताका (सकल जीवोंमें एक आत्माके दर्शनसे गुण-दोष-दर्शनरूप वैषम्यशून्यता, अपने शरीरके समान सबका सुख-दुःखदर्शन और सकल विषमताओंसे शून्य ब्रह्मदृष्टिका) पूर्णरूपसे अवलम्बन कर इस संसारमें विचरण करना चाहिये ॥ ७ ॥

समतारूपी सुन्दर लताका सुफल परम पवित्र, सम्पूर्ण बाह्य सम्पत्तियोंसे मनोहर और सकल कल्याण गुणोंका वर्द्धक है ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सकल प्राणियोंकी हितावह समतासे सुन्दर चेष्टा-वाले प्रस्तुत क्रमपर आचरण कर रहे यानी यथाप्राप्त वर्णाश्रम-व्यवहार कर रहे महापुरुषोंकी यह सारीकी सारी जगद्विभूति भृत्यताको प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

न तदासाद्यते राज्यान्न कान्ताजनसंगमात् ।
अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यदवाप्यते ॥ १० ॥
द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम् ।
सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ॥ ११ ॥
मित्रीभूताखिलरिपुर्यथाभूतार्थदर्शनः ।
दुर्लभो जगतां मध्ये साम्यामृतमयो जनः ॥ १२ ॥
प्रबुद्धस्य स्वचित्तेन्दोर्निष्यन्दममृताधिकम् ।
साम्यमास्वाद्य जीवन्ति सर्वे वै जनकादयः ॥ १३ ॥
साम्यमभ्यस्यतो जन्तोः स्वदोषोऽपि गुणायते ।
दुःखं सुखायते नित्यं मरणं जीवितायते ॥ १४ ॥
साम्यसौन्दर्यसुभगं वनिता मुदितादिकाः ।
आलिङ्गन्ति महात्मानं नित्यं व्यसनिता इव ॥ १५ ॥

समतासे जो अक्षय सारभूत सुख प्राप्त होता है वह न तो राज्यसे प्राप्त होता है और न कान्ताके संगसे ही प्राप्त होता है ॥ १० ॥

समतासे सकल दुःख और उनके हेतुओंका विनाश भी सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—'द्वन्द्वो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप समताको सुख-दुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंकी शान्तिकी परमसीमा, संशयरूपी ज्वरकी विनाशक तथा सकल दुःखरूपी आतपके लिए मेघरूप जानिये ॥ ११ ॥

समतारूपी अमृतसे ओतप्रोत अतएव समतावश जिसके सकल शत्रु मित्र-रूप हो चुके हैं ऐसा यथार्थदर्शी पुरुष त्रिलोकीमें दुर्लभ है ॥ १२ ॥

प्रबुद्ध हुए स्वचित्तरूपी चन्द्रमाके निष्यन्दरूप (सारभूत) अमृतसे भी बढ़े चढ़े साम्यका (समताका) आस्वाद लेकर सब जनक आदि तत्त्वज्ञ जीते हैं ॥१३॥

साम्यका अभ्यास कर रहे जन्तुका क्रोध, लोभ आदि स्वदोष भी शान्ति, औदार्यके रूपमें परिणत होकर गुण हो जाता है, दुःख नित्य सुख हो जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है ॥ १४ ॥

समतारूपी सौन्दर्यसे मनोहर पुरुषको योगशास्त्रमें प्रसिद्ध मैत्री, करुणा,

समः समुदितो नित्यं समोऽनुदितधीः सदा ।
न काश्चिदिह ताः सन्ति याः समस्य हि नर्धयः ॥१६॥
सर्वकार्यसमं साधुं प्रकृतव्यवहारिणम् ।
चिन्तामणिमिवोदारं प्रवाञ्छन्ति नरामराः ॥ १७ ॥
सम्यक्कारिणमुद्दाममुदितं समचेतसम् ।
न दहन्त्यग्नयो राम नाऽऽपः सिञ्चन्ति मानवम् ॥ १८ ॥
यद्यथा तत्तथा येन क्रियते दृश्यते तया ।
आनन्दोद्वेगमुक्तेन कस्तं तोलयितुं क्षमः ॥ १९ ॥
मित्राणि बन्धुरिपवो राजानो व्यवहारिणः ।
सम्यक्कारिणि तत्त्वज्ञे विश्वसन्ति महाधियः ॥ २० ॥

उपेक्षा, मुदिता आदि महिलाएँ पतिके समागममें व्यसनवती-सी होकर उत्सुकतासे आलिङ्गन करती हैं ॥ १५ ॥

समतारूपी गुणसे सम्पन्न पुरुष सदा सकल कल्याण गुणों और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंसे युक्त है तथा समतासे युक्त पुरुष सदा चिन्ताशून्य है । इस त्रिलोकीमें शायद ही कोई सम्पत्ति होगी जो कि समतासम्पन्न पुरुषको प्राप्त न हुई हो ॥१६॥

स्वकार्य और परकार्यमें सम (विषमता रहित), अपराधियोंपर भी क्षमा करनेवाले, चिन्तामणिके समान त्यागशील (उदार), परम ब्रह्मावाप्तिमें उद्योगशील पुरुषको नर और अमर सभी चाहते हैं ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सदाचारसम्पन्न सब लोगोंका हित करनेवाले पूर्णरूपेण मुदित (प्रसन्न) समचित्तवाले पुरुषको न अग्नि जलाती है और न जल सड़ाता है ॥ १८ ॥

जो कार्य जैसे करनेके लिए उचित है उसे वैसे जो करता है तथा आनन्द और क्रोधसे रहित जो सब कुछ सम रूपसे देखता है उस मनुष्यकी बराबरी करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ॥ १९ ॥ ?

सम्यक्कारी (सदाचार सम्पन्न सर्वजन हितकारी) तत्त्वज्ञानी पुरुषका मित्र, बन्धु-बान्धव, शत्रु, राजा और व्यवहारपरायण महामति सभी विश्वास करते हैं ॥ २० ॥

नाऽनिष्टात्प्रपलायन्ते नेष्टादायान्ति तुष्टताम् ।
प्रकृतक्रमसंप्राप्तास्तत्त्वज्ञाः समदर्शिनः ॥ २१ ॥
त्यक्त्वा सर्वानुपादेयान् राम भावाननिन्दितान् ।
समतायामदुःखायां दधाना वृत्तिमुत्तमाम् ॥ २२ ॥
विहसन्ति जगज्जालं जीवयन्ति निरामयाः ।
पूज्यन्ते विबुधैः सर्वैः समतामुदिताशयाः ॥ २३ ॥
प्रकृतक्रमसंप्राप्तं मुखेन्दौ कोपमेव यः ।
समाशयो धारयति स्यात्सौम्यामृतवज्जनः ॥ २४ ॥
यत्करोति यदश्नाति यदाक्रामति निन्दति ।
समदृष्टिस्तदस्येयं स्तौति नित्यं जनावलिः ॥ २५ ॥
यच्छुभं वाऽशुभं यच्च यच्चिरेण यदद्य वा ।
समदृष्टिकृतं सम्यगभिनन्दति तज्जनः ॥ २६ ॥

प्रस्तुत ब्रह्मावासिरूप क्रममें पहुँचे हुए अथवा यथाप्राप्त व्यहार करनेवाले समदर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष अनिष्टसे (क्लेशप्रद शत्रु आदिसे) भागते नहीं यानी घबराते नहीं और इष्टसे (सुखप्रद मित्र आदिसे) प्रसन्न नहीं होते । तत्त्वज्ञानी महापुरुष अन्य लोगों द्वारा इष्टरूपसे परिगृहीत गृह, क्षेत्र आदि पदार्थोंका त्यागकर निर्लोभ सन्तोषरूप वृत्तिको धारण करते हुए दुःखलेशशून्य समतामें विराजमान होकर जगत् जंजालपर हँसते हैं। समतासे प्रसन्न चित्तवाले तत्त्वज्ञानी पुरुष निरामय होकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करते हैं और सकल देवताओं द्वारा पूजे जाते हैं ॥२१-२३॥

समतासे परिपूर्ण आशयवाला जो जन परहितके लिए अपने मुखरूपी चन्द्रमामें यथाप्राप्त व्यवहारसे उत्पन्न क्रोध भी यदि धारण करता है तो वह भी अमृतके सदृश ही होता है उसमें किसीको क्लेश कदापि नहीं होता ॥ २४ ॥

समदृष्टि पुरुष जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, जिसपर आक्रमण करता हैं और अनुचित जानकर जिसकी निन्दा करता है उसके उस सबकी जनता नित्य स्तुति करती है ॥ २५ ॥

समदृष्टि द्वारा किया गया कार्य चाहे शुभ हो अथवा अशुभ हो चाहे चिरकालमें किया गया हो अथवा आज किया गया हो उस सबका सब लोग पूर्णरूपसे अभिनन्दन करते हैं ॥ २६ ॥

सुखदुःखेषु भीमेषु संततेषु महत्स्वपि ।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥ २७ ॥
शिबिर्भूपः कपोताय मांसमङ्गविकर्तनम् ।
ददौ मुदितया बुद्ध्या समदृष्टितयाऽनया ॥ २८ ॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियतमां कान्तामग्रे विकालिताम् ।
दृष्ट्वाऽप्यङ्ग महीपालो न मुमोह समाशयः ॥ २९ ॥
मनोरथशतप्राप्तं तनयं समया धिया ।
राक्षसाय त्रिगर्तेशो ददौ स्वपणहारितम् ॥ ३० ॥
नगर्यां दह्यमानायां भूषितायां तथोत्सवे ।
सम एव महीपालो जनको भूभृतां वरः ॥ ३१ ॥
न्यायतः परिविक्रीतं साल्वराट् समदर्शनः ।
स्वमेव विचकर्ताऽऽशु शिरः पद्मदलं यथा ॥ ३२ ॥

लगातार घोर महान् सुख-दुःखोंके उपस्थित होनेपर भी समदृष्टि पुरुषोंके चित्तमें तनिक भी उद्वेग नहीं होता ॥ २७ ॥

राजा शिविने इस समदृष्टिके कारण शरणमें आये हुए कबूतरकी रक्षाके लिए कबूतरके मांसके बदलेमें अपना शरीर काटकर प्रसन्न बुद्धिसे अपना मांस दे डाला था ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विषमतासे रहित अन्तःकरणवाले राजा युधिष्ठिर अपने सामने शत्रुओं द्वारा केशपाश और वस्त्रोंके आकर्षण द्वारा क्लेशित प्राणों-से भी प्रियतम अपनी पत्नी द्रौपदीको देखकर मोहको प्राप्त नहीं हुए ॥ २९ ॥

सम बुद्धिसे ही त्रिगर्तदेशके अधिपतिने सैकड़ों मनोरथोंसे प्राप्त अपने एकलौते पुत्रको, जिसे वाग्द्यूतमें वह हार चुका था यानी जो राक्षस द्वारा जीता गया था, बिना हिचकिचाहटके राक्षसको दे डाला ॥ ३० ॥

उत्सवके सिलसिलेमें खूब सजाई गई नगरीके जलनेपर राजाओंमें सर्व-श्रेष्ठ महाराजाधिराज जनक सम ही रहे यानी उनमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं आई ॥ ३१ ॥

समदृष्टिवाले साल्वराट्ने तुम्हें मुँह मांगी दक्षिणा दूंगा इस प्रतिज्ञा-

कुन्दप्रकरनिर्भासं यज्ञे पाण्डुमिवाऽचलम् ।
जहौ जरत्तृणमिव सौवीरः समया धिया ॥ ३३ ॥
समयैव धिया नित्यं निजमभ्याहरत्क्रमम् ।
मातङ्ग कुण्डपो नाम प्राप वैमानिकस्थितिम् ॥ ३४ ॥
सर्वभूतक्षयकरीं साम्याभ्यासेन भूरिणा ।
तत्याज राक्षसीं वृत्तिं कदम्बवनराक्षसः ॥ ३५ ॥
बालचन्द्राभिजातोऽपि समबुद्धितया जडः ।
गुणमोदकवन्न्यायप्राप्तमग्निमभक्षयत् ॥ ३६ ॥
समबुद्धितया क्रूरव्यवहारपरोऽपि सन् ।
धर्मव्याधस्तनुं त्यक्त्वा जगाम परमं पदम् ॥ ३७ ॥

वश ब्राह्मणके लिए बेचा गया यानी दिया गया अपना सिर कमलके पत्रके समान तुरन्त काट डाला ॥ ३२ ॥

राजा सौवीरने समबुद्धिसे ही कुन्दपुष्पोंकी राशिके समान शुभ्र कैलास पर्वत-सा ऐरावत हाथी, जिसे कि उसने इन्द्रविजयसे पाया था, यज्ञमें ऋत्विजोंके वचनसे फिर इन्द्रको दे डाला ॥ ३३ ॥

अपना देहयात्रानिमित्त व्यवहार समबुद्धिसे ही कर रहे कुण्डप नामक शूद्रने एक गायको अपनी मजदूरीका निष्क्रय बनाकर ब्राह्मणकी पांच कीचड़में फँसी गउएँ निकालकर अपनी मजदूरीकी निष्क्रयभूत गऊ पुष्कर तीर्थमें उस ब्राह्मणको देकर तुरन्त स्वर्गसे आये हुए विमानपर चढ़कर देवत्व प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

कदम्बवनमें निवास करनेवाले राक्षसने प्रचुर साम्याभ्याससे ही सब प्राणियोंका विनाश करनेवाली राक्षसी वृत्तिका त्याग किया ॥ ३५ ॥

बाल चन्द्रमाके समान सुन्दर जड़ भरतने समबुद्धिसे ही भिक्षापात्रमें भैक्ष्यन्यायसे प्राप्त अग्निका गुड़मोदकके समान भक्षण किया ॥ ३६ ॥

यद्यपि धर्मव्याध मृगवध, मांसकर्तन आदि क्रूर व्यवहारमें परायण था फिर भी समदृष्टि होनेके कारण वह अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्याग कर परम पदको सिधारा ॥ ३७ ॥

नन्दनोद्यानसंस्थोऽपि पुरुषोऽपि कपर्दनः ।
लुलुभे न सुरस्त्रीषु नूनं प्रणयिनीष्वपि ॥ ३८ ॥
समचित्ततयाऽस्पन्दः करञ्जगहनेष्वपि ।
विन्ध्यकान्तारकच्छेषु राज्यं त्यक्त्वाऽवसच्चिरम् ॥ ३९ ॥
ऋषयो मुनयश्चैव ये सिद्धाः सुरपूजिताः ।
समदृष्टितयोद्विग्ना न ते तासु व्रतर्द्धिषु ॥ ४० ॥
राजानः प्राकृताश्चैव धर्मव्याधादयोऽपरे ।
समदृष्टिपदाभ्यासान्महतां पूज्यतां गताः ॥ ४१ ॥
इहाऽमुत्र च सिद्ध्यर्थं पुरुषार्थप्रवृत्तये ।
समदृष्टितया नित्यं विचरन्ति सुबुद्धयः ॥ ४२ ॥
अभिवाञ्छेन्न मरणमभिवाञ्छेन्न जीवितम् ।
यथाप्राप्तसमाचारो विचरेदविहिंसकः ॥ ४३ ॥

कपर्दन नामका राजर्षि पुरुष होनेके कारण अप्सराओंके संभोगमें समर्थ था और अप्सराएं भी उसपर प्रेम करती थीं परमोद्दीपक नन्दनवनमें वह रहता था फिर भी वह समदृष्टिवश सुरस्त्रियोंमें मोहित नहीं हुआ ॥ ३८ ॥

वह राजर्षि कपर्दन सम चित्तवाला होनेके कारण विस्तृत राज्यको तिलाञ्जलि देकर विन्ध्याचलके दुर्गम जलप्राय प्रदेशोंमें तथा करीरके वनोंमें निश्चेष्ट होकर चिरकाल तक रहा ॥ ३९ ॥

जो ऋषि, मुनि और देवपूजित सिद्ध पुरुष हैं वे उन तपस्याप्रयुक्त क्लेशों और भोगोंमें, समदृष्टि होनेके कारण ही, उद्विग्न नहीं होते हैं ॥ ४० ॥

शिवि आदि राजाधिराज और दूसरे धर्मव्याध आदि साधारण लोग भी समदृष्टिताका दृढ़ अभ्यास करनेसे महापुरुषोंके भी पूजनीय हो गये हैं ॥ ४१ ॥

ऐहिक और पारलौकिक सुखसिद्धिके लिए और मोक्षरूप परम पुरुषार्थमें प्रवृत्त होनेके लिए मतिमान् पुरुष समदृष्टतासे व्यवहार करते हैं ॥ ४२ ॥

किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा न पहुंचानेवाला पुरुष मरणकी आकाङ्क्षा न करे और जीवनकी अभिवाञ्छा भी न करे किन्तु यथाप्राप्त सुन्दर व्यवहार करता हुआ विचरण करे ॥ ४३ ॥

समकलितगुणागुणैकभावः ।
समसुखदुःखपरावरो विलासी ।
प्रविचरति समावमानः
प्रकृतवरव्यवहारपूतमूर्तिः ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० समदृष्टिप्रशंसा नामाष्टनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९८ ॥

समतावश जो गुण और दोषोंको एकसे जानता है, जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख तथा ऊंच और नीच योनियां समान हैं एवं मान और अपमान भी जिसके लिए तुल्य है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष प्राकृत व्यवहारोंमें भी आसक्ति न होनेके कारण पवित्रमूर्ति अतएव प्रकाशमान होकर लोकोपकारके लिए देश-विदेशोंमें विचरण करता है ॥ ४४ ॥

एक सौ अठानबे सर्ग समाप्त



नवनवत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

नित्यं ज्ञानैकनिष्ठत्वादात्मारामतया तथा।
मुक्तैः कर्मपरित्यागः कस्मान्न क्रियते मुने ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै।
क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा ॥ २ ॥
न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत्।
न वाऽस्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रेयतां गतम् ॥ ३ ॥

एक सौ निन्नानबे सर्ग

[यद्यपि जीवन्मुक्त पुरुषोंका न तो कर्मोंके अनुष्ठानसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके अनाचरणसे कोई क्षति है तथापि वे सत्कर्मोंका (सदाचरणोंका) अनुवर्तन करते हैं, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, जीवन्मुक्त पुरुष नित्य एकमात्र ज्ञानमें तल्लीन रहते हैं तथा आत्मक्रीड रहते हैं अतएव वे कर्मोंका परित्याग क्यों नहीं करते हैं ॥ १ ॥

खूब अभ्यस्त कर्म करनेमें मुक्त पुरुषोंको कोई श्रम नहीं होता और कर्मत्यागका कोई प्रयोजन नहीं है अतएव लोकानुग्रहवश वे कर्म-त्याग नहीं करते हैं, ऐसा कहते हैं—**'हेयो०'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जिस महापुरुषकी यह हेय है यह उपादेय है यों दोनों हेयोपादेय दृष्टियां क्षीण हो चुकीं उसका नित्य-नैमित्तिक क्रियाके त्यागसे क्या प्रयोजन है अथवा क्रियाके संश्रयणसे क्या प्रयोजन है ? यानी उसके लिए कर्मत्याग और कर्मसंश्रयण दोनों समान हैं ॥ २ ॥

जो ज्ञानीको कष्टप्रद हो ऐसी हेय वस्तु यहां नहीं है तथा जो तत्त्व-ज्ञानीका संश्रयणीय हो यानी अवश्य अनुष्ठातव्य हो ऐसी उपादेय वस्तु भी नहीं है क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' श्रुतिके अनुसार उसकी दृष्टिमें परब्रह्मके सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं ॥ ३ ॥

ज्ञस्य नाऽर्थः कर्मत्यागैर्नाऽर्थः कर्मसमाश्रयैः ।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥ ४ ॥
यावदायुरियं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥ ५ ॥
अन्यथाऽन्यत्र चेत्कार्या क्रिया त्यक्त्वा निजं क्रमम् ।
समाने हि क्रियास्पन्दे को दोषः सत्क्रमे किल ॥ ६ ॥
समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया ।
यथा यत्क्रियते राम तदद्दोषाय सर्वदा ॥ ७ ॥
इह मह्यां महाबाहो बहवो बहुदृष्टयः ।
बहुधा बहुदोषेषु विहरन्ति विचक्षणाः ॥ ८ ॥

ज्ञानी पुरुषका न तो कर्म-त्यागसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके आश्रयणसे कोई प्रयोजन है जो जो वर्ण और आश्रमके उचितरूपसे जैसे स्थित है उसको वह वैसे ही करता है ॥ ४ ॥

जीवत्-शरीरमें चेष्टा होना अवश्यम्भावी होनेपर खूब अभ्यस्त सदाचाररूप चेष्टा ही उसके शरीरमें होती है, ऐसा कहते हैं—**'यावदायु'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह शरीर आयुपर्यन्त अवश्य ही चेष्टा करता है इसलिए वह यथाप्राप्त चेष्टा बिना हिचकिचाहटके करे चेष्टाके त्यागसे और अन्यथा चेष्टासे क्या करना है ॥ ५ ॥

जैसे अपना घर निर्दोष है तो अन्य जगह बैठनेकी क्या आवश्यकता है वैसे ही अन्यत्र अन्य कोई न कोई कार्य करना ही है तो शास्त्रीय और अशास्त्रीय कर्मोंके क्रमके समान होनेपर भी शास्त्रीय सत्कर्ममें (सदाचारमें) कौन दोष है जिससे अपने क्रमका त्यागकर अन्यथा आचरण किया जाय ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, विषमतारूप दोषसे निर्मुक्त निर्विकार स्वच्छ बुद्धिसे जो कार्य निरन्तर किया जाता है वह कभी दोषाधायक नहीं होता ॥ ७ ॥

यद्यपि कर्मोंमें प्रवृत्त हुए लोगोंको द्रव्योपार्जन, ऋत्विजोंको प्रसन्न करना आदि तथा अनुष्ठानयोग्यकार्यके निर्णयके श्रम साध्य होनेके कारण बहुतसे

गतसङ्गतया बुद्धया विहरन्ति यथा स्थितेः ।
गृहस्थारम्भिणः केचिज्जीवन्मुक्ताः स्थिता भुवि ॥ ९ ॥
तज्ज्ञा राजर्षयश्चाऽन्ये वीतरागा भवादृशाः ।
असंसक्तधियो राज्यं कुर्वन्ति विगतज्वराः ॥ १० ॥
केचित्प्रकृतवेदार्थव्यवहारानुसारिणः ।
यज्ञशिष्टाशिनो नित्यमग्निहोत्रे व्यवस्थिताः ॥ ११ ॥
केचिच्चतुर्षु वर्णेषु ध्यानदेवार्चनादिकाम् ।
स्वक्रियामनुतिष्ठन्तः स्थिता विविधयेहया ॥ १२ ॥
केचित्सर्वपरित्यागमन्तः कृत्वा महाशयाः ।
सर्वकर्मपरा नित्यं तज्ज्ञा एवाऽज्ञवत्स्थिताः ॥ १३ ॥

दोषोंकी प्राप्ति होती है तथापि समदर्शनता और विचक्षणताके बलसे उसका परिहार हो सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, इस पृथिवीमें सकल शास्त्रों तथा लोकका रहस्य जाननेवाले बहुतसे विचक्षण पुरुष प्रचुर दोषोंमें भी अपनी समदर्शनतावश पूर्णरूपसे विहार करते हैं ॥ ८ ॥

भूलोकमें स्थित कुछ गृहस्थ, जीवन्मुक्त गतसंग होनेके कारण बुद्धिसे यथाप्राप्त वर्णाश्रमकी अनुवृत्तिवश व्यवहार करते हैं ॥ ९ ॥

जनक आदि तत्त्वज्ञानी राजर्षि तथा आपके सदृश वीतराग और राजा लोग अनासक्त बुद्धि हैं अतएव त्रिविध सन्ताप शून्य होकर राज्य करते हैं ॥१०॥

कोई अपने अपने वर्णाश्रमानुरूप प्राप्त वेदार्थका अनुसरण करनेवाले देव-पितृयज्ञसे अवशिष्ट अन्नका भोजन करनेवाले नित्य अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें निरत हैं ॥ ११ ॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंमें कोई लोग नित्य ध्यान, देवार्चन आदि स्वकर्मका अनुष्ठान करते हुए विविध चेष्टासे स्थित हैं ॥ १२ ॥

कोई महान् आशयवाले महापुरुष अपने अन्तःकरणमें फलासक्तिका त्याग कर नित्य सकल नित्यनैमित्तिक कर्मोंमें परतन्त्र होकर तत्त्वज्ञानी होते हुए ही अज्ञानीकी तरह स्थित हैं ॥ १३ ॥

स्वप्नेऽप्यदृष्टलोकासु मुग्धमुग्धमृगासु च ।
वनावनीषु शून्यासु केचिद्ध्यानपरायणाः ॥ १४ ॥
पुण्यवद्भिः सदा जुष्टे पुण्योपचयकारिणि ।
शमशालिसमाचारे केचिदायतने स्थिताः ॥ १५ ॥
रागद्वेषप्रहाणार्थं त्यक्त्वा देशं समाशयाः ।
केचिदन्यत्र देशे च पदमालम्ब्य संस्थिताः ॥ १६ ॥
वनाद्वनं पुराद्ग्रामं स्थानात्स्थानं गिरेर्गिरिम् ।
भ्रमन्तः संस्थिताः केचित्संसारोच्छित्तये बुधाः ॥ १७ ॥
वाराणस्यां महापुर्यां प्रयागे चैव पावने ।
श्रीपर्वते सिद्धपुरे बदर्याश्रमके तथा ॥ १८ ॥
शालग्रामे महापुण्ये कलापग्रामकोटरे ।
मथुरायां च पुण्यायां तथा कालञ्जरे गिरौ ॥ १९ ॥

कुछ लोग अत्यन्त निर्जन वनभूमियों में, जिनमें स्वप्नमें भी लोगोंका दर्शन नहीं होता तथा अत्यन्त रमणीय मृगछौने भरे रहते हैं, ध्यानमग्न रहते हैं ॥ १४ ॥

कुछ लोग सदा पुण्यात्माओंसे परिवेष्टित पुण्यकी वृद्धि करनेवाले शमपूर्ण सदाचारसम्पन्न पुण्यतीर्थ तथा मुनियोंके आश्रम आदिमें स्थित हैं ॥१५॥

कोई समचित्त पुरुष राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए* बन्धुजनावृत स्वदेशका त्यागकर अन्य देशमें स्थान बनाकर स्थित हैं ॥ १६ ॥

कोई ज्ञानी पुरुष संसारकी निवृत्तिके लिए एक वनसे दूसरे वनमें, एक नगरसे दूसरे नगरमें, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतमें घूमते हुए स्थित हैं ॥ १७ ॥

महानगरी काशीमें, परम पावन तीर्थराज प्रयागमें, सिद्धपुरुषोंके निवासभूत श्रीपर्वत तथा वदरिकाश्रममें,महापवित्र शालग्राम में, पवित्रतम मथुरा नगरीमें, कालञ्जर पर्वतपर, महेन्द्रवनकी झाड़ियोंमें, गन्धमादन पर्वतकी चोटियोंपर, दर्दुर पर्वतके शिखरोंपर, सह्य पर्वतकी वनभूमिमें, विन्ध्याचलके जलप्राय प्रदेशोंमें, मल-

---

* बन्धुबान्धवोंके समागममें नाना प्रकारके रागद्वेष आदि विक्षेपोंकी प्राप्ति होती है, उनके परित्यागके लिए ।

महेन्द्रवनगुल्मेषु गन्धमादनसानुषु ।
दर्दुराचलवप्रेषु सह्यकाचलभूमिषु ॥ २० ॥
विन्ध्यशैलस्य कच्छेषु मलयस्योदरेषु च ।
कैलासवनजालेषु ऋक्षवत्कुहरेषु च ॥ २१ ॥
एतेष्वन्येषु चाऽन्येषु वनेष्वायतनेषु च ।
तपस्विनस्तथा राम बहवो बहुदृष्टयः ॥ २२ ॥
केचित्त्यक्तनिजाचाराः केचिच्च क्रमसंस्थिताः ।
केचित्प्रबुद्धमतयो नित्यमुन्मत्तचेष्टिताः ॥ २३ ॥
केचित्स्वदेशरहिताः केचित्त्यक्तनिजास्पदाः ।
एकस्थानरताः केचिद् भ्रमन्तः केचिदास्थिताः ॥२४॥
एतेषां महतां मध्ये नभस्तलनिवासिनाम् ।
पातालनिरतानां च दैत्यादीनां महामते ॥ २५ ॥

याचलके मध्यमें, कैलाश पर्वतके वनोंमें, ऋक्षवान् पर्वतकी गुफाओंमें इन तथा अन्यान्य तपोवनोंमें, मुनिजनोंके आश्रमोंमें विविधप्रारब्धभोगानुकूल दृष्टिवाले बहुतसे तपस्वी निवास करते हैं ॥ १८-२२ ॥

उनमें कुछ लोगोंने संन्यास विधिसे अपने पूर्वाश्रमके आचारका परित्याग कर दिया है और कोई ब्रह्मचर्य आदि आश्रमधर्मोंमें स्थित हैं । कोई लोग प्रबुद्धमति हैं और कोई नित्य उन्मत्तकी-सी चेष्टा करते हैं ॥ २३ ॥

कोई स्वदेश रहित हैं, किन्हींने विक्षेपनिवृत्तिके लिए अपने घरद्वारका त्याग कर दिया है, कोई लोग एक स्थानमें (अपने घरमें) ही रत (प्रीतियुक्त) हैं यानी सब लोगोंकी अनुकूलता द्वारा विक्षेपशून्य हैं तथा कोई सदा इतस्ततः भ्रमण करते हुए स्थित हैं ॥ २४ ॥

स्वर्ग आदि ऊर्ध्व लोकों और पातालादि अधोलोकोंमें भी देव, दैत्य आदि जीवन्मुक्त बहुत हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'एतेषाम्'** इत्यादिसे ।

हे महामति रामजी, आकाशमें निवास करनेवाले देव आदि तथा पाताल-

विज्ञातलोकपर्याया: सम्यग्दर्शननिर्मला: ।
केचित्प्रबुद्धमतयो दृष्टदृश्यपरावरा: ॥ २६ ॥
अप्रबुद्धधिय: केचिद्दोलान्दोलितचेतस: ।
निवृत्ता: पापकाचारात्सुजनानुगता: स्थिता: ॥ २७ ॥
अर्धप्रबुद्धमतय: केचिज्ज्ञानावलेपत: ।
परित्यक्तक्रियाचारा उभयभ्रष्टतां गता: ॥ २८ ॥
इत्थमस्मिञ्जनानीके जन्मसंतरणार्थिन: ।
बहव: संस्थिता राम बहुधा बहुदृष्टय: ॥ २९ ॥
संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता ।
नापि स्वदेशवासित्वं न च कष्टतप:क्रिया: ॥ ३० ॥

में रहनेवाले दानव आदि इन महात्माओंमें से कोई लोकरहस्यको जाननेवाले तथा यथार्थ दर्शनसे निर्मल तथा परतत्त्वका साक्षात्कार कर चुके प्रबुद्धमति हैं। कोई अप्रबुद्धबुद्धिवाले अतएव सन्देहवश झूलेके समान कभी इस पक्षमें तो कभी दूसरे पक्षमें आन्दोलित चित्तवाले पापाचरणसे निवृत्त होकर सज्जनपुरुषोंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए स्थित हैं ॥ २६,२७ ॥

कोई अर्द्धप्रबुद्धमतिवाले 'मैं तत्त्वज्ञानी हूँ निषिद्धाचरण मेरा क्या बिगाड़ सकता है' इस अभिमानसे सदाचारका परित्याग कर उभयभ्रष्ट हुए हैं ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार इस विपुल जनसमुदायमें जन्ममरणरूप संसारसे छुटकारा पानेकी इच्छा करनेवाले बहुविध प्रारब्धभोगानुकूल दृष्टिवाले बहुतसे लोग विविध प्रकारसे स्थित हैं ॥ २९ ॥

तो क्या उनके द्वारा अनुष्ठित वनवास आदि भी संसारको पारकर जानेमें कारण हैं? इस शङ्कापर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'संसार०'** इत्यादिसे।

न वनवास संसारको पार करनेमें हेतु है, न स्वदेशनिवास संसारसे मुक्ति पानेमें कारण है और न कष्टप्रद विविध तपस्याएँ ही संसारनिवृत्तिमें कारण हैं ॥ ३० ॥

न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः ।
नाऽऽचारेषु समारम्भविचित्रफलपालयः ॥ ३१ ॥
स्वभावः कारणं नाम संसारोत्तरणं प्रति ।
असंसक्तं मनो यस्य स तीर्णो भवसागरात् ॥ ३२ ॥
शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः ॥ ३३ ॥
शुभाशुभाः क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः ।
निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः ॥ ३४ ॥
मक्षिकेवाऽन्तःसारज्ञा दुःखादुःखप्रदायिनी ।
न निवारयितुं शक्या न च मारयितुं मतिः ॥ ३५ ॥

न तो कर्मका परित्याग संसारनिवृत्तिमें कारण है और न सत्कर्मोंके आचरणोंसे पीछे होनेवाले जो ख्यातिलाभ, ऐश्वर्य, वरशापसामर्थ्यरूप विचित्र फलराशियाँ हैं, वे संसारसे छुटकारा पानेके कारण हैं ॥ ३१ ॥

संसारसे छुटकारा पानेका एकमात्र हेतु तत्त्वज्ञानरूप स्वभाव यथार्थरूपसे स्थित है। उक्त स्वभाव मनकी आत्यन्तिक अनासक्तिसे लभ्य है। जिसका मन आसक्ति रहित है वह निश्चय भवसागरसे पार हो चुका ॥ ३२ ॥

अतएव जीवन्मुक्तको शुभ अशुभ कर्म करनेपर भी अनासक्तिवश ही उनका स्पर्श नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—'**शुभा०**' इत्यादिसे ।

जिसका मन आसक्ति रहित है ऐसा मुनि नित्य शुभ और अशुभ करता हुआ और उनका परिहार करता हुआ भी संसारमें नहीं आता ॥३३॥

जिसने अपना मन विषयोंमें छोड़ दिया है ऐसा शठ दुर्मति पुरुष शुभ-अशुभ कर्मोंका आचरण न करता हुआ भी संसारसमुद्रमें अवश्य ही निमग्न होता है ॥ ३४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ऐसी अवस्थामें मनको ही विषयोंसे हटाइये और मारिये तत्त्वसे क्या प्रयोजन है? तो इसपर कहते हैं—'**मक्षिकेव**' इत्यादिसे ।

जिसने विषयोंका स्वाद चख लिया ऐसी मति, जो अत्यन्त दुःखदायिनी

काकतालीययोगेन कदाचित्स्वस्य चेतसः ।
प्रवृत्तिर्जायते सिद्ध्यै स्वयमात्मावलोकने ॥ ३६ ॥
अवलोकनतो लब्ध्वा तत्त्वं नैर्मल्यमागतम् ।
चेतो भवति निर्द्वन्द्वमसंसक्तमनामयम् ॥ ३७ ॥
अचित्तत्वं प्रयातेन सत्त्वरूपेण चेतसा ।
समो भूत्वा सुखं तिष्ठ पराकाशांशरूपभृत् ॥ ३८ ॥
अधिगतपरमार्थस्त्यक्तरागादिदोषः
समगतिरुदितात्मा त्वं महात्मा महात्मन् ।
रघुतनय विशोकस्तिष्ठ निःशङ्कमेको
जननमरणमुक्तं पावनं तत्पदं त्वम् ॥ ३९ ॥

है, शहदके घड़ेपर परकी हुई मधुमक्खीकी तरह न तो हटाई जा सकती है और न मारी जा सकती है ॥ ३५ ॥

कभी भाग्यवश साधनचतुष्टयकी प्राप्ति होनेपर काकतालीययोगसे अपने चित्तकी श्रवण आदि उपायों द्वारा आत्माके अवलोकनमें (आत्मसाक्षात्कारमें स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है ॥ ३६ ॥

आत्मसाक्षात्कार होनेपर निर्मलताको प्राप्त हुआ चित्त अवलोकनसे तत्त्व पाकर निर्द्वन्द्व अतएव अनासक्त और अनामय ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ३७ ॥

अचित्तताको प्राप्त हुए सत्त्वरूप चित्तसे सम होकर आप पराकाशरूप जो चित्त आदि सकल प्रपञ्चाधिष्ठानांश है तद्रूप बनकर सुखपूर्वक स्थित होइये ॥ ३८ ॥

हे महात्मन् हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसे परमार्थ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो चुका, रागादि दोषोंका जो त्याग कर चुके हैं, जिसमें आत्मज्ञान उदित हो चुका ऐसे आप समबुद्धि शोक रहित महात्मा होकर निश्शङ्क रहिये । क्योंकि जन्म-मृत्युशून्य परम पवित्र वह ब्रह्मपद आप ही हैं ॥ ३९ ॥

प्रकृतिमलविकारोपाधिबोधादिरूपं
जगति विमलरूपे नास्ति किंचित्कचिच्च ।
स्फुटमकृतकमस्ति ब्रह्म चिद्धाम तच्च
स्वयमहमिति मत्वा तिष्ठ निःशङ्कमेकः ॥ ४० ॥
अधिकवचनगम्यं नाऽन्यदस्त्यङ्ग किंचि-
त्तव शुभमुपदेश्यं ज्ञानसंबोधनाय ।
उदितमखिलमाद्यं ज्ञानसारं समग्रं
विदितसकलवेद्यो राघव त्वं हि जातः ॥ ४१ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा मुनिनायको व्यपगताशेषैषणे राघवे
सर्वस्मिंश्च सभाजने स्थितवति ध्यानैकतानोपमे ।
प्राप्ते ब्रह्मपदं धिया धवलया तूष्णीमभूत्षट्पदः ।
कृत्वेवाऽऽरणितं सरोजपटले पातुं प्रवृत्तो रसम् ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनं नाम नवनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९९ ॥

विमल ब्रह्मरूप जगत्‌में प्रकृतिरूप, मलरूप, विकाररूप, उपाधिरूप, उसका बोधरूप, उसकी इच्छा, प्रयत्न, हान, उपादान और भोगादिरूप कुछ भी कहीं नहीं है। किन्तु वह स्पष्ट ही अकृत्रिम चैतन्यधाम ब्रह्म ही है, इसलिए आप अपने अनुभवसे 'एक मैं ही हूँ' यह मानकर एकाकी निःशङ्क रहिये ॥ ४० ॥

हे सौभाग्यशाली राघव, आपके ज्ञानबोधनके लिए इससे भिन्न शुभ उपदेशयोग्य कुछ नहीं है, क्योंकि आपका आद्य ज्ञानतत्त्व पूर्णतया उदय हो चुका और आपने अब सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान ली ॥ ४१ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी यह अन्तमें कहकर श्रीरामचन्द्रजीके निर्मल बुद्धिसे ब्रह्मपदको प्राप्त होने अतएव सकल एषणाओंसे विहीन होनेपर और सभामें स्थित सब लोगोंके समाधिस्थ-से होनेपर उस सभामें स्वयं ब्रह्मरसायनके आस्वादमें तत्पर होकर वैसे ही चुप हो गये जैसे कि भ्रमर कमलराशिमें गुञ्जनकर रस पीनेको प्रवृत्त होता है ॥ ४२ ॥

एक सौ निन्नानबे सर्ग समाप्त

द्विशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

निर्वाणवाक्यसंदर्भसमाप्तौ मुनिनायके ।
पाश्चात्यवाक्यविरतिं कुर्वति क्रमपालिताम् ॥ १ ॥
निर्विकल्पसमाधानसमतां समुपागते ।
शान्तस्वच्छमनोवृत्तौ सर्वस्मिंश्च सभाजने ॥ २ ॥
सत्त्वकोटिमुपारूढे परां पावनतां गते ।
संवित्तत्त्वे समग्रस्य जनस्य श्रुतशालिनः ॥ ३ ॥
झटित्येवाऽम्बरहृता पूर्वमुक्तधियां मुखात् ।
सिद्धानां साधुवादेन व्योमकोटरवासिनाम् ॥ ४ ॥
तथा सभास्थितानां च मुनीनां भवितात्मनाम् ।
गाधेयप्रमुखानां च साधुवादगिरोच्चया ॥ ५ ॥

दो सौ सर्ग

[सिद्धोंकी ओरसे श्रीवसिष्ठजी महाराजका साधुवाद, नगारोंके साथ पुष्पवृष्टि तथा सब लोगोंके द्वारा किये गये गुरुपूजामहोत्सवका वर्णन]

निर्वाणप्रकरणपर्यन्तके आत्मोपदेशको सुनकर कृतकृत्य हुए सिद्ध, ऋषि और मनुष्योंकी उस सभामें गुरुके (वसिष्ठजीके) पूजामहोत्सवका वर्णन करनेवाले श्रीवाल्मीकिजीने कहा—'**निर्वाण०**' इत्यादिसे ।

श्रीवाल्मीकिजी बोले—हे भरद्वाज, इस प्रकरण के—निर्वाणवाक्यसन्दर्भके—समाप्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने जब क्रमप्राप्त अन्तिम वाक्यका विराम किया, सकल सभास्थित जन तथा आकाशचारी देवता आदि लोग मुनिमहाराजके वचनोंके श्रवणसे शान्त स्वच्छ मनोवृत्ति होकर जब निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मैकरसताको प्राप्त हो गये । शास्त्रज्ञानी सब लोगोंका निर्विकल्प समाधिके क्रमसे प्रत्यक्-आत्मा सत्त्वकोटिमें— सन्मात्रपराकाष्ठामें—पहुँच चुका अतएव परम पावन हो चुका तब आकाशतलमें निवास करनेवाले पहलेसे मुक्त हुए सनक आदि सिद्ध पुरुषोंके मुखसे निकले आकाशव्यापी साधुवादसे तथा सभामञ्चमें स्थित विश्वामित्र प्रभृति आत्मज्ञानी मुनियोंकी जोरकी वाहवाहीसे झटपट ऐसा कोलाहल हुआ

कोलाहलः समुदभूद् भूरिपूरितदिङ्मुखः ।
मधुरः पवनात्तानां कीचकानामिवाऽऽरवः ॥ ६ ॥
सिद्धानां साधुवादेन सह वै सहसा ततः ।
देवदुन्दुभयो नेदुः प्रतिश्रुत्पूरिताचलाः ॥ ७ ॥
देवदुन्दुभिभिः सार्धं तुषारासारसुन्दरी ।
दिग्भ्यः स्थगितदिक्चक्रा पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥ ८ ॥
पुष्पौघपूरितस्थानः शब्दापूरितकन्दरः ।
रजःसंरञ्जिताकाशो गन्धरञ्जितमारुतः ॥ ९ ॥
ससाधुवादशब्दस्य देवतूर्यरवस्य च ।
कुसुमासारघोषस्य समवायो रराज ह ॥ १० ॥
उन्मुखाखिलसभ्याक्षिरश्मिश्यामलितान्तरः ।
उत्कर्णमृगमातङ्गहयपक्षिपशुश्रुतः ॥ ११ ॥

कि उसने दिङ्मण्डलको ठसाठस भर दिया। वह कोलाहलध्वनि वायुसे पूर्ण रन्ध्रवाले कीचकोंकी (एक प्रकारके बांसोंकी) ध्वनिके समान मधुर थी ॥१–६॥

सनकादि सिद्धपुरुषोंके साधुवादके (धन्यवादके) साथ सहसा देवताओंके नगाड़े गहगहाने लगे। उन्होंने अपनी गहरी प्रतिध्वनियोंसे पर्वतोंको पूर्ण कर दिया ॥ ७ ॥

देवताओंके नगाड़े बजानेके साथ ही साथ निरवच्छिन्न गिर रहे हिमपातके समान मनोमोहक पुष्पवृष्टि दसों दिशाओंसे होने लगी। इतनी प्रचुर पुष्पवृष्टि हुई कि उसने दिङ्मण्डलको आच्छादित कर दिया–ढक दिया ॥ ८ ॥

साधुवाद सहित देवताओंके नगाड़े, तूरी आदिके शब्दका और फूलोंकी निरवच्छिन्न वृष्टिकी ध्वनिका समुदाय, जिसने फूलोंकी वृष्टिसे सभामञ्चको खचाखच भर दिया था, शब्दोंसे पर्वतकी गुफाएँ भर दी थीं, फूलोंके परागसे आकाशको रँग दिया था और सुगन्धसे पवनमें महक भर दी थी, खूब सुशोभित हुआ ॥ ९,१० ॥

पूर्वोक्त शब्दराशि ऊपरकी ओर टकटकी लगाये हुए सकल सभासदोंकी नेत्ररश्मियोंसे कुछ श्यामरंगकी-सी मालूम होती थी, भौचक्के-से होकर

सविस्मयभयोन्नेत्रबालकान्ताजनेक्षितः ।
विस्मयस्मेरवदनराजलोकावलोकितः ॥ १२ ॥
कुसुमासारसारेण शब्दशोभातिशायिना ।
संरम्भेण जगामाऽऽशु रोदोरन्ध्रमपूर्वताम् ॥ १३ ॥
पुष्पवर्षसुधाधौतं रटद्भूतसुघुंघुमम् ।
समतां सदनेनाऽगात् ध्मातशङ्खशतेन खम् ॥ १४ ॥
भुवनं भूरिभांकारभासुरं सुरचारणैः ।
वृतं मत्तोत्सवं रेजे समं कुसुममण्डितम् ॥ १५ ॥
शनैर्दुन्दुभिसिद्धौघवाक्यपुष्पभरः समम् ।
प्रययौ रोदसीरन्ध्रे वेलाचलमिवाऽम्बुधौ ॥ १६ ॥
तस्मिन्विबुधसंरम्भे क्षणेन समये गते ।
वाक्यानीमानि सिद्धानामभिव्यक्तिमुपाययुः ॥ १७ ॥

ऊपरको कान उठाये हुए मृग, हाथी, घोड़े, पशु-पक्षी आदि उसे सुनते थे, विस्मय और भयसे ऊपरको दृष्टि लगाये हुए बालक तथा स्त्रीजन उसे देखते थे तथा राजाके भृत्यवर्ग आश्चर्यसे प्रसन्नवदन हो उसपर दृष्टिपात करते थे ॥ ११,१२ ॥

पुष्पराशिकी निरवच्छिन्न वृष्टिसे संमिश्रित, शब्दशोभासे उल्लसित, उत्सवसे पृथिवी और अन्तरिक्षका अन्तराल अपूर्व चमत्कारपूर्ण हो गया ॥१३॥

पुष्पवृष्टिरूपी सफेदीसे प्रक्षालित, शब्दायमान प्राणियोंसे पुण्यशब्द-युक्त आकाश बजाये गये सैकड़ों शङ्खोंसे महाराज दशरथके राजप्रासादकी समताको प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

प्रचुर भांकारसे भासुर, देववृन्द और चारणोंसे परिवृत, पुष्पराशिसे विभूषित, परिपूर्ण उत्सववाला जगत् भी महाराज दशरथके घरके समान सुशोभित हुआ ॥ १५ ॥

देवताओंके नगाड़ोंकी ध्वनियाँ, सिद्धपुरुषोंके साधुवादके शब्द तथा पुष्पराशियाँ धीरे धीरे वैसे ही दिगन्तमें पहुँचीं जैसे कि सागरमें कल्लोल तटवर्ती पर्वतके समीप पहुँचती है ॥ १६ ॥

उस समय देवताओंके पुष्पवर्षाके उद्योगके कोलाहलके क्षणभरमें शान्त

सिद्धा ऊचुः

आकल्पं सिद्धसङ्घेषु मोक्षोपायाः सहस्रशः ।
व्याख्याताश्च श्रुताश्चाऽलमीदृशास्तु न केचन ॥ १८ ॥
तिर्यञ्चो वनिता बाला व्यालाश्चाऽनेन निर्वृतिम् ।
मुनेर्वाक्यविलासेन यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥ १९ ॥
दृष्टान्तैर्हेतुभिर्युक्त्या यथा रामोऽवबोधितः ।
तथा चारुऽन्धतीं साक्षात्संबोधयति वा न वा ॥ २० ॥
अनेन मोक्षोपायेन तिर्यञ्चोऽपि गतामयाः ।
स्थिता मुक्ता भविष्यन्ति के नाम भुवि नो नराः ॥ २१ ॥
श्रवणाञ्जलिभिः पीत्वा ज्ञानामृतमिदं वयम् ।
परां पूर्णनवीभूतसिद्धयः श्रियमागताः ॥ २२ ॥

होनेपर सिद्ध पुरुषोंके ये वाक्य अभिव्यक्त हुए ॥ १७ ॥

सिद्धोंने कहा—सिद्ध पुरुषोंके बीचमें कल्पपर्यन्त हजारों बार मोक्षोपायोंका हमने खूब व्याख्यान किया और दूसरोंके मुखसे उन्हें खूब सुना, किन्तु उनमें इस तरहके मोक्षोपाय कोई भी न थे ॥ १८ ॥

तिर्यग् योनिके श्वान, शृगाल आदि जीव, निसर्गतः जड़ स्त्रियाँ, बालक, सर्प सबके सब भगवान् वसिष्ठजीके इस वचनविलाससे परम शान्तिको प्राप्त होते हैं, इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीवसिष्ठजीने विविध दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियोंसे जैसे श्रीरामचन्द्रजीको आत्मावबोध कराया वैसा साक्षात् श्रीअरुधन्तीजीको भी आत्मावबोध कराते हैं या नहीं इसमें संशय है। इस श्लोकसे मुख्याधिकारी रामचन्द्रजीमें भगवान् श्रीवसिष्ठजीके स्नेहातिशयकी प्रशंसा की गई है ॥ २० ॥

इस मोक्षोपायभूत सदुपदेशसे पशु, पक्षी आदि भी त्रिविधदुःख शून्य हो गये हैं, यदि इसे सुनेंगे तो पृथिवीमें कौन मनुष्य मुक्त न होंगे ? ॥ २१ ॥

हम लोग इस ज्ञानामृतका कर्णरूपी अञ्जलिसे पानकर पूर्ण तथा नूतन हुई सिद्धिवाले होकर परमशोभाको प्राप्त हुए हैं ॥ २२ ॥

इति शृण्वन्सभां लोको विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
कुसुमासारसंपूर्णां राजीवानां ददर्श ताम् ॥ २३ ॥
मन्दारादिमहापुष्पच्छन्नच्छादनसंचयाम् ।
पारिभद्रलतागुच्छनीरन्ध्राजिरभूमिकाम् ॥ २४ ॥
पारिजातप्रसूनाढ्यमहीतलविराजिताम् ।
संतानकमहाम्भोदव्याप्तसभ्यशिरःकराम् ॥ २५ ॥
मौलिरत्नविटंकाग्रविश्रान्तहरिचन्दनाम् ।
वारिपूरप्रलम्बाभ्रबदालम्बिवितानकाम् ॥ २६ ॥
इति पश्यन्सभां लोकः साधुवादेन भूरिणा ।
तत्कालोचितवाक्येन तेन तेन तथोद्यतः ॥ २७ ॥
वसिष्ठं पूजयामास सर्वेन्द्रियगणानतः ।
कुसुमाञ्जलिमिश्रेण प्रणामसहितेन च ॥ २८ ॥
नृपप्रणाममालासु किंचिच्छान्तासु तास्वथ ।
मुनिमापूजयन्नाह सार्घ्यपात्रकरो नृपः ॥ २९ ॥

इस प्रकारके सिद्धवचनोको सुनते हुए अयोध्यावासी लोगोंने उस सभाको कमलोंके पुष्पोंकी वृष्टिसे परिपूर्ण देखा ॥ २३ ॥

उक्त सभाके छत आदि मन्दार आदिके बड़े बड़े फूलोंसे आच्छन्न थे, उसके आंगनकी भूमि कल्पवृक्षकी लताके गुच्छोंसे ठसाठस भरी थी, पारिजातके फूलोंसे सुशोभित भूमितलसे वह विराजमान थी, सन्तानक पुष्परूपी महामेघसे सब सभासदोंके सिर और हाथ व्याप्त थे। शिरोरत्नरूपी विटङ्कके अग्रभागमें हरिचन्दनके फूल बिखरे थे। उस सभामें जलसे भरे हुए लम्बायमान मेघके तुल्य चँदवा लटक रहा था॥ २४-२६ ॥

इस प्रकारकी अपूर्व सभाका अवलोकन कर रहे अयोध्यावासी लोगोंने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रचुर साधुवादोंसे तथा तत्कालोचित प्रशंसावचनोंसे उद्युक्त होकर प्रणाम सहित कुसुमाञ्जलिसे श्रीवसिष्ठजीकी पूजा की ॥ २७,२८ ॥

इसके पश्चात् जब नृपतियोंकी प्रणामपरम्पराएँ कुछ शान्त हुई तब हाथमें पूजासामग्री लेकर राजा दशरथने मुनि महाराजकी पूजा करते हुए कहा ॥ २९ ॥

दशरथ उवाच

क्षयातिशयमुक्तेन परमेणाऽऽत्मवस्तुना ।
पराऽन्तः पूर्णतोत्पन्ना बोधेनाऽरुन्धतीपते ॥ ३० ॥
न तदस्ति महीपीठे दिवि देवेषु वाऽपि च ।
महत्किंचिद्यदप्राप्तं तव पूज्यस्य पूजनम् ॥ ३१ ॥
तथाप्यात्मक्रमं ब्रह्मन्निमं नेतुमवन्ध्यताम् ।
अहं वच्मि यथाप्राप्तं न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥
आत्मना सकलत्रेण लोकद्वयशुभेन च ।
राज्येनाऽखिलभृत्येन भवन्तं पूजयाम्यहम् ॥ ३३ ॥
एतत्सर्वं तव विभो स्वायत्तं स्व इवाऽऽश्रमः ।
नियोजय यथाऽऽदेशं यथाभिमतयेच्छया ॥ ३४ ॥

राजा दशरथने कहा—हे गुरुवर, आपके सदुपदेशसे प्राप्त क्षयवृद्धि-विहीन बोधमय निरतिशयानन्दरूप आत्मवस्तुसे मेरे अन्दर सर्वोत्कृष्ट पूर्णता उत्पन्न हो गई है ॥ ३० ॥

हे गुरुवर, यद्यपि इस प्रकारके निरतिशय परम पुरुषार्थको प्रदान करनेवाले पूजनीय आपके पूजनयोग्य कोई महावस्तु न तो पृथिवीतलमें मनुष्योंके पास है और न स्वर्गमें देवताओंके पास है अथवा न पातालमें नाग लोगोंके पास ही है तथापि मैं अपना अवश्य कर्तव्यरूप इस शास्त्र तथा लोकमें प्रसिद्ध गुरुपूजाक्रमको सफल बनानेके लिए समयानुसार कुछ प्रार्थना करता हूँ कृपया आप नाराज न हों ॥ ३१,३२ ॥

दोनों लोकोंमें यानी स्वर्ग और भूतलमें भोगके लिए जिसका मैंने संचय किया है उस सुकृतसे, पुत्रकलत्रसहित अपने शरीरसे तथा सम्पूर्ण भृत्य और सामन्त सहित सारे राज्यसे, जिनका मैं आपको समर्पण कर चुका हूँ, मैं आपकी पूजा करना चाहता हूँ ॥ ३३ ॥

हे भगवन्, यह सब मैंने आपके अर्पणकर दिया है। आपके आश्रमकी तरह यह आपके अधीन है। आप स्वामी बनकर अपनी इच्छासे मुझे आदेश दीजिये ॥ ३४ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रणाममात्रसंतुष्टा ब्राह्मणा भूपते वयम् ।
प्रणामेनैव तुष्यामः स एव भवता कृतः ॥ ३५ ॥
पातुं त्वमेव जानासि राज्यं भाति तवैव च ।
भवत्वेतत्तवैवेह ब्राह्मणाः क्व महीभृतः ॥ ३६ ॥

दशरथ उवाच

कियन्मात्रं तु राज्यं स्यादिति लज्जामहे मुने ।
प्रकर्षेणाऽत्र तेनेश यथा जानासि तत्कुरु ॥ ३७ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवति भूपाले रामः पुष्पाञ्जलिं ददत् ।
उवाच प्रणतो वाक्यं पुरस्तस्य महागुरोः ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे भूपते, हम ब्राह्मण लोग केवल प्रणामसे सन्तुष्ट हैं। केवल प्रणामसे ही हमारी तुष्टि होती है और प्रणाम आप कर ही चुके हैं ॥ ३५ ॥

राज्यकी रक्षा करना आप ही जानते हैं और यह आपको ही शोभा देता है। यहाँ यह राज्य आपका ही रहे। तपस्यारत ब्राह्मण कहाँ महीपाल होते हैं ॥ ३६ ॥

दशरथजीने कहा—हे ब्रह्मन्, इस परम पुरुषार्थरूप मोक्षके प्रदानरूप महान् उपकारके लि प्रत्युयकाररूपसे दीयमान राज्य कौनसी वस्तु है, क्योंकि मानुषानन्दकी परम अवधि है निष्कण्टकवित्तपूर्ण निरामय सप्तद्वीपाधिपत्य। उससे सौ गुना अधिक मनुष्यगन्धर्वोंका आनन्द है, उससे भी सौ गुना अधिक देव-गन्धर्वोंका आनन्द है इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्टताको प्राप्त हो रहे विषयानन्दोंमें हिरण्यगर्भका आनन्द चरम सीमा है। वह सर्वोत्कृष्ट हिरण्यगर्भानन्द भी जिस मोक्षानन्दसमुद्रमें सीकर (जलकण) तुल्य है उसके लिए इसकी क्या गणना है, इसलिए हे मुनिवर उसके लिए इसे देनेमें मुझे लज्जा मालुम होती है, इसलिए हे देव, जैसा आप समझिये वैसा कीजिये ॥ ३७ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—महाराज दशरथके यह कह चुकनेके बाद गुरुके चरणोंपर पुष्पाञ्जलि अर्पित कर रहे श्रीरामचन्द्रजीने महागुरु श्रीवसिष्ठजीके

निरुत्तरीकृतमहाराज ब्रह्मन्प्रणौमि ते ।
प्रणाममात्रसारोऽहं रामः पादाविमौ प्रभो ॥ ३९ ॥
इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य शिरोवन्दनपूर्वकम् ।
तत्याजाऽञ्जलिपुष्पाणि हिमानीव वनं गिरेः ॥ ४० ॥
आनन्दवाष्पसंपूर्णनयनो नयकोविदः ।
गुरुं परमया भक्त्या प्रणनाम पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चैव तथाऽन्ये तत्समाश्च ये ।
निकटस्थास्तथैवाऽऽशु ते प्रणेमुर्मुनीश्वरम् ॥ ४२ ॥
दूरप्रणामैर्दूरस्थाः पुष्पाञ्जलिसमीरणैः ।
राजानो राजपुत्राश्च प्रणेमुर्मुनयश्च तम् ॥ ४३ ॥
अस्मिन्नवसरे तत्र कुसुमाञ्जलिवर्षणैः ।
हिमैरिव हिमाद्रीन्द्रो मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥ ४४ ॥

आगे नतमस्तक होकर यह वाक्य कहा ॥ ३८ ॥

हे ब्रह्मन्, आपने महाराजको निरुत्तर कर दिया है । मेरे पास प्रणामको छोड़कर अन्य उत्तम दातव्य वस्तु नहीं है अतएव हे प्रभो, केवल प्रणाममात्र सारभूतवस्तुवाला मैं राम आपके इन चरणोंको प्रणाम करता हूँ ॥ ३९ ॥

यह कहकर श्रीरामचन्द्रजीने जैसे वन पर्वतके पादोंपर (अधोदेशवर्ती छोटे पर्वतोंपर) पल्लवोंमें लगी हुई ओसकी बूँदोंको अर्पण करता है वैसे ही शिरसे वन्दना करते हुए वसिष्ठजीके चरणोंपर पुष्पाञ्जलि अर्पण की ॥ ४० ॥

आनन्दजनित अश्रुधारासे नीतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजीका वदन भर गया उन्होंने परम भक्तिसे बार बार श्रीगुरुजीको प्रणाम किया ॥ ४१ ॥

शत्रुघ्न और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न और भरतके तुल्य और जो रामचन्द्रजीके अन्यान्य सहचर निकटस्थित थे उन्होंने भी वैसे ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीको प्रणाम किया ॥ ४२ ॥

जो मुनि, राजा या राजकुमार लोग दूर दूर बैठे थे, उन्होंने दूरस्थोंके योग्य प्रणामों तथा पुष्पाञ्जलियों द्वारा मुनिवर श्रीवसिष्ठजीको प्रणाम किया ॥४३॥

इस अवसरपर वहाँ पुष्पाञ्जलियोंकी वर्षाओंसे मुनिमहाराज वैसे ही

अथ शान्ते सभाक्षोभे प्रणामनिवहे तथा ।
संस्मरञ्छासनं किंचित्सत्ये कृष्णसिताशयम् ॥ ४५ ॥
मुनिः कुसुमराशिं तं बाहुभ्यां प्रविचाल्य सः ।
मुखं संदर्शयामास सिताभ्रादिव चन्द्रमाः ॥ ४६ ॥
शान्ते सिद्धवचोराशौ तथा दुन्दुभिनिःस्वने ।
नभःकुसुमवर्षे च सभाकलकले तथा ॥ ४७ ॥
प्रणामानन्तरं तस्मिन्रामाद्यैः स्वसभाजने ।
शान्तवात इवाऽम्भोदे जने सौम्यत्वमागते ॥ ४८ ॥
आकर्णयन्साधुवादं विश्वामित्रं मृदुस्वनम् ।
उवाचेदमनिन्द्यात्मा वसिष्ठो मुनिनायकः ॥ ४९ ॥
मुने गाधिकुलाम्भोज वामदेव निमे क्रतो ।
भरद्वाज पुलस्त्याऽत्रे घृष्टे नारद शाण्डिले ॥ ५० ॥

आच्छादित हो गये जैसे कि हिमवृष्टिसे पर्वतराज हिमालय आच्छन्न होता है ॥ ४४ ॥

इसके उपरान्त जब सभाका कोलाहल और प्रणामपरम्परा समाप्त हो चुकीं तब वसिष्ठजीने माननीय मुनियोंके सन्मुख स्वकृत उपदेशात्मक शास्त्रीय सत्य वस्तुके विषयमें बुद्धिमालिन्यके कारण यह सदोष है अथवा स्वच्छबुद्धिके कारण यह निर्दोष है यों सन्देह करते हुएसे अपने चरित्रसे लोगोंको विनय सिखानेके लिए मुनियोंसे आगे वर्णन किये जा रहे प्रकारसे कुछ प्रष्टव्यका स्मरण करते हुए जैसे सफेद बादलोंको फाड़कर चन्द्रमा अपना मुख दिखाता है वैसे ही उस पुष्पराशिको बाहुओंसे हटाकर अपना मुख दिखलाया। जब सिद्धोंकी वाणियाँ, नगाड़ोंकी ध्वनियाँ, आकाशसे पुष्पवृष्टियाँ तथा सभाका कोलाहल शान्त हो गया एवं प्रणाम करनेके उपरान्त अपना पूजन करनेवाले यानी अपनी कृतकृत्यता माननेवाले राम आदि लोग शान्तपवनवाले मेघकी तरह सौम्यताको प्राप्त हो गये तब साधुवादका श्रवण कर रहे मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठजीने मधुरवचनपूर्वक विश्वामित्रजीसे कहा ॥ ४५—४९ ॥

गाधिजीके कुलमें यशरूपी सौरभ उत्पन्न करनेवाले कमलरूप हे मुनिवर, हे वामदेव, हे निमिजी, हे क्रतुजी, हे भरद्वाज, हे पुलस्त्य, हे अत्रे, हे घृष्टे, हे नारद,

हे भासभृगुभारण्डवत्सवात्स्यायनादयः ।
मुनयस्तुच्छमेतत्तु भवद्भिर्मद्वचः श्रुतम् ॥ ५१ ॥
यदत्राऽनुदितं किंचित्तदनुग्रहतोऽधुना ।
दुरर्थं विगतार्थं वा भवन्तः कथयन्तु मे ॥ ५२ ॥

सभ्या ऊचुः

वसिष्ठवचने ब्रह्मन्परमार्थैकशालिनि ।
दुरर्थो भवतीत्यद्य नवैव खलु गीः श्रुता ॥ ५३ ॥
यत्संभृतमनन्तेन जन्मदोषेण नो मलम् ।
तत्प्रमृष्टं त्वयेहाऽद्य हेम्नामिव हविर्भुजा ॥ ५४ ॥
ब्रह्मबृंहितया वाचा विभो विकसिता वयम् ।
कुमुदानीन्दुदीप्त्येव परमामृतशीतया ॥ ५५ ॥
सर्वसत्त्वमहाबोधदायिनं मुनिनायकम् ।
भवन्तमेकान्तगुरुं प्रणमाम इमे वयम् ॥ ५६ ॥

हे शाण्डिलि, हे भास, भृगु, हे भारण्ड, हे वत्सवात्स्यायन आदि ऋषि लोगो, आप लोगोंने मेरा जो यह तुच्छ वचन सुना है जो बात इसमें छूट गई हो, जो अनुचित हो, निरर्थक हो, दुष्टार्थ हो वह आप इस समय शिष्य रहित मुझपर अनुग्रह कर कृपया कहें ॥ ५०—५२ ॥

सभ्य लोगोंने कहा—हे ब्रह्मन्, एकमात्र परमार्थ तत्त्वसे सुशोभित होनेवाले श्रीवसिष्ठजीके वचनमें कोई अनुचित या दुष्ट अर्थ होता है यह बात आज एकदम नई सुननेमें आई है, क्योंकि आज तक इस तरहकी बात जगत्में कहीं भी दृष्ट या श्रुत नहीं है ॥ ५३ ॥

हम लोगोंका अनन्त जन्मदोषोंसे जो पाप संचित था उसका आपने वैसे ही परिमार्जन किया है जैसे कि सुवर्णके मलका अग्नि परिमार्जन करती है ॥ ५४ ॥

हे विभो, जैसे कुमुद ब्रह्मसदृश आकाशमें विस्तारित तथा परमामृतसे शीतल चन्द्रमाकी दीप्तिसे विकसित होते हैं वैसे ही हम लोग परम ब्रह्ममें विस्तारित परमामृतशीतल आपकी वाणीसे विकसित हुए हैं ॥ ५५ ॥

ये हम लोग सकल प्राणियोंको महाबोध देनेवाले मुनिश्रेष्ठ आप गुरुको

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा मुनिनाथाय नमस्त इति ते पुनः ।
वदन्त एकशब्देन तारेणाऽब्दरवौजसा ॥ ५७ ॥
अर्वाक्पुष्पाञ्जलिव्रातैः खात्सिद्धैः समम्रुज्झितैः ।
वसिष्ठं पूरयामासुर्हिमैरब्दा इवाऽचलम् ॥ ५८ ॥
इत्थं दशरथं भूपं शशंसुश्चाऽथ राघवम् ।
माधवं चतुरात्मानं राघवोदन्तकोविदाः ॥ ५९ ॥

सिद्धा ऊचुः

नमाम चतुरात्मानं नारायणमिवाऽपरम् ।
रामं सभ्रातरं जीवन्मुक्तं राजकुमारकम् ॥ ६० ॥
चतुरब्धिनिखातान्तधरावलयपालकम् ।
त्रिकालस्थमहीपालचिह्नं दशरथं नृपम् ॥ ६१ ॥
मुनिसेनाधिपं भूपं भास्वरं भूरितेजसम् ।
वसिष्ठं सुप्रवादाढ्यं विश्वामित्रं तपोनिधिम् ॥ ६२ ॥

ही, किसी अगुरुको नहीं, प्रणाम करते हैं। इससे अपरविद्याके गुरुओंकी अपेक्षा परविद्याप्रद गुरुके उत्कर्षकी पराकाष्ठा सूचित की गई ॥ ५६ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे मुने, मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीसे यह कहकर मेघके सदृश गम्भीर शब्दसे एक साथ पुनः पुनः नमस्ते कहते हुए उन मुनिजनोंने आकाशसे सिद्धोंके साथ स्वयं भी वर्षाये गये पुष्पाञ्जलिसमूहोंसे वसिष्ठजीको पुनः पुनः वैसे ही आच्छन्नकर दिया जैसे कि मेघ हिमवृष्टिसे हिमाचलको आच्छन्न करते हैं ॥५७,५८॥

मुनिजनोंने इसी प्रकार राजा दशरथकी प्रशंसा की। इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजीका विष्णुके अवतारत्वरूप वृत्त जाननेवाले उन लोगोंने चाररूपवाले भगवान् श्रीहरिरूप श्रीरामचन्द्रजीकी प्रशंसा की ॥ ५९ ॥

सिद्धोंने कहा—चार स्वरूपवाले दूसरे नारायणके तुल्य स्थित भ्रातासहित श्रीरामचन्द्ररूपी जीवन्मुक्त राजकुमारको हम नमस्कार करते हैं ॥ ६० ॥

सिद्धोंने चतुःसागरपर्यन्त भूमिमण्डलके पालक भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें कभी विलय न होनेवाले राजचिह्नोंसे युक्त महाराज दशरथकी आप रामसदृश पुत्रके पिता होनेसे अत्यन्त धन्य हैं यों प्रशंसा की तथा मुनि-

एषामेव प्रभावेण ज्ञानयुक्तिं परामिमाम् ।
श्रुतवन्तो वयं सर्वे भ्रान्तिसंरम्भनाशिनीम् ॥ ६३ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा गगनात्सिद्धा भूयः पुष्पाणि चिक्षिपुः ।
सभायामथ तूर्ष्णीं च तस्थुर्मुदितचेतसः ॥ ६४ ॥
तथैव व्योमगाः सिद्धाः शशंसुस्तं जनं पुनः ।
तथैव सभ्यास्तांस्तत्र समानर्चुर्घनस्तवम् ॥ ६५ ॥
नभश्चरा धरणिचरा मुनीश्वरा
महर्षयो त्रिबुधगणा द्विजा नृपाः ।
अपूजयन्निति जनमोजसैव ते
गिरोच्चया सह कुसुमार्ध्यदानया ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० साधुवाद-सपर्यादिवर्णनं नाम द्विशततमः सर्गः ।

संघके स्वामी भूरितेजस्वी अतएव भगवान् सूर्यके समान स्थित मुनिवर श्रीवसिष्ठजी-की तथा महायशस्वी तपोनिधि श्रीविश्वामित्रकी प्रशंसा की और कहा इन्हींके महान् प्रभावसे हम सब लोग भ्रान्तिको दूर करनेवाली उत्तम ज्ञानप्रदान करनेवाली वसिष्ठजीकी यह वाणी सुन पाये हैं ॥ ६१–६३ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—ऐसा कहकर सिद्धोंने फिर आकाशसे फूलोंकी वर्षा की तथा सभास्थानमें प्रसन्नचित्त होकर चुपचाप बैठ गये ॥ ६४ ॥

उसी प्रकार आकाशस्थ सिद्ध पुरुषोंने श्रीवसिष्ठजीकी प्रशंसा की, सभा-स्थित पुरुषोंने भी उन सिद्धोंका प्रचुर स्तुतियोंके साथ पूजन किया ॥ ६५ ॥

आकाशस्थित महर्षि तथा देवताओंने, भूमिमें स्थित ब्राह्मणों तथा राजा-ओंने तथा पृथिवी और आकाशमें स्थित मुनीश्वरोंने पूर्ववर्णित प्रकारसे अपनी अपनी शक्तिके अनुसार प्रत्येक पुरुषकी पुष्पार्घ्यदान युक्त उच्च जय जयकार वाणीसे पूजा की ॥ ६६ ॥

दो सौ सर्ग समाप्त

एकाधिकद्विशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

अथाऽर्वाक्साधुवादेषु प्रशान्तेषु शनैः शनैः ।
ज्ञानोपदेशमासाद्य प्रोल्लसत्स्विव राजसु ॥ १ ॥
प्रशान्तसंसृतिभ्रान्तौ जने चरितमात्मनः ।
स्वयं हसति चित्तेन सत्यं समनुधावता ॥ २ ॥
वलच्चित्तकलं ज्ञानसमास्वादनतत्परे ।
विवेकिनि सभालोके शान्ते ध्यानमिवाऽऽस्थिते ॥ ३ ॥
बद्धपद्मासने रामे सभ्रातिरि गुरोः पुरः ।
स्थिते कृताञ्जलौ दीप्तगुरुवक्त्रगतेक्षणे ॥ ४ ॥
पार्थिवे किमपि ध्यानमिवाऽऽस्वादयति स्थितिम् ।
जीवन्मुक्तात्मिकामन्तरादिमध्यान्तपावनीम् ॥ ५ ॥
ग्रहीतुमर्चां भक्तानां मानितार्थजनो मुनिः ।
तूष्णीं क्षणमिव स्थित्वा प्रोवाचाऽनाकुलाक्षरम् ॥ ६ ॥

दो सौ एक सर्ग

[गुरु द्वारा पुनः आदरपूर्वक पूछे गये श्रीरामचन्द्रजीने पूर्णानन्दमें अपनी विश्रान्ति प्रकट की, यह वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—इसके पश्चात् नीचे सभाप्रदेशमें जब धीरे धीरे साधुवादोंका तांता शान्त हो चुका, ज्ञानोपदेश पाकर राजगण विकसित-बदन हो गये, संसार-भ्रान्तिके विलीन होनेपर लोग अपनी अज्ञानावस्थाके चरित्र-को स्वयं ही तत्त्वकी ओर पूर्णतया अग्रसर हुए चित्तसे हंसने लगे, सभागत विवेकी लोग चित्तवृत्तिके प्रत्यक्प्रवणपूर्वक चिदेकरसानन्दके सम्यक् आस्वादन-में तत्पर हो ध्यानावस्थितकी तरह शान्त हो गये, भ्रातृसहित श्रीरामचन्द्रजी गुरुके आगे गुरुजीके दीप्तिमान् मुखपर टकटकी लगाकर हाथ जोड़े पद्मासन बाँधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्थसे होकर अपने अन्दर अलौकिक जीवन्मुक्तस्थितिका, जो आदि, मध्य और अन्तमें पवित्रता बढ़ानेवाली है, अनुभव कर रहे थे उस समय मुनि वसिष्ठजी भक्त राजा आदिकी पूजा ग्रहण करनेके लिए क्षणभर चुपचाप ठहरकर धीरे धीरे बोले ॥ १—६ ॥

स्वकुलाकाशशीतांशो राम राजीवलोचन ।
किमन्यदिच्छसि श्रोतुं कथयाऽभिमतेच्छया ॥ ७ ॥
स्थितिं च कीदृशीमेनामद्याऽनुभवसि स्वयम् ।
किंरूपमिदमाभासं जागतं वद पश्यसि ॥ ८ ॥
इत्युक्ते मुनिना तेन प्राह राजकुमारकः ।
अविह्वलं मृदु स्पष्टं गुरोरालोकयन्मुखम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

त्वत्प्रसादेन यातोऽस्मि परां निर्मलतां प्रभो ।
शान्ताशेषकलङ्काङ्कं शरदीव नभस्तलम् ॥ १० ॥
सर्वा एवोपशान्ता मे भ्रान्तयो भवभङ्गदाः ।
स्वरूपेणाऽवदातेन तिष्ठाम्यच्छमिवाऽम्बरम् ॥ ११ ॥
स्थितोऽहं गलितग्रन्थिः शान्ताशेषविशेषणः ।
स्फटिकालयमध्यस्थस्फटिकामलधीरहम् ॥ १२ ॥

हे राम, आप अपने विशाल कुलरूप आकाशके चन्द्रमा हैं, हे कमलनेत्र आप इससे अतिरिक्त क्या सुनना चाहते हैं अपनी इच्छाके अनुसार बतलाइए ॥ ७ ॥

हे रामजी, आज इस स्थितिका स्वयं आप कैसा अनुभव करते हैं ? इस जागतिक आभासको आप कैसा देखते हैं ? यह बतलाइये ॥ ८ ॥

भगवान् वसिष्ठजीके यह कहने पर गुरुके मुँहको देख रहे राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीने बिना घबड़ाहट या हिचकिचाहटके मृदु तथा स्पष्ट वचन कहा ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, आपके अनुग्रहसे मैं वैसे ही परम निर्मलताको प्राप्त हो चुका हूँ जैसे कलङ्कसे पूर्णतया विरहित चन्द्रमासे सुचिह्नित आकाशतल निर्मल होता है ॥ १० ॥

मेरी संसाररूपी दुःख प्रदान करनेवाली सभी भ्रान्तियाँ शान्त हो गई हैं। मैं निर्मल आकाशके समान अतिनिर्मल अपने स्वरूपसे स्थित हूँ ॥ ११ ॥

मेरी चिदचिद् ग्रन्थि शान्त हो गई है, मेरे सकल विशेषण (उपा-

अन्यच्छ्रोतुमथाऽहर्तुं शान्तं नेच्छति मे मनः ।
परां तृप्तिमुपायातं सुषुप्तमिव संस्थितम् ॥ १३ ॥
शान्ताशेषपरामर्शं विगताशेषकौतुकम् ।
संत्यक्ताशेषसंकल्पं शान्तं मम मुने मनः ॥ १४ ॥
परिनिर्वामि शाम्यामि जाग्रदेव जगत्स्थितौ ।
अस्वप्नमपुनर्बोधं स्वपिमीव निरामयम् ॥ १५ ॥
आशाविधुरितामात्मसंस्थितिं प्राक्तनीं तनौ ।
प्रविहस्य स्फुरत्सूक्तैः स्वस्थस्तिष्ठाम्यसंशयम् ॥ १६ ॥
नोपदेशेन नाऽर्थेन न शास्त्रैर्न च बन्धुभिः ।
त्यागेन च न चैतेषामधुना मम कारणम् ॥ १७ ॥
साम्राज्यस्याऽथवा व्योम्नि या स्थितिः क्षोभवर्जिता ।
तामेवाऽनुभवाम्यत्र मच्चित्तामनपायिनीम् ॥ १८ ॥

धियाँ) विलीन हो चुकी हैं तथा ब्रह्मभावसे विशुद्ध जगत्में मेरी बुद्धि स्फाटिकके मन्दिरके मध्यमें स्थित स्फटिक मणिकी तरह निर्मलतम है ॥ १२ ॥

मेरा शान्त मन इसके बाद और कुछ उपदेश सुनना तथा कर्म-सम्पादन करना नहीं चाहता है। परम तृप्तिको प्राप्त हुआ वह सुषुप्तके समान स्थित है ॥१३॥

हे मुनिवर, परम शान्तिको प्राप्त हुए मेरे मनके सकल विषयस्मरण शान्त हो चुके हैं, उसका विषयभोगका कौतुक चला गया है तथा उसने विषयसंकल्पों-का त्याग कर दिया है ॥ १४ ॥

मैं जगत्के विषयमें मानसिक विषयालोचन रहित जिसमें फिर बोध नहीं है ऐसा ऐन्द्रियक विषयालोचन रहित निरामय होकर सोता सा हूँ, पूर्णरूपसे निर्वाणको प्राप्त हूँ, शान्त हूँ । यहाँपर इव शब्द सुषुप्तभानके भी मिथ्या होनेसे तुरीयावस्थामें अव स्थितिका द्योतक है ॥१५॥

पूर्वकी आशाओंसे विह्वलित शरीरमें आत्मबुद्धिसे स्थितिका उपहासकर देदी-प्यमान (फड़क रही) आपकी सूक्तियोंसे इस समय स्वस्थ होकर निस्सन्देह स्थित हूँ ॥१६॥

न उपदेशसे, उपदेशप्रयुक्त अन्य प्रयोजनसे, न शास्त्रोंसे, न बन्धु-बान्धवोंसे और न इन सबके त्यागसे ही मेरा कोई प्रयोजन है ॥ १७॥

जिसमें केवल प्रत्यगात्मात्रमें चित्त प्रतिष्ठित रहता है ऐसी अविनाशिनी

खादप्यतितरामच्छं चिदाकाशांशमात्रकम् ।
जगदित्येव पश्यामि लोचनाद्यङ्गतां गतः ॥ १९ ॥
आकाशमात्रमेवेदं जगदित्येकनिश्चयः ।
दृश्यनाम्नि नभस्यस्मिन्क्षये जागर्मि चाऽक्षयः ॥ २० ॥
यथाकामं यथाप्राप्तं यथास्थितमिव स्थितम् ।
यद्वक्ति तदविघ्नेन करोम्यपगतैषणम् ॥ २१ ॥
न तुष्यामि न हृष्यामि न पुष्यामि न रोदिमि ।
कार्यं कार्यं करोम्येको भ्रान्तिर्दूरं गता मम ॥ २२ ॥

(नित्य) जीवन्मुक्त स्थितिका मैं स्वर्गमें साम्राज्यकी असुरादिके क्षोभसे वर्जित जो स्थिति है उसके तुल्य ही अनुभव करता हूँ ॥ १८ ॥

मैं बाह्य दृष्टिसे जिसमें नेत्र आदि अङ्ग हैं ऐसी स्थितिको प्राप्त होकर भी जगत्को आकाशसे भी अत्यन्त निर्मल एकमात्र चिन्मात्राकाशरूप ही देखता हूँ अज्ञानी पुरुषकी तरह जगत्को जड़ नहीं देखता ॥ १९ ॥

यह जगत् केवल आकाशमात्र ही है ऐसा दृढ़ निश्चयवाला मैं इस जगत्के मोह-निद्राके साथ बाधित होनेपर अक्षय स्वरूप हो सदा ही जागता हूँ ॥ २० ॥

भावी कार्यको यथाकाम, वर्तमान कार्यको यथाप्राप्त तथा पूर्वस्थित कार्यको यथास्थित जो आप कहते हैं उसको मैं फलाभिसन्धिसे शून्य होकर अविघ्नतया गुरु तथा शास्त्रके अनुसार करता हूँ। 'यथाकामं यथारम्भं यथाप्राप्तं यथा· स्थितम्' इस तरहके पाठान्तरमें—अपने कार्यके विषयमें यथाकाम (यथेच्छ) तथा प्रारब्धानुसार' परके कार्यके विषयमें यथाप्राप्त तथा यथास्थित जो आप कहते हैं उसका मैं गुरु और शास्त्रके अनुसार निर्विघ्न सम्पादन करता हूँ ॥ २१ ॥

इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे न तो मैं अन्दर मनमें सन्तुष्ट होता हूँ और न बाहर शरीरसे हर्षित होता हूँ तथा न पुष्ट होता हूँ एवं अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे न रोता हूँ। अवश्यकर्तव्य लौकिक और वैदिक कार्य करता हूँ। मैं केवल एक ही हूँ। मेरा भ्रमजाल दूर भाग चुका है ॥ २२ ॥

अन्यतामेतु सर्गोऽयं वातु वा प्रलयानिलः ।
सौम्यो भवतु वा देशः स्वस्थोऽहं स्वात्मनि स्थितः ॥ २३ ॥
विश्रान्तोऽस्मि विलक्ष्योऽस्मि दुर्लक्ष्योऽस्मि निरामयः ।
नाऽऽशाभिर्बन्धमाप्नोमि मुने खमिव मुष्टिभिः ॥ २४ ॥
यथा तरुगतात्पुष्पाद्गन्धः प्राप्य नभःपदम् ।
तिष्ठत्येवमहं देहादतीतः संस्थितः समः ॥ २५ ॥
यथैव सर्वे राजानो विहरन्ति यथासुखम् ।
अप्रबुद्धाः प्रबुद्धाश्च राज्येषु बहुकर्मसु ॥ २६ ॥

इस प्रकारसे स्थित हुए मुझे, अज्ञानियोंके अभिमत बन्धु, जन, राज्य आदिके नाशोंसे अथवा वृद्धि, ह्रास आदि अवस्थाओंसे अनर्थप्राप्तिकी आशङ्का नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'अन्यताम्'** इत्यादिसे ।

चाहे यह सृष्टि उलट जाय अथवा प्रलयकालके पवन बहें, चाहे देश सोममार्गके समान जनशून्य हो जाय लेकिन मैं निर्विक्षेपरूपसे अपनी आत्मामें स्थित हूँ ॥ २३ ॥

हे मुनिवर, मैं आत्मराम हूँ, बाह्य इन्द्रियोंसे अलक्ष्य हूँ, मनसे भी दुर्लक्ष्य हूँ, निरामय हूँ, आशाओंसे मैं वैसे ही बन्धनको प्राप्त नहीं होता जैसे कि आकाश मुष्टियों द्वारा बन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥ २४ ॥

देह में अभिव्यक्तका देहातीत रहनेमें दृष्टान्त कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षगत पुष्प में अभिव्यक्त गन्ध आकाशमें पहुँचकर पुष्पातीत रहता है वैसे ही मैं देहमें अभिव्यक्त होकर देहातीत सम (यह इस पुष्पका है अथवा इस देहका है यों विशेषणके योग्य न होनेसे साधारण) रूपसे स्थित हूं ॥ २५ ॥

तो आप आगे कैसे और किसकी तरह व्यवहार करेंगे ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'यथैव'** इत्यादिसे ।

जैसे ही प्रबुद्ध तथा अप्रबुद्ध सब राजा विविध कामधामवाले राज्योंमें व्यवहार करते हैं वैसे ही हर्ष, विषाद और आशासे विरहित, स्थिर, एक, सम-

शान्तहर्षविषादाशः　स्थिरैकसमदर्शनः ।
स्थित आत्मनि निःशङ्कं तथैव विहराम्यहम् ॥ २७ ॥
सर्वस्योपर्यपि सुखी सुखं नेहामि मे प्रभो ।
जनसाम्येन तिष्ठामि यथेच्छं मां नियोजय ॥ २८ ॥
बालो लीलामिव त्यक्तशङ्कं संसारसंस्थितिम् ।
यावद्देहमिमां साधो पालयाम्यमलैकदृक् ॥ २९ ॥
भुञ्जे पिबामि तिष्ठामि पालयामि निजक्रियाम् ।
जातोऽहं विगताशङ्कस्त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

अहो बत महापुण्यं पदमासादितं त्वया ।
अनादिमध्यपर्यन्तमिदं यत्र न शोच्यते ॥ ३१ ॥

दर्शन मैं आत्मामें स्थित होकर निश्शङ्क हो व्यवहार करता हूं। अप्रबुद्धसे प्रबुद्धमें यही अन्तर है कि वह हर्ष, विषाद और आशापाशसे बद्ध, अस्थिर तथा विषमदृष्टि रहता है ज्ञानी हर्षादिसे रहित स्थिर तथा समदृष्टि रहता है॥ २६,२७॥

हे प्रभो, सकलविषयैश्वर्यानन्दके ऊपर स्थित ब्रह्मानन्दसे मैं सुखी हूं अतएव अपने शरीरमें विषयसुखकी मुझे इच्छा नहीं है। बाह्य दृष्टिसे सर्व-साधारण जनकी तरह मैं स्थित हूं मुझे अपनी इच्छाके अनुसार सेवा आदि जिस किसी भी विषयमें नियोजित कीजिये ॥ २८ ॥

हे सज्जनशिरोमणे, एकमात्र निर्मलब्रह्मरूपलक्ष्यमें दृष्टिवाला मैं जब तक मेरा शरीर रहेगा तब तक सांसारिक स्थितिका निश्शङ्क होकर वैसे ही पालन करूंगा जैसे कि बालक अपनी अवस्थाके अनुरूप क्रीड़ाका अनुवर्तन करता है॥ २९ ॥

हे मुनिनायक, मैं भोजन करता हूँ, पीता हूँ, बैठता हूँ, अपने कर्तव्य-का पालन करता हूँ। आपके अनुग्रहसे मेरी सब शङ्काएँ निवृत्त हो चुकी हैं॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह बड़े सौभाग्यका विषय

सम्यक्समसमाभोगे शीतले स्वात्मनि स्वयम् ।
नभसीव नभः शान्ते विश्रान्तिमसि लब्धवान् ॥ ३२ ॥
दिष्ट्या जातो विशोकस्त्वं दिष्ट्या सम्यगवस्थितः ।
दिष्ट्या लोकद्वयेऽनर्थशङ्का ते शममागता ॥ ३३ ॥
दिष्ट्या रघूणां तनय संज्ञः पावितवानसि ।
भूतभव्यभविष्यस्थां बोधेन कुलसंततिम् ॥ ३४ ॥
अधुना मुनिनाथस्य विश्वामित्रस्य राघव ।
पूरयित्वाऽर्थितां भुक्त्वा पित्रा सह महीमिमाम् ॥ ३५ ॥
त्वयाऽन्विताः सतनयभृत्यबान्धवाः
पदातयः सरथगजाश्वमण्डलाः ।
निरामया विगतभयाः स्थिरश्रियः
सदोदयाः सुभग भवन्तु राघवाः ॥ ३६ ॥

है कि आपने आदि, मध्य और अन्त रहित वह महापुरुष सर्वश्रेष्ठ पद पा लिया है जिस पदमें स्थित हुए पुरुषोंको पुनः शोक-दुःख नहीं रहता ॥ ३१ ॥

आप अत्यन्त सम (विषमतालेशशून्य) शीतल स्वात्मामें जैसे आकाश शान्त आकाशमें विश्राम प्राप्त करता है वैसे ही पूर्ण विश्रान्तिको प्राप्त हुए हैं ॥ ३२ ॥

बड़े हर्षकी बात है आप सर्वथा शोकदुःखशून्य हो गये हैं, बड़े आनन्दका विषय है कि आपको उत्तम स्थिति प्राप्त हो गई है एवं महासौभाग्यकी बात है कि आपकी इस लोक और परलोकमें दृष्ट, अदृष्ट और श्रुत अनर्थशङ्काकी निवृत्ति हो गई है ॥ ३३ ॥

हे पुत्र, हर्ष है आपने आत्मतत्त्वज्ञानी होकर बोधसे रघुवंशियोंकी अतीत, वर्तमान और भावी कुलसन्ततिको पवित्र कर दिया है। हे रघुनाथ, इस समय आप मुनिनायक श्रीविश्वामित्रकी इस यज्ञविघ्ननिवृत्तिकी अभ्यर्थनाको पूर्णकर पिताके जीतेजी उनकी आज्ञासे राक्षसवध द्वारा पृथिवीका पालनकर स्थित होइये ॥ ३५ ॥

हे सौभाग्यशाली राघव, आप सरीखे महापुरुष कुलदीपकसे युक्त पुत्र-

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० विश्रान्तिप्रकटीकरणं नामैकाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य वचः संसदि पार्थिवाः ।
सिक्ता इवाऽमृतापूरैरन्तःशीतलतां ययुः ॥ १ ॥
रामः कमलपत्राक्षो रराज वदनेन्दुना ।
क्षीरोद इव संपूर्णः सुधापूरेण चारुणा ॥ २ ॥
वामदेवादयः सर्वे तत्त्वज्ञानविशारदाः ।
अहो भगवता ज्ञानमुक्तमित्यूचुरादरात् ॥ ३ ॥

पौत्र, भृत्य, बन्धुबान्धव, पदाति, रथ, गज और अश्वसमुदायके साथ सब रघुवंशी शरीरमें नीरोग, चित्तमें निर्भय और घरोंमें सदा उदयवाले हों ॥ ३६ ॥

दो सौ एक सर्ग समाप्त ।

दो सौ दो सर्ग

[प्रबोधसे हर्षित हुए राजाओंका तथा प्रबोधसे हर्षित हुए श्रीरामचन्द्रजीका वर्णन तथा श्रीरामचन्द्रजी द्वारा ज्ञाननिर्मल अपनी स्थितिका वर्णन]

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, सभामें श्रीवसिष्ठजीका यह वचन सुनकर सब राजा तथा अन्यान्य लोग अमृतप्रवाहसे सींचे हुएकी तरह अन्दर अत्यन्त शीतलताको प्राप्त हुए ॥ १ ॥

कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी अपने मनोज्ञ चन्द्रवदनसे ऐसे सुशोभित हुए जैसे कि अमृतसे पूर्ण मनोहर चन्द्रमाके उदयसे सम्पूर्ण क्षीरसागर सुशोभित होता है ॥ २ ॥

तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि सब लोगोंने वाह भगवान् श्रीवसिष्ठजीने क्या ही उत्तम ज्ञानका वर्णन किया, यह बड़े सम्मानसे कहा ॥ ३ ॥

शान्तान्तःकरणो राजा मुदा दशरथो बभौ ।
तुष्टयैव संप्रहृष्टाङ्गो नवां द्युतिमुपागतः ॥ ४ ॥
ज्ञातज्ञेयेषु बहुषु साधुवादकथास्वथ ।
उवाच गलिताज्ञानो रामो वाक्यमिदं पुनः ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन्भूतभव्येश त्वयाऽस्माकमलं मलम् ।
संप्रमृष्टमिदं हेम्नः श्यामत्वमिव वह्निना ॥ ६ ॥
अभूम वयमात्मीयकायमात्रदृशः पुरा ।
प्रभो संप्रति संपन्ना विष्वग्विश्वावलोकिनः ॥ ७ ॥
स्थितोऽस्मि सर्वसंपूर्णः संपन्नोऽस्मि निरामयः ।
जातोऽस्मि विगताशङ्को बुधो जागर्मि संप्रति ॥ ८ ॥
आनन्दितोऽस्म्यखेदाय सुखितोऽस्मि चिराय च ।
स्थितोऽनस्तमयायैव शाश्वतार्थोदयो मम ॥ ९ ॥

शान्त अन्तःकरणवाले राजा दशरथ प्रसन्नतासे अत्यन्त सुशोभित हुए। वे अत्यन्त सन्तोषसे पूर्णतया रोमाञ्चितशरीर हो एक अपूर्व शोभाको प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् ज्ञानी पुरुषोंमें बहुतसी साधुवाद कथाओंके प्रवृत्त होनेपर श्रीरामचन्द्रजीने, जिनका अज्ञान छूट गया था, पुनः यह वचन कहा ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, आप अतीत और वर्तमानके अधिपति हैं, आपने हमारा यह अज्ञान वैसे ही पूर्णतया मिटा दिया है जैसे अग्नि सुवर्णका मल (अन्यान्य धातुओंकी मिलावट) पूर्णतया मिटा देता है ॥ ६ ॥

हे प्रभो, हम लोग पहले केवल शरीरमें आत्मदृष्टिवाले थे इस समय आपके अनुग्रहसे सर्वत्र सर्वात्मदर्शी हो गये हैं ॥ ७ ॥

मैं सर्वात्मा होकर सम्पूर्ण रूपसे स्थित हूं, नीरोग हो गया हूं, मेरी सकल आशङ्काएं मिट चुकी हैं। इस समय मैं ज्ञानवान् होकर जागरूक हूँ ॥ ८ ॥

कभी खेदवान् न होनेके लिए मैं आनन्दित हूँ, चिरकालके लिए मैं सुखी हूँ, कभी अस्त न होनेके लिए मैं स्थित हूँ मेरे परमपुरुषार्थका उदय आविर्भूत हो गया है ॥ ९ ॥

अहो बत पवित्रेण शीतेन ज्ञानवारिणा।
त्वया सिक्तोऽस्मि हृष्यामि पद्मवद्धृदये स्वयम् ॥ १० ॥
इयमद्य मया लब्धा पदवी त्वत्प्रसादतः।
यस्यां स्थितस्य मे सर्वममृतत्वं गतं जगत् ॥ ११ ॥
अन्तः प्रसन्नमतिरस्तसमस्तशोकः
शोभां गतोऽहममलाशय एव शान्त्या।
आनन्दमात्मनि गतः स्वयमात्मनैव
नैर्मल्यमभ्युपगतोऽस्मि नमोऽस्तु मह्यम् ॥ १२ ॥

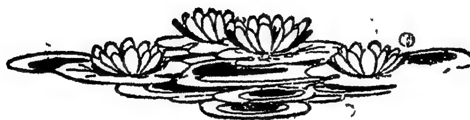
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० आत्मविश्रामाङ्गीकरणं नाम द्व्यधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०२ ॥

अहा पवित्रतम शीतल ज्ञानरूपीजलसे आपने मुझको सींचा है अतएव मैं हृदयमें शरत्कालके कमलके समान प्रहृष्ट हूँ, विकसित हूँ ॥ १० ॥

आपके अनुग्रहसे आज मुझे यह दिव्य साम्राज पदवी प्राप्त हो चुकी है जिसमें स्थित हुए मेरे लिए यह सारा जगत् अमृत बन गया है ॥ ११ ॥

मेरी मति पूर्णतया प्रसन्न हो चुकी है, मेरा समस्त शोक निवृत्त हो गया है मैं अलौकिक शान्तिसे (सकार्य मूलाज्ञानके नाशसे) अमलाशयरूप आत्मामें आनन्दको प्राप्त हो गया हूं । भलीभाँति परीक्षा करके देखे गये आत्मासे ही स्वतःसिद्ध निर्मलताको मैं प्राप्त हो चुका हूं अतएव मेरे लिए नमस्कार है ॥ १२ ॥

दो सौ दो सर्ग समाप्त ।



त्र्यधिकद्विशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

इत्थं विचारपरयोर्मुनिराघवयोस्तयोः ।
भास्करः श्रवणायेव व्योममध्यमुपाययौ ॥ १ ॥
तीक्ष्णतामाजगामाऽऽशु सर्वदिक्कमथाऽऽतपः ।
पदार्थौघविकासार्थं रामस्येव महामतिः ॥ २ ॥
उत्फुल्लहृदयाम्भोजस्फाराकारतया तदा ।
लीलापद्माकरा रेजुस्तत्रस्थाः पार्थिवा इव ॥ ३ ॥
जालं मुक्ताकलापानन्तरमाक्रान्तभास्करम् ।
ननर्तेव तरद्व्योम विज्ञानश्रवणादिव ॥ ४ ॥
पुस्फुरुः पद्मरागेषु लग्नार्कत पत्विषः ।
भासो व्योमतलोड्डीना धियो ज्ञानकला इव ॥ ५ ॥

दो सौ तीन सर्ग

[मध्याह्नकालका सूचक तूरीका घोष, दिनचर्या, निशाका आगमन तथा प्रातःकाल सभाके सामने श्रीरामचन्द्रजीके सन्देहाभावका वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—इस प्रकार जब भगवान् वसिष्ठजी तथा-श्रीरामचन्द्रजी आपसमें विचारकर रहे थे उस समय मानो उनके विचार-विमर्शको सुननेके लिए भगवान् सूर्य्य आकाशके मध्यमें पहुंचे ॥ १ ॥

इसके पश्चात् दसों दिशाओंमें घाम श्रीरामचन्द्रजीकी महामतिके समान पदार्थ-राशिके स्पष्ट रूपसे प्रदर्शनके लिए जल्दी तेज हो गया ॥ २ ॥

उस समय उद्यानके तड़ाग विकसित कमलोंसे विशालकाय होनेके कारण—प्रफुल्ल-हृदय कमल होनेके कारण विकसिताकार वहांपर बैठे हुए राजाओंकी तरह—खूब सुशोभित हुए ॥ ३ ॥

मोतियोंकी घनी झालरवाला स्फटिकमणिका झरोखा जिसमें भगवान् सूर्यका प्रतिबिम्ब संक्रान्त था, आकाशमें तैरता हुआ-सा नाचता था ॥ ४ ॥

पद्मराग मणियोमें संक्रान्त सूर्यकी आकाशमें फैली हुई तेजदीप्तिवाली

एवं निर्वृतिमायाते रामे स्वकुलकैरवे ।
मुनीन्द्रवदनालोकात्सविकासमिव स्थिते ॥ ६ ॥
रवावौर्वोपमे व्योम महाब्धेर्नाभितां गते ।
तेजःपुञ्जलसज्ज्वाले समग्ररसपायिनि ॥ ७ ॥
नभोनीलोत्पले नीले गलद्रजसि राजति ।
घर्मांशुकर्णिकाकान्ते स्फुरत्किरणकेसरे ॥ ८ ॥
अवतंसे जगल्लक्ष्म्यास्त्रिलोकीकर्णकुण्डले ।
अन्तर्लीनस्फुरत्ताररत्नराजिविराजिते ॥ ९ ॥
दिग्वधूभिर्बृहच्छृङ्गपाणिभिर्मुकुरेष्विव ।
धृतेषु तापभिन्नेषु महाभ्रेषु निरम्बुषु ॥ १० ॥
सूर्यकान्तवरोत्थेन वह्निनेव समेधिते ।
द्विगुणं प्रज्वलत्यर्कशून्ये गगनधामनि ॥ ११ ॥
विनेदुर्मेदुरोद्दाममुखमारुतपूरिताः ।
मध्याह्नशङ्खाः कल्पान्तवातपूर्णा इवाऽर्णवाः ॥ १२ ॥

किरणें (प्रतिबिम्बित-कान्तियां) ऐसी स्फुरित होती हैं जैसे कि स्वच्छ उपदेश-ज्ञानकला स्फुरित होती हैं ॥ ५ ॥

मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ, विश्वामित्र आदिकी मुखकान्तिरूप चन्द्रमासे विकसित-से हुए अपने कुलके कैरवभूत श्रीरामचन्द्रजी महाराज जब इस प्रकार परमानन्द-को प्राप्त हो गये, जब बड़वानलके तुल्य भगवान् सूर्य, जो तेजःपुञ्जरूपी देदीप्यमान ज्वालाओंसे युक्त तथा बड़वानलके समान ही समग्र रसोंका पान करनेवाले हैं, आकाशरूपी महासागरके नाभिके सदृश हो गये यानी मध्य आकाशमें स्थित हो गये; जब आकाशरूपी नीलकमल, जो सूर्यरूपी कर्णिकासे मनोहर, देदीप्यमान किरणरूपी केसरोंसे सुशोभित था तथा जिससे रजरूपी पराग गिर रहा था, अत्यन्त सुहावना मालूम होता था, वह आकाशरूपी नीलकमल मानो जगत्-लक्ष्मीका शिरका भूषण था, त्रिलोकीरूपी नायिकाका कर्णाभरण था। वह कर्णाभरण और शिरोभूषण भीतर जड़े हुए चमकीले सितारेरूपी विविध रत्नोंसे सुशोभित था, जब दिशारूपी नायिकाओंने विशाल पर्वतशिखररूपी हाथोंसे धूपसे मिश्रित जल रहित महामेघोंको दर्पणोंकी नाईं पकड़ रखा था तथा जब

प्रालेयश्रीरिवाऽब्जेषु घर्मश्रीर्वदनेष्विव ।
चकार पदमाकीर्णशुद्धमुक्ताफलोपमा ॥ १३ ॥
गृहभित्तिपरावृत्ता सत्वसंरम्भमांसला ।
शब्दश्रीः पूरयामास कर्णमर्ग इवाऽर्णवम् ॥ १४ ॥
पुरन्ध्रीभिर्निदाघौघशान्तये समुदीरिता ।
उल्ललास नवा पाण्डुकर्पूरजलदावलिः ॥ १५ ॥
स राजा सहसामन्तः सभूपः सपरिच्छदः ।
सवसिष्ठः समुत्तस्थौ सहरामः ससंसदः ॥ १६ ॥
राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा ।
अन्योन्यं पूजिता जग्मुर्मुदिताः स्वं निवेशनम् ॥ १७ ॥

सूर्य रहित भी आकाश श्रेष्ठतम सूर्यकान्त मणियोंसे निकली हुई आगसे प्रदीप्त होनेके कारण सूर्यसे भी दुगुना सा जल रहा था उस मध्याह्न समयमें समयकी सूचना देनेके लिए बजनेवाले शङ्ख प्रलय कालकी वायुसे पूर्ण सागरोंकी तरह, प्रचुर मुखवायुसे पूरित होकर बजे ॥ ६-१२ ॥

कमलोंपर ओसकी बूंदोंके समान लोगोंके मुख मण्डलोंपर पसीनेकी बूंदोंने, जिनका आकार-प्रकार इधर उधर बिखरे हुए मोतियोंके समान था, स्थिति की ॥ १३ ॥

जैसे वृष्टि और नदीका जल सागरको भरता है वैसे ही घरकी दीवारोंमें टक्कर लगनेसे प्रतिध्वनिके रूपमें लौटे हुए तथा प्राणियोंके कर्मत्वराप्रयुक्त शब्द-संभ्रमसे पुष्ट हुए शब्दने लोगोंके कानोंको भर दिया ॥ १४ ॥

मध्याह्न कालमें सुवासिनी (सौभाग्यवती) महिलाओं द्वारा गर्मीकी प्रखरताको शान्त करनेके लिए उड़ाई हुई सफेद कर्पूरयुक्त जलसेचनरूपी नूतनमेघ-माला उल्लासको प्राप्त हुई ॥ १५ ॥

महाराज दशरथ सब सामन्तों, भूपालों, अपने अङ्गरक्षक, भृत्य आदि, महामुनि वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजीके साथ सभासे उठे ॥ १६ ॥

सब राजा, राजकुमार, मन्त्रि-गण, मुनिवृन्द परस्पर पूजा-सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने अपने घरको गये ॥ १७ ॥

अन्तःपुरगृहाग्रेषु तालवृन्तानिलाहृतैः ।
कर्पूरधूलिभिरभून्नवैवाऽम्बुदमालिका ॥ १८ ॥
अथ मध्याह्नतूर्याणां रवे स्फूर्जति भित्तिषु ।
उवाच वचनं वाक्यकोविदो मुनिनायकः ॥ १९ ॥
सर्वमेव श्रुतं श्राव्यं ज्ञेयं ज्ञातमशेषतः ।
त्वया राघव भो नास्ति ज्ञातव्यमपरं वरम् ॥ २० ॥
यथा मयोपदिष्टोऽसि यथा पश्यसि शास्त्रतः ।
यथाऽनुभवसि श्रेष्ठमेकवाक्यं तथा कुरु ॥ २१ ॥
उत्तिष्ठ तावत्कार्याय वयं स्नातुं महामते ।
मध्याह्नसमयोऽस्माकमयमङ्गाऽतिवर्तते ॥ २२ ॥

अन्तःपुरके प्रमुख गृहोंमें पङ्खोंकी वायुसे उड़ाई गई कपूरकी धूलिसे अपूर्व ही मेघमाला उदित हुई ॥ १८ ॥

इसके पश्चात् जब मध्याह्नकालकी तूरियोंकी ध्वनि भित्तियोंमें टकराकर प्रतिध्वनित हुई तब वाक्यप्रयोगमें निपुण मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजीने ये वाक्य कहे ॥ १९ ॥

हे रामचन्द्रजी, आपने श्रोतव्य सब-कुछ सुन लिया है और ज्ञातव्य सब-कुछ जान लिया है इसके अतिरिक्त उत्तम ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है ॥ २० ॥

अब आपको गुरुके उपदेश, वेदान्त आदि शास्त्र तथा स्वानुभवके अविसंवादके लिए एकार्थनिष्ठतारूप एकवाक्यता करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं— **'यथा'** इत्यादिसे ।

हे राम, जिस प्रकार मैंने आपको उपदेश दिया है, जिस प्रकार आपने वेदान्तशास्त्रोंसे जाना है और जैसा आपका अपना अनुभव है उस प्रकार सबकी एकवाक्यता कीजिये ॥ २१ ॥

हे महामते, यथाप्राप्त कर्तव्यका पालन करनेके लिए आप उठिये । हम लोग मध्याह्नस्नानके लिए जाते हैं । यह हम लोगोंका मध्याह्नका समय व्यतीत हो रहा है ॥ २२ ॥

अपरं यत्त्वया भद्र स्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तये ।
प्रष्टव्यं तच्छुभं प्रातः प्रष्टव्यं भवता पुनः ॥ २३ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ते मुनिनाथेन राजा दशरथः स्वयम् ।
पूजयामास तान्सभ्यान्सर्वान्साधून्सपर्यया ॥ २४ ॥
सह रामेण धर्मात्मा मुनिविप्रान्नृपांश्च सः ।
वसिष्ठाद्युपदिष्टेन क्रमेण व्योमगांस्तथा ॥ २५ ॥
मणिमुक्तागणार्थेन दिव्येन कुसुमेन च ।
मणिरत्नप्रदानेन मुक्ताहारार्पणेन च ॥ २६ ॥
प्रणयेन प्रणामेन प्रदानेनाऽर्थशालिना ।
वस्त्रासनान्नपानेन कनकेन तथा भुवा ॥ २७ ॥
धूपेन गन्धमाल्याभ्यां यथोदितमनिन्दितः ।
पूर्वान्संपूजयामास सर्वानेव महीपतिः ॥ २८ ॥
अथोत्तस्थौ सभामध्यात्सभया सह मानदः ।
सवसिष्ठादिदेवर्षिः सायमिन्दुरिवाऽम्बरात् ॥ २९ ॥

हे भद्र, अपनी आकाङ्क्षाकी विनिवृत्तिके लिए आपको जो सुन्दर वस्तु पूछनी हो वह प्रातः काल आप पुनः पूछ लीजियेगा ॥ २३ ॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीके यह कहनेपर श्लाघनीय धर्मात्मा महाराज दशरथने श्रीरामचन्द्रजीके साथ सभामें समुपस्थित उन सकल साधु-पुरुषोंकी, मुनियोंकी, ब्राह्मणोंकी, राजाओंकी तथा आकाशचारी सिद्ध और देव-गणोंकी श्रीवसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनियों द्वारा उपदिष्ट क्रमसे मणि-मोती आदिके निष्क्रयरूप धनसे, दिव्य फूलोंसे, मणि-रत्न आदिके प्रदानसे, मुक्तामालाके समर्पणसे, विनय, प्रणाम, धनसहित कन्याप्रदान, वस्त्र, आसन, अन्न, पान, सुवर्ण, भूमि, धूप, गन्ध, माला आदिसे यथायोग्य पूजा की ॥२४-२८॥

पूजा करनेके उपरान्त सभाके बीचसे दूसरोंका सम्मान करनेवाले महाराज दशरथ वसिष्ठ आदि देवर्षियोंके सहित सारी सभाके साथ वैसे ही उठे जैसे कि सायंकालके समय आकाशसे चन्द्रमा उठता है ॥ २९ ॥

स समोत्थानसमयः ससंरम्भो व्यराजत ।
जानुदघ्नसुरोन्मुक्तपुष्पसंजातकर्दमः ॥ ३० ॥
संघट्टाघट्टकेयूररत्नचूर्णारुणावनिः ।
छिन्नहारस्फुरन्मुक्ताताराजितनिशाम्बरः ॥ ३१ ॥
देवर्षिमुनिविप्रेन्द्रपार्थिवस्पन्दसंकुलः ।
व्यग्रभृत्याङ्गनाहस्तकेशचञ्चलचामरः ॥ ३२ ॥
ज्ञानप्रमेयीकरणस्पन्दमानो न दारुणः ।
शिरःकरत्रिनयनजिह्वेष्वेव विराजितः ॥ ३३ ॥
परस्परमथाऽऽपृच्छ्य पूजिताः पेशलोक्तयः ।
राजानो मुनयश्चैव सर्वे दशरथादयः ॥ ३४ ॥
स्वाश्रमान्साधवो जग्मुस्तुष्टस्निग्धाशया मिथः ।
लोकसप्तकवास्तव्या देवाः शक्रपुरादिव ॥ ३५ ॥

वह त्वरायुक्त सभासे उठनेका समय अत्यन्त सुशोभित हुआ जिसमें घुटनों तक देवताओं द्वारा वर्षाये गये फूलोंसे चारों ओर कीचड़ हो गया था, परस्पर घिसने और टकरानेसे केयूरों (अंगदों) में जड़े हुए रत्नोंके चूरेसे पृथ्वी लाल हो गई थी, टूटे हुए हारोंसे स्फुरित हो रही मोतीरूपी तारिकाओंने रात्रिकालमें प्रसिद्ध नक्षत्र-युक्त आकाशको जीत लिया था, देवर्षि, मुनि, ब्राह्मण तथा राजाओंके इधर उधर संचारसे, जो अत्यन्त भीड़भाड़वाला था, व्यग्र भृत्याङ्गनाओंके हाथोंमें चँवर केशोंसे चञ्चल थे, वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञानके क्रमके मनन आदि द्वारा भूमिकाके क्रमसे प्रमेयीकरणके लिए ही स्पन्दमान, अन्य स्वार्थत्वरासे नहीं, इस कारण जो दारुण न था, कभी जरा सा धक्का लगनेपर भी परस्पर क्षमायाचनाके लिए सिरमें अञ्जलि बाँधे हुए आगे और अगल बगल तीनों भागोंमें देखने तथा क्षमा मांगनेके लिए प्रवृत्त नेत्र और जीभवाले सकल जनोंसे विराजित था, पागल निष्ठुर लोगोंसे विषम नहीं था, इसलिए वहांपर पीड़ा आदि दोषोंका लेश भी न था ॥३०-३३॥

मृदु-मधुर वचनवाले सत्कृत दशरथ आदि सब सज्जन पुरुष, जो सातों लोकोंके निवासी थे, परस्पर पूछकर इन्द्रपुरीसे देवताओंकी तरह परस्पर स्नेहपूर्ण हृदय होकर अपने अपने आश्रमोंको गये ॥ ३४,३५ ॥

अन्योन्यं प्रणयात्सर्वे पूजयित्वा यथाक्रमम् ।
तद्विसृष्टा स्वमागत्य गृहं चक्रुर्दिनक्रियाम् ॥ ३६ ॥
अथ सर्वे वसिष्ठाद्यास्तथा दशरथादयः ।
चक्रुर्दिवसकार्याणि राजानो मुनयस्तथा ॥ ३७ ॥
यथाप्राप्तं क्रियां तेषु कृतवत्स्वथ दैवसीम् ।
क्रमेणाऽऽकाशपथिको भास्करोऽस्तमुपाययौ ॥ ३८ ॥
तयैव कथया तेषां रामस्य च महामतेः ।
प्रबोधवशतः शीघ्रं सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३९ ॥
उत्सारिततमःपांसुताराकुसुमनिर्भरम् ।
भुवनं भवनीकुर्वन्नाजगाम दिवाकरः ॥ ४० ॥
करवीरकुसुम्भाभैः करैररुणयन् दिशः ।
विवेश गगनाम्भोधिमथ बालदिवाकरः ॥ ४१ ॥
राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा ।
वसिष्ठाद्याः समाजग्मुः पुनर्दाशरथीं सभाम् ॥ ४२ ॥

क्रमानुसार प्रेमसे एक दूसरेका सत्कारकर उनसे विदा लेकर अपने घर में आकर उन्होंने दिनका कृत्य किया ॥ ३६ ॥

इसके पश्चात् श्रीवसिष्ठ आदि मुनि तथा दशरथ आदि राजा--सबने दिवसके कृत्य किये ॥ ३७ ॥

इसके अनन्तर उनके दिवससम्बन्धी क्रिया करनेपर क्रमसे आकाश-का पथिक सूर्य अस्तको प्राप्त हुआ ॥ ३८ ॥

उनकी तथा महामति श्रीरामचन्द्रजीकी उसी कथासे जागरणवश वह रात्रि शीघ्र व्यतीत हुई ॥ ३९ ॥

प्रातःकाल घरमें झाड़ू बुहारी देनेकी तरह अन्धकाररूपी पांसु तारा रूपी फूलोंकी राशियां जिसमेंसे हटा दी गई हैं ऐसे जगद् रूपी भवनको घर-की तरह साफ सुथरा बना रहे भगवान् सूर्यका उदय हुआ ॥ ४० ॥

इसके अनन्तर करवीर और कुसुम्भके सदृश किरणोंसे दिशाओंको लाल बना रहे बाल सूर्य आकाशरूपी सागरमें प्रविष्ट हुए ॥ ४१ ॥

राजा, राजकुमार, मन्त्री लोग तथा श्रीवसिष्ठ आदि मुनिगण फिर महा-

यथाक्रमं यथासंस्थं यथादेशं यथासनम् ।
सा विवेश सभा तत्र धिष्ण्यश्रीरम्बरे यथा । ४३ ॥
ततो दशरथाद्येषु सुमन्त्रादिषु वाऽप्यलम् ।
वसिष्ठं संप्रशंसत्सु मुनिमासनसंस्थितम् ॥ ४४ ॥
वसिष्ठस्य पितुश्चाऽग्रे राजीवदललोचनः ।
उवाच राघवो धीमान्मृदुवर्णमिदं वचः ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वज्ञानमहार्णव ।
सर्वसंदेहपरशो परशोकभयापह ॥ ४६ ॥
श्रोतव्यमपरं किं मे विद्यते वेद्यमेव वा ।
श्रोतव्यं विद्यते यद्वा तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४७ ॥

वसिष्ठ उवाच

राम संप्राप्तबुद्धिस्त्वं श्रोतव्यं ते न विद्यते ।
कृतकृत्या तवैषा धीः प्राप्तप्राप्या स्थिताऽऽत्मनि ॥ ४८ ॥

राज दशरथकी सभामें आये ॥ ४२ ॥

अपने अपने क्रम, स्थान, देश और आसनके अनुसार जैसे आकाशमें नक्षत्रशोभा प्रविष्ट होती है वैसे ही वहांपर वह सभा प्रविष्ट हुई ॥ ४३ ॥

तदनन्तर दशरथ आदि भूपालों तथा सुमन्त्र आदि मन्त्रियोंके आसनपर आसीन मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीकी प्रचुर स्तुति करनेपर महामुनि वसिष्ठजी तथा अपने पिताजीके सन्मुख कमलनयन श्रीमान् श्रीरामचन्द्रजीने यह मधुर वचन कहा ॥ ४४, ४५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे सकल धर्मोंके ज्ञाता, हे सकल ज्ञानोंके महासागर, हे सकल सन्देहरूपी वृक्षोंका उच्छेद करनेके लिए परशु (कुठार) रूप तथा हे शत्रुओंके भी शोक और भयकी निवृत्ति करनेवाले हे ब्रह्मन्, मेरे लिए अन्य श्रवणीय अथवा ज्ञातव्य क्या शेष है। जो कुछ भी श्रोतव्य या ज्ञातव्य मेरे लिए अवशिष्ट हो वह सब आप मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ४६, ४७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी आपको बोध प्राप्त हो गया है

त्वमेव तावत्कथय प्रविचार्य धियाऽऽत्मना ।
कीदृशोऽद्य भवानन्तः किं शेषं श्राव्यमस्ति ते ॥ ४९ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्नेवमहं मन्ये यथाऽहं कृतकृत्यधीः ।
निर्वाणोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि नाऽऽकाङ्क्षा मम विद्यते ॥५०॥
वक्तव्यमुक्तं भवता ज्ञातं ज्ञेयं मयाऽखिलम् ।
तव विश्रान्तिमायातु कृतकृत्या सरस्वती ॥ ५१ ॥

अधिगतमधिगम्यं ज्ञेयमाप्तं मयेदं
विगतमखिलमैक्यं द्वैतमस्तं प्रयातम् ।
परिगलितमशेषं दृश्यभेदावभानं
ननु निपुणमपास्ताऽशेषसंसारितास्था ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० निर्वा० उ० निर्वाणवर्णनं नाम त्र्यधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०३ ॥

आपके लिए अब श्रोतव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं है । आपकी बुद्धि कृतकृत्य हो गई है और यह प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्तकर आत्मामें स्थित है ॥ ४८ ॥

आप ही अपनी बुद्धिसे विचारकर स्वयं कहिये कि आज आप स्वानुभवसे कैसे हैं और आपके लिए शेष श्रोतव्य क्या है ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, जैसा आप कहते हैं वैसे ही मैं अपनेको कृतकृत्य समझता हूँ मैं निर्वाणको प्राप्त हो चुका हूँ, प्रशान्त हो चुका हूँ, मुझमें किसी बातकी आकाङ्क्षा नहीं है ॥ ५० ॥

जो कुछ वक्तव्य था उसे आप कह चुके हैं, मैं सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान चुका हूँ अब कृतकृत्यताको प्राप्त हुई आपकी वाणी विश्रामको प्राप्त हो ॥५१॥

मैं जानने योग्य तत्त्वको जान चुका हूँ, यह ज्ञातव्य वस्तु मुझे मिल गई है । सम्पूर्ण जगत् ऐक्यको (ब्रह्मैकरसताको) प्राप्त हो चुका है । जीव-ब्रह्म भेदरूपी द्वैत अस्तको प्राप्त हो गया है मेरा दृश्यभेदका भान मिट गया है क्योंकि मैंने खूब विचारविमर्शकर सारीसांसारिताकी आस्थाका त्यागकर दिया है ॥ ५२ ॥

दो सौ तीन सर्ग समाप्त

चतुरधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
आदर्शो राजतेऽत्यर्थं पौनःपुन्येन मार्जितः ॥ १ ॥
अर्थो वेदनसंकेतः शब्दो जलरवोपमः ।
दृश्यमेतच्चिदाभानं स्वप्नवत्काऽभवज्जगत् ॥ २ ॥
जाग्रद्वै स्वप्नसंदृष्टः स्मरणात्म स्थितं पुरः ।
संविद्वेदनमात्रं सत्तदन्याकारवत्ततम् ॥ ३ ॥

दो सौ चार सर्ग

[श्रीवसिष्ठजी तथा श्रीरामजीका चिदात्माके परिशोधनके लिए निष्कृष्ट युक्तिसे फिर चित्‌में दृश्यका परिमार्जन करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर मेरा परम संक्षिप्त (युक्तियोंसे स्पष्ट तथा दृश्यके परिमार्जनका उपदेशक होनेके कारण उत्कृष्ट) वचन सुनिये, क्योंकि बार बार खूब पोछनेसे दर्पण अत्यन्त शोभित होता है ॥१॥

रूप और नाम के भेदसे दो प्रकारका दृश्य है। उनमेंसे पहलेके मार्जनका (मिटानेका) उपाय कहते हैं—'अर्थः' इत्यादिसे ।

चार प्रकारके शब्दोंके (जातिशब्द, गुणशब्द, कियाशब्द और यदृच्छाशब्दोंके) जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चार प्रकारके अर्थ होते हैं । जैसे नीली, चञ्चल भद्रा नामकी गौ। यहाँ पर गौ जातिवाचक शब्द है, नील गुणवाचक, चञ्चल क्रियावाचक और भद्रा यदृच्छा शब्द है। वे एक ही वस्तुमें व्यावर्त्यभेदके अधीन भेदकल्पना रूप शब्दभेदप्रवृत्तिनिमित्ततासे कल्पित भ्रान्तिवेदनसंकेतरूप ही हैं वास्तविक नहीं। इस प्रकार अर्थका परिमार्जन हुआ। अब दूसरेके (शब्दके) मार्जनका उपाय कहते हैं। अर्थके परिमार्जित होनेपर निरर्थकशब्द जलध्वनिके समान होकर नामताका त्यागकर अर्थताको प्राप्त हुआ, इसलिए अर्थके परिमार्जनसे शब्दका भी परिमार्जन हो गया यों अर्थ और शब्दरूप दो प्रकारका ही दृश्य स्वप्नके समान चिदाभानमात्र सिद्ध हुआ। ऐसी अवस्थामें जगत्‌की उत्पत्ति कहाँ हुई ॥ २ ॥

जब जाग्रत् ही मिथ्या है तब जाग्रत् ही संस्कार द्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ

यथाऽच्छं संविदाकाशं मयि स्वप्नपुरात्मकम् ।
सरूपमपि नीरूपं तथेदं भुवनत्रयम् ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

संपन्नेयं कथं भूमिः संपन्ना गिरयः कथम् ।
कथं संपन्नमम्भश्च संपन्ना उपलाः कथम् ॥ ५ ॥
कथं च तेजः संपन्नं संपन्ना च कथं क्रिया ।
कथं च कालः संपन्नः संपन्नः पवनः कथम् ॥ ६ ॥
कथं च शून्यं संपन्नं संपन्नं चिन्नभः कथम् ।
इति ज्ञातं मया भूयो बोधाय वद मे प्रभो ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रूहि राघव तत्त्वेन स्वप्नदृष्टमहापुरे ।
संपन्ना भूः कथमिव संपन्नं कथमम्बरम् ॥ ८ ॥

बन जाता है और स्मरणके समान पदार्थशून्य स्वरूप होकर सामने आता है, इसलिए वह संविद्संवेदनमात्र होकर अन्याकारकी भाँति विस्तृत है उसमें संवित्से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ३ ॥

जैसे प्रत्येक चैतन्यरूप मुझमें स्वप्नजगत्‌रूप निर्मल संविदाकाश रूपवान् होता हुआ भी नीरूप है वैसे ही यह त्रिभुवन भी सरूप होता हुआ भी नीरूप है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, चित्‌में यह भूमि कैसे संपन्न हुई, पर्वत कैसे सम्पन्न हुए, कैसे जल हुआ, कैसे पत्थर हुए, कैसे तेज हुआ, कैसे क्रिया हुई, कैसे काल हुआ, कैसे वायु हो गया और कैसे चिदाकाश हो गया यानी चित्‌में जड़ता और भूमि आदि विचित्रता कैसे हो गई ? यद्यपि यह सब मैं आपके उपदेशसे जान चुका हूँ मेरे विशद बोधके लिये फिर मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ५–७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुवर, जरा कहिये तो सही स्वप्नमें दिखाई दिये महानगरमें कैसे वास्तविक रूपसे भूमि हो गई, कैसे आकाश हो गया, कैसे जल हो गया, कैसे पत्थर हो गये, कैसे तेज हो गया, कैंसे दिशाएँ हो गईं,

कथं वारि च संपन्नं संपन्ना उपलाः कथम् ।
कथं च तेजः संपन्नं संपन्नाश्च कथं दिशः ॥ ९ ॥
संपन्नश्च कथं कालः संपन्ना च कथं क्रिया ।
कथमेतन्निमित्तादि सर्वं संपन्नमुच्यताम् ॥ १० ॥
केनेदं निर्मितं दग्धमानीतं रचितं चितम् ।
उत्पादितं प्रकटितं किमाचारं किमात्मकम् ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

आत्माऽस्य केवलं व्योम न सद् भूम्यचलादिकम् ।
जगतः स्वप्नरूपस्य निराकारो निरास्पदः ॥ १२ ॥
आत्मैव व्योमरूपोऽस्य निराकारो निराकृतिः ।
विनाऽऽकृतेर्वा व्योम्नोऽस्य किमाधारेण कारणम् ॥ १३ ॥
न किंचिदेतत्संपन्नं सद्यथैतन्न संविदः ।
एतच्चित्कचनं नाम मन एव तथा स्थितम् ॥ १४ ॥

कैसे काल हो गया और कैसे क्रिया हो गई ? उन सबके निमित्त आदि सब कैसे हो गये यह मुझसे कहिये । किसने इस स्वप्नमें दृश्यजंजालका निर्माण किया, किसने इसको जलाया, कौन इसको लाया, किसने इसकी रचना की, किसने इसको विविध पदार्थोंसे भरा, कौन इसका उत्पादक है, किसने इसे प्रकट किया, इसका क्या स्वरूप है और क्या आकार-प्रकार है ? यानी स्वप्नदृश्यके समान ही इसकी संभावना करनी चाहिये इस अभिप्रायको मनमें रखकर प्रतिवन्दीसे स्वयं प्रश्नके व्याजसे श्रीवसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका उत्तर दिया ॥ ८–११ ॥

दृष्टान्तके (स्वप्नदृश्यके) समान ही दार्ष्टान्तिकमें (जाग्रत् दृश्यमें) भी पृथिवी आदिकी सम्पत्तिकी संभावना कर रहे श्रीरामचन्द्रजी स्वयं भी जगत्‌की असत्यताका वर्णन करते हैं—'**आत्माऽस्य**' इत्यादिसे ।

स्वप्नरूप इस जगत्‌का स्वरूप निराकार निराधार आकाश ही है । भूमि, पर्वत आदि सत्य नहीं हैं ॥ १२ ॥

इसका निराधार निराकार आत्मा ही व्योमरूप है आकृतिके अभावमें इस व्योमका आधारसे क्या प्रयोजन है ॥ १३ ॥

पृथिवी आदि आकारसम्पत्तिको मानकर यह कहा गया है, वास्तवमें

दिक्कालाद्यत्र चिद्भानं चिद्भानमचलादिकम् ।
चिज्जलादि तथा बोधाच्चित्खं वाय्वादि तद्विदः ॥ १५ ॥
संविदेव किल व्योम तिष्ठति व्योमतामिता ।
दृषत्तयाऽऽस्ते काठिन्याद् द्रवाज्जलमिव स्थिता ॥ १६ ॥
वस्तुतस्तु न भूम्यादि किंचित्तन्न च दृश्यता ।
चिदाकाशमनन्तं तत्सर्वमेकं तदात्मकम् ॥ १७ ॥
द्रवत्वादम्बुहृद्याब्धेर्नानावृत्तितया यथा ।
अनानैव भवेन्नाना चिद्व्योमाऽऽत्मनि वै तथा ॥ १८ ॥
काठिन्यवेदनादुर्वी गिरितामागतेव चित् ।
शून्यतावेदनाच्छून्यं वेत्ति व्योमेव चिद्वपुः ॥ १९ ॥

पृथिवी आदि सम्पत्ति भी नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**न किंचित्**' इत्यादिसे ।

यह पृथिवी आदि कुछ भी सम्पन्न नहीं हुए यह संवित्‌के अतिरिक्त सत् नहीं हैं । यह जगदाकार चित्‌का स्फुरण स्वप्नके समान मन ही उस प्रकार (जगत्‌के रूपसे) स्थित है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ १४ ॥

और मन भी केवल चित्‌का स्फुरण है, अतः वही सब कुछ है, ऐसा कहते हैं—'**दिक्काला०**' इत्यादिसे ।

सकल तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें उस प्रकारका बोध होनेसे यहांपर दिशा, काल आदि चित्‌का भान है, पर्वत आदि चिद्भान है, जल आदि चित् है एवं वायु आदि चिदाकाश है ॥ १५ ॥

संवित् ही आकाशताको प्राप्त होकर आकाशरूपसे स्थित है, काठिन्यसे वह पत्थरके रूपसे स्थित है और द्रववश वह जलके समान स्थित है ॥ १६ ॥

वास्तवमें भूमि आदि कुछ भी नहीं हैं, इसलिए वह सब एक अनन्त चिदाकाश पृथिवी आदिके रूपसे स्थित है ॥ १७ ॥

प्रसन्न (निश्चल) सागरका जल द्रवरूप होनेके कारण ही जैसे तरङ्ग फेन, आवर्त आदि रूपसे अनाना ही (एक ही) नाना (भिन्न) होता है वैसे ही चिदाकाश भी अनाना (अभिन्न) होता हुआ ही अपनेमें नाना होता है ॥१८॥

चित् अपनेमें काठिन्यके संकल्पसे पृथिवीकी तरह गिरिताको प्राप्त हुई है, चित् अपनेमें शून्यताके वेदनसे आकाशकी तरह अपनेको शून्य जानती है ।

द्रवत्ववेदनाद्वेत्ति वारि स्पन्दतयाऽनिलम् ।
औष्ण्यसंविच्चतो वह्निमत्यजन्ती निजं वपुः ॥ २० ॥
एवंस्वभाव एवाऽयं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
यदेवं नाम कचति निष्कारणगुणक्रमम् ॥ २१ ॥
न चैतद्व्यतिरेकेण किंचिन्नाऽपीह विद्यते ।
अन्यच्छून्यत्ववारिभ्यामृते खार्णवयोरिव ॥ २२ ॥
नतु चिद्गगनादन्यन्न संभवति किंचन ।
इदं त्वमहमित्यादि तस्मादाशान्तमास्यताम् ॥ २३ ॥
त्वं यथाऽस्मिन् गृहे कुर्वन्नग्निशैलादिकां विदम् ।
तदेव पश्यस्यवपुरेवं चिद्गगनं तथा ॥ २४ ॥
चिद्व्योम भाति देहाभं सर्गादौ न तु देहकः ।
अकारणत्वादसतश्चिदुदेतीति चिन्त्यताम् ॥ २५ ॥

अपनेमें द्रवत्वके वेदनसे जल जानती है, अपनेमें स्पन्दताके वेदनसे वायु जानती है, अधिष्ठान चिद्रूप अपने स्वरूपका त्याग न कर रही चित् उष्णताके वेदनसे अग्निको जानती है ॥ १९,२० ॥

इस प्रकारके स्वभाववाला ही यह आकाशरूप चिद्धातु बिना कारण, बिना गुण और बिना क्रमके जो कुछ इस प्रकार स्फुरित होता है उसके अतिरिक्त जगत्का तत्त्व वैसे ही यहाँ कुछ नहीं है जैसे कि आकाश और सागरमें शून्यता और जलके सिवा अन्य तत्त्व कुछ नहीं है ॥ २१ ॥

'इदम्' (यह) 'त्वम्' (तुम) और 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिदाकाशके अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि उसके बिना कुछ भी संभव नहीं है । इसलिए आप पूर्ण शान्त होकर स्थित होइये ॥ २२–२३ ॥

आप जैसे इस घरमें स्वप्न, मनोरथ आदिसे अग्निपर्वत आदिकी बुद्धि करते हुए अग्निपर्वत न होते हुए भी उसको अग्निपर्वत देखते हैं वैसे ही निराकार चिदाकाशको जगत्के रूपमें देखते हैं ॥ २४ ॥

सृष्टिके आदिमें चिदाकाश ही देहतुल्य प्रतीत होता है वास्तवमें उस समय देह नहीं है । जब तुच्छ देह नहीं है तब बिना कारणके असत्से (अज्ञानसे)

मनोबुद्धिरहंकारो भूतानि गिरयो दिशः ।
शिलाजठरवन्मौनमयं सर्वं यथास्थितम् ॥ २६ ॥
एवं न किंचिदुत्पन्नं नष्टं न च न किंचन ।
यथास्थितं जगद्रूपं चिद्ब्रह्मात्मनि तिष्ठति ॥ २७ ॥
चितौ यत्कचनं नाम स्वरूपप्रविजृम्भणम् ।
तदेतज्जगदित्युक्तं द्रव एव यथा जलम् ॥ २८ ॥
इदं जगद्भानमभानमेव
चिद्व्योम शून्यं परमार्थ एव ।
यथार्थसंदर्शनबुद्धबुद्धे-
रबुद्धबुद्धेस्तु यथा तथाऽस्तु ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० चिदाकाशैकताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०४ ॥

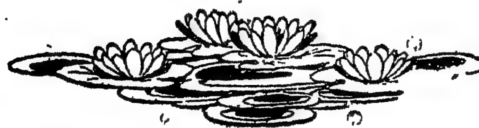
देहाकार चित् उदित होती है वास्तवमें देह उदित नहीं होता है यह ज्ञानी जनोंको विचार करना चाहिये ॥ २५ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्च महाभूत, पर्वत और दिशाएँ ये सब शिलागर्भके समान यथास्थित अनिर्वचनीय हैं ॥ २६ ॥

इस तरह न कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट हुआ है यथास्थित यह जगत्‌रूप चिद् ब्रह्मात्मामें स्थित है। जैसे द्रव ही जल है द्रवसे अतिरिक्त जल नहीं है वैसे ही चित्‌में स्फुरण नामक जो स्वरूपका प्रकर्षसे बृंहण है वही यह जगत् कहा गया है ॥ २८ ॥

यथार्थ सम्यक् दर्शनसे प्रबुद्ध बुद्धिवालेकी दृष्टिसे यह जगद्भावसे भान भी अभान ही है यानी वास्तवमें शून्य चिदाकाश ही है अप्रबुद्धबुद्धिवाले यानी मूर्खकी दृष्टिसे जैसा तैसा हो उसके विचारसे क्या प्रयोजन है, यह अर्थ है ॥ २९ ॥

दो सौ चार सर्ग समाप्त



पञ्चाधिकद्विशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

एवं यथैतद्भगवन्स्वप्ने दृश्यं परं नभः।
तथैव जाग्रतीत्यत्र न चेत्संदेहजालिका ॥ १ ॥
इदं मे भगवन्ब्रूहि महाप्रश्नमनुत्तमम्।
कथं भवत्यदेहा चिज्जाग्रत्स्वप्ने सदेहवत् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

दृश्यं जाग्रत्यथ स्वप्ने खाधारं खात्मकं खजम्।
खं च नाऽन्यत्परं जातु संदेहोऽस्त्युपपत्तितः ॥ ३ ॥

दो सौ पाँच सर्ग

[केवल विषयमात्र स्वरूपवाली यह जगत्स्थिति स्वप्नतुल्य है न यह कभी उत्पन्न हुई न स्थित है और न नष्ट हुई यह केवल चिन्मात्र ही है]

इस प्रकार जगत्की स्वप्नके समान पूर्वोक्त विवर्तमात्रताका स्वीकार कर कूटस्थ अद्वितीय चिन्मात्र विवर्तका भी संभव नहीं है, क्योंकि उसका कारण नहीं है, ऐसा श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं—'**एवम्**' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जैसे परमाकाश स्वप्नमें दृश्यरूप होता है वैसे ही यह जाग्रत्में दृश्यरूप होता है इस विषयमें यदि सन्देह नहीं है तो यह सर्वश्रेष्ठ महाप्रश्न मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये। अदेह चित् जाग्रद्रूप स्वप्नमें सदेहवत् कैसे होती है ? ॥ १, २ ॥

हेतु न होनेके कारण आपने विवर्तकी अनुत्पत्ति, अनुत्पन्नकी स्थिति नहीं होगी अतः शून्यता ही होगी यह सिद्ध करना चाहिये। जगत्की शून्यता इष्ट ही है अतः आपके प्रश्नमें हेतुभूत सन्देह निरुपत्तिक है, यों भगवान् वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका उत्तर देते हैं—'**दृश्यम्**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, यह दृश्य जाग्रत् और स्वप्नमें हेतुशून्य आकाशसे उत्पन्न हुआ है, अतः शून्याधार शून्यरूप ही होगा ऐसा ही सिद्ध करना चाहिये। और ख (शून्य) परम ब्रह्म ही है अन्य नहीं, इसलिए उत्पत्ति आदिसे शून्य ब्रह्माद्वैतके अविरोधी विवर्तमें अनुपपत्तिका सन्देह उपपन्न नहीं होता, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

समस्तकारणाकारप्रत्यस्तमयरूपिणि ।
सर्गादावेव भूतानि संभवन्ति न कानिचित् ॥ ४ ॥
पृथ्व्यादिनियतस्तेन देहोऽयं नास्ति किंचन ।
भूतान्येव किलैतानि देहस्तानि न सन्त्यलम् ॥ ५ ॥
तेन स्वप्नवदाभासमिदं पश्यति चिन्नभः ।
स्वरूपमात्रकचनमाकारवदिवाऽऽकुलम् ॥ ६ ॥
भानमाभानमात्रत्वमिदं यत्तच्चिदात्मना ।
नभसा स्वप्नशब्देन कथ्यते जगदाकृतिः ॥ ७ ॥
यदेतद्वेदनं नाम चिद्व्योम्नो व्योमनिर्मलम् ।
एतदन्तश्चितो रूपं स्वप्नो जगदिति स्थितम् ॥ ८ ॥

विवर्तमें अनुत्पत्तिका ही उपपादन करते हैं—'**समस्त०**' इत्यादिसे।

समस्त कारणाकारोंमें अस्तमयरूपवाले सर्गादिमें ही कोई भूत उत्पन्न ही नहीं होते यानी उस समय पृथिवी आदि किसी भूतका संभव नहीं है ॥ ४ ॥

अदेह चित् जाग्रत् और स्वप्नमें सदेहवत् कैसे होती है, यह प्रश्न भी अनुत्पन्न है क्योंकि पृथिवी आदिके अभावमें जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकारोंके भूतोंके शरीर भी असत् ही हैं ऐसा कहते हैं—'**पृथ्वादि०**' इत्यादिसे।

इसलिए पृथिवी आदिके अस्तित्वमें ही होनेवाला यह शरीर कुछ भी नहीं है। ये भूत ही निश्चय करके देह हैं और उनका सर्वथा अभाव है ॥ ५ ॥

अतः विवर्तपक्ष निर्दोष है यह कहते हैं—'**तेन**' इत्यादिसे।

इसलिये चिदाकाश स्वप्नवत् प्रतीत होनेवाले स्वरूपमात्रस्फुरणरूप जगदादि आकारवान् जैसे मायागुणसे विक्षुब्ध इस दृश्यको देखता है ॥ ६ ॥

यह जो चिदात्माका भानमात्र है वही स्वप्नभान है और वही जगदाकृति चिदाकाशरूप ही स्वप्न विवर्त, जगदादि शब्दसे कहा जाता है ॥ ७ ॥

चिदाकाशका जो यह वेदन है यह आकाशके समान निर्मल है इस वेदनके अन्दर भासमान चित्का रूप सूक्ष्म होनेपर स्वप्न और स्थूल होनेपर जगत्के रूपसे स्थित है यानी वेदन ही स्वप्न और जगत्के रूपमें स्थित है ॥ ८ ॥

एतस्मिन्नेव तेनाऽथ स्वभावकचने तते ।
चिद्रूपेण कृताः संज्ञाः पृथक्पृथ्व्यादिका इमाः ॥ ९ ॥
चिद्भानमेव तत्स्वप्नजगच्छब्दैः प्रकथ्यते ।
भानं चाऽस्याः स्वभावः खं तत्कदाचिन्न शाम्यति ॥१०॥
बह्वयः सर्गदृशो भिन्ना ब्रह्मैव ब्रह्मखे च ताः ।
शून्यता नभसीवाऽतस्तिष्ठन्ति च विशन्ति च ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

सर्गाणां कोटयः प्रोक्ता भगवन्भवता किल ।
काश्चिद् ब्रह्माण्डकोशस्थाः काश्चिदण्डविवर्जिताः ॥ १२ ॥
काश्चिन्महीकोशगताः काश्चिदाकाशसंस्थिताः ।
तेजःकोशगताः काश्चित्काश्चित्पवनकोशगाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार रूपप्रपञ्चके वेदनमात्र होनेपर नामप्रपञ्च भी वेदनका ही एक नामभेद प्रसिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—'**एतस्मिन्नेव**' इत्यादिसे ।

इसके उपरान्त चारों ओर व्याप्त हुए अपने स्वभावकचनमें उस चिद्रूप चिदात्माने ये पृथिवी आदि पृथक् पृथक् संज्ञाएँ की हैं ॥ ९ ॥

अतएव स्वप्न आदिकी निवृत्ति होनेपर भी वह तत्त्व (भान) कभी शान्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**चिद्भानमेव**' इत्यादिसे ।

उक्त चिद्भान ही स्वप्न और जगत् शब्दोंसे निर्दिष्ट होता है । चित्का भान स्वभाव (तत्त्व) है । वह चिदाकाशरूपी भान कभी शान्त नहीं होता ॥१०॥

उसके (चिद्भानके) सद्भावसे ही उसमें बहुत-से विवर्त हुए हैं, ऐसा कहते हैं—'**बह्वयः**' इत्यादिसे ।

बहुत-सी भिन्न भिन्न सृष्टिदृष्टियां ब्रह्मरूप ही हैं जैसे आकाशमें शून्यता स्थित है वैसे ही वे ब्रह्माकाशमें ही स्थित हैं और प्रवेश करती हैं ॥ ११ ॥

कौतुकवश इस ब्रह्माण्डके स्वरूपको सुननेकी इच्छासे श्रीरामचन्द्रजी प्रश्नकी भूमिका निर्माण करते हैं—'**सर्गाणाम्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपने लीलोपाख्यान, भुशुण्डाख्यान आदिमें करोड़ों प्रकारकी सृष्टियोंका वर्णन किया है । उनमेंसे कुछ ब्रह्माण्डकोशमें

काश्चिद्व्योमस्थभूपीठा ऊर्ध्वाधस्थविनिश्चयाः ।
बुध्नाकाशादूर्ध्वखुरा लम्बमानवनाचलाः ॥ १४ ॥
काश्चिद्वातात्मभूतौघाः काश्चिन्नित्यं तमोधराः ।
व्योमसंस्थानकाः काश्चित्काश्चित्कृमिकुलाकुलाः ॥ १५ ॥
काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिच्चोपलकोशगाः ।
काश्चित्सकुण्डकोशस्थाः काश्चित्खे खगवत्स्थिताः ॥ १६ ॥
तासां मध्ये यथा हीदं ब्रह्माण्डं यादृशं स्थितम् ।
अस्माकं भगवंस्तन्मे ब्रूहि तत्त्वविदां वर ॥ १७ ॥

स्थित हैं, कुछ उससे रहित यानी मन आदिमें स्थित हैं, कुछ भूकोशमें स्थित हैं, कुछ आकाशकोशमें स्थित हैं, कुछ तेजकोशमें स्थित हैं और कुछ वायुकोशमें स्थित हैं ॥ १२, १३ ॥

कुछ आकाशतलमें स्थित गोलाकार भूमिपीठ हैं, उनमें रहनेवाले ऊर्ध्व तथा अधोभागमें स्थित चीटियोंके समान भूगोलसे चिपके हुए देव, असुर आदि हम ही ऊपर हैं हम ही ऊपर हैं यों विविध निश्चयवाले हैं, क्योंकि सबकी दृष्टिसे भूमिके अधोभागके जन, भूमिके मूलाकाशसे जिनके पैर ऊपरकी ओर और सिर नीचेकी ओर रहता है, ऐसे प्रतीत होते हैं। इस तरह उन लोकोंमें ऊर्ध्वमूल अधःशाखा और शिखरवाले होनेके कारण वन और पर्वत लटके हुए से मालूम होते हैं ॥ १४ ॥

कुछ वातमय (वायुशरीरवाले) प्राणियोंसे परिपूर्ण हैं, कुछ निरन्तर अन्धकारसे व्याप्त हैं, कुछ आकाशमय शरीर धारण करनेवाले जीवोंसे भरे हैं और कुछ सृष्टियां गूलरके फलके समान कोटि कोटि कीड़ोंसे व्याप्त हैं ॥ १५ ॥

कुछ आकाशकोशमें स्थित हैं, कुछ सृष्टियां शिलाओंके गर्भमें स्थित हैं, कुछ भाण्ड-बर्तन युक्त घर, मण्डप आदिके कोशमें स्थित हैं और कुछ आकाशमें पक्षियोंके समान स्थित हैं ॥ १६ ॥

हे भगवन्, हे तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ, उनमें से हमारा आश्रयभूत यह ब्रह्माण्ड जिस प्रकारका और जैसा स्थित है, वह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदपूर्वमदृष्टं वा नाऽनुभूतं न वा श्रुतम् ।
तद्वर्ण्यते सुदृष्टान्तैर्गृह्यते च तदूह्यते ॥ १८ ॥
इदं तु राम ब्रह्माण्डमागमैर्मुनिभिः सुरैः ।
शतशो वर्णितं तच्च ज्ञातमेतत्त्वयाऽखिलम् ॥ १९ ॥
यथेदं भवता ज्ञातमागमैर्वर्णितं यथा ।
स्थितं तदेतदखिलं किमन्यदिह वर्ण्यते ॥ २० ॥

यह आपका प्रश्न तत्त्वज्ञानविषयक अथवा तत्त्वज्ञानोपयोगी नहीं है, न इसका कोई प्रयोजन है, न प्रकृत वेदान्त-चर्चाके उपयुक्त है, न अपूर्व है और न नियत (सदा सबके मतसे एकरूप) है, क्योंकि मुनियों द्वारा विभिन्न ज्योतिष-सिद्धान्तोंमें भूमि, वन आदिकी स्थिति अन्यथा अन्यथा (अन्यान्य प्रकारसे) वर्णित है । यह सब मैं पहले दिखला चुका हूँ, अतएव मायामय स्वप्नतुल्य इसके विषयमें किसी एकका पक्षपात कर सिद्धान्त कथनका कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा समझ रहे श्रीवसिष्ठजी यह विषय अन्य शास्त्रोंका है उनसे आपको ज्ञात हो ही चुका है, इसलिये यह विषय प्रश्नयोग्य नहीं है, यों समाधान करते हैं—'यद०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जो वस्तु अपूर्व हो (अन्य प्रमाणोंका गोचर न हो), जो दृष्ट न हो, अनुभूत न हो अथवा श्रुत न हो यानी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दका विषय न हो उसीका गुरु सुन्दर सुन्दर दृष्टान्तोंसे प्रतिपादन करता है तथा शिष्य श्रवण द्वारा उसीका ग्रहण और मनन द्वारा उसीका ऊहन करता है अन्यका नहीं, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस ब्रह्माण्डका तो ज्योतिष आदि आगमोंने (वेद-शास्त्रोंने) तथा शास्त्रके प्रवर्तक मुनियों तथा देवताओंने शतशः (अनेक प्रकारोंसे) वर्णन किया है यह अपूर्व नहीं है और आपको ज्ञात ही है॥ १९ ॥

जैसा यह आपने जाना है, जैसा आगमों द्वारा वर्णित है वह सब ज्योंका त्यों स्थित है इसके विषयमें और क्या वर्णन करें । यानी आपको जो प्रकार ज्ञात हैं उसीका आपके प्रति कथन अपूर्व नहीं है, इसलिये उसका वर्णन उचित नहीं है ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

कथमेतद्वद ब्रह्मन्संपन्नं चिन्महानभः ।
कियत्प्रमाणमेतद्वा कियत्कालं च वा स्थितम् ।। २१ ।।

वसिष्ठ उवाच

अनादिनिधनं ब्रह्म नित्यमस्त्येतदव्ययम् ।
आदिमध्यान्तता नास्ति नाऽकाराः परमाम्बरे ।। २२ ।।
ब्रह्माकाशमनाद्यन्तमेतदव्ययमाततम् ।
एतन्मयमिदं विश्वं विष्वगाद्यन्तवर्जितम् ।। २३ ।।
परमस्याऽस्य चिद्व्योम्नः स्वयं यद्भानमात्मनि ।
तदेतद्विश्वमित्युक्तं स्वयं तेनैव तन्मृषा ।। २४ ।।
पुरुषस्य यथा स्वप्नपुरसंदर्शनं तथा ।
तत्तस्य भानं पुरवत्तदिदं विश्वमुच्यते ।। २५ ।।

तो ब्रह्म कैसे ब्रह्माण्डाकार बना, कितने काल तक ब्रह्माण्डाकार रहेगा ? यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिए, यों श्रीरामचन्द्रजी पुनः प्रश्न करते हैं—'**कथम्**' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, चिन्महाकाश यह (ब्रह्माण्ड) कैसे बना, यह कितना विशाल है अथवा कितने काल तक स्थित रहेगा यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ।। २१ ।।

ब्रह्म कभी साकार नहीं हुआ ? न उसका कालिक परिच्छेद ही है किन्तु अज्ञानी जीव जब तक अज्ञान रहता है तब तक सुप्त पुरुषकी तरह अपने आत्माको जगत्के आकारमें देखता है, इस आशयसे कहते हैं—'**अनादि०**' इत्यादिसे ।

यह अविनाशी ब्रह्म आदि-अन्त शून्य नित्य है । परमाकाशमें न आदित्व, मध्यत्व और अन्तत्व है तथा न विविध आकार हैं ।। २२ ।।

यह ब्रह्माकाश आदि-अन्त रहित, अक्षर सर्वव्यापी है, अतएव ब्रह्माकाशमय आदि-अन्त विहीन यह विश्व चारों ओर फैला है ।। २३ ।।

इस परम चिदाकाशका स्वतः स्वात्मामें जो भान है, उसको उसीने स्वयं विश्व कहा है, वह मिथ्या है ।। २४ ।।

जैसे पुरुषका स्वप्नगरदर्शन है वैसे ही नगरवत् उसका यह भान है वही विश्व कहलाता है ।। २५ ।।

कठिना नेह गिरयो न द्रवाणि जलानि च ।
न शून्यमेतदाकाशं कालो न कलनात्मकः ॥ २६ ॥
यद्यथा चाऽव्ययं यत्र स्वतः संचेतितं चिता ।
तत्तथा तत्र चित्तत्त्वे अलं शैलादिवत्स्थितम् ॥ २७ ॥
अशिलैव शिला स्वप्ने नभ एवाऽनभो यथा ।
भवेत्तथेह सर्गादिस्वप्ने दृश्यस्थितिश्चितौ ॥ २८ ॥
अनाकारैव चिच्छान्ता स्वप्नवद्यत्स्वचेतनम् ।
वेत्ति तज्जगदित्युक्तं तच्चाऽनाकारमेव सत् ॥ २९ ॥
वायोः स्पन्दो यथाऽन्तस्थो वात एव निरन्तरः ।
तथेदं ब्रह्मणि ब्रह्म न चोदेति न शाम्यति ॥ ३० ॥

चिदेकस्वभाव ब्रह्ममें चित्स्वभावसे विरुद्ध पर्वतकाठिन्य आदि स्वभाव कैसे सत्य हो सकते हैं, ऐसा कहते हैं—'**कठिना**' इत्यादिसे ।

यहां न कठिन पर्वत हैं, न द्रवरूप जल है, न शून्य यह आकाश है और न सबको कवलित करनेवाला काल ही है ॥ २६ ॥

चित् ही भ्रान्त चेतनको तथा तथा (उस उस रूपसे) स्थित-सी प्रतीत होती है वस्तुतः वह उस रूपमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**यद्**' इत्यादिसे ।

चित्‌ने जिस पदार्थका जिस प्रकार जहांपर चिन्तन किया वह उस प्रकार वहां चित्तत्त्वमें पर्वत, नदी आदिके रूपमें पूर्णतया स्थित है ॥ २७ ॥

जैसे स्वप्नमें अशिला ही शिला होती है, अनाकाश ही आकाश होता है यानी शिला तथा आकाशसे अतिरिक्त चैतन्य ही शिला और आकाश होता है वैसे ही यहां सर्गादिरूपी स्वप्नमें चेतनमें दृश्यकी (जगत्‌की) स्थिति है ॥ २८ ॥

निराकार शान्त चित् जिस स्वस्फुरणको ही स्वप्नके समान जानती है वह जगत् कहा जाता है, अतः चिद्रूप जगत् निराकार ही है यह बात मैं आपसे शतशः कह चुका हूं ॥ २९ ॥

जैसे वायुके अन्दर स्थित स्पन्द एकमात्र केवल वायु ही है वैसे ही यह ब्रह्ममें ब्रह्म है । यह न तो उदित होता है और न शान्त होता है ॥ ३० ॥

द्रवत्वमम्भसि यथा शून्यत्वं नभसो यथा ।
यथा वस्तुनि वस्तुत्वं ब्रह्मणीदं जगत्तथा ॥ ३१ ॥
न प्रयातं न वा यातमकारणमकारणात् ।
न च नास्ति न वाऽस्तीदं भिन्नं ब्रह्मपदे जगत् ॥ ३२ ॥
न चाऽनादि निराभासं निराकारं चिदम्बरम् ।
दृशः कारणमन्यस्याः क्वचिद्भवितुमर्हति ॥ ३३ ॥
तस्माद्यथाऽवयविनोऽवयवाः स्वात्ममात्रकाः ।
तथाऽनवयवे ब्रह्मव्योम्नि व्योम जगत्स्थितम् ॥ ३४ ॥
सर्वं शान्तं निरालम्बं ज्ञप्तिमात्रमनामयम् ।
नेह सत्ता न वाऽसत्ता न च नानाऽस्ति किंचन ॥ ३५ ॥
संकल्पस्वप्ननगरवृत्तवत्सर्वमाततम् ।
स्थितमेव समं शान्तमाकाशमजमव्ययम् ॥ ३६ ॥

जैसे जलमें द्रवत्व रहता है, जैसे आकाशमें शून्यत्व है और जैसे पदार्थमें पदार्थत्व रहता है वैसे ही ब्रह्ममें यह जगत् है ॥ ३१ ॥

न तो यह प्रलयमें तिरोहित होता है अथवा न सर्गादिमें जगत्के अकारण ब्रह्मसे निष्कारण उत्पन्न हुआ है । ब्रह्मपदमें यह जगत् न तो भिन्न नहीं है अथवा न भिन्न ही है ॥ ३२ ॥

अनादि निराभास निराकार चिदाकाश अन्य (विसदृश, जड़) सर्गदृष्टिका कारण कदापि नहीं हो सकता है ॥ ३३ ॥

इसलिए जैसे अवयवीके (अङ्गीके) अवयव (अङ्ग) केवलस्वात्ममात्र हैं यानी उससे पृथक् नहीं हैं वैसे ही निरवयव (अखण्ड) ब्रह्माकाशमें जगत्-रूपी आकाश स्थित है ब्रह्माकाशसे जगदाकाश पृथक् नहीं है ॥ ३४ ॥

सब-कुछ दृश्य शान्त, निराधार, निरामय (निर्दोष) ज्ञानमात्र है यहां न जगत्की सत्ता है अथवा न असत्ता है तथा यहां किंचित् भी भेद नहीं है । दृश्यके इस अपलापमें 'नेह नानास्ति किंचन' यह श्रुति प्रमाण है ॥ ३५ ॥

शान्त निराधार ज्ञप्तिमात्र दृश्यका आभास होनेमें दृष्टान्त देते हैं—'संकल्प०' इत्यादिसे ।

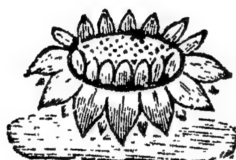
परमचिदम्बरहृदयं
चित्त्वाद्यत्कचति कान्तममलमलम् ।
तदिदं जगदिति कलितं
तेनैव तदात्मरूपमाकल्पम् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामाय वा० दे० मो० नि० उ० सर्गकारणनिरासो नाम पञ्चाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०५ ॥

मनोरथसे कल्पित नगरके तथा स्वप्नमें दृष्ट नगरके वृत्तान्तके समान सारा दृश्य फैला है। वास्तवमें विषमताशून्य, शान्त, अजन्मा अविनाशी ब्रह्माकाश ही दृश्यके रूपमें स्थित है ॥ ३६ ॥

परम चिदाकाशका स्वच्छ, चमकदार, सारभूत स्वरूप ही चित्स्वभाव होनेके कारण भ्रमवश जिस जिस आकारमें पूर्णरूपमें विकसित होता है—स्फुरित होता है—उसी स्वकल्पित आत्मरूपको प्रलयपर्यन्त उसीने (चिदाकाशने ही) जगत्के रूपसे जाना है अन्यको नहीं ॥ ३७ ॥

दो सौ पाँच सर्ग समाप्त



षडधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यदकारणकं भाति भानं तन्नैव किंचन ।
तत्तथा परमार्थेन परमार्थः स्थितोऽनघ ॥ १ ॥
अत्रेमं केनचित्पृष्टोऽयमहं तं महामते ।
सम्यग्बोधस्य पुष्ट्यर्थं महाप्रश्नं परं शृणु ॥ २ ॥
अस्त्यब्धिभ्यामुभयतो व्याप्तं ख्यातं जगत्त्रये ।
कुशद्वीपमिति द्वीपं भूमौ वलयवत्स्थितम् ॥ ३ ॥
तत्राऽस्तीलावती नाम हैमी पूर्वोत्तरे पुरी ।
दीप्तिज्वालामयस्तम्भप्रोतावनिनभस्तला ॥ ४ ॥
पूर्वं तस्यामभूद्राजा प्रज्ञप्तिरिति विश्रुतः ।
अनुरक्तजगद्भूतः शक्रः सर्ग इवाऽपरः ॥ ५ ॥

दो सौ छः सर्ग

[ब्रह्म ही सत् है जगत्की सत्ता नहीं है इसके निर्णयमें कारणभूत कुशद्वीपेश्वर द्वारा कथित प्रश्नोंका निरूपण]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, बिना कारण के जिस जगद्भानका स्फुरण होता है वह कुछ भी नहीं ही है। वास्तवमें परमार्थभूत ब्रह्म ही जगत्के रूपमें स्थित है ॥ १ ॥

हे महाबुद्धे, कभी किसीने मुझसे प्रश्न किये थे। इस विषयमें सम्यग् ज्ञानकी खूब पुष्टिके लिये आगे कहे जा रहे इस महाप्रश्नको और सुनिये ॥ २ ॥

दोनों ओरसे सुरोदक तथा घृतोदकवाले महासागरोंसे कंकणके तुल्य घिरा हुआ, त्रिलोकीमें विख्यात कुशद्वीप नामका द्वीप भूलोकमें स्थित है ॥ ३ ॥

वहांपर पूर्व और उत्तर दिशाके मध्यमें इलावती नामकी सुवर्णमय नगरी है, जिसमें कान्तिरूपी ज्वालावलीके खम्भोंसे भूतल और आकाश गुंथे हुए हैं ॥४॥

उस नगरीमें पूर्व भागमें प्रज्ञप्ति नामसे विख्यात राजा हुआ। सब जगत्के प्राणी उसपर अनुरक्त थे, स्वर्गमें दूसरे इन्द्रके समान वह सर्वप्रिय तथा समृद्ध था ॥ ५ ॥

केनचित्कारणेनाऽहं कदाचित्तस्य भूपतेः ।
प्राप्तः समीपं नभसः प्रलयार्क इव च्युतः ॥ ६ ॥
पुष्पाघ्यचिमनीयैर्मां पूजयित्वोपविश्य सः ।
मध्ये कथायां कस्यांचिदपृच्छत्प्रणयादिदम् ॥ ७ ॥
भगवन्सर्वसंहारे जाते शून्यतते स्थिते ।
अवाच्ये परमे व्योम्नि सर्वकारणसंक्षये ॥ ८ ॥
सर्गारम्भस्य भूयः स्याद्वद किं मूलकारणम् ।
कानि वा सहकारीणि कारणानि कुतः कथम् ॥ ९ ॥
किं जगत्किं च सर्गादि काश्चिन्नित्यं तमोधराः ।
व्योमसंस्थार्णवाः काश्चित्काश्चित्क्रिमिकुलाकुलाः ॥ १० ॥
काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिच्चोपलकोशगाः ।
किंच वा भूतभूतादि कुतो बुद्ध्यादयः कथम् ॥ ११ ॥

किसी समयकी बात है कि मैं प्रलयकालमें आकाशसे गिरे सूर्यके समान किसी प्रयोजनसे उस राजाके समीपमें पहुँचा ॥ ६ ॥

पुष्प, अर्घ्य और आचमनों द्वारा मेरी पूजा कर वह बैठा । किसी कथाके सिलसिलेमें उसने बड़े विनयसे मुझसे यह पूछा ॥ ७ ॥

भगवन्, सारे दृश्यका संहार होने तथा सबके कारणभूत बीज आदि तथा पृथिवी आदिका क्षय होनेपर शून्यरूपसे विस्तीर्ण नामके भी प्रवृत्तिनिमित्तभूत जाति, गुण, क्रिया और संस्थानके अभावसे अवाच्य परमाकाशमें सृष्टिके आरम्भका कौन मूल कारण (उपादान कारण) फिर हुआ अथवा कौन सह-कारी (निमित्त) कारण हुए । वे कहांसे (किस उपादानसे) हुए और कैसे (किस उपायसे) हुए ॥ ८,९ ॥

उत्पन्न हुआ जगत् वास्तवमें क्या है ? उसके सृष्टिसे लेकर प्रलय-पर्यन्त विकार क्या हैं ? उसमें भी कुछ भूमियाँ नित्य अन्धकारसे आच्छन्न रहती हैं, कुछ ब्रह्मलोक आदि आकाशमें स्थित हैं तथा कुछ नरकादि भूमियाँ कृमि-कीटोंसे भरी हैं, कुछ अन्तरिक्ष आदि लोक आकाशकोशमें स्थित हैं, कुछ दैत्य, दानव आदिकी नगरीरूप भूमियां शिलाके गर्भमें स्थित हैं इत्यादि विचित्रता क्या है ? पृथिवी आदि पञ्चभूत तथा उनमें रहनेवाले जरायुज, अण्डज आदि

कः कर्ता कोऽथवा द्रष्टा काऽऽधाराधेयता कथम् ।
न कदाचिन्महानाशो जगतामिति निश्चयः ॥ १२ ॥
समस्तवेदशास्त्रार्थाविरोधाय समर्थितः ।
यथा संवेदनं नाम तथा नामाऽनुभूतयः ॥ १३ ॥
यतस्ततो वेदनं स्यात्किमनाशमसन्मयम् ।
अन्यच्च जम्बूद्वीपादौ देशेऽद्य मुनिनायक ॥ १४ ॥
मृतानामग्निदग्धानामिह वा देहनाशिनाम् ।
नरकस्वर्गभोगाय विदेहे देहकारणम् ॥ १५ ॥
किं तत्स्यात्सहकारीणि कारणान्यथ कानि वा ।
धर्माधर्मावमूर्तौ द्वौ तस्याऽमूर्तस्य मूर्तता ॥ १६ ॥

चतुर्विधभूतसंघ आदि तत्त्वतः क्या हैं। उनके बुद्धि आदि आध्यात्मिक पदार्थ क्या तथा कैसे होते हैं? इन सबकी रचना करनेवाला अथवा द्रष्टा कौन है तथा इनकी परस्पर आधाराधेयता क्या है? यदि कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड-रूप वेद तथा शास्त्रोंके अविरोधके लिए जगतोंका कभी भी प्रलय नहीं है, किन्तु तत्-तत् प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार सदा ही जगद्-व्यवहार चलते रहते हैं कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था इस निश्चयका समर्थन किया जाय तो जैसा संवेदन होता है वैसी ही अनुभूतियां होती हैं इस प्रसिद्धिसे संवेदन देह आदिका हेतु है कहा जाय या कुछ और? प्रथम प्रश्नमें वह संवेदन सदा स्थायी है अथवा नश्वर है? यदि वह सदा स्थायी है तो वह कूटस्थ ही है। वह देह आदि विकार कदापि नहीं होगा। यदि वह नश्वर है तो उसकी उत्पत्तिमें कारण कहना चाहिये। उसका निर्वचन होना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि संवेदनके बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। हे मुनिनायक, मुझे दूसरी शङ्का यह है कि आज जम्बूद्वीप आदि देशमें अथवा इस कुशद्वीपमें मरे हुए तथा अग्निमें जलाये गये देहनाशवालोंके नरक-स्वर्गके भोगके लिए देहको उत्पन्न करनेवाले माता, पिता आदिसे शून्य प्रदेशमें शरीरके प्रति उपादान कारण कौन होगा अथवा निमित्त कारण कौन होंगे? शङ्का—धर्म और अधर्म ही देहके आकारमें परिणत हो जायँगे? समाधान—धर्म और अधर्म दोनों अमूर्त हैं। उन अमूर्तों-की मूर्तता असमञ्जस है ॥ १०—१६ ॥

निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा ।
मातापित्राद्यभावो हि बीजं किं तत्र कारणम् ॥ १७ ॥
अन्ये वा हेतवः के स्युः कथं द्रव्यादिसंभवः ।
परलोकोऽस्य नास्तीति यथासंवेदनं स्थितेः ॥ १८ ॥
समस्तलोकवेदादिविरोधाच्चाऽसमञ्जसम् ।
अनिच्छितेहितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम् ॥ १९ ॥
प्रजा प्राप्नोत्यसंबन्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ।
स्तम्भो वरेण सौवर्णो विना हेमगमागमैः ॥ २० ॥
क्षणात्संपद्यते तत्र संपत्तिः कथमुच्यताम् ।
विधीनां प्रतिषेधानां निर्निमित्तं विवल्गताम् ।

किञ्च, अद्रव्य (द्रव्यभिन्न) धर्म और अधर्म द्रव्यों द्वारा (पार्थिव आदि अङ्गों द्वारा) देह आदिका निर्माण करते हैं, यह युक्ति भी समञ्जस (युक्तियुक्त) नहीं है । वहां माता-पिता आदिका अभाव है, अतः क्या उपादान कारण होगा और क्या अन्य निमित्त आदि कारण होंगे । द्रव्य आदिकी उत्पत्ति कैसे होगी यानी बीजाभावसे उपर्युक्त धर्माधर्मका देहाकारमें परिणाम असमञ्जस है । धर्म और अधर्म करनेवालेका परलोक नहीं है यह नास्तिक पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यही जन्म (वर्तमान जन्म) पूर्व जन्मकी अपेक्षा परलोक है । और यह जन्म संवेदनके अनुसार स्थित है ॥ १७, १८ ॥

सम्पूर्ण लोक, वेद आदिका विरोध होनेसे भी नास्तिकपक्ष ग्राह्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**समस्त०**' इत्यादिसे ।

किंच, प्रजाजन राजाज्ञा आदिसे, जो स्वेच्छा चेष्टा आदिके अगोचर हैं, दूर देशान्तरमें हैं, अतएव सम्बन्ध रहित हैं और अमूर्त भी हैं, वध, बन्धन, दण्ड आदि फल पाते हैं इसमें कौन उपपत्ति है ? दूसरी बात यह है कि पत्थर, लोहे आदिका खम्भा देवता, मुनि आदिके वरदानसे सुवर्णकी प्राप्तिके लिए गमन, आगमन आदि किये बिना ही जहांपर क्षणभरमें सोनेका हो जाता है वहांपर वह सम्पत्ति किस उपपत्तिसे है ? यह कहिये । और भी सुनिये, अचेतन होनेके कारण प्रयोजनसिद्धिरूप निमित्तके बिना ही प्रवृत्त हो रहे विधि प्रतिषेधरूप शास्त्रोंका, जो कि प्रचार द्वारा लोकमें प्रसिद्ध हैं किसीके द्वारा अनुष्ठान न

रूढानामप्यरूढानां किं प्रयोजनमुच्यताम् ॥ २१ ॥
असदासीज्जगत्पूर्वं सत्संपन्नमनन्तरम् ।
इति श्रुतेः कथं ब्रह्मन्कथ्यतां संगतार्थता ॥ २२ ॥
अयं भवेत्कथं ब्रह्मा भवेच्चेत्तन्महामुने ।
एवंप्रभावान्नभसः किं सर्वस्मान्न जायते ॥ २३ ॥
ओषधीनामथार्थानां सर्वेषां वा स्थितिं गताः ।
कथं स्वभावाः कथय यथाबोधं मुनीश्वर ॥ २४ ॥
एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विपा ।
मृत्वाऽर्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे तत्कथमुच्यताम् ॥ २५ ॥

होनेसे अप्रसिद्ध हैं, क्या प्रयोजन है, यह बतलानेकी कृपा कीजिये ? ॥ १९–२१ ॥

हे ब्रह्मन्, जगत् पहले असत् था पश्चात् सत् हुआ जैसे—'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' (यह पहले असत् था असत्से सत् उत्पन्न हुआ), 'असदेवेदमग्र आसीत्' (यह पहले असत् ही था), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सौम्य, यह पहले एक अद्वितीय सत् ही था), 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' (उस समय न असत् था और न सत् था) इत्यादि श्रुतियोंकी परस्पर संगतार्थता (एकवाक्यता) कैसे हुई यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २२ ॥

और सुनिये, सृष्टिके आरम्भमें शून्य आकाशसे यह ब्रह्मा कैसे होगा ? यदि आकाशका ऐसा प्रभाव मानें, तो इस तरहके प्रभाववाले सब प्रदेशोंमें भिन्न आकाशसे सब जगह अन्य ब्रह्मा क्यों नहीं पैदा होते ॥ २३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, औषधियोंके अपने अपनेसे पूर्व बीज आदिसे उत्पन्न होनेके स्वभाव तथा अग्नि आदि अन्यान्य सकल पदार्थोंके उष्णत्व आदि स्वभाव कैसे स्थित हैं यह मुझसे अपने बोधके अनुसार कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २४ ॥

भगवन्, एक ही पुरुषके मित्रने प्रयाग आदि मनोवाञ्छित फल देनेवाले क्षेत्रमें उसके जीवनकी कामना कर मृत्युका आलिङ्गन किया और शत्रुने वहींपर उसके मरणकी कामना कर अन्तिम सांस ली दोनोंके मरणके पश्चात् विरुद्ध स्वभाववाले कार्य कैसे होंगे यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २५ ॥

खे स्यामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्यायिचितैः फलैः ।
तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नभः ॥ २६ ॥
अन्यच्च ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम् ।
जायात्वेन समं कालं लब्धं ध्यानफलं च तैः ॥ २७ ॥
साध्व्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा ।
तेषां च जाया संपन्ना कथमेतन्महामुने ॥ २८ ॥
गृहानिर्गच्छमाकल्पं नृपः स द्वीपसप्तके ।
वरत्वं वरशापाभ्यामिति अन्तः क्व तिष्ठति ॥ २९ ॥
दानधर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम् ।
इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रीत्याऽस्ति सत्फलम् ॥ ३० ॥

तथा एक ही समयमें 'मैं आकाशमें पूर्ण चन्द्रमा होऊँ इस कामनासे चन्द्रत्व प्राप्त करानेवाली उपासनाविधिके अनुसार ध्यान करनेवाले बहुतसे उपासकों द्वारा एक ही कालमें प्राप्त अवश्यम्भावी चन्द्रत्वप्राप्तिरूप फलोंसे आकाश एकसाथ अनेकों चन्द्रोंसे युक्त क्यों नहीं होता ? ॥ २६ ॥

तथा एक ही स्त्रीका अपनी स्त्रीके रूपमें प्राप्त करनेके लिए जब लाखों पुरुषोंने एक साथ ध्यान किया तब उन पुरुषोंके ध्यानकी फलभूत वह एक ही स्त्री उन पुरुषोंको भिन्न देशमें स्थित भिन्न भिन्न घरोंमें एक ही समय कैसे प्राप्त हुई ॥२७॥

तथा हे महामुनिजी, वह एक ही स्त्री अपनी तपश्चर्यासे परम ब्रह्मचारिणी, उनमें से प्रत्येक पतिके घरमें रहनेसे प्रत्येकके प्रति तपस्यासे साध्वी एवं बहुजन भोग्य होनेके कारण असाध्वी कैसे तथा वह उन सबकी स्त्री कैसे हुई यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २८ ॥

भगवन्, मैं घरसे बाहर नहीं निकलता हुआ भी कल्पपर्यन्त सप्तद्वीपोंका अधीश्वर होकर घरपर स्थित होऊँ यह विरुद्ध है । किसीने वरदान आदि द्वारा जहां प्राप्त किया वहाँ घरके भीतर भोग्यवरकी वरता कैसे उपपन्न होती है ? ॥२९॥

दान, धर्म आदि तपस्याओं तथा अन्त्येष्टिक्रिया, श्राद्ध आदि कर्मोंका अदृष्ट जहां क्रिया हुई उसी प्रदेशमें यदि उत्पन्न होता है तो यहांपर स्थित लोगोंको क्रियाका फल परलोकमें, जो उक्तक्रियोत्पत्तिसे शून्य है, कैसे होगा ?

व्यवहर्ता न भूर्तोऽत्र विद्यते लोकयोर्द्वयोः ।
देशान्तरे भृशं जीवो भृशं कालान्तरेऽपि वा ॥ ३१ ॥
फलं संभवतीयत्तद्विनाऽनुभवनं मुने ।
असमञ्जसमेवाऽतिं कथं स्यात्सुसमञ्जसम् ॥ ३२ ॥
इत्यादिसंशयगणं गिरा शीतावदातया ।
छिन्धि मेऽभ्युदितं भासा सान्ध्यमान्ध्यमिवोडुपः ॥३३॥
परमवस्तुनि संशयनाशनादुभयलोकहितं भवति स्फुटम् ।
तदिह मे कुरु साधुसमागमस्तनुफलो भवतीह न कस्यचित् ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० महाप्रश्नो नाम षडधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०६ ॥

तथा अदृष्ट मूर्त देह आदिमें प्रीतिजननसे सफल है यह कहिये तो परलोकमें स्थित देहमें अदृष्टका अस्तित्व कहां है ? ॥ ३० ॥

यदि कहिये कि व्यवहार करनेवाला जीव और उसमें समवाय सम्बन्धसे स्थित उसका अदृष्ट जिस जगह उसका भोग होता है वहां है । यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस लोकके देह आदि मूर्त पदार्थ अन्य लोक तथा अन्य कालमें नहीं रहते जिनके आश्रयसे व्यवहार करनेवालोंको फल हो सकेगा, यह अर्थ है ॥ ३१,३२ ॥

इत्यादि असमञ्जस कैसे समञ्जस होगा ? मेरे मनमें उठे हुए इन सकल सन्देहोंको शीतल और उज्ज्वल वाणीसे ऐसे काट डालिये जैसे कि चन्द्रमा सायंकालमें होनेवाले अन्धकारको शीतल तथा उज्ज्वल कान्तिसे काट देता है ॥ ३३ ॥

हे भगवन्, परमात्माके विषयमें उपदेश द्वारा सकल संशयोंका विनाश करनेसे हजारों विरुद्ध फलवाला भी दोनों लोकोंमें (इस लोक और परलोकमें) हितकर तथा अविरुद्ध हो जाता है, इसलिए परमवस्तुबोध (परमात्मबोध) मुझे दीजिये । आपके सदृश महापुरुषोंका समागम मेरे सदृश किसीको साधारण फलप्रद नहीं होता है, यह अर्थ है ॥ ३४ ॥

दो सौ छः सर्ग समाप्त

सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

शृणु राजन्यथा स्पष्टमेतत्ते कथयाम्यहम् ।
येन ते सर्वसंदेहा यास्यन्त्यलममूलताम् ॥ १ ॥
सर्वे तावज्जगद्भावा असद्रूपाः सदैव हि ।
सद्रूपाश्च सदैवेमे यथासंवेदनं स्थितेः ॥ २ ॥
इदमित्थमिति प्रोता यत्र संवित्तदेव तत् ।
भवत्यवश्यं तत्त्वज्ञ सदेवाऽस्त्वसदेव वा ॥ ३ ॥

दो सौ सात सर्ग

[पूर्व सर्गमें राजा प्रशस्ति द्वारा किये गये प्रश्नोंमें से कतिपय प्रश्नोंका क्रम तथा व्युत्क्रमसे श्रीवसिष्ठजी द्वारा समाधान]

एक विज्ञानसे ही सर्व विज्ञान होता है, अतः सकल सन्देहोंका मूलोच्छेद द्वारा परिहार होनेके कारण मैं सामान्यरूपसे सब प्रश्नोंका समाधान करूँगा, यों श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

हे राजन्, जिस प्रकार मैं हथेलीमें रक्खे आंवलेकी तरह स्पष्टरूपसे आत्मतत्त्वका प्रतिपादन करता हूँ उसे तुम सुनो । जिससे तुम्हारे सकल सन्देह सर्वथा पूर्णरूपसे निर्मूल हो जायंगे ॥ १ ॥

सर्वप्रथम स्वयंप्रमाण स्व स्व संवेदनका अनुसरण करनेवाले पुरुषोंको पदार्थोंके तत्त्वकी व्यवस्था करनेमें कहीं भी किसी भी सन्देहकी उपपत्ति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—'सर्वे' इत्यादिसे ।

सभी जगत्के पदार्थ सदा ही असद्रूप हैं और सदा ही ये सद्रूप हैं, क्योंकि इनकी स्थिति संवेदनके अनुसार है । जहांपर जिसके अस्तित्वकी प्रतीति होती है और जहांपर जिसके नास्तित्व प्रतीति होती है वहां दोनों ही स्थलोंमें भगवती संवित् द्वारा ही उनके अस्तित्व और नास्तित्वरूपका समर्थन किया जाता है, यह भाव है ॥ २ ॥

जिस विषयमें यह पदार्थ है, नीला है, पीला है, घड़ा है, वस्त्र है, अथवा नहीं है इस प्रकारका ही है इस प्रकारके अवधारणसे (निश्चयसे)

ईदृक्स्वभावा संवित्तिस्तया देहो विभाव्यते ।
एक एव स्वरूपेण तस्यास्तेन च तद्विदा ॥ ४ ॥
विदमेव विदुर्देहं स्वभादावितरेतरा ।
संवित्काचित्संभवति नचाऽन्याऽस्ति शरीरता ॥ ५ ॥
आश्रितस्वप्नसंदर्शस्तथेदं भासते जगत् ।
समस्तकारणाभावात्सर्गादावन्यतात्र का ॥ ६ ॥
एवं यदेव विमलं वेदनं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
तदेवेदं जगद्भाति तत्क्वेव जगतोऽन्यता ॥ ७ ॥

संवित् व्याप्त है उस विषयका वह रूप अवश्य होता ही है। वह सत् हो अथवा असत् हो इस विषयमें आग्रह नहीं है ॥ ३ ॥

संवित्का ऐसा स्वभाव ही है। उक्त संवित् द्वारा आत्मरूपमें शरीरकी पहले भावना की जाती है। उस देहसे उस संवित्की अभिव्यक्ति होती है यानी देहकी आत्मता और संवित्की देहधर्मता यों विपरीतताका अध्यास किया जाता है। इस प्रकार नरक और स्वर्गके भोगके लिए देहके उत्पादक माता-पिता आदिसे शून्य प्रदेशमें देहके प्रति कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त आदि कारण हैं ? प्रज्ञतिके इस प्रश्नका समाधान किया गया ॥ ४ ॥

इसीलिए लोग स्वप्न और जाग्रत्में देहका चेतयिताके (आत्माके) रूपमें ही अनुभव करते हैं अन्य यानी संवित्को चेतयिताका (देहका) धर्म जानते हैं वह स्वयं चेतयित्री है ऐसा नहीं जानते हैं। इसलिये कोई यानी भ्रान्तिरूप संवित् ही शरीरता है उससे अन्य शरीरता नहीं है ॥ ५ ॥

आदिके तीन प्रश्नोंका भी इसी तरह समाधान करना चाहिये, क्योंकि जगत्की सिद्धि संवेदनके बलपर ही हुई है, इस आशयसे कहते हैं—'आश्रित०' इत्यादिसे।

सृष्टिके प्रारम्भमें समस्त कारणोंका अभाव था, अतएव अवश्य आश्रणीय स्वप्नद्रष्टा संविदात्मा ही यों जगत्के रूपमें भासता है। ऐसी अवस्थामें इस जगत्में स्वप्नवैधर्म्यरूप अन्यता कौन है यानी कोई नहीं है अर्थात् जगत् स्वप्न-सदृश ही है ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो ही ब्रह्मनामक निर्मल संवेदन है, वही इस जगत्के रूपमें

एवं पूर्वापरं शुद्धमविकार्यजगत्स्थितेः ।
लोकवेदमहाशास्त्रैरनुभूतमुदाहृतम् ॥ ८ ॥
अपलाप्यैव ये मूढा अन्धकूपकभेकवत् ।
समस्तभूतसंवित्तौ रूढपूर्णं महात्मभिः ॥ ९ ॥
वर्तमानानुभवनमात्रमोहप्रमाणकाः ।
शरीरकारणा संविदिति मोहमुपागताः ॥ १० ॥
उन्मत्ता एव तेऽज्ञास्ते योग्या नाऽस्मत्कथासु ते ।
अक्षीबक्षीबयोर्मूढबुद्धयोः क्वैव संकथा ॥ ११ ॥
यया विपश्चित्कथया सर्वसंशयसंक्षयः ।
न भवेत् त्रिषु लोकेषु ज्ञेया मूर्खकथैव सा ॥ १२ ॥

भासता है, इसलिए जगत्‌में ब्रह्मभिन्नता कैसी ? ॥ ७ ॥

इस प्रकार सदा एकरस (कभी विकृत न होनेवाले) ब्रह्मकी जगत्-रूपसे स्थिति होनेके कारण जगत् ब्रह्म ही है विद्वान्, वेद और अध्यात्मशास्त्ररूप प्रमाणोंसे ऐसा ही हमने अनुभव किया है वही यहांपर कहा है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा है ॥ ८ ॥

जगत् नित्य संविन्मात्र ही है, यह बात सब प्राणियोंकी बुद्धिमें बद्धमूल है, दृढ अनुभवसे सिद्ध है, नित्य संविदात्मा ही सत्तारूपसे सर्वत्र पूर्ण है तथा महात्माओंने अनेक बार यह कहा है फिर भी जगत्‌की नित्य संविन्मात्रताका अपलाप करके अन्धकूपके मेढक-से जो मूढ़ पुरुष आपाततः वर्तमान नाम और रूपके अनुभवको ही प्रमाण मानकर संवित् नित्य नहीं है, किन्तु उसका कारण शरीर ही है वह जड़ोपादान तथा जड़ात्माकी गुण है यों मोहको प्राप्त हुए हैं वे नैयायिक, चार्वाक आदि अज्ञ उन्मत्त ही हैं । वे हम लोगोंकी ज्ञानचर्चामें भाग लेनेके योग्य नहीं हैं । भले चंगे मस्तिष्कवाले पुरुषों तथा पागलोंका एवं मूढ़ तथा प्रबुद्धोंका परस्पर संलाप कैसा ?. किसी भी प्रकार उसका संभव नहीं है ॥ ९—११ ॥

जिस विद्वान्‌के कथनोपकथनसे सकल सन्देहोंका विनाश न हो उसे इस लोकमें क्या अन्य लोकोंमें क्या यानी तीनों लोकोंमें मूर्ख-कथा ही समझना चाहिये ॥ १२ ॥

प्रत्यक्षमात्रनिष्ठोऽसौ मूढास्थ इति वक्ति यत् ।
तेन निर्युक्तिनोक्तेन शिलासदृशवृत्तिना ॥ १३ ॥
प्रोक्तः सर्वविरुद्धेन सोऽज्ञः कूपान्धदर्दुरः ।
पूर्वापरधियं त्यक्त्वा वर्तमाने मतिस्थितः ॥ १४ ॥
वेदा लोकादयश्चैते पृष्टाः स्वानुभवान्विताम् ।
वदन्तीमां दृशं सर्वे यथा नश्यन्ति संशयाः ॥ १५ ॥
संविदेव शरीरं चेच्छवं कस्मान्न चेतति ।
इति यस्य मतिस्तस्मै मूढायेदमिहोच्यते ॥ १६ ॥

जो मूढ़बुद्धिवाला चार्वाक यह प्रपञ्च एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाणवाला ही है प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणोंवाला नहीं है, इसलिए श्रुति आदिसे सिद्ध जगत्‌का ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहता है वह उस युक्तिविहीन, सर्वविरुद्ध तथा अभिज्ञ-जनोंका कर्णकटु होनेसे पत्थरके समान कठोर अपने वचनसे ही सकल विद्वानों द्वारा अज्ञानी तथा अन्धे कुएँका मेढक कहा गया है, क्योंकि वह पूर्वापर विचार-बुद्धिको ताकपर रखकर केवल वर्तमानमात्रगोचर प्रत्यक्ष प्रमाणमें ही अपनी बुद्धिसे पशुके सदृश स्थित है ॥ १३,१४ ॥

चार्वाक आदिकी उक्तिसे सन्देहोंकी कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाणोंका अङ्गीकार न करनेके कारण उसकी उक्ति युक्ति-शून्य है। वेद आदि तो गुरुमुखसे पूछे जानेपर सकल सन्देहोंकी निवृत्ति द्वारा परम पुरुषार्थके प्रदानमें समर्थ हैं, कारण कि वे अपने अनुभवसे पूर्ण इस मदुक्त (मेरे द्वारा कही हुई) दृष्टिका प्रतिपादन करते हैं, ऐसा कहते हैं— **'वेदा'** इत्यादिसे।

वेद तथा तत्त्वज्ञानी जन जब पूछे जाते हैं तब अपने अनुभवसे परिपूर्ण इस मेरे द्वारा कही गई दृष्टिका ऐसे प्रतिपादन करते हैं जैसे कि ये सब संशय नष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥

यदि प्रत्यगात्मसंवित् ही देहादि जगत् है तो शव (मृत शरीर) भी संवित् होनेसे क्यों नहीं चेतता यानी चैतन्य प्राप्त करता है ? ऐसी जिसकी शङ्का है उस मूढ श्रोताके लिए यहाँपर कहा जाता है, तुम सुनो ॥ १६ ॥

ब्रह्मणो ब्रह्मरूपस्य संकल्पनगरं ततम् ।
इदं तावज्जगद्भानं तव स्वप्नपुरं यथा ॥ १७ ॥
तत्समस्तं सदैवेदं चिन्मात्रात्म निरन्तरम् ।
भवत्यत्र न ते भ्रान्तिः स्वे स्वप्ननगरे यथा ॥ १८ ॥
तत्र तावद्दिशः शैलाः पृथ्व्यादिनगरादि च ।
सर्वं चिन्मयमाकाशमिति ते स्वानुभूतिमत् ॥ १९ ॥
संविद्व्योमघनं ब्रह्म तत्संकल्पपुरं विराट् ।
शुद्धसंविन्मयो ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥ २० ॥
ब्राह्मे संकल्पनगरे यद्यत्संकल्पितं यथा ।
तथाऽनुभूयते तत्त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥ २१ ॥

जैसे तुम्हारा स्वप्ननगर विस्तृत होता है वैसे ही हिरण्यगर्भका वेष धारण किये हुए परमब्रह्मका स्वप्ननगर यह जगद्-भान विस्तृत है ॥१७॥

यद्यपि यह सम्पूर्ण जगद्-भान वास्तवमें निरन्तर चिन्मात्रस्वरूप ही है तथापि इसमें जैसे तुम्हें अपने स्वप्ननगरमें चेतन भ्रान्ति नहीं होती वैसे ही शवादि जड़में भी नहीं होती है यह जानना चाहिये ॥ १८ ॥

अपने स्वप्नमें दसों दिशाएँ, विविध पर्वत, पृथिवी आदि, नगर आदि सब कुछ चिन्मय आकाश ही हैं यह विचार करनेपर तुम्हारे अनुभवसे सिद्ध है ॥ १९ ॥

वैसे ही जगत्में भी चिन्मयताकी संभावना करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'संवित्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्म संविदाकाशमय है, उसका संकल्पनगर विराट् है, ब्रह्मा भी एकमात्र-संवित्-मय ही है वैसा ही उसका बनाया हुआ यह जगत् भी शुद्ध संवित्-मय ही कहा जाता है ॥ २० ॥

जैसे तुम्हारे संकल्पनगरमें तुमसे जिस जिस पदार्थका जैसा संकल्प किया जाता है वैसा ही तुम्हें उसका अनुभव होता है वैसे ही ब्रह्मके संकल्पनगररूप इस जगत्में चित् द्वारा जिस जिसका जैसा संकल्प किया जाता है उस उसका वैसा अनुभव होता है ॥ २१ ॥

संकल्पनगरे यद्यद्यथा संकल्प्यते तथा ।
तत्तथाऽस्त्येव च तदा त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥ २२ ॥
तस्माद्देहस्य नियतौ यथैतौ ब्रह्मणा चिता ।
स्पन्दास्पन्दौ कल्पितौ द्वौ स तथैवाऽनुभूतवान् ॥ २३ ॥
महाप्रलयपर्यन्ते पुनः सर्गः प्रवर्तते ।
समस्तकारणाभावाद्द्रव्यं तावन्न विद्यते ॥ २४ ॥
विमुक्तत्वात्प्रजेशस्य न च संभवति स्मृतिः ।
ब्रह्मैवेयमतो दीप्तिर्जगदित्येव भासते ॥ २५ ॥
तस्माद्‌द्याात्मना भातं स्वमेव ब्रह्मणा स्वतः ।
जगत्संकल्पनगरमिति बुद्धं च खेन खम् ॥ २६ ॥

जैसे तुम्हारे संकल्पनगरमें जिस जिस पदार्थका जैसे संकल्प किया जाता है उस समय वह वैसा रहता ही है वैसे ही इस संकल्पनगरमें जिस जिसका जैसे संकल्प किया जाता है वह उस समय वैसा रहता ही है ॥ २२ ॥

इसलिये जैसे जीवित देहकी चेष्टा होती है मृत शरीरकी चेष्टा नहीं होती यों नियत इन स्पन्द (चेष्टा) और अस्पन्द (चेष्टाका अभाव) दोनोंकी हिरण्यगर्भरूप चित्‌ने ही कल्पना की है वैसे ही उसने उनका स्वयं अनुभव किया इसलिये शवमें चेतनाकी अभिव्यञ्जक चेष्टाकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २३ ॥

'निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा' इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये उसके अभिप्रायको विशद करते हैं—**'महाप्रलय०'** इत्यादिसे ।

महाप्रलयके अन्तमें पुनः सृष्टि चलती है । लेकिन समस्त कारणोंका अभाव होनेसे वह सृष्टि द्रव्य तो है नहीं । यदि कहिये पूर्व कल्पके प्रजापतिसे निर्मित द्रव्योंका इस (आधुनिक) सृष्टिमें उपयोग होगा, अतः वह निर्द्रव्य कैसे ? यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व कल्पके प्रलयसे पहले ही पूर्व कल्पका प्रजापति मुक्त हो चुका इस कारण उसके द्वारा निर्मित जगत्‌का पूर्ण रूपसे प्रलय होनेके कारण पूर्व जगत्‌के प्रकारकी स्मृति आदि निमित्तकारण नहीं है, यह तुम्हारा आशय है । लेकिन तुम्हारा यह आशय हमारे सिद्धान्तके अनुकूल ही है, क्योंकि स्वयंज्योति ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें भासता है ॥ २४,२५ ॥

इसलिए ब्रह्मका पहले हिरण्यगर्भके रूपमें स्फुरण हुआ उसके बाद आकाश-

यथा संकल्पनगरं चिन्मात्रं भाति केवलम् ।
तथैवाऽकारणं भाति चिन्मात्रोन्मेषणं जगत् ॥ २७ ॥
शरीरमस्तु वा माऽस्तु यत्र यत्राऽस्ति चिन्नभः ।
वेत्त्यात्मानं तत्र तत्र द्वैताद्वैतमयं जगत् ॥ २८ ॥
तस्माद्यथा स्वप्नपुरं यथा संकल्पपत्तनम् ।
तथा पश्यति चिद्व्योम मरणानन्तरं जगत् ॥ २९ ॥
अपृथ्व्यादिमयं भाति पृथ्व्यादिमयवज्जगत् ।
यथेदमाप्रथमतो मृतस्याऽप्यखिलं तथा ॥ ३० ॥
देशकालौ न सर्गेण प्रबुद्धस्येव तौ यथा ।
अणुमात्रमपि व्याप्तौ तथैव परलोकिनः ॥ ३१ ॥

रूप उसने स्वयं ही आकाशरूप संकल्पनगरको जगत् जाना ॥ २६ ॥

जैसे केवल चिन्मात्ररूप संकल्पनगरका भान होता है वैसे ही निष्कारण चिन्मात्र उन्मेष जगत्के रूपमें भासता है ॥ २७ ॥

इससे 'माता पित्राद्यभावोऽपि' इस प्रश्नका भी समाधान हो गया, ऐसा कहते हैं—**'शरीरम्'** इत्यादिसे ।

शरीर हो चाहे मत हो जहां जहां चिदाकाश है वहां वहां वह द्वैताद्वैतमय जगत्रूप आत्माको जानता है ॥ २८ ॥

मरणके पश्चात् जगत्के दर्शनमें भी यही न्याय जानना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

जैसे चिदाकाश स्वप्ननगरको देखता है जैसे संकल्पपुरको देखता है वैसे ही मरनेके बाद जगत्को देखता है ॥ २९ ॥

जैसे सर्गके आदिसे अपृथिवीमय यह जगत् पृथिवी आदिमय-सा भासता है वैसे ही मृत पुरुषका भी सम्पूर्ण जगत् अपृथिवी आदिमय होता हुआ भी पृथिवी-आदिमय भासता है । ॥ ३० ॥

जैसे तत्त्वज्ञानीके अथवा स्वप्नसे जागे हुए पुरुषके स्वप्नके देश और काल जाग्रत् सृष्टिसे तनिक भी व्याप्त (सम्बद्ध) नहीं रहते वैसे ही परलोक प्राप्त पुरुषके भी ऐहिक देश-काल वहां (परलोकमें) व्याप्त नहीं होते ॥ ३१ ॥

इदं प्रबुद्धविषये स्वानुभूतमपि स्फुटम् ।
जगन्न विद्यते किंचित्कारणं गगने यथा ॥ ३२ ॥
अप्रबुद्धस्याऽसदेव यथेदं भाति भासुरम् ।
तथैव सर्गवद्भाति व्योमैव परलोकिनः ॥ ३३ ॥
द्युधराद्रियमाद्याढ्यं खमेव परलोकिनः ।
अभूतपूर्वमाभाति भूतपूर्ववदाततम् ॥ ३४ ॥
मृतोऽयं पुनरुत्पन्नो यमलोके शुभाशुभम् ।
भुञ्जेऽहमित्यतिघनं मृतो भ्रान्तिं प्रपश्यति ॥ ३५ ॥
मोक्षोपायानादरिणामेष मोहो न शाम्यति ।
बोधाद्वासनत्वेन मोह एष प्रशाम्यति ॥ ३६ ॥

इसी तरह तत्त्वज्ञानीके विषयमें जगत् भी नहीं व्याप्त होता है, ऐसा कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

स्पष्टरूपसे अपने द्वारा अनुभूत भी यह जगत् प्रबुद्धके (तत्त्वज्ञानीके) विषयमें वैसे ही कुछ नहीं है जैसे कि आकाशके विषयमें कारण कुछ नहीं है ॥ ३२ ॥

जैसे अप्रबुद्ध पुरुषको असत् ही यह जगत् देदीप्यमान मालूम होता है वैसे ही परलोकगत पुरुषको चिदाकाश ही सर्गवत् प्रतीत होता है ॥ ३३ ॥

परलोकगत पुरुषको अभूतपूर्व चिदाकाश ही द्युलोक, पृथिवी, यम आदिसे युक्त पूर्वसिद्ध-सा व्याप्त प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

यहाँ मैं मरा, फिर नारकी जीवके रूपमें उत्पन्न हुआ, यमलोकमें आया और वहाँपर शुभ-अशुभ कर्मफलोंको भोगता हूँ यों मृत पुरुष अतिनिबिड़ भ्रान्तिको देखता है ॥ ३५ ॥

उक्त भ्रान्ति मोक्षके उपायभूत अध्यात्मशास्त्रोंके परिशीलन आदिसे ही पूर्णरूपसे नष्ट होती है उसके विनाशका दूसरा मार्ग नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'मोक्षोपाया०'** इत्यादिसे ।

मोक्षके उपायभूत श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिका अनादर करनेवाले पुरुषोंका यह मोह (अज्ञान) कदापि शान्त होता है बोध होनेसे वासनाके मिट जाने पर यह मोह नष्ट हो जाता है ॥ ३६ ॥

अप्रबुद्धस्य या संवित्सा धर्माधर्मवासना ।
ख एव खात्मिका भाति यत्तदेव जगत्स्थितम् ॥३७॥
न शून्यरूपं न च सत्स्वरूपं
ब्रह्माभिधं भाति जगत्स्वरूपम् ।
तच्चाऽपरिज्ञानवशादनर्थ-
भूतं परिज्ञातवतः शिवात्म ॥ ३८ ॥

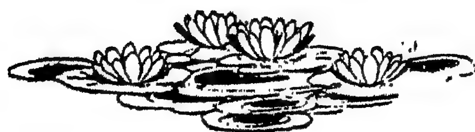
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० महाप्रश्नोत्तरं नाम सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०७ ॥

इससे धर्म और अधर्म ही जगत्के आकारमें परिणत होते हैं यह आस्तिक लोगोंका पक्ष भी अनुगृहीत हुआ, इस आशयसे कहते हैं— **'अप्रबुद्धस्य'** इत्यादिसे ।

अप्रबुद्ध पुरुषकी जो संवित् है वह धर्म-अधर्मवासना है जो आकाशमें ही आकाशरूप भासती है वही यह जगत्के रूपमें स्थित है ॥ ३७ ॥

जगत्का स्वरूप स्वतः शून्यरूप भी नहीं है और सत्स्वरूप भी नहीं है, किन्तु ब्रह्मनामका चैतन्य ही जगत्स्वरूप है और अज्ञानके कारण ही अनर्थ-भूत है तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए तो परमकल्याण निरतिशय आनन्दरूप ही है ॥ ३८ ॥

दो सौ सात सर्ग समाप्त



अष्टाधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

शुभाशुभं यथोदेति प्रजानां गृहसंगमे ।
असंबद्धैरप्रतिघैर्दूरस्थैस्तदिदं शृणु ॥ १ ॥
ब्रह्मसंकल्पनगरं जगत्तावदिदं स्थितम् ।
यद्दृश्यं दृश्यबोधेन ब्रह्मैव ब्रह्मबोधतः ॥ २ ॥
यद्यत्संकल्पनगरे यदा संकल्प्यते यथा ।
तथाऽनुभूयते तत्तत्तादृग्विरचनं तदा ॥ ३ ॥
एवमस्मिन्गृहे याते संपन्नैवमियं प्रजा ।
एवं संकल्पसंपन्ने जगत्येवं भवत्यलम् ॥ ४ ॥

दो सौ आठ सर्ग

[जैसे प्रजा दूर देशमें स्थित प्रयत्नोंसे अन्यत्र वध, बन्धन आदि फल पाती है वैसे ही ब्रह्माकी इच्छाका वर्णन]

'अनिच्छतेहितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम् । प्रजा प्राप्नोत्यसंबद्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ॥' इस प्रश्नका उत्तर सुनानेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'**शुभाशुभम्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राजन्, प्रजाओंको अमूर्त, दूर स्थित अतएव सम्बन्ध रहित राजाज्ञादिसे अपने ही घरमें जैसे शुभाशुभ फल (निग्रहानुग्रह-रूप) प्राप्त होता है उसको सुनो, मैं कहता हूँ ॥ १ ॥

चूँकि ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्यबोधसे दृश्यके रूपमें प्रतीत होता है और ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्म ही है, इसलिए यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगररूपसे स्थित है ॥ २ ॥

संकल्पनगरमें जिस जिस वस्तुका जिस समय जैसा संकल्प किया जाता है वह वह वस्तु उस समय वैसे ही अनुभूत होती है ॥ ३ ॥

जैसे तुम्हारे इस संकल्पमय घरमें जो यह प्रजा है वह तुम्हारे संकल्पके अनुसार बनी वैसे ही ब्रह्मके संकल्पसे सम्पन्न जगत्‌में भी यह प्रजा पूर्णरूपसे ब्रह्मसंकल्पके अनुसार ही होती है ॥ ४ ॥

एतत्स्वसंकल्पपुरे यादृशं ते तथा स्थितम् ।
यथा संकल्पयसि यत्तत्तथा किल पश्यसि ॥ ५ ॥
यथैव वरशापाभ्यां शुद्धसंविदवाप्यते ।
संवित्तथैव भवति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥ ६ ॥
प्रजाविधिनिषेधाभ्यामेकयाऽऽस्थाव्यवस्था ।
तथैव फलमाप्नोति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥ ७ ॥
देहिनो ये जगत्यस्मिंस्तान्प्रत्यनुपलम्भतः ।
असदासीज्जगत्पूर्वं सत्यमित्युपलभ्यते ॥ ८ ॥
चिद्रूपब्रह्मसंकल्पवशादेवैतदङ्ग सत् ।
चिदुन्मेषनिमेषौ यौ तावेतौ प्रलयोदयौ ॥ ९ ॥

अपने संकल्प-नगरमें यह सब जिस प्रकारका तुम्हारा स्थित है । तुम अपने संकल्पनगरमें जिसका जैसा संकल्प करते हो उसको वैसा ही देखते हो ॥ ५ ॥

लेकिन जो जगत्‌में हमारे संकल्पनगरकी विलक्षणताका अनुभव होता है उसे वर-शाप संकल्पके तुल्य समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—**'यथैव'** इत्यादिसे ।

मुनियोंकी यम, नियम आदिके सेवनसे शुद्ध हुई संवित् वर और शापसे जैसे तत्-तत् व्यवहारक्षम यानी निग्रहानुग्रहसमर्थ होती है ब्रह्मसंवित् भी वैसे ही होती है, यह अर्थ है । जो वर और शाप द्वारा होता है उसे भी तपस्वियोंके वर और शाप सिद्ध हों यों ब्रह्मकी कल्पनासे ब्रह्मसम्बन्धी ही सत्यसंकल्प समझना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रकृतमें प्रजाजन विधि-निषेध शास्त्रों द्वारा बोधित धर्म और अधर्ममें से एक आस्थावश जो धर्म अथवा अधर्मका फल प्राप्त करते हैं वह भी ब्रह्मके ही इस प्रकारके संकल्पवश ही होता है ॥ ७ ॥

इस जगत्‌में जो जीव हैं उनके सृष्टिरूप अभिव्यक्तिके पूर्व उपलब्धि न होनेके कारण पहले यह जगत् असत् था सृष्टिके उपरान्त सत्यरूपसे इसकी उपलब्धि होती है ॥ ८ ॥

असत् जगत्‌का कुछ काल तक सत्तारूपसे जो किंचित् भान होता है वह

राजोवाच

किं नोपलभ्यते पूर्वं किं पश्चादुपलभ्यते ।
जगच्चलद्वपुरिदं सुस्थिरारम्भभास्वरम् ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्मिंश्चिद्व्योलसंकल्पपुरस्थे भाव ईदृशः ।
यद्भूत्वा न भवत्येव पुनर्भवति च क्षणात् ॥ ११ ॥
बालसंकल्पपुरवद्व्योमकेशोण्डूकादिवत् ।
किलैते सदसद्रूपा भान्ति सर्गाश्चिदात्मनि ॥ १२ ॥
त्वं संकल्पपुरं कृत्वा विनाशयसि तत्क्षणात् ।
स्वतोऽन्यसंविद्वशतः स्वस्वभावः स ते यथा ॥ १३ ॥

भी ब्रह्मके सत्यसंकल्पसे ही होता है, ऐसा कहते हैं—'**चिद्रूप०**' इत्यादिसे ।

राजन्, यह जगत् चिद्रूप ब्रह्मके संकल्पसे ही कुछ कालके लिए सत् है, अतः जो ब्रह्मके जगत्‌रूपसे उन्मेष और निमेष हैं वे ही इस जगत्‌के उदय और प्रलय हैं ॥ ९ ॥

राजाने कहा—भगवन्, यदि जगत् ब्रह्मके संकल्पवश सत् है तो पहले यानी सुषुप्ति और प्रलयकालमें क्यों प्रतीत नहीं होता । पीछे यानी जाग्रत् और सृष्टिकालमें किसलिए दिखाई देता है । सदा विकारको प्राप्त हो रहा यह जगत् सुस्थिर (सदा स्थायी) कार्यके समान भासमान कैसे है ? यह मुझे बतलानेकी कृपा कीजिये ॥ १० ॥

यह जगत् मायिक है, इसलिए इसका स्वभाव ही ऐसा है, यों श्रीवसिष्ठ-जी प्रज्ञप्ति राजाके प्रश्नका उत्तर देते हैं—'**अस्मिन्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राजन्, इस चिदाकाशके संकल्पनगरमें स्थित जगत्‌में इस प्रकारका स्वभाव ही है कि यह सृष्टिमें यानी स्वप्न और जाग्रत्‌में उत्पन्न होकर प्रलय, सुषुप्ति और मोक्षमें आविर्भूत नहीं ही होता है और फिर क्षणभरमें आविर्भूत हो जाता है ॥ ११ ॥

बालकके संकल्पके नगरके तुल्य तथा आकाशमें स्थित केशोंके वर्तुलाकार गोले आदिके समान ये सदसद्रूप सृष्टियाँ चिदात्मामें भासती हैं ॥ १२ ॥

तुम संकल्पनगरका निर्माण कर अन्य संवित्‌से यानी उसके प्रलय-

चिद्व्योमकल्पनपुरे यदुन्मज्जनमज्जनम् ।
स्वभावकचनं तस्य तद्विद्धि निर्मलं यथा ॥ १४ ॥
संविद्धनस्त्वनाद्यन्तव्योमैव त्रिजगन्नभः ।
तेनाऽसावद्य यन्नाम करोत्यपि च चेतति ॥ १५ ॥
तदनावरणस्याऽस्य योजनानां शतेष्वपि ।
युगैरपि स्वप्न इव कार्यकृद्वर्तमानवत् ॥ १६ ॥
किल देशान्तरे नित्यमथ लोकान्तरेऽपि च ।
निरावृतो य एकात्मा स किं नाम न चेतति ॥ १७ ॥
यथा मणौ प्रकचति प्रोन्मज्जननिमज्जने ।
परावर्तः स्वभासाऽस्य चिन्मणौ जगतां तथा ॥ १८ ॥
विधीनां प्रतिषेधानां लोकसंस्थाप्रयोजनम् ।
सैव संविदि रूढत्वात्प्रेत्यापि फलदा स्थिता ॥ १९ ॥

संकल्पवश स्वयं उसी क्षणमें उसका विनाश करते हो यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है वैसे ही चिदाकाशके संकल्पनगरमें जो उन्मज्जन निमज्जन है—उन्मेष तथा निमेष है—वह ब्रह्मका निर्मल स्वभाव कचन ही है ॥ १३,१४ ॥

इसलिए त्रिजगदाकाश केवल एकमात्र संविन्मय होकर आदि, अन्त शून्य ब्रह्माकाश ही है। चूँकि वह स्वयं ही जगत् है, इस कारण वह परमेश्वर जो जो सोचता है वह करता भी है। आवरण रहित उसके सत्यसंकल्पसे हजारों योजनोंमें बहुतसे युगोंसे व्यवहित भी पुण्य, पाप आदि कर्म परलोक आदिमें समीपमें विद्यमानकी तरह वैसे ही स्वर्ग, नरक, भोग, ऐश्वर्य आदि कार्यकारी होते हैं जैसे कि स्वप्न होता है ॥ १५, १६ ॥

जैसे स्फुरित हो रही—चमक रही—मणिमें अपनी दीप्तिसे ही कान्तिके उन्मज्जन और निमज्जनका—आविर्भाव और तिरोभावका—अनुभव होता है वैसे ही चिदाकाशरूपी मणिमें जगतोंके सृष्टिप्रलयरूप परिवर्तन तथा नाना कर्मोंके विचित्र विविध फलभोगरूप परिवर्तन भी अनुभूत होते हैं ॥ १८ ॥

अथवा विधिप्रतिषेधरूप शास्त्रोंको सफल बनानेवाली लोकमर्यादा ही ब्रह्ममें बद्धमूल है—स्थित है—अतः वह दूरस्थित कर्मोंके भी फलकी कल्पना करती है, ऐसा कहते हैं—**'विधीनाम्'** इत्यादिसे ।

न कदाचन यात्यस्तमुदेति न कदाचन ।
ब्रह्म ब्रह्मचिदाभानं सर्वदात्मन्यवस्थितम् ॥ २० ॥
यथा तु द्रष्टृदृश्यादिकल्पना कल्पनापुरम् ।
स्वयं जगदिवाऽऽभाति जातमित्युच्यते तथा ॥ २१ ॥
यदा स्वभावात्कचनं संहृत्याऽऽत्मनि तिष्ठति ।
ब्रह्मचिद्गगनैकात्मा शान्त इत्युच्यते तथा ॥ २२ ॥
कचनाकचने यस्य स्वभावो निर्मलोऽव्ययः ।
यथैतावात्मनो नान्यो स्पन्दास्पन्दौ नभस्वतः ॥ २३ ॥

विधि शास्त्र और निषेध शास्त्रोंका लोकमर्यादासंरक्षण ही एकमात्र प्रयोजन है, लोकस्थिति ही, जो ब्रह्ममें उगी हुई है, मरकर परलोकमें गये हुए पुरुषको फल देनेवाली है ॥ १९ ॥

वास्तवमें तो आत्माके जन्म और मरण ही नहीं होते हैं, किन्तु आत्मा स्वयं ही भ्रान्तिवश जन्म और मरणकी कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं—**'न कदाचन'** इत्यादिसे ।

ब्रह्म न तो कभी अस्तको प्राप्त होता है और न कभी उदित होता है। ब्रह्मचिदाभास सदा ही आत्मामें स्थित है ॥ २० ॥

जैसे द्रष्टा, दृश्य आदि जगत् कल्पनानगर एकमात्र कल्पना ही है वैसे वह स्वयं जगत्-सा प्रतीत होता है। उसके जन्मका भी वाणीसे व्यपदेश होता है, वास्तवमें वह नहीं होता है ॥ २१ ॥

वैसे ही मरण भी पूर्वदेहभ्रान्तिके स्फुरणका उपसंहार ही है और कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

दृश्य जगत्के आकारमें स्फुरण और अस्फुरण अज्ञानोपहित चित्का स्वभाव ही है, ऐसा कहते हैं—**'कचना०'** इत्यादिसे ।

जब चिदाकाशस्वरूप जीव स्वभावतः स्फुरणका त्यागकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है तब वह शान्त (मृत) कहा जाता है ॥ २२ ॥

जैसे ये स्पन्दन और अस्पन्दन वायुके स्वभाव ही हैं अन्य नहीं हैं वैसे ही ये स्फुरण और अस्फुरण उस आत्माके निर्मल और अक्षय स्वभाव ही हैं, अन्य नहीं हैं ॥ २३ ॥

जरामरणहन्तॄणि क्षणान्यत्र पृथक्पृथक् ।
भवन्त्विति यथैतानि सन्ति त्वत्कल्पनापुरे ॥ २४ ॥
ब्रह्मसंकल्पनगरे स्वभावा उदितास्तथा ।
ओषधीनां पदार्थानां सर्वेषां च जगत्त्रये ॥ २५ ॥
न संकल्पयिता राजन्संकल्पनगरे स्वयम् ।
तृणं तृणं कल्पयति बालः क्रीडनकानिव ॥ २६ ॥
स्वयं स्वभाव एवैष चिद्घनस्याऽस्य सुस्फुटम् ।
यद्यत्संकल्पयत्याशु तत्र तेऽवयवा अपि ॥ २७ ॥

मणि, मन्त्र, और ओषधियोंके विविध प्रभाव भी ब्रह्मके सत्यसंकल्पवश ही वैसे होते हैं, इस बातको दृष्टान्तके साथ कहते हैं—**'जरा०'** इत्यादिसे ।

तुम्हारे कल्पनानगरके समान यहाँ जरा, मृत्यु और विनाश करनेवाले मणि, मन्त्र आदिके पृथक् स्वभाव अमुक मन्त्र या ओषधि इस प्रकारके प्रभावसे युक्त हों यों ब्रह्म संकल्पसे ही उदित होते हैं इस प्रकार ब्रह्मके संकल्परूप त्रिलोकीमें सब ओषधियों तथा सब पदार्थोंके स्वभाव संकल्पवश उदित हैं ॥२४,२५॥

तो क्या प्रत्येक क्षणमें प्रत्येक वस्तुकी शक्ति, क्रिया आदि भेदोंका संकल्प करनेवाले ईश्वरकी कल्पना करते हो ? इस प्रश्नपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'न संकल्पयिता'** इत्यादिसे ।

ईश्वर, प्रत्येक अपने संकल्पनगररूप त्रिजगत्‌में प्रत्येक क्षणमें प्रत्येक वस्तुका स्वयं संकल्प करता है ऐसी ईश्वरकी कल्पना हम नहीं करते अपि तु जैसे बालक अपने खिलौनोंका एक ही बार संकल्प करता है वैसे ही ईश्वर अमुक वर्गका पदार्थ अमुक वर्गके कार्यको करनेवाला हो, अमुक जातिके पदार्थ इस प्रकार उत्पन्न हों ऐसी कल्पना करता है । उससे ही बीज, अंकुर आदिके क्रमसे पूर्व-पूर्व तृण आदि पदार्थ उत्तरोत्तर तृण आदि पदार्थोंकी कल्पना करता है ॥ २६ ॥

इस चिद्घनका यह स्पष्ट स्वभाव ही है कि यह स्वयं जिस जिसका संकल्प करता है क्षणभरमें ही वहाँपर वे वे पदार्थ अपने अपने अवयवोंके साथ तथा शक्ति, कार्य आदि भेद और कार्यपरम्पराएँ एक बारके संकल्पसे ही सिद्ध हो जाती हैं ॥ २७ ॥

चिदात्मकतया भान्ति नानात्मकतयाऽऽत्मना ।
अप्येकसारास्तिष्ठन्ति नानाकारस्वभावगाः ॥ २८ ॥
प्रत्येकं किल तत्राऽस्ति ब्रह्म चिन्मात्रनात्मनि ।
सर्वात्मिका सा यत्राऽऽस्ते यथाऽन्तर्भाति तत्तथा ॥ २९ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यं
किंचिन्न किंचिच्च सदप्यसत्यम् ।
स्थितं यथा यत्र तदात्म तत्र
सर्वात्मभूर्भूततृणादिजातौ ॥ ३० ॥

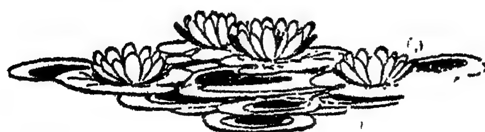
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० महाप्रश्नमोक्षणे अष्टोत्तरद्विशततमः सर्गः ॥ २०८ ॥

संकल्पकल्पित पदार्थ स्वभाववश नानारूपसे स्थित होनेपर भी स्फुरणस्वभाव ब्रह्ममें चिदात्मकरूपसे भासते हैं इसी प्रकार स्वतः नानाकार-स्वभाववाले होनेपर भी सद्रूपसे एक तत्त्ववाले (एकाकार) स्थित हैं ॥२८ ॥

उन पदार्थोंमें से प्रत्येकमें अस्ति, भाति और प्रियरूपसे ब्रह्मचिन्मात्रता है, क्योंकि चित् सर्वात्मक है जहांपर जैसे रहती है वहांपर वैसी भासती है ॥२९॥

इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित, अपरिमेयशक्तिशाली ब्रह्म सदसत् दोनों रूपसे स्थित है, क्योंकि 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (सत्य परमात्मा सत्य और असत्य हुआ) ऐसी श्रुति है । वह सर्वात्मक है, अतः प्राणियोंमें, तृण, गुल्म, पेड़-पौधे आदिमें जहांपर जो वस्तु जिस स्वभाववान्‌के रूपमें प्रसिद्ध है वहांपर स्वयं ही तत्स्वभाव (उस स्वभावका) होकर स्थित है, यह अर्थ है ॥ ३० ॥

दो सौ आठ सर्ग समाप्त



नवाधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ।
मृत्वाऽर्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे यत्तदिदं शृणु ॥ १ ॥
क्षेत्राणामर्थधर्माणां सर्वेषां प्रति तं फलम् ।
ब्रह्मणा कल्पितं सर्गे स्वके संकल्पपत्तने ॥ २ ॥
यत्र पुण्यं यदर्थं च क्षेत्रं ताभ्यां तथा कृतम् ।
यदि तद्विनियोज्यस्य तस्योन्नमति निष्कृतात् ॥ ३ ॥
तत्तस्मान्महतः पापाद्भागमेनोऽखिलं च वा ।
चितिशक्त्यात्म तत्पुण्यं परिश्राम्योपशाम्यति ॥ ४ ॥

दो सौ नौ सर्ग

[परस्पर विरुद्ध फल देनेवाले कर्मोंके भोगोंकी एक साथ प्राप्ति होनेसे अविरोध द्वारा सफलताका युक्तिसे साधन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अभिलषित फल देनेवाले प्रयाग आदि क्षेत्रमें एक ही पुरुषके मित्रने उसके दीर्घजीवनकी प्रार्थना कर अन्तिम साँस छोड़ी और शत्रुने उसके शीघ्र मरणकी कामना कर मृत्युका आलिङ्गन किया यह दोनों-की दीर्घ जीवन और शीघ्र मरणरूप विरुद्ध कामनाएँ कैसे सम्पन्न होंगी ? यह जो तुमने प्रश्न किया था, उसका उत्तर सुनो ॥ १ ॥

राजन्, ब्रह्मने सृष्टिरूप अपने संकल्पनगरमें प्रयागादि सब कामनाप्रद क्षेत्रों तथा सब पदार्थोंके फलका, उस अधिकारी पुरुषके लिए, संकल्पसे समर्थन किया है ॥ २ ॥

जिसमें (संकल्पनगरमें) जिसकी (अधिकारीकी) वाञ्छित फल सिद्धिके लिए अभिलषित फल देनेवाले प्रयाग आदि पुण्यतीर्थ, उनमें किये गये स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि पुण्य तथा उन दोनोंसे—पुण्यतीर्थ और स्नानादि पुण्यसे—संस्कृत शरीर ये तीनों यदि शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले अधिकारीके हैं तो उसके द्वारा यहाँपर मेरे द्वारा किये गये पुण्यसे मेरा अभीष्ट फल अवश्य होगा यों विश्वाससे अनुष्ठित प्रयाग मरण आदिसे प्रार्थित फल अवश्य होता ही है ॥ ३ ॥

पुण्यात्मा पुरुष का ऐसा हो लेकिन जो पापी है, पर श्रद्धा पूर्ण रखता

विनेयपापमल्पं चेत्क्षेत्रधर्मोऽधिकस्ततः ।
तत्पापं नाशयित्वा तच्छब्द एव विवल्गति ॥ ५ ॥
क्षेत्रधर्मेण तेनाऽस्य विनेयस्य महीपते ।
द्वे शरीरे विदौ सम्यक्कचतः प्रतिभात्मिके ॥ ६ ॥
इत्येवमादि पापानां पुण्यानां च फलं महत् ।
ब्रह्मसंकल्पकचितं यथा यद्यत्तथैव तत् ॥ ७ ॥
ब्रह्मोच्यतेऽसौ चिद्धातुः सोऽब्जजाद्यहमादि च ।
स यथाऽऽस्ते यथा तत्तस्य संकल्पनं जगत् ॥ ८ ॥

है उसको प्रयाग-मरण आदिसे क्या फल होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

पापी श्रद्धालु पुरुषका प्रयाग आदि पुण्य क्षेत्रके मरणसे उत्पन्न चितिशक्तिरूप वह पुण्य ब्रह्महत्यादि महापापसे अंशतः अथवा सम्पूर्णतः जैसा क्षेत्रका माहात्म्य हो पुरुषको अलगकर स्वयं भी शान्त हो जाता है, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्मसे पापको नष्ट करता है) इत्यादि श्रुति है ॥ ४ ॥

यदि शास्त्रों द्वारा शिक्षणीय (शिक्षाप्राप्तियोग्य) पुरुषमें पापकी मात्रा कम हो और तीर्थक्षेत्रमें स्नान, दान आदिसे होनेवाला धर्म अधिक मात्रामें हो तो वह उस पापको निश्शेष रूपसे विनष्टकर श्रुति द्वारा प्रतिपादित फलके विषयमें अंशतः असर डालता ही है यानी उसे सिद्ध करता ही है ॥ ५ ॥

हे राजन्, लेकिन जहाँपर शास्त्र द्वारा शिक्षणीय पुरुषका पाप पुण्यक्षेत्रार्जित धर्मके बराबर ही होता है वहाँपर तुल्यबल होनेके कारण उस धर्मसे उस पापकी निवृत्ति नहीं हो सकती एतावता पुण्य और पापके भोगके लिए उसके दो शरीर और उनके चिदाभास दो भ्रान्ति और प्रतिभात्मक स्फुरित होते हैं ॥ ६ ॥

पापों और पुण्योंका महान् फलरूप इस प्रकारका जो जो जैसे ब्रह्मसंकल्पसे स्फुरित होता है वह वह वैसे ही व्यवस्थित है, उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

ब्रह्मके संकल्पसे कचित (स्फुरित) है ऐसा कहा इसमें क्या वह

प्रतिभैव विनेयस्य क्षेत्रपुण्येन तादृशी ।
तथैवोदेति सा धातुर्विपरीतवतो यथा ॥ ९ ॥
एकात्मनाऽहमद्यैव मृतोऽमी मम बन्धवः ।
रुदन्तीमे परं लोकं प्राप्तोऽयमहमेककः ॥ १० ॥
बन्धूनामपि तत्रैव तदैवाऽस्य तथैव च ।
प्रतिभा तादृशैवेति धातुक्षोभवतामिव ॥ ११ ॥
अत्युग्रैः पुण्यपापैः स्वैर्वा महात्मभिरीक्षिते ।
लक्षणाण्यप्यन्यथा सन्ति नृणां चित्कल्पनावशात् ॥ १२ ॥

ब्रह्म है, अथवा जगत् उसके संकल्पसे कल्पित कैसे ? यह प्रश्न होनेपर कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

यह चिद्धातु ब्रह्म कहा जाता है । वही ब्रह्मा आदि समष्टि जीव और अहमादि व्यष्टि जीव कहलाता है । वह जैसे संकल्प करता है समष्टि-व्यष्टि उपाधिमें उसका संकल्परूप जगत् भी वैसे ही स्थित है ॥ ८ ॥

ब्रह्मके संकल्पके अनुसार ही शास्य (शासन योग्य) पुरुषकी पुण्य-क्षेत्रोंमें उपार्जित पुण्यके अनुसार उसके फलभोगरूप प्रतिभा वैसे ही स्वप्नके समान उदित होती है जैसे कि पुण्यविपरीत पापवालेकी नरकादि प्रतिभा उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

कैसी कैसी प्रतिभा उदित होती हैं ? उनका उल्लेखपूर्वक निरूपण करते हैं—'एकात्मना' इत्यादिसे ।

यह मैं आज अकेला ही मर गया, ये मेरे बन्धु-बान्धव सब जीते हैं, ये सब मेरे लिये रोते हैं, मैं यह अकेला ही परलोकमें पहुँच गया हूँ ॥ ११ ॥

इसका मरण जैसे प्रतिभारूप है वैसे ही इसके बन्धुओंका भी मरने-पर सर्वत्र प्रसिद्ध रोना, शवको ले जाना, श्मशानमें जाना, जलाना आदि सब कुछ धातुक्षोभवाले लोगोंकी (संनिपातसे जिनके वायु, पित्त आदि धातु क्षुब्ध हो गये हैं ऐसे लोगोंकी) तरह वैसी प्रतिभा ही है, यह समझना चाहिये ॥ ११ ॥

लेकिन जब मनुष्योंके अति उत्कट पाप अथवा पुण्य होते हैं तब क्षुब्ध हुए अपने पाप अथवा पुण्योंसे महात्मा पुरुषों द्वारा निग्रह-अनुग्रह दृष्टिसे देखे जाने-

अचेतनं शवीभूतं तेऽपि पश्यन्ति तं मृतम् ।
रुदन्ति तं च दहने क्षिपन्ति सह बान्धवैः ॥ १३ ॥
विनेयः स यथाऽन्येन संविद्रूपेण देहिना ।
ऽजरामरणमात्मानं वेत्ति स्थितमदुःखितम् ॥ १४ ॥
यथास्थितेन देहेन वेत्त्यसौ जीवितस्थितिम् ।
मृतिं त्वदृश्येनाऽन्येन क्षेत्रपुण्यविदेरितः ॥ १५ ॥

पर दूसरे पुरुषों द्वारा लक्ष्य (देखने योग्य) अथवा अन्य पुरुषों द्वारा अलक्ष्य (देखनेके अयोग्य) पुण्य अथवा पापोंके फलभूत शरीर आदि चित्संकल्पवश होते हैं ॥ १२ ॥

वे भी (सर्व साधारण लोग भी) कहींपर अति उत्कट पुण्य अथवा पापोंसे शास्यको (शासन योग्यको) अचेतन शवरूपमें पड़ा मरा हुआ देखते हैं, रोते हैं और उसके बन्धु-बान्धवोंके साथ उसे चिताकी अग्निमें डालते हैं ॥ १३ ॥

मित्र और शत्रुके पृथक् पृथक् कर्मोंसे शास्य (शासन योग्य) एक पुरुष स्नेहसंवित्रूप जीवने यानी मित्रने प्रयागादि तीर्थक्षेत्रमें जैसी प्रार्थना की थी वैसे स्थित जरा और मृत्युसे रहित अपनेको दुःखशून्य (सुखी) जानता है ॥ १४ ॥

क्या वह दूसरे शरीरसे अपनेको जरा-मृत्यु हीन और सुखी जानता है ? इस प्रश्नपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'यथास्थितेन'** इत्यादिसे ।

वह वर्तमान यथास्थित देहसे अपनी जीवितावस्थाका अनुभव करता है । तब उसके शत्रुका मनोरथ कैसे सिद्ध होगा ? यानी जिसने प्रयाग आदि कामनाप्रद प्रदेशमें मृत्युके समय उसके शीघ्र मरणकी कामना की थी उसके संकल्पकी सिद्धि कैसे होगी ? यह यदि शङ्का हो तो सुनो । प्रयाग आदि पुण्यतीर्थमें शत्रुकी मृत्यु करानेवाले पुण्यका आचरण करनेवाले शत्रुसे जबर्दस्ती मरनेके लिए प्रेरित होकर वह दूसरे मित्र, स्वजन आदिसे अदृश्य शरीरसे उसी समयमें मृत्युका भी अनुभव करता है ॥ १५ ॥

आविला संविदा संविच्छून्यया वेद्यते क्षणात् ।
नहि सन्नद्धगात्रस्य क्लेशोऽसन्नद्धभेदने ॥ १६ ॥
पश्यन्ति बन्धवोऽप्येनं तथैवाऽमरतां गतम् ।
द्वयमित्येष लभते जीवितं मरणं समम् ॥ १७ ॥
इदमप्रतिघारम्भं भ्रान्तिमात्रं जगत्त्रयम् ।
न संभवति को नाम भ्रान्तौ भ्रान्तिविपर्ययः ॥ १८ ॥
संकल्पस्वप्नपुरयोर्या भ्रान्तिरनुभूयते ।
ततोऽधिकेयं न न्यूना जाग्रत्स्वप्नेऽनुभूयते ॥ १९ ॥

राजोवाच

धर्माधर्मौ कथं ब्रह्मन्कारणं देहसंविदः ।
तस्यामूर्तौ कथं चैको द्विशरीरत्वमृच्छति ॥ २० ॥

शत्रु द्वारा किये गये अभिचारके (तन्त्र, मन्त्र शाप आदि द्वारा मारणके) प्रतीकारसे रहित शास्यकी संवित् शत्रुकी कलुषित संवित्को (मरण आदिको) तुरन्त उसी समय जान जाती है । कवच पहने तथा शस्त्रास्त्रसे लैस शत्रुको कवच न पहने हुए शस्त्रास्त्रविहीन विश्वस्त पुरुषके शरीरको बाण, तलवार, भाले आदिसे घायल करनेमें क्या देर लग सकती है ? ॥ १६ ॥

उसके सब बन्धुबान्धव भी उसको वैसे ही अमर देखते हैं इस तरह जीवन और मरण दोनों उसको एक साथ प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

इसी न्यायसे सब विरुद्ध प्रश्नोंका समाधान समझना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—**'इदम०'** इत्यादिसे ।

यह अप्रतिहतरूपसे आविर्भूत त्रैलोक्य केवलमात्र भ्रमरूप है । भ्रान्तिमें क्या भ्रान्तिविपरीत नहीं हो सकता । स्वप्न, संनिपात आदिमें लाखों विरुद्ध विरुद्ध बातें एक साथ होती दिखाई देती हैं ॥ १८ ॥

संकल्पनगर और स्वप्ननगरमें जो भ्रान्ति मालूम होती है जाग्रत्रूप स्वप्न-में उससे अधिक ही यह भ्रान्ति अनुभूत होती है उससे कम अनुभूत नहीं होती ॥ १९ ॥

'धर्म और अधर्म दोनों अमूर्त हैं, उन दोनोंकी मूर्तता कैसे ?' इस प्रश्नको प्रस्तुत चर्चाके अनुकूल सुधारकर राजा फिर पूछता है—**'धर्माधर्मौ'** इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

संकल्पनगरे ब्राह्मे जगत्यस्मिन्महामते ।
किं नाम नो संभवति सत्यं वाऽप्यसमञ्जसम् ॥ २१ ॥
यथैव संकल्पपुरे यन्न संभवतीह हि ।
तन्नास्त्येव तदेतस्मिन्किं वाऽस्तु ब्रह्मकल्पने ॥ २२ ॥
स्वप्नसंकल्पपुरयोरेका गच्छति लक्षताम् ।
तथा चैकैव चित्स्वप्ने सेनात्वमुपगच्छति ॥ २३ ॥
सहस्राण्येकतां यान्ति तथा सैव सुषुप्तकम् ।
अन्यथा स्वप्नसंकल्पसेनानुभवसंस्मृतौ ॥ २४ ॥
संकल्पस्वप्नपुरयोरिति को नाऽनुभूतवान् ।
संविदाकाशमात्रेऽस्मिञ्जगत्यनुभवात्मनि ॥ २५ ॥

हे ब्रह्मन्, धर्म और अधर्म ब्रह्मसंविन्‌के कारण कैसे होते हैं । धर्म-अधर्म दोनों जब अमूर्त हैं—मूर्तिमान् नहीं हैं—तब उनमें से एक द्वितीय शरीर कैसे बन जाता है ॥ २० ॥

धाताका सत्यसंकल्प अमूर्तको भी मूर्तिमान् बनानेमें समर्थ है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'संकल्पनगरे'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महामते, ब्रह्मके संकल्पनगररूप इस जगत्‌में क्या सत्य (संगत) नहीं हो सकता अथवा क्या असंगत नहीं हो सकता? ॥ २१ ॥

जैसे हम लोगोंके संकल्पनगरमें ऐसा कोई नहीं है जो संभव न हो सके वैसे ही इस ब्रह्मके संकल्पनगररूप त्रिलोकीमें कुछ भी असंभव नहीं है यानी सब-कुछ हो सकता है ॥ २२ ॥

जैसे स्वप्ननगर और संकल्पनगरमें एक ही चित् लाखों रूप धारण करती है वैसे ही जाग्रत्स्वप्नमें एक ही चित् महासेनाके आकारको प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

जैसे चित् जाग्रत्‌में एकसे अनेक रूप होती है वैसे ही जहांपर लाखों एकरूप होते हैं वह सुषुप्ति भी वही होती है । एक ही चित् अनेकरूप होती है और अनेकरूपसे एकरूपताको प्राप्त होती है इस बातका स्वप्न तथा संकल्पमें अनुभूत

तस्मादस्मिंश्चिदाकाशसंकल्पे जगदात्मनि ।
न संभवति किं नाम तत्संभवति वाऽपि किम् ॥ २६ ॥
एवमेवमियं भ्रान्तिर्भाति भास्वन्नभोमयम् ।
नेह किंचन सन्नाऽसन्न वाऽऽसदिह किंचन ॥ २७ ॥
यथाऽनुभूयते यद्यत्तत्तथा तत्त्वदर्शिनः ।
प्रबुद्धस्याऽत्र किं नाम तत्स एवाऽज्ञतेत्यलम् ॥ २८ ॥
इह चेद्विहितो धर्मस्तत्स्वर्गेऽमृतपर्वताः ।
स्थिता इतीह संकल्पे कस्मान्न प्राप्नवान्गिरीन् ॥ २९ ॥
इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते ।
इतीह संकल्पपुरे सर्वमेवाऽसमञ्जसम् ॥ ३० ॥

सेनाके स्मरणमें, समूहरूपकी एकाकारतामें तथा 'इदम्' के (यह के) स्थानमें 'तत्' (वह) कल्पनासे अन्यथा अनुभव होता है । इत्यादि संकल्पनगर और स्वप्न-नगरमें किसको अनुभूत नहीं है । इसलिए इस जगत्‌रूप चिदाकाशसंकल्पमें क्या संभव नहीं है अथवा क्या संभव है ? ॥ २६ ॥

इस प्रकार यह भ्रान्ति देदीप्यमान चिदाकाशमय ही प्रतीत होती है यहाँपर न कुछ सत् है, न असत् है अथवा न सदसत् है ॥ २७ ॥

जिस जिसका जैसे अनुभव होता है वह वैसा ही है। तत्त्वदर्शी पुरुषको इस विषयमें क्या असमञ्जस है ॥ २८ ॥

धर्म और अधर्मका आचरण करनेवाले लोग भी शास्त्र द्वारा अर्जित अपने अपने निश्चयके अनुसारी स्वर्गोंको ही प्राप्त करते हैं, ऐसा कहते हैं— 'इह चेत्' इत्यादिसे ।

वहां स्वर्गमें देवताओंके उपभोग्य तथा अमृतमय जलवाले झरने, तालाब, फल, फूल आदिसे पूर्ण पर्वत हैं। यह शास्त्रसे जानकर उसके अनुसार संकल्प होनेपर यहाँ धर्मका अनुष्ठान किया जाय तो वहाँपर पहुंचकर धर्मानुष्ठान-कर्ता वैसे पर्वतोंको क्या प्राप्त नहीं हुआ यानी उनको प्राप्त हुए स्वात्माका अनुभव क्यों नहीं करता है ? ॥ २९ ॥

यदि मिथ्या होनेके कारण यह असमञ्जस है, ऐसी आपकी मति है तो यह लोक, इसमें किया गया धर्मादिका अनुष्ठान, उससे परलोककी प्राप्ति और

यदि स्यात्सुस्थिरं किंचिद्वस्तु तद्दृश्यको भवेत् ।
न्याय एषोऽखिलः किन्तु संविच्चात्स्वस्वकं स्थितः ॥ ३१ ॥
इत्येष कथितो न्यायः सिद्धास्वनुभवस्ततः ।
यतो जगन्ति संकल्पश्चितो ब्रह्मस्वरूपतः ॥ ३२ ॥
तव संकल्पनगरे नास्त्येवाऽसंभवो यथा ।
सर्वार्थानां तथा ब्राह्मे संकल्पे नास्त्यसंभवः ॥ ३३ ॥
यद्यथा कल्पितं तत्र यावत्संकल्पमेव तत् ।
स्वभावेन तथैवाऽस्ति यतस्तत्संनिवेशवत् ॥ ३४ ॥
ततः संप्रेक्षणमिह संकरो न प्रवर्तते ।
विनाऽन्यचित्प्रयत्नेन भवत्यर्थस्तु नाऽन्यथा ॥ ३५ ॥

उसमें सुख-दुःखभोग यह साराका सारा जगत् असमञ्जस ही है, ऐसा कहते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

इस जगत्में जो कार्य किया जाता है, उसका फलभोग परलोकमें प्राप्त होता है ? इस प्रकार इस संकल्पनगरमें सब कुछ ही असमञ्जस है ॥३०॥

यदि जगत्में कुछ भी भूत, भुवन आदि वस्तु सत्य हो तो उसमें यह विरोध होता तब यह समञ्जस है यह असमञ्जस है इस प्रकारका न्याय सम्पूर्ण अकुंठित होता किन्तु सभी द्रष्टा संवित्‌रूप हैं, अतः उनका अपना संकल्प ही दृश्यके रूपसे स्थित है, वास्तविक नहीं है ॥ ३१ ॥

चूँकि जगत् भी ब्रह्मस्वरूपसे स्थित चित्‌के संकल्परूप ही हैं, अतः इस असमञ्जसताका परिहार करनेवाले न्यायकी जो स्वप्न और संकल्पकी कल्पनाओंमें अनुभवके अनुसार स्थित है, जगतोंमें भी योजना करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

जैसे तुम्हारे संकल्पनगरमें सकल पदार्थोंका असंभव नहीं ही है यानी सकल पदार्थोंका वहांपर संभव है वैसे ही ब्रह्मके संकल्परूप जगत्में भी किसी पदार्थका असंभव नहीं है ॥ ३३ ॥

ब्रह्मके संकल्पमें जिसकी जिस प्रकार कल्पना की वह जब तक संकल्प रहता है तब तक उस प्रकारके संनिवेशसे युक्त वैसे ही स्वभावसे रहती है ॥३४॥

उस प्रकारके संन्निवेश नियमसे ही यहां ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सब वस्तुओंका भलीभांति (ठीक ठीक अविसंवादरूपसे) दर्शन होता है तथा कर्मेन्द्रियोंके

आकल्पमजसंकल्पे यथा भातं जगत्स्थितम् ।
पुनरन्येन संकल्परूपेणाऽन्यदुपैष्यति ॥ ३६ ॥
संकल्पात्म स्वयं भाति कल्पे कल्पे जगत्तथा ।
प्रतिजीवं चितिस्वप्ने स्वप्ने स्वाप्नपुरं यथा ॥ ३७ ॥
संकल्पपत्तनतनोर्न तदस्ति किंचि-
द्यद्यन्न संभवति तच्च चिदात्मनोऽस्मात् ।
नाऽन्यत्प्रकल्पयितुराद्यपरस्वरूपा-
द्ब्रह्मैव तेन सकलं जगदङ्ग विद्धि ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० महा० सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनं नाम नवाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०९ ॥

व्यवहारमें सांकर्य भी नहीं होता । चित्के पूर्ण प्रयत्नसे नियत शरीर-संगठनवाला (आकार-प्रकारवाला) पदार्थ चित्के अन्य प्रयत्नके विना अन्यथा भी नहीं होता ॥३५॥

ब्रह्मके संकल्पमें जैसे जगत्का भान हुआ वैसे ही वह प्रलयपर्यन्त स्थित रहा । फिर प्रलयके बाद अन्य संकल्पके रूपसे अन्य ब्रह्माण्ड प्राप्त होगा ॥ ३६ ॥

जैसे स्वप्नमें स्वप्ननगरका भान होता है वैसे ही कल्प कल्पमें चितिरूप चितिस्वप्नमें संकल्परूप जगत्का प्रत्येक जीवके प्रति भान होता है ॥ ३७ ॥

हे राजन्, तुम संकल्पनगररूप इस जगत्में जो जो नहीं हो सकता है समझते हो वह कुछ नहीं है यानी इसमें सब कुछका संभव है । वह सब कुछ कल्पना करनेवाले इस परमब्रह्म चिदात्मासे पृथक् नहीं है, इसलिए तुम सकल जगत्को ब्रह्म ही जानो ॥ ३८ ॥

दो सौ नौ सर्ग समाप्त

दशाधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

फलेऽक्षयेन्दुभारूपे प्राप्ते ध्यातृशतैर्नभः ।
यथा न शतपूर्णेन्दु तथेदं कथनं शृणु ॥ १ ॥
चन्द्रबिम्बस्य ध्यातारः प्राप्ताः प्राप्तव्यसुस्थिताः ।
नेदं नभस्तलं प्राप्ता न चेमं शशिनं श्रिताः ॥ २ ॥
क्वेवाऽन्यसंकल्पपुरमन्यः प्राप्नोति कथ्यताम् ।
संकल्पपुर्यामर्थाप्तिस्तज्जन्तावेव नाऽपरे ॥ ३ ॥

दो सौ दस सर्ग

[राजा प्रज्ञप्तिके शेष प्रश्नोंके समाधानका निरूपण तथा तत्त्वदृष्टिसे देहादि जगत्की ब्रह्ममात्रताका निरूपण]

'खे स्यामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्मायिचितैः फलैः । तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नभः ॥' मैं आकाशमें अक्षय पूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामनासे ध्यान करनेवालोंके संचित एक समयमें प्राप्त हुए चन्द्रत्वरूप फलोंसे आकाश एक साथ अनेक चन्द्र युक्त क्यों नहीं होता ? इस प्रश्नका उत्तर पहले सुनाते हैं—**'फले'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे राजन्, सैकड़ों ध्यान करनेवाले लोगों द्वारा अक्षय चन्द्रत्वरूप फल प्राप्त होनेपर जैसे आकाश सैकड़ों पूर्ण चन्द्रोंसे युक्त नहीं होता उस प्रकारके इस मेरे कथनको सुनो ॥ १ ॥

यद्यपि सत्यचन्द्रबिम्बका अहंभावसे ध्यान करनेवाले पुरुष प्राप्तव्य चन्द्रत्वमें चिरकालीन ध्यानसे अन्य भावका विस्मरण होनेके कारण ऐन्दवोंके उपाख्यानमें उक्त ऐन्दवन्यायसे सुस्थित होकर चन्द्रत्वको प्राप्त ही हैं तथापि वे न तो इस आकाशतलमें प्राप्त हुए और न इस चन्द्रमें प्रविष्ट हुए ॥ २ ॥

क्यों आकाशतलमें प्राप्त नहीं हुए ? इसपर कहते हैं—**'क्वेवा०'** इत्यादिसे ।

दूसरेके संकल्पनगरमें दूसरा प्रविष्ट हो यह बात कहाँ देखी गई है यह बतलाओ। संकल्पनगरमें पदार्थोंकी प्राप्ति उसी पुरुषको होगी जिसका कि वह

पृथक्पृथक्स्वसंकल्पसर्गखेष्वेव ते स्थिताः ।
चन्द्रास्तपन्ति तत्रैव कलाक्षयविवर्जिताः ॥ ४ ॥
विशेयमस्मिन्नेवेन्दाविति ध्याता निशाकरे ।
अस्मिन्नेव विशत्यन्तरात्मबुद्धिसुखोज्झितः ॥ ५ ॥
अहमिन्दुं प्रविष्टः स्यामिन्दुबिम्बसुखान्वितः ।
ध्यातेति तादृक्सुखभाग्भवतीति विनिश्चयः ॥ ६ ॥
यथाऽयमनुसंधत्ते स्वभावं संविदव्यया ।
तं तथैवाऽनुभवति भवेच्चेद् दृढनिश्चयः ॥ ७ ॥

संकल्पनगर है । अन्यको अन्यके संकल्पनगरमें कदापि पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं हो सकती है ? ॥ ३ ॥

अलग अलग अपनी अपनी संकल्पसृष्टिके आकाशोंमें ही स्थित वे चन्द्रमा, जिनकी कलाका कदापि क्षय नहीं होता है, वहींपर प्रकाशित होते हैं ॥ ४ ॥

'इसी चन्द्रमामें मैं प्रविष्ट होऊँ' ऐसा ध्यान करनेवाला उपासक, जो कि अन्दर आत्मबुद्धिसुखसे शून्य है, इसी चन्द्रमामें ही प्रविष्ट होता है ॥ ५ ॥

इसी चन्द्रमामें सबके सब ध्यानकर्ता क्यों प्रविष्ट नहीं हुए, क्योंकि ऐसा करनेमें लाघव है । इस प्रश्नपर कहते हैं—**'विशेयम्'** इत्यादिसे ।

मैं चन्द्रबिम्बके सुखसे युक्त होकर चन्द्रमामें प्रविष्ट होऊँ, ऐसा ध्यान करनेवाला पुरुष उस प्रकारके सुखका भागी बनता है, ऐसा निश्चय है । भाव यह कि उन सबने वैसा ध्यान नहीं किया यानी 'एक ही अमुक चन्द्रमामें प्रविष्ट होऊँ' सबने ऐसा ध्यान नहीं किया, किन्तु तुम्हारे प्रश्नके अनुसार 'आकाशमें अक्षयपूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामनासे सबने ध्यान किया ॥ ६ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य प्रकारसे ध्यान करनेपर अन्य प्रकारका फल क्यों नहीं होता ? तो इस प्रश्नपर कहते हैं—**'यथा०'** इत्यादिसे ।

ध्यानकर्ता जैसा दृढसंकल्प होकर स्वभावका ध्यान करता है उस स्वभावका अविनाशिनी साक्षिसंवित् वैसे ही अनुभव करती है उससे विपरीत अनुभव नहीं करती ॥ ७ ॥

यथेन्दुत्वं स्वसंकल्पात्सर्वध्यातुः पृथक्पृथक् ।
भात्येवमेव वनितालाभः काल्पनिकः स्वतः ॥ ८ ॥
या ध्याने ध्यातृलक्षाणां साध्वी भार्यात्वमागता ।
तत्कल्पनानुभवनं तेषां सत्त्वात्मनि स्थितम् ॥ ९ ॥
गृहादनिर्गतो जीवः सप्तद्वीपपतिः स्थितः ।
तस्याऽपि तत्काल्पनिकं राज्यं व्योम्नि स्वमन्दिरे ॥ १० ॥
समस्तं कल्पनामात्रमिदमाद्यज्ञजन्मनः ।
शून्यमप्रतिघं शान्तं तेष्वपि स्यात्किमन्यथा ॥ ११ ॥

'अन्यच्च ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम् । जायात्वेन समं काल्म् ।' इस प्रश्नका भी पूर्वोक्त युक्तिसे ही समाधान करना चाहिये, यों अतिदेश करते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे सकल ध्यान कर्ताओंका अपने अपने संकल्पानुसार चन्द्रत्व पृथक् पृथक् भासता है वैसे ही अपनी कल्पनासे सिद्ध यानी काल्पनिक स्त्रीलाभ भी पृथक् पृथक् भासता है ॥ ८ ॥

'साध्व्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा ।' इस प्रश्नांशमें भी यही समाधान है, ऐसा कहते हैं—'**या०**' इत्यादिसे ।

जो साध्वी स्त्री ध्यानमें लाखों ध्यानकर्ताओंकी स्त्री बनी उसकी काल्पनिक अनुभूति उनके अन्तःकरणोपहित साक्षीमें स्थित है ॥ ९ ॥

घरसे बाहर निकले बिना जीव सप्तद्वीपका पति कैसे हुआ ? इस प्रश्नका भी इससे समाधान हो चुका, ऐसा कहते हैं—'**गृहात्**' इत्यादिसे ।

जो घरसे बाहर न निकला हुआ जीव सप्तद्वीपेश्वर होकर स्थित है उसका भी अपने चिदाकाशमें वह कल्पनासिद्ध राज्य भासता है ॥ १० ॥

जब यह हम लोगोंका दृष्टिगोचर जगत् भी साराका सारा जन्मतः सर्वज्ञ ब्रह्मकी कल्पनामात्र, शून्य, निराकार और शान्त है तब उपासकों द्वारा कल्पित जगतोंमें क्या अन्यथा इससे विलक्षण सत्यता होगी जिससे वहां असमञ्जसता होगी, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

दानौर्ध्वदेहिकतपोजपादीनां परत्र यत् ।
अमूर्तानां फलं मूर्तं तदिदं कथ्यते शृणु ॥ १२ ॥
दानादिचिह्नितधियः परत्र स्वप्नवत्फलम् ।
पश्यन्त्यमूर्ता मूर्ताभमजं चिन्मूर्तिकल्पनात् ॥ १३ ॥
वेदनावेदनाकारा स्पन्दास्पन्दात्म वै पुनः ।
चिन्मात्रस्याऽस्य तद्भ्रान्तिशान्तौ शान्तात्म निर्मलम् ॥ १४ ॥
चिन्मात्राभमितो दानादमुत्राऽऽत्तमवाप्नुयात् ।
संकल्पात्मेति कवयः कथं तन्नोपलभ्यते ॥ १५ ॥
कल्पनात्मनि संसारे संकल्पोऽकृत्रिमः फलम् ।
चिन्मात्रमभितोऽदानाद्दानाद्वाऽस्तु यथोदितः ॥ १६ ॥

'दानधर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम् । इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रेत्याऽस्ति किं फलम् ॥' इस प्रश्नका अनुवाद कर समाधान करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—'दान०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, दान, अन्त्येष्टिकर्म, तप, जप आदि मूर्तिरहित कर्मोंका परलोकमें मूर्तिमान् फल कैसे होता है ? यह जो तुमने कहा उसका उत्तर यह कहा जाता है, सुनो ॥ १२ ॥

दान आदिसे अङ्कित बुद्धिवाले अमूर्त जीव परलोकमें स्वप्नके समान मूर्तिमान्से प्रतीत हो रहे अनुत्पन्न फलको, जिसकी मूर्तिके आकारकी कल्पना चित्से ही की जाती है, देखते हैं ॥ १३ ॥

हे राजन्, मन और ज्ञानेन्द्रियोंसे वेदना तथा अवेदनाकार भ्रान्ति होती है, उस भ्रान्तिकी विषय-प्राप्तिके लिये वह चिन्मात्र मन सहित कर्मेन्द्रियोंसे स्पन्द और अस्पन्दरूप होता है । किन्तु उस भ्रान्तिकी निवृत्ति होनेपर निर्मल शान्त चिद्रूप आत्मा ही शेष रहता है १४ ॥

इस लोकमें अनुष्ठित (किये गये) दानसे परलोकमें चित्प्रतिभासस्वरूप तत्-तत् फल प्राप्त होता है । उसको संकल्पस्वरूप जीव प्राप्त करता है, ऐसा विद्वान् जन कहते हैं फिर वह (फल) परलोकमें क्यों न मिले ॥ १५ ॥

इस कल्पनामय संसारमें अनुष्ठित दानसे पूर्वोक्त अकृत्रिम संकल्प ही परलोकमें चारों ओर चिन्मात्ररूप भोग, ऐश्वर्य आदि दान-फल हो अथवा अदानसे

एतत्ते कथितं सर्वं यथापृष्टं महीपते ।
जगदप्रतिघं सर्वमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ॥ १७ ॥

राजोवाच

सर्गादौ भगवन्देहमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ।
कथं भाति कथं कुड्यं विना दीपः प्रकाशते ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

त्वयाऽर्थो देहशब्दस्य यो बुद्धः स महामते ।
तत्त्वज्ञं प्रति नास्त्येव शिलानृत्तमिवाऽम्बरे ॥ १९ ॥

दरिद्रता आदि अदानका फल हो इसमें कोई विरोध नहीं है, यों सब असमञ्जसोंका परिहार हो गया, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

सब प्रश्नोंका स्वमुखसे अथवा अर्थतः समाधान कर जगत्का ब्रह्म ही तत्त्व है, यों उपसंहार करते हैं—'एतत्ते' इत्यादिसे ।

हे राजन्, जैसा तुमने मुझसे पूछा था उसके अनुसार यह सब मैंने तुमसे कहा । यह साराका सारा निराकार जगत् चिन्मात्रकी कल्पना ही है ॥१७॥

देहमें ही चित्की अभिव्यक्ति दिखाई देती है अनभिव्यक्त चित्में भ्रान्ति आदि नहीं दिखाई देते । सृष्टिके आदिमें भ्रान्तिकी यदि सिद्धि हो ले तो देहकी सिद्धि हो और देहसिद्धिसे भ्रान्तिकी सिद्धि हो यों अन्योन्याश्रय दोष समझ रहे प्रज्ञप्ति राजाने प्रश्न किया—'सर्गादौ' इत्यादिसे ।

राजा ने कहा—भगवन्, सृष्टिके आदिमें चिन्मात्र (देहशून्य चैतन्य) और उसके द्वारा की गई देह कल्पना कैसे भासती है । देहके बिना चित्की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती । क्या कहीं दीवारके बिना दीपप्रभा प्रकाशती है ॥ १८ ॥

जड़ शरीर चित्का अभिव्यञ्जक नहीं है, यह तत्त्वज्ञानीका पक्ष है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़की ही प्रसिद्धि नहीं है । ब्रह्म सर्वज्ञ होनेसे सदा ही अभिव्यक्त चैतन्यवाले देह आदि सबकी कल्पना करता है, इस अभिप्रायसे उत्तर देते हैं—'त्वया' इत्यादिसे ।

श्री वसिष्ठजीने कहा—हे महाबुद्धे, तुमने देह शब्दका जो अर्थ जाना है वह तत्त्वज्ञानीके प्रति वैसे ही असंभव है जैसे कि आकाशमें पत्थरोंका नाचना असंभव है ॥ १९ ॥

य एव ब्रह्मशब्दार्थो देहशब्दार्थ एव सः ।
नाऽर्थयोरनयोर्भेदो विद्यतेऽम्ब्वम्भसोरिव ॥ २० ॥
यदेव ब्रह्मदेहोऽसौ स्वप्नाभः स्वप्न एव तु ।
त्वद्बोधायोच्यते युक्तिर्न तु तत्स्वप्न एव तु ॥ २१ ॥
स्वप्नस्तवाऽनुभूतार्थस्तेनाऽतस्त्वं प्रबोध्यसे ।
नतु सर्गे चिदाभाते सादृश्यं स्वप्नभस्मना ॥ २२ ॥
कस्तत्र नाम देहोऽयं कस्यैते स्वप्नधीः क्व वा ।
स्वप्नेन ज्ञावबुद्धेन भ्रमेणाऽज्ञोऽवबोध्यते ॥ २३ ॥
तत्र जाग्रन्न च स्वप्नो न सुषुप्तं न चेतरत् ।
किमपीत्थमिदं भानं खमात्रं मौनमोमलम् ॥ २४ ॥

जो ही ब्रह्मशब्दका अर्थ है वही देहशब्दका अर्थ है जैसे अम्बु और अम्भस् शब्दोंके अर्थका भेद नहीं है यानी दोनों शब्दोंका अर्थ एक 'जल' ही है वैसे ही ब्रह्म और देह शब्दोंके अर्थोंमें भी भेद नहीं है ॥ २० ॥

स्वप्नदेहके सदृश यह शरीर ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं है । शङ्का—स्वप्नमें भी यह न्याय समान है अतः स्वप्नदेह भी इस देहके समान ही ब्रह्मरूप ठहरा ऐसी दशामें 'स्वप्नाभ' यों भेदको सिद्धसा बनाकर दृष्टान्तोक्ति कैसी ? समाधान—स्वप्नका दृष्टान्त तुम्हारे समझनेके लिये दिया है वास्तवमें स्वप्नदेह भी ब्रह्म ही है ॥ २१ ॥

स्वप्नका मुझे समझानेमें कैसे उपयोग है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'स्वप्न'** इत्यादिसे ।

स्वप्नका अर्थ तुम्हें अनुभूत है, इसलिये स्वप्नके द्वारा तुम्हें समझाया जाता है । स्वप्नरूप भस्मके साथ (बाधित अर्थके साथ) चिद्रूपसे भासमान सृष्टिमें सादृश्य कदापि नहीं है ॥ २२ ॥

स्वप्नमें कौन यह देह है, किसके ये स्वाप्न पदार्थ हैं, अथवा कहां स्वप्न-बुद्धि है । ज्ञानी द्वारा अवबुद्ध भ्रमरूप स्वप्नसे अज्ञानीको बोध कराया जाता है ॥ २३ ॥

ब्रह्मपदवीमें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, सुषुप्ति है न और न अन्य कुछ है किन्तु मनवाणीसे अगोचर विराट्, विश्व तथा तैजस सबका प्रलय होनेपर

अभातमेव भातीव यदद्येत्थमिदं तु तत् ।
प्राग्विभातं तथाऽत्यच्छं जाग्रतत्स्वप्नादि नो यथा ॥ २५ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
तन्मयं सर्वमेवेदं द्वैतमद्वैतमेव च ॥ २६ ॥
अन्यत्र चिन्मयं स्वप्नं द्वैताद्वैतं शुभाशुभम् ।
निरावरणचिन्मात्रनभसैवोपमीयते ॥ २७ ॥
शून्यमर्थोपलम्भश्च भानं चाऽभानमेव च ।
द्वैतमैक्यमसत्सच्च सर्वं चिद्गगनं परम् ॥ २८ ॥
पूर्णात्पूर्णं प्रसरति पूर्णमेव स्थितं जगत् ।
न च भातं न चाऽऽभातं शिलाबद्धोदरोपमम् ॥ २९ ॥

अवशिष्ट यानी तुरीयरूप (सबके प्रलयका अधिष्ठान तुरीय) ओंकारलक्षण परमपुरुषार्थ स्वयंप्रकाश चिदाकाश ही इस तरह विश्वके रूपमें भासता है॥२४ ॥

जो यह विश्व आज इस प्रकार भासिकता-सा दृष्टिगोचर होता है वह नहीं भासता है । सच्चिदानन्दरूपसे पूर्वभासा हुआ भी वह स्वरूपतः वैसे ही (अभासा ही) है । जाग्रत्, स्वप्न आदि जैसे कदापि नहीं ही हैं अत्यन्त निर्मल ब्रह्म वैसा है ॥ २५ ॥

जैसे संवित्‌की एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें प्राप्ति होनेपर मध्यमें (दो प्रदेशोंके अन्तरालमें) संवित् का स्वरूप निर्विषय रहता है वैसे ही द्वैत, अद्वैत आदि यह सब कुछ निर्विषय चिन्मात्रमय है ॥ २६ ॥

अज्ञानीकी दृष्टिसे अन्यत्र यानी ज्ञानीकी दृष्टिमें चिन्मय स्वप्न, द्वैत, अद्वैत, शुभ, अशुभ आदि सब कुछकी आवरण शून्य चिन्मात्रसे तुलना की जा सकती है ॥ २७ ॥

शून्य, पदार्थोंकी उपलब्धि, भान (सृष्टि), अभान (प्रलय), द्वैत, अद्वैत, असत् और सत् सब कुछ परम चिदाकाश ही है ॥ २८ ॥

पूर्ण परमब्रह्म परमात्मासे पूर्ण जगत्‌का आविर्भाव होता है । पूर्ण ही यह स्थित है न तो इसका भान हुआ है और न अभान हुआ है, किन्तु स्फटिक शिलाके घनीभूत मध्यके समान यह चिन्मात्रघन है ॥ २९ ॥

यतो जगच्चिदुन्मेषो व्योमात्माऽप्रतिघं ततः ।
चिन्मात्रं यत्र यत्राऽस्ति तत्र तत्रोचितं जगत् ॥ ३० ॥
चिद्व्योम चाऽस्ति सर्वत्र सर्वं चैतज्जगन्मयम् ।
सर्वं ब्रह्ममयं शान्तं जगदित्यपि शब्दितम् ॥ ३१ ॥
यथास्थितमिदं विश्वं तथासंस्थमनामयम् ।
ब्रह्मैव निरवद्यात्म चित्संकल्पपुराकृति ॥ ३२ ॥
असंभवादन्ययुक्तेर्युक्तिरेषैव शोभना ।
अयुक्त्यनुभवं तूक्तं नाऽर्थिनामिह शोभते ॥ ३३ ॥
लोके शास्त्रेऽथ वेदादौ यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
सदस्त्वसद्वाऽऽत्मनि तद्वातुं शक्यं न वा क्वचित् ॥ ३४ ॥
तदेवेत्थं परिज्ञातं ब्रह्मतामुपगच्छति ।
यदा तेन समं विश्वं स्थितमेव विलीयते ॥ ३५ ॥

चूँकि यह जगत् चित्का उन्मेषमात्र (स्फुरणमात्र) है, इसलिए निराकार चिदाकाशमात्र ही है । ऐसी परिस्थितिमें जहाँ जहाँ चिन्मात्र है वहाँ वहाँ जगत्का रहना उचित ही है ॥ ३० ॥

और चिदाकाश सर्वत्र है—सर्वव्यापक है । सब जगन्मय यह है इसलिए 'जगत्' शब्दसे कथित होनेपर भी यह सब शान्त ब्रह्म ही है ॥ ३१ ॥

चिदाकाशके संकल्पनगराकार यथास्थित विश्व (सारा जगत्) तथोक्त निर्विकार निर्दोष निर्मल ब्रह्म ही है ॥ ३२ ॥

इस विषयमें अन्य युक्तिका संभव न होनेसे यही युक्ति सुन्दर है । यहाँ युक्ति तथा स्वानुभवके बिना पुरुषार्थ चाहनेवाले श्रोताओंके सम्मुख उपदेश शोभा नहीं देता ॥ ३३ ॥

हे राजन्, लोक, शास्त्र, वेद आदिमें जो वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभवसे सिद्ध है वह सिद्ध ही है उसका त्याग करना उचित नहीं है । ऐसी परिस्थितिमें सद्रूपसे वेद आदिमें सिद्ध ब्रह्मका सद्रूपसे ही स्वीकार करना चाहिये तथा वेदादिमें असद्रूपसे सिद्ध द्वैतका असत्‌रूपसे स्वीकार करना चाहिये, यह अर्थ है ॥ ३४ ॥

जब चरमसाक्षात्कार वृत्तिरूप ज्ञानसे साराका सारा विश्व यथा स्थित ही

न्यायेनैतदिहोक्तेन लोकवेदादि सिद्ध्यति ।
सर्वं सजीवन्मुक्तत्वमेष एवोचितस्ततः ॥ ३६ ॥
परिज्ञातं चिदाकाशमपरिज्ञातपादपे ।
सोऽहं त्रिजगदित्येव बन्धमोक्षविनिर्णयः ॥ ३७ ॥
यथास्थितमिदं दृश्यं परिज्ञानाद्विलीयते ।
तज्ज्ञस्याऽस्तंगतस्यैव शिलामौनं तु शिष्यते ॥ ३८ ॥
लोके शास्त्रे च वेदे च यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
संवेद्यते तदेवाऽतस्तदेवं फलति स्फुटम् ॥ ३९ ॥

विलीन हो जाता है तब पहले ब्रह्मभिन्नरूपसे परिज्ञात विश्व ही इस प्रकारसे (ब्रह्मरूपसे) परिज्ञात होकर ब्रह्मताको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

'त्वयाऽर्थो देहशब्दस्य' से लेकर यहाँ तक मेरे द्वारा प्रतिपादित न्यायसे जीवन्मुक्ति सहित लोक, वेद आदि सारा जगत् ब्रह्म ही सिद्ध होता है, इसलिए यह मेरे द्वरा प्रतिपादित न्याय परमपुरुषार्थका साधन होनेसे ग्रहण करने योग्य है ॥ ३६ ॥

इस केवल अपरिज्ञात आत्मरूप संसारवृक्षमें (संसाररूपी पीपलके पेड़में) परिज्ञात चिदाकाश ही है उससे अणुमात्र भी भिन्न नहीं है। वह परिज्ञात चिदाकाशरूप मैं ही क्रमशः त्रिजगत्‌रूप बन्धन और मोक्ष हूँ यह निर्णय है। यानी अपरिज्ञात चिदाकाश ही त्रिलोकीरूप बन्धन है और परिज्ञात चिदाकाश ही मोक्ष है ॥ ३७ ॥

यदि कोई कहे कि चिदाकाश-परिज्ञातमात्र मोक्ष कैसे है ? तो इसपर कहते हैं—**'यथास्थितम्'** इत्यादिसे ।

परिज्ञानसे यथास्थित यह दृश्य पानीमें डाले हुए नमकके ढेलेकी तरह विलीन हो जाता है। दृश्यरूपसे अस्तको प्राप्त हुए ज्ञानीका शिलाकी तरह मौन यानी वाणी आदिसे अगम्य दृङ्मात्र स्वरूप शेष रह जाता है ॥ ३८ ॥

लोकमें (जीवन्मुक्त पुरुषमें), शास्त्रमें और वेद आदिमें जो वस्तु सिद्ध है वह सिद्ध ही है सैकड़ों विचारोंसे परिनिष्ठित (निश्चित) है वही वस्तु स्वानुभवसे जानी जाती है। अतः वह परम पुरुषार्थरूपसे फल देती है ॥ ३९ ॥

सकलार्थनिरासेन यद्यत्संवेद्यते चिरम् ।
तदेव प्राप्यतेऽवश्यं सर्वत्रैवाऽन्यभावितम् ॥ ४० ॥
यथाऽनुभूतं यत्तत्तथा नामाऽनुभूयते ।
तत्सत्यमस्त्वसत्यं वा यावल्लाभं तथा नु तत् ॥ ४१ ॥
इत्थं महाप्रश्नविचारणं ते
मयेदमुक्तं मतिमन्महात्मन् ।
अनेन गच्छाऽऽशु पथा निराधि-
र्निरामयो निर्व्यसनो भवोच्चैः ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० द्वैतकोपलम्भनिरासेन महाप्रश्नोत्तर-
वाक्यसमाप्तिर्नाम दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१० ॥

उसकी प्राप्ति होनेपर अन्य अर्थके परित्यागमात्रसे एकमात्र तन्निष्ठ होना ही उपाय है उससे अवश्य ही उसकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'**सकलार्थ०**' इत्यादिसे ।

सकल वस्तुओंके निरास द्वारा जिस जिस वस्तुका चिरकाल तक ध्यान किया जाता है उसकी अवश्य ही प्राप्ति होती है । लौकिक कार्योंमें भी अन्य-भावित वस्तु वैसे ही अवश्य प्राप्त होती है ॥ ४० ॥

लौकिक कार्य असत्य है लेकिन मोक्ष सत्य है—इन दोनोंमें यह अवान्तर भेद भले ही हो किन्तु साधनके उद्योग और उनके फलका अनुभव दोनोंमें समान है उनमें कोई अन्तर नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जो वस्तु जैसे अनुभवमें आती है उसकी प्रतीति भी वैसे ही होती है वह सत्य हो चाहे असत्य हो जब तक उसकी उपलब्धि रहती है तबतक ज्यों-की त्यों रहती है ॥ ४१ ॥

हे मतिमन्, हे महात्मन् इस प्रकार मैंने तुम्हारे महाप्रश्नोंका विचार-फल-भूत निर्णयरूप यह समाधान कहा । तुम इस मार्गके पथिक बनो । इससे शीघ्र ही तुम मनमें शान्त, शरीरमें नीरोग और इन्द्रियोंमें निर्व्यसन होकर और अधिक सर्वश्रेष्ठ होओ ॥ ४२ ॥

एक सौ दस सर्ग समाप्त

एकादशाधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति तत्रोपविश्याऽहं पूजितस्तेन भूभुजा ।
प्रयोजनं स्वं संपाद्य स्वर्गन्तुं गगनं प्लुतः ॥ १ ॥
अद्यैतद्भवता प्रोक्तं मया मतिमतां वर ।
अनया सुदृशा शान्तमनाः खात्मा भविष्यसि ॥ २ ॥
ब्रह्मैव तदिदं सर्वं निर्नामैवाऽमलं नभः ।
किमप्येवाऽजमाशान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ३ ॥
चिद्भानमात्रमित्युक्तं ब्रह्मेति कलिताभिधम् ।
परात्परमिति प्रोक्तं तत्तु निर्नामकं पदम् ॥ ४ ॥

दो सौ ग्यारह सर्ग

[सिद्ध, साध्य आदिके विविध लोकोंके दर्शनोंके उपायके साथ सकल जगत् ब्रह्म ही है, यह पुनः वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, उस राजाके द्वारा पूजे गये मैंने वहाँ कुशद्वीपकी इलावती नगरीमें बैठकर राजा प्रज्ञप्तिपर अनुग्रह करनेका अपना प्रयोजन सिद्ध कर स्वर्गमें जानेके लिए आकाशमार्गका अवलम्बन किया ॥ १ ॥

हे मतिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, आज यहाँ अयोध्या नगरीमें विद्यमान हो रहे मैंने आपसे यह कहा । यह सुन्दर दृष्टि रखनेसे शान्तमन होकर आप चिदाकाश हो जाओगे ॥ २ ॥

कारण वाणीका अगम्य, अज, परमशान्त, आदि, मध्य और अन्तसे शून्य है, इसलिए यह सब कुछ निःशब्द ब्रह्माकाश ही है ॥ ३ ॥

जो चित्स्फुरणरूप कहा गया है, जो 'ब्रह्म' यों कल्पित नामवाला कहा गया है, परात्पर कहा गया है, वह निर्नाम (शब्दकी पहुँचसे परे) पद है ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
ब्रह्मन्कथय दृश्यन्ते लोका लोकधराः कथम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
अन्येषामपि भूतानामपूर्वाणां महात्मनाम् ॥ ६ ॥
प्रतिरात्रं प्रतिदिनं पुरः पश्चादुपर्यधः ।
पश्यस्यालोकयँल्लोकानपश्यंश्च न पश्यसि ॥ ७ ॥
एते लोकाः किलैतेषां नाऽभ्यासः स्थानदूरगाः ।
एते संकल्पलोकाख्या व्याप्तमेभिः किलाऽखिलम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओंके लोक और उनके निवासी लोग कैसे दिखाई देते हैं, यह मुझको बतलानेकी कृपा कीजिये ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अन्यान्य अपूर्व अपूर्व महामहिम प्राणियोंके लोकोंको प्रत्येक रातमें, प्रत्येक दिनमें, सामने, पीछे, ऊपर और नीचे चूड़ालाके उपाख्यानमें कही गई धारणाओंसे देखनेसे आप देखते हैं और उक्त रीतिसे न देखनेपर नहीं देखते हैं ॥ ६,७ ॥

सिद्धोंके लोक दो प्रकारके हैं एक तो हैं ये महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक और सत्यलोक नामधारी, ये बहुत दूर हैं और दूसरे हैं सर्वत्र संचार करनेवाले सिद्धोंके संकल्पसे* बने हुए। वे संकल्पलोक कहलाते हैं और वे सर्वत्र हैं इनसे सारा विश्व व्याप्त है। उन दोनों प्रकारके सिद्ध लोकोंके दर्शनमें धारणाभ्यास ही कारण है और वह धारणाभ्यास आपको प्राप्त नहीं है ॥ ८ ॥

* 'यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते'—अर्थात् वह यदि पितृलोककी कामना करता है तो केवलमात्र कल्पनासे ही उसके पितर लोग उपस्थित हो जाते हैं उस पितृलोक से वह सम्पन्न होकर पूजा जाता है ऐसी श्रुति है।

यथैते कल्पनालोका अयं लोकस्तथैव नः ।
यथा काल्पनिको वातो लोका लोकास्तथैव ते ॥ ९ ॥
संकल्पस्वप्नलोका ये तव भान्ति दिवानिशम् ।
त एव तादृशाश्चाऽन्ये संकल्पेन स्थिरीकृताः ॥ १० ॥
ध्यानेन त्वमपीतांश्चेत्स्थिरतां सुस्थिरात्मना ।
नयस्याशु तदेवैते स्थिरतां यान्त्यविघ्नतः ॥ ११ ॥
यथाभिमतविस्तारा यथाभिमतसंपदः ।
संकल्पभाववलितो जनः पश्यति सिद्धवत् ॥ १२ ॥
किंतु ते स्थिरतां नीताः सिद्धैः स्वयानसंपदा ।
अस्थिरैर्ध्यानविश्रान्तौ तैर्दुःखैस्तदमी कृताः ॥ १३ ॥

तो क्या मुझे उनके दर्शनके लिए धारणाभ्यास करना चाहिये ? इस प्रश्नपर नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे लोक निस्सार हैं यों दर्शाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे ही सिद्धोंके ये काल्पनिक लोक हैं वैसे ही हमारा यह लोक भी केवल कल्पनामात्र सिद्ध है जैसे काल्पनिक भी वायु सब जगह घूमती है—डोलती है—वैसे ही वे घूमते हैं—भ्रमण करते हैं—हमारे लोकमें केवल इतनी विशेषता है यह वैसा नहीं है। आपको रात दिन जो स्वप्नलोक, संकल्पलोक प्रतीत होते हैं वे ही सिद्धलोकके रूपसे प्रसिद्ध हैं। वैसे ही और और भी लोकोंकी रचना कर अपने संकल्पसे उनको उन्होंने स्थिर किया है ॥ १० ॥

इसी प्रकार आप भी यदि योगधारणासे स्थिरीकृत ध्यानसे संकल्पवश प्राप्त हुए लोकोंको स्थिर बनावो तो ये भी शीघ्र बिना किसी विघ्न-बाधासे स्थिर बन जायंगे ॥ ११ ॥

जैसा चाहे उनका विस्तार हो जाता है और जैसी चाहे वैसी उनमें सम्पत्तियां हो जाती हैं। यदि पुरुष दृढ़तम संकल्पसे यानी अन्य ध्यानकर्तासे बढ़े चढ़े संकल्पसे वेष्टित रहता है तो वह सिद्धोंके समान ही उन्हें स्थिर देखता है ॥ १२ ॥

उन सिद्ध लोगोंने जिन पूर्वजन्मकी धर्मसम्पत्तियोंसे लोग स्वर्गमें जाते हैं उन साधनसम्पत्तियोंसे उन लोकोंको चिरस्थायी बनाया है यों

जगदप्रतिघं सर्वं शान्तचित्व्योम सर्वदा ।
यथा दृढं संविदितं तथैवाऽऽभाति नाऽन्यथा ॥ १४ ॥
न भात्येवाऽसंविदितमस्ति नास्ति न चोद्यता ।
शून्यं ह्यप्रतिघं चैतत्पराकाशमरोधकम् ॥ १५ ॥
चित्स्वभावतया भातं भारूपमिव दृश्यते ।
अस्मिंश्चिदभिमानश्च विद्यते न स्वभावतः ॥ १६ ॥
कार्यकारणभावाच्चेत्कथैवाऽत्र न विद्यते ।
व्योम्नोऽनन्तस्य सिद्धस्य किं कथं किल जायते ॥ १७ ॥
यच्च जातमिवाऽऽभाति व्योम्नि व्योमैव तत्तथा ।
तत्रैकद्वित्वकलना कीदृशी स्यादरूपिणी ॥ १८ ॥

उनके वे लोक अनायास सिद्ध हैं, किन्तु जिन अन्य लोगोंने अनित्य आधुनिक धारणाभ्यासोंसे ध्यानविश्रामके विषयमें प्रयत्न किया है वे बड़े क्लेशसे इन लोकोंको स्थिर कर पावेंगे ॥ १३ ॥

सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार संशान्त चिदाकाश ही है जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया उसकी दृष्टिसे वैसा ही स्फुरित होता है, उससे अन्यथा नहीं होता ॥ १४ ॥

अनिश्चित यह जगत् नहीं ही भासता अनिश्चित जगत् में 'है' या 'नहीं है' इस प्रकारका तर्क ही नहीं उठता । अतएव शून्य, निराकार तथा निरोध न करनेवाला यह जगत् परमाकाश ही है ॥ १५ ॥

जो वस्तु दृढ़ निश्चयसे भासती है वह चित्स्वभाव होनेसे भारूप-सी भासमान दिखाई देती है । किन्तु असंविदित इस विश्वमें स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्तिकी व्याप्ति नहीं है, इसलिए यह शून्य और निराकार है ॥ १६ ॥

कार्यकारणके बलसे ही उसकी दूसरी सत्ता होगी, ऐसा तो कदापि संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे ।

कार्यकारण भावसे इसकी अन्य सत्ता होगी ऐसा यदि कहो तो उसकी तो यहाँ कथा ही क्या है ? सृष्टिके आदिमें प्रलयको प्राप्त हुए आकाशसे अनन्त विश्वकी उत्पत्ति क्या और कैसे संभव है ? ॥ १७ ॥

आकाशमें जो भूत, भुवन आदि वस्तु उत्पन्न हुई सी दिखाई देती है ।

तद्धि यादृशमेवाऽऽसीत्तादृगेवाऽवतिष्ठते ।
निर्विकारं यथा स्वप्ने व्योमैवाऽचलवद्भवेत् ॥ १९ ॥
संकल्पे चित्तमाकारं यथोदेत्यद्रिलीलया ।
न च सोऽद्रिर्न तद्व्योम तथा ब्रह्म जगत्स्थितिः ॥ २० ॥
काष्ठवन्मौनमास्थाय रटन्तोऽपि महाधियः ।
इह व्यवहरन्त्येते बुधा दारुनरा इव ॥ २१ ॥
यथा वारिणि वर्तन्ते तरङ्गावर्तवृत्तयः ।
अनन्याः परिवर्तन्ते तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥ २२ ॥
यथा वायौ परिस्पन्दा यथा व्योमनि शून्यता ।
अनन्याश्चाऽप्यमूर्ताश्च तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥ २३ ॥

वह आकाशमें आकाश ही उस प्रकार (उत्पन्न हुआ-सा) जँचता है । इसलिए उसमें एकत्व-द्वित्वकी कल्पना भी दुर्लभ है कार्यकारणभाव तो बहुत दूरकी बात रही, यह भाव है ॥ १८ ॥

वह (ब्रह्म) जैसा ही था ठीक वैसा ही रहता है उसमें किसी प्रकार-का विकार नहीं आता जैसे स्वप्नमें चिदाकाश अपने स्वरूपसे प्रच्युत हुए बिना स्वप्नपदार्थका विवर्ताधिष्ठान है वैसे ही चिदाकाश अपने स्वरूपसे प्रच्युत या विकृत हुए बिना ही विवर्ताधिष्ठान ही है न तो कारण है और न विकारी है ॥१९॥

सङ्कल्पमें चित्त जैसे आकारकी कल्पना कर पर्वतलीलासे उदित होता है, वास्तवमें न वह पर्वत है और न वह आकाश है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत्की स्थिति है ॥ २० ॥

अतएव अपनी दृष्टिसे व्यापारशून्य भी जीवन्मुक्त पुरुष व्यवहारमें तत्परसे प्रतीत होते हैं वास्तवमें वे व्यवहार परायण नहीं रहते ऐसा कहते हैं—**'काष्ठवत्'** इत्यादिसे ।

काष्ठके समान मौन धारण कर रटते हुए भी ये महामति जीवन्मुक्त पुरुष कठपुतलीकी तरह व्यवहार करते हुएसे प्रतीत होते हैं ॥ २१ ॥

जैसे जलमें जलसे अनन्य (अभिन्न) भी तरङ्ग, आवर्त आदि वृत्तियां रहती हैं वैसे ही ब्रह्ममें अनन्य (ब्रह्माभिन्न) सृष्टियां स्थित हैं ॥ २२ ॥

जैसे वायुमें अनन्य (वायुसे अभिन्न) तथा अमूर्त स्पन्दन रहता है

यथा संकल्पनगरं शून्यमेव पुरः स्थितम् ।
साकारमप्यनाकारं ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ २४ ॥
चिरानुभूतमप्यर्थकार्यपीदं जगत्त्रयम् ।
शून्यमेव निराकारं संकल्पनगरं यथा ॥ २५ ॥
यदेव चित्तसंकल्पस्तदेव नगरं यथा ।
तदा तथाऽयं ब्रह्माच्छं तदेव जगदुच्यते ॥ २६ ॥
चिरं नित्यानुभूतोऽपि जगदर्थो न किंचन ।
म्रियते पुरुषस्येह स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ २७ ॥
स्वप्ने पुंसा मृतेनाऽपि स्वदाहो दृश्यते यथा ।
असदेव सदाभासं जगद्दृष्टं परे तथा ॥ २८ ॥

और जैसे आकाशमें अनन्य तथा अमूर्त शून्यता है वैसे ही ब्रह्मसे अनन्य तथा अमूर्त सृष्टियां हैं ॥ २३ ॥

जैसे संकल्पनगर निराकार होते भी सामने स्थित होता है । साकार होनेपर भी निराकार ही है वैसे ही ब्रह्ममें स्थित यह जगत् भी निराकार होने-पर भी सामने साकार सा खड़ा है यों साकार होनेपर भी वास्तवमें निराकार ही है ॥ २४ ॥

यह त्रिजगत भले ही चिरकालसे अनुभूत हो और भले ही अर्थक्रियाकारी भी हो तो भी यह स्वप्ननगरके समान निराकार तथा शून्य है ॥ २५ ॥

जैसे संकल्पनगरके व्यवहारकालमें जो ही चित्तका संकल्प है वही संकल्पनगर है वैसे ही जो यह निर्मल ब्रह्म है वही यह दृश्यमान संसार है और वही जगत् कहा जाता है ॥ २६ ॥

चिरकालसे नित्य अनुभूत भी यह जगत्‌रूपी पदार्थ वैसे ही कुछ भी नहीं है जैसे कि पुरुषका स्वप्नमें अपना मरना स्वयं चिर अनुभूत होनेपर भी कुछ नहीं ही है ॥ २७ ॥

जैसे स्वप्नमें मरे हुए पुरुषको अपना दाह-संस्कार भी असत् ही दिखाई देता है वैसे ही परब्रह्ममें दिखाई दिया जगत् सत्‌के समान भासमान होनेपर भी असत् ही है ॥ २८ ॥

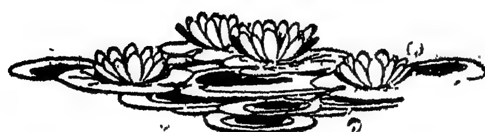
जगत्ता चाऽजगत्ता च परस्यैवाऽमलं वपुः ।
पराभिधानं च परं न सत्परमार्थतः ॥ २९ ॥
इत्थमस्तु यदि वाऽन्यथाऽस्तु वा
मैव भूद्भवतु कोऽत्र संभ्रमः ।
मुञ्च फल्गुनि फले फलग्रहं
बुद्धवानसि कृतं परिश्रमैः ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० परमार्थोपदेशो नामैकादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २११ ॥

जगत्ता और अजगत्ता परब्रह्मके ही निर्मल शरीर हैं जो अन्य रज्जु आदि वस्तु सर्प आदि नामवाली नहीं हो सकती है वह परमार्थरूपसे सत् नहीं है ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्ध लोकोंके भोग आदिका फल मेरे द्वारा वर्णित रीतिसे ही कल्पनामात्र हो अथवा अन्य मुनियों द्वारा वर्णित प्रकारसे अन्य प्रकारका ही हो अथवा नहीं ही हो तथापि जीवन्मुक्तिको प्राप्त हुए आपका उनके विषयमें कौन आदर है। सिद्धि आदिरूप तुच्छ फलमें आप पुरुषार्थबुद्धिका त्याग कीजिए। क्योंकि आपको ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान हो चुका है। अतः आपको केवलमात्र मायारूपवाले सिद्ध-लोकोंके वैभवको जाननेके लिए वृथा परिश्रम नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

दो सौ ग्यारह सर्ग समाप्त



द्वादशाधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्त्वाद्ब्रह्म स्वमेवाऽहमिति वेत्तीव यत्स्वयम् ।
तदेव परमेष्ठित्वं तस्योदरमिदं जगत् ॥ १ ॥
एवं स्थिते न च ब्रह्मा न च जातं जगत्स्थितम् ।
स्थितं यथास्थितमजं परं ब्रह्मैव पूर्ववत् ॥ २ ॥
संवित्तौ तु जगद्रूपं भासतेऽप्येवमेव तत् ।
मृगतृष्णेव मिथ्यैव दृश्यमानमपि त्वसत् ॥ ३ ॥

दो सौ बारह सर्ग

[ब्रह्मकी अहंभाव कल्पना हिरण्यगर्भ है उसका संकल्पमय यह त्रिजगत् है, इसलिए यह ब्रह्म ही है, यह वर्णन]

ब्रह्ममें पहले समष्टि-अहङ्काररूप हिरण्यगर्भकी-सी कल्पना हुई, तदनन्तर उसके उदरमें व्यष्टिजीव जगत्की कल्पना हुई, इसलिए समस्त जगत् ब्रह्मविवर्तमात्र ही है । यह आपातदर्शनसे (स्थूल दृष्टिसे) सिद्ध है किन्तु परमार्थ दृष्टिसे न हिरण्यगर्भ है, न जीव है अथवा न जगत् ही है केवल नित्य निर्मल सच्चिदानन्दैकरस पूर्ण ब्रह्म ही स्थित है, यों सकलवेदान्तोंके निर्गलित (निचोड़-रूप) अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए प्रस्तुत होते हैं—**'चित्त्वात्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माकाश चित् होनेसे स्वयं ही पहले मैं अहङ्कारसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ यों अपनेको जानता-सा है उसका वैसा स्फुरणरूप वेदन ही परमेष्ठिरूपता यानी हिरण्यगर्भता है । उस हिरण्यगर्भका संकल्प यह त्रिजगत् है ॥ १ ॥

केवल मायाके इतनेसे अपराधसे ब्रह्म अब्रह्म नहीं हो सकता अतएव हिरण्यगर्भ आदि कुछ भी अन्य नहीं ही था, ऐसा कहते हैं—**'स्थितम्'** इत्यादिसे ।

ऐसी परिस्थितिमें न तो ब्रह्मा उत्पन्न हुआ और न यह दृष्टिका विषय जगत् ही उत्पन्न हुआ, अज परम ब्रह्म ही पूर्ववत् ज्योंका त्यों स्थित है ॥ २ ॥

यदि हिरण्यगर्भ आदि कुछ भी नहीं था, तो वह संवित्में कैसे

अतःप्रभृति शून्येयं भ्रान्तिरभ्युदिता न वा।
कुतः केव किल भ्रान्तिर्ब्रह्मैव तदनामयम् ॥ ४ ॥
जगद्ब्रह्मजलावर्तौ द्वित्वैकत्वे किलाऽत्र के।
क्वाऽऽवर्तपयसोर्द्वित्वं द्वित्वाभावात्क चैकता ॥ ५ ॥
तद्ब्रह्म घनमाशान्तं चित्त्वाच्चेतत्यहं विदत्।
निजं शून्यत्वमन्तस्थं व्योमेव विततान्तरम् ॥ ६ ॥
पवनः स्पन्दनमिव हुताशन इवोष्णताम्।
स्वशैत्यमिव पूर्णेन्दुः सत्तामर्थ इवाऽऽत्मनः ॥ ७ ॥

स्फुरित होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'संवित्तौ' इत्यादिसे।

संवित्में जो जगद्रूप भासता है वह प्रातिभासिक ही सत् है उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है वह मृगतृष्णाके समान मिथ्या ही है दिखाई देनेपर भी असत् ही है ॥ ३ ॥

सृष्टिकालसे लेकर शून्य यह भ्रान्ति उदित हुई है अथवा वह भी उदित नहीं हुई है। भ्रान्ति कहाँसे है और क्या है वह जगत् निर्विकार ब्रह्म ही है ॥ ४ ॥

भले ही जगत् अनिर्वचनीय ब्रह्मधर्म हो तथापि कोई क्षति नहीं है, यह कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे।

जगत् ब्रह्मरूपी जलका आवर्त है। इसमें एकत्व और द्वित्व कौन ? क्या कहीं आवर्त और जलमें द्वित्व (भेद) है ? और जब द्विताका अभाव है तब एकता कहां ? क्योंकि एकता द्वित्वकी अपेक्षा करती है ॥ ५ ॥

अखण्ड परमशान्त वह ब्रह्म चित् होनेके कारण (परस्फुरणस्वभाववश) 'अहम्' यों अहङ्कारसमष्टिरूपताको (हिरण्यगर्भताको) जानता हुआ वैसे ही अपनेको अर्थसा चेतता है जैसे कि वितत (विस्तृत) आकाश अपने अन्दर स्थित अपनी शून्यताको जानता है ॥ ६ ॥

जैसे पवन अपने अन्दर स्थित अपने स्पन्दनको जानता है, जैसे अग्नि अन्दर स्थित अपनी उष्णताको जानती है और जैसे पूर्णेन्दु अन्दर स्थित अपनी शीतताको जानता है वैसे ही ब्रह्म अपनी सत्ताको अर्थसा जानता है ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच

एतद्ब्रह्मन्कदा नाम तन्न चेतितवन्मुने ।
निरावृतमनाद्यन्तं किमिदानीं प्रचेतति ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमेतत्सदैवैतदहमाद्यपि चेतति ।
नह्यनादेरजस्याऽस्य काऽप्यपेक्षा स्वसंविदा ॥ ९ ॥
सर्गासर्गनभोरूपं ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा ।
न कदाचिदिदं नेदं ज्ञातं नेदं च किंचन ॥ १० ॥

यदि आप स्वरूपचैतन्य ही अर्थके समान स्फुरित होता है यह कहते हैं, तो वह तो सदा ही है इसलिए इस समय—सृष्टिके आरम्भ कालसे—स्फुरित होता है यह क्यों कहते हैं, यों श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं—'एतद्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, इसने अहम् आदिका कब चेत नहीं किया, क्योंकि यह सदा ही आवरणरहित आदि-अन्त शून्य और नित्य है । यह इस समय यानी सृष्टिकालसे लेकर चेतता है, ऐसा आपने कैसे कहा ? ॥ ८ ॥

ठीक है, युक्तिदृष्टिसे ब्रह्म सदा ही 'अहम्' आदि तथा निज तत्त्वको चेतता है । तभी तो सृष्टि और असृष्टि-दोनों रूप दोनों ब्रह्मदृष्टियोंमें प्रमाण सिद्ध होते हैं । तथापि दोनों दृष्टियोंमें विषयकी सत्ता और असत्तासे उत्पन्न महान् अन्तर है, इसलिए प्रामाण्यमें वे तुल्य नहीं हैं इस आशयसे स्वीकार कर उत्तर देते हैं—'एवमेतत्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही इस स्वरूपस्फुरण तथा अहमादि अहङ्कार समष्टिको चेतता है, क्योंकि अनादि अजन्मा चिन्मात्रको स्वरूपचैतन्यसे (विद्या-से) स्वरूपस्फूर्तिमें और अविद्यासे अहम् आदिके स्फुरणमें दूसरेकी कोई अपेक्षा नहीं है ॥ ९ ॥

सर्ग और असर्ग आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र और सर्वदा है । अविद्या दृष्टिसे यह कदापि ज्ञात नहीं होता और विद्यादृष्टिसे यह कुछ नहीं है ॥ १० ॥

पवनस्पन्दनं चन्द्रशैत्यं शून्यत्वमम्बरम् ।
ब्रह्माहंत्वमनन्यात्म न कदाचिन्न चेतति ॥ ११ ॥
सर्वदैवेदृशी सत्ता न कदाचिदनीदृशी ।
जगद्यस्मादनाद्यन्तं ब्रह्मात्मैव निरामयम् ॥ १२ ॥
केवलं त्वमबुद्धत्वाच्छब्दश्रवणबोधितः ।
अद्वये ब्रह्मबोधेऽस्मिन्द्वितामभ्युपगच्छसि ॥ १३ ॥
न कश्चित्किंचिदेवेह न कदाचिन्न चेतति ।
न कश्चिच्च तदन्यात्मा न कदाचिच्च चेतति ॥ १४ ॥

तब विद्या-अविद्या-मिश्रदृष्टिमें ब्रह्म कैसा चेतता है ? इसपर कहते हैं—'पवन०' इत्यादिसे ।

जैसे पवन और स्पन्दन, चन्द्र और शैत्य, शून्यत्व तथा आकाश अनन्य स्वरूप (अभिन्नरूप) हैं वैसे ही ब्रह्म तथा अहङ्कार आदि जगत् अभिन्नरूप है अतः वह कब अपने स्वरूपको नहीं चेतता है ॥ ११ ॥

चूँकि जगत् निर्विकार आदि-अन्त शून्य ब्रह्मरूप ही है, इसलिए जगत्की सदा ही ऐसी ही सत्ता है कभी भी इससे विलक्षण सत्ता नहीं है, क्योंकि विपश्चित् उपाख्यानमें कही गई युक्तिके अनुसार सकल जीवोंके संसारके उच्छेदका अवसर प्रसिद्ध नहीं है ॥ १२ ॥

इस मिश्रदृष्टिको भी आप अपने बोधकी अनुवृत्ति तक ही शब्दश्रवण आदि व्यवहारकी सिद्धिके लिए स्वीकार करते हैं, तो स्वीकार कीजिये पर परमार्थरूपसे स्वीकार मत कीजिये, ऐसा कहते हैं—'केवलम्' इत्यादिसे ।

यद्यपि आपको यह अद्वितीय ब्रह्मबोध प्राप्त हो चुका है फिर भी अज्ञानको स्वीकार कर मेरे उपदेशशब्दश्रवणमें आसक्तचित्त हो आप मिश्रदृष्टिसे प्राप्त द्वैतको (सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्चरूपताको) स्वीकार करते हो तत्त्व दृष्टिसे कदापि नहीं करते। मिश्रदृष्टिमें तो ब्रह्म सर्वात्मक है, उसके अन्तर्गत कोई जीव जो कुछ चेतता है तो वह उस जीवसे अभिन्नरूप ब्रह्म ही चेतता है, यों उसके रूपसे सब कुछ चेतता है। किन्तु निर्विशेष ब्रह्मरूपसे कोई कुछ भी कभी नहीं चेतता है, क्योंकि उससे अन्यस्वरूपवाला कोई नहीं है अतः कदाचित् नहीं चेतता ॥ १३,१४ ॥

इदं त्रिभुवनाभासमसीदृशं भाति सर्वदा ।
शान्तं राम समं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन ॥ १५ ॥
न कदाचन जायन्ते नभसः पादपाद्रयः ।
ब्रह्मणश्च जगन्तीति मत्वा शान्तिं परां व्रज ॥ १६ ॥
उपदेश्योपदेशार्थं संदेहावसरेऽल्पधीः ।
यावन्न बुद्धस्तावत्त्वं भेदमभ्युपगच्छसि ॥ १७ ॥
बोध्यस्य तु विबुद्धस्य न शास्त्रादि न शब्दधीः ।
न भेदबुद्धिर्नो भेदः किमप्येष प्रजापतेः ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

बुद्धमेतन्मया ब्रह्मन्प्रकृतं तदुदाहर ।
वचो मदवबोधार्थं यदुदाहृतवानसि ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बद्धकी दृष्टिसे ब्रह्म सदा त्रिभुवनसा ही भासता है मुक्तकी दृष्टिसे यह सब शान्त ब्रह्म ही है उसके अतिरिक्त भेद तनिक भी है ॥ १५ ॥

जैसे आकाशसे वृक्ष, पर्वत आदि कदापि उत्पन्न नहीं होते वैसे ही ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न नहीं होते हैं यह निश्चय कर आप परम शान्तिको प्राप्त होइये ॥ १६ ॥

जबतक उपदेश श्रवणमें प्रवृत्ति है तभीतक मैंने मिश्रदृष्टिको स्वीकार किया है, ऐसा कहते हैं—'उपदेश्यो०' इत्यादिसे ।

यदि सन्देहके अवसरपर उपदेश्यके उपदेशके लिए अल्पमति बनकर जबतक आपको ज्ञानप्राप्ति न हो तबतक भेद मानते हो तो मानो इसमें कोई हानि नहीं है ॥ १७ ॥

प्रबुद्ध तत्त्व ज्ञानी होनेपर ब्रह्मरूप हुए आपके लिए न शास्त्र आदि हैं, न शब्दबुद्धि है तथा अहंकार और उसके संकल्प जगद्रूप प्रजापतिकी यह भेद बुद्धि तथा भेदाभाव बुद्धि भी आपको न होगी यानी सब कुछ भेदबुद्धि शान्त हो जायगी ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, 'एतद्ब्रह्मन कदा नाम' इत्यादि जो

किं तस्मिंश्चेतितेऽहंत्वे पदे संपद्यते परे ।
बुद्धवानसि शुश्रूषुर्नाऽहं तृप्तिमुपैमि हि ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

अहंत्वे सत्यथैतस्मिन्व्योमसत्ता प्रवर्तते ।
दिक्सत्ता कालसत्ता च भेदसत्ताऽभ्युदेति च ॥ २१ ॥
यदा किलेहाऽहमिति तदा नाऽत्राऽहमित्यपि ।
भातीत्युदेति नाना खे स्वात्मैव द्वैतमक्रमम् ॥ २२ ॥
व्योमात्मिकानामेतासां सत्तानामभिधानधीः ।
भविष्यत्युत्तरं कालं तदा त्वाकाशमेव तत् ॥ २३ ॥

मैंने आपसे प्रश्न किया था उसका हल मैं आपकी उक्तिसे पा चुका अब आप कृपा करके प्रस्तुत समष्टि अहंकार आदिके अध्यासका निरूपण कीजिये जिसका कि आपने मेरे बोधके लिए पहले प्रस्ताव किया था ॥ १९ ॥

उस परम पदमें अहङ्कारके चेतित होनेपर आगे क्या होता है ? आप सर्वज्ञ होनेके कारण सब कुछ जान चुके हैं और मैं आपके उपदेशके श्रवणमें लालायित हूँ, अतः मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ २० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस परमपदमें अहङ्कारका स्फुरण होनेपर उसमें आकाशका अध्यास होता है पुनः दिशाओंका अध्यास, कालका अध्यास तथा त्रिविध परिच्छेदका (देशकृत, कालकृत तथा वस्तुकृत परिच्छेदका) अध्यास होता है ॥ २१ ॥

अहङ्काराध्यास परिच्छेदाध्यासका कारण है, यह दर्शाते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब आत्माको देह आदिमें 'अहम्' का भान होता है, तब देहसे शून्य स्थलमें यहाँपर मैं नहीं हूँ, इसका भी अवश्य भान होता है । यह देशकृत परिच्छेद है । इसी रीतिसे स्वात्मा ही नाना प्रकारका परिच्छेद यानी कालकृत परिच्छेद और वस्तुकृत परिच्छेद बिना क्रमके द्वैतरूप होकर आकाशमें उदित होता है ॥ २२ ॥

तदुपरान्त परस्पर व्यावृत्ति करनेवाले जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्ति-

एतस्मिन्परिसंपन्ने दिक्कालकलनात्मनि ।
अहंभावे निराकारे व्योम तन्मात्रवेदिनि ॥ २४ ॥
इदमाभाति भारूपं वेदनं दृश्यनाम यत् ।
भूत्वा ब्रह्मैव निर्बाधमत्रैव विराजते ॥ २५ ॥
ब्रह्मैव शान्तमजमेकमनादिमध्यं
व्योमैव जीवकलनामिव भावयित्वा ।
व्योम्न्येव पश्यति निरावरणे विसारि
दृश्यं स्वरूपमपि चाऽन्यदिवाऽऽत्मवित्त्वात् ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० परमार्थनिरूपणं नाम द्वादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१२ ॥

निमित्तोंके भेदकी कल्पनासे उत्पन्न नामभेदाध्यास होता है ऐसा कहते हैं—'व्योमात्मिकानाम्' इत्यादिसे ।

तदनन्तर इन व्योमात्मक (चिदाकाशमय) पदार्थभेद-सत्ताओंके परस्पर भेदक जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्तिनिमित्तके भेदसे नामबुद्धि यानी वाचक शब्दोंका अध्यास होता है, पर वास्तवमें यह सब चिदाकाश ही है ॥ २३ ॥

इस प्रकार निराकार इस परम पदमें अहंभावसे देश, काल आदिकी कल्पनाओंके सिद्ध होनेपर यानी उस परम पदके देश, काल कल्पनारूप होनेपर जो यह दृश्य नामका प्रकाशरूप वेदन भासता है उसमें अहंभावसे जीव-साक्षि-चित्में आवरणके अभावसे सर्वत्र स्वाभाविक चित्की अभिव्यक्ति होनेसे तत्-तत् स्थानमें जगत्के आकारसे ब्रह्म ही अवाध्यरूपसे (संसाररूपसे) विराजमान होता है ॥ २४, २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीव और जगद्भावसे शून्य शान्त, जन्मरहित, एक, अविनाशी ब्रह्म ही जीव कल्पनाकी सी भावना कर (जीवभावका अध्यास कर) आवरणशून्य जीवसाक्षी चिदाकाशमें ही तबतक अत्यन्त विस्तृत दृश्यको देखता है जबतक कि आत्मज्ञान होनेसे तत्त्वज्ञानका उदय नहीं होता है ॥ २६ ॥

दो सौ बारह सर्ग समाप्त

त्रयोदशाधिकद्विशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यथा यत्पृष्टवानद्य त्वं मामरिनिषूदन ।
शिष्येणैव सता पूर्वमहं पृष्टो गुरुस्त्वया ॥ १ ॥
पुरा कल्पे हि कस्मिंश्चित्त्वमात्मादिकात्मिका ।
आसीदियं चित्प्रतिभा गुरुशिष्यात्मना वने ॥ २ ॥
गुरुस्तत्राऽहमभवं शिष्यस्त्वमभवस्तदा ।
पृष्टवान्मां त्वमग्रस्थ इदमुद्दामधीरधीः ॥ ३ ॥

दो सौ तेरह सर्ग

[गुरु और शिष्यकी कथासे श्रीरामचन्द्रजी तथा वसिष्ठजीके पूर्वजन्मके संवादका वर्णन]

विस्तारपूर्वक उपदेश देनेसे हथेलीमें रखे हुए आँवलेके समान साक्षात् कराये गये आत्मतत्त्वको—जन्मान्तरमें स्वयं उपदिष्ट आत्मतत्त्वका ही फिर मैंने तुम्हें उपदेश दिया है यों स्मरण दिलाकर—स्थूणानिखनन न्यायसे दृढ करनेकी इच्छा कर रहे श्रीवसिष्ठजी जगत्के उपकारके लिए सर्वशास्त्रार्थसंग्रहरूप गुरु-शिष्यकथाका शास्त्रके अन्तमें मङ्गलाचरणरूपसे उपदेश देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी, जो विषय (आत्मतत्त्व) आज आपने मुझसे पूछा है वही विषय अन्य रामावतारमें भी आपने मुझसे पूछा था। उस समय भी मैं गुरु ही था और आप शिष्यरूपसे ही स्थित थे ॥१॥

किसी पूर्वकल्पमें आप राम थे, मैं वसिष्ठ था, उस समय भी आपको वैराग्य हुआ था, अतः आप मेरे समीप वनमें आये थे तथा मुझसे प्रश्न किया था इत्यादिरूप यह चित्प्रतिभा गुरुशिष्यरूपसे आजकी तरह हुई थी ॥ २ ॥

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँपर भी मैं गुरु था और आप शिष्य थे। मेरे सामने बैठकर उदारबुद्धिवाले होते हुए भी अबुद्धिकी तरह आपने मुझसे यह पूछा था ॥ ३ ॥

शिष्य उवाच

सर्वस्य भगवञ्छिन्धि ममेमं मतिसंशयम् ।
किं नश्यति महाकल्पे किं वस्तु न विनश्यति ॥ ४ ॥

गुरुरुवाच

पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति ।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमीयुषः ॥ ५ ॥
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश ।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किंचिदवशिष्यते ॥ ६ ॥
नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमाऽपि परिणश्यति ।
स सर्वजगदाभासमुपलब्धुरसंभवात् ॥ ७ ॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम् ।
तेषामप्यतिकल्पान्ते नामाऽपीह न विद्यते ॥ ८ ॥

शिष्यने कहा—हे गुरुवर, सम्पूर्ण जगत्के विषयमें मेरा यह महान् सन्देह है, जिसको मैं आगे आपसे निवेदन करता हूं, इसे आप निवृत्त करनेकी कृपा कीजिये। वह यह कि महाकल्पमें कौन वस्तु नष्ट होती है और कौन नहीं ॥४॥

गुरुजीने कहा—हे पुत्र, जैसे स्वप्न-नगर सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुए आत्माका आत्ममात्र शेष होकर सम्पूर्णतया शीघ्र विनष्ट हो जाता है वैसे ही प्रलय कालमें यह सारा दृश्य चिन्मात्र शेष होकर सम्पूर्णतः विनष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

प्रलयकालमें समस्त पृथिवी, सब पर्वत, दसों दिशाएँ, क्रिया, काल और क्रम सब कुछ समान रूपसे नष्ट हो जाते हैं, कुछ भी शेष नहीं रहता है॥ ६॥

सब भूत नष्ट हो जाते हैं। सकल जगतोंके भानके साथ आकाशका भी अव्याकृतमें लय होनेसे नाश हो जाता है, क्योंकि भोग्यकी स्थिति भोक्ताकी स्थितिके अधीन है, प्रलय कालमें भोक्ताका ही सम्भव नहीं है ॥ ७ ॥

ब्रह्मा, विष्णु आदि ही उस समय भोग्यके भोक्ता रहेंगे ऐसी किसीको आशङ्का हो तो उसके निवारणके लिये कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि जो कारणोंके भी कारण हैं उनका महा-

शिष्यते हि चिदाकाशमव्ययस्याऽनुमीयते ।
तत्कालशेषताऽनेन सर्गानुभवहेतुना ॥ ९ ॥

शिष्य उवाच

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
इदं तत्कथमाभोगि विद्यमानं क्व गच्छति ॥ १० ॥

गुरुरुवाच

न विनश्यत एवेदं ततः पुत्र न विद्यते ।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥ ११ ॥

कल्पके अन्तमें तथा विज्ञानजन्य प्राकृतिक प्रलयमें नाम-निशान तक नहीं रहता, अतः वे भोग्य वस्तुके भोक्ता कैसे रहेंगे ? ॥ ८ ॥

जगत् आत्ममात्र शेष रहकर विनष्ट हो जाता है, ऐसा जो कहा, उसका उपपादन करते हैं—'शिष्यते' इत्यादिसे ।

अविनाशी चिद्वस्तुके विवर्तके विनष्ट होनेपर चिदाकाश ही अवशेष रहता है ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि अपनेमें अध्यस्त जगत्के अनुभवमें हेतुभूत चिदात्मासे ही सर्वप्रपञ्चशून्य अवशिष्ट प्रलयकाल सिद्ध होता है । यदि उसका भी प्रलयमें नाश मानो तो निःसाक्षिक प्रलय ही सिद्ध न होगा, यह अर्थ है ॥ ९ ॥

सत् जगत्का असत्तारूप अभाव (नाश) ही सिद्ध नहीं होता है, यों शिष्य शङ्का करता है—'नाऽसतः' इत्यादिसे ।

शिष्यने कहा—हे गुरुवर, असत् पदार्थकी सत्ता नहीं है और सत् पदार्थका अभाव नहीं है यह नियम है । ऐसी परिस्थितिमें यह विद्यमान (सत्) विशाल जगत् कैसे कहाँ चला जाता है ॥ १० ॥

श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति आदिसे जगत्का नाश सिद्ध है, अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है । इसलिए उक्त श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान आदिके बलसे आपातदर्शनसे (स्थूल दृष्टिसे) सत्य प्रतीतका ही अपलाप किया जाता है; यों कोई दोष नहीं है इस आशयसे गुरु समाधान करते हैं—'न' इत्यादिसे ।

वत्स, तुम्हारा कथन युक्तियुक्त नहीं है, यह जगत् अवश्य विनष्ट होता

यत्तु वस्तुत एवाऽस्ति न कदाचन किंचन ।
तदभावात्म तद्भावः कथं नाम विनश्यति ॥ १२ ॥
क्व स्थिरं मृगतृष्णाम्बु क्व स्थिरो द्वीन्दुविभ्रमः ।
क्व स्थिरा केशदृग्व्योम्नि क्व भ्रान्त्यनुभवः स्थिरः ॥ १३ ॥
सर्वं दृश्यमिदं पुत्र भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ।
स्वप्ने पुरमिवाऽऽभाति कथमेतन्न शाम्यति ॥ १४ ॥
शाम्यतीदमशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा ।
यथा जाग्रद्धियौ स्वप्नः स्वप्ने वा जागरो यथा ॥ १५ ॥

ही है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सावयव पदार्थोंके नाशकी प्रसिद्धि है इसलिए वह नहीं ही है अतः असत् इसका अस्तित्व नहीं है यह तुमने अनुकूल ही कहा है और सत्का तो अभाव होता नहीं है ॥ ११ ॥

जो वास्तव में है ही वह कभी भी कुछ अभावात्मक असत् नहीं है उसका सद्भाव (अस्तित्व) कैसे असत्ताको प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥

केवल आपातदर्शनसे जगत्की सत्ताका निश्चय कर लेना उचित नहीं है, क्योंकि शुक्तिमें रजत, मरुमरीचिमें जल आदि बहुतसे आपातदृष्ट पदार्थोंकी सत्ता नहीं दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं—'**क्व**' इत्यादिसे ।

मृगतृष्णाका (मरुमरीचिका) जल कहाँ स्थिर है यानी अर्थक्रियाकारी है (प्यास बुझानेमें समर्थ है), आकाशमें द्विचन्द्रकी भ्रान्ति कहाँ स्थिर रहती है यानी वास्तव है, आकाशमें केशोंके गोलोंका दर्शन कहाँ वास्तविक है, भ्रान्तिका अनुभव कहाँ स्थायी रहता है । हे पुत्र, यह सारा दृश्य केवल भ्रान्तिस्वरूप अतः असन्मय है स्वप्नमें दृष्ट नगरके समान इसका भान होता है अतः यह क्यों न विनष्ट होगा ? असत्के विनाशमें क्या आश्चर्य है ? ॥ १३,१४ ॥

इसको बाध्य सिद्ध करनेमें जाग्रत् और स्वप्नका परस्पर दृष्टान्तभाव प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'**शाम्यती०**' इत्यादिसे ।

यह सर्वात्मना पूर्णरूपसे वैसे ही विनष्ट होता है जैसे कि जाग्रत्में सदा और सर्वत्र स्वप्न विनष्ट हो जाता है अथवा जैसे स्वप्न कालमें जाग्रत् विनष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ।
शान्तं तथा जगद्दृश्यं न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ १६ ॥

शिष्य उवाच

किमिदं भाति भगवन्न विभाति च किं पुनः ।
कस्येदं वस्तुनो रूपं चिद्व्योम्नो विततांकृतेः ॥ १७ ॥

गुरुरुवाच

चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते ।
यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यन्न विद्यते ॥ १८ ॥
अस्यैतद्वस्तुनो रूपं चिद्व्योम्नो विततांकृतेः ।
रूपमत्यजदेवाऽच्छं यदित्थमवभासते । १९ ॥

दृश्य बाधित होकर कहाँ जाता है, कहाँ रहता है यह योगियोंको भी ज्ञात नहीं होता, इसलिये उसकी असत्ता ही शरण है, इस आशयसे कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे जाग्रत् कालमें बाधित होकर स्वप्ननगर न मालूम शीघ्र कहां चला जाता है वैसे ही ज्ञानसे बाधित हुआ जगद्रूप दृश्य न जाने शीघ्र कहां चला जाता है ॥ १६ ॥

शिष्यने कहा—भगवन्, यदि दृश्य नहीं ही है तो दृश्यके वेषसे कुछ काल तक परमार्थरूपसे वस्तु-सा यह कैसे प्रतीत होता है और वही फिर बोध होनेके बाद वैसा प्रतीत नहीं होता है सो किस कारण ? यह किस विस्तृत आकारवाले चिदाकाशरूप वस्तुका रूप है ? ॥ १७ ॥

गुरुने कहा—वत्स, जो यह जगत् प्रतीत होता है वह जैसे शुक्ति (सीप) अपनी चमक-दमकसे रजतकी (चाँदीकी) तरह स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाशका अतिशय स्फुरण ही है उससे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं है ॥ १८ ॥

यह जगत् विस्तृत आकारवाले इस चिदाकाशरूप वस्तुका रूप है, क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त दो रूप हैं) ऐसी भगवती श्रुति है । अपने निर्मल स्वरूपका त्याग न करता हुआ ही चिदाकाश इस प्रकार जगत्के रूपसे भासता है ॥ १९ ॥

कचनाकचनं सर्गत्वयात्मास्य निजं वपुः ।
व्योमात्म शुक्लकृष्णं स्याद्यथाऽवयविनो वपुः ॥ २० ॥
यथाऽयं त्वं मितोदान्तरेक एवाऽऽदितः कचैः ।
तथा ब्रह्मैवमच्छात्म सर्गे सर्गक्षयेऽक्षयम् ॥ २१ ॥
यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाऽक्षयाऽनिशम् ।
सर्गेऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चितिरव्ययम् ॥ २२ ॥
यथा स्वप्ने जगद्द्रष्टुः शान्तं शाम्यत्यशेषतः ।
तद्वदस्मज्जगदिदं शान्तं शाम्यत्यशेषतः ॥ २३ ॥
तदन्यत्राऽस्ति खे स्वाप्नं तथेत्यङ्ग न विद्महे ।
अशङ्क्यं परखे त्वेतदस्मच्चिद्व्योम्नि संभवात् ॥ २४ ॥

जैसे अवयवीका स्वरूप अवयवके भेदसे भिन्न-सा होता है वैसे ही स्फुरण और अस्फुरणरूप सृष्टि और प्रलय इनके आकाशलक्षण स्वरूप ही हैं ॥ २० ॥

जैसे स्वच्छ जलवाले नालाबके अन्दर प्रविष्ट हुए यह तुम बिम्ब-प्रतिबिम्ब भेदके क्षयमें एक ही हो नालाबमें प्रविष्ट होनेके पहले भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव आदि भेदोंके स्फुरणोंमें भी क्षय और उदय रहित एक ही थे वैसे ही ब्रह्म भी सृष्टि और सृष्टिक्षयमें अक्षय एक ही है ॥ २१ ॥

जैसे स्वप्न और सुषुप्तिमें सदा एक ही अक्षय निद्रा रहती है वैसे ही इस सृष्टिमें और प्रलयमें चित्स्वभाव अविकारी एक ब्रह्म ही है ॥ २२ ॥

जैसे स्वप्नद्रष्टाका स्वप्नमें प्रसिद्ध जगत जाग्रत और सुषुप्तिमें बाधित होकर सम्पूर्णतः शान्त हो जाता है वैसे ही यह हमारा जगत् भी ज्ञानबाधित होनेपर शान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

हे वत्स, बाधित हुआ अनादि शून्य नामक वह स्वप्नजगत् दूसरे स्थानमें वैसे ही रहता है यह बात बोधदृष्टिसे हम नहीं जानते । अन्य पुरुषोंके जीवाकाशमें वह रहेगा ऐसी आशङ्का तो कदापि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हमारे चिदाकाशमें ही हमारे वासनामय स्वाप्नजगत्का संभव है । उसे बाधित न भी मानें तो भी दूसरोंके चिदाकाशमें उसके गमनका संभव नहीं है, यह अर्थ है ॥ २४ ॥

यथेहाऽस्मच्चिदाकाशकचनं सर्गसंक्षये ।
तथाऽन्यत्संविदाकाशं नैवमित्यत्र का प्रमा ॥ २५ ॥

शिष्य उवाच

एवं चेत्तद्यथा स्वप्ने द्रष्टुरन्यः स दृश्यधीः ।
विद्यते तद्वदन्यत्र मन्येऽस्ति जगदादिधीः ॥ २६ ॥

गुरुरुवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ स्वरूपं तु न तज्जगत् ।
चिति भाति स्वरूपं तत्तद्वदेव न भाति च ॥ २७ ॥

यदि हमारे अनुभवसे सिद्ध सृष्टि प्रबोधसे बाधित होकर दूसरेके संविदाकाशमें प्रविष्ट हो तो दूसरोंको बोधसे शुद्ध चिदाकाशका स्फुरण नहीं ही होता है ऐसी कल्पना करनी होगी उसमें कल्पक कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे बोधसे सृष्टिका क्षय होनेपर हमारे संविदाकाशका स्फुरण होता है वैसे ही बोधसे दूसरेके संविदाकाशमें शुद्ध चिदाकाशका स्फुरण नहीं होता है इसमें क्या प्रमाण है ? ॥ २५ ॥

शिष्यने कहा—भगवन्, आपके कथनानुसार हमारी संविद्की विषय-भूत सृष्टिका यदि दूसरेकी संवित्में भान नहीं होता है तो जैसे स्वप्नद्रष्टासे अन्य यानी जाग्रत् पुरुष दृश्यकी बुद्धिसे युक्त (दृश्यधीसहित) रहता है वैसे ही प्रलय कालमें भी दूसरे पुरुषमें जगत् आदि बुद्धि (दृश्यबुद्धि) है यानी दूसरा पुरुष दृश्यधीसहित है, ऐसा मैं समझता हूं ॥ २६ ॥

गुरुने कहा—हे वत्स, हे महाबुद्धे, जो कहते हो वह ठीक है, इसीलिए प्रलयमें भी ऐन्दव जगतोंके सद्भावका दर्शन ब्रह्माको है, ऐसा पहले हम वर्णन कर आये हैं। यदि जगत् चित्का स्वरूप होता तो वह सर्वसाधारण होता किन्तु जगत् चित्का स्वरूप नहीं है अपितु चित्में अध्यस्त होकर वह द्रष्टाओंको भासता है अन्योंको वैसा ही नहीं भासता, इसलिए तत् तत् पुरुषोंके अनुसार उसका स्वरूप व्यवस्थित है ॥ २७ ॥

न भाति न च तत्किंचिन्न च तत्किंचिदेव सत् ।
तच्चिदाकाशकचनं के तत्र सदसद्दृशौ ॥ २८ ॥
विद्यते तद्धि सर्वत्र सर्वं सर्वेण सर्वदा ।
न विद्यते च तत्किंचित्सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥ २९ ॥
तत्सत्तत्सर्वदा सर्वमसच्चाऽसद्विवाऽखिलम् ।
तन्मयं तच्चिदाकाशं न नाशि न च नाशि तत् ॥ ३० ॥
यन्नाम सच्चिदाकाशं सर्गप्रलयरूपि तत् ।
तद्दुःखायाऽपरिज्ञातं परिज्ञातं परः शमः ॥ ३१ ॥
विद्यते सर्वथैवेदं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
न विद्यते सर्वथा च सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥ ३२ ॥

सबको एकसा प्रतीत नहीं होता है, इसलिए वह न तो तुच्छ है और न कुछ सत् ही है किन्तु तत् तत् जीवोंके चिदाकाशका स्फुरणमात्र ही है। उसमें सत् और असत् दृष्टियाँ कैसी ? ॥ २८ ॥

यदि वह चिदाकाशके रूपमें है ऐसा कहो तो ऐसी अवस्थामें वह साराका सारा जगत् सब प्रकारसे सब जगह है किन्तु स्वरूपसे (जगत्स्वरूपसे) वह साराका सारा कुछ नहीं है, कभी भी और कहींपर भी उसकी सत्ता नहीं है ॥ २९ ॥

चूंकि वह ब्रह्म सत् और असत् स्वरूप वाला है (स्वरूपसे सत् वृत्तियोंसे तिरोहित होनेके कारण असत् है) अतएव सारा जगत् भी सदा सत् और असत् भासता है चूंकि चिदाकाश अविनाशी है, अतएव तन्मय जगत् भी अविनाशी ही है ॥ ३० ॥

• चूंकि वह सत् चिदाकाश ही सृष्टि और प्रलयका रूप धारण करता है। वही स्वरूपतः अपरिज्ञात होनेसे दुःखदायक होता है यह चिदाकाश है यों ज्ञात हो जानेपर तो सकल दुःखोंका क्षय हो जाता है ॥ ३१ ॥

यह सब चिदाकाश अपने परिज्ञानके अनुसार ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें क्रमशः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान है और सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान नहीं है ॥ ३२ ॥

एष देवो घटः शैलः पटः स्फोटस्तटो वटः ।
तृणमग्निः स्थावरं च जंगमं सर्वमेव च ॥ ३३ ॥
अस्ति नास्ति च शून्यं च क्रिया कालो नभो मही ।
भावाभावौ भवो भूतिर्नाशाः पाशाः शुभाशुभाः ॥ ३४ ॥
तन्नास्त्येव न यन्नाम नित्यमेकस्तथा बहिः ।
आदिमध्यमथाऽन्तं तु कालत्रितयमेव च ॥ ३५ ॥
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदैवाऽत्र विद्यते ।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदाऽत्र न विद्यते ॥ ३६ ॥
यदैवं राम सर्वात्म सर्वमेवाऽस्ति सर्वदा ।
ब्रह्मात्मत्वात्स्वप्नसंवित्पुरन्यायेन वै तदा ॥ ३७ ॥
तृणं कर्तृ तृणं भोक्तृ ब्रह्मात्मत्वात्तृणं विभुः ।
घटः कर्ता घटो भोक्ता घटः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ३८ ॥
पटः कर्ता पटो भोक्ता पटः सर्वेश्वरेश्वरः ।
दृशिः कर्ता दृशिर्भोक्ता दृशिः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ३९ ॥

उसीकी सर्वरूपसे विद्यमानताका स्पष्टीकरण करते हैं 'एष देवः' इत्यादिसे ।

यह स्वयंज्योति स्वयंप्रकाश घड़ा, पर्वत, वस्त्र, शब्द, तट, गर्त या वटवृक्ष, तृण, अग्नि, स्थावर, जंगम सब कुछ ही है । अस्ति, (सत्ता) नास्ति (असत्ता), शून्य, क्रिया, काल, आकाश, पृथ्वी, भाव, अभाव, जन्म, विभूति, नाश, शुभ अशुभ कर्म सब कुछ यही है ॥ ३३,३४ ॥

वह वस्तु नहीं ही है जिसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों कालोंमें नित्य एक ही चिदाकाश उस तरहका रूप न धारण करता हो ॥ ३५ ॥

ज्ञानीकी दृष्टिमें सब कुछ सब प्रकारसे सब जगह सदा इसमें है और अज्ञानीकी दृष्टिमें सब सब प्रकारसे सब जगह सदा इसमें नहीं है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, जब इस प्रकार ब्रह्मात्मक होनेसे स्वप्नानुभूत नगरके समान सब कुछ सदा सर्वात्मक ही है तब ब्रह्मरूप होनेसे तिनका कर्ता है, तिनका भोक्ता है और तिनका विभु है । घड़ा कर्ता है, घड़ा भोक्ता है और घड़ा सब इन्द्र आदि ईश्वरोंका ईश्वर है । वस्त्र कर्ता है, वस्त्र भोक्ता है और वस्त्र

गिरिः कर्ता गिरिर्भोक्ता गिरिः सर्वेश्वरेश्वरः ।
नरः कर्ता नरो भोक्ता नरः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ४० ॥
प्रत्येकं सर्ववस्तूनां कर्ता भोक्ता परात्परः ।
अनादिनिधनो धाता सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥ ४१ ॥
तृणकुम्भादयस्त्वेते स्वया विभुतया विभुः ।
एवंरूपा स्थिता रूपं यद्विभातः क्षयोदयौ ॥ ४२ ॥
बाह्योऽर्थोऽस्ति स एवेह कर्ता भोक्ता तथाविधः ।
विज्ञानमात्रमेवाऽस्ति कर्तृ भोक्तृ तथाविदाम् ॥ ४३ ॥
न कश्चिच्चैव कर्तेह न च भोक्ता तथाविदाम् ।
कश्चिदीश्वर एवेह कर्ता भोक्ता तथाविदाम् ॥ ४४ ॥

सब ईश्वरोंका भी ईश्वर है। द्रष्टा कर्ता है, द्रष्टा भोक्ता है और द्रष्टा सब ईश्वरोंका ईश्वर है। पर्वत कर्ता है, पर्वत भोक्ता है और पर्वत सब ईश्वरोंका ईश्वर है। नर कर्ता है, नर भोक्ता है और नर सब ईश्वरोंका ईश्वर है। बहुत क्या कहें सब वस्तुओंमें से हरएक कर्ता, भोक्ता और परात्पर (श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ) है एवं अनादि (जन्मरहित) तथा विनाशशून्य धाता है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है। भाव यह कि ब्रह्मभावसे दर्शन करनेपर तृण आदि सकल पदार्थ अलग अलग सब कर्ता, सब भोक्ता और सब सर्वेश्वरेश्वर हैं ॥ ३७—४१ ॥

ये तिनका, घट, पट आदि प्रत्यगात्मरूप विभुतासे विभु हैं। जिस रूपमें क्षय और नाश प्रतीत (भासित) होते हैं वैसा सब रूप इस प्रकारकी विभुतारूपसे ही स्थित है ॥ ४२ ॥

उक्त अर्थमें वादियोंके अनुभवसे संवाद दिखलाते हैं—**'बाह्योऽर्थः'** इत्यादिसे।

जिनके मतमें विज्ञानातिरिक्त बाह्य अर्थ है उनके मतमें वही कर्ता और भोक्ता है जैसे कि वैशेषिक और सौत्रान्तिकोंके मतमें प्रसिद्ध है। लेकिन जिन वादियों-के मतमें विज्ञानमात्र ही बाह्य अर्थ है उन विज्ञानमात्रवादियोंके मतमें विज्ञानमात्र ही कर्ता और भोक्ता है। शून्यवादियोंके मतमें शून्य ही कर्ता और भोक्ता है यानी न कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता है। पाशुपत आदिके मतमें उनकी दर्शन-प्रक्रियासे सिद्ध ईश्वर ही कर्ता तथा भोक्ता है ॥ ४३,४४ ॥

सर्वमेव पदे तस्मिन्संभवत्युत्तमोत्तमे ।
विधयः प्रतिषेधाश्च के ते सन्ति न सन्ति के ॥ ४५ ॥
शुद्धे द्रष्टेव चिद्व्योम दृश्यतामिव भासयन् ।
स्वमात्मानं जगदिति पश्यंस्तिष्ठेदनामयम् ॥ ४६ ॥
सर्वा दृशो विधिनिषेधदृशश्च सर्वाः
संकल्पवेदनविशेषसशेषपूर्वाः ।
सत्यात्मिकाः सततमेव न चैव सत्या
रूपं यथानुभवमत्र यतः स्वरूपम् ॥ ४७ ॥
इति त्वया शिष्यतया मदन्तिका-
च्छ्रुतं पुरा तेन न चाऽसि बुद्धवान् ।

यों मतभेद रहनेपर भी वादियोंमें से कोई भी असम्भव अर्थ वादी नहीं है, क्योंकि सर्वोत्तम सर्वशक्तिमान् उस सर्वात्मक परम पदमें सब कुछका संभव है। उस पदमें तत् तत् वादियों द्वारा अङ्गीकृत परस्पर विलक्षण पदार्थ प्रक्रियाके साधन, अनुष्ठान, फल आदिकी विधियों तथा परस्पर द्वारा किये गये उनके निषेध सभीका बिना विरोधके अलग अलग संभव है। तत् तत् बुद्ध्यवच्छिन्न चैतन्यमें वर शापके न्यायसे अपने संकल्पानुसार व्यवस्थित विवर्तका संभव है ॥४५॥

चिदाकाश शुद्ध स्वात्मामें उन उन वासनाओंके अनुसार दृश्यकी भावना कर द्रष्टा-सा बनकर अपने शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपको जगत्के रूपमें देखता हुआ उन उन उपाधियोंमें वस्तुतः निज निर्विकार रूपसे रहनेमें समर्थ है ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सब जीवोंकी अपने अपने अनुभवसे सिद्ध सब पदार्थ-दृष्टियां और सब परस्पर विलक्षण विधिनिषेधदृष्टियां तत् तत् संकल्प, तत् तत् अनुभव, तत् तत् वासनासहित तत् तत् काम-कर्मपूर्वक हैं इसलिये तत् तत् व्यवहारमें सदा ही तत् तत् विभिन्न अर्थक्रियामें समर्थ होनेसे सत्य-रूप हैं किन्तु आत्मदृष्टिसे शशशृङ्ग तुल्य असत्य हैं, क्योंकि प्रत्यगात्माका रूप अपने अनुभवके अनुसार जगत्का रूप धारण करता है ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले युगमें आपने शिष्यके रूपमें स्थित होकर गुरु-रूप मेरे मुखसे निःसृत इस प्रकारका उपदेश सुना था, उस उपदेशसे उस

ततोऽनुभूयान्यजगद्भवाद्भवा-
निहाद्य जातोऽसि तदेव पृच्छसि ॥ ४८ ॥
ज्ञानं सदेतदखिलं श्रुतमुत्तमं चि-
त्संसारदीर्घरजनीसितरश्मिबिम्बम् ।
जातस्त्वमभ्युदयवानमलैकबोध
उत्सार्य मोहमनुतिष्ठ यथागतं त्वम् ॥ ४९ ॥
तिष्ठंस्तदात्मनि परे विमलस्वभावे
सर्वात्मके तपति सर्वपदार्थमुक्तः ।
निर्वाणशान्तमतिरम्बरकोशकान्तो
धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० नि० उ० प्राक्तनरामशिष्यत्वोपाख्यानं नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमः सर्गः

समय आपको बोध नहीं हुआ। उसके उपरान्त अज्ञानरूप दोषसे फिर आप पुनर्जन्मसे अन्य जगत्का अनुभवकर आज इस त्रेतायुगमें महाराज दशरथके घरमें उत्पन्न हुए हैं। जो आपने पहले जन्ममें मुझसे पूछा था, उसीको आज पूछते हैं ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी, इस जन्ममें भी आपने मेरे द्वारा उपदिष्ट अति उत्तम परमार्थवस्तुविषयक ज्ञान, जो संसार-रूपी लम्बी रात्रिके अन्धकारकी (अज्ञानकी) निवृत्ति करनेके कारण पूर्ण चन्द्रमाके बिम्बके समान स्थित है, सम्पूर्णतः सुन लिया है उससे आप अज्ञानान्धकारको हटाकर निरतिशय आन्दरूप परम-पुरुषार्थके लाभरूप अभ्युदयवान् होकर निर्मल बोधरूप हो गये हैं। यों कृतकृत्य हुए आप कुलाचार प्राप्त राज्यपालन आदि कार्य कीजिये ॥ ४९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सकल दृश्य पदार्थोंसे मुक्त हो चारों ओर प्रकाशमान सर्वस्वरूप आत्मामें स्थित होते हुए निरतिशय आनन्दमें मग्न अतएव शान्तमतिवाले आकाशकोशके समान मनोहर और वितृष्ण होकर धर्मसे राज्यका परिपालन कीजिये ॥ ५० ॥

दो सौ तेरह सर्ग समाप्त

चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ नभसो ननाद
वर्षामृताभ्रमिव दुन्दुभिरामगे द्राक् ।
शुक्लीकृताखिलककुब्वदना तुषार-
वर्षोपमा भुवि पपात च पुष्पवृष्टिः ॥ १ ॥
किंजल्कजालदिवसान्तघनाङ्गरागा
वातावधूतसितकेसरगौरहारा ।
पुष्पोदरोत्थमृदुसीकरशीतलाङ्गा
प्राप्ता स्वयं सुरपुरादिव पुण्यलक्ष्मीः ॥ २ ॥

दो सौ चौदह सर्ग

[श्रीवसिष्ठजीके उपदेशकी प्रशंसा, श्रोता लोगोंकी कृतकृत्यता तथा कथाके अन्तमें हुए स्वर्गमें तथा मनुष्यलोकमें महान् उत्सवका वर्णन]

महान् अध्यात्मशास्त्रकी समाप्ति होनेपर देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा किये गये गुरु, ब्राह्मण, देवता, पितर आदिकी वेषभूषासे सजावट, पूजा आदि महोत्सवरूप मङ्गलका वर्णन करनेके लिए वाल्मीकिजी कहते हैं—'इति०' इत्यादिसे ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे भारद्वाज, महामुनि श्रीवसिष्ठजीके यह कहनेपर उसी समय आकाशसे वर्षा करनेके लिए जलसे भरे हुए मेघके समान देवताओंके नगाड़े गहगहाने लगे और आकाशसे भूमिमें हिमवृष्टिके समान पुष्पवृष्टि गिरी। उसने तुरन्त सब दिङ्मुखोंको चारों ओर सफेद बना दिया ॥ १ ॥

उस पुष्पवृष्टिका लाल लाल केसरपुञ्ज ही सन्ध्याकालके मेघोंके समान लाल अङ्गराग था, फूलोंके अन्दरसे निकले हुए कोमल कोमल जलकण ही शीतल अङ्ग थे तथा वायुसे हिलाये डुलाये गये सफेद केसर ही स्वच्छ मोतीके हार थे, अतएव ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो उत्सव देखनेके लिए साक्षात् पुण्य-लक्ष्मी ही पुष्पवृष्टिके रूपमें स्वर्गसे उतरी है ॥ २ ॥

कल्पान्तकालकपिकम्पितशुष्कशाखा-
　　त्स्वर्गद्रुमात्पतितमाशु विडम्बयन्ती ।
तारागणं प्रथितभासमनल्पहास-
　　माशामुखप्रसृतभैरवमम्बरस्था ॥ ३ ॥
सा पुष्पवृष्टिरथ दुन्दुभिनादगर्ज-
　　त्किंजल्कपुञ्जजलदा शममाजगाम ।
आपूरिताखिलसभा हिमहारिपुष्प-
　　पूरेण कौतुकविकासकरी क्षणेन ॥ ४ ॥
तानि दिव्यानि पुष्पाणि यथास्थानमधःस्थिताः ।
वसिष्ठाय नमस्कृत्वा सभ्याः संशोकितां जहुः ॥ ५ ॥

आकाशस्थित उक्त पुष्पवृष्टि प्रलयकालरूपी बन्दर द्वारा झकझोरी गई सूखी कल्पवृक्षशाखावाले और लोकपालोंके नगर और भिन्न भिन्न लोकरूप शाखा वाले स्वर्गरूप वृक्षसे शीघ्र भूमिमें गिरे हुए खूब चमकते हुए सितारोंका, जिन्हें गिरानेके लिए दिङ्मुखोंकी ओर संहाररुद्र शीघ्र झपटे, मन्द मन्द मुसकिराहटके साथ परिहास कर रही थी यानी वह तारोंके समान पूर्ण चमक-दमकवाली थी ॥ ३ ॥

दर्शनसे आनन्दका विस्तार करनेवाली वह पुष्पवृष्टि, जिसका कि दुन्दुभिकी ध्वनिसे गरज रहा केसरपुञ्ज ही मेघ था तथा जिसने हिमके समान मनोहर पुष्पराशिसे सम्पूर्ण सभा भर दी थी, थोड़ी देरमें शान्त हो गई ॥ ४ ॥

स्थानके अनुसार* क्रमसे नीचे बैठे हुए सभासदोंने उन दिव्य फूलोंको लेकर वसिष्ठजीके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि देकर वसिष्ठजीको नमस्कार कर फूलोंकी सुगन्धि, शीतलता आदिके सम्पर्कसे स्वेद, दौर्गन्ध्य आदिसे जनित शोकवत्ता, रोग, भूख, प्यास, श्रम आदिसे हुई सशोकता (दुःख) और जन्म, मरण आदि सकल क्लेशोंसे छुटकारा पाया ॥ ५ ॥

---

* सबसे ऊँचे स्थानमें श्रीवसिष्ठजी विराजमान थे । उनके समीपमें अन्यान्य मुनिगण, उनके निकट महाराज दशरथ, राजकुमार रामचन्द्र आदि, उनके निकटवर्ती निम्न स्थानमें मन्त्री, सामन्त आदि तथा उनके बाद सर्वसाधारण श्रोताजन यों क्रमसे नीचे बैठे हुए थे ।

दशरथ उवाच

अहो नु सुविशात्मा नः संसारविततात्कृतेः ।
विश्रान्ताः स्मश्चिरं श्रान्ताः शुद्धा मेघा इवाऽचले ॥ ६ ॥
कर्मणामवधिः पूर्णो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
ज्ञातं ज्ञेयमशेषेण विश्रान्ताः स्मः परे पदे ॥ ७ ॥
ध्यानलब्धपरव्योमचिरानुभवनभ्रमैः ।
धारणाधारविश्रान्त्या देहसन्त्यजनक्रमैः ॥ ८ ॥
संकल्पनवनिर्माणैः स्वप्नदृष्टजगज्ज्वरैः ।
शुक्तिरूप्यानुभवनैः स्वप्नात्ममृतिदर्शनैः ॥ ९ ॥
अनन्यैः पवनस्पन्दैरनन्यैः सलिलद्रवैः ।
इन्द्रजालपुरापूरैर्गन्धर्वनगरोत्करैः ॥ १० ॥

महाराज दशरथने कहा—भगवन्, आपके उपदेशसे हमारा आत्मा परम पदमें सुखसे प्रवेश पाने योग्य बन गया है । अतएव संसाररूपी अत्यन्त दीर्घ दुर्गम मार्ग तय करनेसे चिरकालसे श्रान्त हुए हम लोग आपके उपदेश श्रवणसे जड़ता और मलिनतासे रहित हो परम पदमें पूर्ण रूपसे वैसे ही विश्राम पा चुके हैं जैसे कि जल और कृष्णता (कालिमा) से रहित शरत्कालके मेघ हिमालय आदि पर्वतपर विश्राम पाते हैं ॥ ६ ॥

हे मुनिवर, आपके अनुग्रहसे आज हमारे पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये अवश्य कर्तव्य कर्मोंकी अवधि पूर्ण हो गई है, यानी हम कृतकृत्य हो चुके हैं आपत्तियोंकी परम अवधि (सीमान्त) हम देख चुके हैं, हमने ज्ञातव्य तत्त्व पूर्णरूपसे जान लिया है तथा आज हम परम पदमें विश्राम पा रहे हैं॥ ७ ॥

ध्यानसे कल्पित अन्य आकाशमें चिरकाल तक विहार आदिकी अनुभूतिके भ्रमोंसे, जिनका कि लीलोपाख्यान आदिमें विस्तारसे प्रदर्शन किया गया है, धारणासे सर्वाधार ब्रह्ममें विश्रामसे देहत्यागके क्रमोंसे, संकल्पमय नवीन निर्माणोंसे, स्वप्नमें देखे गये जगत्के दुःखोंसे, शुक्तिरजतोंके अनुभावोंसे, स्वप्नमें अपनी मृत्युके दर्शनोंसे, अभिन्नरूप पवनस्पन्दोंसे, अनन्य जल-द्रवोंसे, इन्द्रजाल नगरोंकी राशियोंसे, गन्धर्व-नगरके समूहोंसे, मायासे प्रदर्शित जलपूर्ण महा प्रवाहवाले मृगतृष्णानदीके वेगोंसे, सृष्टिके उत्तर कालमें यानी प्रलयमें वर्णित

मायापूर्णपुराभोगैर्मृगतृष्णानदीरयैः ।
आयतौ पवनस्पर्शैर्द्विचन्द्रानुभवोदयैः ॥ ११ ॥
मदभ्रंशपुरस्पन्दैर्मुधा त्ववनिकम्पनैः ।
बालयक्षाद्यनुभवैः खकेशोण्डूकदर्शनैः ॥ १२ ॥
एवमादिभिरन्यैश्च दृष्टान्तैः स्वानुभूतिदैः ।
अहो नु मार्जिता दृश्यदृष्टिर्भगवता मम ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

नष्टो मोहः पदं प्राप्तं त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ।
संपन्नोऽहमहं सत्यमत्यन्तमवदातधीः ॥ १४ ॥
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि ।
निरावरणविज्ञानः करिष्ये वचनं तव ॥ १५ ॥
स्मृत्वा स्मृत्वाऽमृतासेकसौख्यदं वचनं तव ।
अर्हितोऽपि च शान्तोऽपि हृष्यामीव मुहुर्मुहुः ॥ १६ ॥

महान् वेगवाले वायुके स्पर्शोंसे, द्विचन्द्रके अनुभवोंके उदयोंसे, मदसे (नशेसे) बेहोशी होनेपर मालूम पड़ रहे नगर-कम्पनोंसे, उत्पात आदिसे शुभाशुभ सूचनके बिना ही भ्रान्तिसे प्रतीयमान भू-कम्पोंसे, बालकके यक्ष आदिके अनुभवोंसे, आकाशमें केशोंके वर्तुलाकार गोलोंके दर्शनोंसे इत्यादि तथा इनसे अतिरिक्त अपनेको अनुभूति करानेवाले अन्यान्य दृष्टान्तोंसे आपने मेरी दृश्यदृष्टिका परिमार्जन कर दिया है। यह मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात है ॥ ८-१३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, हे गुरुवर, आपके अनुग्रहसे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है, मुझे परमपद प्राप्त हो गया है, मैं अत्यन्त निर्मल बुद्धि हो गया हूँ साक्षात् परम ब्रह्म ही हो गया हूँ ॥ १४ ॥

मेरे सब सन्देह निवृत्त हो चुके हैं, मेरे ज्ञानका पर्दा हट गया हैं, मैं स्वभावभूत (स्वात्मरूप) ब्रह्ममें स्थित हूँ जैसे आपने मुझे यथाप्राप्त व्यवहार—राज्य-पालन आदि—करनेके लिये कहा है वैसा ही मैं आपका आदेश पालन करूँगा ॥१५॥

अमृतसे सींचनेके तुल्य परमसुख देनेवाले आपके वचन का बारबार स्मरण कर पूजे जाने तथा अपमानित होनेपर हर्ष, विषाद आदिका उदय न होनेसे शान्त हुआ भी मैं बार बार हर्षितसा होता हूँ ॥ १६ ॥

नैव मेऽद्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
यथास्थितोऽस्मि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरः ॥ १७ ॥
उपायस्तु तथा तेन दृष्टिर्वाऽस्तीह कीदृशी ।
अहो नु वितता भूमिः कष्टमेतादृशी दशा ॥ १८ ॥
न शत्रुर्न च मित्रं मे न क्षेत्रं दुर्जनो जनः ।
दुर्बोधैषा जगत्क्षुब्धा शान्ता सर्वार्थसुन्दरी ॥ १९ ॥
कथमेतां जनो वेत्ति विना भवदनुग्रहम् ।
विनैव सेतुं पोतं वा बालोऽब्धिं लङ्घयेत्कथम् ॥ २० ॥

लक्ष्मण उवाच

जन्मान्तरोपचितसंशयनाशनेन
जन्मान्तरोपचितपुण्यशतोदितेन ।

आज मेरा यहाँ न तो कर्मसे कोई प्रयोजन है और न अकृतसे (ज्ञानसे) कोई प्रयोजन है फिर भी जैसे पहले व्यवहारमें स्थित था वैसे ही स्थित हूँ लेकिन व्यवहारमें प्रसक्तिसे होनेवाला सन्ताप मुझमें बिलकुल नहीं है ॥ १७ ॥

अहा ! असीम विश्रान्तिसुखभूमि मुझे मिल गई है । जन्म, मरण आदि अनन्त अनर्थोंसे व्याप्त संसारदशा प्राणियोंको अत्यन्त क्लेददायक है ॥ १८ ॥

लेकिन अब मेरे दुःखके कारण कोई भी नहीं रह गये हैं, ऐसा कहते हैं—**'न शत्रु'** इत्यादिसे ।

भगवन्, न मेरा कोई शत्रु है न मित्र है, न मेरा शरीर है और न बाहरी खेत है, न दुर्जन है और सुजन है । यह आत्मचित् ही जब तक दुर्बोध थी यानी समझमें नहीं आती थी तबतक दुःख दायिनी यह जगत् रूप हुई किन्तु इस समय तो जगत्का ज्ञानसे बाध होनेके कारण यह सर्वार्थसुन्दर हो गई है ॥ १९ ॥

हे भगवन्, आपके अनुग्रहके बिना इस दृष्टिको मनुष्य कैसे जान सकता है ? भला बतलाइये तो सही पुल अथवा जहाजके बिना ही बालक समुद्रको कैसे पार कर सकता है ? ॥ २० ॥

श्रीलक्ष्मणजीने कहा—अहा ! अनन्त जन्म जन्मान्तरोंमें बढ़ी चढ़ी

जातोद्यमे मुनिवचःपरिबोधनेन
जातोऽद्य मे मनसि चन्द्र इव प्रकाशः ॥ २१ ॥
ईदृश्यां दृश्यमानायां दृशि दोषदशाशतैः ।
काष्ठवद्दह्यते लोकः स्वदुर्भगतया तया ॥ २२ ॥

विश्वामित्र उवाच

अहो बत महत्पुण्यं श्रुतं ज्ञानं मुनेर्मुखात् ।
येन गङ्गासहस्रेण स्नाता इव वयं स्थिताः ॥ २३ ॥

श्रीराम उवाच

संपदामथ दृष्टीनां शास्त्राणामापदां गिराम् ।
देशानामथ दृष्टानां दृष्टः सीमान्त उत्तमः ॥ २४ ॥

दुर्वासनाओंके कारण उत्पन्न हुए सन्देहोंका नाश करनेवाले तथा अनेक जन्मजन्मान्तरोंमें संचित सैकड़ों पुण्योंको फलोन्मुख बनानेवाले मुनि महाराजके उपदेशसे किये गये प्रतिबोधनसे विचारके लिए उद्यमशील मेरे मनमें आज चन्द्रमाके तुल्य परम आह्लाद देनेवाला परमात्मप्रकाश हो गया है ॥ २१ ॥

भगवन्, आपके सदृश महानुभावोंके उपदेशसे इस प्रकारकी निरतिशय-आनन्दप्रकाशरूप आत्मदृष्टिके प्रत्यक्षरूपसे दृश्यमान होनेपर भी मनुष्य लोग सर्वत्र प्रसिद्ध अपने दौर्भाग्यसे महापुरुषोंकी सेवा शुश्रूषासे वञ्चित रहकर राग, द्वेष, अहंकार, जन्म, मरण आदि सैकड़ों दोषपूर्ण अवस्थाओंसे रात दिन काठके समान जलते हैं यह महान् आश्चर्य है ॥ २२ ॥

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—अहा ! हमारे लिए बड़े हर्षकी बात है कि हमने मुनि महाराजके श्रीमुखसे अत्यन्त पुण्यमय ज्ञान सुना है जिसके प्रभावसे हमलोग हजार बार गङ्गामें स्नान किये हुएसे अत्यन्त पूत होकर बैठे हैं ॥२३॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—सम्पत्तियोंके उत्कर्षमें आत्मा चरमसीमा देखा गया है, क्योंकि वह निरतिशय आनन्दरूप है, दृष्टियोंकी चरमसीमा आत्मदृष्टि देखी गई है, क्योंकि एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान हो जाता है, शास्त्रोंकी चरमसीमा अध्यात्मशास्त्र देखा गया है, क्योंकि वही चरम प्रमाण है, पशु, पुत्र, धन, आदिके विनाशरूप विपदाओंकी चरमसीमा सर्वसंसारनाश देखा गया

नारद उवाच

यन्न श्रुतं ब्रह्मलोके स्वर्गे भूमितले तथा ।
कर्णौ तज्ज्ञानमाकर्ण्य यातौ मेऽद्य पवित्रताम् ॥ २५ ॥

लक्ष्मण उवाच

हार्दं बाह्यं च तिमिरमपमृष्टवता त्वया ।
मुने परमभानुत्वं नूनं नः संप्रदर्शितम् ॥ २६ ॥

शत्रुघ्न उवाच

निर्वृतोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि परमं पदम् ।
चिराय परिपूर्णोऽस्मि सुखमासे च केवलम् ॥ २७ ॥

है, क्योंकि उसके बाद फिर दूसरा नाश नहीं हो सकता है, काव्य, रस, अलङ्कार आदिसे शोभित वाणियोंकी चरमसीमा श्रीवसिष्ठजी महाराजकी उपदेशोक्ति देखी गई है तथा दृष्ट सुखविश्रान्तिके कारण महल, बाग-बगीचा, पर्वत, नदी, बालुमय तटभूमि आदि प्रदेशोंकी चरमसीमा परमात्मरूप प्रदेश देखा गया है, क्योंकि वही परम विश्रान्तिहेतु है ॥ २४ ॥

देवर्षि श्रीनारदजीने कहा—अहा ! जो उत्तम तत्त्व ब्रह्मलोकमें सुननेको नहीं मिला, जो स्वर्गमें नहीं मिला तथा अन्यत्र भूतलमें भी जो नहीं मिला उस उत्तम तत्त्वज्ञानको सुनकर मेरे कान आज परम पवित्र हो गये हैं ॥ २५ ॥

श्रीलक्ष्मणजीने कहा—हे मुनिवर, हमारे हृदयका तथा बाहरका अज्ञानान्धकार निश्शेष निवृत्त कर चुके आपने हम लोगोंके सन्मुख यह सिद्ध कर दिया है कि आप प्रसिद्ध सूर्यकी अपेक्षा कई गुना अधिक उत्कृष्ट सूर्य हैं, क्योंकि सूर्य केवल बाहरका ही अन्धकार निवृत्त करता है वह भी उससे आत्यन्तिक निवृत्त नहीं होता किन्तु आपने भीतर बाहरके अन्धकारकी आत्यन्तिक निवृत्ति कर दी है ॥ २६ ॥

श्रीशत्रुघ्नजीने कहा—भगवन्, आपके अनुग्रहसे मैं निरतिशयानन्दरूप जीवन्मुक्तिको प्राप्त हो चुका हूँ, अत्यन्त प्रशान्त हूँ, परम पदको प्राप्त हो गया हूँ, सदाके लिए परिपूर्ण (प्राप्तकाम) हूँ, केवल निरतिशय सुख स्वरूप हूँ ॥ २७ ॥

दशरथ उवाच

बहुजन्मोपलब्धेन पुण्येनाऽयं मुनीश्वरः ।
धीरः कथितवान्नस्तद्येन पावनतां गताः ॥ २८ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इति तेषु वदत्स्वत्र सभ्येषु सह भूभृता ।
वसिष्ठः स उवाचेदं ज्ञानपावनया गिरा ॥ २९ ॥
राजन्रघुकुलेन्दो यदहं वच्मि तत्कुरु ।
इतिहासकथान्ते हि पूजनीया द्विजातयः ॥ ३० ॥
तदद्य ब्राह्मणौघांस्त्वं सर्वकामैः प्रपूरय ।
वेदार्थसमनुष्ठानफलं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ३१ ॥

महाराज दशरथने कहा—अनेक जन्मोंके संचित पुण्योंसे परमज्ञानी मुनिश्रेष्ठ इन कुलगुरु महाराजने हम लोगोंको परमपावन तत्त्व अथवा अध्यात्मशास्त्रका उपदेश दिया, जिससे हम लोग परम पवित्र हो गये हैं ॥ २८ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, जब राजा दशरथके साथ सभास्थित वे सभ्यगण इस प्रकारके प्रशंसा वाक्य कह रहे थे तब भगवान् वसिष्ठजीने ज्ञानसे पावन वाणीसे यह कहा ॥ २९ ॥

अब महामुनि श्रीवसिष्ठजी 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युः'—अर्थात् जिन शास्त्रोंके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें मङ्गलाचरण किया जाता है वे लोकमें खूब प्रसिद्ध होते हैं उन्हें बनाने तथा पढ़ानेवाले पुरुष वीर और दीर्घजीवी होते हैं, उनका अध्ययन करनेवाले भी वैसे ही होते हैं—भाष्यमें भगवान् पतञ्जलिजी द्वारा उद्धृत श्रुतिके अनुसार निर्विघ्न सम्पूर्ण हुए महान् शास्त्रके उक्त फलकी सिद्धिके लिए श्रीवसिष्ठजी ब्राह्मण, देवता, पितर, मुनिवृन्दके पूजोत्सव आदिरूप मङ्गलकी औचित्यज्ञापन द्वारा आज्ञा देते हैं—**'राजन्'** इत्यादिसे ।

हे महाराज, हे रघुकुलको आह्लादित करनेवाले चन्द्ररूप, जो मैं कहता हूँ, उसे कीजिये। इतिहासकथाके अन्तमें द्विजातियोंकी पूजा करना विधिप्राप्त तथा उचित है, इसलिए आज आप विप्रवृन्दोंको उनकी सकल कामनाओंसे

मोक्षोपायकथावस्तुसमाप्तौ द्विजपूजनम् ।
शक्तितः कीटकेनाऽपि कार्यं किमु महीभृता ॥ ३२ ॥
इति मौनं वचः श्रुत्वा सहस्राणि नृपो दश ।
दूतैराकारयामास द्विजानां वेदवादिनाम् ॥ ३३ ॥
मथुरायां सुराष्ट्रेषु गौडेषु च वसन्ति ये ।
तेभ्यः कुलेभ्यः सोऽभ्यर्च्य समानीय द्विजन्मनाम् ॥ ३४ ॥
अधिकात्यधिकज्ञानप्रकृतद्विजभोजनः ।
तदा दशसहस्राणि भोजयामास भूपतिः ॥ ३५ ॥
यथाभिमतभोज्यान्नदानदक्षिणया तया ।
एवं संपूज्य तान्विप्रान्पितॄन्देवान्नृपांस्तथा ॥ ३६ ॥
पौरामात्यांस्तथा भृत्यान्दीनान्धकृपणांश्च तान् ।
तस्मिन्दशरथो राजा दिने सह सुहृज्जनैः ॥ ३७ ॥
लब्धसंसृतिसीमान्तश्चकारोत्सवमुत्तमम् ।
तथा नृपगृहे तस्मिन्कौशेयमणिकाञ्चने ॥ ३८ ॥

परिपूर्ण कीजिये। इससे आपको अध्यात्मशास्त्रकी श्रवणविधिकी साङ्गोपाङ्ग-निष्पत्तिका अक्षय फल प्राप्त होगा ॥ ३०–३१ ॥

मोक्षके उपायभूत कथाकी समाप्ति होनेपर कीड़ेकी तरह नगण्य दरिद्रको भी अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणपूजन अवश्य करना चाहिये आप ऐसे महाराजके लिए तो कहना ही क्या है ? ॥ ३२ ॥

महामुनि श्रीवसिष्ठजीका यह वचन सुनकर महाराज दशरथने दस हजार वेदज्ञ ब्राह्मणोंको दूतों द्वारा निमन्त्रित किया। मथुरामें, सौराष्ट्र देशमें, गौड़देशमें जो ब्राह्मण निवास करते हैं उन श्रेष्ठ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके कुलोंसे सत्कार-पूर्वक बुलाकर अधिकाधिक ज्ञानविज्ञानवाले ब्राह्मणोंको प्रमुखता देकर राजाने दस हजार ब्राह्मणोंको सविधि भोजन कराया ॥ ३४–३५ ॥

उक्त अपनी अपनी रुचिके अनुकूल भोज्य, अन्न, दक्षिणासे तथा श्राद्ध, उपहार, मणि, माणिक्य आदिसे क्रमशः उन ब्राह्मणों, पितृगणों, देवताओं, राजाओं, नागरिकों, मन्त्रियों, नौकरचाकरों, दीन, अन्धे, लूले, लंगड़े आदिका यों पूर्ण सत्कार कर संसारकी सीमाके अन्तमें पहुँचे हुए राजा दशरथने सुहृत् जनोंके

भूषिते नगरे चैव गीर्वाणनगसुन्दरे ।
ननृतुर्मत्तकामिन्यो विलासिन्यो गृहे गृहे ॥ ३९ ॥
लसद्वंशलताकांस्यवीणामुरजमर्दलम् ।
ताण्डवेनोद्धतारावमन्योन्येतरशेखराः ॥ ४० ॥
क्षुब्धीकृतापणकरभ्रान्तिपल्लविताम्बराः ।
मुग्धाट्टहासविक्षिप्तदन्तेन्दुकिरणच्छटाः ॥ ४१ ॥
मदाकुलितहुंकारा लीलासु तरलस्वराः ।
एकपादतलाघातहेलाहतधरातलाः ॥ ४२ ॥
स्रग्दामतारविगलत्कुसुमासारपाण्डुराः ।
धारापातितविच्छिन्नहारमुक्तास्खलत्पदाः ॥ ४३ ॥

साथ उस दिन उत्तम महोत्सव किया। रेशमी वस्त्र, मणि और सुवर्णसे विभूषित अतएव सुमेरुके तुल्य सुन्दर राजप्रसादमें तथा खूब सजाये गये अतएव सुमेरु सदृश अयोध्या नगरीमें विलासवती यौवनमत्त कामिनियोंने घर घर नाच किय ॥ ३६–३९ ॥

उस नाचमें बाँसुरियाँ, कांस्यताल, वीणा, पखावज, तबले आदि बज रहे थे, ताण्डव नृत्यसे जोरकी ध्वनि हो रही थी। उन नाच करनेवाली महिलाओंके शेखर परस्पर विलक्षण केशबन्धनके विभिन्न आभूषणोंसे विरचित थे, इधर उधर नचाये गये विविध अभिनय करनेवाले हाथोंके भ्रमणोंसे उनके आसपासका आकाश तथा उनके वस्त्र पल्लवितसे लगते थे, हास्यरसके अभिनयके समय वे दन्तरूपी चन्द्रमाकी शुभ्र रश्मियां मनोहर अट्टहासों द्वारा चारों ओर बखेरती थीं, वीर रसके अभिनयके समय मदपूर्वक हुंकार करती थीं, करुण, अद्भुत आदि रसोंके अभिनयकी लीलाओंके अवसरपर उनका स्वर चञ्चल हो उठता था, शृङ्गाररसमें मानके अभिनयके अवसरपर वे एक पैरके तलुवेसे लीलापूर्वक धरातलपर आघात करती थीं, मोतीमालाओं या पुष्पमालाओंके फटकारनेसे नक्षत्रोंकी तरह बिखर रहे पुष्पोंकी वृष्टियोंसे वे सफेद थीं, जलधाराके समान गिराये गये टूटे हुए हारोंपर दैवात् पैर रखनेसे उनके पैर फिसल जाते थे। अपने चञ्चल आभरणोंसे कामदेवको मूर्तिमान्‌सा दिखला रहीं उन ललनाओंने जीभर

लोलाभरणसाकारं कामं ननृतुरङ्गनाः ।
पेठुः स्फुटपदं विप्रा वन्दिनोऽप्यङ्गनाश्च ताः ॥ ४४ ॥
पपुरुत्ताण्डवं पानं पानपा मदशालिनः ।
भोज्यं बुभुजिरे चित्रं भूषिता भोजनार्थिनः ॥ ४५ ॥
सुधादिपरिलेपेन रञ्जिता गृहभित्तयः ।
रेजू रामेन्दुभानेन पुष्पधूपविलेपनैः ॥ ४६ ॥
वासांसि वसिताश्चित्राण्युत्तमस्रग्विभूषणाः ।
चेरुः परिचराश्चेट्यश्चारुगन्धा नृपाध्वरे ॥ ४७ ॥
देहयष्टिषु संयोज्य वनिता यक्षकर्दमम् ।
जग्मुस्ताण्डवनर्तक्यः शृङ्गारात्माङ्गणान्तरम् ॥ ४८ ॥
भवबहुलनिशावसानहर्षा-
दिति घनमुत्सवमेव सप्तरात्रम् ।

कर नाच किया । ब्राह्मणोंने वेदपाठ किया, वन्दियोंने स्तुतिपाठ किया और उन स्त्रियोंने गीत गाये ॥ ४०-४४ ॥

उनमेंसे जो आसव आदि मादकद्रव्य का सेवन करनेवाले द्विजेतर थे उन्होंने आसव आदिका पान किया किन्तु वस्त्र, आभूषण आदिसे विभूषित भोजनार्थी विप्रोंने भोजनयोग्य विविध प्रकारके भक्ष्योंके वैचित्र्यसे युक्त चार प्रकारका अन्न ग्रहण किया ॥ ४५ ॥

चूना आदिकी पुताईसे स्वच्छ बनाई गई गृहभित्तियाँ रामरूपी चन्द्रमाकी देहकान्तिरूपी चाँदनीसे तथा पुष्पोपहार, धूप, अन्योन्य रंगोंके लेपसे खूब चमक उठीं ॥ ४६ ॥

राजा दशरथके उत्सवरूपी यज्ञमें रंग विरंगके कपड़े पहने हुए तथा उत्तम उत्तम माला धारण किये हुए परिचर और परिचारिकाएँ, जिनके शरीरसे मनोहर गन्ध गमक रही थी, इधरसे उधर जा रही थीं ॥ ४७ ॥

ताण्डव नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ कपूर, अगरु, कस्तूरी और कंकोल-मिर्च मिश्रित चन्दन लगाकर खूब सजाये गये राजसभाके दूसरे आंगनमें गईं ॥ ४८ ॥

महाराज दशरथने अविनाशी परमपदको प्राप्त होकर बोधरूपी सूर्योदय हो जानेके कारण संसाररूपी कृष्णपक्षकी रात्रिका अन्त (विनाश) होनेसे

दशरथनृपतिः सदानभोग-
श्रियमकरोत्पदमक्षयं समेतः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० नि० उ० महोत्सववर्णनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः

———

पञ्चदशाधिकद्विशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

भरद्वाज महाबुद्धे मम शिष्याधिनायक ।
इति रामादयो ज्ञातज्ञेया निःशोकतां गताः ॥ १ ॥
एतामेव दृशं कान्तामवष्टभ्य यथासुखम् ।
नीरागस्तिष्ठ निःशङ्को जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ २ ॥

उत्पन्न हुए हर्षसे लगातार सात रात्रि तक पूर्वोक्त प्रकारका महान् उत्सव, जिसमें दान, भोग और सजावटका अटूट बोलबाला था, किया ॥ ४९ ॥

दो सौ चौदह सर्ग समाप्त

———

दो सौ पन्द्रह सर्ग

[तुम राम आदिके समान प्रबुद्ध होकर जीवन्मुक्त सुखी होओ यों श्रीवाल्मीकिजीका अपने शिष्य भरद्वाजको उपदेश देना]

श्रीवाल्मीजीने कहा—हे मेरे शिष्योंमें सर्वश्रेष्ठ, हे महामते भरद्वाज, श्रीरामचन्द्र आदि पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ज्ञातव्य परम तत्त्वको जानकर शोक-रहित हुए ॥ १ ॥

वत्स, तुम भी इसी निर्दोष पूर्ण ब्रह्मात्मदृष्टिका दृढतासे अवलम्बन कर सांसारिक सुखोंसे विरक्त सन्देहरहित जीवन्मुक्त शान्तबुद्धि होकर सुखसे रहो ॥ २ ॥

धीरनभ्यस्तसङ्गा हि रामादीनामिवाऽनघ ।
घनमोहनिमग्नाऽपि विमूढाऽपि न मुह्यति ॥ ३ ॥
एवमेते महासत्त्वा जीवन्मुक्तपदं गताः ।
राजपुत्रा राघवाद्या राजा दशरथादयः ॥ ४ ॥
त्वं च पुत्र भरद्वाज स्वयमेवाऽसि मुक्तधीः ।
सत्यं मुक्ततरोऽस्यद्य श्रुत्वेमां मोक्षसंहिताम् ॥ ५ ॥
मोक्षोपायानिमान्पुण्यान्प्रत्यक्त्वानुभवार्थदान् ।
बालोऽप्याकर्ण्य तज्ज्ञत्वं याति का त्वादृशे कथा ॥ ६ ॥

यह मेरे द्वारा उपदिष्ट संसारनाशन ज्ञान दुष्टजनोंकी संगतिसे जिस प्रकार नष्ट न हो वैसे उसकी रक्षा करो, इस आशयसे कहते हैं—'धीः' इत्यादिसे ।

हे पवित्रात्मा भरद्वाज, जैसे श्रीरामचन्द्रजी को वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान दुःसङ्ग तथा विषयभोगकी आसक्तिसे रहित रहा अतएव वह ज्यों का त्यों रहा यानी विकृत नहीं हुआ वैसे ही तुम्हारी बुद्धि भी (मदुपदिष्ट ज्ञान भी) यदि दुःसङ्ग और विषयभोगासक्तिसे शून्य रही तो घने अज्ञानमें पड़नेपर भी तथा विमूढ होनेपर भी वह नष्ट नहीं होगी ॥३॥

इसी प्रकार ये महामना दशरथ आदि राजा तथा रामचन्द्र आदि राजकुमार जीवन्मुक्ति पदको प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

हे पुत्र भरद्वाज, तुम स्वयं अपने विचारसे ही रामचन्द्र आदिके समान पहलेसे ही जीवन्मुक्त हो । आज इस मोक्ष संहिताको सुनकर सचमुच मुक्ततर हो गये हो, क्योंकि जिस शङ्कारूपी पङ्ककी संभावना थी, उसका भी इससे क्षालन हो गया ॥ ५ ॥

इस शास्त्रका परम पुरुषार्थरूप फल दृष्ट है, अतः यह सकल शास्त्रोंसे श्रेष्ठतम है और अभ्यास करनेपर मन्द अधिकारियोंको मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ देनेमें समर्थ है, ऐसा दिखलाते हैं—'मोक्षो०' इत्यादिसे ।

साक्षात् पर ब्रह्मानुभूति प्रदान करानेवाले परम पुण्य इन मोक्षोपायोंको यदि बालक भी सुने, तो वह भी तत्त्वज्ञानी हो जाय आप ऐसे मुख्य अधिकारीमें ये फलोपधायक हैं, इसमें कहना ही क्या है, इसके श्रवणसे आपतो अवश्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं, यह भाव है ॥ ६ ॥

यथा पदं पुण्यमनुप्रयाता
महानुभावा रघवो विशोकाः ।
वसिष्ठवाक्यप्रसरेण साधो
गन्तव्यमाद्यं पदमेवमे ॥ ७ ॥
सतां नयेनोत्तमसेवया च
प्रश्नेन चोदारकथागतेन ।
विन्दन्ति वेद्यं सुधियोऽप्रमत्ता
वसिष्ठसङ्गादिव राघवाद्याः ॥ ८ ॥
तृष्णावरत्रादृढबन्धबद्धा
ये ग्रन्थयोऽज्ञस्य हृदि प्ररूढाः
सर्वे हि ते मोक्षकथाविचारा-
द्वाला लवाला इव यान्त्यभेदम् ॥ ९ ॥

हे साधो, जैसे श्रीवसिष्ठजीके उपदेशवचनोंके हृदयमें प्रसारसे सकल सन्देहोंके साथ अज्ञानका विनाश होनेके कारण महानुभाव राम आदि रघुवंशी परम पवित्रतम जीवन्मुक्तिपदको प्राप्त होकर शोकविहीन हो गये वैसे ही तुम्हें भी नित्यसिद्ध ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्तिपदको प्राप्त होना चाहिये तथा शोकरहित होना चाहिये ॥ ७ ॥

नित्यसिद्ध ब्रह्मात्मतास्वरूप जीवन्मुक्तिपदकी प्राप्तिके लिये और लोगोंको भी सत्संगति, सत्सेवा, सन्तोंसे पूछना आदि उपायका आश्रय करना चाहिये, ऐसा कहते हैं— 'सताम्' इत्यादिसे ।

सन्त महात्माओंकी सन्नीतिशिक्षासे, लोभ, आलस्य, निद्रा आदिसे रहित सप्रेम निरन्तर सेवासे तथा बोधोपायभूत कथाओंसे भरे हुए उनके सदुपदेशसे सावधान सन्मति अधिकारियोंको ज्ञातव्य आत्मतत्त्व वैसे ही ज्ञात हो जाता है जैसे कि श्रीवसिष्ठजीकी सत्संगतिसे श्रीरामचन्द्र आदिको ज्ञात हुआ ॥ ८ ॥

तृष्णारूपी चमड़ेकी रस्सीसे कसकर बँधी हुई अज्ञानीके हृदयमें जमी हुई देह, इन्द्रिय आदिमें तादात्म्याध्यासरूप ग्रन्थियां, गृह, पुत्र, कलत्र आदिमें ममता-ग्रहरूप ग्रन्थियाँ तथा सब प्राणियोंमें एकात्मताके अनुभवसे अभेद (ऐकरस्य)

मोक्षाभ्युपायान्सुमहानुभावान्
ज्ञास्यन्ति ये तत्त्वविदां वरिष्ठाः ।
पुनः समेष्यन्ति न संसृतिं ते
कोऽर्थः सुताऽन्येन बहूदितेन ॥ १० ॥
बहुश्रुताग्रे प्रविचार्य सम्य-
क्प्रबोधितार्थे कथया जनाय ।
सन्तो वदिष्यन्ति पुनः शिशुत्वं
न ते प्रयास्यन्ति किमन्यवाक्यैः ॥ ११ ॥

न होनेके कारण द्वेष आदिकी हेतुभूत ग्रन्थियां—ये सबकी सब ग्रन्थियां इस मोक्षशास्त्रकी कथाओंके विचारविमर्शसे जैसे बाल (नवोढा) स्त्रियां पहले बाल्यावस्थावश खेलकूदमें चित्त रहने तथा रसानभिज्ञ होनेके कारण पतिके विषयमें विशेष दिलचस्पी नहीं रखतीं लेकिन समय पाकर प्रौढ़ होनेपर पतिके साथ हिलमिल जाती हैं वैसे ही सब भूतोंमें अभेदको (ऐकरस्यको) प्राप्त हो जाती हैं ॥ ९ ॥

हे पुत्रतुल्य कृपाभाजन भरद्वाज, ये मुक्तिके उपाय मन्द अधिकारी पुरुष भी यदि इनका श्रवणाभ्यास करें तो उनके भी अज्ञानान्धकारको हटानेकी सामर्थ्य रखते हैं ऐसे महामहिमशाली इन मोक्षोपायोंको गुरुमुखसे जो अधिकारी श्रेष्ठ पुरुष सुनेंगे वे तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठतम होकर फिर भवचक्रमें कदापि नहीं पड़ेंगे। यह मेरी संक्षिप्त रहस्य उक्ति है, इसके अतिरिक्त अधिक कथनसे क्या प्रयोजन है ॥ १० ॥

वक्ता (उपदेश देनेवाले) भी गुरुमुखसे विचार कर ही सम्प्रदायतः अर्थको भलीभाँति जानकर औरोंको सुनावें, उपदेश दें, तो उन्हें बोधरूप फलकी प्राप्ति हो सकती है औरोंको नहीं हो सकती, इस नियमको सूचित करते हुए कहते हैं—**'बहुश्रुताग्रे'** इत्यादिसे।

जो सन्त पुरुष इस ग्रन्थको बहुश्रुत गुरुजनोंके सामने स्वयं भलीभाँति विचार कर उनके संवादसे जब यह ग्रन्थ भलीभाँति ज्ञात हो जाय तब पीछे स्वयं भी शुश्रूषु (सुननेकी इच्छा करनेवाले) लोगोंको सम्प्रदायानुसार कहेंगे, उपदेश देंगे, तो वे मूर्खता (मूढता) अथवा पुनर्जन्मको प्राप्त

ये वाचयिष्यन्त्यनपेक्षितार्था
ये लेखयिष्यन्ति च पुस्तकं वा ।
ये कारयिष्यन्त्यपि वाचकं वा
व्याख्यातृयुक्तं शुभमार्यदेशे ॥ १२ ॥
ते राजसूयस्य फलेन युक्ता
मुहुर्मुहुः स्वर्गमुदारसत्त्वाः ।
मोक्षं प्रयास्यन्ति तृतीयजन्म-
लाभेन लक्ष्मीमिव पुण्यवन्तः ॥ १३ ॥
इमां पुरा मोक्षमयीं विचार्य
सुसंहितां मद्वचनाद्विरिञ्चः ।

नहीं होंगे—अवश्य ही तत्त्वज्ञानरूप फलको प्राप्त होंगे । संप्रदायके अनुसार न जाने गये वचनोंके श्रवण अथवा दूसरोंको श्रवण कराने से क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

अब अर्थबोधके बिना ही ग्रन्थके पारायणका, ग्रन्थ लेखन तथा वाचकको वृत्ति देकर व्याख्यान करानेका फल कहते हैं—'ये वाचयिष्यन्ति' इन दो श्लोकोंसे ।

जो व्युत्पत्ति न होनेके कारण अर्थानुसन्धानके बिना तथा पारायणकी दक्षिणा द्रव्यकी अपेक्षा न कर यानी निर्लोभ होकर पारायण करायेंगे अथवा जो पुस्तक लिखावेंगे, जो उत्तम तीर्थक्षेत्रमें वृत्ति बांधकर व्याख्या करनेवाले पुरुषके साथ वाचकको नियुक्त करेंगे या केवल ही वाचकको नियुक्त करेंगे वे यदि सकाम होकर ये सब काम करेंगे तो राजसूय यज्ञके फलसे युक्त होकर बार-बार स्वर्ग जावेंगे यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुलमें जन्म तथा सद्गुरुके मुखारविन्दसे सत् शास्त्रका श्रवण प्राप्त कर वैसे ही तीसरे जन्ममें मोक्षको प्राप्त होंगे जैसे कि पुण्यवान् पुरुष तीसरे जन्ममें लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं ॥ १२,१३ ॥

इस ग्रन्थका ऐसा महाफल आपको कहाँसे ज्ञात हुआ ऐसी किसीको आशङ्का हो, तो इसपर कहते हैं—'इमाम्' इत्यादिसे ।

प्रत्युक्तवानेतदचिन्त्यरूपो
भवन्त्यसत्याश्च न तस्य वाचः ॥ १४ ॥
मोक्षाभ्युपायाख्यकथाप्रबन्धे
याते समाप्तिं सुधिया प्रयत्नात् ।
सुवेश्म दत्त्वाऽभिमतान्नपान-
दानेन विप्राः परिपूजनीयाः ॥ १५ ॥
देयं च तेभ्यः खलु दक्षिणादि
चित्तेप्सितं स्वस्य धनस्य शक्त्या ।
मत्वाऽनुरूपं कृतमेव सङ्ग-
पुण्यं यथाशास्त्रमुपैत्यसौ तत् ॥ १६ ॥
एतत्ते कथितं कथाक्रमशतैर्बोधाय बुद्धेर्बृह-
च्छास्त्रं बृंहितब्रह्मतत्त्वममलं दृष्टान्तयुक्त्याऽञ्चितम् ।

पुराने समयमें अचिन्त्यरूपी ब्रह्माने मेरे द्वारा विरचित इस मोक्षमयी संहिताको मुनियोंकी सभामें आद्योपान्त स्वयं देखकर यह वचन सबके प्रति कहा कि सत्यवक्ता वाल्मीकिजी, वसिष्ठजी तथा मेरे वचन असत्य कदापि नहीं हो सकते तथा पूर्व रामायणमें मुझे उन्होंने वरदान दिया था कि 'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति' यानी इस काव्यमें तुम्हारी वाणी तनिक भी असत्य न होगी। श्लोकमें स्थित 'च' इसको सूचित करता है ॥ १४ ॥

इस शास्त्रकी समाप्ति होने पर गृह, अन्न, धन आदिका दान ब्राह्मणोंको अवश्य देना चाहिये, ऐसा कहते हैं—'मोक्षा०' इत्यादिसे ।

बुद्धिमान् पुरुषोंको मोक्षोपायरूप इस कथाप्रबन्धकी समाप्ति होनेपर प्रयत्नतः वक्ताको सुन्दर भवन देकर अभिमत अन्न, पान, दान द्वारा ब्राह्मणोंका पूजन करना चाहिये ॥ १५ ॥

दान आदिका कर्ता पुरुष शास्त्रानुसार स्वकृत पुण्यको उसके अनुरूप फलरूपसे अवश्य प्राप्त होता है ऐसा समझकर अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें अभीष्ट दक्षिणा आदि देनी चाहिये ॥ १६ ॥

हे भरद्वाज, तुम्हारी बुद्धिको बोध देनेके लिये सैकड़ों कथाक्रमोंसे विशालकलेवर हुआ यह शास्त्र, जिसमें ब्रह्मतत्त्वका विस्तारसे वर्णन है तथा जो

श्रुत्वैतच्चिरनिर्वृतिं भज भृशं जीवद्विमुक्ताशयो
लक्ष्मीं ज्ञानतपःक्रियाक्रमयुतां भुक्त्वाऽक्षयामक्षयः ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० मो० निर्वा० उ० ग्रन्थप्रशंसातद्वाचनादिविधिर्नाम पञ्चदशाधिकद्विशततमः सर्गः

षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

एतत्ते कथितं राजन्कुम्भभयोनेः सुभाषितम् ।
अमुना तत्त्वमार्गेण तत्पदं प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥ १ ॥

राजोवाच

भगवन्भवतो दृष्टिर्भवबन्धविनाशनी ।
आलोकितो यया चाऽहमुत्तीर्णोऽस्मि भवाम्बुधेः ॥ २ ॥

दृष्टान्त युक्तियोंसे सुशोभित है, मैंने तुमसे कहा। इसका श्रवणकर जीतेजी ही विमुक्ताशय होकर लोकानुग्रहके लिये ज्ञान, तपस्या और कर्मफलसे युक्त प्रारब्ध भोगके सत्कर्मोंकी फलरूप योग, ज्ञानसिद्धि और ऐश्वर्यकी अक्षय शोभाको भोगकर पूर्णरूपसे चिरविश्रान्तिको प्राप्त होओ ॥ १७ ॥

दो सौ पन्द्रह सर्ग समाप्त

दो सौ सोलह सर्ग

[राजा अरिष्टनेमि, सुरुचि अप्सरा, ऋषिपुत्र कारुण्य आदिकी कृतकृत्यताका तथा शिष्योंका गुरुजनोंके लिए आत्मनिवेदनका वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे राजन्, वसिष्ठजीका राम आदिके प्रति तथा अगस्त्यजीका सुतीक्ष्ण आदिके प्रति यह सदुपदेश मैंने आपसे कहा। इस ग्रन्थरूप तत्त्वमार्गसे उस परम पदको आप अवश्य प्राप्त होंगे ॥ १ ॥

राजाने कहा—भगवन्, आपकी जो कृपादृष्टि मुझपर पड़ी है वह भवरूपी बन्धनका विनाश करनेवाली है, इसलिये उस कृपामयी दृष्टिसे मैं भवसागरसे उत्तीर्ण हो गया हूँ ॥ २ ॥

देवदूत उवाच

इत्युक्त्वाऽसौ ततो राजा विस्मयोत्फुल्ललोचनः।
उवाच वचनं मां तु मधुरं श्लक्ष्णया गिरा ॥ ३ ॥

राजोवाच

देवदूत नमस्तुभ्यं कुशलं चाऽस्तु ते विभो।
सतां साप्तपदं मैत्रमित्युक्तं तत्त्वया कृतम् ॥ ४ ॥
इदानीं गच्छ भद्रं ते देवराजनिवेशनम्।
अनेन श्रवणेनाऽहं निर्वृतो मुदितोऽपि च ॥ ५ ॥
श्रुतार्थं चिन्तयन्नत्र स्थास्यामि विगतज्वरः।
इत्युक्तोऽहं ततो भद्रे परं विस्मयमागतः ॥ ६ ॥
न श्रुतं पूर्वमेवैतज्ज्ञानसारं श्रुतं मया।
तेनैव मुदितश्चाऽन्तः पीतामृत इवाऽधुना ॥ ७ ॥

देवदूतने कहा—तदुपरान्त ऐसा कहकर राजाके नेत्र आश्चर्यसे विकसित हो गये। उसने मुझसे मृदु स्वरसे मधुर वचन कहा ॥ ३ ॥

राजाने कहा—हे देवदूत, तुम्हारे लिये नमस्कार है, हे प्रभो, तुम्हारा कल्याण हो, सज्जन पुरुषोंकी मैत्री सात कदम साथ चलनेसे हो जाती है ऐसा सज्जनोंका कथन है, उसको आपने सत्य कर डाला है ॥ ४ ॥

अब आप देवराजके प्रासादको जाइये, आपका भला हो। इस मोक्ष-शास्त्र-कथाके श्रवणसे सब तापोंकी निवृत्ति हो जानेके कारण मैं आनन्दमग्न हो गया हूँ निरतिशय हर्ष निर्भर हो गया हूँ ॥ ५ ॥

सब प्रकारके तापोंसे रहित हुआ मैं मुनिजीके मुखसे सुने गये अर्थका चिन्तन करता हुआ यहीं पर रहूँगा। राजाके यों करनेपर उसके विनय सौजन्य आदि गुणोंसे मैं अन्यन्त आश्चर्यमें पड़ गया ॥ ६ ॥

सत्सङ्गके कारण श्रवणलाभ होनेसे मैं भी कृतकृत्य हो गया हूं, ऐसा कहते हैं—**'न श्रुतम्'** इत्यादिसे।

पहले कभी भी मुझे यह ज्ञानशास्त्र सुननेको नहीं मिला था अपूर्व ही यह ज्ञानसार सत्संगवश मुझे सुननेको मिला है। इसीसे मेरा अन्तःकरण अत्यन्त

ततो वाल्मीकिमापृच्छ्य आगतोऽस्मि त्वदन्तिके।
एतत्ते सर्वमाख्यातं त्वया पृष्टं ममाऽनघे।
इतः परं गमिष्यामि शक्रस्य सदनं प्रति॥ ८॥

अप्सरा उवाच

नमोऽस्तु ते महाभाग देवदूत त्वया मम।
श्रावितादर्थविज्ञानात्परां निर्वृतिमागता॥ ९॥
कृतार्था वीतशोकाऽस्मि स्थास्यामि विगतज्वरा।
इदानीं गच्छ भद्रं ते यथेच्छं शक्रसंनिधौ॥ १०॥

अग्निवेश्य उवाच

ततः सा सुरुचिः श्रेष्ठा तमेवाऽर्थमचिन्तयत्।
स्थिता सा हिमवत्पृष्ठे समीपे गन्धमादने॥ ११॥

प्रसन्न हो गया है। मैं इस समय जिसने अमृत छककर पिया हो उस पुरुषके समान परितृप्त हो गया हूं॥ ७॥

हे पापरहित*, तदुपरान्त वाल्मीकिजीसे आज्ञा लेकर मैं तुम्हारे निकट तुम्हें उपदेश देनेके लिए आया हूं। तुमने जो मुझसे पूछा था वह सब मैं तुमसे कह चुका हूं। अब मुझे आज्ञा दो देवराज इन्द्रके प्रासादकी ओर मैं जाऊंगा॥ ८॥

अप्सराने कहा—हे महाभाग्यशाली देवदूत, तुम्हारे लिए नमस्कार है, तुम्हारे द्वारा सुनाये गये इस अध्यात्म शास्त्रसे मैं परम सुखविश्रान्तिको प्राप्त हो गई हूँ, मुझमें दुःख-क्लेशका नाम-निशान नहीं रह गया है, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ताप मुझसे कोसों दूर भाग गये हैं। हे देवदूत, अब तुम अपने इच्छानुसार इन्द्रके समीप जाओ। तुम्हारा भला हो॥ ९,१०॥

अग्निवेश्यने कहा—वत्स, तदुपरान्त वह सुरुचि नामकी अप्सरा गन्धमादनके समीप हिमालयके शिखरपर बैठकर देवदूत द्वारा उपदिष्ट उसी ब्रह्मात्मैक्यरूप अर्थका चिन्तन करने लगी॥ ११॥

---

* 'अनघे' इस सम्बोधनसे निष्पाप होनेके कारण तुमको अधिकारी जानकर तुमसे यह सब मैंने कहा, यह सूचित किया।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पुत्र वसिष्ठस्योपदेशनम् ।
तत्सर्वमवधार्याऽथ यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १२ ॥

कारुण्य उवाच

स्मृतिर्वाग्दृष्टिसत्ता च स्वप्ने वन्ध्यासुतेऽजले ।
मरीचिका यथा तद्वज्ज्ञानात्सांसारिकी स्थितिः ॥ १३ ॥
मम नाऽस्ति कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥ १४ ॥

अगस्तिरुवाच

इत्युक्त्वा नाम कारुण्य अग्निवेश्यसुतः कृती ।
प्राप्तकर्मा यथान्यायं काले काले ह्युपाहरत् ॥ १५ ॥

हे पुत्र, क्या तुमने श्रीवसिष्ठजीका उपदेशरूप यह शास्त्र सुना। मोक्षका साधन कर्म है अथवा ज्ञान है? ऐसा तुम्हारा जो सन्देह था, उसका मूलभूत अज्ञानके विनाशसे उच्छेद हो गया। अब जैसा तुम चाहते हो वैसा करो ॥ १२ ॥

कारुण्यने कहा—भगवन्, इस समय तत्त्वज्ञान होनेसे अतीत, अनागत और असंनिकृष्ट (दूरवर्ती) विषयोंमें मेरी स्मृति, वाणीव्यवहार तथा वर्तमान विषयमें प्रत्यक्ष वैसे ही निर्विषय हो गये हैं जैसे कि स्वप्नमें प्रतीत वन्ध्यापुत्रके विषयमें निर्विषय होते हैं। जैसे निर्जल मरुभूमिमें मरीचिकाकी स्थिति होती है वैसे ही मेरी सारी सांसारिकी स्थितिकी गति हो गई है। किसी भी विषयमें मेरा अब कुछ सन्देह शेष नहीं रह गया है। अब मेरा इस संसारमें न तो कर्मसे कुछ प्रयोजन है और न ज्ञानसे कोई प्रयोजन है, क्योंकि मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ। फिर भी मैं लोकशिक्षाके लिए श्रीरामचन्द्र आदिके समान ही यथाप्राप्त वर्ण और आश्रमके अनुकूल व्यवहार करता रहूंगा जबर्दस्ती कर्म त्यागमें कौन आग्रह है ॥१३,१४॥

अगस्तिने कहा—हे सुतीक्ष्ण, कृतकृत्य हुए अग्निवेश्यके पुत्र कारुण्यने यह कहकर विवाह द्वारा कर्माधिकारी बनकर यथोचित समयमें शास्त्रानुसार वर्णाश्रमोचित स्नान, दान, अग्निहोत्र, अतिथिपूजन आदि कर्म किया ॥ १५ ॥

संदेहोऽत्र न कर्तव्यः सुतीक्ष्ण ज्ञानकर्मणि ।
संशयाद्भ्रश्यते स्वार्थात्संशयात्मा विनश्यति ॥ १६ ॥
एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यमनेकार्थैक्यबोधनम् ।
नमस्कृत्य गुरुं प्राह अन्तिके विनयान्वितः ॥ १७ ॥

सुतीक्ष्ण उवाच

नष्टमज्ञानतत्कार्यं प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ।
साक्षिणि स्फुरिताभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ॥ १८ ॥
सति यस्मिन्प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दमूर्तयः ।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥ १९ ॥
पयसीव तरङ्गाली यस्मात्स्फुरति दृश्यभूः ।
तदेवेदं जगत्सर्वं पूर्णे पूर्णं व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

हे सुतीक्ष्ण, ज्ञानके पश्चात् कर्मानुष्ठानके विषयमें कर्म बन्धनका हेतु होगा, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि संशयवश जीव परमपुरुषार्थरूप स्वार्थसे च्युत हो जाता है, संशयात्मा विनष्ट हो जाता है, ऐसा वृद्धोंका अनुशासन है ॥ १६ ॥

सन्देहके विषय विरुद्ध अनेक कोटिरूप सांसारिक पदार्थोंका पारमार्थिक ब्रह्मतत्त्वरूपसे सकल विरोधोंके त्यागसे एकता बोधनरूप मुनि अगस्त्यजीका यह वचन सुनकर सुतीक्ष्णने समीपमें गुरुजीको अत्यन्त विनयसे नमस्कार कर गुरुजीसे कहा ॥ १७ ॥

सुतीक्ष्णने कहा—भगवन्, आपके अनुग्रहसे मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया है। मुझे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान प्राप्त हो गया है। जैसे नाट्यशालामें दीपके रहनेपर उसके प्रकाशके सहारे नट, नर्तक आदिकी नाचकूद, अभिनय आदि क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही जिस सबके साक्षी परमात्माके स्वयंज्योति होनेके कारण नित्य स्फुरित और निष्क्रियरूपसे स्थित होनेपर सब स्पन्दमूर्तियाँ (सचेष्ट मूर्तियाँ) तथा लौकिक और वैदिक क्रियाएँ होती हैं, एवं जैसे काञ्चन ही कड़ा, बाजूबंद, केयूर और नूपुरोंके रूपमें स्फुरित होता है तथा जैसे जलमें लहरें स्फुरित होती हैं वैसे ही जिससे यह दृश्य स्फुरित होता है, यह सारा जगत् वही है उसमें पूर्णरूपसे व्यवस्थित है, उससे रत्तीभरभी पृथक्

यथाप्राप्तोऽनुवर्तामि को लङ्घयति सद्वचः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन ज्ञातज्ञेयोऽस्मि संस्थितः ॥ २१ ॥
कृतार्थोऽहं नमस्तेऽस्तु दण्डवत्पतितो भुवि ।
गुरोरुत्तीर्णता केन शिष्याणामस्ति कर्मणा ॥ २२ ॥
कायवाङ्मनसा तस्माच्छिष्यैरात्मनिवेदनम् ।
गुरोरुत्तीर्णता सैव नाऽन्या केनाऽपि कर्मणा ॥ २३ ॥
स्वामिंस्तव प्रसादेन उत्तीर्णोऽहं भवाम्बुधेः
आपूरितजगज्जालं स्थितोऽस्मि गतसंशयः ॥ २४ ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् ।
श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ २५ ॥

नहीं है। ऐसा विचारकर जिस आश्रममें जो व्यवहार जैसा प्राप्त है उस व्यवहारका अनुवर्तन (अनुसरण) करता हूँ, सन्तोंके वचनका कौन उल्लङ्घन कर सकता है। भगवन्, आपके असीम अनुग्रहसे मैं ज्ञातव्य तत्त्वका भलीभाँति ज्ञान प्राप्त कर स्थित हूँ ॥ १८—२१ ॥

इस समय गुरुद्वारा किये गये परमपुरुषार्थ देनेवाले ज्ञानके प्रदानरूप परम उपकारका जगत्में प्रत्युपकार न देखकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग नमस्कारकर अपनेको यावज्जीवन उनकी दासताके लिए समर्पित करते हैं—'कृतार्थोऽहम्' इत्यादिसे ।

हे गुरुवर ! मैं कृतार्थ हो गया हूँ आपके सन्मुख भूमिमें दण्डवत् पड़ा हूं। शिष्य गुरुके उपकारसे (ऋणसे) किस प्रत्युपकार द्वारा उरिण हो सकते हैं अर्थात् किसीसे भी नहीं हो सकते, इसलिए शिष्योंको चाहिये मन, वचन और कर्मसे गुरुके सन्मुख आत्मसमर्पण कर दें। वही उनका गुरुके उपकारसे निस्तार है। अन्य किसी भी कर्मसे गुरुजीके उपकारसे निस्तार नहीं हो सकता ॥ २२,२३ ॥

भगवन्, आपके असीम अनुग्रहसे निस्सन्देह हो मैं भवसागरसे पार होकर पूर्णानन्दरूपसे सम्पूर्ण जगज्जालको व्यासकर स्थित हूं इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ २४ ॥

यह ग्रन्थ सकल उपनिषदोंके सारभूत अर्थका उपबृंहणरूप है अतः इसका मुमुक्षु पुरुषोंको भी समादर करना चाहिये यह सूचित करते हुए 'सर्वं

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्मः ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे बालकाण्डे द्वात्रिंशच्छतसाहस्र्यां संहितायां
षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः

———

खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' —अर्थात् यह सारा जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होने, ब्रह्ममें लीन होने और ब्रह्ममें स्थित होनेके कारण ब्रह्म ही है यों शान्त होकर उपासना करनी चाहिये—इस प्रकार छान्दोग्योपनिषत्में प्रदर्शित स्पष्ट उपाय सहित ज्ञानसे ज्ञात सर्वात्मक सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका अनु-सन्धान कर अन्तमें मङ्गलके लिए नमस्कार करते हैं—'यत्सर्वम्' इत्यादिसे ।

जो ब्रह्म सामवेदमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुति द्वारा अधि-कारी पुरुषोंके लिए हाथमें रक्खे आवलेके समान प्रत्यक्षरूपसे परमतात्पर्यतया उपदिष्ट है उस रूपसे अवशिष्ट प्रत्यक् चिदानन्दघन परमात्माके लिए नमस्कार है ॥ २५ ॥

ज्ञानोपदेश द्वारा परमसुखदायक, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, सुखदुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित, आकाशसदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तमहावाक्योंके लक्ष्यार्थरूप, एक, निर्मल, निश्चल, सकलधीवृत्तियों के साक्षी, भावातीत, त्रिगुण-रहित, ब्रह्मानन्दरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

कौबेर्यां दिशि शैलराजसविधे पुण्योऽस्ति कूर्मो गिरिः
यत्पादौ कुशिकात्मजाऽमलजला संसेवतेऽहर्निशम् ।
अल्मोडेत्यभिधाऽस्ति यस्य शिखरे शोभैकसारा पुरी
तत्र ग्राम इलामरेन्द्रजनतावासो मलेराभिधः ॥ १ ॥

तत्राऽभूद्द्विजवर्यसेवितपदो जीवार्तिहृत् कर्मणा
शास्त्राचारविचारभव्यधिषणः पन्तान्वयायाग्रणीः ।
बद्रीनाथ इतीड्यनामविदितो बद्रीश एवाऽपरः
तस्याऽऽसंस्तनयास्त्रयोऽमलधियो वैकुण्ठभक्तिव्रताः ॥ २ ॥

श्रीलश्रीभवदेवशुभ्रचरितात्तन्मध्यमादात्मजात्
मातुः श्रीहरिपूजनामलमतेः सत्यास्तुलस्यास्तथा ।
लब्धात्मा गुरुदेवचन्द्रधरतः श्रीविश्वनाथोपमा-
दाप्ताशीर्भवभीतिभञ्जनकरीं काशीं चिरादाश्रितः ॥ ३ ॥

गोयन्कान्वयसंभवेन सुधिया शास्त्रप्रसारेच्छुना
गौरीशङ्करदानिनाऽत्र निधिराट् संस्थापितः सूर्जितः ।
तस्य ग्रन्थगृहे प्रकाशनविधावप्यादितो योजितः
श्रीकृष्णः स इहातनोद् बुधमुदं भाषामयीं व्याकृतिम् ॥ ४ ॥

क्वाहं मन्दमतिः क्व तीक्ष्णधिषणैर्व्याख्यानयोग्यं मह-
च्छास्त्रं श्रीमुनिभाषितं विधिमुखैः संश्लाघितं भूरिशः ।
आशीराशिभिरुज्ज्वलैः परगुरोर्नूनं समाप्तिं गतं
क्षम्यन्तां विबुधैरुदारहृदयैर्जाता इहाशुद्धयः ॥ ५ ॥

काश्यां नित्यं निवासो निरवधिकृपया यस्य देवेन्द्रवर्ण्ये
त्रिस्रोतोवारिणीन्दुद्युतिविमलतमे स्नानसन्ध्यादि पुण्ये ।
धन्यो विद्वत्सु संगोऽनवकविकृतिभिश्चित्तमोदोऽनवद्यः
स श्रीविश्वेश्वरो मे हिमगिरिसुतया प्रीयतां कर्मणाऽतः ॥ ६ ॥

एक सौ सोलह सर्ग समाप्त ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

